श्रीपरमश्रुतप्रभावक

श्रीमद्

राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला

स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा

भावयामि भवावर्ते भावनाः प्रागभाविता ।
भावये भाविता नेति भवाभावाय भावनाः ॥

गुणभद्र—आत्मानुशासन, २३८

Śrīmad
Rājachandra Jaina Śāstramālā

SVĀMI - KUMĀRA'S

KĀRTTIKEYĀNUPREKṢĀ

(Kattigeyāṇuppekkhā)

— AN EARLY TREATISE ON JAINA DOCTRINES, ESPECIALLY ANUPREKṢĀS—

The Prākrit Text Critically Edited, along with the Sanskrit Commentary of Śubhacandra, With Various Readings, Introduction, Appendices etc.

By

Professor A. N. UPADHYE, M. A., D. Litt.
Rajaram College, Kolhapur,

With the Hindī Anuvāda of

Pt. KAILASHCHANDRA SHASTRI
Syādvāda-mahāvidyālaya, Banaras.

Published by

Shri Raojibhai Chhaganbhai Desai

For the Parama-Śruta-Prabhāvaka Śrīmad Rājachandra Jaina Śāstramālā,

SHRIMAD RAJACHANDRA ASHRAM, AGAS.

1960

Price Rs. 14/-

'खम्मामि सव्वजीवे सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मेत्ती मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झ ण केण वि ॥'

श्रीमद्

राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला

स्वामि-कुमार-विरचिता

कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा

(कत्तिगेयाणुप्पेक्खा)

प्रामाणिकरीत्या शुभचन्द्र–विरचितया संस्कृतटीकया समेता

पाठान्तरादिभिः प्रस्तावनादिभिश्च

समलंकृता

'कोल्हापुर' नगरान्तर्गत 'राजाराम कॉलेज' नाम्नि

महाविद्यालये अर्धमागधीभाषाध्यापकेन

उपाध्यायोपाह्व-नेमिनाथतनय-आदिनाथ

इत्यनेन

पं. कैलाशचन्द्र शास्त्रि-

कृत-हिन्दीभाषानुवादेन सह

संपादिता ।

सा च

अगासस्थ

श्री परमश्रुतप्रभावक श्रीमद् राजचन्द्रजैनशास्त्रमाला

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास–स्वत्वाधिकारिभिः

श्री रावजीभाई देसाई इत्येतैः

प्रकाशिता ।

श्रीवीरनिर्वाणसंवत् २४८६ | मूल्यं रू. १४. | श्रीविक्रमसंवत् २०१६

TABLE OF CONTENTS

इस युगके महान् तत्त्ववेत्ता

श्रीमद् राजचन्द्र

इस युगके महान् पुरुषोंमें श्रीमद् राजचन्द्रजीका नाम बड़े गौरवके साथ लिया जाता है। वे विश्वकी महान् विभूति थे। अद्भुत प्रभावशाली अपनी नामवरीसे दूर रहनेवाले गुप्त महात्मा थे। भारतभूमि ऐसे ही नररत्नोंसे वसुन्धरा मानी जाती है।

जिस समय मनुष्य समाज आत्मधर्मको भूल कर अन्य वस्तुओंमें धर्मकी कल्पना या मान्यता करने लगता है, उस समय उसे किसी सत्यमार्ग दर्शककी आवश्यकता पड़ती है। प्रकृति ऐसे पुरुषोंको उत्पन्न कर अपनेको धन्य मानती है। श्रीमद्जी भी उनमेंसे एक थे। इनका पवित्र नाम तो प्रायः बहुतोंने सुन रक्खा है, और उसका कारण भी यह है कि राष्ट्रपिता महात्मा गांधीजीने अपने साहित्यमें इनका जहाँ तहाँ सन्मान पूर्वक उल्लेख किया है। वे स्वयं इनको धर्मके सम्बन्धसे अपना मार्गदर्शक मानते थे।

महात्माजी लिखते हैं कि " मेरे ऊपर तीन पुरुषोंने गहरी छाप डाली है, टाल्सटॉय, रस्किन और राजचन्द्र-भाई। टाल्सटॉयने अपनी पुस्तको द्वारा और उनके साथ थोडे पत्रव्यवहार से; रस्किनने अपनी पुस्तक 'अन्टु दि लास्ट' से, जिसका गुजराती नाम मैंने 'सर्वोदय' रक्खा है, और राजचन्द्रभाईने अपने गाढ़ परिचयसे। जब मुझे हिन्दु धर्ममें शंका उत्पन्न हुई उस समय उसके निवारण करनेमें राजचन्द्रभाईने मुझे बड़ी सहायता पहुँचाई थी। ई. सन् १८९३ में दक्षिण आफ्रिकामें मैं कुछ क्रिश्चियन सज्जनोंके विशेष परिचयमें आया था। अन्यधर्मियोंको क्रिश्चियन बनाना ही उनका प्रधान व्यवसाय था। उस समय मुझे हिन्दु धर्ममें कुछ अश्रद्धा होगई थी, फिर भी मैं मध्यस्थ रहा था। हिन्दुस्तानमें जिनके ऊपर मुझे कुछ भी श्रद्धा थी उनसे पत्रव्यवहार किया। उनमें राजचन्द्रभाई मुख्य थे। उनके साथ मेरा अच्छा सम्बन्ध हो चुका था। उनके प्रति मुझे मान भी था, इस लिए उनसे जो कुछ मुझे मिल सके उसके प्राप्त करने का विचार था। मेरी उनसे भेट हुई। उनसे मिलकर मुझे अत्यन्त शान्ति मिली। अपने धर्ममें दृढ़ श्रद्धा हुई। मेरी इस स्थितिके जवाबदार राजचन्द्रभाई हैं। इससे मेरा उनके प्रति कितना अधिक मान होना चाहिए, इसका पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं।" महात्माजी आगे और भी लिखते हैं कि-राजचन्द्रभाईके साथ मेरी भेंट जौलाई स. १८९१ में उस दिन हुई थी जब मैं विलायतसे बम्बई आया था। उस समय मैं रंगूनके प्रख्यात जोंहरी प्राणजीवनदास मेहताके घर उतरा था। राजचन्द्रभाई उनके बड़े भाईके जमाई होते थे। प्राणजीवनदासने राजचन्द्रभाईका परिचय कराया। वे राजचन्द्रभाईको कविराज कहकर पुकारा करते थे। विशेष परिचय देते हुए उन्होंने कहा-ये एक अच्छे कवि हैं और हमारे साथ रह कर व्यापार करते हैं। इनमें बडा ज्ञान है, शतावधानी हैं।

श्रीमद्जी का जन्म वि. सं १९२४ कार्तिक शुक्ला पूर्णिमाको सौराष्ट्र मोरबी राज्यान्तर्गत ववाणिया गाव-में वैश्य जातिके दशा श्रीमाली कुलमें हुआ था। इनके पिताका नाम रवजीभाई पंचाणभाई मेहता और माताका नाम देवाबाई था। इनके एक छोटा भाई और चार बहनें थी। घरमें इनके जन्म से बड़ा भारी उत्सव मनाया गया।

श्रीमद्जीने अपने सम्बन्धमें जो बातें लिखीं हैं वे बडी रोचक और समझने योग्य हैं। दूसरोको भी मार्गदर्शनमें कारण हैं। वे लिखते हैं कि—"छुटपनकी छोटी समझमें कौन जाने कहाँ से ये बड़ी बड़ी कल्पनाएँ आया करतीं थी। सुखकी अभिलाषा कुछ कम न थी; और सुखमें भी महल, बाग, बगीचे स्त्री आदिके मनोरथ किए थे। किन्तु मनमें आया करता था कि यह सब क्या है? इस प्रकार के विचारोंका यह फल निकला कि न पुनर्जन्म है, न पाप है और न पुण्य है; सुखसे रहना और संसारका सेवन करना। बस, इसीमें कृतकृत्यता है। इससे दूसरी झंझटोंमें न पड़कर धर्म की वासना भी निकाल डाली। किसी भी धर्मके लिए थोडा बहुत भी मान अथवा श्रद्धाभाव न रहा, किन्तु थोडा समय बीतनेके बाद इसमेंसे कुछ और ही हो गया। आत्मामें अचानक बड़ा भारी परिवर्तन हुआ, कुछ दूसरा ही अनुभव हुआ; और वह अनुभव ऐसा था, जो प्रायः शब्दोंमें व्यक्त नही किया जा सकता और न जड़वादियोंकी कल्पनामें भी आ सकता है। वह अनुभव क्रमसे बढ़ा और बढ़ कर अब एक 'तू ही तू ही' का जप करता है।"

*

एक दूसरे पत्रमें अपने जीवनको विस्तार पूर्वक लिखते हैं—"बाईस वर्षकी अल्पवयमें मैंने आत्मा सम्बन्धी, मन सम्बन्धी, वचन सम्बन्धी, तन सम्बन्धी और धन संबन्धी अनेक रंग देखे हैं। नाना प्रकारकी सृष्टि रचना, नाना प्रकारकी सांसारिक लहरें और अनन्त दुःखके मूल कारणोका अनेक प्रकारसे मुझे अनुभव हुआ है। समर्थ तत्त्वज्ञानियोंने और समर्थ नास्तिकोंने जैसे जैसे विचार किए हैं, उसी तरहके अनेक मैंने इसी अल्पवयमें किए हैं। महान् चक्रवर्ती द्वारा किए गए तृष्णापूर्ण विचार और एक निःस्पृही आत्मा द्वारा किये गए निःस्पृहापूर्ण विचार भी मैंने किए हैं। अमरत्वकी सिद्धि और क्षणिकत्वकी सिद्धि पर मैंने खूब मनन किया है। अल्पवयमें ही मैंने महान् विचारकर डाले हैं; और महान् विचित्रताकी प्राप्ति हुई है। यहाँ मै अपनी समुच्चय-चर्या लिखता हूँ। जन्मसे सात वर्षकी बाल वय नितान्त खेल कूदमें ही व्यतीत हुई थी। उस समय मेरी आत्मामें अनेक प्रकारकी विचित्र कल्पनाएँ उत्पन्न हुआ करती थी। खेल कूदमें भी विजयी होने और राजराजेश्वर जैसी ऊँची पदवी प्राप्त करनेकी मेरी परम अभिलाषा रहा करती थी।

स्मृति इतनी अधिक प्रबल थी कि वैसी स्मृति इस कालमें, इस क्षेत्रमें बहुत ही थोड़े मनुष्यों को होगी। मैं पढ़नेमें प्रमादी था, बात बनानेमें होशियार, खिलाड़ी और बहुत ही आनन्दी जीव था। जिस समय शिक्षक पाठ पढ़ाता था उसी समय पढ़कर मैं उसका भावार्थ सुना दिया करता था; बस, इतनेसे मुझे छुट्टी मिल जाती थी। मुझमें प्रीति और वात्सल्य बहुत अधिक था; मै सबसे मित्रता चाहता था, सबमें भ्रातृभाव हो तो सुख है, यह विश्वास मेरे मनमें स्वाभाविक रूपसे रहता था। मनुष्यों में किसी भी प्रकारका जुदाईका अंकुर देखते ही मेरा अन्तःकरण रो पड़ता था। आठवें वर्षमें मैने कविता लिखी थी, जो पीछे से जॉच करनेपर छन्दशास्त्र के नियमानुकूल थी। उस समय मैंने कई ग्रन्थ लिखे थे, तथा अनेक प्रकारके और भी बहुतसे ग्रन्थ देख डाले थे। मै मनुष्य जातिका अधिक विश्वासु था।

मेरे पितामह कृष्णकी भक्ति किया करते थे। उस वयमें मैंने कृष्णकीर्तन तथा भिन्न भिन्न अवतार सम्बन्धी चमत्कार सुने थे। जिससे मुझे उन अवतारोंमें भक्तिके साथ प्रीति भी उत्पन्न हो गई थी, और रामदासजी नामके साधुसे मैंने बाल-लीलामें कंठी भी बंधवाई थी। मैं नित्य ही कृष्णके दर्शन करने जाया करता था, अनेक कथाएँ सुनता था, और उन्हे परमात्मा मानता था। × × गुजराती भाषाकी पाठशाला की पुस्तकोंमें कितनी जगह जगत्कर्ताके सम्बन्धमें उपदेश है, वह मुझे दृढ हो गया था। इस कारण मुझे जैन लोगोसे घृणा रहा करती थी। कोई पदार्थ बिना बनाए नही बन सकता, इस लिए जैन मूर्ख हैं; उन्हें कुछ भी खबर नही उस समय प्रतिमा पूजनके अश्रद्धालु लोगोंकी क्रिया भी मुझे पसन्द नही थी। मेरी जन्म-भूमिमें जितने वणिक् लोग रहते थे, उन सबकी कुलश्रद्धा यद्यपि भिन्न भिन्न थी फिर भी थोड़ी बहुत प्रतिमा पूजनके अश्रद्धालुओके समान थी। लोग मुझे प्रथमसे ही शक्तिशाली और गावका नामांकित विद्यार्थी मानते थे, इससे मैं कभी कभी जन-मंडलमें बैठकर अपनी चपल शक्ति बतानेका प्रयत्न किया करता था।

वे लोग कंठी बाधने के कारण बार बार मेरी हास्यपूर्वक टीका करते, तो भी मैं उनसे वाद विवाद करता और उन्हें समझाने का प्रयत्न करता था।

धीरे धीरे मुझे जैनोंका प्रतिक्रमण सूत्र इत्यादि ग्रन्थ पढ़ने को मिले। उनमें बहुत विनय पूर्वक जगत्के समस्त जीवोंसे मैत्री भाव प्रकट किया है। इससे मेरी उस ओर प्रीति हुई और प्रथममें भी रही। परिचय बढ़ता गया। स्वच्छ रहनेके और दूसरे आचार विचार मुझे वैष्णवोके ही प्रिय थे, जगत्कर्ताकी भी श्रद्धा थी। इतनेमें कंठी टूट गई और इसे दुबारा मैंने नहीं बाँधी। उस समय बाँधने न बाँधनेका कोई कारण मैंने नहीं ढूँढ़ा था। यह मेरी तेरह वर्षकी वय-चर्या है। इसके बाद मै अपने पिताकी दुकानपर बैठने लगा था, अपने अक्षरोंकी छटाके कारण कच्छ दरबारके महलमें लिखनेके लिये जब जब बुलाया जाता था तब तब वहाँ जाता था। दुकानपर रहते हुए मैंने अनेक प्रकारका आनन्द किया है, अनेक पुस्तकें पढ़ीं हैं, राम आदि के चरित्रोंपर कविताएँ लिखीं हैं, सासारिक तृष्णाएँ की हैं, तो भी मैने किसीको कम, अधिक भाव नही कहा, अथवा किसीको कम ज्यादा तौलकर नहीं दिया, यह मुझे बराबर याद है।

इस परसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे एक अति संस्कारी आत्मा थे। बड़े बड़े विद्वान् भी जिस आत्मा की ओर ध्यान नहीं देते उसी आत्माकी ओर श्रीमद्जीका बाल्य कालसे अद्भुत तीव्र लक्ष्य था।

आत्माके अमरत्व तथा क्षणिकत्वके विचार भी कुछ कम न किए थे। कुल श्रद्धासे जैन धर्मको अंगीकार नहीं किया था, लेकिन अपने अनुभवके बलपर उसे सत्य सिद्ध करके अपनाया था। सत्य धर्मके अबाधित सत्य सिद्धान्तोंको श्रीमद्जीने अपने जीवनमें उतारा था, और मुमुक्षुओंको भी तदनुरूप बननेका उपदेश देते थे। वर्तमान युगमें ऐसे महात्माका आविर्भाव समाजके लिये सौभाग्यकी बात है। ये मतमतान्तरोंमें मध्यस्थ थे।

इनको जातिस्मरण ज्ञान था। अर्थात् पूर्वभवोंको जानते थे। इस सम्बन्धमें मुमुक्षु भाई पदमशी भाईने एकबार उनसे पूछा था, और उसका स्पष्टीकरण स्वयं उन्होंने अपने मुखसे किया था। पाठकोंकी जानकारीके लिये उसे यहाँ दे देना योग्य समझता हूँ। पदमशी भाईने पूछा—"आपको जातिस्मरण कब और कैसे हुआ?" श्रीमद्जीने उत्तर दिया—"जब मेरी उम्र सात वर्षकी थी, उस समय ववाणियामें अमीचन्द्र नामके एक सद्-गृहस्थ रहते थे। वे पूरे लम्बे चौडे, सुन्दर और गुणवान् थे। उनका मेरे ऊपर खूब प्रेम था। एक दिन सर्पके काट खानेसे उनका तुरन्त देहान्त हो गया। आस-पासके मनुष्योंके मुखसे इस बातको सुनकर मैं अपने दादाके पास दौड़ा आया। मरण क्या चीज है, इस बातको मैं नहीं जानता था। इस लिए मैंने दादासे कहा, दादा, अमीचन्द्र मर गए क्या? मेरे दादाने उस समय विचारा कि यह बालक है, मरण की बात करनेसे डर जायगा, इस लिए उन्होंने, जा भोजन कर ले, यों कहकर मेरी बातको टालनेका प्रयत्न किया। 'मरण शब्द' उस छोटे जीवनमें मैंने प्रथम बार ही सुना था। मरण क्या वस्तु है, यह जाननेकी मुझे तीव्र आकांक्षा थी। बारम्बार मैं पूर्वोक्त प्रश्न करता ही रहा। अन्तमें वे बोले-तेरा कहना सत्य है—अर्थात् अमीचन्द्र मर गए हैं। मैंने आश्चर्य पूर्वक पूँछा-"मरण क्या चीज है?"। दादाने कहा—"शरीरमेंसे जीव निकल गया है और अब वह हलन चलन आदि कुछ भी क्रिया नहीं कर सकता; खाना पीना भी नहीं कर सकता। इसलिए अब इसको तालाबके समीपके श्मसानमें जला आयेंगे। मैं थोड़ी देर इधर-उधर छिपा रहा। बाद में तालाब पर पहुँचा। तट पर दो शाखा वाला एक बबूलका पेड़ था, उस पर चढ़कर मैं सामने का सब दृश्य देखने लगा। चिता जोरों से जल रही थी, बहुत आदमी उसको घेर कर बैठे हुए थे। यह सब देखकर मुझे विचार आया, मनुष्यको जलाने में कितनी क्रूरता। यह सब क्यों? इत्यादि विचारोंसे आत्मपर्दा दूर हो गया।"

एक विद्वान्ने श्रीमद्जीको पूर्वजन्मके सम्बन्धमें अपने विचार प्रगट करनेको लिखा था, उसके उत्तरमें उन्होंने जो कुछ लिखा था, वह निम्न प्रकार है—"कितने ही निर्णयोंसे मैं यह मानता हूँ कि इस कालमें भी कोई कोई महात्मा पहले भवको जाति स्मरण ज्ञानसे जान सकते हैं; और यह जानना कल्पित नहीं, परन्तु सम्यक् (यथार्थ) होता है। उत्कृष्ट संवेग, ज्ञान, योग और सत्संगसे यह ज्ञान प्राप्त होता है। अर्थात् पूर्वभव प्रत्यक्ष अनुभव में आ जाता है। जब तक पूर्वभव अनुभव गम्य न हो तब तक आत्मा भविष्य कालके लिये शंकित भावसे धर्म प्रयत्न किया करती है; और ऐसा सशंकित प्रयत्न योग्य सिद्धि नहीं देता।"

पुनर्जन्मकी सिद्धिके लिये श्रीमद्जीने एक विस्तृत पत्र लिखा है, जो 'श्रीमद् रामचंद्र' ग्रन्थ में प्रकाशित है। पुनर्जन्मसम्बन्धी इनके विचार बड़े गंभीर और विशेष प्रकारसे मनन करने योग्य है।

१९ वर्ष की अवस्थामें श्रीमद्जीने बम्बईकी एक बड़ी भारी सभामें सौ अवधान किए थे, जिसे देखकर उपस्थित जनता दाँतों तले उंगली दबाने लगी थी। अंग्रेजी के प्रसिद्ध पत्र 'टाइम्स् ऑफ् इण्डिया' ने अपने ता. २४ जनवरी १८८७ के अंक में श्रीमद्जी के सम्बन्ध में एक लेख लिखा था, जिसका शीर्षक था 'स्मरण शक्ति तथा मानसिक शक्तिके अद्भुत प्रयोग।'

राजचन्द्र रवजीभाई नामके एक १९ वर्षके युवा हिन्दुकी स्मरण शक्ति तथा मानसिक शक्तिके प्रयोग देखनेके लिये गत शनिवारको संध्या समय फरामजी कावसजी इन्स्टीट्यूट में देशी सज्जनोंका एक भव्य

सम्मेलन हुआ था। इस सम्मेलनके सभापति डाक्टर पिटर्सन नियुक्त हुए थे। भिन्न भिन्न जातियोंके दर्शकोंमें से दस सज्जनोंकी एक समिति संगठित की गई। इन सज्जनोंने दस भाषाओके छ छ शब्दोंके दस वाक्य बना कर रख लिए और अक्रमसे बारी बारीसे सुना दिए। थोडेही समय बाद इस हिन्दु युवकने दर्शकोंके देखते देखते स्मृतिके बलसे उन सब वाक्योंको क्रम पूर्वक सुना दिया। युवककी इस शक्तिको देखकर उपस्थित मंडली बहुत ही प्रसन्न हुई।

इस युवाकी स्पर्शन इन्द्रिय और मन इन्द्रिय अलौकिक थी। इस परीक्षाके लिये अन्य अन्य प्रकारकी कोई बारह जिल्दें इसे बतलाई गई और उन सबके नाम सुना दिए गए। इसके बाद इसकी आँखोंपर पट्टी बांध कर इसके हाथोंपर जो जो पुस्तके रक्खी गई, उन्हे हाथोंसे टटोलकर इस युवकने सब पुस्तकोंके नाम बता दिए। डॉ. पिटर्सनने इस युवककी इस प्रकार आश्चर्यपूर्ण स्मरण शक्ति और मानसिक शक्तिका विकास देखकर बहुत बहुत धन्यवाद दिया, और समाजकी ओरसे सुवर्ण-पदक और 'साक्षात् सरस्वती' की पदवी प्रदान की गई।

उस समय चार्ल्स सारजंट बम्बई हाईकोर्टके चीफ जस्टिस थे। वे श्रीमद्जी की इस शक्ति से बहुत ही प्रभावित हुए। सुना जाता है कि सारजंट महोदयने श्रीमद्जी से इंग्लेंड चलनेका आग्रह किया था, किन्तु वे कीर्तिसे दूर रहनेके कारण चार्ल्स महाशयकी इच्छाके अनुकूल न हुए अर्थात् इंग्लेंड न गए।"

इसके अतिरिक्त बम्बई समाचार आदि अखबारोंमें भी इनके शतावधानके समाचार प्रकाशित हुए थे। बादमें, शतावधानके प्रयोगोको आत्मचिन्तनमें अन्तरायरूप मान कर उनका करना बन्द कर दिया था। इससे सहजमें ही अनुमान किया जा सकता है कि वे कीर्ति आदिसे कितने निरपेक्ष थे। उनके जीवनमें पद पद पर सच्ची धार्मिकता प्रत्यक्ष दिखाई देती थी।

वे २१ वर्षकी उम्रमें व्यापारार्थ ववाणियासे बम्बई आए। वहाँ सेट रेवाशंकर जगजीवनदासकी दुकान में भागीदार रहकर जवाहरातका धन्धा करते रहे। व्यापारमें अत्यन्त कुशल थे। ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका इनमें यथार्थ समन्वय देखा जाता था। व्यापार करते हुए भी श्रीमद् जीका लक्ष्य आत्माकी ही ओर विशेष था। इनके ही कारण उस समय मोतियों के बाजारमें श्रीयुत रेवाशंकर जगजीवनदासकी पेढ़ी नामी पेढीयोंमें एक गिनी जाती थी। स्वयं श्रीमद्जीके भागीदार श्रीयुत् माणिकलाल घेलाभाईको इनकी व्यवहार कुशलताके लिए अपूर्व सन्मान था। उन्होंने अपने एक वक्तव्य मे कहा था कि– "श्रीमद् राजचन्द्रके साथ मेरा लगभग १५ वर्ष तक परिचय रहा, और उसमे सात आठ वर्ष तो मेरा उनके साथ अत्यन्त परिचय रहा था। लोगोंमें अति परिचयसे परस्परका महत्त्व कम होजाता है, परन्तु मैं कहता हूं कि उनकी दशा ऐसी आत्ममय थी कि उनके प्रति मेरा श्रद्धा भाव दिन प्रतिदिन बढ़ता ही गया। व्यापारमें अनेक कठिनाइयँ आतीं थीं, उनके सामने श्रीमद् जी एक अडोल पर्वतके समान टिके रहते थे। मैंने उन्हे जड वस्तुओंकी चिन्तासे चिन्तातुर नही देखा। वे हमेशा शान्त और गम्भीर रहते थे। किसी विषय में मतभेद होने पर भी हृदयमें वैमनस्य नहीं था। सदैव पूर्व सा व्यवहार करते थे।"

श्रीमद् जी व्यापारमें जैसे निष्णात थे उससे अत्यन्त अधिक आत्मतत्त्वमें निष्णात थे। उनकी अन्तरात्मा में भौतिक पदार्थोंको महत्ता नहीं थी; वे जानते थे, धन पार्थिव शरीर का साधन है, परलोक अनुयायी तथा आत्माको शाश्वत शान्तिप्रदान करने वाला नहीं है। व्यापार करते हुए भी उनकी अन्तरात्मामें वैराग्य-गंगा का अखण्ड प्रवाह निरन्तर बहता रहता था। मनुष्य भवके एक एक समयको वे अमूल्य समझते थे। व्यापार से अवकाश मिलते ही वे कोई अपूर्व आत्मविचारणामें लीन हो जाते थे। निवृत्तिकी पूर्ण भावना होने पर भी पूर्वोदय कुछ ऐसा विचित्र था जिससे उनको बाह्य उपाधिमें रहना पड़ा।

श्रीमद् जी जवाहरातके साथ साथ मोतियोंका भी व्यापार करते थे। व्यापारी समाजमें ये अत्यन्त विश्वास पात्र समझे जाते थे। उस समय एक आरब अपने भाईके साथ रहकर बम्बईमें मोतियों की आढत का धंधा करता था। छोटे भाई के मनमे आया कि आज मैं भी बड़े भाईके समान कुछ व्यापार करूँ। परदेश से आया हुआ माल साथ में लेकर आरब बेचने निकल पड़ा। दलालने श्रीमद्जीका परिचय कराया। श्रीमद्जी

ने उससे कहा-भाई, सोच समझकर भाव कहना। आरब बोला-जो मैं कह रहा हूं, वही बाजार भाव है, आप माल खरीद करें। श्रीमद्जी ने माल ले लिया तथा उसको एक तरफ रख दिया। वे मनमें जानते थे कि इसमें इसको नुकसान है, और हमें फायदा। परन्तु वे किसीकी भूल का लाभ नहीं लेना चाहते थे। आरब घर पहुँचा, बड़े भाईसे सौदाकी बात की। वह घबराकर बोला तूने यह क्या किया। इसमें तो अपने को बहुत नुकसान है। अब क्या था। आरब श्रीमद्जीके पास आया ओर सौदा रद करनेको कहा। व्यापारी नियमानुसार सौदा पक्का हो चुका था, आरब वापिस लेनेका अधिकारी नहीं था, फिर भी श्रीमद्जीने सौदा रद करके उसके मोती उसे वापस दे दिए। श्रीमद्जीको इस सौदासे हजारोंका फायदा था, तोभी उन्होंने उसकी अन्तरात्माको दुखित करना अनुचित समझा और मोती लौटा दिए। कितनी निःस्पृहता, लोभवृत्तिका अभाव। आजके व्यापारियोंमें जो सत्यता आ जाय तो सरकार को नित्य नये नये नियम बनानेकी जरूरत ही न रहे और मनुष्य समाज सुखपूर्वक जीवन यापन कर सके।

श्रीमद्जी की दृष्टि विशाल थी। आज भिन्न भिन्न संप्रदायवाले उनके वचनोंका रुचि सहित आदर पूर्वक अभ्यास करते हुए देखे जाते हैं। उन्हें वाडाबन्दी पसन्द नहीं थे। वे कहा करते थे कुगुरुओंने मनुष्योंकी मनुष्यता लूट ली है, विपरीत मार्गमें रुचि उत्पन्न करा दी है, सत्य समझानेकी अपेक्षा वे अपनी मान्यताको ही समझानेका विशेष प्रयत्न करते है। सद्भाग्यसे ही जीवको सद्गुरुका योग मिलता है, पहचानना कठिन है और उसकी आज्ञानुसार प्रवर्तन तो अत्यन्त कठिन है।

उन्होंने धर्मको स्वभावकी सिद्धि करने वाला कहा है, धर्मोंमें जो भिन्नता देखी जाती है, उसका कारण दृष्टिकी भिन्नता बतलाया है। इसी बात को वे स्वयं दोहोमें प्रगट करते हैं।

> भिन्न भिन्न मत देखिए, भेद दृष्टि नो यह। एक तत्त्वनां मूलमां, व्याप्या मानों तेह ॥
> तेह तत्त्वरूप वृक्षनो, आत्मधर्म छे मूल। स्वभावनी सिद्धि करे, धर्म तेज अनुकूल ॥

श्रीमद्जीने इस युगको एक अलौकिकदृष्टि प्रदान की है वे रूढि या अन्धश्रद्धाके कट्टर विरोधी थे, उन्होंने आडम्बरों में धर्म नहीं माना था। मुमुक्षुओ को भी मतमतान्तर, कदाग्रह और राग द्वेष आदिसे दूर रहनेका उपदेश करते थे। वीतरागताकी ओर ही उनका ध्यान था।

पेढीसे अवकाश लेकर वे अमुक समय खंभात, काविठा, उत्तरसंडा, नडियाद, वसो और ईडरके पर्वतमें एकान्त वास किया करते थे। मुमुक्षुओंको आत्म-कल्याणका सच्चा मार्ग बताते थे।

इनके एक एक पत्रमें कोई अपूर्व रहस्य भरा हुआ है। उन पत्रोंका मर्म समझनेके लिए सन्तसमागम की विशेष आवश्यकता अपेक्षित है। ज्यो ज्यो इनके लेखोंका शान्त और एकाग्र चित्तसे मनन किया जाता है, त्यो त्यो आत्मा क्षण भरके लिए एक अपूर्व आनन्दका अनुभव करता है। 'श्रीमद् राजचन्द्र' ग्रन्थके पत्रोंमें ही इनका आन्तरिक जीवन अंकित है।

श्रीमद्जीकी भारतमें अच्छी प्रसिद्धि हुई। मुमुक्षुओने उन्हें अपना आदर्श माना। बम्बई रहकर भी वे पत्रोद्वारा उनकी शंकाओं का समाधान करते रहते थे।

प्रातःस्मरणीय श्रीलघुराज स्वामी इनके शिष्योंमें मुख्य थे। श्रीमद्जीद्वारा उपदिष्ट तत्त्वज्ञानका संसारमें प्रचार हो, तथा अनादिकालसे परिभ्रमण करनेवाले जीवोंको पक्षपात रहित मोक्षमार्गकी प्राप्ति हो, इस उद्देशको लक्ष्यमें रखकर, स्वामीजीके उपदेशसे श्रीमद्जीके उपासकोंने गुजरातमें अगास स्टेशनके पास 'श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम' की स्थापना की, जो आज भी उन्हींकी आज्ञानुसार चल रहा है। इसके सिवाय खंभात नरोडा, धामण, आहोर, भादरण, बवाणिया, काविठा, नार, सीमरडा आदि स्थलोंमें इनके नामसे आश्रम तथा मन्दिर स्थापित हुए हैं। श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, आगास, के अनुसार ही उनमें प्रवृत्ति है। अर्थात् श्रीमद्जीकी भक्ति और तत्त्वज्ञानकी प्रधानता है।

श्रीमद्जी एक उच्चकोटिके असाधारण लेखक और वक्ता थे। उन्होंने १६ वर्ष और ५ मास की अवस्थामें ३ दिनमें सर्वोपयोगी १०८ पाठवाली 'मोक्षमाला' बनाई थी। आज तो इतनी आयुमें शुद्ध लिखना भी नहीं आता, जब कि श्रीमद्जीने एक अपूर्व पुस्तक लिख डाली। पूर्वभवका अभ्यास ही इसमें कारण था। श्रीमद्जी 'मोक्षमाला'के संबन्ध में लिखते हैं—"इस (मोक्षमाला) में मैंने धर्म समझाने का प्रयत्न किया है; जिनोक्त मार्गसे कुछ भी न्यूनाधिक नहीं लिखा है। वीतरागमार्ग में आबालवृद्धकी रुचि हो, उसके स्वरूपको समझें तथा उसका बीज हृदयमें स्थिर हो, इस कारण इसकी बालावबोधरूप रचना की है।

इनकी दूसरी कृति आत्मसिद्धि शास्त्र है, जिसको इन्होंने नडियादमें १।। घण्टेमें बनाया था। १४२ दोहोंमें सम्यग्दर्शनके कारण भूत छः पदोंका बहुत ही सुन्दर पक्षपात रहित वर्णन किया है। यह नित्य स्वाध्यायकी वस्तु है।

श्रीकुन्दकुन्दचार्य के पंचास्तिकाय की मूलगाथाओंका भी इन्हींने अक्षरशः गुजरातीमें अनुवाद किया है। पाठक इस अनुवादको 'श्रीमद् राजचन्द' में देख सकते हैं।

श्रीमद्जीने श्रीआनन्दघन चौबीसी का अर्थ लिखना प्रारम्भ किया था और उसमें प्रथमादि दो स्तवनोंका अर्थ भी विवेचन सहित किया था। पर न जाने, क्यों अपूर्ण रह गया है। संस्कृत तथा प्राकृत पर भी आपका पूरा अधिकार था। सूत्रों का अर्थ समझानेमें आप बड़े निपुण थे।

आत्मानुभव प्रिय होनेसे श्रीमद्जीने अपने शरीरकी ओर विशेष ध्यान न रखा। इससे पौद्गलिक शरीर अस्वस्थ हुआ। दिन प्रतिदिन उसमें कृशता आने लगी, ऐसे अवसर पर आपसे किसीने पूछा "आपका शरीर कृश क्यों होता जाता है?" श्रीमद्जी ने उत्तर दिया-'हमारे दो बगीचे हैं, शरीर और आत्मा। हमारा सारा पानी आत्मारूपी बगीचेमें जाता है, इससे शरीररूपी बगीचा सूख रहा है। वढवाण, धर्मपुर आदिस्थलोंमें रहकर देहके अनेक अनेक प्रकारके उपचार किए, किन्तु वे सब ही निष्फल हुए। कालको महापुरुषका जीवन रुचिकर न हुआ। अनित्यवस्तुका संबन्ध भी कहाँ तक रह सकता है। जहाँ सम्बंध, वहाँ वियोग भी अवश्य है।

देहत्यागके पहले दिन शामको श्रीमद्जीने श्रीरेवाशंकर आदि मुमुक्षुओंसे कहा-"तुम लोग निश्चिन्त रहना। यह आत्मा शाश्वत है। अवश्य विशेष उत्तम गतिको प्राप्त होगी। तुम शान्त और समाधि पूर्वक रहना। मैं कुछ कहना चाहता था, परन्तु अब समय नहीं है। तुम पुरुषार्थ करते रहना।"

रातको अढाई बजे अत्यन्त सर्दी हुई, उस समय श्रीमद्जीने अपने लघु भ्राता मनसुख भाईसे कहा-"भाई का समाधि मरण है। मैं अपने आत्मस्वरूपमें लीन होता हूँ।" फिर वे न बोले। देह त्याग पूर्व मुमुक्षुओंने पूछाथा कि-अब हमें क्या आधार है? श्रीमद्जीने कहा था-मुनि लल्लुजी (लघुराजस्वामी) का समागम करते रहना।

इस प्रकार श्रीमद्जीने वि. सं. १९५७ मिती चैत्र वदी ५ (गुजराती) मंगलवारको दो प्रहरके २ बजे राजकोटमें इस नश्वर शरीरका त्याग किया।

इनके देहान्तके समाचारसे मुमुक्षुओंमें अत्यन्त शोकके बादल छा गए। अनेक समाचार पत्रोंने भी इनके लिये शोक प्रदर्शित किया था।

श्रीमद्जीका पार्थिव शरीर आज हमारी आँखोंके सामने नहीं है। किन्तु उनका सदुपदेश जबतक लोकमें चन्द्र, सूर्य हैं, तबतक स्थिर रहेगा तथा मुमुक्षुओंको आत्म-ज्ञानमें एक महान् सहायक रूप होगा।

श्रीमद्‌जीने १९५६ में परमश्रुतके प्रचारार्थ एक सुन्दर योजना तैयार की थी, जिससे मनुष्य समाजमें परमार्थ प्रकाशित हो। इनकी विद्यमानतामें वह योजना सफल हुई। और तदनुसार 'परमश्रुत प्रभावक मंडल' की स्थापना हुई। इस मंडलकी ओरसे दोनो जैन सम्प्रदायोंके अनेक सद्ग्रन्थोंका प्रकाशन हुआ है। इन ग्रन्थोंके मनन, अध्ययनसे समाजमें अच्छी जागृति आई है। गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छमें आज घर घर सद्ग्रन्थोंका जो अभ्यास चालू है, वह इसी संस्था का प्रताप है। 'रायचन्द्र जैन ग्रन्थमाला' मंडलकी आधीनतामें काम करती थी। राष्ट्रपिता महात्मा गांधीजी इस संस्थाके ट्रस्टी और भाई रेवाशंकर जगजीवनदास मुख्य कार्यकर्त्ता थे। भाई रेवाशंकरजीके देहोत्सर्गके बाद कुछ शिथिलता आगई। परन्तु अब उस संस्थाका काम श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, के ट्रस्टियोंने संभाल लिया है। और सुचारुरूप से सभी कार्य चल रहा है।

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम
अगास, व्हाया आणन्द (पश्चिम रेल्वे)
फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा
१३-३-६०

गुणभद्र जैन

प्रकाशकीय निवेदन

श्री स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी नवीन आवृत्ति आज इस संस्थाकी ओरसे प्रकाशित हो रही है। इसमें श्रीशुभचन्द्रकी संस्कृत टीका तथा जैन समाजके प्रसिद्ध विद्वान पं. कैलाश चन्द्रजी शास्त्रीका हिन्दी अनुवाद भी दे दिया गया है। इससे इसमें सोनेमें सुगन्ध आगई है। यह आवृत्ति पाठकोंके लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी। संस्कृत अभ्यासी भी इससे लाभ उठा सकेंगे। अभी तक इसकी कोई संस्कृत टीका प्रकाशमें नहीं आई थी। संस्थाधिकारियोंने इसको प्रकाशित कराके वीतराग वाणीकी अपूर्व सेवा द्वारा पुण्यानुबन्धी पुण्य का संचय किया है।

इसके सम्पादन तथा संशोधनमें श्रीमान् डॉक्टर आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय, प्रोफेसर, राजाराम कालेज, कोल्हापुर, ने काफी परिश्रम उठाया है। आपने अपनी सर्व शक्ति से इसे सुन्दर तथा रोचक बनानेका जो प्रयत्न किया है उसके लिये यह संस्था सदा आपकी आभारी है। श्री उपाध्यायजी आज विश्वके साहित्यकारोंमें मुख्य माने जाते हैं। आपके द्वारा अनेक ग्रन्थोंका सम्पादन हुआ है, तथा वर्तमानमें हो रहा है।

श्री परमात्मप्रकाश और प्रवचनसार भी इनके द्वारा सुसम्पादित होकर पाठकोंके हाथोंमें शीघ्रही प्राप्त होंगे। इन ग्रन्थोंके सम्पादन तथा संशोधनार्थ श्री उपाध्यायजीका जितना भी आभार मानाजाय कम है। आपकी अपूर्व विद्वत्ता और सर्वतोमुखी प्रतिभा प्रशंसनीय है।

हमें आशा है कि भविष्यमें भी आप इस ग्रन्थमालाको अपनी ही समझकर सेवामें सहयोग देते रहेंगे।

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम,
अगास, वाया आणंद,
फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा
ता. १३-३-६०

निवेदक
रावजीभाई देसाई

PREFACE

The *Bārasa-Aṇuvĕkkhā*, or what is usually known as *Kārttikeyānuprekṣā* (in Prākrit, *Kattigeyāṇuppĕkkhā*), of Svāmi Kumāra is an exhaustive treatise dealing with Jaina doctrines, especially the twelve Anuprekṣās. By virtue of Jayacandra's Vacanikā in Hindī, it attained great popularity among the Jainas; and it had already attracted the attention of R. G. BHANDARKAR and R. PISCHEL among the oriental scholars. A critical edition of it was a long-felt desideratum.

I yearned since long to bring out a critical edition of the *Kattigeyāṇuppĕkkhā*; and after long-drawn and chequered labours I feel relieved that I am putting in the hands of scholars its critically edited Text along with the (only available) Sanskrit commentary of Śubhacandra. For the general reader, the Hindī Translation also is included here.

The Anuprekṣās, as topics of reflection, are of great religious significance; and in Jainism, they have played a fruitful rôle. Their significance, scope and purpose and their evolution through and exposition in different strata of Jaina literature are discussed in detail in the Introduction. Different aspects of the text are critically studied, and fresh light is thrown on the personality and age of Svāmi Kumāra. Śubhacandra's commentary is presented as satisfactorily as possible from the available Mss. Personal details about him and his literary activities are collected; and the contents, sources and language of his commentary are critically scrutinised.

For reasons beyond my control, the work lingered in the press for a long time; and I feel sorry that many of my friends and colleagues were kept waiting for it. But for the personal interest of the Managers of the Nirṇaya Sāgara Press, especially Shri R. L. SHIRSEKAR and F. S. KALE, the Introduction would not have been printed so speedily.

I offer my sincere thanks to the late Br. SHITALPRASADAJI who was keenly interested in this edition and secured two Mss. from Lucknow for my use. My thanks are also due to Svasti Śrī LAKṢMĪSENA Bhaṭṭāraka, Kolhapur, Shri PANNALAL JAINA AGRAWAL, Delhi, and the Curator, Bhandarkar Oriental Research Institute for the loan of Mss. It was very kind of Pt. KAILASHCHANDRA SHASTRI, Banaras, who prepared the Hindī Anuvāda and extended his cooperation to me in various ways. Thanks are also due to Muni Śrī PUNYAVIJAYAJI, Ahmedabad, Dr. P. L. VAIDYA, Poona, Pt. DALASUKHABHAI MALAVANIA, Ahmedabad, Dr. P. K. GODE, Poona, Dr. HIRALAL JAIN, Muzaffarpur, Pt. BALACHANDA SHASTRI, Sholapur, and Pt. JINADAS SHASTRI, Sholapur, for their suggestions etc. in different contexts.

Lately, the management of the Rāyacandra Jaina Śāstramālā has changed hands, and it is looked after by Shri Raojibhai Desai of Śrīmad Rājacandra Āśrama, Agas, who is pushing its publications with keen interest and great zeal. My thanks are due to him for all his kind cooperation, and also to the Trustees of the Āśrama, Agas, who are making worthy efforts for the progress of this Śāstramālā.

During the last thirty years, I have uniformly drawn upon the scholarship and goodness of Pt. Jugalkishore Mukthar, Delhi, and Pt. Nathuram Premi, Bombay, throughout my scholastic activities; and if I dedicate this book to them on the eve of my retirement from service, I am only doing, in my humble way, a little of duty which I owe to these great scholars. What pains me most and moves me is that Pt. Premiji did not live to see this book published.

The Editor acknowledges his indebtedness to the University of Poona for the grant-in-aid given towards the publication of this book.

karmaṇyevādhikāras te |

Rajaram College,
Kolhapur
Mahāvīra Jayanti
9-4-1960

A. N. Upadhye

To

The Late Lamented Pt. **Nathuramaji Premi,** Bombay

and

Shriman Pt. **Jugalkishoraji Mukthar,** Delhi

Ms. Ba, see Intro pp 2–3

Folio 1 b—Beginning, ends with गिद्द (6)

Folio 21 b—Beginning मेओ (246), ends with कि बहु (252).

Folio 41 b—Begins वट (190), ends दीलवाली:

INTRODUCTION

1) CRITICAL APPARATUS

The *Bārasa-Anuvekkhā* of Svāmi Kumāra, or as it is generally known, the *Kārttikeyānuprekṣā*[1], is indeed a popular work from which Jaina laymen and monks have drawn their religious inspiration; and consequently, so many manuscripts of this text, with or without the Sanskrit commentary of Śubhacandra, are reported from various Mss.-collections: many more must be lying in other collections of which proper catalogues are not prepared as yet.

The Mss.[2] of *K.-anuprekṣā* are found in the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona; in the Jaina Siddhānta Bhavana, Arrah; in the Ailaka Pannālala Sarasvatī Bhavana and Candraprabh Jaina Mandira, Bhulesvara, Bombay; in the Temples at Karanja; at Amera in Rājasthān; at Moodabidri in South Kanara; in the Lakshmīsena Bhaṭṭāraka's Maṭha at Kolhapur, in the Jaina Gurukula at Bāhubali (Kolhapur); in the Bhaṭṭāraka's Maṭha at Śravaṇa Belgol (Mysore); and in the Jaina temples at Lucknow. Those at Bāhubali and Moodabidri are on palm-leaf and written in Old-Kannaḍa characters and those at Śravaṇa Belgoḷa in Grantha characters. Most of the other Mss. are on paper and in Devanāgarī characters.

The information noted above is gleaned from various Reports etc. Most of the Mss. from Poona, Bāhubali and Kolhapur I have personally

---

1) Edited by PANNALAL BAKALIVAL, Prākrit Text, Sanskrit Chāyā and Jayacandra's Hindī Com., Jaina Grantha Ratnākara Kāryālaya, Bombay 1904, Another ed., without the Sanskrit Chāyā, published by Bhāratīya Jain Siddhānta Prakāśinī Saṁsthā Calcutta 1920; Text, Hindī Anvayārtha by MAHENDRAKUMARA JAIN, Maroth (Rajasthan) 1950.

2) H. D. VELANKAR: *Jinaratna-Kośa*, Poona 1944; HIRALAL: *Catalogue of Sanskrit and Prākrit Mss. in C. P. and Berar*, Nagpur 1926. K. KASALIVAL: *Āmera Śāstra Bhaṇḍāra, Jayapura kī Grantha-sūcī*, Jayapur 1949; also *Rājasthānake Jaina Śāstra-bhaṇḍārõkī Granthasūcī*, part ii, Jayapur 1954; K. BHUJABALI SHASTRI *Kannaḍa-prāntīya Tāḍapatrīya Granthasūcī*, Banaras 1948. I have used private lists for the Mss at Kolhapur, Bāhubali and Belgol.

handled. As far as I have seen, there is only one Ms.[1] at Poona which is older than Śubhacandra whose Sanskrit commentary is found in some of the Mss.

A detailed description of the Mss. used by me in preparing this edition is given below:

Ba: This is a paper Ms. (10 by 4. 8 inches) belonging to the Deccan College, Poona, now deposited in the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, No. 1500 of 1886-92. It has 41 folios written on both sides; each page contains 10 lines; and each line has about 25 letters. The Ms. is pretty old and preserved in a good condition, though some of its edges are eaten by ants. It is throughout written in black ink; the opening sentence, some of the titles, numerals and Daṇḍas etc. are, however, written in red ink. The colour of the paper has changed into brown, and the folios are growing brittle. It contains only the Prākrit text, with topical headings here and there in corrupt language. It is written in a uniform hand. The hand-writing is fairly readable though not graceful. There are many apparent scribal errors, and most of them have been corrected later on sometimes with white paste and sometimes in black ink which is more brilliant than the original one. Possibly these corrections were made after a long time after the Ms. was originally written. One who made these corrections has followed the text with the commentary of Śubhacandra; and at times, even correct or plausibly accurate readings are corrected. In some places it is possible to conjecture the original readings. Many third p. sing. terminations in *di* are changed into *i*. The corrector has eliminated most of the scribal errors, and he also adds missing verses. This Ms. is partial for *v* in preference to *b*. It is not particular about *n* or *ṇ*, without any reference to its position in a word. It often writes *u* for *o* and conjunct groups for single consonants, and confuses between *mh* and *o*, *cch* and *tth* etc. At times *s* is retained, and *nh*, *nh* or *hn* is indiscriminately used. There are some marginal remarks in Sanskrit, and terms like *yugma*, *yugala* etc. are used to mark the groups of gathās. The Ms. opens like this with the symbol of *bhale* which looks like ६० in Devanagarī. ओनमो वीनरागाय नमः ॥ स्वामि कार्त्तिक अणुप्रेक्षा लिखते ॥. Then follows the first gāthā. It is concluded thus: स्वामि कुमारानुप्रेक्षा समाप्तः ॥ Then follows the *lekhaka-praśasti* which is copied here exactly as it is: संवत १६०३ वर्षे: । कार्त्तिकमासे शुक्रपक्षे । तृर्तीयां तिथें । बुधवासरे । पातिसाह श्रीमलेमसाहरज्ये । अलवरगडमहादुर्गेवास्तव्य । श्रीकाष्टासंघे । मथुरान्वये श्रीपुष्करगणे श्रीवर्द्धमानजिनगोतमस्वामिमाम्नायः । गुरुश्च भटारक श्रीसहंसकीर्त्तिदेवा तत । पट्ट अनुक्रमेन् वादीभकुंभस्थलविदारणैकपंचमुषान: । समस्तगुणविराजमान् भट्टारकश्रीगुणभद्रसूरिदेवात् । तत् मनाय: । अलवर-वास्तव्य: । गर्गगोत्रे गंगाजलपवित्रे । साहचादणदीलवली: । The reference to Salemasaha has in

1) See *Peterson Reports* IV. of 1886-92, No. 1500; it is described below as *Ba*.

view Islīm Shāh or Salīm Shāh (original name, Jalāl khān) who succeeded Sher Shāh of the Sūr dynasty and ruled as the emperor of Delhi from 1545 to 1554 during the absence of Humāyūn. This king is mentioned in Candrakīrti's Com. on the Sārasvata grammar[1] and at the end of a Ms, *Śrāvakācāra Dohaka* (at Delhi), of which I have seen a transcript. On the first page we have the following sentence in a different hand: इह पोथी धरमदास चौधरी जिहांनांबादमधे जैस्यंघपुरामें तेरापंथ्यांके चैताले पधराई मि. भादवा सुकल १३ सं १८०१.

La: This is a paper Ms. (13 by 5 inches) belonging to Śrī Lakṣmīsena Bhaṭṭāraka of Kolhapur (Regd. No. 50 in the list of the Matha). It has 262 folios written on both the sides excepting the first and the last pages which are blank. Each page has nine lines with some fortyfive letters or so in each line. The Prākrit text is accompanied by the Sanskrit commentary of Śubhacandra. The writing is fairly good but for the typical scribal errors noted below. It is written in a tolerably fair Devanāgarī hand: the first thirtythree and the last seven folios show a different hand of slightly perpendicular and rough style. It is written in black ink on indigenous paper. The gāthās are scored with red pencil or powder and marginal lines and daṇḍas are in red ink. In this Ms. *ṇṇ* is written as *ṇ* and *o* as *u*, and *ch* and *tth* are often confused. The copyist has not properly read the Ms. in which some of these letters had close similarity for one who does not understand the subtle differences between them. The punctuations in the commentary are not regularly put. A folio, No. 256, is missing; and in the middle some folios, though numbered correctly, are misplaced. Beginning with the symbol of *bhale* the Ms. opens thus ॥ ६० ॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥ शुभचंद्रं जिनं नत्वा etc. After the *praśasti* of Śubhacandra, there is the following colophon at the end: संवत् १८९४ वर्षे चैत्र कृष्णातिथौ २ । भौमवासरे । लिप्यकृतं श्रीमथुराजीमध्ये ब्राह्मण प्राणसुखहस्तेन ॥ श्रावक पन्नालाल ॥ पूज्य श्रीशान्तिश्येन मुनि महाराजुकीदान दत्तं ।.

Ma: This belongs to the Terāpanthi Mandira, Bombay, and bears the No. 98, the earlier No. being 58/3. The paper shows signs of decay, and the edges of folios are broken here and there. It measures 12 by 5. 2 inches. The script is Devanāgarī with the use of *paḍimātrā* here and there. It has the Prākrit text, and in between the lines the Sanskrit chāyā is written. The opening words for the gāthās are: श्री वितरागायनमः and for the chāyā are: श्री अर्हते नमः. The Ms. ends thus: इति श्रीस्वामिकार्त्तिकेयकृतानुप्रेक्षा समाप्ताः । ६ ॥ १२६ ॥ स्मृतेर्वशात् यदत्र लिखितं कूटं तच्छोध्यं बुधपुंगवैः १ । संवत् १६३५ जेष्ठ वदी ८ भौमे लिखतं ।

Sa: This is a paper Ms. from Lucknow belonging to Śrī Digambara Jaina Mandira there and received through Sheth Santoomal Samerachand

---

1) S. K. BELVALKAR: *Systems of Sanskrit Grammar*, p. 98.

Jain, Lucknow. It is a well preserved Ms. written on indigenous paper. It cantains gāthās and the Vacanikā of Jayacandra in Hindī. It measures 5·4 by 11·4 inches. In all it has 161 folios. There are ten lines on each page and 40 to 45 letters in each line. The Devanāgarī writing is uniform. Marginal lines, opening and concluding sentences, topical and metrical titles, daṇḍas, numerals etc. are in red ink. Variants for the gāthās only are noted. The Ms. opens thus : ॥ ६० ॥ ओं नम. सिद्धेभ्य: ॥ अथ स्वामि कार्त्तिकेयानुप्रेक्षानांम ग्रंथकी देशभाषामयवचनिका लिखिये है ॥ दोहा ॥ प्रथमरिषभ etc. After the *praśasti* of Jayacandra (already printed in the Bombay edition) the Ms. adds at the end the following sentence : मासोतमासे उत्तममासे फागुणमासे कृष्णपक्षे पंचमी सोमवार संवत ॥ १८८५ ॥ का ॥ इति श्री स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा नाम ग्रंथकी देशभाषामयवचनिका संपूर्ण ॥ ॥

Ga: This is a paper Ms. from the Digambara Jaina Mandira, Chaukapurīvālī Galī, Lucknow, received by me along with the Ms. *Sa* described above. Though the leaves are brown and show patches of moisture, it is well preserved on the whole. It measures 12 by 6·1 inches and contains 210 folios written on both the sides excepting the first folio which has a blank page. It is written in uniform Devanāgarī script the style of which is different from folio No. 172 onwards where the number of scribal errors also increases. The topical titles, daṇḍas, nos. of gāthās, marginal lines etc. are written in red ink but the running matter in black. The daṇḍas are not at the same places as in *La*. This Ms. is more accurate in Sanskrit portions than in Prākrit gāthās It begins with ॥ ६० ॥ श्रीपरमात्मने नम. ॥ and ends in this way : इति श्री स्वामिकार्त्तिकेयटीकायां त्रिविद्यविद्याधरपट्भाषाकविचक्रवर्त्तिभट्टारकश्रीशुभचंद्रविरचितायां धर्म्मानुप्रेक्षाया द्वादशोधिकार: ॥ १२ ॥

Pa: This is a paper Ms. from the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, No. 290 of 1883-84. It measures 12·5 by 5·5 inches and contains 277 folios. Each page has ten lines, with about 40 letters in a line. In this Ms. the Prākrit text is accompanied by the Sanskrit commentary of Śubhacandra. It is written in uniform Devanāgarī hand in black ink; the marginal lines and some daṇḍas are in red ink; and reddish powder is rubbed over the gāthās, titles, quotations etc. Separation of words is indicated by small strokes on the head-lines both in the text and in the commentary. It begins thus : ॥ ६० ॥ ओ नमः सिद्धेभ्यः ॥ १ ॥ शुभचंद्रं etc. and ends thus on p. 277 : इति श्रीस्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षायां त्रिविद्यविद्याधरषड्भाषाकविचक्रवर्त्तिश्रीशुभचंद्रविरचितटीकायां धर्म्मानुप्रेक्षायां द्वादशोधिकारः ॥ १२ ॥ अथ शुभसंवच्छरे संवत १७८४ पोससुदि ५ दिने लिपीकृतम् । लिखतं ब्रांह्मण हरियाए पाषेडीका बासी पेमराजलिपीकृतम् । मंगलं भूयात् । श्रीः । [Then in a different hand] दिवसामध्ये लिषाइतं ॥ सा × × × ह वाल्चंद सावडा कूसलस्यंघसुत् । श्लोक संख्या ७२५६ ॥ ॥ सोरठा ॥ पुस्तग लई लिषाय । स्वपरहेतकै कारणै । पढै सुणै मनलाय ईह द्वादस जो भावना ॥ १ ॥.

Of the six Mss. described above, *Ba* and *Ma* have only the Prākrit text. *La*, *Ga* and *Pa* are accompanied by Śubhacandra's Sanskrit commentary and *Sa* by Jayacandra's Hindī Vacanikā. *Ba* is the oldest Ms. of our group, being written in Saṁvat 1603, and significantly indeed older than Śubhacandra's commentary which was completed in Saṁvat 1613. Next in age comes Ms. *Ma* which too has only the Prākrit text. *Pa* is written in Saṁ. 1785, *Sa* in Saṁ. 1885 and *La* in Saṁ. 1894; *Ga* bears no date, but it may be as old as, if not older than, *Pa* from Poona.

So far as the Prākrit text is cancerned, and it is for this that our collation has been thorough, *Ba* occupies a unique position by virtue of its age though some of its readings are corrected under the influence of the text adopted by Śubhacandra for his commentary. It shows some striking common readings with *Ma* which obviously go back to a common codex older than Śubhacandra. *La*, *Ga* and *Pa* show close affinity, all of them being accompanied by the Sanskrit commentary. The text in *La* is nearer the one adopted by Śubhacandra whom Jayacandra follows.

The Prākrit text is constituted after collating five Mss., *Ba*, *Ma*, *La*, *Sa* and *Ga*, described above. Variants arising out of scribal slips, presence or absence of *anusvāra*, *s* and *s*, *b* and *v*, *n* and *n*, *a* or *ya*, *nh* or *nh*, *i* or *ī* at the end of a *pāda*, *o* and *uṁ*, *cch* and *tth* etc. found in a stray manner in some Ms. or the other are not recorded. However, no reading which has even the remotest dialectal signification is ignored. For facility of understanding hyphens are added to separate words in a compound expression. Some emendations are suggested in square brackets in the foot-notes. Grammatical forms are not tampered with for metrical needs: so Present 3rd p. sing. termination would be *i*, though at the end of a *pāda* it may pronounced long. The *anusvāra* is shown when some Mss. give it; but it is shown as *anunāsika* when its pronunciation is metrically short.

The text of the Sanskrit commentary is constituted primarily with the help of two Mss., *La* and *Ga*, which between themselves show variations about *saṁdhi* and punctuations etc. with which intelligent copyists appear to have taken some liberty. The readings are noted only when they show fundamental variants affecting the contents. What is agreed upon by both the Mss. is accepted, and in cases of crucial difference, the readings are decided after consulting the Ms. *Pa*. The rules of Saṁdhi are not rigorously enforced. Sanskrit expressions, if found in both the Mss., are not tampered with, even if they violate the recognised grammatical standard: obviously, strange forms and expressions are met with here and there. *Ga*

gives Daṇḍas more sensibly, but there is no system as such. So Daṇḍas are adjusted, and if necessary added, and now and then commas also put for facility of understanding. Quotations are shown in inverted commas, single or double. The Prākrit verses quoted in the Sanskrit commentary are often very corrupt; they are scrutinised in the light of their sources whenever possible; and plausible readings are allowed to remain in doubtful cases. Whatever is added by the editor, say in the form of chāyā or missing portion, is shown in square brackets. The Ms. *Ga* often adds the term Vyākhyā at the beginning of the commentary on each gāthā, but it is not found in all the Mss. On the whole the Editor's attempt is to present an authentic and readable text of the Commentary on the basis of two (in some cases three) Mss. noted above without meticulously noting the various readings which do not affect the meaning in any way. Some diagrams in the discussion of Dhyāna in Śubhacandra's commentary could not be reproduced, because they are not identical in all the Mss.

2) ANUPREKṢĀS

a) Etymology and Meaning

Though the term shows different spellings in Prākrit, namely, *aṇuppehā*, *aṇupehā*, *aṇuvehā*, *aṇuppekkhā*, *aṇupekkhā* and *aṇuvekkhā* (some of which are already recorded in Mss.), the Sanskrit counterpart of it is *anuprekṣā* (and not *anūtprekṣā*) from the root *īkṣ* with the prepositions *anu* and *pra*, meaning, to ponder, to reflect, to think repeatedly etc. The commentators have endorsed this meaning, now and then amplifying it according to the context. Pūjyapāda in his commentary on the *Tattvārtha-sūtra*[1] interprets *anuprekṣā* as 'pondering on the nature of the body and other substances'. According to Svāmi Kumāra[2], *anuprekṣā* is defined as 'pondering on the right principles'. According to Siddhasena[3], this repeated pondering develops suitable mental states (*vāsanā*). Nemicandra[4] explains it as *cintanikā*, reflecting. That *anuprekṣā* covers comprehension-cum-visualisa-

---

1) *Sarvārthasiddhi* on IX 2-शरीरादीना स्वभावानुचिन्तनम् अनुप्रेक्षा ।

2) *Svāmi-Kārttikeyānuprekṣā 97* : सुतत्तचिंता अणुप्पेहा ।

3) *Bhāṣya-ṭīkā* (Bombay 1930), part II. 181-अनुप्रेक्षणम् अनुचिन्तनम् अनुप्रेक्षा, अनुप्रेक्ष्यन्ते भाव्यन्त इति वानुप्रेक्षाः । तादृशानुचिन्तनेन तादृशीभिर्वा वासनाभिः संवरः गुल्भो भवति ।

4) On the *Uttarādhyayana* 29.22.

tion with a concentrated mind is clearly hinted by Āśādhara[1]. Śubhacandra[2] further expands its scope by saying that one has to reflect on the various principles, and this continued reflection involves constant awareness of the nature of things. There is also another aspect for its meaning when it is used in connection with *svādhyāya* or study of scripture, *anuprekṣā* or pondering on what one has learnt being one of its important factors. The *Bhāṣya* and *Sarvārtha-siddhi* have stressed this meaning while discussing *svādhyāya*.[3]. Sometimes both the aspects, especially with later commentators, have got mixed up.

b) What They Are in General

The Anuprekṣās are, in general, topics of meditation or for reflection, twelve in number, and embrace a wide range of subjects practically covering all the principles and cardinal teachings of Jainism. They are in the form of reflections on 1) the transient character of things (*anitya-anuprekṣā*), 2) helplessness (*aśaraṇa-a.*), 3) the cycle of rebirth (*saṁsāra-a.*), 4) loneliness (*ekatva-a.*), 5) separateness of the self and non-self (*anyatva-a.*), 6) the impurity of the body (*aśuci-a.*), 7) the inflow of Karmas (*āsrava-a.*), 8) stoppage of the inflow of Karmas (*saṁvara-a.*), 9) the shedding of Karmas (*nirjarā-a.*), 10) the constitution of the universe (*loka-a.*), 11) the difficulty of attaining enlightenment about true religion (*bodhi-durlabha-a.*), and 12) the Law expounded by the Arhat (*dharma-svākhyātatva-a.*).[4]

c) Their Position in Jaina Ideology

It is interesting to study the position of Anuprekṣā in Jaina ideology or in the scheme of Jain principles.

i) The shedding of Karma (*nirjarā*) is rendered possible through penance (*tapas*) which is twofold: External and Internal. The latter is of six varieties of which *sajjhāya* or the study of the sacred lore is the fourth and *jhāna*, concentration or meditation, is the fifth.[5]

---

1) *Anagāra-Dharmāmṛta* (Bombay 1919), page 414–अनुप्रेक्ष्यन्ते शरीराद्यनुगतत्वेन स्तिमितचेतसा दृश्यन्ते इत्यनुप्रेक्षाः ।

2) Here in his commentary on the *Svāmi-Kārttikeyānuprekṣā*, p. 1–अनु पुनः पुनः प्रेक्षणं चिन्तनं स्मरणमनित्यादिस्वरूपाणामित्यनुप्रेक्षा, निजनिजनामानुसारेण तत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा इत्यर्थः ।

3) On the *Tattvārtha-sūtra* IX. 25, *Bhāṣya:* अनुप्रेक्षा ग्रन्थार्थयोरेव मनसाभ्यासः । *Sarvārtha-siddhi :* अधिगतार्थस्य मनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा ।

4) K. K. Handiqui · *Yaśastilak and Indian Culture* (Sholapur 1949), pp. 291 ff.

5) *Ovavāiyasuttaṁ*, Sūtra 30, edited by N. G. Suru (Poona 1931), pp. 20, 24, 26, 27; for this and the next two paragraphs.

a) The study of the sacred lore is of five kinds. 1) *vāyaṇā*, reading or reciting; 2) *paḍipucchaṇā*, questioning or inquiring on a doubtful point; 3) *pariyaṭṭaṇā*, memorising or proper recitation; 4) *aṇuppehā*, reflection or meditation on what is studied; and 5) *dhamma-kahā*, lecturing or delivering sermons.[1]

b) Of the four *dhyānas*, *dharmya* and *śukla* deserve detailed scrutiny in this context. The Dharmya-dhyāna, which is of four kinds, has four characteristics (*lakkhaṇa*), fourfold support (*ālaṁbaṇa*), namely, *vāyaṇā*, *pucchaṇā*, *pariyaṭṭaṇā* and *dhammakahā*, and four attendant reflections (*aṇuppehā*): 1) *anicca-aṇuppehā*, 2) *asaraṇa-a.*, 3) *egatta-a.* and 4) *saṁsāra-a.* Similarly, Śukla-dhyāna, which is of four kinds, has four characteristics, fourfold support and four attendant reflections: 1) *avāya-aṇuppehā*, 2) *asubha-a.*, 3) *aṇaṁtavattiya-a.* and 4) *vipariṇāma-a.*

Thus Anuprekṣā, reflection on or pondering over certain topics, has been closely associated with Dhyāna, both Śukla- and Dharmya-, and especially with the latter so far as the standard list of Anuprekṣās, in parts or as a whole, is concerned. Śivārya in his *Bhagavatī Ārādhanā*, while describing the *dharma-dhyāna*, thinks nearly in similar terms; and according to him, *aṇupehā* is the last *ālaṁbana* (the first three being *vāyana*, *pucchana* and *parivaṭṭana*) of it under its fourth variety or stage, namely, *saṁsthāna-vicaya*, which consists in meditating on the constitution of the universe as conceived in Jainism.[2] Śivārya gives an elaborate exposition of the twelve Anuprekṣās, the contemplation on which being a supplementary discipline. In his description of Śukladhyana there is no reference to Anuprekṣās.

ii) According to the *Tattvārthasūtra* IX. 2, Anuprekṣās are mentioned among the agencies that bring about the stoppage of the influx of Karmas (*saṁvara*), the remaining being Gupti, Samiti, Dharma, Parīṣaha-jaya and Cāritra. All the commentators elaborate the discussion about *anuprekṣās* only in this context. The Sūtras mention *anuprekṣās* under *svādhyāya* (IX. 26) where the meaning is slightly different, but do not refer to them under the discussion of Dhyana (IX. 28 ff.).

Thus Anuprekṣā occupies a significant position in Jaina ideology. It is conducive to the stoppage of the influx and shedding of Karman; it

---

1) According to the *Tattvārtha-sūtra* (IX 25) the order of enumeration and wording are slightly different.

2) *Mūlārādhanā* (Sholapur 1935) gāthās 1710, 1875-76 etc.

supplements the discipline of meditation; and it is one of the forms of the study of the sacred lore. Its twofold connotation, noted above, depends on its association with Meditation or Study.

d) Their Purpose and Scope

The object of Anuprekṣā and its effect on the soul aspiring after liberation are explained at length in the *Uttarādhyayana-sūtra* (XXIX. 22): 'By pondering [on what he has learned] he loosens the firm hold which the seven kinds of Karman, except the *āyuṣka* (have upon the soul); he shortens their duration when it was to be a longer one; he mitigates their power when it was intense; (he reduces their sphere of action when it was a wide one); he may acquire Ayuṣka-Karman or not, but he no more accumulates Karman which produces unpleasant feelings, and he quickly crosses the very large of the fourfold Saṁsāra which is without beginning and end.' The ultimate objective of Anuprekṣā-contemplation is the stoppage (*saṃvara*) of the influx of and the shedding of Karman (*nirjarā*). As intermediary steps many a virtue is developed by the soul by contemplating on one or the other *anuprekṣā*.

The topics of Anuprekṣā serve as potent factors leading to spiritual progress. When one is impressed by the transient nature of worldly objects and relations, one directs one's attention from the outward to the inward: the attachment for the world is reduced giving place to liking for religious life which alone can save the soul from Saṁsāra and lead it on to liberation. By this contemplation the relation of the self with the universe is fully understood: the mind becomes pure and equanimous; attachment and aversion are subjugated; renunciation rules supreme; and in pure meditation the Ātman is realized.

The scope of the religious topics covered by twelve Anuprekṣās is pretty wide. When the worldly objects are realized to be transitory and relations temporary, there develops that philosophical yearning to solve the problem of life and death. The individual, often under the pressure of his pre-dispositions, thinks, talks and acts, and thus incurs a fund of Karmas the consequences of which he cannot escape. Being the architect of his own fortune, he can never escape his Karmas without experiencing their fruits. The soul being in the company of Karmas from beginningless time, the transmigratory struggle is going on since long; and it is high time for the self to realise itself as completely different from its associates, both subtle and gross. To realise the potential effulgence of the self, one has to under-

stand the derogatory nature of its accessories like body etc. The causes of the Karmic influx have to be ascertained and eradicated and the stock of the binding Karman to be destroyed. A detailed contemplation on the universe in its manifold aspects helps one to understand the self; and this understanding is something rare and reached after a good deal of effort along the religious path preached by worthy Teachers who lived what they preached and became ideals, after attaining the bliss of liberation, for all the aspirants.

The Anuprekṣās are of significant value in one's career in all the stages of religious life and spiritual progress. 'They are in the nature of reflections on the fundamental facts of life, and remind the devotee of the teachings of the Master on the subject of rebirth, Karma and its destruction, equanimity and self-control, the glory of the Law and the final goal. They are no doubt designed to develop the contemplative faculty of the Yogin and may be called the starting point of *dhyāna*. But they have also a great moral significance inasmuch as they are meant to develop purity of thoughts and sincerety in the practice of religion.'[1]

e) Their Twofold Enumeration

Especially in the Sūtra texts, the order of enumeration of any topics has a practical advantage for referential purposes, apart from the possibility of its getting some traditional sanctity. So it is necessary to see how Anuprekṣās are enumerated in earlier texts. The list of twelve Anuprekṣās as enumerated in the *Tattvārtha-sūtra* of Umāsvāti (IX. 7) has become more or less standard for subsequent writers who adopt it with very minor changes in the order, may be for metrical needs etc. Umāsvāti's order stands thus: 1) *anitya-a.*, 2) *aśaraṇa-*, 3) *saṁsāra-*, 4) *ekatva-*, 5) *anyatva-*, 6) *aśuci-* 7) *āsrava-*, 8) *saṁvara-*, 9) *nirjarā-*, 10) *loka-* 11) *bodhi-durlabhatva*, and 12) *dharma-svākhyātatva-*. The three authors Śivārya[2], Vaṭṭakera[3] and Kundakunda[4] stand together with a definitely different order of enumeration which stands thus: 1) *adhruva-a.*, 2) *aśaraṇa-*, 3) *ekatva-*, 4) *anyatva-*, 5) *saṁsāra-*, 6) *loka-*, 7) *aśuci-*, 8) *āsrava-*, 9) *saṁvara-*, 10) *nirjarā-*, 11) *dharma-*, and 12) *bodhi-*. That in the *Maraṇa-samāhi* is nearer the one of these authors than that of Umāsvāti. Svāmi Kumāra, however, agrees with the enumeration of Umāsvāti, though he agrees with Śivārya and others in preferring the term *adhruva* to *anitya*.

1) K. K. Handiqui: *Yaśastilaka and Indian Culture* (Sholapur 1949) p. 293.
2) *Mūlārādhanā*, gāthā 1715.
3) *Mūlācāra* (Bombay 1923) part 2, VIII. 2.
4) *Bārasa Aṇuvekkhā* in the Ṣaṭ-Prābhṛtādi-saṁgraha (Bombay 1920) p. 425.

3) ANUPREKṢĀ IN JAINA LITERATURE

a) Canonical Strata

It is necessary to record what information is available about Anu. prekṣā, not in its general sense[1] but in its technical perspective, as outlined above, in the earlier strata of Jaina literature, especially the canonical texts. The canon, as it has come down to us, contains older and later portions; and as yet our studies have not progressed towards chronological stratification of the various texts. Some of the contents may be as old as the second century after the Nirvāṇa of Mahāvīra, while their final form, mostly as available today, is as late as the fifth century A. D. : the earliest known compilation was made at the Pāṭaliputra Council and then, through various vicissitudes, the available texts were collected and written down at the Valabhī Council presided over by Devarddhi. So taking the present texts as they are, an attempt can be made to put together all information about Anuprekṣās from the canonical texts, namely, 11 Aṅgas, 12 Upāṅgas, 10 Prakīrṇakas, 6 Chedasūtras, 4 Mūlasūtras, and 2 Individual Texts; and also the relics of the Pūrvas.

1) According to the *Ṭhāṇaṁga*, there are four Dhyānas : *aṭṭa*, *rodda*, *dhamma* and *sukka*. The third, namely, Dharmya is of four kinds; it has four characteristics; it is supported by four props : 1) *vāyaṇā*, 2) *paḍipucchaṇā*, 3) *pariyaṭṭaṇā* and 4) *aṇuppehā;* and lastly it is to be attended by four *aṇuppehās :* 1) *ega-aṇuppehā*, 2) *aṇicca-a.*, 3) *asaraṇa-a.*, and 4) *saṁsāra-a.* In the like manner, Śukladhyāna is also of four kinds, has four characteristics, is supported by four props and is to be attended by four *aṇuppehās :* 1) *aṇaṁtavattiya-a.*, 2) *vipariṇāma-a.* 3) *asubha-a.*, 4) *avāya-a.* The passage in question stands thus :[2]

धम्मे झाणे चउव्विहे चउप्पडोयारे पण्णत्ते। तं जहा। आणाविजए, अवायविजए, विवागविजए, संठाणविजए। धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता। तं जहा। आणारुई, णिसग्गरुई, सुत्तरुई, ओगाढरुई। धम्मस्स झाणस्स चत्तारि आलंबणा पण्णत्ता। तं जहा। वायणा, पडिपुच्छणा, परियट्टणा, अणुप्पेहा। धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ता। तं जहा। एगाणुप्पेहा, अणिच्चाणुप्पेहा, असरणाणुप्पेहा, संसाराणुप्पेहा।

---

1) The word is now and then used in its general sense, for instance, *Aṇuogadāra*, Sūtra 73, *Suttāgame* (Gurgaon 1954), Vol. II, p. 1092.

2) *Suttāgame* (Gurgaon 1953), I, p. 224; also *Śrīmat Sthānāṅga-sūtram* with Abhayadeva's Commentary (Ahmedabad 1937), pp. 176-77.

सुक्के झाणे चउव्विहे चउप्पडोयारे पण्णत्ते। तं जहा। पुहुत्तवियक्के सवियारी, एगत्तवियक्के अवियारी, सुहुमकिरिए अणियट्टी, समुच्छिन्नकिरिए अपडिवाई। सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता। तं जहा। अव्वहे, असम्मोहे, विवेगे, विउस्सग्गे। सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि आलंबणा पण्णत्ता। तं जहा। खंती, मुत्ती, मद्दवे, अज्जवे। सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ता। तं जहा। अणंतवत्तियाणुप्पेहा,[1] विपरिणामाणुप्पेहा, असुभाणुप्पेहा, अवायाणुप्पेहा।

2) A similar passage is found in the *Ovavāiya-sutta* (Sūtra 30) according to which '4 *dhammakahā*' takes the place of '4 *aṇuppehā*'; and the order of enumeration of the four *aṇuppehās* is slightly different: *anicca-a.* comes first, and *ega* or *egatta-a.* stands third. Further, under Śukladhyāna also, the order is slightly different: 1 *avāya-*, 2 *asubha-*, 3 *aṇaṁtavattiya-*, and 4 *vipariṇāma-*.

3) As already noted above, according to the *Ovavāiya-sutta*, the Internal penance is of six kinds, the fourth being *sajjhāya* and the fifth, *jhāṇa*. The *sajjhāya* is of five kinds: 1 *vāyaṇā*, 2 *paḍipucchaṇā*, 3 *pariyaṭṭaṇā*, 4 *aṇuppehā* and 5 *dhammakahā*. In the passages referred to under 1) and 2), *Aṇuppehā* and *Dhammakahā* figured as alternatives in the *Ṭhāṇaṁga* and *Ovavāiya*, but here they are separately enumerated. This separate enumeration is further confirmed by another passage of the *Ovavāiya* which stands thus (Sūtra 31):

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स बहवे अणगारा भगवंतो अप्पेगइया आयारधरा जाव विवागसुयधरा तत्थ तत्थ तहिं तहिं देसे देसे गच्छागच्छिं गुम्मागुम्मिं फड्डाफड्डिं अप्पेगइया वायंति अप्पेगइया पडिपुच्छंति अप्पेगइया परियट्टंति अप्पेगइया अणुप्पेहंति अप्पेगइया अक्खेवणीओ विक्खेवणीओ संवेयणीओ णिव्वेयणीओ बहुविहाओ कहाओ कहंति अप्पेगइया उड्ढंजाणू अहोसिरा झाणकोट्ठोवगया संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति।

4) The *Uttarādhyayana-sūtra* (xxx. 30, 34) also classifies the Internal penance into six kinds, and the fourth, namely, *sajjhāya* is of five kinds: 1 *vāyaṇā*, 2 *pucchaṇā*, 3 *pariyaṭṭaṇā*, 4 *aṇuppehā* and 5 *dhammakahā*. In the earlier chapter (xxix), Sammatta-parakkame, among the topics enumerated, *sajjhāya* stands at No. 18 and is followed by *vāyaṇā*, *paḍipucchaṇā*, *pariyaṭṭaṇā*, *aṇuppehā* and *dhammakahā* which are numbered 19 to 23. It is possible, of course, to take that these five are just the amplification of *sajjhāya*. The text, as already quoted above, explains at length the effect of Anuprekṣā on the soul aspiring after liberation.

---

1) Abhayadeva explains them thus: अनन्ता अत्यन्तं प्रभूता वृत्तिः वर्तनं यस्यासावनन्तवृत्तिः, अनन्ततया वर्त्तते इत्यनन्तवर्त्ती तद्भावस्तथा, भवसंतानस्येति गम्यते। ......विविधेन प्रकारेण परिणमनं विपरिणामो वस्तूनामिति गम्यते।...... अशुभत्वं संसारस्येति गम्यते। तथा अपाया आश्रवाणामिति गम्यते।

5) The basic Sūtras of the *Ṣaṭkhaṇḍāgama* on which Vīrasena (c. A. D. 816) has written the Dhavalā commentary using, if not incorporating, earlier Prākrit commentaries, are a relic of the Pūrvas; and in one Sūtra, while explaining the Śrutajñāna-upayoga, the following eight types are mentioned thus:[1]

जा तत्थ वायणा वा पुच्छणा वा पडिच्छणा वा परियट्टणा वा अणुपेक्खणा वा थय-थुदि-धम्मकहा वा जे चामण्णे एवमादिया ॥

The commentary gives a detailed interpretation of all these, among which Anuprekṣā is thus explained:

i) **कम्मणिज्जरणट्ठमट्ठिमज्जाणुगयस्स सुदणाणस्स परिमलणमणुपेक्खणा णाम ।**

ii) **सांगीभूदकदीए कम्मणिज्जरट्ठमणुसरणमणुवेक्खा ।**

6) It would be relevant to record here some negative evidence also. The *Uttarādhyayana-sūtra,* Chapter xxi, Caraṇavihi, enumerates topics arranged in units of one, two, three, etc. Under the group of twelve there is no mention of Anuprekṣā (verse 11). In similar enumerations in the *Samavāyaṁga*[2] and *Āvassayasutta*[3], the list of twelve Anuprekṣās is not mentioned. Secondly, in the *Paṇhāvāgaraṇāiṁ* the five Saṁvaradvāras[4] are mentioned; but they do not, as in the *Tattvārtha-sūtra,* include Anuprekṣā; and what are mentioned there as Bhāvanās, like those in the *Ayāraṁga*, are quite different from Anuprekṣā for which later on the term Bhāvanā came to be used.

7) The *Mahānisīha-sutta*[5] enumerates Bhāvanās in this manner:

भावणाओ दुवालस । तं जहा । अणिच्चत्त-भावणा, असरण-भा°, एगत्त-भा°, अन्नत्त-भा°, विचित्त-संसार-भा°, कम्मासव-भा°, संवर-भा°, विणिज्जर-भा°, लोगवित्थर-भा°, धम्मं सुयक्खायं सुपन्नत्तं तित्थयरेहिं[6], तत्त-चिंता-भा°, बोही सुदुल्लहा जम्मंतरकोडीहि वि त्ति भा° ।

---

1) HIRALAL JAIN: *Ṣaṭkhaṇḍāgama,* IV. 1, vol. 9, pp. 262–63 (Amraoti 1949).

2) *Suttāgame* (Gurgaon 1953), vol, 1, pp. 325–6.

3) *Suttāgame* (Gurgaon 1954), vol. 2, p. 1168.

4) A. C. SEN: *A Critical Introduction to the Paṇhāvāgaraṇāiṁ,* the tenth Aṅga of the Jaina Canon (Wurzburg 1936), pp. 7, 19 etc.

5) W. SCHUBRING: *Das Mahānisīha-sutta* (Berlin 1918) p. 66. This work is later than *Piṇḍa–* and *Oha-nijjutti,* but 'in reality can scarcely be attributed to the canon with correct ness. 'Both language and subject-matter, e. g., the occurence of Tantric sayings, the mention of non-canonical writings, etc., seem to indicate a late origin of this work.' M. WINTERNITZ: *A History of Indian Literature,* vol. II, p. 405.

6) Compare *Praśama-rati-prakaraṇa,* No. 161: धर्मोऽयं स्वाख्यातो जगद्धितार्थं जिनैर्जितारिगणैः । येऽत्र रतास्ते संसारसागरं लीलयोत्तीर्णाः ॥

This list as compared with that in the *Tattvārthasūtra* is wanting in *aśucitva-*, and *tattvacintā-bhāvanā* seems to be additional: any way the twelvefold enumeration is maintained.

8) In one of the Paiṇṇaya texts, namely, the *Maraṇasamāhi*,[1] the twelve Bhāvanās are thus enumerated: 1 *aniccabhāva*, 2 *asaraṇayā*, 3 *egayā*, 4 *annatta*, 5 *saṁsāra*, 6 *asubhayā*, 7 *logassahāva*, 8 *āsava*, 9 *saṁvara*, 10 *nijjaraṇa*, 11 *uttama-guṇa* and 12 *bohi-dullahayā*.[2] The object of these Bhāvanās is to inculcate *vairāgya* or the spirit of detachment and renunciation; and they are explained in details in some 70 gāthās (569–688). 1) In this world the position and pelf, contacts and coresidence, physical gifts and worldly accessories are all transitory (574-77). 2) When one is pestered by birth, old age and death, the only shelter is the Jina-śāsana. Even with all the military equipments no king has been able to conquer death. Neither miracles nor medicines, neither friends nor relatives, not even gods, can save a man from death; and none else can share his agonies (578-83). 3) Others do not accompany one to the next world. One has to suffer all alone for one's Karmas. It is futile to weep for others without understanding one's own plight (584–88). 4) The body and relatives are all separate from the self (589). 5) With the mind deluded and not knowing the correct path, the Ātman wanders in Saṁsāra, in various births, suffering physical pains and mental agonies. Birth, death, privations etc. are to be faced all along: the same soul plays different rôles in different births without following the Dharma (590–600). 6) Dharma alone is *śubha*, auspicious or beneficial, while wealth and pleasures lead one ultimately to misery (601–4). 7) There is no happiness in this world, in the various grades of existence. Birth, death, disease, impure body, separation and mental disturbances: all these leave no room for happiness (605–10). 8) Attachment, aversion, negligence, sensual temptations, greed, fivefold sin: all these lead to the inflow of Karman into the soul like water into a leaky boat (611–18). 9) Eradication of passions, subjugation of senses, restraint over mind, speech and body through knowledge, meditation and penances rescue the soul from Karmic influx (619–24). 10) Fortunate are those who have severed worldly attachment, follow the path of religious life, and thus destroy the Karmas (625–28). 11) The path of religion preached by Jinas is highly beneficial. Deeper the detachment and spirit of renunciation, nearer one goes to the

---

1) *Prakīrṇaka-daśakam* (Bombay 1927), pp. 135 ff.

2) पढमं अणिच्चभावं असरणयं एगयं च अन्नत्तं। संसारमसुभया वि य विविहं लोगस्सहावं च ॥ कम्मस्स आसवं संवरं च निज्जरणमुत्तमे य गुणे। जिणसासणम्मि बोहिं च दुलहं चिंतए मइमं ॥

goal of religious life, namely, the seat of highest bliss (629–31). 12) While wandering in this worldly wilderness, there are so many temptations that it is very difficult to find the correct and advantageous position and therefrom reach religious enlightenment given out by Jinas (632–38).

The contents under *asubhayā* deserve special note, and the impurity of the body is not even referred to there. It is interesting that *uttame ya guṇe* is to be understood for Dharma, possibly through the Ten Dharmas, which are, as a rule, qualified by the term *uttama*.[1] Some handy similies are introduced here and there. An over-greedy person suffers like a fish which has swallowed the hook (615). Five Indriyas prove dangerous like serpents handled unaided by charms etc. (618). A soul subject to Karmic influx is like a leaky boat (618). Knowledge, meditation and penances bring under control sense-pleasures and passions like reins of the horses (621). The penances destroy the seed of Saṁsāra just as fire burns a clump of grass (621). In one gāthā is mentioned Daḍhapaiṇṇa which has become as good as a proper name of a Śramaṇa of firm religious faith; and in another is given the illustration of Kaṇḍarīka and Puṇḍarīka the details about whom are available in the *Nāyādhammakahāo* (xix).

9) Beside these details, it is possible to spot in the canonical texts, passages and contexts (though the term Anuprekṣā may not have been used there) which can be suitably included under one or the other *anuprekṣā*.

i) The Śramaṇic, or what is called Ascetic, poetry is essentially characterised by that basic pessimism and consequent *nivṛtti* which originates from the notion of transitoriness (*anityatā*) and is expressed in various ways:

1) दुमपत्तए पंडुयए जहा निवडइ राइगणाण अच्चए । एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम मा पमायए ॥
कुसग्गे जह ओसबिंदुए थोवं चिट्ठइ लंबमाणए । एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम मा पमायए ॥
इइ इत्तरियम्मि आउए जीवियए बहुपच्चवायए । विहुणाहि रयं पुरे कडं समयं गोयम मा पमायए ॥

2) इह जीविए राय असासयम्मि धणियं तु पुण्णाइ अकुव्वमाणो ।
से सोयई मच्चुमुहोवणीए धम्मं अकाऊण परम्मि लोए ॥

3) अभओ पत्थिवा तुब्भं अभयदाया भवाहि य । अणिच्चे जीवलोगम्मि किं हिंसाए पसज्जसि ॥
जया सव्वं परिच्चज्ज गंतव्वमवसस्स ते । अणिच्चे जीवलोगम्मि किं रज्जम्मि पसज्जसि ॥
जीवियं चेव रूवं च विज्जुसंपायचंचलं । जत्थ तं मुज्झसी रायं पेच्चत्थं नावबुज्झसे[2] ॥

4) अणिच्चे खलु भो मणुयाण जीविए कुसग्गजलबिंदुचंचले[3] ।

5) किंपागफलोवमं च मुणिय विसयसोक्खं जलबुब्बुयसमाणं कुसग्गजलबिंदुचंचलं जीवियं च णाऊणं अद्धुवमिणं रयमिव पडग्गलग्गं संविधुणित्ताणं चइत्ता हिरण्णं जाव पव्वइया[4] ।

---

1) *Tattvārtha-sūtra* IX. 6
2) *Uttarādhyayana-sūtra* X.1–3,XIII. 21, XVIII. 11–13
3) *Dasaveyāliya-sutta*, Cūlikā 1, 16.
4) *Ovavāiya-sutta*, Sūtra 23.

ii) The Ātman is his own shelter, an architect of his fortunes and misfortunes; and none else can save him from the consequences of his Karmas. The great Tīrthakaras have already shown the path by their own example. This theme is closely linked up with the Karma doctrine which leaves no margin for divine intervention in human affairs. A touching exposition of this *anāthatā* or *aśaraṇatva* is found in the *Uttarādhyayana-sūtra* (xx) in which this idea is very nicely driven home to king Śreṇika. Stray passages are found in many places:

1) ∴.अभिकंतं च खलु वयं संपेहाए। तओ से एगया मूढभावं जणयंति। जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते व णं एगया नियगा पुर्व्वि परिवयंति सो वा ते नियगे पच्छा परिवएज्जा। नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा तुमं पि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा[1]।

2) जविणो मिगा जहा संता परियाणेण वज्जिया। असंकियाइं संकंति संकियाइं असंकिणो[2] ॥

3) एए जिया भो न सरणं बाला पंडियमाणिणो। हिच्चाणं पुव्वसंजोयं सिया किच्चोवएसगा ॥

4) वाहेण जहा व विच्छए अबले होइ गवं पचोइए। से अंतसो अप्पथामए नाइवले अवले विसीयइ ॥

5) इह खलु नाइसंजोगा नो ताणाए वा नो सरणाए वा। पुरिसे वा एगया पुर्व्वि नाइसंजोगे विप्पजहइ, नाइसंजोगा वा एगया पुर्व्वि पुरिसं विप्पजहंति[3]।

6) माया पिया ण्हुसा भाया भज्जा पुत्ता य ओरसा। नालं ते मम ताणाय लुप्पंतस्स सकम्मुणा ॥
एयमट्ठं सपेहाए[4] पासे समियदंसणे। छिंद गेद्धिं सिणेहं च न कंखे पुव्वसंथवं ॥

7) जहेह सीहो व मियं गहाय मच्चू नरं नेइ हु अंतकाले।
न तस्स माया व पिया व भाया कालम्मि तम्मि सहरा भवंति ॥[5]

8) वेया अहीया न भवंति ताणं भुत्ता दिया नैंति तमं तमेणं।
जाया य पुत्ता न हवंति ताणं को णाम ते अणुमन्नेज्ज एयं ॥

9) सव्वं जगं जइ तुहं सव्वं वावि धणं भवे। सव्वं पि ते अपज्जत्तं नेव ताणाय तं तव ॥

10) अणाहो मि महाराय नाहो मज्झ न विज्जई। अणुकंपगं सुहं वावि कंचि नाभिसमेमहं ॥[6]

11) मायापिइबंधूहिं संसारत्थेहिं पूरिओ लोगो। बहुजोणिवासिएहिं न य ते ताणं च सरणं च[7] ॥

iii) Many descriptions of the endless Saṁsāra with its privations and miseries in the four grades of life are found in the canon. The *Sūyagaḍaṁ* describes the miseries in hell in one of its chapters, I. 5. 1–2; and Miyāputta convinces his parents that ascetic life is really covetable when one remembers the various miseries one has to experience in different lives. The details are elaborated round the central idea which is expressed in the following verse:

---

1) *Āyāraṁga-sutta* I. 2. 1

2) The context ia slightly different.

3) *Sūyagaḍaṁ*, I. 1. 2. 6, I. 1. 4. 1, I. 2. 3. 5, II. 1. 13.

4) Note the use of *saṁpehāe* above and *sapehāe* here.

5) Compare *Mahābhārata* Mokṣadharma 175. 18. 9· तं पुत्रपशुसंपन्नं व्यासक्तमनसं नरम्। सुप्तं व्याघ्रो मृगमिव मृत्युरादाय गच्छति ॥ संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम्। व्याघ्रः पशुमिवादाय मृत्युरादाय गच्छति ॥

6) *Uttarādhyayana-sūtra*, VI. 3-4, XIII. 22, XIV. 12, 39, XX. 9.

7) *Mahāpratyākhyāna* 43.

1) जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं रोगाणि मरणाणि य । अहो दुक्खो हु संसारो जत्थ कीसंति जंतवो ॥ १५ ॥

The Saṁsāra is typically described thus:

2) अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं[1] ।

3) जहा अस्साविणिं नावं जाइअंधो दुरूहिया । इच्छई पारमागंतुं अंतरा य विसीयइ ॥
एवं तु समणा एगे मिच्छदिट्ठी अणारिया । संसारपारकंखी ते संसारं अणुपरियट्टंति[2] ॥

4) सूई जहा ससुत्ता न नस्सई कयवरम्मि पडिया वि । जीवो वि तह ससुत्तो न नस्सइ गओ वि संसारे ॥
इंदियविसयपसत्ता पडंति संसारसायरे जीवा । पक्खि व्व छिन्नपक्खा सुसीलगुणपेहुणविहूणा[3] ॥

5) पीयं थणयच्छीरं सागरसलिलाओ बहुतरं होज्जा । संसारम्मि अणंते माईणं अन्नमन्नाणं ॥
बहुसो वि मए रुण्णं पुणो पुणो तासु तासु जाईसु । नयणोदयं पि जाणसु बहुययरं सागरजलाओ ॥
नत्थि किर सो पएसो लोए वालग्गकोडिमित्तो वि । संसारे संसरंतो जत्थ न जाओ मओ वा वि ॥
चुलसीई किल लोए जोणीपमुहाइं सयसहस्साइं । एक्केक्कम्मि इत्तो अणंतखुत्तो समुप्पन्नो[4] ॥

iv–v) The themes of *ekatva* and *anyatva* go together. The Ātman is essentially lonely or single throughout its transmigratory journey; and one has to realize one's responsibility and oneself as separate from everything else, from the subtle Karman to gross body and other possessions and relatives. That the soul and body are different is the central theme of the discussion between king Paesi and the monk Kesi in the *Rāyapaseṇaijjaṁ*. Incidental passages on these topics are numerous in the canon:

1) सव्वं गेहिं परिन्नाय एस पणए महामुणी, अइयच्च सव्वओ संगं 'न महं अत्थि' इति । इति 'एगो अहमंसि' जयमाणे एत्थ विरए अणगारे सव्वओ मुंडे रीयए[5] ।

2) न तस्स दुक्खं विभयंति नाइओ न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा ।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं[6] ॥

3) एक्को हं नत्थि मे कोई न चाहमवि कस्सई । एवं अदीणमणसो अप्पाणमणुसासए ॥
एक्को उप्पज्जए जीवो एक्को चेव विवज्जइ । एक्कस्स होइ मरणं एक्को सिज्झइ नीरओ ॥
एक्को करेइ कम्मं फलमवि तस्सेक्कओ समणुहवइ । एक्को जायइ मरइ परलोयं एक्कओ जाइ ॥
एक्को मे सासओ अप्पा नाणदंसणसंजुओ । सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥
एक्को करेइ कम्मं एक्को अणुहवइ दुक्कयविवागं । एक्को संसरइ जिओ जरमरणचउग्गईगुविलं[7] ॥

4) अन्नो जीवो अन्नं सरीरं । तम्हा ते नो एवं उवलब्भंति[8] ।

5) अन्नं इमं सरीरं अन्नो जीवो त्ति निच्छयमईओ । दुक्खपरिकिलेसकरं छिंद ममत्तं सरीराओ[9] ॥

---

1) *Uttarādhyayana-sūtra* XIX, also XXIX. 22.
2) *Sūyagaḍam* I. 1. 2. 31–22.
3) *Bhatta-pariṇṇā*, 86.
4) *Mahāpratyākhyāna* 37–40.
5) *Āyāraṁga* I. 6. 2.
6) *Uttarādhyayana-sūtra* XIII 23.
7) *Mahāpratyākhyāna* 13–16, 44.
8) *Sūyagaḍaṁ* II. 1. 9. 29, p. 70, ed. P. L. Vaidya, Poona 1928.
9) *Tandula-veyāliya* 100.

vi) That the body is impure, pleasures thereof are futile and delusive, and the Ātman alone is worth pursuing: this is a favourite theme of the canon. The *Nāyādhamma-kahāo*, viii, presents a characteristic description of the body:

1) ... इमस्स पुण ओरालियसरीरस्स खेलासवस्स वंतासवस्स पित्तासवस्स सुक्कासवस्स सोणिय-पूयासवस्स दुरुयऊसासनीसासस्स दुरुयमुत्तपूइयपुरीसपुण्णस्स सडण जाव धम्मस्स केरिसए य परिणामे भविस्सइ[1] ।

2) इमं सरीरं अणिच्चं असुई असुइसंभवं । असासयावासमिणं दुक्खं केसाण भायणं ॥
असासए सरीरम्मि रइं नोवलभामहं । पच्छा पुरा व चइयव्वे फेणबुब्बुयसंणिभे[2] ॥

3) माणुस्सयं सरीरं पूईयं मंससुक्कहड्डेणं । परिसंठवियं सोहइ अच्छायणगंधमल्लेणं ॥
कित्तियमित्तं वण्णे अमेज्झमइयम्मि वच्चसंघाए । रागो हु न कायव्वो विरागमूले सरीरम्मि ॥
किमिकुलसयसंकिण्णे असुइमचोक्खे असासयमसारे । सेयमलपुव्वडम्मि निव्वेयं वच्चह सरीरे[3] ॥

vii–ix) Āsrava, Saṁvara and Nirjarā are three of the Seven Principles or Nine Categories of Jainism; they are closely linked with the Karma doctrine; they explain Saṁsāra on the one hand and lead the soul on to liberation on the other; and further, they form, to a very great extent, the basis of Jaina ethics and morality. At all suitable contexts they are discussed in the canon. Practically the whole of the *Paṇhāvāgaraṇāiṁ* is devoted to explain *āsava* and *saṁvara*.[4]

x) A correct understanding of the universe (*loka*) with its two constituents, Jīva and Ajīva and their varieties and mutual reactions enables the Ātman to understand oneself. Special treatises like the *Dīvasāgara-pannatti* and *Sūrapannatti* etc. are devoted to this topic; and many of the canonical sections give details about Jīva etc.[5] Here one cultivates the feeling of the immense greatness and extent of the universe and space, full of wandering souls.

xi) A gradation list of the rarities is often met with in the canon.[6] Starting from Nigoda the soul is on a march of spiritual progress through various grades of living beings. Then to be born as a human being at a suitable place, in a good family, with a perfect and healthy body and with requisite opportunities for religious enlightenment is something that is rare. If the *loka-anuprekṣā* inculcated the feeling of immense space, this Anuprekṣā makes

---

1) Ed. N. V. VAIDYA (Poona 1940) pp. 113 ff.; further *Tandulaveyāliya*, Sūtra 17, gives a more graphic description.

2) *Uttarādhyayana* XIX. 12–3

3) *Tandulaveyāliya* 84 ff., 90 ff.

4) W. SCHUBRING: *Die Lehre der Jainas* (Berlin and Leipzig 1935) pp. 186 etc.

5) *Uttarādhyayana*-sūtra XXXVI.

6) *Uttarādhyayana* X.

one realize the feeling of endless time which in course of series of births produces the impression of the rarity of human birth and of religious enlightenment :

1) संबुज्झह किं न बुज्झह संबोही खलु पेच्च दुल्लहा । नो हूवणमंति राइओ नो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥
इणमेव खणं वियाणिया नो सुलभं बोहिं च आहियं । एवं सहिए हियासए आह जिणे इणमेव सेसगा[1] ॥

2) चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो । माणुसत्तं सुई सद्धा संजमम्मि य वीरियं ॥
दुल्लहे खलु माणुसे भवे चिरकालेण वि सव्वपाणिणं । गाढा य विवाग कम्मुणो समयं गोयम मा पमायए[2] ॥

3) दुल्लभे खलु भो गिहीणं धम्मे गिहिवासमज्झे वसंताणं[3] ।

xii) Dharma covers the two-fold religion and the consequent modes of religious life with its attendant rules of conduct and pious living, prescribed for householders and monks. The *Uvāsagadasāo* describes the rules for a householder, and the life of a monk is elaborately described in the *Āyāraṁga* and other texts of the canon. The term *dharma-svākhyātatva* reminds one of *sakkhāya-dhamma*[4] in the *Uttarādhyayana* (ix. 44).

These bits of evidence, both positive and negative, culled together from the present-day canon lead us to the following conclusions: Aṇuppehā is recognised right from the beginning as a potent agency for the destruction of Karman; it accompanied Dhyāna or meditation, both Dharmya-dhyāna and Śukla-dhyāna; the four Anuprekṣās of the latter (vide 1 above) did not get incorporated, like those of the former (vide 1 above) in the standardised list of the twelve Anuprekṣās. The twelve Anuprekṣās *en bloc* are not mentioned in the early canon[5] which notes some other Anuprekṣās than those included under the grouping of twelve. Later, these Anuprekṣās, when perhaps treatises were composed on them, came to be included under or associated with Svādhyāya or study. The first four Anuprekṣās stand as a group and very well represent the memorable themes of ascetic poetry: the next two also can go with them; then the 7th, 8th and 9th stand together as basic dogmas of Jainism; and the last three go together as a positive glorification of the doctrines preached by Jina. Once the twelve Anuprekṣās were enumerated, they served as a basis on which individual authors could compose comprehensive treatises which are not only valuable compendiums of Jaina doctrines but also repositories of great ethical sermons and of didactic poetry of abiding moral value and appeal.

---

1) *Sūyagaḍaṁ* I. 2. 1. 1, I. 2. 3. 19.

2) *Uttarādhyayana* III. 1, X. 4 etc.

3) *Dasaveyāliya*, Cūliā I. 8.

4) There is an interesting and elaborate explanation of *svākkhāta* as an adjective of *dhamma* in the *Visuddhimaggo*, pp. 144–5, ed. by Kosambi, Bombay 1940.

5) W. SCHUBRING : *Die Lehre der Jainas* (Berlin & Leipzig 1935) pp. 169, 198, 199 ff., also ATMARAMA : *Tattvārthasūtra Jaināgama-samanvaya* (Rohtak 1936), pp. 181 f.

b) The Tattvārtha-sūtra and its Commentaries

It is already noted above that the *Tattvārthasūtra* (IX. 2, 7) mentions *anuprekṣā* as an agency of *saṁvara*; and the twelve *anuprekṣās* enumerated in the Sūtra are elaborated by various commentators.[1] The *Tattvārthādhigama-bhāṣya*[2] and the *Sarvārthasiddhi* are the two basic sources, with much in common both in thoughts and expressions; and they have given a positive lead to the subsequent commentaries in fixing the scope, in supplying the thought-capital and in outlining the details of each *anuprekṣā*. It may be seen here how some important and exhaustive commentaries have elaborated these very ideas.

The *Rajavārttika*[4] of Akalaṅka (c. last quarter of the 7th century A. D.) not only incorporates practically the whole of the exposition of the *Sarvārthasiddhi* on the *anuprekṣās* but also adds more precise definitions and supplements as well as elaborates with technical details some of its points. Sometimes, as in the case of *bodhidurlabha-a.*, the technical details are strikingly elaborated. Akalaṅka impresses one as a typical Naiyāyika with a marvellous mastery over Jaina dogmatic details.

The *Bhāṣyānusāriṇī*[5] of Siddhasena (c. 7th to 9th century of the Vikrama era) is an exhaustive exposition of the *T.-bhāṣya*. But on the Sūtras in question, it primarily interprets and now and then elaborately explains with some dogmatical details the very text of the Bhāṣya. What is striking is that there is no further contribution to or development of the thought-pattern of *anuprekṣā*, as we find on the section of *dhyāna* etc. where some additional verses are quoted by Siddhasena.

The *Tattvārtha-śloka-vāttika*[6] of Vidyānanda (c. A. D. 775-840) has hardly anything to add on the *anuprekṣā* Sūtras beyond repeating the *vārttikas* of Akalaṅka in a string and then rounding off the explanation with a couple of verses. There is no further advance on the thought-pattern and supplementation to the ideas already recorded by the *Sarvārthasiddhi*.

---

1) Sukhalalaji Sanghavi: *Tattvāratha-sūtra* (Banaras 1939), Intro., pp. 36 ff.

2) In the Rāyacandra Jaina Śāstramālā, Bombay 1931.

3) For editions, K. B. Nitave: Kolhapur 1917; Phoolchanda Shastri: Jñānapīṭha M. J. G., No. 13, Banaras 1955.

4) Ed. Mahendrakumar Jain: Jñānapīṭha M. J. G., Nos 10 & 20, Banaras 1953–57.

5) Ed. H. R. Kapadia in the Seth Devachand L. J. P. Fund Series, Nos. 67 and 76; Bombay 1926–30.

6) Ed. Manoharlal, Bombay 1918; also Darabarilal Jaina: *Āpta-parīkṣā*, Delhi 1949.

The *Tattvārtha-Vṛtti*[1] of Śrutasāgara (16th century of the Vikrama era) is more or less a further explanation, a close but detailed paraphrase, of the *Sarvārthasiddhi* in this context. The compounds are dissolved and the subject-matter is presented in simpler language. Some time the original passage from the *Sarvārthasiddhi* is repeated. Now and then some ideas are further developed with additional illustrations and similes. At the close of the Vṛtti on this Sūtra (IX. 7), Śrutasāgara adds fourteen verses, in the Śārdūla-vikrīḍita metre : the first enumerates 12 *anuprekṣās*; then each *anuprekṣā* is elaborated in a verse; and the concluding verse tells us how Śrutasāgara, the disciple of Vidyānandi, composed these verses for enhancing the spirit of renunciation (*vairāgya-samṛddhaye*). The verse on *anitya-a.* runs thus :

सद्दृग्बोधचरित्ररत्ननिचयं मुक्त्वा शरीरादिकं न स्थेयोऽभ्रतडित्सुरेन्द्रधनुरम्भोबुद्बुदाभं क्वचित् ।
एवं चिन्तयतोऽभिषङ्गविगमः स्याद्भुक्तमुक्ताशने यद्वत्तद्विलयेऽपि नोचितमिदं संशोचनं श्रेयसे ॥

c) Detailed Exposition

There is a group of Jaina texts which wholly, or in a substantial part, devote themselves to the exposition of Anuprekṣā; and some of them are older than the *Tattvārtha-sūtra.*

The *Bārasa-aṇuvekkhā* (B)[2] of Kundakunda is an important Prākrit text solely devoted to the twelve-fold reflection. The printed text shows in all 91 gāthās, but a palm-leaf Ms. with a Kannaḍa gloss from the Lakṣmīsena Maṭha, Kolhapur, omits gāthās Nos. 35, 41, 45, 67 (identical with *Kattigeyā-ṇuppekkhā* 104), 90 and 91 (which specifies Kundakunda-muninātha as the author), and has a different gāthā[3] instead of No. 19 which happens to be identical with the *Daṁsaṇa-pāhuḍa*, gāthā No. 3. A really critical text of this work is an urgent necessity. As already pointed out by me years back, there is an appearance of antiquity about this work.[4] First, some of its gāthās are common with the *Mūlācāra* VIII, and possibiy they are ancient traditional verses. Secondly, five gāthās from this work (Nos. 25-29) are quoted in the same order in the *Sarvārthasiddhi* (II. 10) of Pūjyapāda. Lastly, the method of exposition is quite traditional and dogmatic. For some of the ideas and similes (like *jala-budbuda*) Pūjyapāda seems to have been indebted to Kundakunda.

---

1) Ed. Mahendrakumar Jain : Jñānapītha M. J. G., No. 4, Banaras 1949.

2) *Ṣaṭprābhṛtādisaṁgrahaḥ*, Māṇikacandra D. J. G., 17, Bombay 1920, pp. 425 ff.

3) एक्को खवेदि कम्मं अइविसमं जोण्हकहियमग्गेणं । मोक्खं सुहं [मोक्खसुहं] उक्कट्ठं एक्को अणुहवदि सुद्धप्पा ॥

4) A. N. Upadhye : *Pravacana-sāra* (Bombay 1935), Intro. p. 40. For the age of Kundakunda, see Ibidem pp. 10 f.

In the method of exposition it is characteristic of Kundakunda that he uses both *niścaya-* and *vyavahāra-nayas*. Apart from his discussion about transitoriness etc. of external adjuncts, he necessarily insists on the meditation of the Ātman which is eternal, the ultimate shelter, unique on account of its distinguishing characteristics, quite separate from all others, not to be lost sight of in this transmigratory circuit, worthy of being realised in this universe, pure as distinguished from its body, to be understood as quite apart from influx, stoppage, bondage and shedding of Karmas, to be realized in purity without any confusion either with the routine of a monk's or householder's life, and to be known fully for attaining spiritual happiness. Self-realization is the ultimate and the only object of twelve-fold reflection; and Kundakunda does not lose sight of this unlike others who are often lost in didactic exhortations which obscure the central theme of self-realization. The *anuprekṣās* cover a wider purpose of religious practices such as reporting of, renunciation of and atonement for sins and equanimous attitude and meditation. The gāthās on *anitya-a.* are as below:

वरभवणजाणवाहणसयणासण देवमणुवरायाणं । मादुपिदुसजणभिच्चसंबधिणो य पिदिवियाणिच्चा[1] ॥ ३ ॥
सामग्गिंदियरूवं आरोग्गं जोव्वणं बलं तेजं । सोहग्गं लावण्णं सुरधणुमिव सस्सयं ण हवे ॥ ४ ॥
जलबुब्बुदसक्कधणूखणरुचिघणसोहमिव थिरं ण हवे । अहमिंदट्ठाणाइं बलदेवप्पहुदिपज्जाया ॥ ५ ॥
जीवणिबद्धं देहं खीरोदयमिव विणस्सदे सिग्घं । भोगोपभोगकारणदव्वं णिच्चं कहं होदि ॥ ६ ॥
परमट्ठेण दु आदा देवासुरमणुवरायविहवेहिं[2] । वदिरित्तो सो अप्पा सस्सदमिदि चिंतए णिच्चं ॥ ७ ॥

The *Mūlācāra* (M)[3] of Vaṭṭakera, chap. VIII, in 74 gāthās, is devoted to a discourse on the 12 Anuprekṣās or Bhāvanās. The personality of Vaṭṭakera (who is the author of M. according to the commentary of Vasunandi) is still in obscurity and his age, especially with reference to that of Kundakunda (who also is mentioned by some Mss. as the author of M.) is a matter of investigation. The *Mūlācāra* is undoubtedly an ancient text and shows by its contents close affinity with Ardhamāgadhī canonical texts and the Nijjuttis. The nature of the language excludes the possibility that it is a direct adaptation of the present-day canonical passages.

In the exposition of *anuprekṣā* both the *Bārasa-aṇuvekkhā* and *Mūlācāra* show some common gāthās partly or fully (B 1, a Kannaḍa Ms. reads *siddhe ṇamaṁsidūṇa ya* for *ṇamiūṇa savva-siddhe* & M 1; B 2 & M 2; B 3 & M 3, especially line 2; B 4 & M 4, especially line 1; B 14 & M 9, cf., *Maraṇasamāhi* 585; B 22–3 & M 11–2, cf. also *Maraṇasamāhi* 588; B 36 &

1) *v. l.* मादुपिदुसयणसंवासदा य पीदी वि य अणिच्चा । as in the *Mūlācāra.*
2) Compare *Pravacanasāra,* I. 6.
3) Ed. Māṇikacandra D. J. G., No. 23, Bombay 1923.

M 19); and there are some similar ideas apart from common dogmatical and ideological inheritance (cf., B 8 & M 5; B 24 & M 13; B 49 & M 45; B 52 & M 38). The *Mūlācāra* has further some gāthās similar to those in the *Maraṇasamāhi*, referred to above (M 46 & Mara. 618; M 50 & Mara. 621–2; M 57 & Mara. 628; M 68 & Mara. 635). According to both, reflection on the *anuprekṣās* gives rise to *vairāgya* or spirit of renunciation (M 73 & Mara. 638). Some gāthās, possibly of traditional nature, have their counterparts in texts like the *Trilokasāra*.

Kundakunda and Vaṭṭakera show some marked differences in their approach and in some of the details. Kundakunda lays special stress on the positive aspect of the Anuprekṣās that Ātman must be realized as such; he introduces both the Nayas; and his description of *dharma* covers both the duties of monks and householders. Vaṭṭakera does not go much beyond the literal and dogmatic meaning of each *anuprekṣā*; he has primarily the ascetic life in view; and his exposition of *bodhi-durlabha-a.* is more of a traditional nature and reminds one of canonical descriptions. Vaṭṭakera prefers the term *asubha-a.* which is *asuci-a.* according to Kundakunda who confines himself to bodily impurity without any reference to *artha*, *kāma* etc. which prominently figure in the *Bhagavatī-ārādhanā* and *Maraṇa-samāhi*. According to Kundakunda Saṁsāra is of five kinds (No. 24), but with Vaṭṭakera it is of four kinds, or of six kinds (with reference to *anuyoga-dvāra*), or of many kinds with reference to *gatis* (Nos. 14-5). Vasunandi who is aware of the five-fold division includes *bhava* (implied by *ca*) under *bhāva*. Vaṭṭakera's gāthās on *anitya–a.* are as below:

ठाणाणि आमणाणि य देवासुरमणुयइड्ढिसोक्खाइं । मादुपिदुसयणसंवासदा य पीदी वि य अणिच्चा ॥ ३ ॥
सामग्गिंदियरूवं मदिजोव्वणजीवियं बलं तेजं । गिहसयणासणभंडादिया अणिच्चेति चिंतेज्जो ॥ ४ ॥

The *Bhagavatī-ārādhanā*[1] of Śivārya devotes nearly 160 verses (Nos. 1715-1875) to the exposition of twelve Anuprekṣās; and as already noted above, they are introduced as *ālambana* of *dharma-dhyāna* (in the manner of *Ṭhāṇaṁga*) under its *saṁsthāna-vicaya* variety. In his exposition Śivārya impresses us more as a poet than a dogmatist or teacher. His style is fluent, simple and lucid, and with racy flourish he embellishes his composition with strings of striking *upamās* (at times studiously collected) and *rūpakas* many of which are used by subsequent authors. To illustrate the transient character of things, he mentions a large number of objects of comparison

---

1) Ed. ***Mūlārādhanā*** with the Sk. commentaries of Aparājita and Āśādhara, the metrical paraphrase of Amitagati and a modern Hindī translation (Sholapur 1935); also A. N. UPADHYE: *Bṛhatkathākośa* (Bombay 1943), Intro., pp. 50 ff.

drawn from different walks of life. One is helpless in the face of Karmic consequences, so he appeals to all to seek shelter in *darśana, jñāna, cāritra* and *tapas* which by stepping a little higher Kundakunda identifies with one's own self (Bha. 1746 & B 13). If the *Maraṇasamāhi* stresses helplessness in the face of death, Śivārya emphasises the same in the face of Karmic consequences. One is really alone, lonely; relatives are not dependable, much less the body; and it is the Dharma consisting of faith, knowledge and conduct that accompanies the soul (cf. Bha. 1752 and B 20). Contact with people here in different births is like the meeting of birds on a tree at night: individuals have different temperaments, and their mutual attachment is necessarily utilitarian. Saṁsāra is a dangerous wilderness or an unfathomable ocean in which one drifts driven by one's own Karmas through various forms of life. It is five-fold, and therein the soul wanders in different places, with changing body and varying aptitudes—ever pursued by death and suffering manifold miseries. All along Karmas trap the soul which in its pursuit of pleasures suffers infinite pain in this endless Saṁsāra. Under Lokānuprekṣā Śivārya describes more about changing human relations (illustrated by the story of Vasantatilakā[1] etc.), various births and worldly conditions than the cosmological details. Dharma alone is *śubha*, while *artha* and *kāma* are *aśubha*: the body is all impure. An unguarded soul is like a leaky boat in which flows the Karmic fluid or like an oily surface to which the Karmic dust clings. The human life should be used to eradicate the causes of the influx of Karmas which are all-pervasive and which require to be stopped by curbing the senses, passions etc. Karmas get destroyed in their own way after giving the fruit or through the practice of penances. While discussing Dharma, Śivārya does not introduce the distinction of *sāgāra* and *anagāra-dharma* but speaks of it in general. Dharma is supreme and thereby human beings attain the highest bliss. Dharma preached by Jina is compared with a wheel in this manner:

सम्मद्दंसणतुंबं दुवालसंगारयं जिणिंदाणं । वयणेमियं जगे जयइ धम्मचक्कं तवोधारं[2] ॥

For a soul overcome by Karmas and moving in Saṁsāra, enlightenment in religion is something rare and accidental like the yoke and yoke-pin coming together on wide sea: fortunate are those who have acquired it. Śivārya's exposition of *anitya-a.* runs thus (Nos. 1716-28):

---

1) For the stories of Vasantatilakā (1800) and Vimalā (1806) referred to in this context see the *Bṛhatkathākośa* (Bombay 1943), Tales Nos. 150 and 153.

2) Compare *Nandīsūtra* 5–संजमतवतुंबारयस्स नमो सम्मत्तपारियल्लस्स । अप्पडिचक्कस्स जओ होउ सया संघचक्कस्स ॥ where Saṁgha is compared to a wheel.

लोगो विलीयदि इमो फेणो व्व सदेवमाणुसतिरिक्खो । रिद्धीओ सव्वाओ सिविणयसंदंसणसमाओ ॥
विज्जू व चंचलाइं दिट्ठपणट्ठाइं सव्वसोक्खाइं । जलबुब्बुदो व्व अधुवाणि होंति सव्वाणि ठाणाणि ॥
णावागदा व बहुगइपधाविदा होंति सव्वसंबंधी । सव्वेसिमासया वि अणिच्चा जह अब्भसंघाया ॥
संवासो वि अणिच्चो पहियाणं पिंडणं व छाहीए । पीदी वि अच्छिरागो व्व अणिच्चा सव्वजीवाणं ॥
रत्तिं एगम्मि दुमे सउणाणं पिंडणं व संजोगो । परिवेसो व अणिच्चो इस्सरियाणाधणारोग्गं ॥
इंदियसामग्गी वि अणिच्चा संझा व होइ जीवाणं । मज्झण्हं व णराणं जोव्वणमवट्ठिदं लोगे ॥
चंदो हीणो व पुणो वड्ढदि एदि य उदू अदीदो वि । ण दु जोव्वणं णियत्तदि णदीजलमदिच्छिदं चेव ॥
धावदि गिरिणदिसोदं व आउगं सव्वजीवलोगम्मि । सुकुमालदा वि हीयदि लोगे पुव्वण्हछाही व ॥
अवरण्हरुक्खछाही व अट्ठिदं वड्ढदे जरा लोगे । रूवं पि णासदि लहुं जले व लिहिदेलयं[1] रूवं ॥
तेओ वि इंदधणुतेजसंणिहो होइ सव्वजीवाणं । दिट्ठपणट्ठा बुद्धी वि होइ मुक्का व जीवाणं ॥
अदिवडइ बलं खिप्पं रूवं धूलीकदंबरं छाए । वीची व अद्धुवं वीरियं पि लोगम्मि जीवाणं ॥
हिमणिचओ वित्र गिहसयणासणभंडाणि होंति अधुवाणि । जसकित्ती वि अणिच्चा लोए संझब्भरागो व्व ॥
किह दा सत्ता कम्मवसत्ता सारदियमेहसरिसमिगं । ण मुणंति जगमणिच्चं मरणभयसमुत्थिया संता ॥

Though we are not definite about the relative chronology of Kundakunda, Śivārya and Vaṭṭakera, a comparative study of their exposition of Anuprekṣā is interesting. These three authors form a trio in this respect, and their works have a close kinship, besides each having its individuality. The twelve *anuprekṣās* are enumerated by them in the same order, and many ideas are common between them. Kundakunda addresses both monks and householders, while Śivārya and Vattakera have obviously the ascetic congregation in view. These two show greater affinity with canonical texts. Kundakunda and Śivārya have mentioned five-fold Saṁsāra; and in that context the latter's text, as it is available, seems to quote a few gāthās from the former (B 26-27 or Bha. 1776 and 1778). One of the gāthās of Śivārya, No. 1824, occurs in *Pañcāstikāya* where Amṛtacandra calls it Siddhāntasūtra, possibly an ancient verse inherited in traditional memory. Some gāthas of Kundakunda have close resemblance with those of Śivārya (cf., B 13, 48, 49 & 67 respectively with Bha. 1746, 1825-6 & 1847). Between Vaṭṭakera and Śivārya two verses are almost common (M 65[2] and 67 and Bha. 1867 & 1870); both of them use the term *loga-dhamma* (M 28 and Bha. 1811); and there are some gāthās which show a good deal of commom ideas and expressions (cf. M 17, 26, 27, 31, 32, 37, 43-4, 50, 56, 57, 61 & 66 respectively with Bha. 1789,

1) The form *lihudellaya* is quite interesting and valuable to explain the Marāṭhī p. p. p. forms *lihilele*, etc.

2) Generally some ten stories or instances are narrated to illustrate the rarity of human birth (See my Notes, p. 381, *Bṛhat-Kathākośa*, Bombay 1943); and *juga-samila-diṭṭhaṁta* is one of them. Something like it is found in Buddhists works as well; for instance, Mātrceṭa, in his *Adhyardha-śataka*, speaks thus: सोऽहं प्राप्य मनुष्यत्वं ससद्धर्ममहोत्सवम् । महार्णवयुगच्छिद्रकूर्मग्रीवार्पणोपमम् ॥. This illustration is fully explained by Uddyotana in his *Kuvalayamālā*, §§ 326-327, of my edition, Bombay 1959.

1799, 1802-3, 1814, 1815, 1821, 1828, 1837, 1853, 1851, 1857 and 1869). Some of the verses of Śivārya have somewhat similarity with a few gāthās in the *Maraṇasamāhi* (cf. Bha. 1776, 1822, 1837 and 1870 with Mara. 598, 618, 621 and 634). These three texts, along with the section on Bhāvanās in the *Maraṇasamāhi* have formed the basic capital on which have grown the subsequent thoughts about Anuprekṣās.

The *Jñānārṇava* (or *Yogapradīpādhikāra*) of Śubhacandra[1] is a solid and significant treatise on Yoga or meditation, written in fluent Sanskrit and full of didactic fervour. Very little is known about its author, Śubhacandra, who must have been a great Yogin and an outstanding poet. He is later than Samantabhadra, Devanandi, Akalaṅka and Jinasena (A. D. 837), and even possibly Somadeva, the author of the *Yaśastilaka*, but perhaps earlier than Hemacandra (c. A. D. 1172). All that can be definitely said is that he flourished between A. D. 837 and 1227 (this being the date of a Ms. of the *Jñānārṇava*). The spirit of religious and didactic poetry seen in the Śatakas of Bhartṛhari and in the *subhāṣitas* of Amitagati and others is obviously patent in the composition of Śubhacandra who betrays a good deal of influence of Bhartṛhari and possibly, therefore, is made by a legend, a brother of the latter.

The *Jñānārṇava* being an authoritative work on Dhyāna, it is but natural that an exposition of twelve *anuprekṣās* should find a place in it. But what positively strikes one is that Śubhacandra prefaces his treatise with a disquisition on Anuprekṣās, which, called Bhāvanās here, lead to the cleansing of heart and steadiness of mind: they are the beautiful steps leading to the terrace of liberation (II. 5-7). In all some 188 verses (II. 5 onwards), mostly *anuṣṭubh* but longer metres here and there, are devoted to these topics of reflection. Śubhacandra has a mastery over Sanskrit expression; and he handles longer metres with remarkable ease and felicity. His *ślokas* have a dignified flow suited to the seriousness of the subject-matter. The exposition throughout is of a thoughtful poet who steers safe between the temptations of the conceits of expression and complications of dogmatical details. It is primarily the ascetic that is addressed. Similes from earlier sources are found here and there; but the tendency of mechanical reproduction is conspicuously absent. Śubhacandra is well-read but predominantly an original writer. Ideas may be inherited or borrowed, but he expresses them in his own way. The five-fold Saṁsāra is referred to by him; in the *aśucitva-bhāvanā* he devotes more attention to bodily impurity; along with a disquistion on

1) Ed. Rāyacandra Jaina Śāstramālā, Bombay 1927.

Dharma in general, he deals with ten-fold Dharma; and in dealing with *loka-a.*, his details are more cosmological. He concludes his exposition of *anupreksā* in this manner :

> दीव्यन्नाभिरयं ज्ञानी भावनाभिर्निरन्तरम् । इहैवाप्नोत्यनातङ्कं सुखमत्यक्षमक्षयम् ॥
> विध्याति कषायाग्निर्विगलति रागो विलीयते ध्वान्तम् । उन्मिषति बोधदीपो हृदि पुंसां भावनाभ्यासात् ॥
> एता द्वादश भावनाः खलु सखे सख्योऽपवर्गश्रियस्तस्याः संगमलालसैर्घटयितुं मैत्रीं प्रयुक्ता बुधैः ।
> एतासु प्रगुणीकृतासु नियतं मुक्त्यङ्गना जायते सानन्दा प्रणयप्रसन्नहृदया योगीश्वराणां मुदे ॥

Hemacandra (A. D. 1089–1172) was a celebrated Jaina teacher and a man of letters. His works cover a wide range of subjects and testify to his encyclopaedic erudition, extensive study and enormous application. As a poet and as a scholar, Hemacandra was one of the most versatile and prolific writers; and mainly due to him an augustan period of literature and culture was inaugurated in Gujarat during the benign rule of Siddharāja and Kumārapāla. His treatises on grammar, lexicography, metrics and poetics are of great practical importance. He wrote his *Yogaśāstra*[1] (also called *Adhyātmopaniṣad*) at the request of king Kumārapala who, on hearing it, was won over to Jaina religion. He has added his own Sanskrit commentary to it, including therein, beside explanation of the text, a number of illustrative stories and expository and supplementary verses (*antara-śloka*). The twelve *anuprekṣās*, called *bhāvanās*, are dealt with in the Fourth Prastāva, 55–110. The *antara-ślokas* further expound the same idea as contained in the basic verses; in fact, both together, as far as the *anuprekṣā* section is concerned, form one whole. There are only three basic verses (65-67) in the text on Saṁsāra-bhāvanā, but there are 90 *antara-ślokas* in the commentary containing traditional account of grief and despair in the four grades of worldly existence. Likewise the Loka-bhāvanā has three main verses (104-6), but the Svopajña commentary gives an exhaustive survey of Jaina cosmography mostly in Sanskrit prose interspersed with some Prākrit quotations from earlier sources.

The exposition is mostly in *anuṣṭubh* verses which reflect Hemacandra more as a moralist teacher : some of his poetic flourish is seen in those verses of long metres which conclude a group of supplementary verses. It is characteristic of Hemacandra that he studiously avails himself of earlier literature, bearing on the subject under discussion, and that his *Yogaśāstra*

---

1) Ed. Jaina Dharma Prasāraka Sabhā, Bhavnagar 1926; also M. WINTERNITZ: *A History of Indian Literature*, II, pp. 567f.

is indebted to the *Jñānārṇava* is already accepted.[1] Śubhacandra prescribes *samatva* or equanimity towards living beings, reflection on non-attachment, eradication of distractions and resorting to *bhāva-śuddhi*, i. e., cleansing of the heart or purification of mind; and to achieve all this Anuprekṣās or Bhāvanās are helpful (II. 4 f.). Hemacandra says likewise that *sāmya* or equanimity results from non-attachment for the cultivation of which one should resort to Bhāvanās (IV. 55 ab). A close study of these two texts shows that Hemacandra is studiously brief all along. At times he incorporates almost bodily some verses with common ideas and words (J II. iii. 7–8 & Y IV. 65), in some places summarises the detailed exposition (J II. iv. 5-6 & Y IV. 69; J II. vii, 9 & Y IV. 78), and now and then uses the capital of ideas (J II. i. 11, 16, 41 & Y IV. 57-8; J II. i. 42 & Y IV. 59-2 etc.; J II. ii. 4, 5, 8 & Y IV. 61–63; J II. vii. 5–7 & Y IV. 76–7; J II. viii. 1–3, 6, 9 & Y IV. 79–80, 82–3; J II. ix. 1–3 & Y II. 86–7), at times even in identical expressions (J II. i. 40b & Y IV. 59b; J II. ii. 12–13 & Y IV 64–1–2; J II. vii 3b & Y IV. 75a; J II ix. 4 & Y IV. 88; J II. x. 7, 12a, 14b & Y IV, 99. 102; J II. xi. 3 & Y IV.106; J II.xii4–5& Y IV 108). Hemacandra's eloquent glorification of Dharma reminds one of Haribhadra's praise of it at the beginning of the *Samarāicca kahā*. In his prose commentary and supplementary verses included there he gives good many ideas and illustrations which are drawn from canonical texts like the *Uttarajjhayaṇa* and *Sūyagaḍaṁ*. In certain places he brings far more information, elucidative of Jainism and critical of other faiths, than is found in the *Jñānārṇava*. His four basic verses on the Anitya-bhāvanā stand thus (No. 55-60):

यत्प्रातस्तन्न मध्याह्ने यन्मध्याह्ने न तन्निशि । निरीक्ष्यते भवेऽस्मिन् हि पदार्थानामनित्यता ॥
शरीरं देहिनां सर्वपुरुषार्थनिबन्धनम् । प्रचण्डपवनोद्धूतघनाघनविनश्वरम् ॥
कल्लोलचपला लक्ष्मीः संगमाः स्वप्नसंनिभाः । वात्याव्यतिकरोत्क्षिप्ततूलतुल्यं च यौवनम् ॥
इत्यनित्यजगद्वृत्तं स्थिरचित्तः प्रतिक्षणम् । तृष्णाकृष्णाहिमन्त्राय निर्ममत्वाय चिन्तयेत् ॥

The *Bhavabhāvanā*[2] is composed by Maladhāri Hemacandra, the pupil of Abhayadeva, in the year A. D. 1131. It deals with 12 Bhāvanās in an exhaustive manner, in 531 gāthās. In this work the term *bhāvanā* practically takes place of *anuprekṣā*; it is the reflection on *bhava* or *saṁsāra* that is more important; and it serves as a ladder to reach the abode of liberation. The

---

4) G. J. PATEL: *Yogaśāstra* (Ahmedabad 1938), Intro. pp. 35ff.; NATHURAM PREMI *Jaina Sāhitya aura Itihāsa* (Bombay 1956) pp. 335f.

5) Ed. Śrī-Ṛṣabhadeva Keśarīmalajī Jaina Śvetāmbara Saṁsthā, I vol., with Svopajña com., Surat 1935; Bare Text with Sk. Chāya, Ibidem, Surat 1937; M. WINTERNITZ: *A History of Indian Lit.*, p. 589.

order of enumeration of the twelve *bhāvanās* and reference to Dharma by *uttame ya guṇe* indicate that Hemacandra is following the *Maranasamāhi*. The main theme for the author is *bhava-bhāvanā*[1], while the discussion about other Bhāvanās is incidental: that explains how and why 322 gāthās out of the total of 531, are devoted to the exposition of *saṁsāra-bhā.* in which the miseries etc. in the four grades of existence are fully elaborated, and why the title of the text is *Bhava-bhāvanā*. The author shows more influence of the Ardhamāgadhī canon than that of the *T.-sūtra*: some of his expressions and descriptions can be traced to the canonical stratum. In handling certain similes (see Nos. 12, 76-79) etc., his style has a flourish and is quite striking. Some of his descriptions are heavy with long compounds. Now and then he has a veiled attack against other schools of thought (No. 126); and in some places he is enthusiastically eloquent about Jainism (Nos. 474 f., 480 f.). In his exposition he refers to a number of model tales such as those of Nemi (5)[2], Bala (25), Nanda etc. (53), Meghakumāra (228), Sukosala (430) etc.: some of them are found in the canon and some in the commentaries on the same. Hemacandra's exposition of *bhava-bhāvanā* has become so much all-pervasive that he brings under it what other authors have included under other Bhāvanās. By way of illustration the gāthās on Anitya-bhāvanā are reproduced below (Nos. 11–25):

सव्वप्पणा अणिच्चो नरलोओ ताव चिट्ठउ असारो । जीयं देहो लच्छी सुरलोयम्मि वि अणिच्चाइं ॥
नइपुलिणवालुयाए जह विरइयअलियकरितुरंगेहिं । घररज्जकप्पणाहि य बाला कीलंति तुट्ठमणा ॥
तो सयमवि अन्नेण व भग्गे एयम्मि अहव एमेव । अन्नन्नदिसिं सव्वे वयंति तह चेव संसारे ॥
घररज्जविहवसयणाइएसु रमिऊण पंच दियहाइं । वच्चंति कहिंचि वि नियकम्मपलयानिलुक्खित्ता ॥
अहवा जह सुमिणयपावियम्मि रज्जाइ इट्ठवत्थुम्मि । खणमेगं हरिसिज्जंति पाणिणो पुण विसीयंति ॥
कइवयदिणलद्धेहिं तहेव रज्जाइएहिं तूसंति । विगएहिं तेहिं वि पुणो जीवा दीणत्तणमुवेंति ॥
रुप्पकणयाइ वत्थुं जह दीसइ इंदयालविज्जाए । खणदिट्ठनट्ठरूवं तह जाणसु विहवमाईयं ॥
संझब्भरायसुरचावविब्भमे घडणविहडणसरूवे । विहवाइवत्थुनिवहे किं मुज्झसि जीव जाणंतो ॥
पासायसालसमलंकियाइं जइ नियसि कत्थइ थिराइं । गंधव्वपुरवराइं तो तुह रिद्धी वि होज्ज थिरा ॥
धणसयणबलुम्मत्तो निरत्थयं अप्पगव्विओ भमसि । जं पंचदिणाणुवरिं न तुमं न धणं न ते सयणा ॥
भवणाइं उववणाइं सयणासणजाणवाहणाईणि । निच्चाइं न कस्सइ नवि य कोइ परिरक्खिओ तेहिं ॥
मायापिईहिं सहवड्ढिएहिं मित्तेहिं पुत्तदारेहिं । एगयओ सहवासो पीई पणओ वि य अणिच्चो ॥

---

5) तम्हा घरपरियणसयणसंगयं मयलदुक्खसंजणयं । मोत्तु अट्टज्झाणं भावेज्ज मया भवसरूवं ॥ भवभावणा य एसा पढिज्जए बारसण्ह मज्झम्मि etc.

6) The Svopajña com. narrates the life of Nemi, through nine births, in 4042 Prākrit gāthās: a veritable poem by itself!

बलरूवरिद्धिजोव्वणपहुत्तणं सुभगया अरोयत्तं । इट्ठेहि य संजोगो असासयं जीवियव्वं च ॥
इय जं जं संसारे रमणिज्जं जाणिऊण तमणिच्चं । निच्चम्मि उज्जमेसु धम्मे चिय बलनारिंदो व्व[1] ॥

d) Incidental Exposition

The Jaina poet is, almost as a rule, a moralist and a teacher : obviously, therefore, the Caritas, Purāṇas and ornate poems composed by him have short or long exposition of Anuprekṣā whenever there is the context of *dhyāna* or meditation, *svādhyāya* or study, or *saṁvara* or stoppage of Karmas, as a part of religious instruction for which some Kāvyas have a special chapter. Some important works in which Anuprekṣā is incidentally discussed may be noted here. This survey is only illustrative and not at all exhaustive.

The *Varāṅgacarita*[2] of Jaṭila is one of the earliest available Jaina Purāṇic Kāvyas in Sanskrit, assigned to c. 7th century A. D. Anuprekṣās are introduced here as preliminary exercises prior to one's embarking on the life of renunciation in which *dhyāna* (or meditation) is quite essential. This practical aspect perhaps explains why Śubhacandra and Amitagati preface their discourse on *dhyāna* with an exposition of Anuprekṣās. Jaṭila's enumeration of Anupreṣās (xxviii. 31) is not apparently complete. Either he is not discoursing on them in the fixed order, or the order of verses in the present-day text is not well preserved. It is *aśaraṇa-a.* and *anitya-a.* that seem to have been chosen for detailed exposition with some well-known similes. Anityatā is thus described (xxviii. 46-7):

1) In Kannada two works wholly devoted to Anuprekṣās are known: i) The *Jīva saṁbodhane* of Bandhuvarma is divided in 12 Adhikāras, each covering one Anupreksā. According to expert opinion, it is full of didactic fervour and its style is graceful. The author does not give any biographical details beyond calling himself a Vaiśyottama. As he is mentioned by Maṅgarasa (A. D. 1508), Nāgarāja (A. D. 1331) and Kamalabhava (c. A. D. 1235), he may be assigned to c. 1200 A. D. ii) The *Drādaśānuprekṣe* of Vijayaṇṇa (Bangalore 1884) has 12 Paricchedas and 1448 verses of the Sāṁgatya metre with some Kaṁda verses here and there. Vijayaṇṇa, the pupil of Pārśvakīrti, completed this work at the request of Devarāja, the Chief of Vemmanabhāvi (a place of that name near Dharwar), in the Beluvalanāḍu of the Kuntala country in A. D. 1448 (See *Karṇāṭaka Kavicarite* vol. I Bangalore 1924, pp. 309f., vol. II, Bangalore 1919, pp. 86f.). The contents of these two works deserve to be compared mutually and with other Prākrit and Sanskrit works. In Marāthī also there are some treatises on Anuprekṣās, for instance the *Dvādaśānuprekṣā* of Guṇakīrti of the 15th century A. D., edited by Dr. V. Jorhapurkar (*Sanmati* X. 2, Bāhubali) 1959).

2) A. N. Upadhye: *Varāṅgacarita*, Māṇikacandra D. J. G. No. 40, Bombay 1938.

नायूंषि तिष्ठन्ति चिरं नराणां न शाश्वतास्ते विभवाश्च तेषाम् ।
रूपादयस्तेऽपि गुणाः क्षणेन सविद्युदम्भोदसमानभङ्गाः ॥
समुत्थितोऽस्तं रविरभ्युपैति विनाशमभ्येति पुनः प्रदीपः ।
पयोदवृन्दं प्रलयं प्रयाति तथा मनुष्या प्रलयं प्रयान्ति ॥

Uddyotanasūri in his *Kuvalayamālā*, a remarkable Campū in Prākrit, completed in A. D. 779, devotes quite incidentally, nearly 62 gāthās (§ 352) for the exposition of these Anupreksās which he calls, it seems, by the name Bhāvanā. The verses have a fine flow, and the author is strikingly eloquent on the impurity of the body. He speaks of *anityatā* and *aśaraṇatā* thus:

सव्वं इमं अणिच्चं धणधणियाविहवपरियणं सयलं । मा कुणसु एत्थ संगो होउ विओगो जणेण समं ॥
सुंदरि भावेसु इमं जेण विओगे वि ताण णो दुक्खं । होइ विवेगविसुद्धो सव्वमणिच्चं च चिंतेसु ॥
जह कोइ मयसिलिंबो गहिओ रोद्देण सीहपोएण । को तस्स होइ सरणं वणमज्झे हम्ममाणस्स ॥
तह एस जीवहरिणो दूसहजरमरणवाहिसिंघेहिं । घेप्पइ विरसंतो च्चिय कत्तो सरणं भवे तस्स ॥
एवं च चिंतयंतस्स तस्स णो होइ सासया बुद्धी । संसारभउव्विग्गो धम्मं च्चिय मग्गए सरणं ॥

The *Mahāpurāna*[1] in Sanskrit by Jinasena-Guṇabhadra (c. 9th century A. D.) is a monumental work of encyclopaedic contents from which many subsequent authors have drawn their inspiration and details. At the context at which Puspadanta introduces the exposition of 12 Anupreksās, Jinasena adds only a graphic description of the *anityatva* of *saṁsāra*, i.e., transient nature of worldly things, which is full of miseries in its various stages (XVII, 12–35). This is all conducive to *saṁvega* and *nirveda*; and naturally by reflecting on this Ṛṣabha decides to leave the world for a life of renunciation. The monk Vajranābhi on his acceptance of *prāyopagamana saṁnyāsa* puts up with 22 *parīṣahas*, gets himself endowed with tenfold Dharma, and reflects on 12 Anupreksās (called here *tattvānudhyāna-bhāvanāh*) which are all enumerated (*vipulā* standing for *loka*) in the order adopted by the *T.-sūtra* and duly explained (XI. 105-9). Anupreksā along with Gupti etc. is the cause of Saṁvara which Ṛṣabha practised (XX.206). Anupreksās (also called Bhāvanā) are a part of Dharmya-dhyāna (XX. 226, also XXI. 160) especially the *apāya-vicaya* (XXI. 142). Some verses of Jinasena may be quoted here XVII. 12-15);

अहो जगदिदं भङ्गि श्रीस्तडिद्वल्लरीचला । यौवनं वपुरारोग्यमैश्वर्यं च चलाचलम् ॥
रूपयौवनसौभाग्यमदोन्मत्तः पृथग्जनः । बध्नाति स्थायिनीं बुद्धिं किं न्वत्र न विनश्वरम् ॥
संध्यारागनिभा रूपशोभा तारुण्यमुज्ज्वलम् । पल्लवच्छविवत्सद्यः परिम्लानिमुपाश्नुते ॥
यौवनं वनवल्लीनामिव पुष्पं परिक्षयि । विषवल्लीनिभा भोगसंपदा भङ्गि जीवितम् ॥

1) PANNALAL JAIN: *Mahāpurāṇam*, Jñānapīṭha M. J. Granthamālā Nos. 8, 9 and 14, Banaras 1951–54.

Somadeva has expounded the Anuprekṣās in his *Yaśastilaka* (A. D. 959),[1] Book II, in 53 verses composed in the Vasantatilakā metre. This 'may be regarded as one of the earliest attempts to expound them in Sanskrit instead of Prākrit verse. His treatment of the Anuprekṣās is weighty and compact and full of spiritual fervour; and his verses on the subject are unique in the sense that they are composed by a writer who is not only a learned theologian but a religious poet of no mean order'. Speaking comparatively 'both in point of style and ideas Somadeva's exposition ranks high among the metrical compositions on the twelve Anuprekṣās'. Professor K. K. HANDIQUI has beautifully translated into English most of Somadeva's verses which exhibit so much originality and freshness. Somadeva speaks of *anitya-a.* thus:

उत्सृज्य जीवितजलं बहिरन्तरेते रिक्ता विशन्ति मरुतो जलयन्त्रकल्पाः ।
एकोद्यमं जरति यूनि महत्यणौ च सर्वंकषः पुनरयं यतते कृतान्तः ॥
लावण्ययौवनमनोहरणीयताद्याः कायेष्वमी यदि गुणाश्चिरमावसन्ति ।
सन्तो न जातु रमणीरमणीयसारं संसारमेनमवधीरयितुं यतन्ते ॥
उच्चैः पदं नयति जन्तुमधः पुनस्तं वात्येव रेणुनिचयं चपला विभूतिः ।
श्राम्यत्यतीव जनता वनितासुखाय ताः सूनवस्करगता अपि विप्लवन्ते ॥
शूरं विनीतमिव सज्जनवत्कुलीनं विद्यामहान्तमिव धार्मिकमुत्सृजन्ती ।
चिन्ताज्वरप्रसवभूमिरियं हि लोकं लक्ष्मीः खलक्षणसखी कलुषीकरोति ॥
वाचि भ्रुवोर्दृशि गतावलकावलीषु यासां मनःकुटिलतास्तटिनीतरङ्गाः ।
अन्तर्न मान्त इव दृष्टिपथे प्रयाताः कस्ताः करोतु सरलास्तरलायताक्षीः ॥
संहारबद्धकवलस्य यमस्य लोके कः पश्यतोहरविधेरवधिं प्रयातः ।
यस्माज्जगत्त्रयपुरीपरमेश्वरोऽपि तत्राहितोद्यमगुणे विधुरावधानः ॥
इत्थं क्षणक्षयहुताशमुखे पतन्ति वस्तूनि वीक्ष्य परितः सुकृती यतात्मा ।
तत्कर्म किंचिदनुसर्तुमयं यतेत यस्मिन्नमौ नयनगोचरतां न याति ॥

Puṣpadanta completed his *Mahāpurāṇu* (in Apabhraṁśa)[2] at Mānyakheṭa in A. D. 965 under the patronage of Bharata, the minister of Kṛṣṇa III of the Rāṣṭrakūṭa dynasty. At a very significant context he describes 12 Anuprekṣās (the order of enumeration being the same as that of Kundakunda) in Kaḍavakas 1–18 in the Seventh Saṁdhi. One day prince Ṛṣabha was plunged in the pleasures of his royal fortune. Indra, as usual, thought of reminding him of his mission on the earth, namely, the propagation of Jaina faith, and sent a celestial nymph, Nīlaṁjasā by name, to perform a dance before him. She came down, performed the dance, and at the end of it fell down dead. Ṛṣabha felt aghast at the transitory character of all that

1) Ed. *Yaśastilaka-campūkāvyam*, Kavyamalā 70, N. S. Press, Bombay 1916; K. K. HANDIQUI *Yaśastilaka and Indian Culture*, Jivaraja J. Granthamālā, Sholapur 1949, pp. 295 ff.

2) P. L. VAIDYA: *Mahāpurāṇa*, vol. I, Māṇikacandra D. J. G., No. 37, Bombay 1937.

is worldly; and Puṣpadanta adds here his elucidation of *adhruva* and other Anuprekṣās, reflection on which leads one to liberation.[1] The opening portion on *addhuu* runs thus:

कयतिहुयणसेवें चिंतिउ देवें जगि धुउ किं पि ण दीसइ ।
जिह दावियणवरस गय णीलंजस तिह अवरु वि जाएसइ ॥ १ ॥

खंडयं—इह संसारदारुणे बहुसरीरसंधारणे ।
वसिऊणं दो वासरा के के ण गया णरवरा ॥ १ ॥

पुणु परमेसरु सुसमु पयासइ   धणु सुरधणु व खणद्धे णासइ ।
हय गय रह भड धवलइं छत्तइं   सासयाइं ण उ पुत्तकलत्तइं ।
जंपाणइं जाणइं धयचमरइं   रविउग्गमणे जंति णं तिमिरइं ।
लच्छि विमल कमलालयवासिणि   णवजलहरचल बुहउवहासिणि ।
तणु लायण्णु वण्णु खणि खिज्जइ   कालालिं मयरंदु व पिज्जइ ।
वियलइ जोव्वणु णं करयलजलु   णिवडइ माणुसु णं पिक्कउ फलु ।
तूयहि लवणु जसु उत्तारिज्जइ   सो पुणरवि तणि उत्तारिज्जइ ।
जो महिवइ महिवइहि णविज्जइ   सो मुउ घरदारेण ण णिज्जइ ।

घत्ता—किर जित्तउ परबलु भुत्तउ महियलु पच्छइ तो वि मरिज्जइ ।
इय जाणिवि अद्धुउ अवलंबिवि तउ णिज्जणि वणि णिवसिज्जइ ॥ १ ॥

Kanakāmara (*c.* 1065 A. D.) in his *Karakaṁḍa-cariu*[2] incidentally expounds twelve Anuprekṣās (the order of their enumeration being the same as that of Umāsvāti) in the ninth Pariccheda, Kaḍavakas 6-17. His exposition of the first Anuprekṣā stands thus:

दइवेण विणिम्मिउ देहु जं पि   लायण्णउ मणुवहं थिरु ण तं पि ।
णवजोव्वणु मणहरु जं चडेइ   देवहिं वि ण जाणिउ कहिं पडेइ ।
जे अवर सरीरहिं गुण वसंति   ण वि जाणहुं केण पहेण जंति ।
ते कायहो जइ गुण अचल होंति   संसारहं विरइं ण मुणि करंति ।
करिकण्ण जेम थिर कहिं ण थाइ   पेक्खंतहं सिरि णिण्णासु जाइ ।
जह सूयउ करयलि थिउ गलेइ   तह णारि विरत्ती खणि चलेइ ।
भूणयणवयणगइ कुडिल जाहं   को सरल करेवइं सक्कु ताहं ।
मेल्लंती ण गणइ सयण इट्ठ   सा दुज्जणमेत्ति व चल णिकिट्ठ ।

घत्ता—णिज्झायइ जो अणुवेक्ख चल वइरायभावसंपत्तउ ।
सो सुरहरमंडणु होइ णरु सुललियमणहरगत्तउ ॥

Vādībhasiṁha (*c.* 11th century A. D.) has devoted in his *Kṣattracūḍāmaṇi* (XI. 28-80)[3] more than fifty Anuṣṭubh verses, rather in a pedestrian

1) इय जो चिंतइ णियमणे अणुवेक्खाओ थिउ वणे । सोत्तरं भवसंसारु सो पावइ परम पयं ॥ VII. 19.

2) Ed. H. L. JAIN, Karanja J. Series, Karanja 1934.

3) Ed. T. S. KUPPUSWAMI SASTRIYAR, Tanjore 1903.

style, for the exposition of Anuprekṣā. His verse No. 33 reminds us of the simile of a bird flying from a ship on the sea used by Somadeva in the *Yaśastilaka* (II. 112) under *aśaraṇa-a*. In the corresponding context the *Gadyacintāmaṇi*[1] refers to the transient character of things and the *Jīvandharacampū*[2] gives a short exposition of the Anuprekṣās. Vādībhasiṁha speaks about *anityatva* thus (XI. 28-32):

मद्यते वनपालोऽयं काष्ठाङ्गारायते हरिः । राज्यं फलायते तस्मान्मयैव त्याज्यमेव तत् ॥
जाताः पुष्टाः पुनर्नष्टा इति प्राणभृतां प्रथाः । न स्थिता इति तत्कुर्याः स्थायिन्यात्मन्पदे मतिम् ॥
स्थायीति क्षणमात्रं वा ज्ञायते न हि जीवितम् । कोटेरप्यधिकं हन्त जन्तूनां हि मनीषितम् ॥
अवश्यं यदि नश्यन्ति स्थित्वापि विषयाश्चिरम् । स्वयं त्याज्यास्तथा हि स्यान्मुक्तिः संसृतिरन्यथा ॥
अनश्वरसुखावाप्तौ सत्यां नश्वरकायतः । किं वृथैव नयस्यात्मन्क्षणं वा सफलं नय ॥

Somaprabha completed in 1184 A. D. the *Kumārapāla-pratibodha*[3] or the conversion of king Kumārapāla of Gujarat to Jainism and his instruction in that religion by Hemacandra, partly in Sanskrit, Prākrit and Apabhraṁśa; and he gives a simple, yet pointed, exposition of 12 Bhāvanās in Apabhraṁśa at the close of the Third Prastāva. The opening verses stand thus.

अह पुच्छइ कुमरनराहिराउ मणमक्कडनियमणसंकलाउ ।
कह कीरहि बारह भावणाउ तो अक्खइ गुरु घणगहिरणाउ ॥
तं जहा ।
चलु जीविउ जुव्वणु धणु सरीरु जिम्व कमलदलग्गविलग्गु नीरु ।
अहवा इहत्थि जं किं पि वत्थु तं सव्वु अणिच्चु हहा धिरत्थु ॥

In the manuals on conduct, both for laymen and monks, and important digests on Jainism, some discussion about Anuprekṣās is found here and there.

The *Praśama-rati-prakaraṇa*[4] is a religious-philosophical text, attributed to the celebrated author, Vācakamukhya Umāsvāti. It deals with 12 Anuprekṣās, or Bhāvanās as they are called here, in Sanskrit Āryās or Kārikās, Nos. 149-162. Reflection on them leads to *niḥspṛhatā* or *virati* i. e., renunciation of attachment (to pleasures). The verses are precisely worded with a literary flavour. The order of enumeration differs from that in the *T.-sūtra*; and in the last but one Kārikā (No. 161) Dharma is qualified by the term *svākhyāta*, which is explained by the commentary thus *śrutadharmas caritra-dharmas ca susthu nirdoṣam ākhyātaḥ*. The Kārikā on *anitya-bhāvanā* runs thus:

1) Ed T. S. KUPPUSWAMI SASTRI, Madras 1902 pp. 165 f.

2) Ed. T. S. KUPPUSWAMI SASTRI, Tanjore 1905 pp. 113-4.

3) Ed. MUNIRAJA JINAVIJAYA, G. O S, XIV, Baroda 1920, pp 311 12

4) Ed RAJAKUMARAJI *Praśamarati-prakaraṇam* with the Sk. com. of Haribhadra and Hindī translation, Rāyacandra J. Ś., Bombay 1950.

इष्टजनसंप्रयोगर्द्धिविषयसुखसम्पदस्तथारोग्यम् । देहश्च यौवनं जीवितं च सर्वाण्यनित्यानि ॥

The *Cāritrasāra*[1] of Cāmuṇḍarāya (*c.* 10th century A. D.) is a systematic but compilatory manual dealing with the religious duties of Jaina householders and monks, in Sanskrit prose. The author, while discussing Dharmya-dhyāna, describes, under its eighth internal variety (pp. 76 f.), *saṁsthāna-vicaya*, twelve Anuprekṣās as further sub-varieties (pp. 78 ff.). Like Akalaṅka he has a dogmatic and classificatory approach to begin with; and then he incorporates almost verbatim a substantial portion from the *Sarvārthasiddhi* in this context. Comparing these paragraphs with those from the *Tattvārtha-vārttika* or *Rāja-vārttika* of Akalaṅka, it is found that there is very little that is really original in the *Cāritrasāra*. In this section are quoted (p. 82) five gāthās from the *Gommaṭasāra* (Jīvakāṇḍa 191–92, 186–88). The entire work draws its material, as stated by the author himself,[2] from the *Tattvārtha* (possibly including its commentaries like the *Sarvārthasiddhi* and *Rājavārttika*) *Rāddhānta*[3] (which may cover works like the *Gommaṭasāra*), *Mahāpurāṇa* and *Ācāraśāstra*. If the *Ācāra-śāstra* includes Vīranandi's *Ācārasāra*[4] (*c.* 1150 A. D.) with which (IX. 43 ff.) it has (p. 71) some close agreement, then the problem of the identity and age of the author will have to be further investigated.

Amitagati (his known dates being 994 to 1017 A. D.) concludes his *Upāsakācāra*[5] (in Sanskrit), popularly known as *Amitagati-Śrāvakācāra*,[6] with an exposition of Dhyāna, which, as in the *Jñānārṇava*, is prefaced with a discourse on 12 Anuprekṣās in 84 verses of Upajāti and other metres. The way in which Amitagati is introducing these tempts one to hazard a suggestion whether he included this topic in the *Upāsakācāra* following a model like that of *Jñānārṇava*, if not the *Jñānārṇava* itself. His verses on *anitya-a.* run thus (XIV. 1–6):

---

1) Ed. Māṇikacandra D. J. Granthamālā, No. 9, Bombay 1917.

2) The concluding verse runs thus: तत्त्वार्थराद्धान्तमहापुराणेष्वाचारशास्त्रेषु च विस्तरोक्तम् । आख्यात्समासादनुयोगवेदी चारित्रसारं रणरङ्गसिंहः ॥

3) It seems that there was a Sanskrit work *Rāddhānta* by name, because the *Ācārasāra* of Vīranandi (p 30) quotes the following verse from it—उक्तं च राद्धान्ते । स्वयं ह्यहिंसा स्वयमेव हिंसनं न तत्पराधीनमिह द्वयं भवेत् । प्रमादहीनोऽत्र भवत्यहिंसकः प्रमादयुक्तस्तु सदैव हिंसकः ॥ The *Cāritrasāra* however, quotes a Prākrit sentence from the Rāddhāntasūtra thus—उक्तं च राद्धान्तसूत्रे । आदाहीणं [आदाहिणं] पदाहीणं [पदाहिणं] तिखुत्तं तिऊ [ओ] णदं चदुस्सिरं बारसावत्तं चेदि ।

4) Ed. Māṇikacandra Digambara J. G., No. 11, Bombay, 1917.

5) Ed. Anantakīrti D. J. Granthamālā, Bombay 1922. It gives the Sanskrit Text and Hindī Vacanikā of Bhāgacandrajī.

6) A. N. UPADHYE. *Paramātma-prakāśa* (Bombay 1937), Intro p. 71, foot-note 3.

यौवनं नगनदीस्यदोपमं शारदाम्बुदविलासजीवितम् ।
स्वप्नलब्धधनविभ्रमं धनं स्थावरं किमपि नास्ति तत्त्वतः ॥
विग्रहा गदभुजङ्गमालयाः संगमा विगमदोषदूषिताः ।
संपदोऽपि विपदा कटाक्षिता नास्ति किंचिदनुपद्रवं स्फुटम् ॥
प्रीतिकीर्तिमतिकान्तिभूतयः पाकशासनशरासनास्थिराः ।
अध्वनीनपथिसंगसंगमाः सन्ति मित्रपितृपुत्रबान्धवाः ॥
मोक्षमेकमपहाय कृत्रिमं नास्ति वस्तु किमपीह शाश्वतम् ।
किंचनापि सहगामि नात्मनो ज्ञानदर्शनमपास्य पावनम् ॥
सन्ति ते त्रिभुवने न देहिनो ये न यान्ति समवर्तिमन्दिरम् ।
शक्रचापखचिता हि कुत्र ते ये भजन्ति न विनाशमम्बुदाः ॥
देहपञ्जरमपास्य जर्जरं यत्र तीर्थपतयोऽतिपूजिताः ।
यान्ति पूर्णसमये शिवास्पदं तत्र के जगति नात्र गत्वराः ॥

Vīranandi, in his *Ācārasāra* (c. A. D. 1153)[1] expounds the twelve Anuprekṣās under *saṁsthāna-vicaya* of Dharmya-dhyāna in 12 Sanskrit verses in the Śārdūla-vikrīḍita metre (X. 32–44). The contents are presented with a dignity, and some of the well-known similes are incorporated here and there. The verse on *anitya-a.* may be quoted here as a specimen (X. 33):

उत्पत्तिः प्रलयश्च पर्ययवशाद् द्रव्यात्मना नित्यता वस्तूनां निचये प्रतिक्षणमिहाज्ञानाज्जनो मन्यते ।
नित्यत्वं द्रवदम्बुदीपकलिकास्थैर्यं यथार्थादिके नष्टे नष्टधुनिः करोति बत शोकार्तो वृथात्मीयके ॥

The *Pravacanasāroddhāra*[2] of Nemicandra is an encyclopaedic work, primarily a source book, in 1599 Prākrit gāthās, dealing with all the aspects of Jainism. It has an exhaustive commentary in Sanskrit, which makes the basic text not only highly intelligible but also extremely valuable for the study of Jainism, written by Siddhasena who completed it in A. D. 1191. The Anuprekṣās, or the twelve topics to be reflected upon (*bhāvanīyāḥ*, therefore called Bhāvanās) are enumerated in gāthās 572–73; and it is Siddhasena who offers an exposition of them in Sanskrit verses, of short and long metres and numbering about 133, more than one-third (59) of which are given to Lokabhāvanā. Siddhasena's style is smooth and simple with occasional Prākritisms. Now and then he has some striking ideas besides those which he draws from the common pool of inheritance. Siddhasena and Brahmadeva show the same tendency in giving the details about Loka. By way of specimen Siddhasena's verses on *anitya-a.* are quoted below:

ग्रस्यन्ते वज्रसाराङ्गास्तेऽप्यनित्यत्वरक्षसा । किं पुनः कदलीगर्भनिःसारानिह देहिनः ॥
विषयसुखं दुग्धमिव स्वादयति जनो बिडाल इव मुदितः । नोत्पाटितलकुटमिवोत्पश्यति यममहह किं कुर्मः ॥

1) It is already referred to above.
2) Ed. Devacandra Lalabhāi J. P., No. 58 & 64, Surat 1922-26.

धराधरधुनीनीरपूरपारिप्लवं वपुः । जन्तूनां जीवितं वातधूतध्वजपटोपमम् ॥
लावण्यं ललनालोकलोचनाञ्चलचञ्चलम् । यौवनं मत्तमातङ्गकर्णतालचलाचलम् ॥
स्वाम्यं स्वप्नावलीसाम्यं चपलाचपलाः श्रियः । प्रेम द्वित्रिक्षणस्थेम स्थिरत्वविमुखं सुखम् ॥
सर्वेषामपि भावानां भावयन्नित्यनित्यताम् । प्राणप्रियेऽपि पुत्रादौ विपन्नेऽपि न शोचति ॥
सर्ववस्तुषु नित्यत्वग्रहग्रस्तस्तु मूढधीः । जीर्णतार्णकुटीरेऽपि भग्ने रोदित्यहर्निशम् ॥
ततस्तृष्णाविनाशेन निर्ममत्वविधायिनीम् । शुद्धधीर्भावयेन्नित्यमित्यनित्यत्वभावनाम् ॥[1]

Āśādhara is a studious and prolific writer (his known dates being A. D. 1228 to 1243) who has to his credit a number of works on different branches of learning. His *Dharmāmṛta*,[2] in Sanskrit, covers the duties of a Jaina monk as well as a layman; and he has added to it a *svopajña* commentary which is often a supplement to the basic text, as in the case of Hemacandra. The sixth Adhyāya of the *(Anagāra-) Dharmāmṛta* opens with a discourse on the ten-fold Dharma (*kṣamā* etc.); and it is followed by an exposition of Anuprekṣās (VI. 57–82) reflection on which removes all the hindrances on the path of Bliss or Liberation (VI. 57, 82) He employs elaborate metres, and there is some stiffness about his Sanskrit expression. He devotes a couple of verses to *anitya-a.* (58–59):

चुलुकजलवदायुः सिन्धुवेलावदङ्गं करणबलममित्रप्रेमवद्यौवनं च ।
स्फुटकुसुमवदेतत् प्रक्षयैकव्रतस्थं क्वचिदपि विमृशन्तः किं नु मुह्यन्ति सन्तः ॥
छाया माध्याह्निकी श्रीः पथि पथिकजनैः संगमः संगमः स्वैः
स्वार्थाः स्वप्नेक्षितार्थाः पितृसुतदयिता ज्ञातयस्तोयभङ्गाः ।
संध्यारागोनुरागः प्रणयरसमृजां ह्लादिनीदाम वैश्यं
भावाः सैन्यादयोऽन्येऽप्यनुविदधति तान्येव तद्ब्रह्म दुह्यः ॥

As one of the means of *saṁvara*, *anupehā* is enumerated in the *Dravyasaṁgraha*[3] of Nemicandra (verse 35); and Brahmadeva (c. 13th century A. D.)[4] takes this opportunity to present a detailed exposition of the twelve Anuprekṣās in his Sanskrit commentary. Though he uses traditional similes, he has his own way of exposition in which he uses a good deal of technical terminology and involved argumentation. He discusses five-fold *saṁsāra* at length, quoting gāthās from the *Gommaṭasāra* etc., and his exposition of Lokānuprekṣā is too long, rather out of proportion.

---

1) His concluding verse deserves special attention, and fully explains why so much literature has grown on the Anupreksas : एकामप्यमलामिमां मनः । यो भावयेद्भावना भव्यः सोऽपि निहन्त्यशेषकलुषं दत्तासुखं देहिनाम् । यस्त्वभ्यस्तसमस्तजैनसमयस्ता द्वादशाप्यादराद्भ्यस्येल्लभते स सौख्यमतुलं कि तत्र कौतूहलम् ॥

2) Ed. Māṇikacandra D. J. Granthamala, Nos. 2 and 14, Bombay 1915–19; PREMI : *Jaina Sāhitya aura Itihāsa* (Bombay 1956) pp. 342 f.

3) Ed. Rayacandra Jaina Śāstramālā, Bombay 1919.

4) A. N. UPADHYE : *Paramātma-prakāśa* (Bombay 1937), Intro. pp. 69 ff.

The *Bhāvanā-saṁdhi-prakaraṇa*[1] is a short Apabhraṁśa poem in six Kaḍavakas dealing with 12 Bhāvanās or Anuprekṣās. The author is Jayadeva-muni, the first pupil of Śivadevasūri; his age is not known, but it is highly probable that he is later than Hemacandra. His style is normal, now and then heavy with long compounds. He adds references to standard stories and illustrations from earlier literature (especially ten Dṛṣṭāntas about the rarity of human life). The exposition is not quite systematic. In the first Kaḍavaka 12 Bhāvanās[2] are covered, and then follow the illustrations and recounting of miseries in different births etc.

e) Use of the Term Bhāvanā

The term *bhāvanā* is used in various contexts in Jaina terminology; and it is interesting to note how it came to be used gradually in the sense of *anuprekṣā* which it has practically replaced in later literature, especially in Hindī and Gujarāti.

In the *Ācārāṅga*, II, 3rd Cūlikā, the 15th lecture is called by the name Bhāvanā (which Jacobi translates as 'clauses' and explains that they are sub-divisions of the five great vows). Every Mahāvrata is attended by five Bhāvanās which more or less go to stabilise the practice of it. They are found in the *Paṇhā-vāgaraṇāiṁ* also; but the two accounts are not the same: here and there some differences are seen.[3] Kundakunda gives these Bhāvanās in his *Cāritrapāhuḍa*, associating them mainly with the Mahāvratas. In the *Mūlācāra* of Vaṭṭakera as well these Bhāvanās are mentioned (V. 140 etc.): the minor discrepancies in detail need some scrutiny. Vaṭṭakera appeals to the monk to cultivate these *bhāvanās* vigilently so that the vows become perfect and without any breach (V. 146).[4] In the *T.-sūtra* (VII. 3), they accompany Vratas in general: this usage continues in later literature.

1) *Annals* of the B. O. R. I., XI. i, October, 1929.

2) The Editor, M. C. Modi, remarks thus: 'The Bhavanās have been described as 12 in *Āyaraṁgasutta* (Śrutaskandha 2, Culikā 3).' But I have not been able to trace them there. The verses quoted by him are identical with those in the *Pravacanasāroddhāra*, 572-73.

3) A. C. Sen: *A Critical Introduction to the Paṇhāvāgaraṇāiṁ* (Würzburg 1936), pp. 18 ff. Dr. Sen observes thus in conclusion: 'The Bhāvanās mentioned by our text differently from the Āyāra could not have been its own creation but must have been current as such in the community, for otherwise the Paṇhāv. would not have enjoyed any authority. The introduction and acceptance of such alterations in the rules of conduct suggest some lapse of time since the age of the Āyāra. It may be that our text incorporates the details not as enjoined scripturally but as understood popularly; in that case the later date of these injunctions would be all the more evident.' p. 22. It is necessay to study these lists from various sources comparatively.

4) The ninth chapter of the *Mūlācāra* is called Anagāra-bhāvanādhikāra. It discusses ten topics which are not merely topics of reflection but of practice as well.

In the context of the progress of Dhyāna, Jinasena introduces fourfold Bhāvanā connected with i) *jñāna*, ii) *darśana*, iii) *cāritra* and iv) *vairāgya*. The first consists of *vācanā*, *prcchanā*, *anupreksana*, *parivartana* and *dharma-deśana* which are the varieties of *svādhyāya* or study according to the *T.-sūtra* (IX. 25). The second consists of *samvega*, *praśama*, *sthairya*, *asammūḍhatva*, *asmaya*, *āstikya* and *anukampā*. Four of these along with *nirveda* characterise *samyaktva* or Right Faith;[1] and the remaining three cover some of the *aṅgas* of Samyaktva (*sthairya = asamśayā rucih*, *asammūḍhatva=amūḍha-drstih* and *asmaya*).[2] The third consists of the five Samitis, three Guptis and putting up with Parīsahas, which along with Dharma, Anupreksā and Cāritra are, according to the *T.-sūtra* (IX. 2), the causes of Samvara. The last consists of the non-attachment for the pleasures of senses, constant thought on the nature of the body and pondering over the character of the universe.[3] These *bhāvanās* contribute to mental quiet (*avyagratā dhiyah*).

The sixteen causes which singly or collectively bring about the influx of Tīrthakara-nāma-karman and which are to be only reflected upon (*samyag bhāvyamānāni*) are often called Bhāvanās.[4]

Whatever is to be reflected upon, literally speaking, would be called *bhāvanā*; and in that way *anupreksā* also came to be equated with *bhāvanā* in course of time. In the *Thāṇamga* and *Ovavāiya* we get the term *anupreksā* only, so also in the *Bhagavatī Ārādhanā* of Śivārya. The following gāthā of Kundakunda clearly shows how the term *bhāvanā* for *anupreksā* could have come into vogue :[5]

भावहि अणुवेक्खाओ अवरे पणवीस भावणा भावि ।[6] भावरहिएण किं पुण बाहिरलिंगेण कायव्वं ॥

Though not as a direct synonym for *anupreksā* Kundakunda uses the word *bhāvaṇā*[7] incidentally in concluding his exposition of *aśucitva*. Vattakera

---

1) *Sāraya-paṇṇatti* (55 f.,) & *Vimśati-vimśikā* (VI. 10-14) of Haribhadra, and also *Sarvārthasiddhi* on the *T.-sūtra* I. 2.

2) See *Ratnakaraṇḍaka* (Bombay, 1925) of Samantabhadra, verses 4, 11, 14, 25, etc.

3) The *T.-sūtra* mentions some of these, see VII. 12 and the *Sarvārthasiddhi* on the same.

4) See the *T.-sūtra* VI 24 and the *Sarvārthasiddhi* on the same. Śrutasāgara calls them Sixteen Bhāvanās in his com. on the *Bhāvapāhuḍa* (Bombay 1920), p. 221.

5) *Bhāvapāhuḍa* 94 in the *Sat-Prābhrtādi-samgrahah* (Bombay 1920).

6) The *paṇavīsa bhāvaṇā* are those which go with five Mahāvratas as noted above.

7) *Bārasa-aṇuvekkhā* 46 : देहादो वदिरित्तो कम्मविरहिओ अणंतसुहणिलओ । चोक्खो हवेइ अप्पा इदि णिच्चं भावणं कुज्जा ॥.

has clearly used the term *bhāvanā*.[1] The *Kattigeyāṇuppekkhā* uses both the terms (gāthās 87, 94) though *anuprekṣā* seems to be preferred. In the *Maraṇasamāhi* the term *bhāvanā* has practically taken the place of *anuprekṣā*; and in later literature it went on becoming more and more popular.

f) CONCLUDING REMARKS

From the above survey it is obvious that the Anuprekṣā, first as an attendant clause of meditation and then as a part of religious study, has grown in popularity in Jaina literature from the earliest to the latest times. What were stray topics of Śramaṇic or ascetic poetry, quite suited to Jaina ideology, were soon codified and enumerated in twelve Anupreksās; and this pattern is found convenient to stuff itself with ideas conducive to renunciation (say as in the *saṁsāra-a.*) and to the elaboration of Jaina dogmatical details (as in the *āsrava-a.* etc. and in the *loka-a.*). Apart from independent treatises and substantial expositions, manuals of conduct for monks and laymen, narrative tales and Puranas and even stylistic Kāvyas have given place in them to the exposition of Anupreksa. In fine, in the growth, propagation and elaboration of Jaina ideology, the exposition of Anupreksās has come to develop an important branch of literature in Prākrit (including Apabhraṁśa), Sanskrit, Kannaḍa and other modern Indian languages.[2]

g) COUNTERPARTS OF ANUPREKṢĀ IN BUDDHISM

Jainism and Buddhism have much in common in their ethical outlook and moral fervour; in fact, both of them belong to the same current of Indian thought, the Śramanic culture. It is natural, therefore, that ideas corresponding to Anuprekṣās, individually and collectively, are found in Buddhism as well.

1) *Mulacara* VIII. 73. एदाओ बारस भावणाओ संखेवाओ समुद्दिट्ठा। जिणवयणे दिट्ठाओ बुहजणवेरग्ग जणणीओ ॥

2) For lists of works on Anupreksa or Bhavana the following sources may be consulted The *Jaina Granthavali* (Bombay 1908), pp. 180 etc., H D VELANKAR: *Jinaratnakośa*, (Poona 1944) under *Bhāvanā, Dvādaśa-Anuprekṣā Bhavana* etc., A N UPADHYE: *Pravacanasara* (Bombay 1935), Intro. p 39 foot-note, H. R KAPADIA *Bāra Bhāvanānu Sahitya*, *Śrī-Jaina-Satyaprakāśa* (Ahmedabad 1948) XIII, pp 101 ff; AGARACHANDAJI NAHTA, Ibidem XXIII 5, 9, 12 etc.; K K HANDIQUI *Yasastilaka and Indian Culture* (Sholapur 1949) pp 290 f Professor HANDIQUI has shown how Anuprekṣā topics have served a good theme for Jaina Religious Poetry, and Somadeva's account of them may be regarded as one of the earliest attempts to expound them in Sanskrit instead of Prākrit verse.

1) Objectively speaking *anitya-a.* has a better place in Buddhism than in Jainism, because, according to the latter, it is only the *paryāyas* or modes that are *anitya*, the substance being *nitya*. The Buddhist counterpart is quite patent. According to the *Dhammapada* 277 :

सब्बे संखारा अनिच्चा ति यदा पञ्ञाय पस्सति । अथ निब्बिन्दती दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया ॥

2) Under *aśaraṇa-a.*, it is stressed that death is certain, and none can save one from its clutches :[1]

i) न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे न पब्बतानं विवरं पविस्स ।
न विज्जती सो जगति-प्पदेसो यत्र-ट्ठितं न-प्पसहेथ मच्चु ॥

ii) अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया । अत्तना हि सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं ॥

iii) बहुं वे सरणं यन्ति पब्बतानि वनानि च । आरामरुक्खचेत्यानि मनुस्सा भयतज्जिता ॥
नेतं खो सरणं खेमं नेतं सरणमुत्तमं । नेतं सरणमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति ॥
यो च बुद्धं च धम्मं च संघं च सरणं गतो । चत्तारि अरियसच्चानि सम्मपञ्ञाय पस्सति ॥[2]

iv) यमदूतैर्गृहीतस्य कुतो बन्धुः कुतः सुहृत् । पुण्यमेकं तदा त्राणं मया तच्च न सेवितं ॥

v) नैकयान्यखिया कुर्याद्यानं शयनमासनं । को मे महाभयादस्मात्साधुस्त्राणं भविष्यति ॥

3) As under *saṁsāra-a.*, plenty of reflection on the nature of *saṁsāra* is found in Buddhist texts,[3] for instance,

अनादिमति संसारे जन्मन्यत्रैव वा पुनः । यन्मया पशुना पापं कृतं कारितमेव वा ॥
यच्चानुमोदितं किंचिदात्मघाताय मोहतः । तदत्ययं देशयामि पश्चात्तापेन तापितः ॥

4) Corresponding to the *ekatva-a.*, that the soul has to enjoy and suffer all alone is very similarly expressed in Buddhist texts :[4]

i) जीवलोकमिमं त्यक्त्वा बन्धून् परिचितांस्तथा । एकाकी क्वापि यास्यामि किं मे सर्वैः प्रियाप्रियैः ॥

ii) एक उत्पद्यते जन्तुर्म्रियते चैक एव हि। नान्यस्य तद्व्यथाभागः किं प्रियैर्विघ्नकारकैः ॥

5) Reminding one of *aśuci-a.* and *anyatva-a.*, that the body is separate from the soul and full of inpurity is a favourite theme in Buddhist texts :[5]

i) इमं चर्मपुटं तावत्स्वबुद्ध्यैव पृथक् कुरु । अस्थिपञ्जरतो मांसं प्रज्ञाशस्त्रेण मोचय ॥
अस्थीन्यपि पृथक् कृत्वा पश्य मज्जानमन्ततः । किमत्र सारमस्तीति स्वयमेव विचारय ॥

ii) यदि ते नाशुचौ रागः कस्मादालिङ्गसेऽपरं । मांसकर्दमसंलिप्तं स्नायुबद्धास्थिपञ्जरं ॥

The three *anuprekṣās*, *āsrava-a.*, *saṁvara-a.*, and *nirjarā-a.* are peculiarly Jaina concepts, and *loka-*, *bodhi-durlabha-* and *dharma-* are elaborated in the back-ground of Jaina dogmatics though one gets common ideas here and there in Buddhist texts.

1) *Dhammapada* 128, 160 and 188–90; and *Bodhicaryāvatāra* (Calcutta 1901) II. 42, 46.

2) Corresponding to this we have the Jaina Saraṇa-sutta in this way : चत्तारि सरणं पव्वज्जामि । अरिहंते सरणं पव्वज्जामि । सिद्धे सरणं पव्वज्जामि । साहू सरणं पव्वज्जामि । केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि ॥

3) *Bodhicaryāvatāra* II. 28–9.

4) Ibidem II. 62, VIII. 33.

5) Ibidem V. 62–3, VIII. 52.

Then for the *anuprekṣās*, as a whole, much similarity is found in what are known as ten *anussatis*[1] in Buddhism and elaborated in the *Visuddhi-Magga* (VM). They are enumerated thus: 1) *Buddha-anussati*, 2) *dhamma-a.*, 3) *saṁgha-a.*, 4) *sīla-a.*, 5) *cāga-a.*, 6) *devatā-a.*, 7) *maraṇa-a.*, 8) *kāyagata-a.*, 9) *ānapāna-a.* and 10) *upasamā-a.* The term *anussati* (*anu-smṛti*) closely resembles *anu-prekṣā*; and really these are topics for reflection and meditation as is clear from the following passage (VII. § 2):

इति इमासु दससु अनुस्सतिसु बुद्धानुस्सतिं ताव भावेतुकामेन अवेच्चप्पसादसमन्नागतेन योगिना पटिरूपे सेनासने रहोगतेन पटिसल्लीनेन "इति पि सो भगवा अरहं सम्मासंबुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथि सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवा" इति [अं ३।२८५] एवं बुद्धस्स भगवतो गुणा अनुस्सरितब्बा।

The *dhamma-anussati* basically corresponds to *dharma-a.* Though the details are differently elaborated, the term *svākhyāta* is common (VII. § 68 ff.) and the way in which *dharma* is glorified has much similarity (§ 88). The *sīla-a.* (VII. §§ 101 ff.) covers in Buddhism such topics (§ 105) as correspond to those included under *saṁvara-a.* The *maraṇa-a.* (Ibidem VIII. § 1 ff.) has some agreement in contents with *saṁsāra-a.*, seen from the following paragraph (§ 4) ·

तं भावेतुकामेन रहोगतेन पटिसल्लीनेन मरणं भविस्सति, जीवितिन्द्रियं उपच्छिज्जिस्सतीति वा, मरणं मरणं ति वा योनिसो मनसिकारो पवत्तेतब्बो।

Some of the expressions remind one of the topics coming under *anitya-a.* and *asaraṇa-a.* *Anussati* is a *bhāvanā*. The *kāyagata-a.* deals with the impurity and the detestible constituents of the body (VIII. § 45 ff.) and thus corresponds to *asucitva-a.* On the impurity of body, there is some discussion in the *asubha-kammaṭṭhāna* (VI. § 89 ff.). The *ānapāna-a.* contains some topics which remind one of *anitya-a.* (VIII. § 234).

It is true that the details elaborated in the VM are different from those found in Jaina works, but the basic community of ideas is strikingly similar. Some of these are included under *samādhi-bhāvanā*, and this *bhāvanā* *leads to the stoppage of Karmas as the commentary on the* *Catuśśataka* (VII. 14) puts it:

भावनया क्लेशनिरोधतो निरुद्धत्वात्।

Thus both in Jainism and Buddhism the object to be achieved through *bhāvanā* is the same.[3]

---

1) This list was first of six and later expanded to ten subjects.

2) Ed. by KOSAMBI, Bombay 1940.

3) I am thankful to my friend Pt. DALASUKHAJI MALAVANIYA for some of his suggestions. *A portion of this section was covered by my paper read before the Prākrit and* Jainism section of the 20th session of the All-India O Conference, held at Bhubaneswar in 1959.

4) KATTIGEYĀṆUPPEKKHĀ

a) Its Genuine Title

Though the work is known at present by the title *Svāmi-Kārttikeyānupreksā,* it is necessary to investigate what might have been the original title of the Prākrit text dealing with twelve Anupreksās. In the opening gāthā the author says *voccham anupehāo* and in the last but one gāthā *bārasa aṇuvekkhāo bhaṇiyā.* From these references it appears that the author possibly had in view a title like *Bārasa-aṇuvekkhā.* Some time there must have been felt the need of distinguishing this work from that of Kundakunda which also deals with these very topics in Prākrit Obviously, therefore, the MS. Ba gives the concluding title *Svāmi-Kumārānupreksā* mentioning the author's name. This MS. being earlier than Śubhacandra, its title is not without some significance in the fact that it specifies Kumāra and not Kārttikeya. Śubhacandra, the Sanskrit commentator, calls this work by the name *Kārttikeyānupreksā* (in the opening verse) and also *Svāmi-Kā.* along with the honorific Śrī (see the colophons at the close of various sections). Jayacandra follows Śubhacandra in his Hindī Vacanikā and adopts the same title as is used by the latter. The available evidence thus shows that the original name was possibly *Bārasa-Aṇuvekkhā*; it was later called *Svāmi-Kumārānupreksā*; and then it is Śubhacandra who should be held mainly responsible for the present-day title of the text, namely, *Svāmi-Kārttikeyānupreksā.*[1]

b) Formal Description

It is Śubhacandra, the Sanskrit commentator, who is responsible for the standardised text of this work; and according to him there are in all 491 gāthās, of which one gāthā is presented twice (Nos. 222 & 230), but he does not seem to have taken any note of it. The MS. La omits gāthā No. 65 and the MS. Ba. gāthā No. 229 : these may be cases of copyists missing the verses. After gāthā No. 65, MSS. Ba and Ma add some three gāthās; their contents, as seen from the *Bhagavatī-Arādhanā,* 1800, are undoubtedly old; but their versions being defective and linguistic features uncertain, they could not be incorporated in our text following the lead of Śubhacandra who does not accept them in the body of the text, though he shows his acquaintance with them in his commentary. Two extra gāthās, Nos. 251*1 and 384*1 deserve our attention. The first is accepted by Śubhacandra as a *pāṭhāntara* and

1) *This name being quite current has been retained in this edition and used in this Intro, with or without Svāmi both in its Prākrit and Sanskrit forms.*

commented upon. The second is found in MSS. Ba and Ma and seems to be an alternative for No. 384 which also is explained by Śubhacandra. It is difficult to say which alternative was original and which a subsequent addition.

The distribution of gāthās according to *anuprekṣās* stands thus. Introductory 1–3 (3); *adhruva-a.* 4-22 (19); *aśaraṇa-a.* 23–31 (9); *saṁsāra-a.* 32–73 (42); *ekatva-a.* 74–79 (6); *anyatva-a.* 80–82 (3); *aśucitva-a.* 83–87 (5); *āsrava-a.* 88–94 (7); *saṁvara-a.* 95–101 (7); *nirjarā-a* 102–114 (13); *loka-a.* 115–283 (169 + 1 = 170); *bodhi-durlabha-a.* 284–301 (18); *dharma-a.* 302–491 (190 + 1 = 191). Thus nearly three fourth of the work is devoted to the exposition of the two *anuprekṣās*, *loka* and *dharma*.

c) SUMMARY OF THE CONTENTS

After saluting the Divinity, the author announces his intention to expound Anuprekṣās which give joy to the pious. They are twelve in number: 1) *adhruva*, Impermanence; 2) *aśaraṇa*, Helplessness; 3) *saṁsāra* Cycle of Transmigration; 4) *ekatva*, Loneliness; 5) *anyatva*, Separateness of the Self and non-self; 6) *aśuci*, Impurity of Body; 7) *āsrava*, Influx of Karma; 8) *saṁvara*, Stoppage of Karmic Influx; 9) *nirjarā*, Shedding of Karma; 10) *loka*, Universe; 11) *bodhi-durlabhatva*, Rarity of Religious Enlightenment; and 12) *dharma*, Law expounded by Jina. One should understand them, and reflect on them with pure mind, speech and body (1–3).

I Adhruvānuprekṣā

Whatever originates is necessarily destroyed: there is nothing eternal so far as its modifications are concerned. Birth, youth and wealth are accompanied respectively by death, oldage and loss: thus everything is subjected to decay. Acquaintances, relatives and possessions are all temporary like a newly shaped mass of clouds. Sense-pleasures, attendants, domestic animals and conveyances are all temporary like rain-bow or flash of lightening. Meeting with kinsmen is temporary like that of travellers on the way. Howsoever nourished and decked, the body decays like an unbaked earthen pot which crumbles when filled with water. (Goddess of) Wealth is not steady even with merited monarchs, then what to say with common men. She does not feel pleasure in the company of anybody: she stays for a couple of days and is fickle like ripples of water. Wealth, therefore, must be enjoyed and given to the worthy as kindly gifts: in this manner, human life is made more fruitful. Wealth that is hoarded is like stone: it goes to others or serves the end of rulers and relatives. One who earns wealth

anxiously, greedily and sinfully but never enjoys it, is verily its slave. By expending one's increasing wealth in religious duties and in giving gifts to the pious and poor, without expecting anything in return, one earns praise and makes one's wealth as well as life fruitful. Wealth, youth and life are like a bubble of water: it is sheer delusion to understand that they are eternal. Knowing this, one should remove attachment from one's mind whereby the highest bliss is attained (4–22).

II Aśaraṇānuprekṣā

What protection is there in Saṁsāra, when it is seen that Indra suffers ruin and Hari, Hara, Brahman etc. are victims of Time. There is no rescue from death as in the case of a deer which has come under the paw of a lion. No god, spell, ritual or Kṣetrapāla can save a man from death: none, howsoever strong, fierce or well-guarded can escape death. It is only a pervert belief that makes one seek the shelter of planets, Bhūta, Piśāca, Yoginī and Yakṣa. Every one has to die at the termination of *āyus*. The Ātman, which is constituted of Right Faith, Knowledge and Conduct, is the only shelter; and it should be duly tempered with qualities like forbearance etc. (23–31).

III Saṁsārānuprekṣā

The soul leaves one and takes to another body and thus transmigrates through perverted belief and passions. On account of its sins, it suffers in hells fivefold misery and physical tortures beyond description: the hell is essentially permeated with an atmosphere surcharged with acute misery. In the subhuman birth, there are physical tortures and sufferings and mutual tormentations. Even in the human birth there are manifold miseries in the womb and during childhood: most people are victims of sin and few earn merits. Even the merited have privations and painful contacts. Bharata, despite his self-respect, was defeated by his brother (Bāhubali). Even the merited have not got all their aspirations and wants fulfilled: family needs, privations and mishaps are always there. Still one does not lead a religious life, giving up all sins. There are ups and downs and prosperity and adversity, as a result of one's Karmas. Even when one is born as a god, one is subject to jealousy; one's thirst for pleasures brings manifold sorrow. The Saṁsāra is worthless and an ocean of sorrow. Family relations are subject to chaos even in one life, then what to speak of series of lives. The Saṁsāra is fivefold: every moment the soul is subjected to and gets release from variety of Karmic matter; there is hardly any spot in the Universe where

it is not born and has not died many a time; during the range of beginningless time the soul has suffered many a birth and death; it has passed through many births, lowest to the highest; and lastly, due to Karmic types etc. the soul is subjected to temperamental changes. Knowing that the nature of Saṁsāra is such one should meditate on the Ātman whereby there would be an end to transmigration (32-73).

IV Ekatvānuprekṣā

One is all alone while being born, while growing, while suffering and while experiencing the fruits of one's Karmas. No one else can share one's lot. Religion (consisting of Kṣamā etc.) is a good friend to save one from sorrow. When the Ātman is realized as separate from body, one knows what is worthy and what is fit to be relinquished (74-79).

V Anyatvānuprekṣā

Relatives etc. are different and separate from one's Ātman. When the Ātman is realised as separate from body, that is something fruitful (80-82).

VI Aśucitvānuprekṣā

One's body is full of all that is impure, rotten and stinking: even the pure and fragrant stuff becomes detestible by its contact. Ordinarily people should be disgusted with it, but on the contrary they are attached to it and want to derive pleasure from it. One should relinquish attachment for the body and engross oneself in one's own Ātman (83-87).

VII. Āsravānuprekṣā

The activities of mind, speech and body, causing a stir in the space-points of the soul, with or without *moha*, lead to Karmic influx, developing into *mithyātva* etc. Lower degree of passion (to be illustrated by appreciation of virtues, sweet words and forgiveness even in the face of provocation) leads to merit; while acute passion (illustrated by egotism, fault-finding and sustained hatred). leads to demerit. By avoiding infatuatory and deluding *bhāvas*, moods or temperaments, and by being engrossed in *upaśama*, one grasps the causes of Karmic influx (88-94).

VIII Saṁvarānuprekṣā

Right faith, partial or total observance of vows, subjugation of passions and absence of activities of mind, speech and body: these are the synonyms of

Saṁvara, or the stoppage of Karmic Influx. The causes of Saṁvara are Gupti, Samiti, Dharma, Anuprekṣā, Parīṣaha-jaya and excellent Cāritra. Gupti means control of mind, speech and body; Samiti is carefulness or absence of negligence; Dharma is characterised by compassion; Anuprekṣā consists in reflecting on the principles; Parīṣaha-jaya means ungrudgingly putting up with various troubles like hunger etc.; and the best conduct or discipline is self-meditation, free from all attachment and aversion. One who abstains from pleasures of senses and guards oneself fully against all temptations stops the Karmic influx and curtails the journey in this miserable Saṁsāra (95–101).

IX Nirjarānuprekṣā

Eradication of Karmas is possible through the practice of twelve-fold penance without any remunerative hankering (*nidāna*) for one who is not vain, who is detached and who is endowed with knowledge. The various Karmas come into operation, give their fruit and then drop out: that is Nirjarā or shedding of the Karmas. It is of two kinds: Karmas fall off, after being ripe or mature, according to the schedule; and they can be made to fall off prematurely by the practice of penances. The former is normal in all the grades of life, while the latter belongs to those who undertake religious practices. In the case of monks, this Nirjarā increases more and more along the steps of the ladder of Guṇasthānas, as one progresses in spiritual quiet and penances, especially by two-fold meditation, Dharma and Śukla-dhyāna. Plenty of Karma is eradicated by putting up with abuses, illtreatment and various troubles, by subjugating the senses and passions, by realizing one's defects and appreciating virtues of others, and by repeatedly concentrating oneself on one's Ātman which is a pure and eternal embodiment of Faith, Knowledge and Conduct. Thus alone life becomes fruitful, merits increase, and the highest happiness is attained (102–114).

X Lokānuprekṣā

The Loka or universe (of which the dimensions are specified), which is constituted by the inter-accommodation of various substances, is situated right in the centre of infinite space; it is neither created by anybody nor supported by Hari, Hara etc.; it is eternal because the constituent substances are eternal; and it is subject to changes due to constituent substances undergoing modifications at every moment. It has three regions: Lower, Central and Higher. It is called Loka because various existential entities are seen in it; and at the summit of it there dwell Siddhas or liberated souls in

eternity. The entire universe is replete with living beings, from Nigoda to Siddha: those having one sense are everywhere, while those having more than one sense are found in the Trasanāḍī, the central column of space reserved for Trasa beings. The living beings in the various grades of existence are classified and subdivided differently from some aspect or characteristic or the other: their durations of life, heights, dimensions etc. are noted in details (115–75).

The soul, though all-pervading (in view of its knowability), gets the shape of its body by virtue of its nature of contraction-expansion. If it is not confined to its body, but were to be all pervasive, pleasure and pain will fall to its lot ever and everywhere (176–77).

Knowledge is the very nature of the soul, as heat is of fire by nature; and both of them stand inseparable. Knowledge or Jīva is not the product of elements; knowledge beside the Jīva is an impossibility; and this is patent to all those who are sensible. It is the Jīva which experiences pleasures and pains and comprehends the objects of senses. It is only in the company of body that the Jīva experiences joy and sorrow, acts in various ways, is open to sense perception and has awareness of its position and ability; but it is wrong to take Jīva to be the same as body. Jīva (in the company of body) becomes an agent; and Jīva is subject to Saṁsāra or gets liberation, according to Kāla-labdhi. Likewise, Jīva experiences the fruits of Karma in this Saṁsāra. Affected by acute passions, Jīva is exposed to sin, but when the quiet psychic state is developed, Jīva accumulates Puṇya. Jīva crosses the ocean of Saṁsāra in the boat of three jewels, viz., Right Faith, Knowledge and Conduct (178–191).

Jīvas are classified into three types of Ātman. The Bahir-ātman is one who is of perverted belief, is subject to acute passions and considers the Jīva and body identical. Those who are well-versed in the words of Jina, discriminate between soul and body and are free from eight-fold vanity stand for Antarātman. They are the best when endowed with five Mahāvratas, engrossed in Dharma and Śukla-dhyāna and free from all negligence and lapses. They are the mediocre who are devoted to the words of Jina, follow the duties of a pious householder, and are magnanimous and quiet. They are the inferior who are devotees of Jina, have faith but no conduct, realize their weakness and are yearning to follow the virtues of others. The Paramātman is represented by Arhat who still possesses a body and knows everything through omniscience and by Siddha who possesses only knowledge as his body (i. e., who is an embodiment of knowledge) and has reached the highest happiness which arises out of the very nature of the soul consequent on the destruction of all the Karmas and their influences (192–199).

All the souls moving in Saṁsāra are bound by Karmas since beginningless time: that is how their pure nature is eclipsed by the interpenetration of Karmic matter into space-points (*pradeśa*) of the soul. It is this situation that adds significance to the practice of religious life and penances which destroy Karmas and the Jīva becomes a Siddha. Jīva is the best and the highest of the realities: it alone can discriminate between what is beneficial and what is harmful (200–205).

The whole universe is replete with particles of matter, subtle and gross and of manifold potencies. They are of the same variety of matter endowed with sense-qualities and capable of being perceived by the senses: in quantity they are infinite times more than the multitudes of souls. Matter (*pudgala*) helps spirit (*jīva*) in various ways by forming the body, sense-organs, speech, breath and temperamental phases like delusion and ignorance till the end of Saṁsāra. Jīvas too help each others: as a rule Puṇya and Pāpa are the chief motive behind it. The matter has a remarkable potential power whereby it eclipses the omniscient character of the soul (206–11).

The two substances Dharma and Adharma are copervasive with the Lokākāśa and serve as fulcrums of movement and rest (respectively) for all the substances, living and non-living. Ākāśa or space gives accommodation to all the substances; and it is of two kinds, Loka and Aloka, the latter standing for simple and pure space. The various substances are mutually accommodative; the space-points of Jīva interpenetrate in Lokākāśa like water in ashes; otherwise how can all the substances be accommodated in one space-point of the Ākāśa? Time which marks changes in various substances is unitary in constitution, i. e., the points of time never mix with one another but stand always separate (212–16).

Every substance serves as the substantial cause of its modifications while other outside substances are only an instrumental cause. The mutual help of various substances is a cause of cooperative character. The various objects are potent with manifold power; and getting a suitable moment they undergo changes which none can stop. The subtle and gross modifications of Jīvas and Pudgalas spoken in terms of past, present and future, are due to conventional or relative time. The past and future are infinite, while the present is confined to a single point of time. Every prior modification of a substance stands in causal relation with the posterior one which, as a rule, is an effect; and this relation persists through all the time (217–23).

The various substances are infinite in character and extended over three tenses: thus reality, as a whole, assumes an infinitely complex charac-

ter. It is this manifold character of reality that is seen functioning in the universe: any isolated or particular aspect by itself cannot explain the resultant effect. An eternal substance, if it is devoid of modification, neither originates nor is destroyed: similarly transitory modifications, if they do not have the substratum of the substance, cannot give rise to any effect of existential character. Attributes and modifications will have no basis, if they do not rest on something real. All along substances are subjected, in a single moment, to a series of new and newer effects which stand in a relation of priorty and posteriorly and of cause and effect (224–30).

Jīva is eternal, without beginning and end: it is liable to various new forms according to the accessories available and shows resultant effects. It does not relinquish its real nature under any circumstances. If the souls were to give up their individuality, say being all-pervasive and of the nature of Brahman, there will result a chaos; and much less can all the effects be explained by presuming that the soul is atomic in size (231–35).

All the substances form a type in view of their being a substance, but they vary from each other on account of their distinguishing qualities. The object which is characterised, at every moment, by origination, destruction and permanence and is the substratum of qualities and modes, is said to be existent. Every moment the earlier form or mode is replaced by the succeeding one: this is what is called (in ordinary parlance) destruction and origination of a thing. As a substance, Jīva neither dies nor is born: it is what it is eternally. In the constant process of development, Dravya is marked by the persistence of its essential nature; but its modification is a specific phase: it is with reference to these specific phases that a substance is subject to origination and destruction. The inherent common property of a substance is its eternal attribute; it is inseparably associated with the substance; and what appears and disappears in a substance is a mode, a distinguishing and temporary property. (according to the author, *guṇa = sāmānya-svarūpa*, but *paryāya = viśeṣa-rūpa*). The unitary collocation of substance, quality and mode is an object of factual experience. If the modes were not to change, disappearance or destruction loses meaning: many modes which were absent earlier appear on the substratum of eternal substance. Substances get distinguished on account of specified modes; otherwise as substances they are not distinguishable (236–46).

If knowledge alone is real and everything else unreal, then there remains no object of knowledge without which functioning of knowledge loses all meaning. The objects of knowledge are real, and the Ātman (which is an embodiment of knowledge) knows them as separate from itself. To

deny the outside objective world, so patent to all, is a mockery of perverted understanding. What exists cannot be denied, and what does not exist cannot be grasped and described even as void. Names indicate objects which are facts of experience (247–52).

That is knowledge which knows rightly the self and other objectivity, endowed with manifold characteristics. The omniscience (*kevala-jñāna*) enlightens the physical world (Loka) constituted of substances and modification and the pure space beyond (Alokākāśa). The omniscient is called omnipresent by his all-pervasive functioning of knowledge, but the knowledge does not leave the soul and go beyond. The process of knowing functions without the knower and the object of knowledge leaving their respective places. As distinguished from the Kevala (which is *sakala-pratyakṣa*) Manaḥ-paryāya and Avadhi types of knowledge are Deśa-pratyakṣa, i. e., of partial comprehension. Both Mati and Śruta types are indirect, the former of more clarity and immediateness. Matijñāna is possible through five sense-organs and also mind: that through mind comprehends the topics covered by senses and *śruta* or scriptural knowledge. Of the five sense-knowledges, only one functions at a time, and the rest are latent. Every object has manifold aspects, and can be viwed only from a single aspect with the help of scriptural knowledge and of Nayas. Any assertion about it is from some point of view or the other. The knowledge brings out indirectly the manifold aspects of objectivity, divested of flaws like doubt etc. (253-62).

Naya is a variety of scriptural knowledge and originates from some characteristic or the other: it serves day-to-day worldly transactions with some aspect or object in view. The reality is a complexity, and when something is stated about it, it is with some aspect predominantly in view, and others being put in the back-ground for the moment. Naya is three-fold. That is a *sunaya* or a good point of view, which does not ignore or deny other points of view; but a bad point of view (*durnaya*) leaves no margin for other views. All worldly transactions are well explained by good points of view (263–66).

Jīva is known from sense–functions and physical activities: that is *anumāna* or inference; it is also a Naya, a point of view of which there are many a variety. Collectively speaking Naya is one; spoken from the points of view of Dravya and Paryāya, it is two-fold; and going into more particulars, it has other varieties like Naigama etc. The Dravyārthika-naya, or the substantial point of view, states reasonably the general (*sāmānya*), without denying the particulars; while the Paryāya-naya states from various characteristics etc., the particulars keeping in view the generality (267–70).

The Naigama-naya describes optionally the past and future in terms of the present. The Saṁgraha-naya states a class or group-point of view for a part or whole of a substance or modification, taking the common characteristic into consideration. The Vyavahāra-naya states a distributive view of the non-specified general by dividing or separating it into classes etc. upto the minutest particle. The Ṛju-sūtra-naya states the immediate condition of a thing as it is at present, at a particular moment. The Śabda-naya describes difference between various objects with reference to their grammatical number, gender etc. The Abhirūḍha-naya specifies individual connotation of various objects with reference to their distinctions or the chief connotation (among them all). The Evaṁbhūta-naya states the then aspect, situation or connotation of a thing. He who describes a thing in this world from these various points of view achieves Faith, Knowledge and Conduct, and in due course, attains heaven and liberation (271-78).

The number of people who hear, understand, meditate and retain the principles (of religion) is always small: a firm grasp and steady reflection lead to a correct understanding of reality. Internal and external non-attachment brings therewith so many virtues. He who meditates quietly on the nature of the universe becomes a crest-jewel for the three worlds by destroying the stock of Karmas (279-83).

XI Bodhi-durlabhānuprekṣā

Dwelling for an infinite period, without beginning in time, in the Nigoda, the Jīva somehow comes out, and passing through different grades of beings, such as Sthāvara, Trasa, Imperfect and Perfect Tiryag etc. gets human birth, hard to be obtained. Even there, a good family, affluence, physical perfection, healthy body, good character, good company, religious faith, pious life, faith-knowledge-conduct, avoiding mental perversion and passions, godhood, practice of penances: these are rarities among rarities. The human life has a unique signification: it is here that Great vows, meditation and attainment of Nirvāṇa are possible. So one should concentrate respectfully on the cultivation of Faith, Knowledge and Conduct. But to waste human life in the pursuit of pleasures is to burn a precious stone for ashes (284-361).

XII Dharmānuprekṣā

The omniscient who directly knows the entire Loka and Aloka with all their attributes and modes of the past, present and future is verily the Divinity. He alone comprehends the supersensuous: the knowledge of senses

does not grasp even the gross objects with all their modes. The Religion preached by him is I) Twelvefold for laymen or householders and II) Tenfold for monks or houseless (302-4).

I. i) *Darśana-śuddha:* A liberable soul, suitably constituted and qualified, develops Samyaktva or Right Faith which is of three types: Upaśama-, Kṣāyika- and Kṣāyopaśamika-samyaktva. Even when Samyaktva is partly attained, there is scope for lapses in it. One endowed with Right Faith necessarily carries conviction about the many-sided reality stated through seven-fold predication as demanded by the occasion. Through the study of scriptures and by adopting different points of view (*naya*) he recognises the nine Padārthas. He is not vain about his family and possessions; but with mental quiet, he feels himself insignificant. Though addicted to pleasures and engrossed in various activities, he knows all that to be worthless, a pursuit in infatuation. He is devoted to the highest virtues, respectful towards the best monks and attached to his co-religionists. The soul, though embodied, is separate from the body, by virtue of its essential attribute of knowledge: the body is just like a garment. He worships God who is free from faults (*doṣa*), reveres Religion which enjoins kindness to all beings and respects a Teacher who is without any attachment or ties. He regularly reflects that it is his own Karman—and none else—that brings about his prosperity and adversity, his pleasures and pains and that his death at the due time is a certainty which cannot be averted either by Indra or Jinendra. He understands the various substances with their modes from a realistic point of view and has no doubts of any kind: in matters beyond his comprehension the words of Jina carry conviction to him. Samyaktva or Right Faith is of the highest value; and it brings respect here and happiness in the next world, even though one does not practise the vows. A man of Right Faith incurs no more evil Karmas, and whatever he has in stock from earlier birth he destroys (307-27).

ii) *Darśana-śrāvaka:* A layman of Right Faith is firm in his mind, practises his vows without expecting anything in return (*ṇiyāṇa-parihīṇo*) and is renunciative in his outlook. He does not enjoy abominable items of food and drink, such as flesh, wine etc. which are full of Trasa lives (328-9).

iii) *Vrata-śrāvaka:* A layman with vows practises five Aṇuvratas and is endowed with Guṇavratas and Śikṣāvratas: he is firm, quiet and sensible:

1) He behaves kindly, treating all others on par with himself; and being introspective and self-critical, he avoids all major sins. He neither commits, nor commissions, nor consents to any injury to Trasa beings (i. e.,

beings having more than one sense-organ) in thought, word and act. 2) He does not utter injurious, harsh and rough words, nor does he betray any one's confidence. His words are beneficial, measured, pleasing to all and glorifi catory of religious standards. 3) He never buys a costly article at a low price, nor does he pick up a forgotten thing; and he is satisfied even with a small gain. He is pure in his intentions and firm in his mind; and he never robs what belongs to others out of treachery, greed, anger or vanity. 4) Feeling detest for a woman's body, he looks upon her form and beauty as evil temptations. He observes chastity (broadly) in thoughts, words and acts looking upon other women (than his wedded wife) as mother, sister, daughter etc. 5) He subjugates greed and is happy with the elixir of contentment: realizing everything to be transitory, he erradicates all nasty cravings. He puts a limit to his possessions of wealth, corn, gold, fields etc. taking into account their utility (330–40).

1′) Like the limit to possessions, putting limit with respect to directions also is an effective curb against one's greed; so one should, knowing the need, limit one's movements in the well-known directions (East etc.). 2′) That concern or activity which achieves no useful purpose but essentially involves sin is something evil which is fivefold with many a variety: a) Picking up faults of others, yearning for others' wealth, erotic gazing at other women, and getting interested in others' quarrels; b) giving instructionsi n important matters connected with agriculture, rearing the cattle, business, weddings etc.; c) useless activities involving injury to inmobile (*sthāvara*) beings in the form of earth, water, fire and vegetables; d) maintaining harmful animals, giving weapons etc. as well as fatal drugs; and e) attending to works dealing with quarrels, erotics etc. and finding faults with others. 3′) One should put a limit to the enjoyment of food, betel-leaves, clothes etc., knowing that they are available. A worthy vow is his who relinquishes what he possesses: he who feeds himself on his fancies derives no benefit at all (341–51).

1″) While practising Sāmāyika the following seven items are to be taken into account: a) place, b) time, c) posture, d) concentration of mind, e) purity of mind, f) purity of speech, and g) purity of body. *a*) The place which is not noisy, nor crowded and not infested with mosquitos etc. is suited for Sāmāyika. *b*) The Gaṇadharas have stated six *Nāl(ḍ)ikās* (*nālikā*=about 24 minutes) of the morning, noon and evening are suited for the practice of Sāmāyika. c) One should sit in the *paryaṅka* posture or stand erect for a fixed period of time, curbing all the activities of sense-organs. *d-g*) With the mind concentrated on the instructions of Jina, with the body restrained and

with the hands folded one should be engrossed in one's self, reflecting on the signification of the salutation (-formula). One who practises Sāmāyika in this manner, circumscribing the region and avoiding all sinful activities becomes just like a monk. 2") The man of understanding who decks himself with (the attitude of) renunciation relinquishing bath, cosmetics, ornaments, contact with women, scents, incense etc. and regularly fasts or eats simple or pure food only once on the two *parvan* days (of the fortnight, i. e., the 8th and the 14th day) has to his credit the *posaha* vow. 3") The third Śikṣāvrata, which brings happiness etc., requires a man of understanding, endowed with faith etc., to give, according to ninefold ways of donating, gifts to three kinds of worthy recepients. Gifts can be of four types: food, medicine, scriptures and *abhaya* (security or shelter), the last being unique among the four. By giving food, the remaining three wants also are fulfilled. It is on account of hunger and thirst that there are various diseases; it is the food that sustains a monk in his study of scriptures day and night; and it is by food that all life is nourished. Through detached and devoted gifts one puts the entire Saṁgha on the path of liberation, consisting of three jewels. Even one worthy gift, given to a single worthy person, brings to one the happiness of Indra. 4") In the fourth Śikṣāvrata the limits put to directions etc. and pleasures of senses are further circumscribed; greed and erotic temptations are quieted; and sins are reduced. One who quietly faces the voluntary submission to death (*sallekhanā*), after practising twelve vows, attains heavenly bliss and liberation. Devoted, firm and faultless practice of even a single vow brings immense benefit to one (352-70).

iv) *Sāmāyika* consists in meditating on the consequences of Karmas, all along fixing one's thoughts on one's own nature, the image of Jina or the sacred syllable, after quietly and courageously giving up attachment for the body and in putting into practice 12 *āvartas*, 2 *namanas* and 4 *praṇāmas* (371-72).

v) *Posaha* is practised in this way. In the afternoon of the 7th and 13th days of the fortnight one goes to the temple of Jina, offers *kiriyā-kamma* or salutation etc., accepts the vow of fourfold fast (from the teacher), abstains from all domestic routine, spends the night in religious thoughts, gets up early in the morning, offers salutations etc., spends the whole day (8th or 14th) in the study of scriptures concluded with salutation, spends that night in the like manner (as above), offers *vandanā* early morning (of the 9th or 15th day), performs *pūjā*, entertains worthy guests of three types, and then eats his food. Quietly fasting without any sinful activities easily destroys Karmas; otherwise fasting is only a physical torture (373-78).

vi) *Sacitta-virati:* By not eating leaves, fruits, bark, roots, sprouts or seeds which contain life, one becomes *sacitta-virata.* It is all the same whether one eats or makes others eat them. By avoiding such food, one has a full restraint on the tongue, and consequently one is full of compassion to beings and carries out the instruction of Jina (379–81).

vii) *Rātrī-bhojana-virati:* A sensible person neither eats nor serves to others four-fold food at night; by not eating at night one is as good as fasting for six months in a year, and one avoids all sinful activities at night.

viii) *Maithuna-tyāga:*He who abstains from women and sex-pleasures in thoughts, words and acts and by committing, commissioning and consenting to, observes the vow of celibacy and is full of kindness to living beings.

ix) *Ārambha-tyāga:* He who does not commit, commission and consent to sinful activities and detests harm unto beings avoids all sin.

x) *Saṁga-tyāga:* Ties or possessions are two-fold: Internal and External. He who gladly relinquishes them both is free from sins. Poor people, naturally, have no external possessions, but it is difficult to relinquish internal ties or distractions.

xi) *Anumati-tyāga:* He is an *anumati-virata* who never involves himself even by consent into any household activities causing sin. Being full of attachment and aversion, if one occupies one's thoughts with various useless activities, one commits sins without achieving any purpose.

xii) *Uddiṣṭāhāra-virata:* By going from house to house one should eat food which is pure in nine ways, which is not specifically solicited, which is proper and which is not specially prepared.

One who practises the vows of a householder and duly cultivates *ārādhanā* on the eve of his life is reborn as an Indra (382-391).

II. The religious duties prescribed for a monk are ten-fold. 1) *Uttama-kṣamā:* Forbearance consists in not getting angry even when severe troubles are inflicted. 2) *U.–mārdava:* Humility or modesty consists in one's being introspective about one's own defects even when one has reached the height of knowledge and austerities. 3) *U.–ārjava:* Straightforwordness consists in eschewing crookedness in thoughts, words and acts and in never concealing one's own faults. 4) *U.–śauca:* Purity means that the dirt of acute greed is washed away by the water of equanimity or peace and contentment, and there is no greed even for food. 5) *U.–satya:* Truth-

fulness consists in speaking in conformity with the words of Jina, even though one is not able to put them into practice and in avoiding lies even in worldly transactions. 6) *U.-saṁyama:* Self-restraint consists in not injuring (i. e., giving security to) living beings, even to the extent of cutting grass, in course of one's movements and activities. 7) *U.-tapas:* Austerity consists in equanimity, being indifferent to the pleasures of this and of the next world and in quietly enduring various physical troubles. 8) *U.-tyāga* : Renunciation consists in relinquishing dainty food, articles which give rise to attachment and aversion and home which occasions vanity of possession. 9) *U.-nirgranthatva:* Non-possession consists in giving up attachment for things, both living and non-living and in abstaining from all worldly dealings. 10) *U.-brahmacarya:* Chastity or celibacy, which is nine-fold, consists in having no contact with women, in not observing their form and in not being interested in erotic talks. One who is not distracted by the glances of girls is the greatest hero (392-404).

That is the greatest Dharma in which no harm unto living beings is involved even in the least. Harm unto living beings in the name of gods or teachers is sin, and can never be Dharma which is characterised by kindness to living beings. The Religion preached by Jina is something unique. By practising this ten-fold Dharma one acquires Puṇya or merits, but it should not be practised for merits. Puṇya involves Saṁsāra; and only by its distruction liberation can be attained. If Puṇya is acquired to gain worldly pleasures, spiritual purity will never be reached. One should aim rather at quieting one's passions than at acquiring Puṇyas (405-13).

One should have faith or conviction, without any doubt, that Religion is characterised by kindness to living beings and should never involve any injury to them as in a sacrifice. ii) Liberation should be the aim and religion should not be practised through severe penances with the hankering of heavenly pleasures. iii) One should not detest the disgusting physical appearance of those who are endowed with ten-fold Dharma. iv) One who does not consider, out of fear, modesty or gain, harm unto living beings as the Religion but is devoted to the words of Jina, is a man of correct or undeluded perspective. v) Reflecting on the Karmic consequences, one should connive at others' defects and never make public one's own virtues. vi) Those who are shaky in their convictions one should confirm on the path of religion by oneself being quite firm. vii) One should talk sweet and show devotion to and follow the religious people. viii) One should preach the ten-fold religion to the pious or liberable souls (*bhavya*) and enlighten oneself too. The greatness of the doctrine preached by Jinas should be established by various arguments

and through severe penances. These qualities are cultivated by him who meditates on himself and is averse to pleasures of senses: it is on account of these virtues with reference to Dharma, as well as to Divinity, teacher and principles that one's Right Faith gets purified (414–25).

Deluded as one is, one understands Religion with difficulty and puts the same into practice with greater difficulty. By practising the religion preached by Jina one easily gets happiness. Religion is like a seed to give the desired fruit. A religious man is forgiving even to his enemies; he is indifferent to others' wealth; and he looks upon any other woman (than his wife) as his mother. His mind is pure, he speaks sweet, he creates confidence all-round, and he is reputed everywhere. Dharma works out miracles and unexpected results. All efforts fail without the backing of Religion: knowing this one should aviod sin and practise religion (426-37).

Quietening the senses is, in fine, *upavāsa*, therefore those who have control over their senses are observing *upavāsa* or fast though eating (some food). i) The *anaśana* austerity consists in easily abstaining from food for a day etc., only with the object of destroying Karmas, but if sinful activities are undertaken during fast, fasting is only a physical torture. ii) The *avamaudarya* austerity consists in eating a little pure and suitable food without any greed and ulterior motives. iii) *Vṛtti-parimāṇa* means eating indifferently tasteless food, anticipated in mind, with the number of houses limited. iv) One who observes *rasatyāga* eats tasteless food being oppressed by the misery of Saṁsāra and constantly thinking that the pleasures of senses are a poison. v) One who observes the fifth austerity stays in a lonely place, such as unhaunted cemetry, forest etc. He relinquishes seats etc. which occasion attachment and aversion; and being disgusted with worldly pleasures, he has no craving for houses etc. He is quiet or peaceful and skilled in the practice of internal penances. vi) One who is not discouraged by adverse climatic conditions and is triumphant over various troubles, practises the austerity called *kāyakleśa*. *i*) *Prāyaścitta*: One is not to commit, commission and consent to a fault in thought, word and deed. If any fault is there through negligence or inadvertance (*pramāda*), it should be confessed, oneself being free from ten defects, before a worthy teacher whose prescriptions one must carry out. Avoiding that fault, one meditates, without any distractions, on the Ātman, an embodiment of knowledge. *ii*) *Vinaya*: one should have a pure temperament with reference to *darśana*, *jñāna*, *cāritra*, twelve-fold penance and manifold *upacāra*; and it means devoted attendance on those who are endowed with faith, knowledge and conduct. *iii*) *Vaiyāvṛtya*: one should render disinterested service to the aged and suffering monks, and be devoted with the best of intentions to

the cultivation of peace and self-restraint, abstaining from worldly activities *iv*) *Svādhyāya:* study of scriptures is indifferent to other's criticism, eliminates wicked thoughts, helps one to ascertain reality, and is an aid to meditation or concentration of mind. Devoted study of Jaina scriptures, without craving for respect and with a view to removing Karmas, leads to happiness; but if it is attended with vanity, craving and opposition to colleagues, it is harmful. The study of texts dealing with fight and love with a disturbed mind and with a view to dupe other people, bears no benefit. Worthy is that study which enables one to realize one's Ātman, full of knowledge and quite separated from the body. *v*) *Kāyotsarga* means indifference to body, its caressing and needs and being engrossed in self-meditation with perfect detachment with reference to every thing outside. *vi*) *Dhyāna*: Concentration of mind on a certain item for a while is known as *dhyāna* which mav be inauspicious or auspicious. Ārta and Raudra are inauspicious, while Dharma and Śukla are auspicious. Passions are acute in Ārta, still more acute in Raudra; but they are temperate in Dharma and still more temperate in Śukla which is possessed by one who is free from passions and is possessed of scriptural knowledge and by the omniscient (438-72).

Ārtadhyāna or the miserable mood develops when one wants to escape miserable contacts and when one wants pleasant associations from which one is separated. In the Raudra-dhyāna one repeatedly revels in injury to living beings and in telling lies; one is not only keen about one's possessions and pleasures but wants to deprive others of them. Ārta and Raudra are a source of sin, and as such they should be studiously avoided.

Dharma means the nature of things, ten-fold virtues like *kṣamā* etc. the three jewels and protection of living beings. Attachment and aversion, sense-pleasures and extraneous distractions etc. are avoided and the mind is concentrated on the nature of Ātman; and one goes on meditating with joy and peace: that is Dharma-dhyāna.

In the Śukla-dhyāna virtues grow purer, the Karmas are quieted and eradicated, the Leśyās are white, and one advances in spiritual purification. When all delusion is melted away, when all passions are pacified and when one is engrossed in oneself, there is Śukladhyāna in its four stages (473-88).

Svāmi Kumāra has expounded with great devotion these Anuprekṣās with a view to comprehend the words of Jina and to restrain the fickle mind. A study of these Anuprekṣās, which are explained according to Jināgama, leads to eternal bliss (489-90).

I offer prayers to Vāsupūjya, Malli, Nemi, Pārśva and Mahāvīra who are the prominent lords of three worlds and who practised penance as Kumāras, i. e., before coronation (491).

d) A Comparative Study

As noted above, the *Bārasa-Aṇuvekkhā* (B) of Kundakunda, though small in size, is an independent treatise on Anuprekṣās in Prākrit; and the *Mūlācāra* (M), VIII, of Vaṭṭakera, *Bhagavatī Ārādhanā* (Bha) of Śivārya, gāthās 1715–1875 and *Maraṇasamāhi* (Mar), gāthās 569–638, contain substantial exposition of Anuprekṣās. Further, the *Tattvārtha-sūtra* (IX. 7) and some of its commentaries have served as the pattern for the format of discussion of these topics. The *Kattigeyāṇuppekkhā* (K) is possibly the longest Prākrit text dealing solely with twelve-fold Reflection. Naturally it deserves to be compared and contrasted with kindred works noted above, with regard to its various aspects.

Some of the gāthās in these works have close agreement, either in thought or expression :

K 6–8, 21	B 4–5 ; Bha 1717–19, 1725	K 78	Bha 1752
K 26–28	B 8–9 ; M 7 ; Bha 1743	K 82	B 23
K 30-31	B 11, 13 ; Bha 1746	K 83	B 43
K 56	Bha 1801	K 89	B 47 ; Bha 1825
K 63	M 27 ; Bha 1802	K 101	Bha 1829 (?)
K 64-5	M 26 ; Bha 1799–1800	K 104	B 67
K 66	B 24–29 ; Bha 1773 f.	K 305–6	B 69
K 68	Bha 1775 ; Mar 594	K 393	B 70

It is true that there would be much common thought and expression when authors brought up in the same tradition are dealing with similar subjects. But the above parallels are something more than that. One certainly gets the impression that the *Kattigeyāṇuppekkhā* is indebted to the *Bārasa–Aṇuvekkhā* for some of its ideas and expressions.

Like B, K is addressed to both monks and householders, with greater concern for the latter; while Bha, M and Mar have primarily the ascetic community in view. 1) K lays more stress on the fickle character of Lakṣmī who spreads very great infatuation for laymen, and other points are incidentally touched. 2) Bha stresses that there is no escape from Karmic consequences, while B, M and Mar, along with K, have Death in view from which there is no escape. According to M and Mar, Jina-dharma is the

shelter, while B, Bha and K recommend shelter in the Ātman, constituted of Darśana, Jñāna and Cāritra (with Tapas, added in B and Bha). 3) K elaborates the different grades of existence (Naraka, Tiryak, Manuṣya and Deva) which are hinted in M, Bha and Mar and through which the soul wanders due to Mithyātva and without attending to the words of Jina. Besides this elaboration, the discussion about the fivefold Saṁsāra, mentioned in B, Bha and also M, comes like an appendage section in K. To relinquish the infatuation for *saṁsāra*, M wants it to be realized as worthless, B prescribes the Niścaya-naya and escape from Karmas, Mar recommends the practice of religion, and K appeals for self-meditation. 4) The opening gāthās of K come like an explanation of B, M and Mar. K prescribes the tenfold Dharma as the only aid: this according to Bha consists of three jewels, and this very position is endorsed by B in a fervent tone. 5) The relatives etc., why even the body, are all extraneous; so one must meditate on the Ātman. This spiritualistic tone is not sufficiently developed in Bha and Mar as in others. 6) Like B, K primarily exposes the impure character of this mortal body for which one should not be attached but should concentrate oneself on the nature of Ātman. M does not ignore this aspect, but like Bha and Mar calls this topic *aśubhānuprekṣā: artha* and *kāma* are *aśubha*, while *dharma* is *śubha*. It is under the discussion about *kāma* that the filthy nature of the body is explained in M and Bha. 7) K has B in view, but follows some other sources as well. B and Bha have the same pattern of enumeration of the causes of Āsrava, while M, Mar (and partly Bha) have some other common ideas. It is only B that introduces the Niścaya point of view. 8) B introduces here the doctrine of three *upayogas* and insists on the meditation of Ātman from the Niścaya or Paramārtha point of view. M, Mar and partly Bha too have a similar pattern of ideas that the doors of Karmic influx should be stopped, and then follows Saṁvara, or the stoppage of Karmic influx. K has an enumerative pattern which is partly in agreement with Bha. 9) B has two gāthās, if not only one, for *nirjarā-a*, which is a further step after the stoppage of Karmas. The second gāthā of B is common with K. In all the sources Tapas or penance is stressed as the chief instrument of *nirjarā*, which is twofold. What is suggested in M seems to be elaborated in K, the exposition in which is less technical. Penance is like fire which burns the grass of Karmic seed of Saṁsāra. 10) The exposition in B is simple: the different *upayogas* drive the soul to different Lokas. M and Mar have suggestions about different kinds of Jīvas and their miseries, and K has elaborated the same to the maximum. It is interesting to note that what Bha includes under Loka-a. (1799–1800) is included under Saṁsāra-a. in K (61–65): the line of demarcation between these two topics is slippery. Discussion about Loka is really a wide topic, naturally K includes

the exposition of many subjects such as Jīva–and–Jñāna, nature and three kinds of Jīvas, various substances and their nature, varieties and function of knowledge, various Nayas etc. 11) The *niścaya* point of view helps one to distinguish Ātman from everything else: this is correct knowledge, true enlightenment, rather difficult to be obtained. This is quite precisely put in B. K elaborates the series of rarities (which are hinted in M, Bha and Mar), and how the religious enlightenment is the rarest and possible only in human birth. So one should devote oneself to the realization of Ātman, constituted of Darśana, Jñāna and Cāritra. 12) B describes twofold Dharma, of eleven stages for the householder and tenfold for the monk; the former are only enumerated and the latter are explained in details. From the real point of view, the pure Ātman should be reflected upon. M glorifies Dharma as preached by Jina and expounds the tenfold Dharma for the monk. Bha and Mar glorify religion and just hint some details. What B has done in a nutshell K has elaborated to the utmost: the twofold religion is explained in all the details. The twelve Pratimās are expounded giving exhaustive details about the Aṇu-, Guna- and Śikṣā-vratas, and then follows the exposition of the ten-fold Dharma in details. Then Dharma is defined; the characteristics of a man of faith are given; and lastly Dharma is glorified. Then follows the description of twelve penances which lead to the destruction of Karman, with a concluding discourse on Dhyāna of four kinds.

Directly or indirectly, K has inherited a good deal from these Prākrit sources, but in every case K presents a lucid exposition if the topics are general and a detailed discussion, if the topics are difficult and enumerative.

Svāmi Kumāra seems to have drawn on some additional sources as well. It is interesting that the enumeration of the twelve Anuprekṣās adopted in K is different from that found in B, M and Bha (which agree among themselves) but agrees with the one found in the *Tattvārtha-sūtra* (TS) of Umāsvāti, as already noted above. Secondly, in a number of places, especially of technical discussion, K reminds one of TS, as well as its commentary, viz., the *Sarvārthasiddhi* (S) of Pūjyapāda. Some contexts may be noted by way of illustration:

i) K 88 ff. reminds one of TS, VI. 1 f., and some words in 88 echo the commentary of Pūjyapāda (*ātma-pradeśa-parispando yogaḥ*).

ii) K 95 ff. is an exposition closely following TS, IX, 14, etc. along with S.

In this way, in almost all places where we have enumerative and technical discussion, the influence of TS is apparent. Of the two earliest

commentaries on the TS, namely *Bhāṣya* and *Sarvārthasiddhi* (on IX. 7), both of which have common ideas and expressions, it is the latter that has influenced K more than the former.

1) The simile of *jala-budbuda* (K 21) is found in B (5), in Bha (1717) and also in S but not in the *Bhāṣya* in this context. 2) The simile of lion for death (K 24) is pretty old, found in the canonical passages and in the *Bhāsya*, but the S has that of a tiger as in the *Mahābhārata* passage noted above. 3) K seems to work out the details hinted in the *Bhāṣya* and S; five-fold Saṁsāra, mentioned in S, goes back to Kundakunda from whose B Pūjyapāda quotes the necessary gāthās, as already noted. 4) S stresses Dharma as the *sahāya*, and K explains it by *dhammo daha-lakkhaṇo have suyaṇo*. 5) That the Ātman is separate from the body is the basic theme. 6) K follows S more than the *Bhāṣya* which is more elaborate. Neither of the commentaries introduces *aśubhatā* in terms of *dharma*, *artha* and *kāma*. 7-8) The *Bhāṣya* is more elaborate and gives some mythological illustrations etc. in dealing with *āsrava*. K follows TS, as shown above, in the exposition of Āsrava. 9) The two-fold *nirjarā* is mentioned in the commentary, and K develops it in the case of a soul moving along the path of spiritual evolution. 10) Taking hints from the commentary, K has made this section a veritable compendium of *karaṇānuyoga* and *dravyānuyoga*. The three-fold division of Ātman reminds one of similar discussion in the *Mokkha-pāhuḍa*, *Samādhi-śataka*, *Paramappa-payāsu* etc. Some of the definitions of *nayas*, for instance, *saṁgraha*, *śabda* etc. remind one of S (I. 33). Svāmi Kumāra shows here and there the spirit of a Naiyāyika. 11) Though some of the similies are slightly modified, the trend of discussion in K is a full development of what is found in S. 12) K presents a systematic and thorough exposition of two-fold Dharma etc. for which the material is available in plenty in TS and its commentaries in various contexts.

Thus Svāmi Kumāra inherits a good deal from Kundakunda, Śivārya, Vaṭṭakera etc. and has enriched his exposition by profusely drawing upon the *Tattvārtha-sūtra* and its accessory literature. Future studies alone can detect additional sources more precisely.

e) A Compendium of Jaina Dogmatics

Most of the topics included under Anuprekṣās are of such didactic import as could be discussed without overloading the exposition, say in the manner of Śubhacandra in some Anuprekṣās in his *Jñānārṇava*, with dogmatical details and technical enumerations of a more or less fixed pattern. But

Svāmi Kumāra is essentially a learned author, steeped in Jaina principles; naturally, though he deals with these topics like a moralist poet, he has stuffed his discourses with manifold details whereby the *Kattigeyāṇuppekkhā* (K) has become a veritable compendium of Jainism. Some outstanding contexts of topical discussion are listed below:

Description of Hellish, Sub-human, Human and Divine grades of existence 34–61; Five kinds of hellish miseries 34–35; Saṁsāra of five kinds 66–72; Two grades of Kaṣāyas 90–92; Definition of the causes of Saṁvara 96-99; Two kinds of Nirjarā 104; Nirjarā on the ladder of Guṇasthānas 106–8; Loka and its extent 118–21; Jīvas: Ekendriya varieties 122-27; varieties of those having more Indriyas 128–42; details about living beings outside the human world 143-75; size of the Jīva and its relation with knowledge 176–87; Jīva, as *kartā* and *bhoktā* 188-91; three kinds of Jīva 192-200; Jīva and Karman 201-4; Pudgala, its varieties 205-11; Dharma, Adharma, Ākāśa and Kāla 212-223; Anekānta character of *vastu*–Dravya, Guna and Paryāya-which is endowed with origination, permanence and destruction 224-46; Jñāna and Jñeya 247-56; Five kinds of Jñāna 257–62; Nayas and their definitions 263–78; Sāgāra-dharma, its twelve stages and their individual elaboration 305 etc.; Samyagdṛṣṭi and his characteristics 307 etc.; Vratas: Aṇuvratas 331–40; Guṇavratas (with five varieties of Anarthadaṇḍa) 341–51; Śikṣāvratas 352–69; Anagāra-dharma and its ten varieties 393–403; Hiṃsā 405 f.; Puṇya 410 f.; Samyaktva and its eight characteristics; Dharma glorified 426–37; Tapas and its twelve types 438 f.; Four kinds of Dhyāna 473 f.

The above topics are noted with an object that specialists in various branches of Jainological study may be able to shed more light on the sources from which Svāmi Kumāra has drawn his material, and on his influence on subsequent authors. What is done above is a modest and limited attempt. An exhaustive study in various directions will not only enable us to have a correct estimate of the scholarship of Svāmi Kumāra but also to put more definite limits for his date which is not satisfactorily settled as yet.

f) Its Author[1]

The current belief is that the author of this treatise, *Bārasa Aṇuvekkhā*, is Kārttikeya or Svāmi Kārttikeya; and from this the work has come to be named *Kārttikeyānuprekṣā*. In the text the author gives very meagre information about himself in this way (489-91):

1) For earlier observations on the author and his date see: P. Bakalival: *Svāmi-Kārttikeyānuprekṣā*, Preface, Bombay 1904; Hiralal; *Catalogue of Sk. and Pk. MSS. in the*

[This treatise on] Anuprekṣās has been composed with great devotion by Svāmi Kumāra by way of reflection on the words of Jina and with a view to control the fickle mind. The twelve Anuprekṣās have been, in fact, expounded following the Jināgama ; he who reads, hears and studies these attains eternal bliss. I salute Vāsupūjya, Malli and the last three Tīrthakaras, viz., Nemi, Pārśva and Mahāvīra who were the lords of three worlds and who practised penance as Kumāras [i. e., even before they were coronated or wedded].

From these gāthās all that we know about the author is that his name was Svāmi Kumāra, or Kumāra, in case Svāmi is just a title of honour; and being himself Kumāra, he salutes five Tīrthakaras who had entered the order of monks as Kumāras. It may possibly be inferred that our author was a monk and was initiated in the ascetic order, even before his marriage.

The Ms. B (earlier in age than Śubhacandra) also mentions the name as Svāmi Kumāra, at the end, but Svāmi Kārttika at the beginning.

As far as we know, it is Śubhacandra,[1] the commentator, that first mentions the name of the author as Kārttikeya, also along with the title Svāmi Because there is no basis for this in the original text, it has to be inferred that some one, if not Śubhacandra himself, took Kumāra and Karttikeya just as synonyms[2] and went on referring to the name of the author as Kārttikeya

---

C P and Berar p. XIV , M. WINTERNITZ *A History of Indian Literature*, Vol. II, p. 577 ; A. N. UPADHYE *Paramātmaprakāśa* Intro. p. 65, Bombay 1937 ; JUGALKISHORE *Anekanta*, Vol. VIII, 6 7, pp. 227f. and *Purātana-Jaina-Vākya-sucī*, Intro. pp 22f., Saharanpur 1950; D R. BENDRE, *Sanmati* I. 6, Bahubali, June 1951. BAKALIVAL refers to a Sanskrit com. of Vagbhata, but so far it is not traced Prof. Bendre's reference to a commentary of Śubhakirti (Śubhanandi) is without any evidence perhaps the name is a mistake for Śubhacandra. He seems to draw upon Kannada *Vaḍḍāradhane*. As he plainly admits that the author of *K. Anuprekṣā* is not referred to there, the biography of Karttikeya in that Kannada work, his association with Pasana near Poona and Kogali in Bellari Dt. etc. lose their relevancy so far as our author is concerned. The identification of Roheḍa-giri with Lohaparvata near Sondur is too speculative.

1) See his remarks at the opening and on gāthas Nos. 283 (verse 2, p 204) 489, 490 aud 491. It is very plain that with Śubhacandra Kumāra = Kārttikeya.

2) According to the Hindu mythology Kārttikeya is the name of a son of Śiva and Pārvati. He is popularly regarded as god of war, because he leads the gaṇas or hosts. According to one legend, he was born without a mother, in a miraculous manner. the generative energy of Śiva was cast into the fire and then received by the Ganges, whence he is sometimes described as son of Agni and Gaṅgā. When he was born, he was fostered by the six Kṛttikās (i.e., the name of a constellation consisting of six stars) who offered their six breasts to him whereby he became six headed, and hence called Ṣaḍānana. He is also known by the names Kumāra, Skanda, Subrahmaṇya etc.

This specification of the author's name as Kārttikeya has led to some other deductions if not complications. While explaining gāthā No. 394, Śubhacandra has an illustrative remark to this effect:

स्वामिकार्त्तिकेयमुनिः क्रोञ्चराजकृतोपसर्गं सोढ्वा साम्यपरिणामेन समाधिमरणेन देवलोकं प्राप्तः ।

Some have induced themselves to believe that here is a reference to the author of the *Kattigeyāṇuppekkhā*. Even Śubhacandra who is, more than any one else, responsible for using the name Kārttikeya for Kumāra, does not state that here is a reference to the author on whose work he is writing a commentary. So there is no evidence at all to identify the author Kumāra, called Kārttikeya (along with the title Svāmi) with this Svāmi-Kārttikeya of pre-historic, if not legendary, fame who suffered the troubles inflicted on him by Krauñca-rāja.

The Kathākośas give the biography of Kārttikeya (originally Kārttika) who was hit by king Krauñca; and the basic verse for the story runs thus in the *Bhagavatī Ārādhanā* (1549):

रोहेडयम्मि सत्तीए हओ कोंचेण अग्गिदइदो वि । तं वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥

In this connection the following three gāthās from the *Saṁthāraga* deserve special attention (67-69): [1]

जल्लमलपंकधारी आहारो सीलसंजमगुणाणं । अजीरणो य गीओ कत्तिय-अज्जो सुरवरम्मि ॥
रोहीडगम्मि नयरे आहारं फासुयं गवेसंतो । कोवेण खत्तिएण य भिन्नो सत्तिप्पहारेणं ॥
एगंतमणावाए विच्छिण्णे थंडिले चइय देहं । सो वि तह भिन्नदेहो पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥

The *Bha. A.* mentions Aggidayido[2] which according to the *Vijayodayā* is *Agni-rāja-sutaḥ*, but according to the *Mūlārādhanā-darpaṇa* of Āśādhara *Agni-rāja-nāmnaḥ putraḥ Kārtikeya-saṁjñaḥ*. The *Saṁthāraga* mentions the name Kattiya (with the title *ajja*), and so also the *Bṛhat Kathākośa* (Story No. 136) Kārtika (with the title *Svāmi*), and not specifically Kārttikeya.[3] The detailed biography of this brave saint is given in the *Kathākośas* of Hariṣeṇa,[4] Śrīcandra, Prabhācandra, Nemidatta and others.

1) *Prakīrṇa-daśakam*, Āgamodaya Samiti, 46, Bombay 1927. See also *Über die vom Sterbefasten handelnden ältern Paiṇṇa des Jaina Kanons* by Kurt von KAMPTZ, Hamburg 1929, pp. 26-27.

2) Note also the popular legend (already gven above p. 65) how Karttikeya was born out of fire.

3) According to Akalanka, the tale of Kārttika was found in the *Anuttaradasā*. See also *Dhavalā*, vol. I, p. 104, the readings are gradually drifting from Kārtika to Karttikeya.

4) A. N. UPADHYE: *Bṛhat-Kathākośa* Intro., pp. 26, 32, 79, and the text pp. 324 f.

As none of the basic sources mentions Kārtika or Kārttikeya as an author, or his work, the authorship of this *Bārasa-Aṇuvekkhā* cannot be attributed to this saint of antiquity, nor can he be taken as identical with Kumāra, the author.

To conclude, Kumāra or Svāmi Kumāra is the author of this work. Though Śubhacandra has taken the name as synonym for Kārttikeya, there is no evidence at all to identify this Kārttikeya with Kārtika or Kārttikeya referred to in the *Bha. Ā.* and *Saṁthāraga*.

g) Its Age

Kumāra[1] does not refer to any of his contemporaries or predecessors in his *Bārasa-Aṇuvekkhā*; so there is no internal evidence which would enable us to fix up his date or the age of his work. Under the circumstances some modest attempt will be made here to put broad limits to his age by piecing together bits of external and internal evidence, so far collected.

A] i) Śubhacandra completed his Sanskrit commentary on this *K.-Anuprekṣā* in the year, Saṁvat 1613 (-57=1556 A.D.). So far no earlier or other commentary on this work has come to light.[2]

ii) The Ms. Ba (see the description above) is dated, saṁvat 1603, i.e., 1546 A. D.

iii) Śrutasāgara, who flourished about the beginning of the 16th century A. D., has quoted anonymously, but with the phrase *uktaṁ ca*, *K.-Anuprekṣā* gāthā No. 478, in his commentary on the *Daṁsaṇa-pāhuḍa*, 9.[3] The third pāda is slightly different which might be due to the fact that it is being quoted from memory.

iv) Brahmadeva, who is tentatively put in the 13th century A. D., has also quoted *K.-Anuprekṣā*, 478, first pāda, anonymously but with the phrase *tathā coktam*, in his commentary on the *P.-prakāśa* II. 68.[4]

---

1) From his reference to Kṣetrapāla. I thought, that Kumāra belonged to the South; but this point need not be insisted upon, because the worship of Kṣetrapāla is in vogue in many other parts of India. There is a temple dedicated to Kṣetrapāla at Lalitpur, in Madhya Pradeśa.

2) R. Narasimhacharya: *Karṇāṭaka Kavicarite* (Bangalore 1924), vol. I, p. 321, reports a (Kannada ?) commentary by Śubhacandra who is tentatively assigned to c. 1200, but I suspect from his titles mentioned there that it is the Sanskrit commentator Śubhacandra that is referred to and there has been some mistake about the proposed date.

3) Ed. Ṣaṭprābhṛtādi-saṁgraha, *Bombay* 1920, p. 8.

4) Ed. A. N. Upadhye, *Bombay 1937*.

So the above evidence puts one terminus that Kumāra flourished some time before the 13th century A. D.

B] i) The exposition of twelve Anupreksās by Kumāra has been already compared and contrasted with that by Kundakunda, Vaṭṭakera and Śivārya. In my opinion, he shows their influence here and there, and naturally he is to be put after them.

ii) As contradistinguished from the order of enumeration of twelve Anupreksās, Kumāra, unlike his predecessors in Prākrit, adopts the order found in the *Tattvārtha-sūtra*. Then, as already noted above (p. 62), he shows a good deal of influence of the *T.-sūtra* in the pattern of his technical and dogmatical discourses.

iii) Then, as noted above (p. 62), certain gāthās echo the expressions of Pūjyapāda in his *Sarvārtha-siddhi* on the *T.-sūtras*.

iv) The following gāthā from the *K.-Anuprekṣā*, 279:

विरला णिसुणहि तच्चं विरला जाणंति तच्चदो तच्चं । विरला भावहि तच्चं विरलाणं धारणा होदि ॥

is obviously an adaptation of the following dohā from the *Yogasāra*, 65:

विरला जाणहिँ तत्तु बुह विरला णिसुणहिँ तत्तु । विरला झायहिँ तत्तु जिय विरला धारहिँ तत्तु ॥

The *K.-Anupreksā* is not written in the Apabhraṁśa dialect; so the Present tense 3rd p pl. forms *nisuṇahi* and *bhāvahi* (preferably nasalised *hi.*) are intruders here, but the same are justified in the *Yogasāra*. To Kumāra some Apabhraṁśa forms are not offensive, because some of them could be used in the Prākrit texts of his age. But this is not a case of the use of stray Apabhraṁśa forms. The contents of both the verses are identical. The Mss. so far collated have uniformly admitted this gāthā. The fact that the dohā is converted into a gāthā does not admit the possibility that some later copyist might have taken it over from the *Yogasāra*. It is highly probable, even possible, that Kumāra's verse is based, consciously or unconsciously, on that of Joindu who is tentatively assigned to the 6th century A. D.

v) The following gāthā, No. 307, from the *K.-Anuprekṣā*,

चदुगदिभव्वो सण्णी सुविसुद्धो जग्गमाणपज्जत्तो । संसारतडे णियडो णाणी पावेइ सम्मत्तं ॥

deserves comparison with *Gŏmmaṭasāra*, Jīvakāṇḍa, 651:

चदुगदिभव्वो सण्णी पज्जत्तो सुद्धगो य सागारो । जागारो सल्लेस्सो सलद्धिगो सम्ममुवगमई ॥

It is true that the *Gōmmaṭasāra* itself is a compendium based on earlier works like the *Dhavalā* etc. So this cannot be used as a very safe evidence. But this cannot be denied that once these compilations of Nemicandra have exerted tremendous influence on many authors. While explaining some of the gāthās of *K.-Anuprekṣā* Śubhacandra has quoted a large number of verses from the *Gōmmaṭasāra* and extracts from its commentaries : that only confirms the suspicion whether Kumāra might be working with the *Gōmmaṭasāra* of Nemicandra before him. On this point I have an open mind. In case it can be further substantiated that Kumāra is indebted to Nemicandra, he will have to be assigned to a period later than Nemicandra who flourished in the 10th century A. D. (last quarter).

On the date of Kumāra (and his *K.-Anuprekṣā*), all that can be definitely said is that he is later than Kundakunda, Vaṭṭakera, Śivārya, Umāsvāti, Pūjyapāda (c. 5th century A. D.) [1] and Joindu (c. 6th century A. D.), and perhaps Nemicandra (10th century A. D.), but before Brahmadeva (c. 13th century A. D.). [2] This is a broad range indeed, and future researches alone can bring the two limits nearer.

The above limits are arrived at by me through the critical and comparative methods of study and objective evaluation of the available evidence. They are in conflict with some traditional views ; they are already subjected to some criticism in certain respects; and the responsibility of explaining my position with reference to them has to be duly borne by me.

i) The oral tradition recorded by PANNALAL[3] says that the author of the *K.-Anuprekṣā* flourished some two or three centuries before the Vikrama era ; and the subsequent opinions of some scholars that Svāmi Kumāra preceded Kundakunda and Umāsvāti[4] are linked up with the identification of Kumāra (= Kārttikeya) with Kārttika or Kārttikeya who was hit by king Krauñca. The legends and tales do not mention that Kārttikeya was an author or an author of this work ; so the identification is not proved; consequently, the date based on this has no value at all.

1) N. PREMI : *Jaina Sāhitya aur Itihāsa* (Bombay 1956), pp. 41 f.

2) A. N. UPADHYE : *Paramatma-prakāśa* (Bombay 1937), Intro , pp 63 f. Ibidem pp. 70 f.

3) See the references noted above.

4) "The 'twelve Anuprekṣās' are a part of Jaina Faith . Svāmi Kārtikeya seems to be the first who wrote on them. Other writers have only copied and repeated him. Even the *Dvādaśānuprekṣā* of Kundakundācārya seems to have been written on its model. No wonder, if Svāmi Kārttikeya preceded Kundakundācārya. Any way he is an ancient writer." *Catalogue of Sk. and Pk. MSS. in the C. P. and* Berar, p. XIV ; also WINTERNITZ *A History of Indian Literature*, vol. II, p. 577. Pt. HIRALAL has uniformly presumed that Kārttikeya flourished earlier than Umāsvāti, see his Intro., (pp. 43 f.) to the *Vasunandi-Śrāvakācāra*, Banaras 1952.

ii) Pt. JUGALKISHORAJI[1] admits, while reviewing my views expressed in my Introduction to the *P.-prakāśa,* that Kumāra flourished after Umāsvāti, but not very late after him. He comes out with series of arguments that the gāthā No. 279 must be a *prakṣipta* or a later interpolation in Kumāra's text ; so, in his opinion, Kumāra need not be later than Joindu. Arguments based on context, consistency, propriety etc. can never prove by themselves any verse to be *prakṣipta.* it is necessary that Ms. evidence that such a verse is absent in certain codices has to be brought forth. That is not done by him so far. Further, the verse in question is not bodily taken over, but the dohā is duly converted into a gāthā ; it is not an accidental but a purposeful adaptation and the crucial Apabhraṁśa forms have persisted. So the arguments that the verse in question is *prakṣipta* hold no water. As long as it is not shown that the verse in question is not found in certain authentic Mss. and that both Joindu and Kumāra owe this or a similar verse to some earlier author, the conclusion is irresistible that Kumāra is later than Joindu.

iii) Dr. J. P. JAIN[2] writes thus about Kumāra, the author of *K.-Anuprekṣā :*

" Kumāranandi, the saint of Uchchainagar [Uccanāgarī Śākhā] who figures in an inscription from Mathura of the year 67 (or 87-8) (Early Śaka era of 66 B. C. and therefore assigned to *c.* 1-21 A.D.) seems to have been another contemporary of Lohāchārya. He seems to be identical with Kumāranandi whom several commentators of Kundakunda describe as a *guru* of the latter. Further, Kumāranandi also seems to be identical with Svāmi Kumāra, the author of the Kārtikeyānupreksā, an ancient Prākrit text. His times would be circa 20 B C.–20 A. D. "

This means that Kumāranandi, mentioned in an inscription from Mathura *c.* 1–21 A. D., is being identified with the namesake, the *guru* of Kundakunda as well as the author of *K.-Anuprekṣā.* There is a good deal of defective logic and make-belief-argumentation in his observations: Kumāranandi and Svāmi Kumāra are not identical names ; the Mathura inscription does not mention him as an author of Anuprekṣā text ; the text of the *K.-Anuprekṣā* does not assign Svāmi Kumāra to Uccanāgarī Śakhā. So there is no common ground for this proposed identification, and naturally the date assigned to Svāmi Kumāra cannot be accepted.

1) See the reference above, and also his *Jaina Sahitya aura Itihasa para visada prakāśa,* Calcutta 1956, pp. 492 f.

2) *The Voice of Ahiṁsā,* No. 7, July 1958, in his article 'The Pioneers of Jaina Literature', p. 197.

There is a large number of names of saints and authors[1] with Kumāra as a common factor :

Kumāra-datta of the Yāpanīya Saṁgha is mentioned in the Halsi copper-plates[2] (*c.* 5th century A. D.).

Kumāra-deva is referred to in one of the inscriptions at Śravaṇa Beḷgoḷ (*c.* 12th century A. D.). He had an alternative name, Padmanandi.[3]

Kumāra-nandi (of the Uccanāgarī Śākhā) is specified in an inscription on the pedestal of an image at Mathurā (*c.* beginning of the Christian era[4]). Another Kumāra-nandi is mentioned in the Devarhaḷḷi copper-plates (looked upon as apocryphal) of 776 A. D.[5]

Kumāra-paṇḍita is referred to in an inscription at Herekere : and he is to be assigned to *c.* 1239 A. D.[6]

Kumāra-sena is mentioned in a large number of inscriptions, and obviously there might have flourished many teachers bearing this name. These records[7] belong to the 10th, 11th and 12th centuries A. D and hail from the area of Karnātaka. Some of them can be mutually distinguished from the common name of the teacher etc[8].

---

1) They are collected here mainly from the *Répertoire d'epigraphie Jaina* by A. GUERINOT, Paris 1908.

2) *Indian Antiquary* VI pp 25 f.

3) *Epigraphia Carnatica* II, No. 40.

4) *Epigraphia Indica*, I, No. XLIII, pp 388-9

5) *Epigraphia Carnatica* IV, Nagamangala No 85, also *Indian Antiquary* II, pp. 155 f. Vidyananda (*c* 9th century A D) in his *Patrapariksa* (p. 3, ed Banaras 1913) quotes three verses from the work *Vādanyaya* of Kumaranandi Bhaṭṭāraka (see also *Pramāṇaparīkṣā*, p, 72, ed Banaras 1914). There is also a work of the name *Vadanyaya* by Dharmakirti (*c* 7th century A D). Jayasena (c. 12th century A D), in the opening remarks of his commentary on the *Pañcastikāya*, says that Kundakunda was the *śiṣya* of one Kumāranandi Bhattāraka. Without specific common ground, mere identity of name cannot suffice for identification of one with the other, because the same name is borne by different teachers of different ages.

6) *Epigraphia Carnatica* VIII, Sagar No. 161.

7) *Journal* of the B B R. A. S., X., pp 167 f ; *Epigraphia C.* III Seringpatam No. 147, VIII Nagar No. 356, VIII Tirthahalli No 192, V Channarayapatna No. 149, II Śr. Belgol No. 26, V Belur No. 17, VIII Nagar No. 37, III T-Narasipur No. 105.

8) 1. One Kumarasena, who is called a *guru* and who was famous like Prabhacandra, is mentioned by Jinasena in his *Harivaṁśa* (A. D. 783). 2. Vidyananda (*c.* 9th century A. D.) also refers to one Kumārasena who perhaps helped him in the composition of the *Aṣṭasahasrī*. 3. Devasena in his *Darśanasāra* (A. D. 933) credits one Kumarasena of having founded the Kāstha Saṁgha in 696 A. D. and gives some interesting details about him (verses 33 f)., 4. One Kumāra (-kavi) has composed the *Ātmaprabodha* (Chunilala Jaina Granthamālā No. 7 Calcutta, no year) in Sanskrit. It belongs to the class of works like the *Ātmanuśasana* of Gunabhadra. Beyond mentioning the name, he does not give any personal details.

Kumāra svāmi is mentioned in an inscription at Bagadi of about 1145 A. D.[1]

Svāmi-Kumāra attended the Samādhi-maraṇa of Siṁhanandi in A. D. 1008. The reading Svāmi at the beginning is a bit conjectural as the letters are not quite visible in that record discovered at Kopbal.[2]

Epigraphic references do not constitute a census of all the teachers and authors. So it is not safe to propose identification without sufficient common ground. Nowhere in these records there is any reference to the treatise an Anuprekesas associated with any one of the above. Obviously, therefore, there is no evidence to propose any one of the above names as identical with that of our author Kumāra. Mere partial, or even complete, similarly in name cannot be enough for identification, because the same name is borne by authors of different times and distant places. If that is enough according to Dr. J P. JAIN, then Svāmi Kumāra (A. D. 1008) or Kumāra Svāmi (c. 1145) will have to be chosen for identification, because that name is the nearest in similarity so far as the author of *K.-Anuprekṣā* is concerned.

h) ITS PRĀKRIT DIALECT

As early as 1900, R. PISCHEL, in his monumental and epoch-making Prākrit grammar, the *Grammatik der Prākrit-Sprachen*, § 21 (Encyclopaedia of Indo-Aryan Research I. 8), noted the salient and distinguishing characteristics of the Prakrit dialect of the *Kattigeyāṇuppekkhā*, a few gāthās from which were extracted by BHANDARKAR,[3] along with that of allied texts like the *Guruvāvali* and *Pavayaṇasāra*. In view of the phonological changes, *t* to *d* and *th* to *dh* and of the Nom. sing. of *a*-stems in *o*, he designated the dialect as Jaina Śaurasenī, with a note of caution that this name merely serves as a convenient term, even though it is by no means accurate. What PISCHEL warns is true, more or less, in the case of most of the the names of Prakrit dialects, if scrutinised in the perspective of Middle Indo-Aryan as a phase of linguistic evolution.[4]

---

1) *Epigraphia Carnatica* IV Nagamangala No. 100

2) P. B. DESAI *Jainism in South India and Some Jaina Epigraphs*, Sholapur 1957, p, 345 f.

3) R G BHANDARKAR *Report* on the search for Sanskrit Mss. in the Bombay Presidency during the year 1883-84, pp 106 f., Bombay 1887.

4) S. SEN. *Comparative Grammar of Middle Indo-Aryan*, also *Historical Syntax of Middle Indo-Aryan*, Linguistic Society of India, Calcutta 1951 and 1953. S. K CHATTERJI and S. SEN: *A Middle Indo-Aryan Reader*, Parts I-II, Calcutta University, Calcutta 1957.

Since then some scholars have expressed themselves on the propriety of the name and grammatical contents of Jaina Śaurasenī : may be as a convenient word of sufficient signification, the term has come to stay. Though some of the works of Kundakunda are subjected to a somewhat detailed study of their Prākrit dialect,[1] it is for the first time that the entire text of the *Kattigeyāṇuppekkhā* is being critically edited in this volume, and some of its salient dialectal traits are noted here. The Mss. collated for this edition are far removed from the age of the author. The Ms. Ba is older than and sufficiently independent of Śubhacandra's text; and it does show certain variant readings, important from the dialectal point of view. This holds a hope that if older Mss. are available, a more authentic text can be built. The vagaries seen in Mss. about the elision or softening of intervocalic *t* clearly indicate that earlier Mss. were more partial for changing intervocalic *t* to *d* than for dropping it. If this inference is not accepted, it will have to be admitted that the copyists were indifferent about it: it mattered very little for them whether intervocalic *t* was changed to *d*, or dropped leaving behind the constituent vowel, or substituted by *ya-śruti* provided the accompanying vowel is *a* or *ā*.

It is not intended here to give a detailed analysis of the Prākrit dialect of the *Kattigeyāṇuppekkhā*, but to note down modestly some of its striking characteristics, especially in the light of what is already said about the dialect of the *Pravacanasārā*[2] of Kundakunda.

In the treatment of vowels, the dialect of the *Kattig.* fairly agrees with that of the *Pravacanasāra.* As a corollary of the rule that a long vowel before a conjunct is necessarily shortened, it is found that often *e* and *o* become *i* and *u* before a conjunct. In the absence of orthographic symbols in Devanāgarī for *ĕ* and *ŏ*, which being their phonetic value before a conjunct, *i* and *u* (respectively) are used instead. Pāṇini (I. 1. 48) has recognised[3] the symbols *i* and *u* for *ĕ* and *ŏ*. Obviously, therefore, *tihuvaṇiṁda=tihuvaṇĕṃda* (1), *deviṁdo=devĕṁdo* (28), *siṭṭhī=sĕṭṭhī* (187), *bhuttā=bhŏttā* (189). The following illustrations give an idea of some vowel changes. *majjhima=*, *madhyama* (164, cf. *hiṭṭhima* 171), *rāi=rāja(n)*, either taken from forms like

1) W. SCHUBRING : *Vīra*, V, pp 11-12, Aliganj, and also his latest paper 'Kundakunda echt und unecht' in Z. D. M. G., 107, III, pp. 557-74, Wiesbaden 1957. W. DENECKE: *Festgabe* Hermann Jacobi Zum 75, Bonn 1926 ; A. N. UPADHYE : *Journal* of the University of Bombay II, Part VI, and *Pravacanasāra.* Intro., pp. 111ff., Bombay 1935 ; H. L. JAINA : *Ṣaṭkhaṇḍāgama* with *Dhavalā*, Intro. pp. 78f., Amraoti 1939.

2) See my Intro., pp. 111f., to its edition, Bombay 1935,

3) K. V. ABHYANKAR : Short *e* and short *o* in Sanskrit in the *Annals* of the B. O. R. I., XXXVIII, i-ii, pp. 154-57.

10

rāiṇā or contaminated with the following *dāiya* (16); *sijjā* (*sĕjjā*)=*śayyā* (467), *mitta* (*mĕtta*)=*mātra* (9), *dāiya*=*dāyāda* (16); *vihūṇa*=*vihīna* (436, its *v. l.* and 389); *kattha*=*kutra* (11), *mahutta*=*muhūrta* (164); *taṇa*=*tṛṇa* (313), *giha*=*gṛha* (6), *pahuḍi*=*prabhṛti* (425), *puḍhavi*=*pṛthavī* (124); *dosa*=*dveṣa* (447), *ṇaigama*, *ṇegama*=*naigama* (271); *aṇṇaṇṇaṁ*=*anyonyam* (228), *sokkha*=*saukhya* (113-4), *saücca*=*śauca* (397). Shortening and lengthening of vowels seen in cases like *jīvāṇaṁ* (317), *ma* (412), *rāyā-dosehiṁ*, *loyā-vaṁcaṇa* (464), *saṁsārāṁ* (2) are possibly due to metrical necessity.

The form *-suddhī edā* (3) might stand for *suddhie edā* and *uggāhaṇa* <*ogāhaṇa*<*ava-gāhana* (176) as in *ohī*=*avadhi* (257). Insertion of an *anusvāra* or the development of what PISCHEL calls a saṁdhi-consonant is seen in the following instances; *pāvaṁ-kammassa* (409), *savvaṁ-kammāṇi* (188), *savvaṁ-joyāṇa* (325), *vattha-m-ā* (*d*) *īṇaṁ* (350, also 340).

In this text the intervocalic (or non-initial and non-conjunct in the terminology of Hemacandra) consonants, taking a word as the unit, such as *k*, *g*, *c*, *j*, *t*, *d* and *p* are generally dropped leaving behind the constituent vowel, with or without *ya-* or *va-śruti*, rather than being softened or retained.

Intervocalic *k* is, as a rule, dropped; but there are a few cases where it is softened into *g*, or exceptionally retained; *eya* (166-7), *tilaya* (1) *payāra* (26), *pahiya* (8), *loya* (2); (but softened into *g* in): *avagāsa* (213), *uvasamaga* (107), *ega* (166-7 *v.l.*), *khavaga* (108), *jāṇaga* (465), *loga* (212), *vivāga* (37, 57, 89, also *v. l.* in 189). The *k* is, in a way, initial in *sa-kāla* (104), *aṇu-kūla* (458), etc. Its presence in *ekkako* (216) is an exception.

Intervocalic *g* is generally dropped; *joiṇī* (27), *turaya* (7), *bhoya* (29), *vioya*, *saṁjoya* (49); but it is found retained also in some cases: *joga* (95, 486), *ṇigoya* (284), *bhāga* (157), *bhoga* (130, 427), *vioga* (59, also note *v. l.*)

Intervocalic *c* is, as a rule, dropped: *asui* (83), *pisāya* (26), etc.; its retention in *vācaya* (265) is perhaps an exception to keep the meaning of the word in tact.

Intervocalic *j* is generally dropped: *maṇuyatta* (13), *maṇuyā* (25), *pariyaṇa*, *sayaṇa* (6); but at times retained: *iṁdiyaja* (258), *gabbhaja* (130-1, 151), etc..

Intervocalic *ṭ* is changed to *ḍ* and *ḍ* is retained: *ghaḍa*, *paḍa* (248) etc.; *ṇāḍī* (122), *pīḍā* (98).

Intervocalic *t* is very often dropped, more so at the beginning of the text, though there are plenty of instances where it is softened to *d*. The readings do vary in this respect; and there are reasons to believe that earlier codices showed more instances of softening *t* to *d* than of eliding it. Doublets of the same form also are available, and the readings too vary: *aṇavaraya* (19), *iyara* (10, also *idara* 90), *paṁḍie* (11), *rai* (10), *sahiya* (5, also *sahida* 48), *sāsaya* (6), etc.; but softened in *gadī* (65, 70), *duhidā* (53), *rahida* (65, also note *v. l.*), *sulada* (240), *hedū* (96, note *v. l.*). This tendency affects verbal and declensional forms as well, and there too the variation in spelling is noticed: *ciṁtei* (17, note *v. l.*), *ṇāsei* (73), *ramaï* (11), *havei* (4); but there are also forms with *-di* or *-de*: *kuṇadi* (370), *pāvade* (246), *bhāsadi* (333), *rakkhade* (24), *saṁkadi* (323), etc. Similar tendency is seen in the Past passive p. forms too: *bhaṇiya* (2, 3), *bhūya* (27), *saṁṭhio* (115); also *icchida* (50), *paḍida* (24), *vimohido* (18), etc. As to the declensional forms of nouns, Abl. sing., *maraṇāu* (28), but usually *joṇīdo* (45), *bhāvādo* (27), *rūvādu* (81), *sarīrado* (79). The tendency of softening *t* to *d* is conspicuously felt in the pronominal forms: *edaṁ* (110), *edā* (3), *ede* (94), *tado* (177), *savvado* (101); and also in particles: *idi* (187, 318), *du* (79, 210). The retention of *t* in *atīdā* (221) and *saṁkhātīdā* (156) can be explained either as an exception or on account of its becoming initial in reciting a gāthā. Its change to *ḍ* is due to cerebral influence of *ṛ* or *r*, disappearing in the proximity: *pahuḍi* (425), *saṁpaḍi* (271). *Bharata=Bharaha* (49).

Intervocalic *d* is now and then dropped, but often retained as well: *aṇāi* (72), *gohaṇāi* (6), *jai* (200, 370), *ṇiyāṇa* (102), *sayā* (26); *udaya* (34), *uppāda* (237), *khamādi* (31), *chuhādi* (98, *v. l.*), *dukkhadaṁ* (38). But *palitta=pradīpta* (54).

There is only cerebral nasal, *ṇ*, used in this text, initially, medially and in a conjunct group, in my opinion, without any exception: *aṇṇoṇṇa* (205), *ṇāṇa* (205), *pariṇāma* (89). If it is initially retained by some Mss. in stray words like *nava* (324 *v. l.*), *nāḍīe* (122), *nāvāe* (191) etc., they are either due to copyist's lapses under the influence of Sanskrit or to the option allowed for its retention initially in Prākrit by some grammarians. Being stray cases, found only in certain Mss., they cannot be looked upon as the features of the dialect of *Kattigeyāṇuppekkhā*.[1]

1) Lately it is contended that i) the use of *ḷ* and ii) the use of initial *n* are the dialectal traits of Jaina Śaurasenī (V. P. JOHARAPURKAR: A Note on Jain Śaurasenī, *Annals* of the B. O. R. I., XXXIX, parts i–ii, p. 135). The use of *ḷ* is a peculiarity of Mss. written in Kannada, Telugu, Malayalam etc. scripts; and if the evidence of these Mss. is to be the criterian, it can be called the trait of every Prākrit dialect. The Prākrit passages in some of the dramas published from Trivandrum contain *ḷ* uniformly. Further, Rāma

Intervocalic *p* is changed to *v* generally, but now and then dropped also: *cavalā* (12), *tavo* (488), *vāvāra* (134), *vivāga* (39); but also *aüvva*. Further *kṣapaṇa*=*khamaṇa* (483). In words like *khetta-pāla*, *p* is, in a way, initial.

Intervocalic *kh*, *gh*, *th*, *dh*, *ph* and *bh* are, as a rule, changed to *h*: *sihara* (121), *suha* (184); *jahaṇṇa* (165); *kuhiya* (83), *pahiya* (8); *pahāṇa* (97), *viviha* (9); *sahala* (113), *naha* (130), *loha* (341); but *prathama*= *paḍhama* (310), *pṛthavī*=*puḍhavī* (162), due to the presence of *ṛ* or *r* before.

Generally initial *y* (at times even of a non-initial word in a compound expression) is changed to *j*: *jadi* (303), *jāva* (209), *joggaṁ* (258); *ajoī* (108), *vijojao* (107), *sajoī* (108). Intervocalic *y* (which is to be distinguished from *ya-śruti*) is sometimes retained: *ṇeyeṇa* (247), *rayaṇattaye* (296), *samaye* (229), but sometime dropped too: *iṁdiehiṁ* (207), *kasāeṇa* (193).

In this text *r* remains unchanged. Intervocalic *v* is retained, though there are some instances of its being dropped as in *ṇeya* for *naiva* (15).

Of the three sibilants, only the dental one, viz., *s*, is used in this text. If some Mss. show others here and there, that is just a scribal lapse under Sanskrit influence. *pāṣāṇa* = *pāhāṇa* (14) is an exception.

The *ya-śruti*, or a lightly pronounced *y*, takes the place of a consonant which is dropped leaving behind the vowel, *a* or *ā*. The usage of *ẏ* in this text agrees with that in the *Pavayaṇasāra*: *jaṇayaṁ* (111), *turaya* (7), *pisāya* (26), *maṇuyatta* (13), *sahiya* (5), *sayā* (26). In forms like *ṇeyeṇa* (247), *rayaṇattaye* (296), *samaye* (229) it is not *ya-śruti* but the original Sanskrit *y* inherited. Forms like *saṁṭhiyo* (115 *v. l.*) are scribal lapses arising out of faulty hearing when someone dictates and the other goes on copying. There are, as well, a few cases of what may be called *va-śruti*: *ajjava* (132), *uṇhavo* (178), *uvara* (43, *v. l.*), *kaṁcuva* (316), *maṇuva* (299)

Coming to the treatment of conjunct groups, initial as well as non-initial, some idea can be had of it from some typical cases collected here: *kameṇa*

Pāṇivāda (who was handling possibly only such Mss.) has gone to the extent of remarking in his commentary on the *Prākṛta-prakāśa* of Vararuci (The Adyar Library, 1946) in this manner: *la-kāra-śravaṇeṣu sarvatra ḷa-kāroccāraṇaṁ prākṛta-śāstra-samācāraḥ* (on I. 25, p. 8) and *la-kārasya ḷa-kāra ityuktaṁ na vismartavyam* (on II. 22, p. 17). He uses *ḷ* throughout in his illustrations. As to the second contention of the use of *n* initially, it is found in a few cases of some Mss., and it cannot be generalised for the dialect as a whole. The approach in the alleged two traits of Jaina Śaurasenī is ill-conceived, and the conclusion arrived at is not well-founded. That Jayasena followed Bālacandra is not correct: on the other hand it seems that Bālacandra is later than and following Jayasena (See *Pravacanasāra*, Bombay 1935, Intro. pp. 106 ff.).

(141), *khavaga, khīṇa* (108), *khetta* (66), *ṇikkhaṁkhā* (416), *tikkha* (433), *tirikkha* (431) ; *catta* (306), *cāya* (401), *ṇiccala* (280), *tacca* (204), *vejjāvacca, veyāvacca* (459-60); *chuhā* (98), *uccheha* (172), *tiriccha* (143), *picchaṁto* (77), *macchī* (175), *mileccha* (132), *lacchī* (5), *vacchalla* (421), *sāriccha* (143); *jāṇaga* (465), *ujjuya* (274), *kajja* (222), *pajjaya* (257), *pajjāya* (220), *majjhima* (164), *aṭṭa* from *ārta* (471), *aṭṭha* (50), *kudditthī* (323), *taṭṭha* from *trasta* (446), *ṭhidi* (71), *saṁtaṭṭha* (385), *ṇāṇa* (198), *jaṇṇa* (414), *diṇṇa* (366), *savvaṇhū* (302); *patteya* (148), *saṁtatto* (100), *thala* (129), *thūla* (123), *thova* (335), *athira* (6), *itthi* (281), *rāī* (elsewhere *rattī*, 206), *ṇidhaṇa* from *nirdhana* (56) ; *paḍhama*, (107) *ṇippattī* (428) ; *māhappo* (21), *phaṁdaṇa* (88), *vaṇapphadi* (346), *baṁbha* (234); *dulaha* (290) ; *viṁtara* (145), *aṇṇa* (83), *bhavva* (also *bhaviya*, 307, 1); *ukkassaya* (166), *ṇīsesa* (199), *sahasa* from *sahasra* (37) ; *jīhā* (381), *bāhira* from *bāhya* or *bahir* (205).

Then *kilesa* (400), *bhaviya* (1), *bhasama* (214), *rayaṇa* (290), *suhuma* (125) are obviously cases of anaptyxis.

There are certain instances which show doubling: *nisuṇṇade* (180), *tilloya* (283), *pujjaṇa* (376), *saṅcca* (397), *sacceyaṇa* (182).

The following typical and striking forms deserve to be noted in the declensional pattern of the dialect of the *Kattigeyāṇuppekkhā*. In some places words stand without any termination: *addhuva, asarana* (1), *gabbhaja* (131), *ṇāṇa* (249), *ṇivvisaya* (447); Nom. sing. *m. dhammo* (478), *balio* (26), *n. heduṃ* (410) ; *ekkā* (*ekko* in the text is a misprint) *vi ya pajjattī* (137) ; Acc. sing. *f. lacchī* (319), *saṁpattī* (350) ; Acc. pl. *m. kamma-puggalā vivihā* (67), *mohaya-bhāvā* ; Inst. sing. *m. maccuṇā* (24), *n. tavasā* (102), *maṇeṇa* (129); Abl. sing. *appādo* (248), *joṇīdo* (45), *sarīrado* (79), *maraṇāu* (28), *rūvādu* (81), *uvavāsā* (439), Abl. pl. *ṇārayahiṁto* (159), *visachiṁto* (101), *siddhāhiṁto* (150) ; Gen. sing. *pāvassa* (113), *ṇāṇissa* (102) ; Loc. sing. *ekke kāle* (260), *dhīre* (11), *viyogammi* (139), *kuṁḍamhi* (36), *vajjaggīe* (36), *aggi* being treated as a feminine noun. Something like the inheritance of Sanskrit dual can be suspected here: *biṇṇi vi asuhe jhāṇe* (477), *be sammatte* (310).

As to typical verbal forms, Present 1st p. sing. *samicchāmi* (324), *saṁthuve* (491)—2nd p. sing. *maṇṇase* (246) –3rd p. sing. *havei* (8), *hoi* (8), *hodi* (449) ; *kuṇadi* (14), *kuṇedi* (370), *kuvvadi* (17), *kuvvade* (185) ; *ṇassade* (241), *ṇassedi* (238), *ṇāsei* (73); *payāsadi, payāsade* (422), *payāsedi* (423); *pāvae* (370), *pāvade* (246) ; *bujjhade* (183), *maṇṇadi* (249), *saṁkadi* (323). Imperative 2nd p. sing. *jāṇa* (103), *muṇijjasu* (89); pl. *kuṇaha, lahaha* (22), *vajjeha* (297). Potential 3rd p. sing. *have* (19). Future 1st p. sing. *vocchaṁ* (1).

Some forms of the Passive base are: *kīradi* (320), *jāyadi* (40), *iāyade* (332), *ṇihappae* (36), *thuvvadi* (19), *bhiṁdijjai* (36), *saṁpajjaï* (5); *dijjaü*, *bhuṁjijjaü* (12). Of the causal base : *kārayadi* (332).

Some typical forms of the Present participle are: *khajjaṁtā* (41), *giṇhaṁto* (136), *khajjamāṇā* (42), *viraccamāṇa* (337), *miyamāṇa* (25). Very often the Past p. p. forms are corruptions of Sanskrit forms: *ṇāda* (321), *diṇṇa* (366), *bhūya* (27), *paḍida* (24), *paricatta* (262), *saṁtaṭṭha* (385). Potential participle : *bhaviyavva* (388), *muṇiyavva* (393). Of the Gerund the typical forms are : *uṭṭhittā* (374), *jāṇittā* (20), *suṇichaïttā* (297), *caïūṇaṁ* (255), *jāiūṇa* (373), *jāṇiūṇa* (3), *ṇīsaridūṇa* (40, 284), also *daṭṭhūṇa* (58); *cattā* (374), *kiccā* (356), *ṭhiccā* (355); *jāṇiya* (73), *toḍiya* (202), *lahiya* (300), *parivajjiya* (156).

The author is also in the habit of using *deśī* roots: *chaṁḍa* (29, 77), *jhāḍa* (378), *ḍhukka* (52), *toḍa* (202), *vaḍḍhāra* (17) etc.

The Sanskrit inheritance and influence loom large in the *Kattig.* not only in forms like *aṇṇai* (240), *uvavāsā* (439), *pāsuya* (305), *miccuṇā* (24), *miyamāṇaṁ* (25), *samaṇṇida* (328), etc., but also in expressions like *icceva-mādi* (414), *tadaṇaṁtaraṁ* (103), *puṇaravi* (47, 454), etc. There is at least one case of the use of dual as noted above. Some of the compound expressions have a positive ring of classical Sanskrit (404, 448 etc.).

Here and there some Apabhraṁśa tendencies are noted: the presence of *u* in *puṇu* (32, 424, 444) and in the Nom sing. forms *rayaṇu* (297), *laḍḍu* (351), both nouns in neuter gender; Instru. sing. in *ẽ* or *eṁ*, *uvasamabhāvẽ* (48), *dhammẽ* (320); Present 3rd p. pl. forms: *viralā ajjahi* (48 *v. l.*), *viralā nisuṇahiṃ*, *bhāvahiṁ* (279). Further words like *ubbhao* (355), *kema* (473), *vikkaṇaṃ* (347) are less frequent in Prākrit.[1]

If we study these details in the light of my observations on the Prākrit dialect of the *Pravacanasāra*, it is safer to call the dialect of *Kattig.* also Jaina Śaurasenī. As contrasted with the dialect of the *Pravacanasāra*, some points are conspicuous . i) the dialect of *Kattig.* shows more inclination towards dropping of intervocalic consonants (including *t* and *d*) and of changing the aspirates (including *dh*) into *h*; ii) the Sanskrit influence is more patent; iii) and some striking Apabhraṁśa forms are noticed here and there, in the *Kattigeyāṇuppekkhā*.

---

1) Two other forms *dehi* (19) *sādhehi* (16) noted by W. DENECKE (*Festgabe H. Jacobi*. Bonn 1926, p. 166) are not confirmed by our text. They have arisen from wrong reading of Devanāgarī–*di* as –*hi*.

5) ŚUBHACANDRA AND HIS COMMENTARY

a) DETAILS ABOUT ŚUBHACANDRA

Though nothing is known about the family life of Śubhacandra, the author of the Sanskrit Vṛtti on the *Kattigeyāṇuppekkhā*, he gives at the close of some of his works his hierarchical genealogy,[1] sometime in short and sometime in greater details. He belonged to Nandi-saṁgha, a sub-section of Mūla-saṁgha, and Balātkāra-gaṇa. The genealogy begins from Kundakunda of venerable antiquity and stands as below :

Kundakunda>Padmanandi> Sakalakīrti[2] > Bhuvanakīrti > Jñānabhūṣaṇa> Vijayakīrti>Śubhacandra.

Some of the predecessors of Śubhacandra were great writers of their times.

Kundakunda[3]: Traditionally Kundakunda is said to have composed 84 Pāhuḍas, but only about a dozen of his works have come down to us. Some of them like the *Pravacanasāra* and *Samayasāra* are pretty big works, while others like different Pāhuḍas are comparatively short treatises. All his works are in Prākrit (or specifically, Jaina Śaurasenī). He flourished about the beginning of the Christian era.

Padmanandi[4]: According to a Paṭṭāvali, this Padmanandi succeeded Prabhācandra on the pontifical seat at Delhi (Ajmer ?) and is roughly assigned to A. D. 1328–1393. He came from a Brahmin family, and is the author of the *Bhāvanā-paddhati*, a hymn of 34 verses in fluent Sanskrit[5], and the *Jīrāpalli-Pārśvanātha-stotra*[6]. He consecrated an image of Ādinatha in the year, Saṁ. 1450 (–57) A. D. 1393. It is his pupils that occupied further three seats of Bhaṭṭārakas at Delhi-Jaipur, at Īḍara and at Surat.

1) For an earlier discussion see my paper 'Śubhacandra and his Prakrit Grammar' in the *Annals* of the B. O. R. I. XIII, 1, pp. 37–58, Poona 1932.

2) It appears (see p. 204 of this edition) that the line really begins from Sakalakīrti.

3) A. N. UPADHYE: *Pravacanasāra*, Intro., Bombay 1935. JUGALKISHORE MUKTHAR: *Purātana-Jaina-Vākya-sucī*, Intro., pp. 12–18, Sarsawa 1950.

4) Lately a systematic study about these lines of Bhattārakas is presented by Prof. V. P. JOHARAPURKAR in his excellent work *Bhaṭṭāraka Sampradāya* (in Hindi), Sholapur 1958. For Padmanandi, see Nos. 233-37 and also pp. 93–95.

5) Published from a single Ms. in the *Anekānta*, vol. XI, pp. 257–59.

6) Half a dozen hymns of this name are noticed in the *Jinaratna-kośa* (Poona 1944) p. 141; the one attributed to Padmanandi is published from a single Ms. in the *Anekānta*, vol. IX, p. 246.

Sakalakīrti[1]: This Sakalakīrti, the pupil of Padmanandi, is credited with starting the Idara branch of the Balātkāra-gaṇa. He was initiated in the order of monks at the age of 25; and he moved about as a Digambara monk for about 22 years. A number of images and temples were consecrated by him, especially in North Gujarat, for which the available dates range from A. D. 1433 to 1442. He is a voluminous writer with a large number of works to his credit some of which are[2]: *Praśnottaropāsakācāra*, *Pārśvapurāṇa*, *Sukumāla-svāmi-caritra* or *Sukumāra-caritra*, *Mūlācāra-pradīpa*, *Śrīpāla-caritra*, *Yaśodhara-caritra*, *Tattvārthasāra-dīpaka*. He is described as *purāṇa-mukhyottama-śāstrakārī* and *mahākavitvādi-kalā-pravīṇaḥ*. Śubhacandra speaks about him in his *Pāṇḍava-purāṇa* thus :

कीर्तिः कृता येन च मर्त्यलोके शास्त्रार्थकर्त्री सकला पवित्रा।

Bhuvanakīrti: Sakalakīrti was succeeded by Bhuvanakīrti (Saṁ. 1508-1527) who is the author of a few Rāsas and who instructed the consecration of an image in A. D. 1470.

Jñānabhūṣaṇa[3]: Bhuvanakīrti's successor is Jñānabhūṣaṇa who consecrated images from Saṁ. 1534 to 1552, i. e., A. D. 1477 to 1495. Though the Bhaṭṭāraka seat was in the North and he belonged to Gujarat, he travelled widely, according to the Paṭṭāvali, on pilgrimage in different parts of India, and was honoured by Indrabhūpāla, Devarāya, Mudiliyāra, Rāmanātharāya, Bommarasarāya, Kalaparāya, Pāṇḍurāya etc. who seem to have been prominent Śrāvakas and local chiefs from the South. He is the author of *Tattvajñāna-taraṅgiṇī*, *Siddhāntasārabhāṣya* (both of these published), *Paramārthopadeśa*, *Neminirvāṇa-pañjikā* (?), *Pañcāstikāya-ṭīkā* (?) and some manuals on ritual.[4] There have been authors, more than one, bearing the name Jñānabhūṣaṇa; naturally the Mss. of these works will have to be duly inspected. From two inscriptions on images it is clear that he had vacated the seat of Bhaṭṭāraka in favour of Vijayakīrti as early as Saṁ. 1557, i. e., A. D. 1500. His *Tattvajñānataraṅgiṇī* was completed in A. D. 1503. A Ms. of the

---

1) V. P. JOHARAPURKAR: *Bhaṭṭāraka-saṁpradāya*, Nos.329-42, pp. 153 f.

2) BHANDARKAR'S *Report* 1883-84; PETERSON'S *Report* IV; NATHURAM PREMI: *Digambara-Jaina-Grantha-kartā aura unake grantha* (Bombay 1911) p. 30, *Jaina Hitaiṣī*, XII, p. 90; H. D. VELANKAR: *Jinaratnakośa* pp. 278, 246, 443, 313, 398, 320, 153 (for these various works). The Mss. of these works deserve to be scrutinised to see whether they are all of this Sakalakīrti or some of them of any other author of the same name.

3) NATHURAM PREMI: *Siddhāntasārādi-saṁgraha* (Bombay 1922) Intro. pp. 8f., also *Jaina Sāhitya aura Itihāsa* (Bombay 1956, 2nd ed.)pp. 378 f.; PARAMANANDA: *Anekānta* XIII, p. 119, V. P. JOHARAPURKAR: *Bhaṭṭāraka Saṁpradāya* Nos. 352-61, p. 154.

4) H. D. VELANKAR: *Jinaratnakośa* pp. 152, 440; Pt. PREMIJI seems to be aware of some Mss. of *Paramārthopadeśa*. The *J-kośa* does not note any, but instead it has *Paramārtha-viṁśati* (of Padmanandi) the Mss. of which deserve to be inspected.

Jñānārnava written in Saṁ. 1575, i. e., A. D. 1518 was given as a gift to him. So he was living in 1518 A. D. Being an elderly contemporary and predecessor, Śubhacandra refers to him in some of his works with respect.

Vijayakīrti : Jñānabhūṣaṇa was succeeded by Vijayakīrti for whom the available dates range from Saṁ. 1557–68, i. e., A. D. 1500–1511. According to the Paṭṭāvali he was expert in the *Gŏmmaṭasāra* and was honoured by Mallirāya[1], Bhairavarāya and Devendrarāya, local chiefs from Karnāṭaka.

Śubhacandra: Vijayakīrti was succeeded by Śubhacandra (Saṁ. 1573–1613, i. e., A. D. 1516–1556) who has really outdone his predecessors by his literary activities.[2] A Gurvāvalī is published in the *Jaina Siddhānta Bhāskara* I. IV (Arrah) in which a line of about 103 Teachers, beginning with Guptigupta and ending with Padmanandi, is glorified. Therein Śubhacandra is numbered as the 90th teacher and praised in brilliant terms. He was a Bhaṭṭāraka at Śākavāṭa (mod. Sāgawāḍā in Rajasthan), the pontifical seat of which was subsidiary to that of Īḍara. At present Sāgawāḍā has a few Jaina families and a pretty Pāṭhaśālā.

The extract from the Paṭṭāvali, which is reproduced below, testifies to Śubhacandra's wide learning and still wider activities. He had mastered many works on logic, grammar, metaphysics and rhetorics. He visited different parts of the country, had a good band of disciples, defeated in disputes many logicians and possessed an accurate knowledge of his own religion as well as that of others. The passage, interesting as it is for the mention of many works studied by Śubhacandra, runs thus:

"तत्पट्टप्रकटचतुर्विधसंघसमुद्रोल्लासनचन्द्राणां, प्रमाणपरीक्षा[3]-पत्रपरीक्षा[3]-पुष्पपरीक्षा[4]-परीक्षामुख[5]-प्रमाण-निर्णय[6]-न्यायमकरन्द[7]-न्यायकुमुदचन्द्रोदय[8]-न्यायविनिश्चयालंकार[9]-श्लोकवार्तिक[10]-राजवार्तिकालंकार[11]-प्रमेयक-मलमार्तण्ड[12]-आप्तमीमांसा[13]-अष्टसहस्री[14]-चिन्तामणिमीमांसाविवरण-वाचस्पतितत्त्वकौमुदीप्रमुखकर्कशतर्कजैनेन्द्र-

---

1) Perhaps identical with Saluva Malli Rāya, see my paper 'Jīvatattva-pradīpikā on Gommatasāra' in *Indian Culture* VII, 1, pp. 23f.

2) V. P. JOHARAPURKAR *Bhaṭṭāraka Sampradāya*, Nos. 367–75, pp. 155 f.

3) Of Vidyānanda.

4) Perhaps lost to us.

5) Of Māṇikyanandi.

6) Of Vādirāja.

7) Perhaps lost to us.

8) Of Prabhācandra, a com. on the *Laghīyastrayam* of Akalaṅka.

9) Of Vādirāja, a commentary on the *Nyāyaviniścaya* of Akalaṅka

10) Of Vidyānanda.

11) Of Akalanka.

12) Of Prabhācandra, a commentary on the *Parīkṣāmukha* above.

13) Of Samantabhadra.

14) Of Vidyānanda.

-शाकटायनेन्द्र-पाणिनि-कलाप-काव्यस्पष्टविशिष्टसुप्रतिष्ठाष्टसुलक्षण-विचक्षण-त्रैलोक्यसार[1]-गोम्मटसार[1]-लब्धिसार[1]-क्षपणसार[1]-त्रिलोकप्रज्ञप्ति[2]-सुविज्ञप्ति[3]-अध्यात्माष्टसहस्री[3]-छन्दोऽलंकारादिशास्त्रसरित्प्रतिपारप्राप्तानां, शुद्धचिद्रूपचिन्तनविनाशितनिद्राणां, सर्वदेशविहारावाप्तानेकभद्राणां, त्रिवेकविचारचातुर्यगाम्भीर्यधैर्यवीर्यगुणगणसमुद्राणां, उत्कृष्टपात्राणां, पालितानेकशश्छात्राणां, विहितानेकोत्तमपात्राणां सकलविद्वज्जनसभाशोभितगात्राणां, गौडवादितमःसूर्य-कलिङ्गवादि-जलदसदागति-कर्णाटवादिप्रथमवचनखण्डनसमर्थ-पूर्वत्रादिमत्तमातङ्गमृगेन्द्र तौलववादिविडम्बनावीर-गुर्जरवादिसिन्धुकुम्भोद्भव-मालववादिमस्तशूल-जितानेकखर्वगर्वत्राटनवज्राधाराणां ज्ञातसकलस्वसमयपरसमयशास्त्रार्थानां, अङ्गीकृतमहाव्रतानामभिनव-सार्थकनामधेय-श्रीशुभचन्द्राचार्याणाम् ॥"

Even after making concession for exaggeration, this list gives sufficient evidence for the wide learning and greatness (as a Bhaṭṭāraka) of Śubhacandra among his contemporaries.

b) His Various Works

Śubhacandra is a voluminous writer who has handled manifold subjects in his wide range of works. In his *Pāṇḍavapurāṇa*[4] (completed in Saṁ. 1608, i.e., 1551), he has given a list of his works composed before 1551 A. D. Of some 28 works mentioned by him, the following are the Purānas: 1 *Candraprabha-carita*, 2 *Padmanābha-carita*, 3 Pradyumna-carita, 4 *Jīvandhara-carita*, 5 *Candanā-kathā*, 6 *Nandīsvara-kathā* and 7 *Pāṇḍavapurāṇa*. Then his works on rituals are as below: 1 *Triṁsac-caturviṁsatipūjā*, 2 *Siddhārcanam*, 3 Sarasvatipujā, 4 Cintamani-pujā, 5 *Karma-dahana-vidhāna*, 6 *Gaṇadhara-valaya-vidhāna*, 7 *Palyopama-vidhāna*, 8 Caritra-śuddhi-vidhāna, 9 *Catustriṁsadadhika dvādasasata-vratodyāpana*, 10 Sarvatobhadra vidhāna. Then the following are the commentaries: *Pārsvanātha-kāvya-pañjikā-ṭīkā*, Āśādhara-puja vrttiḥ, 3 *Svarūpa-sambodhana vṛttiḥ*, 4 *Adhyātma-padya-ṭīkā*[5]. Then there are some polemic and philosophical works: 1 *Saṁsaya-vadana-vidāraṇa*, 2 Apaśabda-khanḍana, 3 Tattva-nirnaya, 4 Ṣaḍvada. Then there is the 1 *Aṅgapaṇṇatti*[6], a work in Prākrit giving the traditional survey of Jaina literature; 2 a Prakrit grammar called *Sabda-cintāmaṇi*; and some 3 Stotras: these may be put under a miscellaneous group. His literary activities continued even after 1551 A. D., as noted below.

1) Of Nemicandra.

2) Of Yati Visabha

3) Perhaps lost to us.

4) Ed. J. P. SHASTRI, Jivaraja J. Granthamala 3, Sholapur 1954. Those works of which Mss. are reported in the *Jinaratnakosa* (sometime with minor variation in the title) are put in Italics and references to its pages are noted here serially: *Jina-ratnakośa* pp. 120, 233, 264, 141. 118, 200 (or *Nāndiśvarī*, *Nandisvara-pūja-Jayamalā* ?) 243; 161, 436, 71, 102, 240-1, 117, 246, 458, 407, 2, 124.

5) Already published as *Paramādhyātma taranginī* in the Sanatana-Jaina-Grantha-mālā, Calcutta.

6) Already published in the *Siddhāntasārādisaṁgraha* noted above.

Śubhacandra gives a few incidental details about the composition of some of his works. He composed his Sanskrit commentary, the *Adhyātma-taraṅgiṇī*, on the verses in the commentary of Amṛtacandra on the *Samaya-sāra* on Aśvina Śu. 5, Saṁ. 1573 (– 57 =) A. D. 1516, being pressingly requested by Tribhuvanakīrti. On Bhādrapada 2, Saṁ. 1608 (– 57 =) A. D. 1551, he completed his *Pāṇḍavapurāṇa* at Śākavāṭa in Vāgvara (i. e., Bāgaḍa, corresponding roughly to Dungarpur and Banswada area in Rājasthān). In its composition and in preparing its first copy Śrīpāla Varṇi helped him. In Saṁ. 1611 (– 57 =) A. D. 1554 he completed his *Karakaṇḍa-carita* in Sanskrit. At the request of Kṣemacandra and Sumatikīrti especially of the latter (p. 204) who is often referred in the verses at the close of different sections, pp. 15, 43, 46, 49, 204, 212, 395–6, he finished his Sanskrit ṭīkā on the *Kārttikeyānuprekṣā* on Māgha śu. 10, Saṁ 1613 (– 57 =) A. D. 1556. Sumatikīrti is obviously his pontifical successor (Saṁ. 1622–25, i. e., 1565–68 A. D.). In some of its colophonic verses[1], he refers to (besides Kṣemacandra and Sumati– or Sanmati–kīrti and his predecessors in the pontifical line), directly or indirectly by *śleṣa*, Lakṣmīcandra, Vīracandra and Cidrūpa or Jñānabhūṣaṇa who were contemporary Bhaṭṭārakas at different places. Lakṣmīcandra was a pupil of Śubhacandra, and he expanded the commentary under the guidance of the latter.

It is quite likely that Śubhacandra wrote some works even after A. D. 1556, i. e., after his commentary on the *Kārttikeyānuprekṣā*. There are a few more works which are traditionally ascribed to him in different lists. Of these Samavasaraṇa-pūjā, Sahasranāma and Vimānaśuddhi-vidhāna come under ritualistic head; Samyaktva-kaumudī, Subhāṣitārṇava and Subhāṣita-ratnāvali under didactic head; while Tarkaśāstra is a work on logic. He has mentioned dates only in a few of his works. The *Adhyātma-taraṅgiṇī* was completed in 1516 A. D., the *Karakaṇḍacarita* in 1554 A. D and the *K.-Anuprekṣā-ṭīkā* in 1556 A. D. Thus Śubhacandra's literary activities extended over a period of more than forty years.

c) His Ṭīkā on the Kārttikeyānuprekṣā

i) Its General Nature

The Sanskrit commentary of Śubhacandra on the *Kattigeyāṇuppekkhā* is called Vṛtti or Ṭīkā. It is a voluminous exposition running over 7259 *granthāgras*, as calculated by one of the Mss. So far as the contents-aspect

1) May be that some of the verses which glorify Śubhacandra might have been added by these younger colleagues, see pp. 12, 15, 43, 46, 49, 204, 212.

is concerned, Śubhacandra has before him almost a definite text of which, it is his object to expound and elaborate the meaning, in its manifold ramifications. As a rule, he explains in Sanskrit the Prākrit text, very rarely with different readings in view (as on p. 245), giving detailed paraphrase in the form of questions and answers which are useful to bring out the grammatical relations in a sentence. Now and then he quotes parallel and elucidatory verses in Sanskrit, Prākrit and Apabhraṁśa in his commentary; and their bulk increases, almost beyond limit, whenever dogmatical exposition is elaborated. The commentary on the Dharma- and Loka-anuprekṣās is a good instance to the point. What is stated or even hinted in the text by Kumāra Śubhacandra elaborates not only by quoting verses or sūtras from works like the *Gömmaṭasāra*, *Tattvārtha-sūtra*, *Dravyasaṁgraha*, *Jñānārṇava* etc. but also by adding quite lengthy excerpts from their commentaries. These long passages, full of enumerations, classifications etc. are made almost a part and parcel of his commentary which becomes often mechanical and *para-puṣṭa*, i. e., swollen by the stuff from others. It is not unlikely that some of these passages were added later by Lakṣmīcandra who, under the *prasāda* of Śubhacandra, is said to have expanded this Vṛtti.[1] To a pious reader, however, this commentary is a blessing, because it brings together information from various sources.

ii) Its Striking Indebtedness to Others

The sources used by Śubhacandra are obvious to us from his quotations (which are duly listed by me, with their sources wherever they could be spotted[2], pp. 449-65) from the works, as well as authors, mentioned by him (pp. 469-70) and from discussions, the counterparts of which could be traced in earlier works. As far as I can detect, Śubhacandra has drawn major portions of extracts, sometime word to word, from the *Mūlācāra* of Vaṭṭakera with Vasunandi's[3] commentary (cf. vol. I, p. 285 with p. 333 f. here); *Bhagavatī Ārādhanā* with *Vijayodayā*[4] (cf. pp. 442-3 with pp. 336-7 f. here); *Sarvārtha-siddhi* of Pūjyapāda[5] (cf. pp. 92 139-40 etc. with pp 36, 82, etc. here)-*Gömmaṭasāra* with the commentary of Nemicandra[6] (cf. pp. 326-27, 332 f., and other contexts where the gāthās of *Gömmaṭasāra* are quoted, pp. 72. 75

1) See verse 11 on p. 396

2) Thanks are due to Pts. JINADAS SHASTRI and BALACHAND SHASTRI who helped me in spotting some Sanskrit quotations.

3) Ed. Bombay 1920.

4) Ed. Sholapur 1935

5) Ed. K. B. NITAVE, Kolhapur 1917.

6) Ed. Calcutta: Gāndhī-Haribhāi-Devakaraṇa-Jaina-Granthamālā, No. 4.

etc. here); *Ālāpapaddhati*[1] of Devasena (cf. pp. 162, 156 etc. with pp. 160, 173 etc. here); *Dravyasaṁgraha* with the Sanskrit com. of Brahmadeva (cf. the com. on gāthās 16, 18, 48, 57 etc. with pp. 140, 147, 361, also 383, 392); *Cāritrasāra*[2] of Cāmuṇḍarāya (cf. pp. 35, 59, 60 etc. with pp. 300, 330, 340 etc. here); Śrutasāgara's Sanskrit commentary on the *Tattvārtha-sūtra*[3] (cf. pp. 249, 285, 320, 312–13 etc. with pp. 241, 304–5, 386, 337–9 etc. here). It is quite likely that Śubhacandra has used many other texts like the *Karma-prakṛti*, *Trailokyasāra* etc. for his contents; and it is possible to study such contexts easily from the quotations which are separately listed, with or without the names of authors or works.

iii) Some Works and Authors mentioned by Śubhacandra

Some of the references of Śubhacandra to earlier authors and works need a little observation. Among the works mentioned by him, the *Karma-prakṛti* (p. 386) may be an unpublished text of that name.

The *Ārādhanāsāra* of Ravicandra[4] (pp. 234, 391) is not published, but half a dozen Mss. of it (one with a Kannaḍa commentary) are reported. It is a small text in Sanskrit. Another work *Gandharvārādhanā* is mentioned (p. 392). This is referred to by Brahmadeva in his Sanskrit commentary on the *Dravyasaṁgraha* (gāthā 57), and possibly this very source is being followed by Śubhacandra. But as yet no Ms. of it has come to light. The reference to *Nayacakra* (p. 200), a Sanskrit text, stands for the *Ālāpapaddhati*[5] of Devasena in which the sentence quoted is traced (p. 166).

1) Ed. Sanātana-Jaina-Granthamālā I, N. S. Press, Bombay 1905.

2) Ed. Bombay 1917.

3) In my paper 'Śubhacandra and his Prākrit grammar', *Annals* of the B. O. R. I., XIII, 1, p. 52, I could not be definite about the relative age of Śrutasāgara and Śubhacandra. It is obvious now that Śubhacandra is quoting from the commentary of Śrutasāgara· so the latter is an elderly contemporary of the former. It is clear from the details brought to light in the *Bhaṭṭāraka-Saṁpradāya* that Śrutasāgara was a pupil of Vidyānandi (A. D. A. D. 1442–1480) a *dharma-bhrātā* of Mallibhūṣana (A. D. 1487–1498) and was honoured by Lakṣmīcandra (A. D. 1499–1525) who were the Bhaṭṭārakas of the Surat branch. Major works of Śrutasāgara, especially the *Tattvārtha-vṛtti*, were ready by A. D. 1525, and naturally it could be drawn upon by Śubhacandra who completed his *K.-Anuprekṣā-ṭīkā* in 1556 A. D. On Śrutasāgara see BHANDARKAR: *Report* on search of Sk. Mss. 183-884; PETERESON. *Report* IV ; PREMI : *Jaina Sāhitya aura Itihāsa* (2nd ed., Bombay 1956) pp. 371–78 ; PARAMANAND : *Anekānta*, IX, p. 474 f.; V. P. JOHARAPURKAR : *Bhaṭṭāraka Saṁpradāya* (Sholapur 1958) pp. 195 ff.

4) For the Mss. of *Ārādhanā-samuccaya* of Muni Ravicandra see K. B. Shastri: *Kannaḍa-prāntīya Tāḍapatrīya Granthasūcī* (Banaras 1948), pp. 37–38, 207–8. While composing this work Ravicandra resided at Panasoge in Karnāṭaka.

5) Ed. Sanātana-Jaina-Granthamālā I, N. S. Press, Bombay 1905

The designation *ārṣa* (pp. 356, 361) is used for the *Mahāpurāṇa* of Jinasena-Guṇabhadra, *āgama* (p. 149) for the *Gŏmmaṭasāra,* and *sūtra* for the *Tattvārtha-sūtra.*

Some of the references show that Śubhacandra specifies the commentary or the commentator when, as a matter of fact, the quotation belongs to the basic text: Vasunandi's *Yatyācāra* for Vaṭṭakera's *Mūlācāra* (pp. 106, 309, 330), *Yatyācāra* and *Mūlācāra* being used as the names of the same text (pp. 333, 334, 341); *Aṣṭasahasrī* for *Āptamīmāṁsā* (pp. 119, 155, 162); and *Prameya-kamala-mārtaṇḍa* for *Parīkṣāmukha* (p. 179). As against this, though the *Tattvārtha-sūtra* is mentioned, the passages are taken really from the Vṛtti of Śrutasāgara (pp. 304–5, 389).

In one place, Śubhacandra appears to quote from the *Kalpa* (p. 308). A passage which could have been the source of it is found in the *Kalpasūtra*, Sāmācārīsūtra 17, 25 and runs thus:

वासावासं पज्जोसवियाणं नो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा हट्ठाणं तुट्ठाणं आरोग्गाणं बलियसरीराणं इमाओ णव रसविगईओ अभिक्खणं अभिक्खणं आहरित्तए, तं जहा–खीरं १ दहिं २ णवणीयं ३ सप्पिं ४ तेल्लं ५ गुडं ६ महुं ७ मज्जं ८ मंस ९ ॥ १७ ॥

वासावासं पज्जोसवियस्स भत्तपडियाइक्खियस्स भिक्खुस्स कप्पइ एगे उसिणवियडे पडिग्गाहित्तए, से वि य णं असित्थे णो चेव णंससित्थे, से वि य णं परिपूए णो चेव णं अपरिपूए, से वि य णं परिमिए णो चेव णं अपरिमिए, से वि य णं बहुसंपुण्णे णो चेव णं अबहुसंपुण्णे ॥ २५ ॥

If the source of the gāthās quoted in that discussion could be traced, it would be clear what other texts Śubhacandra had in view.

In the context of the discussion about *hiṁsā* in sacrifices, Śubhacandra quotes some *ṛcs* from the *Yajurveda* (p. 313). There are differences in readings and in the sequence of *ṛcs*; but there is no doubt that Śubhacandra has in view the *Śukla-Yajurveda-saṁhitā*[2], XXIV, 22, 27, 23, 20, 21; XXX, 11, 22, 5 etc. Some of the passages quoted here are found in earlier texts like the *Yaśastilaka-campū* of Somadeva.[3]

iv) Value of the Ṭīkā for K.-Anuprekṣā

Though the main object of the *K.-Anuprekṣā* was to expound the 12 Anuprekṣās, the way in which Kumāra built his text has made it a magnifi-

1) *Kalpasūtram*, Śrī-Jinadatta-prācīna-pustakoddhāra-phaṇḍa 42 (Bombay 1939), pp. 246, 250. I am very thankful to Muni Śrī PUNYAVIJAYAJI who kindly drew my attention to these passages.

1) N. S. Press, Bombay 1929, pp. 451–2, 520–23, etc.

2) K. K. HANDIQUI: *Yaśastilaka and Indian Culture* (Sholapur 1949) pp. 382 ff.

cient compendium of Jaina doctrines. The range of Jaina dogmatics covered by Kumāra is already outlined above. It was necessary for any commentator to elaborate all these details and more pointedly in a Sanskrit commentary because the original text is in Prākrit. Śubhacandra, it must be admitted, did rise to the occasion, drew upon various works on Jainism in Prākrit and Sanskrit, and made his exposition as exhaustive as possible. Besides the sources bodily reproduced by him in his Commentary, he quotes verses after verses from works like the *Śrāvakācāra* of Vasunandi and *Jñānārṇava* of Śubhacandra. A well-digested exposition of these topics would have been more welcome, but Śubhacandra, perhaps consciously, has made his commentary a source book of additional details, quite helpful in understanding the text of Kumāra. When Jayacandra wrote his Hindī Vacanika[1] mainly following Śubhacandra's Vṛtti, not only his Vacanikā became popular by the wealth of its contents but also went to a very great extent to earn more popularity for the work of Kumāra.

v) Śubhacandra as an Author and Religious Teacher

Śubhacandra was a Bhaṭṭāraka who, in his age, had specific duties such as i) consecrating (*pratiṣṭhāpana*) temples and images constructed by rich and pious laymen, ii) conducting rituals of various kinds, and lastly iii) guiding and instructing the laity in all social matters and religious knowledge. Śubhacandra is one of those few Bhaṭṭārakas who has left to posterity a large number of works on various subjects[2]. He is a zealous writer. There is more of popularity and profusion than profundity and compactness in his works. He is well-read. The works quoted by him in his commentary on the *K.-Anuprekṣā* show that he had covered by his study most of the important works of the Digambara school. He is out to produce useful expositions rather than well-digested and original compositions.

Śubhacandra's Sanskrit expression, particularly in this commentary, shows a good deal of looseness and popular elements, quite inevitable in the age in which he lived and pursued his literary activities. His early training might not have been rigorous, and some of the Bhaṭṭārakas of his age wrote

1) This is published in PANNALAL BAKALIVAL's ed. of *K.-Anuprekṣā* (Bombay 1904). Jayacandra is a voluminous Hindī commentator who has written Hindi Vacanikās on some 13 works. He was a resident of Jaipur. He completed his Vaccanika on the *K.-Anuprekṣā* in Sam 1863 (-57) A. D. 1806. His Vacanikas on the *Sarvārthasiddhi*, *Samayasāra* etc. are well-known (See *Jaina Hitaiṣī*, XIII, p. 22).

2) V. P. JOHARAPURKAR: *Bhaṭṭāraka Sampradāya*. Here is an useful study of the Bhaṭṭāraka institution.

not only in Sanskrit but also in New Indo-Aryan languages of their locality. In his vocabulary he freely draws some words from the New Indo-Aryan, with or without suitable phonetic variation : *udbhāsanaṁ* (pp. 257, 259), standing posture, **udbha* cf. Marāṭhī *ubhā*, in Prākrit *ubbhīkaya* rendered by *ūrdhvīkṛta*.— *corī* (p. 242), *corīṁ karoti*, cf. *corī* in Hindī, Marāṭhī, Sanskrit *caurikī*, *caurī*, theft, robbery.—*jhakaṭakah* (p. 250), Hindī *jhagaḍā*, Kannaḍa *j* (*h*)*agaḷu*.—*nību-phala*, cf. Hindī *nību*, Marāthī *limbu*, lemon fruit.—*pālaṇa* (p. 30), Mar. pāḷaṇā, H. *pālanā*, a cradle.—*pīsanī*, H. *pīsanā*, grinding.—*śaḍanaṁ* (*v. l. saḍanaṁ*, p. 49), cf. Hindī *saḍanā*.—*sera*, a seer (measure), the same in H. M. Guj. etc. Some of his Sanskrit renderings cannot be accepted : *ciṭṭhai* = *ceṣṭate* (p. 7), *muṇiya* = *munita* (p. 133), *palittaṁ*=*praliptam* (really from *pradīptam*, p. 25 : *agni-praliptam agninā parītaṁ vyāptam agni-jvalitam ityarthah*). Some of his words are not quite usual in classical Sanskrit: *grathila* (p. 120, Prākrit *gahila*), *jhaṁpana* (pp. 231, 317), *malayāṭa* (p. 226), *lavanima-guṇah* (p. 5), *vadhūṭikā* (p. 30), *vyasanikah* (p. 25) etc. The expression *kara-yoṭanaṁ* (p. 347) is apparently meaningless, but it can be easily understood, if we remember Hindi *hātha joḍanā*. Some of his favourite roots are *jhamp* to cover (p. 317) and *valbh* to eat (p. 332). He often uses *kurvate* for *kurute* (pp. 122, 125), *manvate* for *manute* (p. 11), *supyati* for *svapiti* (p. 10). Some liberty is taken with regard to gender : *padārtha* (p. 159) is neuter ; and *sampadā* (p. 7) stands for *sampad*. Some of these illustrations (which are only selective) indicate that the New Indo-Aryan phase was repeatedly affecting his Sanskrit expression.

Though Śubhacandra does not strike us as a consummate commentator giving us a perfect and polished performance, he does stand before us as a widely read religious teacher who wants to give as elaborate an exposition as possible. He wants to make his commentary a storehouse of details about various religious topics hinted or discussed in Kumāra's gāthās. Thus his zeal of a religious teacher is seen throughout this commentary.

It is the zeal of a religious teacher more than that of a man of letters in Śubhacandra that led him to compose a large number of works on rituals. As a Bhāṭṭāraka he had to cater to the needs of the contemporary Jaina society. Masses sought religious solace in elaborate rituals, and Bhaṭṭārakas helped them in this direction. Śubhacandra thus is only a popular author like Sakalakīrti ; and his works are more of an explanatory and popular character than profound and original contributions.

INDEX TO INTRODUCTION

In this Index are included the names of important Authors and of Works from which some substantial information is drawn or about which some details are given, besides some topics of discussion. Words are arranged according to English alphabets, and references are to the pages of the Introduction.

संस्कृत टीकासहित

कार्त्तिकेयानुप्रेक्षाकी

विषय सूची

श्रीवीतरागाय नमः-

स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा

श्री-शुभचन्द्र-विरचितया टीकया हिन्दी-अनुवादेन च सहिता

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

शुभचन्द्रं जिनं नत्वानन्तानन्तगुणार्णवम् ।
कार्त्तिकेयानुप्रेक्षायाष्टीकां वक्ष्ये शुभश्रिये ॥

अथ स्वामिकार्त्तिकेयो मुनीन्द्रोऽनुप्रेक्षा व्याख्यातुकामः मलगालनमङ्गावाप्तिलक्षणमाचष्टे-

तिहुवण-तिलयं देवं वंदित्ता तिहुवणिंद[1]-परिपुज्जं ।
वोच्छं[2] अणुपेहाओ[3] भविय-जणाणंद-जणणीओ ॥ १ ॥

[छाया-त्रिभुवनतिलकं देवं वन्दित्वा त्रिभुवनेन्द्रपरिपूज्यम् । वक्ष्ये अनुप्रेक्षाः भव्यजनानन्दजननीः ॥ वक्ष्ये प्ररूपयिष्यामि । काः । अनुप्रेक्षाः । अनु पुनः पुनः प्रेक्षणं चिन्तनं स्मरणमनित्यादिस्वरूपाणामित्यनुप्रेक्षा, निजनिजनामानुसारेण तत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा इत्यर्थः । ताः कथंभूताः । भव्यजनानन्दजननीः । भाविनी सिद्धिर्येषां ते भव्याः, ते च ते जनाश्च लोकास्तेषामानन्दा हर्षोऽनन्तसुखं तस्य जनन्यो मातरः, उत्पत्तिहेतुत्वात् । किं कृत्वा । वन्दित्वा नमस्कृत्य । कम् । देवम् । दीव्यति क्रीडति परमानन्दे इति देवः, अथवा दीव्यति कर्माणि जेतुमिच्छति, इति देवः, वा दीव्यति कोटिसूर्याधिकतेजसा द्योतत इति देवः अर्हन्, वा दीव्यति धर्मव्यवहारं विदधाति इति देवः, वा दीव्यति लोकालोकं गच्छति जानाति, ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्था इति वचनात्, इति देवः सिद्धपरमेष्ठी,

। श्रीवीतरागाय नमः ।

श्रीमद्वीरं जिनं नत्वा शुभचन्द्रेण व्याकृतम् । अनुप्रेक्षात्मकं शास्त्रं वक्ष्येऽहं राष्ट्रभाषया ॥

अनुप्रेक्षाओंका व्याख्यान करनेके इच्छुक स्वामीकार्त्तिकेय नामके मुनिवर पापोंके नाश करनेवाले और सुखकी प्राप्ति करानेवाले मङ्गलश्लोकको कहते हैं । **अर्थ**–तीन भुवनके तिलक और तीन भुवनके इन्द्रोंसे पूजनीय जिनेन्द्रदेवको नमस्कार करके भव्यजनोंको आनन्द देनेवाली अनुप्रेक्षाओंको कहूँगा ॥ **भावार्थ**–ग्रन्थकारने इस गाथाके पूर्वार्द्धमें इष्टदेवको नमस्कार करके उत्तरार्द्धमें ग्रन्थके वर्ण्य विषयका उल्लेख किया है । 'देव' शब्द 'दिव्' धातुसे बना है, और 'दिव्' धातुके 'क्रीडा करना' 'जयकी इच्छा करना' आदि अनेक अर्थ होते हैं । अतः जो परमसुखमें क्रीडा करता है, वह देव है । या जो कर्मोंको जीतनेकी इच्छा करता है, वह देव है । अथवा जो करोड़ों सूर्योंके तेजसे भी अधिक तेजसे दैदीप्यमान होता है, वह देव है, जैसे अर्हन्त परमेष्ठी । अथवा जो धर्मयुक्त व्यवहारका विधाता है, वह देव है । अथवा जो लोक और अलोकको जानता है, वह देव है, जैसे सिद्ध परमेष्ठी । अथवा जो अपने आत्म-

१ ब म स तिहुअणिंद । २ ब म वुच्छं । ३ ब अणुवेखाओ ।

वा दीव्यति स्तौति स्वचिद्रूपमिति देवः सूरिपाठकसाधुरूपस्तम्। कीदृक्षम्। त्रिभुवनतिलकं त्रिभुवने जगत्त्रये तिलकमिव तिलकः, जगच्छ्रेष्ठत्वात्। वा पुनरपि कीदृक्षम्। त्रिभुवनेन्द्रपरिपूज्यं त्रिभुवनस्येन्द्राः सुरेन्द्रधरणेन्द्रादयस्तैः परिपूज्यं परि समन्तात् पूज्यः अर्च्यस्तम्॥ १॥ अथ द्वादशानुप्रेक्षाणां नाममात्रोद्देशं गाथाद्वयेन दर्शयति–

अद्धुव[1] असरण भणिया संसारामेगमण्णमसुइत्तं।
आसव-संवर-णामा णिज्जर-लोयाणुपेहाओ[2]॥ २॥
इय जाणिऊण भावह[3] दुल्लह-धम्माणुभावणा णिच्चं।
मण-वयण-काय-सुद्धी एदा दस दो य भणिया हु[4]॥ ३॥

[छाया–अध्रुवमशरणं भणिताः संसारमेकमन्यमशुचित्वम्। आस्रवसंवरनामा निर्जरालोकानुप्रेक्षाः॥ इति ज्ञात्वा भावयत दुर्लभधर्मानुभावनाः नित्यम्। मनोवचनकायशुद्ध्या एताः दश द्वौ च भणिताः खलु॥] एता द्वादशानुप्रेक्षाः, उद्देशतः पदार्थानां नाममात्रेण कीर्तनमुद्देशः तस्मात्, तमाश्रित्य भणितं कथितं भावयत भो भव्या भावनाविषयीकुरुत। कया। मनोवचनकायशुद्ध्या। किं कृत्वा। इति प्रोच्यमानमनित्यादिस्वरूपं नित्यं सदैव ज्ञात्वा। इति किम्। अध्रुवं न ध्रुवं नित्यम् अध्रुवम् इति अनित्यानुप्रेक्षा। अनुप्रेक्षाशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। १। अशरणानुप्रेक्षा भणिता, न शरणम् अशरणम्, अथवा न विद्यते शरणं किमपि केषांचिज्जीवानामित्यशरणानुप्रेक्षा। २। संसारं संसरणम्, अथवा संसरन्ति पर्यटन्ति यस्मिन्निति संसारः, परिभ्रमणम्, पञ्चधा प्रोक्तः द्रव्यक्षेत्रकालभवभावभेदात्, संसारानुप्रेक्षा। ३। एकस्य आत्मनो भावः एकत्वम् एकत्वानुप्रेक्षा। ४। शरीरादेः अन्यस्य भावः अन्यत्वम् अन्यत्वानु-

स्वरूपका स्तवन करता है, वह देव है, जैसे आचार्य, उपाध्याय और साधु। जैसे उत्तमाङ्गपर लगाया जानेके कारण तिलक श्रेष्ठ समझा जाता है, वैसे ही संसारमें श्रेष्ठ होनेके कारण वह देव तीन भुवनके तिलक कहलाते हैं और तीन भुवनके इन्द्र उनकी पूजा करते हैं। उन देवको नमस्कार करके मैं अनुप्रेक्षाओंका कथन करूंगा। बार बार चिन्तन करनेको अनुप्रेक्षा कहते हैं। अर्थात् अपने अपने नामके अनुसार वस्तुके स्वरूपका विचार करना अनुप्रेक्षा है। जिन जीवोंको आगे सिद्धपदकी प्राप्ति होनेवाली है, उन्हें भव्य कहते हैं। अनुप्रेक्षाओंसे उन भव्यजनोंको अनन्तसुख प्राप्त होता है; अतः उन्हें आनन्दकी जननी अर्थात् माता कहा है॥ १॥ अब दो गाथाओंसे बारह अनुप्रेक्षाओंके नाम बतलाते हैं। **अर्थ**–अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, दुर्लभ और धर्म, ये बारह अनुप्रेक्षाएँ है। यहाँ इन्हें उद्देशमात्रसे कहा है। इन्हें जानकर शुद्धमन, शुद्धवचन और शुद्धकायसे सर्वदा भावो॥ **भावार्थ**–वस्तुके नाममात्र कहनेको उद्देश कहते हैं। यहाँ बारह अनुप्रेक्षाओंका उद्देशमात्र किया है। उन्हें जानकर शुद्ध मन, वचन, कायसे उनकी निरन्तर भावना करनी चाहिये। गाथामें आये अनुप्रेक्षा शब्दको अध्रुव आदि प्रत्येक भावनाके साथ लगाना चाहिये। संसारमें कुछ भी ध्रुव अर्थात् नित्य नहीं है, ऐसा चिन्तन करनेको अध्रुव या अनित्य अनुप्रेक्षा कहते हैं। संसारमें जीवका कोई भी शरण नहीं है, ऐसा चिन्तन करनेको अशरण अनुप्रेक्षा कहते हैं। जिसमें जीव संसरण-परिभ्रमण करते रहते हैं, उसे संसार कहते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, और भवके भेदसे वह संसार पाँच प्रकारका है। उसका चिन्तन करनेको संसार अनुप्रेक्षा कहते हैं। एक आत्माके भावको एकत्व कहते हैं। जीवके एकत्व-अकेलेपनके चिन्तन करनेको एकत्व अनुप्रेक्षा कहते

१ म अद्धुअ। २ ब °णुवेहाओ। ३ ब भावहु। ४ ल म स ग एदा उद्देसदो भणिया (म स भणियं)।

प्रेक्षा । ५ । न शुचिरपवित्रकायः अशुचिः तस्य भावः अशुचित्वम् अशुचित्वानुप्रेक्षा । ६ । आस्रवतीति आस्रव आस्रवानुप्रेक्षा । ७ । कर्मागमनं संवृणोति अभिनवकर्मणां प्रवेशं कर्तुं न ददातीति संवरः संवरनामानुप्रेक्षा । ८ । एकदेशेन कर्मणः निर्जरणं गलनं अधःपतनं शटनं निर्जरा निर्जरानुप्रेक्षा । ९ । लोक्यन्ते जीवादयः पदार्था यस्मिन्निति लोकः लोकानुप्रेक्षा । १० । दुःखेन बोधिर्लभ्यते दुर्लभः दुर्लभानुप्रेक्षा । ११ । उत्तमपदे धरतीति धर्मः, धर्मानुभावना धर्मस्यानुभवनम् अनुप्रेक्षणं धर्मानुभावना धर्मानुप्रेक्षा । १२ । एतासां स्वरूपं यथास्थानं निरूपयिष्यामः ॥ २-३ ॥

[१. अनित्यानुप्रेक्षा]

अथैकोनविंशतिगाथाभिरनित्यानुप्रेक्षां व्याख्याति—

[1]जं किंचि[2] वि उप्पण्णं तस्स विणासो हवेइ[3] णियमेण ।
परिणाम-सरूवेण वि[4] ण य किंचि[5] वि सासयं अत्थि ॥ ४ ॥

[छाया—यत् किंचिदपि उत्पन्नं तस्य विनाशः भवति नियमेन । परिणामस्वरूपेणापि न च किंचिदपि शाश्वतमस्ति ॥] यत् किमपि वस्तु उत्पन्नम् उत्पत्तिप्राप्तं जन्मप्राप्तमित्यर्थः, तस्यापि वस्तुनः विनाशः भङ्गः भवेत् नियमेन

हैं । शरीर आदि अन्य वस्तुओंके भावको अन्यत्व कहते हैं । आत्मासे शरीर आदि पृथक् चिन्तन करनेको अन्यत्व अनुप्रेक्षा कहते हैं । अशुचि-अपवित्र शरीरके भावको अशुचित्व कहते हैं । शरीरकी अपवित्रताका चिन्तन करना अशुचित्व अनुप्रेक्षा है । आनेको आस्रव कहते हैं । कर्मोंके आस्रवका चिन्तन करना आस्रव अनुप्रेक्षा है । आस्रवके रोकनेको संवर कहते हैं । उसका चिन्तन करना संवर अनुप्रेक्षा है । कर्मोंके एकदेश क्षय होनेको निर्जरा कहते हैं । उसका चिन्तन करना निर्जरा अनुप्रेक्षा है । जिसमें जीवादिक पदार्थ पाये जाते हैं, उसे लोक कहते हैं । उसका चिन्तन करना लोक अनुप्रेक्षा है । ज्ञानकी प्राप्ति बड़े कष्टसे होती है, अतः वह दुर्लभ है । उसका चिन्तन करना दुर्लभ अनुप्रेक्षा है । जो उत्तम स्थानमें धरता है, उसे धर्म कहते हैं । उसका चिन्तन करना धर्म अनुप्रेक्षा है । इनका विस्तृत स्वरूप आगे यथास्थान कहा जायेगा ॥ २–३ ॥ अब उन्नीस गाथाओंसे अनित्यानुप्रेक्षाका व्याख्यान करते हैं । **अर्थ—**जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है, उसका विनाश नियमसे होता है । पर्यायरूपसे कुछ भी नित्य नहीं है ॥ **भावार्थ—**जो कुछ भी वस्तु उत्पन्न हुई है, अर्थात् जिसका जन्म हुआ है, उसका विनाश नियमसे होता है। पर्यायरूपसे चाहे वह स्वभावपर्याय हो अथवा विभाव-पर्याय हो-कोई भी वस्तु नित्य नहीं है । गाथा में एक 'अपि' शब्द अधिक है । वह ग्रन्थकारके इस अभिप्रायको बतलाता है कि वस्तु द्रव्यत्व और गुणत्वकी अपेक्षासे कथञ्चित् नित्य है और पर्यायकी अपेक्षासे कथञ्चित् अनित्य है । सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य कुछ भी नहीं है । गाथाके पूर्वार्द्धसे ग्रन्थकारने उन्हीं वस्तुओंको अनित्य बतलाया है, जो उत्पन्न होती हैं, जिन्हें उत्पन्न होते और नष्ट होते हम दिन रात देखते हैं, और स्थूल बुद्धिवाले मनुष्य भी जिन्हें अनित्य समझते हैं । किन्तु उत्तरार्धसे वस्तु-मात्रको अनित्य बतलाया है । जिसका खुलासा इस प्रकार है—जैन दृष्टिसे प्रत्येक वस्तु-द्रव्य, गुण और पर्यायोंका एक समुदायमात्र है । गुण और पर्यायोंके समुदायसे अतिरिक्त वस्तु नामकी कोई पृथक् चीज

१ गाथारम्भे ब अद्धुवाणुवेक्खा । २ ब म स ग किंपि । ३ ग हवइ । ४ ब य । ५ ल म स ग किंपि ।

अवश्यम्, परिणामस्वरूपेणापि पर्यायस्वरूपेण स्वभावविभावपर्यायरूपेणापि किमपि वस्तु शाश्वतं ध्रुवं नित्यं न च अस्ति विद्यते । अधिकः अपिशब्दः आचार्यस्याभिप्रायान्तरं सूचयति, तेन द्रव्यत्वापेक्षया गुणत्वापेक्षया च वस्तुनः कथंचिन्नित्यत्वं पर्यायापेक्षया कथंचिदनित्यत्वमिति ॥ ४ ॥

नहीं है। यदि संसारकी किसी भी वस्तुकी बुद्धि और यंत्रोंके द्वारा परीक्षा की जाये तो उसमें गुण और पर्यायके सिवा कुछ भी प्रमाणित न हो सकेगा। अथवा यदि किसी वस्तुमेंसे उसके सब गुणों और पर्यायोंको अलग कर लिया जाये तो अन्तमें शून्य ही शेष रह जायेगा। किन्तु इसका आशय यह नहीं है कि गुण कोई जुदी चीज है, और पर्याय कोई जुदी चीज है, और दोनोंके मेलसे एक वस्तु तैयार होती है। यह सर्वदा ध्यानमें रखना चाहिये कि गुण और पर्यायकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। वस्तु एक अखण्ड पिण्ड है, बुद्धिभेदसे उसमें भेदकी प्रतीति होती है। किन्तु वास्तवमें वह भेद्य नहीं है। जैसे, सोनेमें पीलेपना एक गुण है और तिकोर, चौकोर, कटक, केयूर आदि उसकी पर्यायें हैं। सोना सर्वदा अपने गुण पीलेपना और किसी न किसी पर्यायसे विशिष्ट ही रहता है। सोनेसे उसके गुण और पर्यायको क्या किसीने कभी पृथक् देखा है? और क्या पीलेपना गुण और किसी भी पर्यायके विना कभी किसीने सोनेको देखा है? अतः पीतता आदि गुण और कटक आदि पर्यायोंसे भिन्न सोनेका कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है, और न सोनेसे भिन्न उन दोनोका ही कोई अस्तित्व है। अतः वस्तु गुण और पर्यायोंके एक अखण्ड पिण्डका ही नाम है। उसमेंसे गुण तो नित्य होते है और पर्याय अनित्य होती है। जैसे, सोनेमें पीलेपना सर्वदा रहता है, किन्तु उसकी पर्याय बदलती रहती हैं, कभी उसका कड़ा बनाया जाता है, कभी कड़ेको गलाकर अंगूठी बनाई जाती है। इसी प्रकार जीवमें ज्ञानादिक गुण सर्वदा रहते है, किन्तु उसकी पर्याय बदलती रहती है। कभी वह मनुष्य होता है, कभी तिर्यञ्च होता है और कभी कुछ और होता है। इस प्रकार जिन वस्तुओंको हम नित्य समझते हैं, वे भी सर्वथा नित्य नहीं हैं। सर्वथा नित्यका मतलब होता है उसमें किसी भी तरहका परिवर्तन न होना, सर्वदा ज्योंका त्यों कूटस्थ बने रहना। किन्तु संसारमें ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है जो सर्वदा ज्यो की त्यों एकरूप ही बनी रहे और उसमें कुछ भी फेरफार न हो। हमारी आँखोंसे दिखाई देनेवाली वस्तुओंमें प्रतिक्षण जो परिवर्तन हो रहा है, वह तो स्पष्ट ही है, किन्तु जिन वस्तुओंको हम इन चर्मचक्षुओंसे नहीं देख सकते, जैसे कि सिद्धपरमेष्ठी, उनमें भी परपदार्थोंके निमित्तसे तथा अगुरुलघु नामके गुणोंके कारण प्रतिसमय फेरफार होता रहता है। इस प्रतिक्षणकी परिवर्तनशीलताको दृष्टिमें रखकर ही बौद्धधर्ममें प्रत्येक वस्तुको क्षणिक माना गया है। किन्तु जैसे कोई वस्तु सर्वथा नित्य नहीं है, वैसे ही सर्वथा क्षणिक भी नहीं है। सर्वथा क्षणिकका मतलब होता है वस्तुका समूल नष्ट होजाना, उसका कोई भी अंश बाकी न बचना। जैसे, घड़ेके फूटने से ठीकरे होजाते हैं। यदि ये ठीकरे भी बाकी न बचे तो घड़ेको सर्वथा क्षणिक कहा जासकता है। किन्तु घड़ेका रूपान्तर ठीकरे होनेसे तो यही मानना पड़ता है कि घड़ा घड़ारूपसे अनित्य है, क्योंकि उसके ठीकरे होजानेपर घड़ेका अभाव होजाता है। किन्तु मिट्टीकी दृष्टिसे वह नित्य है, क्योंकि जिस मिट्टीसे वह बना है, वह मिट्टी घड़ेके साथ ही नष्ट नहीं होजाती। अतः प्रत्येक वस्तु द्रव्यदृष्टिसे नित्य है और पर्यायदृष्टिसे

जम्मं मरणेण समं संपज्जइ जोव्वणं[1] जरा-सहियं।
लच्छी विणास-सहिया इय सव्वं भंगुरं मुणह ॥ ५ ॥

[छाया-जन्म मरणेन समं संपद्यते यौवनं जरासहितम्। लक्ष्मीः विनाशसहिता इति सर्वं भङ्गुरं जानीहि ॥] इति अमुना उक्तप्रकारेण, सर्वं समस्तं वस्तु भङ्गुरम् अनित्यं जानीहि विद्धि त्वं, हे भव्य। इति किम्। जन्म उत्पत्तिः मरणेन समं मरणेन सहाविनाभावि संपद्यते जायते, यौवनं यौवनावस्था जरासहितं जरया वार्धक्येन सहितं युतम्, लक्ष्मीः विनाशसहिता भङ्गुरयुक्ता विपत्त्युपलक्षिता ॥ ५ ॥

अथिरं परियण-सयणं पुत्त-कलत्तं सुमित्त-लावण्णं।
गिह-गोहणाइ सव्वं णव-घण-विंदेण सारिच्छं ॥ ६ ॥

[छाया-अस्थिरं परिजनस्वजनं पुत्रकलत्रं सुमित्रलावण्यम्। गृहगोधनादि सर्वं नवघनवृन्देन सदृशम् ॥] अस्थिरं विनश्वरम्। किं तत्। परिजनः परिवारलोकः हस्तिघोटकपदातिप्रमुखः, स्वजनः स्वकीयबन्धुवर्गः उत्तमपुरुषश्च, पुत्र आत्मजः, कलत्रं दाराः, सुमित्राणि सुहृज्जनाः, लावण्यं शरीरस्य लावण्यगुणः, गृहगोधनादि गृहम् आवासहट्टापवरकादि गोधनानि गोकुलानि, आदिशब्दात् महिषीकरभखरप्रमुखाः। एतत् सर्वं समस्तं सदृशम्। केन। नवघनवृन्देन नूतनमेघसमूहेन ॥ ६ ॥

सुरधणु-तडिव्व चवला इंदिय-विसया सुभिच्च-वग्गा य।
दिट्ठ-पणट्ठा सव्वे तुरय-गया रहवरादी य ॥ ७ ॥

[छाया-सुरधनुस्तडिद्वत् चपलाः इन्द्रियविषयाः सुभृत्यवर्गाश्च। दृष्टप्रनष्टाः सर्वे तुरगगजाः रथवरादयश्च ॥] इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि, विषयाः स्पर्शादयः, सुभृत्यवर्गाः सुसेवकसमूहाः, च पुनः, चपलाः चञ्चलाः। किंवत्। सुरधनुस्तडिद्वत् यथा इन्द्रधनुः चञ्चलम्, तडिद्वत् यथा विद्युत् चञ्चला, च पुनः, तुरगगजरथवरादयः तुरगाः घोटकाः

अनित्य ॥ ४ ॥ **अर्थ**-जन्म मरणके साथ अनुबद्ध होता है, यौवन बुढ़ापेके साथ सम्बद्ध होता है और लक्ष्मी विनाशके साथ अनुबद्ध होती है। इस प्रकार सभी वस्तुओंको क्षणभङ्गुर जानो ॥ **भावार्थ**-प्रसिद्ध कहावत है कि जो जन्म लेता है वह अवश्य मरता है। आजतक कोई भी प्राणी ऐसा नहीं देखा गया जो जन्म लेकर अमर हुआ हो। अतः जीवन और मरणका साथ है। जीवन और मरणकी ही तरह जवानी और बुढ़ापेका भी साथ है। आज जो जवान है, कुछ दिनोंके बाद वह बूढ़ा होजाता है। सदा जवान कोई नहीं रहता। अतः जवानी जब आती है तो अकेली नहीं आती, उसके पीछे पीछे बुढ़ापा भी आता है। इसी प्रकार लक्ष्मी और विनाशका भी साथ है। आज जो धनी है, कल उसे ही निर्धन देखा जाता है। सदा धनवान कोई नहीं रहता। यदि ऐसा होता तो राजसिंहासनपर बैठनेवाले नरेशोंको पथका भिखारी न बनना पड़ता। अतः क्या जीवन, क्या यौवन और क्या लक्ष्मी, सभी वस्तुएँ नष्ट होनेवाली हैं ॥ ५ ॥ **अर्थ**-परिवार, बन्धु-बान्धव, पुत्र, स्त्री, भले मित्र, शरीरकी सुन्दरता, घर, गाय बैल वगैरह सभी वस्तुएँ नये मेघपटलके समान अस्थिर हैं। अर्थात् जैसे नये मेघोंका पटल क्षणभरमें इधर उधर उड़कर नष्ट होजाता है, वैसे ही कुटुम्ब वगैरह भी जीते जीकी माया है ॥ ६ ॥ **अर्थ**-इन्द्रियोंके विषय, भले नौकरोंका समूह तथा घोड़े, हाथी, उत्तम रथ वगैरह सभी वस्तुएँ इन्द्रधनुष और बिजलीकी तरह चञ्चल हैं, पहले दिखाई देते हैं, बाद

[1] ल म स ग जुव्वणं।

गजा दन्तिनः रथवराः स्यन्दनश्रेष्ठाः द्वन्द्वः त एवादिर्येषां ते तथोक्ताः, सर्वे समस्ताः दृष्टप्रणष्टाः पूर्वं दृष्टाः पश्चात्प्रणष्टाः यथा इन्द्रधनुर्विद्युत् ॥ ७ ॥

पंथे पहिय-जणाणं जह संजोओ हवेई खणमित्तं ।
वंधु-जणाणं च तहा संजोओ अद्धुओ होई ॥ ८ ॥

[छाया-पथि पथिकजनानां यथा संयोगः भवति क्षणमात्रम् । बन्धुजनानां च तथा संयोगः अध्रुवः भवति ॥] यथा उदाहरणोपन्यासे, पथि मार्गे पथिकजनानां मार्गप्राप्तपुरुषाणां संयोगः संश्लेषः क्षणमात्रं स्वल्पकालं भवेत्, तथा बन्धुजनानां पितृमातृपुत्रकलत्रमित्रादीना संयोगः संबन्धः अध्रुव अनित्यो भवति ॥ ८ ॥

अइलालिओ वि देहो ण्हाण-सुयंधेहिँ विविह-भक्खेहिं ।
खणमित्तेण वि विहडइ जल-भरिओ आम-घडओ व ॥ ९ ॥

[छाया-अतिलालितः अपि देहः स्नानसुगन्धैः विविधभक्षैः । क्षणमात्रेण अपि विघटते जलभृतः आमघटः इव ॥] देहः शरीरम् अतिलालितोऽपि अत्यर्थं लालितः पालितः । कैः । स्नानसुगन्धैः मज्जनसुगन्धद्रव्यैः । पुनः कैः । विविध-भक्षैः अनेकप्रकारभोजनपानादिभिः क्षणमात्रेण अतिस्वल्पकालेन विघटते विनाशमेति । क इव । यथा जलभृत आमघटः अपक्वघटः तथा देहः ॥ ९ ॥

जा सासया ण लच्छी चक्कहराणं पि पुण्णवंताणं ।
सा किं बंधेइ रइं इयर-जणाणं अपुण्णाणं ॥ १० ॥

[छाया-या शाश्वता न लक्ष्मीः चक्रधराणामपि पुण्यवताम् । सा किं बध्नाति रतिम् इतरजनानामपुण्यानाम् ॥] या चक्रधराणामपि चक्रवर्तिनामपि, [अपि-]शब्दात् अन्येषां नृपादीनां, लक्ष्मीः गजाश्वरथपदातिनिधानरत्नादि-संपदा शाश्वता न भवति । कथंभूतानाम् । पुण्यवतां प्रशस्तकर्मोदयप्राप्तानाम् । इतरजनानाम् अन्यपुंसां सा लक्ष्मीः रतिं प्रीतिं रागं बध्नाति कुरुते [किम् ।] अपि तु न । कीदृक्षाणाम् । अपुण्यानाम् अप्रशस्तकर्मोदयप्राप्तानाम् ॥ १० ॥

नष्ट होजाते हैं ॥ **भावार्थ**–जैसे आकाशमें इन्द्रधनुष और विजली पहले दिखाई देती है, पीछे तुरन्त ही नष्ट होजाती है, वैसे ही स्पर्शन आदि इन्द्रियोंके विषय, आज्ञाकारी सेवक तथा अन्य ठाठ-बाट चार दिनों का मेला है ॥ ७ ॥ **अर्थ**–जैसे मार्गमें पथिकजनोंका संग-साथ क्षणभरके लिये होजाता है, वैसे ही बन्धुजनोंका संयोग भी अस्थिर होता है ॥ **भावार्थ**–यह संसार एक मार्ग है, और उसमें भ्रमण करनेवाले सभी प्राणी उसके पथिक हैं। उसमें भ्रमण करते हुए किन्हीं प्राणियोंका परस्परमें साथ होजाता है, जिसे हम सम्बन्ध कहते हैं। उस सम्बन्धके बिछुड़नेपर सब अपने अपने मार्गसे चले जाते हैं। अतः कुटुम्बीजनोंका संयोग पथिकजनोंके संयोगके समान ही अस्थिर है ॥ ८ ॥ **अर्थ**–स्नान और सुगंधित द्रव्योसे तथा अनेक प्रकारके भोजनोंसे लालन-पालन करनेपर भी जलसे भरे हुए कच्चे घड़ेके समान यह शरीर क्षणमात्रमें ही नष्ट होजाता है ॥ **भावार्थ**–यह शरीर भी अस्थिर है। इसे कितना ही शृङ्गारित करो और पुष्ट करो, किन्तु अन्तमें एक दिन यह भी मिट्टीमें मिल जाता है ॥ ९ ॥ **अर्थ**–जो लक्ष्मी पुण्यशाली चक्रवर्तियोंके भी सदा नहीं रहती, वह भला पुण्यरहित अन्य साधारण जनोंसे प्रेम कैसे कर सकती है ? **भावार्थ**–चक्रवर्ती और 'अपि' शब्दसे अन्य राजागण बड़े पुण्यशाली होते हैं, किन्तु उनकी भी लक्ष्मी-हाथी, घोड़ा, रथ, प्यादे, कोष, रत्न, वगैरह सम्पदा स्थायी नहीं होती है। ऐसी दशामें जिन साधारण मनुष्योंके पुण्यका उदय ही नहीं है, उनसे वह चंचलालक्ष्मी

१ ब हवइ । २ ब हवेइ । ३ ब य । ४ ल म स ग रई । ५ ब विपुण्णाणं ।

कत्थ[1] वि ण रमइ लच्छी कुलीण-धीरे वि पंडिए सूरे ।
पुज्जे धम्मिट्ठे वि य सुवत्त-सुयणे[2] महासत्ते[3] ॥ ११ ॥

[छाया–कुत्रापि न रमते लक्ष्मीः कुलीनधीरे अपि पण्डिते शूरे । पूज्ये धर्मिष्ठे अपि च सुवृत्तसुजने महासत्त्वे ॥] **न रमते** न रतिं गच्छति । का । लक्ष्मीः संपदा । कुत्रापि कस्मिन्नपि पुरुषे । कीदृशे । कुलीनधीरे कुलीनः उत्तमकुलजातः धीरः अक्षोभ्यः कुलीनश्चासौ धीरश्च कुलीनधीरः तस्मिन्, अपि पुनः पण्डिते सकलशास्त्रज्ञे शूरे सुभटे पूज्ये जगन्मान्ये धर्मिष्ठे धर्मकार्यकरणकुशले सुरूँपस्वजने सुरूपे कामदेवादिरूपसहिते स्वजने परोपकारकरणचतुरपुरुषे महासत्त्वे महा-पराक्रमाक्रान्तपुरुषे ॥ ११ ॥

ता भुंजिज्जउ लच्छी दिज्जउ दाणे[4] दया-पहाणेण ।
जा जल-तरंग-चवला दो तिण्णि दिणाइं चिट्ठेइ[5] ॥ १२ ॥

[छाया–तावत् भुज्यतां लक्ष्मीः दीयतां दानं दयाप्रधानेन । या जलतरङ्गचपला द्वित्रिदिनानि तिष्ठति ॥] ता तावत्कालं भुज्यतां भोगविषयीक्रियताम् । का । लक्ष्मीः संपत् । दानं वितरणं त्यागं दीयतां विनीर्यताम् । केन । दयाप्रधानेन कृपापरत्वेन, या लक्ष्मीः द्वित्रिदिनानि द्वित्रिदिवसान चेष्टते तिष्ठति । कथंभूता । जलतरङ्गचपला सलिलकल्लोलवत् चञ्चला ॥ १२ ॥

जो पुण[6] लच्छिं[7] संचदि ण य भुंजदि णेय[8] देदि पत्तेसु ।
सो अप्पाणं वंचदि मणुयत्तं[9] णिप्फलं तस्स ॥ १३ ॥

[छाया–यः पुनर्लक्ष्मीं संचिनोति न च भुङ्क्ते नैव ददाति पात्रेषु । स आत्मानं वञ्चयति मनुजत्वं निष्फलं तस्य ॥]

कैसे प्रीति कर सकती है? सारांश यह है कि जब बड़े बड़े पुण्यशालियोंकी विभूति ही स्थिर नहीं है तब साधारण जनोंकी लक्ष्मीकी तो कथा ही क्या है? ॥ १० ॥ **अर्थ**–यह लक्ष्मी कुलीन, धैर्यशील, पण्डित, शूरवीर, पूज्य, धर्मात्मा, सुन्दर, सज्जन, पराक्रमी आदि किसी भी पुरुषमें अनुरक्त नहीं होती ॥ **भावार्थ**–यह लक्ष्मी गुणीजनोंसे भी अनुराग नहीं करती है। सम्भवतः गुणीजन ऐसा सोचें कि हम उत्तम कुलके हैं, धीरजवान हैं, समस्त शास्त्रोंके जाननेवाले हैं, बड़े शूरवीर हैं, संसार हमें पूजता है, हम बड़े धर्मात्मा हैं, हमारा रूप कामदेवके समान है, हम सदा दूसरोंका उपकार करनेमें तत्पर रहते हैं, बड़े पराक्रमी हैं, अतः हमारी लक्ष्मी सदा बनी रहेगी। हमारे पाण्डित्य, शूरवीरता, रूप और पराक्रम वगैरहसे प्रभावित होकर कोई उसे हमसे न छीनेगा। किन्तु ऐसा सोचना मूर्खता है; क्योंकि ऐसे पुरुषोंमें भी लक्ष्मीका अनुराग नहीं देखा जाता, वह उन्हें भी छोड़कर चली जाती है ॥ ११ ॥ **अर्थ**–यह लक्ष्मी पानीमें उठनेवाली लहरोंके समान चञ्चल है, दो तीन दिन तक ठहरनेवाली है। तब तक इसे भोगो और दयालु होकर दान दो ॥ **भावार्थ**–जैसे पानीकी लहरें आती और जाती हैं, वैसे ही इस लक्ष्मीकी भी दशा जाननी चाहिये। यह अधिक दिनों तक एक स्थानपर नहीं ठहरती है। अतः जबतक यह बनी हुई है, तब तक इसे खूब भोगो और अच्छे कामोंमें दान दो। यदि ऐसा नहीं करोगे तो यह यों ही नष्ट हो जायेगी। क्यों कि कहा है कि धनकी तीन गति होती हैं–दान दिया जाना, भोग होना और नष्ट होजाना। जो उसे न दूसरोंको देता है और न स्वयं भोगता है, उसके धनकी तीसरी गति होती है। अतः सम्पत्ति पाकर उसका उचित उपयोग करो ॥ १२ ॥ **अर्थ**–जो मनुष्य

१ **ब** कथ। वि। २ **ल म स ग** सुरूवसु०। ३ **ब** महानुत्त। ४ **ल म स ग** दाण। ५ **ब** दिणाण तिट्ठेइ। ६ **ब ल** पुणु। ७ **ब** लच्छीं, **ल ग** लच्छि, **म स** लच्छी। ८ **ब** णेव। ९ **ब** मणुयत्तण।

पुनः अथ च विशेषे, यः पुमान् संचिनोति संचयं करोति। काम्। लक्ष्मीम्। न च भुङ्क्ते न च भोगविषयीकरोति, पात्रेषु जघन्यमध्यमोत्तमपात्रेषु नैव ददाति न प्रयच्छति, स पुमान आत्मानं स्वजीवं वञ्चयति प्रतारयति, तस्य पुंसः मनुष्यत्वं निष्फलं वृथा भवेत् ॥ १३ ॥

जो संचिऊण लच्छिं[1] धरणियले संठवेदि अइदूरे।
सो पुरिसो तं लच्छिं पाहाण-समाणियं कुणदि ॥ १४ ॥

[छाया-यः संचित्य लक्ष्मीं धरणितले संस्थापयति अतिदूरे। स पुरुषः तां लक्ष्मीं पाषाणसमानिकां करोति ॥] यः पुमान् संस्थापयति मुञ्चति। क्व। अतिदूरे अत्यर्थमधःप्रदेशे, धरणीतले महीतले। काम्। लक्ष्मीं स्वर्णरत्नादि-संपदाम्। किं कृत्वा। संचयीकृत्य संग्रहं कृत्वा, स पुरुषः तां प्रसिद्धां निजां लक्ष्मीं पाषाणसदृशीं करोति विधत्ते ॥ १४ ॥

अणवरयं जो संचदि लच्छिं ण य देदि णेयं[2] भुंजेदि।
अप्पणिया वि य लच्छी पर-लच्छि-समाणिया तस्स ॥ १५ ॥

[छाया-अनवरतं यः संचिनोति लक्ष्मीं न च ददाति नैव भुङ्क्ते। आत्मीयापि च लक्ष्मीः परलक्ष्मीसमानिका तस्य ॥] यः पुमान् अनवरतं निरन्तरं संचिनोति संग्रहं कुरुते। काम्। लक्ष्मीं धनधान्यादिसंपदा, च पुनः, न ददाति न प्रयच्छति, नैव भुङ्क्ते भोगविषयीकुरुते, तस्य पुंसः आत्मीयापि च स्वकीयापि च लक्ष्मीः रमा परलक्ष्मीसमानिका अन्यपुरुषलक्ष्मीसदृशी ॥ १५ ॥

लक्ष्मीका केवल संचय करता है, न उसे भोगता है और न जघन्य, मध्यम अथवा उत्तम पात्रोंमें दान देता है, वह अपनी आत्माको ठगता है और उसका मनुष्यपर्यायमें जन्म लेना वृथा है ॥ **भावार्थ**-मनुष्यपर्याय केवल धनसञ्चय करनेके लिये नहीं है। अतः जो मनुष्य इस पर्यायको पाकर केवल धन एकत्र करनेमें ही लगा रहता है, न उसे भोगता है और न पात्रदानमें ही लगाता है, वह अपनेको ही ठगता है; क्योंकि वह धनसञ्चयको ही कल्याणकारी समझता है, और समझता है कि यह मेरे साथ रहेगा। किन्तु जीवनभर धनसञ्चय करके जब वह मरने लगता है तो देखता है कि उसके जीवनभर की कमाई यहीं पड़ी हुई है और वह उसे छोड़े जाता है तब वह पछताता है। यदि वह उस सञ्चित धनको अच्छे कामोंमें लगाता रहता तो उसके शुभ कर्म तो उसके साथ जाते। किन्तु उसने तो धनको ही सब कुछ समझकर उसीके कमानेमें अपना सारा जीवन गँवा दिया। अतः उसका मनुष्य-जन्म व्यर्थ ही गया ॥ १३ ॥ **अर्थ**-जो मनुष्य लक्ष्मीका सञ्चय करके पृथिवीके गहरे तलमें उसे गाड़ देता है, वह मनुष्य उस लक्ष्मीको पत्थरके समान कर देता है ॥ **भावार्थ**-प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य रक्षाके विचारसे धनको जमीनके नीचे गाड़ देते हैं। किन्तु ऐसा करके वे मनुष्य उस लक्ष्मीको पत्थरके समान बना देते हैं। क्यो कि जमीनके नीचे ईंट पत्थर वगैरह ही गाड़े जाते हैं ॥ १४ ॥ **अर्थ**-जो मनुष्य सदा लक्ष्मीका संचय करता रहता है, न उसे किसीको देता है और न स्वयं ही भोगता है। उस मनुष्यकी अपनी लक्ष्मी भी पराई लक्ष्मीके समान है ॥ **भावार्थ**-जैसे पराये धनको हम न किसी दूसरेको दे ही सकते हैं और न स्वयं भोग ही सकते हैं, वैसे ही जो अपने धनको भी न किसी दूसरेको देता है और न अपने ही लिये खर्च करता है, उसका अपना धन भी पराये धनके समान ही जानना चाहिये। वह तो उसका केवल रखवाला है ॥ १५ ॥

१ लच्छि इति पाठोऽनिश्चितः। २ ब णेव।

लच्छी-संसत्तमणो जो अप्पाणं धरेदि कट्ठेण ।
सो राइ-दाइयाणं कज्जं साहेदि[1] मूढप्पा ॥ १६ ॥

[छाया–लक्ष्मीसंसक्तमनाः यः आत्मानं धरति कष्टेन । स राजदायादीनां कार्यं साधयति मूढात्मा ॥] यः पुमान् लक्ष्मीसंसक्तमना लक्ष्म्यां संसक्तम् आसक्तं मनश्चित्तं यस्य स तथोक्तः, आत्मानं स्वप्राणिनं कष्टेन बहिर्गमनजलयानकृषिकरणसंग्रामप्रवेशनादिदुःखेन धरति बिभर्ति, स मूढात्मा अज्ञानी जीवः साधयति निष्पादयति । किम् । कार्यं कर्तव्यम् । केषाम् । राजदायादीनां राज्ञां भूपतीनां गोत्रिणां च ॥ १६ ॥

जो वड्ढारदि[2] लच्छिं बहु-विह-बुद्धीहिँ णेय तिप्पेदि[3] ।
सव्वारंभं कुव्वदि रत्ति-दिणं तं पि चिंतेई[4] ॥ १७ ॥
ण य भुंजदि वेलाए[5] चिंतावत्थो ण सुवदि[6] रयणीए ।
सो दासत्तं कुव्वदि विमोहिदो लच्छि-तरुणीएँ[7] ॥ १८ ॥[8]

[छाया–यः वर्धापयति लक्ष्मीं बहुविधबुद्धिभिः नैव तृप्यति । सर्वारम्भं कुरुते रात्रिदिनं तमपि चिन्तयति ॥ न च भुङ्क्ते वेलायां चिन्तावस्थः न स्वपिति रजन्याम् । स दासत्वं कुरुते विमोहितः लक्ष्मीतरुण्याः ॥] यः पुमान् वर्धापयति वृद्धिं नयति । काम् । लक्ष्मीं धनधान्यसंपदाम् । काभिः । बहुविधबुद्धिभिः अनेकप्रकारमतिभिः, नैव तृप्यति लक्ष्म्या तृप्तिं संतोषं न याति, सर्वारम्भं असिमषिकृषिवाणिज्यादिसमस्तव्यापारं कुरुते करोति रात्रिदिनं अहोरात्रं, तमपि सर्वारम्भं चिन्तयति स्मरयति, च पुनः, चिन्तावस्थः चिन्तातुरः सन् वेलायां भोजनकाले न भुङ्क्ते न

अर्थ–जो मनुष्य लक्ष्मीमें आसक्त होकर कष्टसे अपना जीवन बिताता है, वह मूढ़, राजा और अपने कुटुम्बियोंका काम साधता है ॥ **भावार्थ**–मनुष्य धन कमानेके लिये बड़े बड़े कष्ट उठाता है। परदेश गमन करता है, समुद्र-यात्रा करता है, कड़कड़ाती हुई धूपमें खेतमें काम करता है, लड़ाईमें लड़ने जाता है । इतने कष्टोंसे धन कमाकर भी जो अपने लिये उसे नहीं खर्चता, केवल जोड़ जोड़कर रखता है, वह मूर्ख, राजा और कुटुम्बियोंका काम बनाता है; क्योंकि मरनेके बाद उसके जोड़े हुए धनको या तो कुटुम्बी बाँट लेते हैं या लावारिस होनेपर राजा ले लेता है ॥ १६ ॥ **अर्थ**–जो पुरुष अनेक प्रकारकी चतुराईसे अपनी लक्ष्मीको बढ़ाता है, उससे तृप्त नहीं होता, असि, मषि, कृषि, वाणिज्य आदि सब आरम्भोंको करता है, रात-दिन उसीकी चिन्ता करता है, न समयपर भोजन करता है और न चिन्ताके कारणसे सोता है, वह मनुष्य लक्ष्मीरूपी तरुणीपर मोहित होकर उसकी दासता करता है ॥ **भावार्थ**–जिस मनुष्यको कोई तरुण स्त्री मोह लेती है, वह मनुष्य उसके इशारेपर नाचने लगता है । उसके लिये वह सब कुछ करनेको तैयार रहता है । रात-दिन उसे उसीका ध्यान रहता है, खाते, पीते, उठते, बैठते, सोते, जागते उसे उसीकी चिन्ता सताती रहती है, वह उसका खरीदा हुआ दास बन जाता है । इसी प्रकार जो मनुष्य लक्ष्मीके संचयमें ही दिन-रात लगा रहता है, उसके लिये अच्छे-बुरे सभी काम करता है, उसकी चिन्ताके कारण न खाता है और न सोता है, वह लक्ष्मीका दास है । उसके भाग्यमें लक्ष्मीकी दासता ही करना लिखा है,

१ ल साहेहि । २ ल ग वड्ढारय, म स वाड्डरइ । ३ ब तप्पेदि, म तेप्पेदि । ४ ल ग म चिंतवदि, स चंतवदि । ५ ब वेलाइ चिंता गच्छेण । ६ ब सुयदि, ल म ग सुअदि । ७ ब तरुणीइ । ८ कुछ प्रतियोंमें यहाँ युग्मम् या युगलम् शब्द मिलता है ।

वल्भते, रजन्यां रात्रौ न सुप्यति न निद्रां विदधाति, स पुमान् विमोहितः मूढत्वं गतः सन् करोति विदधाति। किम्। दासत्वं किंकरत्वम्। कस्याः। लक्ष्मीतरुण्याः रमारमायाः॥ १७-१८॥

जो वड्ढमाण-लच्छिं अणवरयं देदि[1] धम्म-कज्जेसु।
सो पंडिएहिँ[2] थुव्वदि तस्स वि सहला हवे[3] लच्छी॥ १९॥

[छाया-यः वर्धमानलक्ष्मीमनवरतं ददाति धर्मकार्येषु। स पण्डितैः स्तूयते तस्यापि सफला भवेत् लक्ष्मीः॥] स पुमान् स्तूयते स्तवनविषयीक्रियते। कैः। पण्डितैः पण्डा बुद्धिर्येषां ते पण्डितास्तैः विद्वज्जनैः, अपि पुनः, तस्य पुंसः लक्ष्मीः सफला सार्थका भवेत् जायेत। तस्य कस्य। यः अनवरतं निरन्तरं देदि ददाति प्रयच्छति। काम्। वर्धमानलक्ष्मीम् उदीयमानरमाम्। केषु। धर्मकार्येषु धर्मस्य पुण्यस्य कार्याणि प्रासादप्रतिमाप्रतिष्ठायात्राचतुर्विधदानपूजाप्रमुखानि तेषु॥ १९॥

एवं जो जाणित्ता विहलिय-लोयाण धम्म-जुत्ताणं।
णिरवेक्खो तं देदि[4] हु तस्स हवे जीवियं सहलं॥ २०॥

[छाया-एवं यः ज्ञात्वा विफलितलोकेभ्यः धर्मयुक्तेभ्यः। निरपेक्षः तां ददाति खलु तस्य भवेत् जीवितं सफलम्॥] तस्य पुंसः जीवितं जीवितव्यं सफलं सार्थकं भवेत् जायेत। तस्य कस्य। यः पुमान ददाति प्रयच्छति तां लक्ष्मीं धनधान्यादिसंपदाम्। कीदृक् सन। निरपेक्षः तत्कृतोपकारवाञ्छारहितः। केभ्यः। विफलितलोकेभ्यः निर्धनजनेभ्यः। किंभूतेभ्यः। धर्मयुक्तेभ्यः सम्यक्त्वव्रतादिवृषयुक्तेभ्यः। किं कृत्वा। एवं पूर्वोक्तमनित्यत्वं ज्ञात्वा अवगम्य॥ २०॥

मालिकी नहीं लिखी॥ १७-१८॥ **अर्थ**-जो मनुष्य अपनी बढ़ती हुई लक्ष्मीको सर्वदा धर्मके कामोंमें देता रहता है, उसकी लक्ष्मी सफल है और पण्डित जन भी उसकी प्रशंसा करते हैं॥ **भावार्थ**-पूजा, प्रतिष्ठा, यात्रा और चार प्रकारका दान आदि शुभ कार्योंमें लक्ष्मीका लगाना सफल है। अतः धनवानोंको धर्म और समाजके उपयोगी कार्योंमें अपनी बढ़ती हुई लक्ष्मीको लगाना चाहिये॥ १९॥ **अर्थ**-इस प्रकार लक्ष्मीको अनित्य जानकर जो उसे निर्धन धर्मात्मा व्यक्तियोंको देता है और बदलेमें उनसे किसी प्रत्युपकारकी वाञ्छा नहीं करता, उसीका जीवन सफल है॥ **भावार्थ**-ग्रन्थकारने इस गाथाके द्वारा उस उत्कृष्ट दानकी चर्चा की है, जिसकी वर्तमानमें अधिक आवश्यकता है। हमारे बहुतसे साधर्मी भाई आज गरीबी और बेकारीसे पीड़ित हैं। किन्तु उनकी ओर कोई आँख उठाकर भी नहीं देखता। धनी लोग नामके लिये हजारों रुपये व्यर्थ खर्च करदेते हैं, पदवियोंकी लालसासे अधिकारियोंको प्रसन्न करनेके लिये पैसेको पानीकी तरह बहाते हैं। आवश्यकता न होनेपर भी, मान कषायके वशीभूत होकर नये नये मन्दिरों और जिनबिम्बोंका निर्माण कराते हैं। किन्तु अपने ही पड़ोसमें बसनेवाले गरीब साधर्मियोंके प्रति सहानुभूतिके चार शब्द कहते हुए भी उन्हें सङ्कोच होता है। जो उदार धनिक वात्सल्यभावसे प्रेरित होकर, किसी प्रकारके स्वार्थके विना अपने दीन-हीन साधर्मी भाईयोंकी सहायता करते हैं, उनकी जीविकाका प्रबन्ध करते हैं, उनके बच्चोंकी शिक्षामें धन लगाते हैं, उनकी लड़कियोंके विवाहमें सहयोग देते हैं और कष्टमें उनकी बात पूँछते हैं, उन्हींका जीवन सफल है॥ २०॥

१ ल म स देहि। २ ल ग पंडियेहि। ३ ब हवइ। ४ ल म स ग देहि।

जल-बुब्बुय[1]-सारिच्छं धण-जोव्वण[2]-जीवियं पि पेच्छंता[3] ।
मण्णंति तो वि णिच्चं अइ-बलिओ मोह-माहप्पो ॥ २१ ॥

[छाया-जलबुद्बुदसदृशं धनयौवनजीवितमपि पश्यन्तः । मन्यन्ते तथापि नित्यमतिबलिष्ठं मोहमाहात्म्यम् ॥] तो वि तथापि मनुते जानन्ति । किम् । धनयौवनजीवितमपि नित्यं शाश्वतम् । कीदृक्षाः सन्तः । प्रेक्षमाणा अवलोकयन्तः । किम् । धनयौवनजीवितं जलबुद्बुदसदृशम् अम्भोगतबुद्बुदसमानम् । एतत्सर्वं अतिबलिष्ठम् अतिपराक्रमयुक्तं मोहमाहात्म्यं मोहनीयकर्मणः सामर्थ्यम् ॥ २१ ॥

चइऊण महामोहं विसए मुणिऊण[4] भंगुरे सव्वे ।
णिव्विसयं कुणह मणं जेण सुहं उत्तमं लहह ॥ २२ ॥

[छाया-त्यक्त्वा महामोहं विषयान् ज्ञात्वा भङ्गुरान् सर्वान् । निर्विषयं कुरुत मनः येन सुखमुत्तमं लभध्वे ॥] कुणह कुरुष्व त्वं विधेहि निर्विषयं विषयातीतम् । किम् । मनः चित्तं, येन मनोवशीकरणेन लभस्व प्राप्नुहि । किम् । उत्तमं सर्वोत्कृष्टं सुखं सिद्धसुखम् । किं कृत्वा । श्रुत्वा आकर्ण्य । कान् । सर्वान् समस्तान् विषयान् इन्द्रियगोचरान् भङ्गुरान् विनश्वरान् । पुनः किं कृत्वा । चइऊण त्यक्त्वा विहाय । कम् । महामोहं महान् समर्थः स चासौ मोहश्च ममत्वपरिणामः [तम्] । माहप्पं माहात्म्यम[5] ॥ २२ ॥

अर्थ—धन, यौवन और जीवनको जलके बुलबुलेके समान देखते हुए भी लोग उन्हें नित्य मानते हैं । मोहका माहात्म्य बड़ा बलवान् है ॥ **भावार्थ**—सब जानते हैं कि धन सदा नहीं रहता है, क्योंकि अपने जीवनमें सैकड़ों अमीरोंको गरीब होते हुए देखते हैं । सब जानते हैं, कि यौवन चार दिनकी चाँदनी है, क्योंकि जवानोंको बूढ़ा होते हुए देखते हैं । सब जानते हैं, कि जीवन क्षणभङ्गुर है, क्योंकि प्रतिदिन बहुतसे मनुष्योंको मरते देखते हैं । यह सब जानते और देखते हुए भी हमारी चेष्टाएँ बिल्कुल विपरीत देखी जाती हैं । इसका कारण यह है, कि धन वगैरहको अनित्य देखते हुए भी उन्हें हमने नित्य समझ रखा है । आँखोंसे देखते और मुखसे कहते हुए भी उनकी क्षणभङ्गुरता अभी हृदयमें नहीं समाई है । यह सब बलवान मोहकी महिमा है । उसीके कारण हम वस्तुकी ठीक ठीक स्थितिका अनुभव नहीं करते ॥ २१ ॥ **अर्थ**—हे भव्यजीवो; समस्त विषयोंको क्षणभङ्गुर जानकर महामोहको त्यागो और मनको विषयोंसे रहित करो, जिससे उत्तम सुख प्राप्त हो ॥ **भावार्थ**—अनित्यभावनाका वर्णन करके, उसका उपसंहार करते हुए आचार्य अनित्यभावनाका फल बतलानेके बहानेसे भव्यजीवोंको उपदेश करते हैं कि हे भव्यजीवो; अनित्य-अनुप्रेक्षाका यही फल है कि संसारके विषयोंको विनाशी जानकर उनके बारेमें जो मोह है, उसे त्यागो और अपने मनसे विषयोंकी अभिलाषाको दूर करो । जबतक मनमें विषयोंकी लालसा बनी हुई है, तबतक मोहका जाल नहीं टूट सकता । और जबतक मोहका जाल छिन्न-भिन्न नहीं होता, तबतक विषयोंका वास्तविक स्वरूप अंतःकरणमें नहीं समा सकता और जबतक यह सब नहीं होता तबतक सच्चा सुख प्राप्त नहीं होसकता । अतः यदि सच्चा सुख प्राप्त करना चाहते हो तो अनित्य-अनुप्रेक्षाका आश्रय लो ॥ २२ ॥ इति अनित्यानुप्रेक्षा ॥ १ ॥ अब नौ गाथाओंसे अशरणअनुप्रेक्षाका वर्णन करते हैं—

१ ब ल स बुव्वुय, म बुबुय, ग व्बुव्बुय । २ ल म स ग जुव्वण । ३ ब पिच्छंता । ४ ल म स ग मुणिऊण । ५ माहप्पं यह शब्द ऊपरकी गाथामें आया है ।

भट्टारक श्रीशुभचन्द्रदेव सुरासुरेन्द्रैः कृतसारसेव । विद्यादिदानिन् जय जीव नन्द युक्त्यागमादिकृतशास्त्रवृन्द ॥

इति श्रीस्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षायास्त्रिविद्यविद्याधरषड्भाषा-
कविचक्रवर्तिभट्टारकश्रीशुभचन्द्रविरचितटीकायाम्
अनित्यानुप्रेक्षायां प्रथमोऽधिकारः ॥ १ ॥

[२. अशरणानुप्रेक्षा]

अथाशरणानुप्रेक्षां गाथानवकेन विवृणोति-[1]

तत्थ भवे किं सरणं जत्थ सुरिंदाण दीसदे[2] विलओ ।
हरि-हर-बंभादीया कालेण य कवलिया जत्थ ॥ २३ ॥

[छाया-तत्र भवे किं शरणं यत्र सुरेन्द्राणां दृश्यते विलयः । हरिहरब्रह्मादिकाः कालेन च कवलिताः यत्र ॥] तत्र तस्मिन् भवे जन्मनि किं, किमित्याक्षेपे, शरणं आश्रयः । न किमपि । यत्र भवे दृश्यते अवलोक्यते । कः । विलयः विनाशः । केषाम् । सुरेन्द्राणां सुरपतीनाम्, च पुनः, यत्र भवे कालेन कृतान्तेन कवलिताः कवलीकृताः मरणं नीता इत्यर्थः । के । हरिहरब्रह्मादयः हरिः कृष्णः हर ईश्वरः ब्रह्मा विधाता द्वन्द्वः, त एवादिर्येषां तेऽमरनरेन्द्रादीनां ते तथोक्ताः ॥ २३ ॥

सीहस्स कमे पडिदं सारंगं जह ण रक्खदे को वि ।
तह मिच्चुणा य गहिदं[3] जीवं पि ण रक्खदे को वि ॥ २४ ॥

[छाया-सिंहस्य क्रमे पतितं सारङ्गं यथा न रक्षति कः अपि । तथा मृत्युना च गृहीतं जीवमपि न रक्षति कः अपि ॥] यथोदाहरणोपन्यासे, कोऽपि नरः सुरेन्द्रो वा न रक्षति न रक्षां विदधाति । कम् । सारङ्गं मृगम् । कीदृक्षम् । सिंहस्य पञ्चाननस्य क्रमे चरणाधःप्रदेशे पतितं प्राप्तम् । तथा कोऽपि सुरेन्द्रो वा नरेन्द्रो वा न रक्षति न पालयति । कम् । जीवं संसारिणं प्राणिनम् । अपिशब्द एवकारार्थेऽत्र । कीदृक्षं जीवम् । मृत्युना मरणेन गृहीतं स्वविषयीकृतम् ॥ २४ ॥

जइ देवो वि य रक्खदि[4] मंतो तंतो य खेत्तपालो[5] य ।
मियमाणं पि मणुस्सं तो मणुया अक्खया होंति ॥ २५ ॥

[छाया-यदि देवः अपि च रक्षति मन्त्रः तन्त्रः च क्षेत्रपालः च । म्रियमाणमपि मनुष्यं तत मनुजाः अक्षयाः भवन्ति ॥] यदि चेत् देवोऽपि, अपिशब्दात् इन्द्रधरणेन्द्रचक्रवर्त्यादिकः, रक्षति पालयति, च पुनः, मन्त्रः मृत्युंजयो

अर्थ—जिस संसारमें देवोंके स्वामी इन्द्रोंका विनाश देखा जाता है और जहाँ हरिहर, ब्रह्मा वगैरह तक कालके *ग्रास बन चुके हैं*, उस *संसारमें क्या शरण है?* **भावार्थ**—*प्राणी सोचता है, कि यह संसार* मेरा शरण है, इसमें रहकर मैं मृत्युसे बच सकता हूँ । किन्तु आचार्य कहते हैं, कि जिस संसारमें इन्द्र, हरिहर, ब्रह्मा जैसे शक्तिशाली देवतातक मृत्युके मुखसे नहीं बच सके, वहाँ कौन किसका शरण हो सकता है? ॥ २३ ॥ **अर्थ**—जैसे शेरके पंजेमें फँसे हुए हिरनको कोई भी नहीं बचा सकता, वैसे ही मृत्युके मुखमें पड़े हुए प्राणीको भी कोई नहीं बचा सकता ॥२४॥ **अर्थ**—यदि मरते हुए भी मनुष्यको देव, मंत्र, तंत्र और क्षेत्रपाल बचा सकते होते तो मनुष्य अमर होजाते ॥ **भावार्थ**—मनुष्य अपनी और

---

१ ब गाथाके आरभमें 'असरणाणुवेक्खा' । २ ल म स ग दीसये । ३ ल म ग गहियं । ४ ल म स ग रक्खइ । ५ ब खित्त°

मन्त्रः, तन्त्रम् औषधादिकम्, च पुनः, क्षेत्रपालः क्षेत्रप्रतिपालकः कोऽपि सुरः । कम् । मनुष्यं नरम् । अपिशब्दात् सुरमसुरं च । कीदृशम् । म्रियमाणं मरणावस्थां प्राप्तम् । तो तर्हि मनुष्याः नराः अक्षयाः क्षयरहिता मरणातीता अविनाशिनो भवन्ति ॥ २५ ॥

अइ-बलिओ वि रउद्दो मरण-विहीणो ण दीसदे[1] को वि ।
रक्खिज्जंतो वि सया रक्ख-पयारेहिँ विविहेहिं ॥ २६ ॥

[छाया–अतिबलिष्ठः अपि रौद्रः मरणविहीनः न दृश्यते कः अपि । रक्ष्यमाणः अपि सदा रक्षाप्रकारैः विविधैः ॥] कोऽपि नरः सुरो वा न दृश्यते न विलोक्यते । कीदृक्षः । मरणविहीनः मृत्युरहितः । कीदृक्षः । अतिबलिष्ठः शतबलसहस्रबललक्षबलकोटिबलादिशक्तियुक्तः । अपिशब्दात् न केवलं निर्बलः । रौद्रः भयानकः । पुनः कथंभूतः । सदा सर्वदा रक्ष्यमाणोऽपि, अपिशब्दात् अरक्ष्यमाणोऽपि । कैः । विविधैः अनेकैः रक्षाप्रकारैः प्रतिपालनभेदैः गजतुरगसुभटास्त्रप्रकारैः मन्त्रतन्त्रादिभिश्च ॥ २६ ॥

एवं पेच्छंतो[2] वि हु गह-भूय-पिसाय[3]-जोइणी-जक्खं ।
सरणं मण्णइ[4] मूढो सुगाढ-मिच्छत्त-भावादो ॥ २७ ॥

[छाया–एवं पश्यन्नपि खलु गृहभूतपिशाचयोगिनीयक्षम् । शरणं मन्यते मूढः सुगाढमिथ्यात्वभावात् ॥] मन्यते जानाति । कः । मूढ अज्ञानी मोही च । किम् । शरणं श्रियते आर्तिपीडितैनेति शरणम् । किम् । ग्रहभूतपिशाचयोगिनीयक्षं, ग्रहाः आदित्यसोममङ्गलबुधबृहस्पतिशुक्रशनिराहुकेतवः, भूता व्यन्तरदेवविशेषाः, पिशाचास्तथा योगिन्यः चण्डिकादयः, यक्षा मणिभद्रादयः, द्वन्द्वः तेषां समाहारः ग्रहभूतपिशाचयोगिनीयक्षम् । कुतः । सुगाढमिथ्यात्वभावात्, सुगाढम् अत्यर्थं मिथ्यात्वस्य परिणामात्, हु स्फुटम् । कीदृशः । एवं पूर्वोक्तमशरणं पश्यन्नपि प्रेक्षमाणोऽपि ॥ २७ ॥

अपने प्रियजनोंकी रक्षाके लिये देवी–देवताओंकी मनौती करते हैं । कोई महामृत्युञ्जय, आदि मंत्रोंका जप करवाते हैं । कोई टोटका करवाते हैं । कोई क्षेत्रपालको पूजते हैं । कोई राजाकी सेवा करते हैं । किन्तु ग्रन्थकार कहते हैं, कि उनकी ये सब चेष्टाएँ व्यर्थ हैं, क्योंकि इनमेंसे कोई भी उन्हें मृत्युके मुखसे नहीं बचा सकता । यदि ऐसा होता तो सब मनुष्य अमर होजाते, किसी न किसीके शरणमें जाकर सभी अपनी प्राणरक्षा कर लेते ॥ २५ ॥ **अर्थ–**अत्यन्त बलशाली, भयानक, और रक्षाके अनेक उपायोंसे सदा सुरक्षित होते हुए भी कोई ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता, जिसका मरण न होता हो ॥ **भावार्थ–**कोई कितना ही बलशाली हो, कितना ही भयानक हो, और सदा अपनी रक्षाके लिये हाथी, घोड़े, तीर, तलवार, मंत्र, तंत्र आदि कितने ही रक्षाके उपायोंसे सुसज्जित रहता हो, किन्तु मृत्युसे बचते हुए किसीको नहीं देखा ॥ २६ ॥ **अर्थ–**ऐसा देखते हुए भी मूढ़ जीव प्रबल मिथ्यात्वके प्रभावसे ग्रह, भूत, पिशाच, योगिनी और यक्षको शरण मानता है ॥ **भावार्थ–**मनुष्य देखता है, कि संसारमें कोई शरण नहीं है, एक दिन सभीको मृत्युके मुखमें जाना पड़ता है, इस विपत्तिसे उसे कोई भी नहीं बचा सकता । फिर भी उसकी आत्मामें मिथ्यात्वका ऐसा प्रबल उदय है, कि उसके प्रभावसे वह अरिष्ट निवारणके लिये ज्योतिषियोंके चक्करमें फँस जाता है, और सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु, और केतु नामके ग्रहोंको तथा भूत, पिशाच, चण्डिका

---

१ ल म स ग दीसए । २ ब पिच्छंतो । ३ स भूइपिसाइ । ४ ग मन्नइ ।

आउ-क्खएण मरणं आउं दाउं ण सक्कदे को वि ।
तम्हा देविंदो वि य मरणाउ ण रक्खदे को वि ॥ २८ ॥

[छाया-आयुःक्षयेण मरणम् आयुः दातुं न शक्नोति कः अपि । तस्मात् देवेन्द्रः अपि च मरणात् न रक्षति कः अपि ॥] यस्मादित्यध्याहार्यम् । आयुःक्षयेण आयुष्कर्मणः क्षयेण विनाशेन मरणं पञ्चत्वं भवेत् । कोऽपि इन्द्रो वा नरेन्द्रो वा आयुः जीवितव्यं दातुं वितरितुं न शक्नोति समर्थो न भवति । तस्मात्कारणात्, अपि च विशेषे, कोऽपि देवेन्द्रः सुरपतिर्वा मरणात् मृत्योः न रक्षति नावति ॥ २८ ॥

अप्पाणं पि[1] चवंतं[2] जइ सक्कदि रक्खिदुं[3] सुरिंदो वि ।
तो किं छंडदि[4] सग्गं सव्वुत्तम-भोय-संजुत्तं ॥ २९ ॥

[छाया-आत्मानमपि च्यवन्तं यदि शक्नोति रक्षितुं सुरेन्द्रः अपि । तत् किं त्यजति स्वर्गं सर्वोत्तमभोग-संयुक्तम् ॥] अपि च पुनः[5], यदि चेत् सुरेन्द्रोऽपि देवलोकपतिः न केवलमन्यः, आत्मानमपि, अपिशब्दात् अन्यमपि[6] च्यवन्तं स्वर्गादिपतितं, रक्षितुं पालयितुं शक्तः समर्थो भवति, तो तर्हि स्वर्गं देवलोकम् इन्द्रः किं कथं त्यजति मुञ्चति । कीदृक्षं तम् । सर्वोत्तमभोगसंयुक्तं सर्वोत्कृष्टाभोग्यदेवीविमानवैक्रियादिसमुद्भवास्तैः संयुक्तं सहितम् ॥ २९ ॥

वगैरह व्यन्तरोंको शरण मानकर उनकी आराधना करता है ॥ २७ ॥ **अर्थ**–आयुके क्षयसे मरण होता है, और आयु देनेके लिये कोई भी समर्थ नहीं है। अतः देवोंका स्वामी इन्द्र भी मरणसे नहीं बचा सकता है ॥ **भावार्थ**–अभीतक ग्रन्थकार यही कहते आये थे, कि मरणसे कोई नहीं बचा सकता। किन्तु उसका वास्तविक कारण उन्होंने नहीं बतलाया था। यहाँ उन्होंने उसका कारण बतलाया है। उनका कहना है, कि आयुकर्मके समाप्त होजानेसे ही मरण होता है, जबतक आयुकर्म बाकी है, तबतक कोई किसीको मार नहीं सकता। अतः प्राणीका जीवन आयुकर्मके आधीन है। किन्तु आयुका दान करनेकी शक्ति किसीमें भी नहीं है; क्योंकि उसका बन्ध तो पहले भवमें स्वयं जीव ही करता है। पहले भवमें जिस गतिकी जितनी आयु बँध जाती है, आगामी भवमें उस गतिमें जन्म लेकर जीव उतने ही समयतक ठहरा रहता है। बँधी हुई आयुमें घट-बढ़ उसी भवमें हो सकती है, जिस भवमें वह बाँधी गई है। नया जन्म ले लेनेके बाद वह बढ़ तो सकती ही नहीं, घट जरूर सकती है। किन्तु घटना भी मनुष्य और तिर्यञ्चगति में ही संभव है, क्योंकि इन दोनों गतियोंमें अकालमरण हो सकता है। किन्तु देवगति और नरकगतिमें अकालमरण भी नहीं होसकता, अतः यहाँ आयु घट भी नहीं सकती। शङ्का–यदि आयु बढ़ नहीं सकती तो मनुष्योंका मृत्युके भयसे औषधी सेवन करना भी व्यर्थ है। समाधान-ऊपर बतलाया गया है, कि मनुष्यगतिमें अकाल-मरण हो सकता है। अतः औषधीका सेवन आयुको बढ़ानेके लिये नहीं किया जाता, किन्तु होसकने-वाले अकालमरणको रोकनेके लिये किया जाता है। अतः मृत्युसे कोई भी नहीं बचा सकता ॥ २८ ॥ **अर्थ**–यदि देवोंका स्वामी इन्द्र मरणसे अपनी भी रक्षा करनेमें समर्थ होता तो सबसे उत्तम भोगसा-मग्रीसे युक्त स्वर्गको क्यों छोड़ता ? **भावार्थ**–दूसरोंको मृत्युसे बचानेकी तो बात ही दूर है। किन्तु

१ ल ग च। २ ब चवंतो। ३ ब रक्खियं, ग रक्खिदो। ४ ग छंडिदि। ५ ल अपि न पुनः। ६ ल अन्यत्र किमपि च्यवन्तं।

दंसण-णाण-चरित्तं सरणं सेवेह[1] परम-सद्धाए ।
अण्णं किं पि ण सरणं संसारे संसरंताणं ॥ ३० ॥

[छाया-दर्शनज्ञानचारित्रं शरणं सेवध्वं परमश्रद्धया । अन्यत् किमपि न शरणं संसारे संसरताम् ॥] हे भव्य इत्यध्याहार्यम्, परमश्रद्धया सर्वोत्कृष्टपरिणामेन सेवस्व भजस्व । किम् । दर्शनज्ञानचारित्रं शरणं व्यवहारनिश्चय-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रं शरणं, संसारे भवे संसरतां भ्रमतां जीवानाम् अन्यत् किमपि न शरणम् आश्रयः ॥ ३० ॥

अप्पा णं पि य सरणं खमादि-भावेहिँ परिणदो[2] होदि ।
तिव्व-कसायाविट्ठो अप्पाणं हणदि अप्पेण ॥ ३१ ॥[3]

[छाया-आत्मा ननु अपि च शरणं क्षमादिभावैः परिणतः भवति । तीव्रकषायाविष्टः आत्मानं हन्ति आत्मना ॥] भवति क्षमादिभावैः उत्तमक्षमादिस्वभावैः परिणतम् एकत्वभावं गतम् आत्मानं स्वस्वरूपम्, अपि एवकारार्थे, संशरणम् आश्रयः । च पुनः, तीव्रकषायाविष्ट तीव्रकषाया अनन्तानुबन्धिक्रोधादयः तैराविष्टः युक्तः हन्ति हिनस्ति । कम् आत्मानं [4]स्वस्वरूपम् । केन । आत्मना स्वस्वरूपेण ॥ ३१ ॥

स जयतु शुभचन्द्रश्चन्द्रवत्सत्कलापः स्वमतसुमतिकीर्तिः सन्मतिः सत्पदो यः ।
प्रतपतु तपनार्तेस्तापकः स्वात्मवेत्ता हरतु भवसमुत्थां वेदनां वेदनाढ्यः ॥

इति श्रीस्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षायास्त्रिविद्यविद्याधरषड्भाषाकवि-
चक्रवर्तिभट्टारकश्रीशुभचन्द्रदेवविरचितटीकायाम्
अशरणानुप्रेक्षायां द्वितीयोऽधिकारः ॥ २ ॥

इन्द्र अपनेको भी मृत्युसे नहीं बचा सकता । यदि वह ऐसा कर सकता तो कभी भी उस स्थानको न छोड़ता, जहाँ संसारके उत्तमसे उत्तम सुख भोगनेको मिलते हैं, जिन्हें प्राप्त करनेके लिये संसारके प्राणी लालायित रहते हैं ॥ २९ ॥ **अर्थ**–हे भव्य, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र शरण हैं । परम श्रद्धाके साथ उन्हींका सेवन कर । संसारमें भ्रमण करते हुए जीवोंको उनके सिवाय अन्य कुछ भी शरण नहीं है । **भावार्थ**-संसारकी अशरणताका चित्रण करके ग्रन्थकार कहते हैं, कि संसारमें यदि कोई शरण हैं तो व्यवहार और निश्चयरूप सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है । अतः प्रत्येक भव्यको उन्हींका सेवन करना चाहिये । जीव, अजीव आदि तत्त्वोंका श्रद्धान करना व्यवहार-सम्यक्त्व है, और व्यवहारसम्यक्त्वके द्वारा साधने योग्य वीतरागसम्यक्त्वको निश्चयसम्यक्त्व कहते हैं । आत्माके और परपदार्थोंके संशय, विपर्यय और अनध्यवसायसे रहित ज्ञानको व्यवहार-सम्यग्ज्ञान कहते हैं, और अपने स्वरूपके निर्विकल्प रूपसे जाननेको अर्थात् निर्विकल्पस्व संवेदन-ज्ञानको निश्चयज्ञान कहते हैं । अशुभ कार्योंसे निवृत्त होना और शुभकार्योंमें प्रवृत्त होना व्यवहार सम्यक्चारित्र है, और संसारके कारणोंको नष्ट करनेके लिये ज्ञानीके बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग क्रियाओंके रोकनेको निश्चयचारित्र कहते हैं ॥ ३० ॥ **अर्थ**–आत्माको उत्तम क्षमा आदि भावोंसे युक्त करना भी शरण है । जिसकी कषाय तीव्र होती है, वह स्वयं अपना ही घात करता है ॥ **भावार्थ**–संसारके मूढ़ प्राणी शरीरको ही आत्मा समझकर उसकी रक्षाके लिये शरणकी खोजमें भटकते फिरते हैं । किन्तु

---

१ ल म स ग सेवेहि । २ ल स ग परिणदं । ३ म गाथाके अन्तमें 'असरणाणुप्रेक्षा ॥ २ ॥' ४ ल स्वरूपम् ।

[३. संसारानुप्रेक्षा]

अथ संसारानुप्रेक्षां गाथाद्वयेन भावयति-

एक्कं चयदि सरीरं अण्णं गिण्हेदि णव-णवं जीवो ।
पुणु पुणु अण्णं अण्णं गिण्हदि मुंचेदि[१] बहु-वारं ॥ ३२ ॥
एवं जं संसरणं णाणा-देहेसु होदि[२] जीवस्स ।
सो संसारो भण्णदि मिच्छ-कसाएहिँ जुत्तस्स ॥ ३३ ॥

[छाया-एकं त्यजति शरीरमन्यत् गृह्णाति नवनवं जीवः । पुनः पुनः अन्यत् अन्यत् गृह्णाति मुञ्चति बहुवारम् ॥ एवं यत्संसरणं नानादेहेषु भवति जीवस्य । स संसारः भण्यते मिथ्याकषायैः युक्तस्य ॥] एवं पूर्वोक्तगाथाप्रकारेण, नानादेहेषु एकेन्द्रियाद्यनेकशरीरेषु जीवस्य आत्मनः यत्संसरणं परिभ्रमणं स प्रसिद्धः संसारो भवो भण्यते

आत्मा शरीरसे पृथक् वस्तु है। वह अजर और अमर है। शरीरके उत्पन्न होनेपर न वह उत्पन्न होता है और न शरीरके छूटनेपर नष्ट होता है। अतः उसके विनाशके भयसे शरणकी खोजमें भटकते फिरना और अपनेको अशरण समझकर घबराना अज्ञानता है। वास्तवमें आत्मा स्वयं ही अपना रक्षक है, और स्वयं ही अपना घातक है; क्योंकि जब हम काम क्रोध आदिके वशमें होकर दूसरोंको हानि पहुँचानेपर उतारू होते हैं, तो पहले अपनी ही हानि करते हैं; क्योंकि काम क्रोध आदि हमारी सुख और शान्तिको नष्ट कर देते हैं, तथा हमारी बुद्धिको भ्रष्ट करके हमसे ऐसे ऐसे दुष्कर्म करा डालते हैं, जिनका हमें बुरा फल भोगना पड़ता है। अतः आत्मा स्वयं ही अपना घातक है। तथा यदि हम काम क्रोध आदिको वशमें करके, उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य आदि सद्गुणोंको अपनाते हैं और अपने अन्दर कोई ऐसा विकार उत्पन्न नहीं होने देते, जो हमारी सुख-शान्तिको नष्ट करता हो, तथा हमारी बुद्धिको भ्रष्ट करके हमसे दुष्कर्म करवा डालता हो, तो हम स्वयं ही अपने रक्षक हैं। क्योंकि वैसा करनेसे हम अपनेको दुर्गतिके दुःखोंसे बचाते हैं और अपनी आत्माकी उन्नतिमें सहायक होते हैं। यह स्मरण रखना चाहिये, कि आत्माका दुर्गुणोंसे लिप्त होजाना ही उसका घात है और उसमें सद्गुणोंका विकास होना ही उसकी रक्षा है; क्योंकि आत्मा एक ऐसी वस्तु है जो न कभी मरता है और न जन्म लेता है। अतः उसके मरणकी चिन्ता ही व्यर्थ है। इसीसे ग्रन्थकारने बतलाया है, कि रत्नत्रयका शरण लेकर आत्माको उत्तम क्षमादि रूप परिणत करना ही संसारमें शरण है, वही आत्माको संसारके कष्टोंसे बचा सकता है ॥ ३१ ॥ इति अशरणानुप्रेक्षा ॥ २ ॥ अब दो गाथाओंसे संसारअनुप्रेक्षाको कहते हैं--

अर्थ–जीव एक शरीरको छोड़ता है और दूसरे नये शरीरको ग्रहण करता है। पश्चात् उसे भी छोड़कर दूसरा नया शरीर धारण करता है। इस प्रकार अनेक बार शरीरको ग्रहण करता है और अनेक बार उसे छोड़ता है। मिथ्यात्व कषाय वगैरहसे युक्त जीवका इस प्रकार अनेक शरीरोंमें जो संसरण (परिभ्रमण) होता है, उसे संसार कहते हैं ॥ **भावार्थ**–तीसरी अनुप्रेक्षाका वर्णन प्रारम्भ

१ स पुण पुण । २ ब मुचेदि । ३ ल म ग हवदि ।

कथ्यते। कथंभूतस्य जीवस्य। मिथ्यात्वकषायैर्युक्तस्य, मिथ्यात्वं नास्तिकता कषायाः क्रोधादयस्तैः संयुक्तस्य। एवं कथम्। आत्मा त्यजति मुञ्चति। किम्। एकं शरीरं पूर्वकर्मोपात्तं शरीरम्। अन्यत् अपरं उत्तरभवसंबन्धि नवं नवं भवे भवे नूतनं नूतनं गृह्णाति अङ्गीकरोति, पुनः पुनः अन्यदन्यत् शरीरं बहुवारं गृह्णाति मुञ्चति च ॥ ३२-३३ ॥ अथ नरकगतौ महद्दुःखं गाथाषट्केनोद्दीकते–

पाव-उदयेण[1] णरए जायदि जीवो सहेदि बहु-दुक्खं।
पंच-पयारं विविहं अणोवमं[2] अण्ण-दुक्खेहिं ॥ ३४ ॥

[छाया–पापोदयेन नरके जायते जीवः सहते बहुदुःखम्। पञ्चप्रकारं विविधमनौपम्यमन्यदुःखैः ॥] जायते उत्पद्यते। कः। जीवः संसार्यात्मा। क। नरके सप्तनरके। केन। पापोदयेन अशुभकर्मोदयेन। तथा चोक्तम्–'जो घायइ सत्ताइं अलियं जंपेइ परधणं हरइ। परदारं चिय वच्चइ बहुपावपरिग्गहासत्तो ॥ चंडो माणी थद्धो मायावी णिट्ठुरो खरो पावो। पिसुणो संगहसीलो साहूणं णिंदओ अहमो ॥ आलप्पालपसंगी दुट्ठो बुद्धीएं जो कयग्घो य ॥ बहुदुक्खसोगपउरे मरिउं णरयम्मि सो जाइ ॥' सहते क्षमते। किम्। बहुदुःखं तीव्रतरमशर्म। कियत्प्रकारम्। पञ्चप्रकारम् असुरोदीरितादि-पञ्चभेदं, विविधम् अनेकप्रकारम्, अन्यदुःखैः अन्येषां तिर्यगादीनां दुःखैरनुपमम् उपमातिक्रान्तम् ॥ ३४ ॥ अथ तान् पञ्चप्रकारान् व्याकरोति–

असुरोदीरिय-दुक्खं सारीरं माणसं तहा विविहं।
खित्तुब्भवं च तिव्वं अण्णोण्ण[3]-कयं च पंचविहं ॥ ३५ ॥

[छाया–असुरोदीरितदुःखं शारीरं मानसं तथा विविधम्। क्षेत्रोद्भवं च तीव्रम् अन्योन्यकृतं च पञ्चविधम् ॥] एतत्पञ्चप्रकारं दुःखम्। एकम् असुरोदीरितदुःखम् असुरैरसुरकुमारैरुदीरितं प्रकटीकृतं तच्च तद्दुःखं च असुरोदीरितदुःखम्।

करते हुए ग्रन्थकारने पहले संसारका स्वरूप बतलाया है। बार बार जन्म लेने और मरनेको संसार कहते हैं। अर्थात्, जन्म और मरणके चक्रमें पड़कर जीवका भ्रमण करना ही संसार है। यह संसार चार गतिरूप है और उसका कारण मिथ्यात्व और कषाय हैं। मिथ्यात्व और कषायका नाश होनेपर जीवकी इस संसारसे मुक्ति होजाती है ॥ ३२-३३ ॥ अब छह गाथाओंसे चार गतियोंमेंसे पहले नरकगतिके दुःखोंका वर्णन करते हैं। **अर्थ–**पापकर्मके उदयसे यह जीव नरकमें जन्म लेता है, और वहाँ पाँच प्रकारके अनेक दुःखोंको सहता है, जिनकी उपमा अन्य गतियोंके दुःखोंसे नहीं दी जा सकती ॥ **भावार्थ–**शास्त्रमें कहा है, कि जो प्राणियोंका घात करता है, झूठ बोलता है, दूसरोंका धन हरता है, परनारियोंको बुरी निगाहसे देखता है, परिग्रहमें आसक्त रहता है, बहुत क्रोधी, मानी, कपटी और लालची होता है, कठोर वचन बोलता है, दूसरोंकी चुगली करता है, रात-दिन धनसञ्चयमें लगा रहता है, साधुओंकी निन्दा करता है, वह नीच और खोटी बुद्धिवाला है, कृतघ्नी है, और बात बातपर शोक तथा दुःख करना जिसका स्वभाव है, वह जीव मरकर नरकगतिमें जन्म लेता है। वहाँ उसे ऐसे ऐसे कष्ट सहने पड़ते हैं, जिनकी तुलना किसी अन्य गतिके कष्टोंसे नहीं की जा सकती ॥ ३४ ॥ अब दुःखके पाँच प्रकारोंको बतलाते हैं। **अर्थ–**पहला असुरकुमारोंके द्वारा दिया गया दुःख, दूसरा शारीरिक दुःख, तीसरा मानसिक दुःख, चौथा क्षेत्रसे उत्पन्न होनेवाला अनेक प्रकारका दुःख और पाँचवाँ परस्परमें दिया गया दुःख, दुःखके ये पाँच प्रकार हैं ॥ **भावार्थ–**भवनवासी देवोंमें एक असुरकुमारजातिके देव होते हैं। ये बड़े कलहप्रिय होते हैं। इन्हें

१ ल म ग पाउदयेण, स पाओदएण। २ ब अनोवम अन्न॰। ३ ल म स ग अण्णुण्ण।

द्वितीयं शारीरं शरीरे देहे छेदनभेदनादिभवम् । तथा मानसं मनसि भवम् । विविधम् अनेकप्रकारं क्षेत्रोद्भवं भूमिस्पर्श-शीतोष्णवातवैतरणीमज्जनशाल्मलीपत्रपातकुम्भीपाकादिभवम् । च पुनः, [तीव्रं] दुःसहं सोढुमशक्यम् अन्योन्यकृतं नारकैः परस्परं शूलारोपणकुन्तखड्गच्छेदनादिकृतं निष्पादितम् । च-शब्दः समुच्चयार्थे ॥ ३५ ॥

छिज्जइ तिल-तिल-मित्तं भिंदिज्जइ तिल-तिलंतरं सयलं ।
वज्जग्गीऍ[1] कढिज्जइ णिहप्पए पूय-कुंडम्हि[2] ॥ ३६ ॥

[छाया-छिद्यते तिलतिलमात्रं भिद्यते तिलतिलान्तरं सकलम् । वज्राग्निना क्वथ्यते निधीयते पूतिकुण्डे ॥] छिद्यते खण्डीक्रियते शरीरं तिलतिलमात्रं तिलतिलप्रमाणखण्डम्, भिद्यते विदार्यते सकलं तराँमतिशयेन समस्तं तिलतिलम्। पूर्वं तिलतिलमात्रं कृतं तदपि पुनः पुनः छिद्यते । कढिज्जइ क्वथ्यते पच्यते, क्वथ् निष्पाके, अस्य धातोः प्रयोगः । क्व । वज्राग्नौ वज्ररूपवैश्वानरे निक्षिप्यते प्रक्षेपः क्रियते । क्व । पूयकुण्डे ॥ ३६ ॥

इच्चेवमाइ-दुक्खं जं णरए[3] सहदि एय-समयम्हि[4] ।
तं सयलं वण्णेदुं ण सक्कदे सहस-जीहो वि ॥ ३७ ॥

दूसरोंको लड़ाने भिड़ानेमें बड़ा आनन्द आता है। ये तीसरे नरकतक जा सकते हैं। वहाँ जाकर ये नारकियोंको अनेक तरहका कष्ट देते हैं और उन्हें लड़ने झगड़नेके लिये उकसाते हैं। एक तो वे यों ही आपसमें मारते काटते रहते हैं, उसपर इनके उकसानेसे उनका क्रोध और भी भड़क उठता है। तब वे अपनी विक्रियाशक्तिके द्वारा बनाये गये भाला तलवार आदि शस्त्रोंसे परस्परमें मार-काट करने लगते हैं। इससे उनके शरीरके टुकड़े टुकड़े होजाते हैं, किन्तु बादको वे टुकड़े पारेकी तरह आपसमें पुनः मिल जाते हैं। अनेक प्रकारकी शारीरिक वेदना होनेपर भी उनका अकालमें मरण नहीं होता। कभी कभी वे सोचते हैं, कि हम न लड़ें, किन्तु समयपर उन्हें उसका कुछ भी ध्यान नहीं रहता। इस लिये भी उनका मन बड़ा खेदखिन्न रहता है। इन दुःखोंके सिवाय उन्हें नरकके क्षेत्रके कारण भी बहुत दुःख सहना पड़ता है। क्योंकि ऊपरके नरक अत्यन्त गर्म हैं तथा पाँचवें नरकका नीचेके कुछ भाग, छट्टे तथा सातवें नरक अत्यन्त ठंडे हैं। उनकी गर्मी और सर्दीका अनुमान इससे ही किया जा सकता है, यदि सुमेरुपर्वतके बराबर ताम्बेके एक पहाड़को गर्म नरकोंमें डाल दिया जाये तो वह क्षणभरमें पिघलकर पानीसा होसकता है। तथा उस पिघले हुए पहाड़को यदि शीत नरकोंमें डाल दिया जाये तो वह क्षणभरमें कड़ा होकर पहलेके जैसा हो सकता है। इसके सिवाय वहाँकी घास सुईकी तरह नुकीली होती है। वृक्षोंके पत्ते तलवारकी तरह पैने होते हैं। वैतरणी नामकी नदी खून, पीव जैसी दुर्गन्धित वस्तुओंसे परिपूर्ण होती है। उसमें अनेक प्रकारके कीड़े बिलबिलाते रहते हैं। जब कोई नारकी उन वृक्षोंके नीचे विश्राम करनेके लिये पहुँचता है तो हवाके झोकेसे वृक्षके हिलते ही उसके तीक्ष्ण पत्ते नीचे गिर पड़ते हैं और विश्राम करनेवालेके शरीरमें घुस जाते हैं। वहाँसे भागकर शीतल जलकी इच्छासे वह नदीमें घुसता है, तो दुर्गन्धित पीव और कीड़ोंका कष्ट भोगना पड़ता है। इस प्रकार नरकमें पाँच प्रकारका दुःख पाया जाता है॥ ३५॥ **अर्थ**–शरीरके तिल तिल बराबर टुकड़े कर दिये जाते हैं। उन तिल तिल बराबर टुकड़ोंको भी भेदा जाता है। वज्राग्निमें पकाया जाता है। पीवके कुण्डमें फेंक दिया जाता है॥ ३६॥ **अर्थ**–इस प्रकार नरकमें छेदन-भेदन आदिका जो दुःख

१ ब वज्जग्गिइ। २ ब कुंडमि, स कुंडम्मि। ३ ब निरइ। ४ ब समियंमि, म समयंमि(?)।

[छाया-इत्येवमादिदुःखं यत् नरके सहते एकसमये। तत् सकलं वर्णयितुं न शक्नोति सहस्रजिह्वः अपि ॥] सहते क्षमते एकस्मिन् समये क्षणे। कः। नरके रत्नप्रभादौ, यत् इत्येवमादि दुःखं पूर्वोक्तं छेदनभेदनाद्यशर्म, तत् सकलदुःखं वर्णयितुं कथयितुं न समर्थो भवति। कः। सहस्रजिह्वः सहस्रं जिह्वा रसना यस्य स तथोक्तः। अपिशब्दात् न केवलम् एकजिह्वः ॥ ३७ ॥

सव्वं पि होदि णरए खेत्त-सहावेण दुक्खदं असुहं।
कुविदा वि सव्व-कालं अण्णोण्णं होंति णेरइया ॥ ३८ ॥

[छाया-सर्वमपि भवति नरके क्षेत्रस्वभावेन दुःखदमशुभम्। कुपिताः अपि सर्वकालमन्योन्यं भवन्ति नैरयिकाः ॥] नरके घर्मादिनरके क्षेत्रस्वभावेन सर्वमपि वस्तु दुःखदं दुःखानां दायकं भवति, अशुभम् अप्रशस्तम्। यत्र नारकाः सर्वकालमपि सर्वदापि अन्योन्यं परस्परं कुपिताः क्रोधाक्रान्ताः भवन्ति ॥ ३८ ॥

अण्ण-भवे जो सुयणो सो वि य णरए हणेइ अइ-कुविदो।
एवं तिव्व-विवागं बहु-कालं विसहदे दुक्खं ॥ ३९ ॥

[छाया-अन्यभवे यः सुजनः स अपि च नरके हन्यते अतिकुपितः। एवं तीव्रविपाकं बहुकालं विषहते दुःखम् ॥] यो जीवः अन्यभवे मनुष्यभवे तिर्यग्भवे वा स्वजनः स्वकीयजनः आत्मीयः, अपि च स स्वजनः नरके रत्नप्रभादौ उत्पन्नः सन् अतिकुपितः क्षेत्रस्वभावात् अतिक्रुद्धः सन् हन्ति पूर्वभवसंबन्धिनस्तत्र जातान् हिनस्ति। एवं पूर्वोक्तप्रकारेण दुःखम् असातं बहुकालं पल्योपमादिसागरोपमादिकालं सहते क्षमते। कथंभूतं दुःखम्। तीव्रविपाकम् अनेकप्रकारेण पञ्चकोट्यष्टषष्टिलक्षनवतिनवसहस्रपञ्चशतचतुरशीतिसंख्यरोगादीनां तीव्रविपाक उदयो यत्र तत्तथोक्तम् ॥ ३९ ॥ अथ तिर्यग्गतिं सार्धचतुर्गाथाभिः कथयति-

तत्तो णीसरिदूणं जायदि तिरिएसुं बहु-वियप्पेसु।
तत्थ वि पावदि दुक्खं गब्भे वि य छेयणादीयं ॥ ४० ॥

[छाया-ततः निःसृत्य जायते तिर्यक्षु बहुविकल्पेषु। तत्रापि प्राप्नोति दुःखं गर्भे अपि च छेदनादिकम् ॥] जायते उत्पद्यते। कः। तिर्यक्षु एकेन्द्रियविकलत्रयसंज्ञ्यसंज्ञीपञ्चेन्द्रियादिबहुविकल्पेषु। किं कृत्वा। ततः नरकेभ्यः निःसृत्य

जीव एक समयमें सहता है, उस सबका वर्णन करनेके लिये हजार जिह्वावाला भी समर्थ नहीं है ॥ **भावार्थ**-जब नरकमें एक समयमें होनेवाले दुःखोंका भी वर्णन करना शक्य नहीं है, तब जीवनभरके दुःखोंकी तो कथा ही क्या है ? ॥ ३७ ॥ **अर्थ**-नरकमें सभी वस्तुएँ दुःखको देनेवाली और अशुभ होती हैं, क्योंकि वहाँके क्षेत्रका ऐसा ही स्वभाव है। तथा नारकी सदा ही परस्परमें क्रोध करते रहते हैं ॥ ३८ ॥ **अर्थ**-पूर्वभवमें जो जीव अपना सगा-सम्बन्धी था, नरकमें वह भी अति क्रुद्ध होकर घात करता है। इस प्रकार जीव बहुत समयतक दुःखके तीव्र उदयको सहता है। [इसकी संस्कृतटीकामें ५६८९९५८४ प्रकारके रोग बतलाये हैं। अनु०] **भावार्थ**-पूर्वभवका मित्र भी नरकमें जाकर शत्रु होजाता है, इसे वहाँके क्षेत्रका और अपने अशुभ कर्मोंका ही परिणाम समझना चाहिये ॥ ३९ ॥ अब साढ़े चार गाथाओंसे तिर्यञ्चगतिका वर्णन करते हैं। **अर्थ**-नरकसे निकलकर जीव अनेक प्रकारके तिर्यञ्चोंमें जन्म लेता है। वहाँ भी गर्भज अवस्थामें भी छेदन वगैरहका दुःख पाता है ॥ **भावार्थ**-तिर्यञ्चगतिमें दो जन्म होते हैं, एक सम्मूर्छन और दूसरा गर्भ। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय,

---

१ ल म ग खित्त। २ ल म स ग अण्णुण्ण। ३ [हंति]। ४ ब नेरइया। ५ ब नरइ। ६ ल म स ग णीसरिऊणं। ७ ब तिरइसु।

निर्गत्य, तत्रापि तिर्यग्गतौ गर्भे, अपिशब्दात् न केवलं गर्भे, संमूर्च्छने छेदनादिकम्, आदिशब्दात् शीतोष्णक्षुधातृषादिकम्, दुःखं प्राप्नोति लभते ॥ ४० ॥

तिरिएहिँ खज्जमाणो दुट्ठ-मणुस्सेहिँ हम्ममाणो वि ।
सवत्थ वि संतट्ठो भयं-दुक्खं विसहदे भीमं ॥ ४१ ॥

[छाया-तिर्यग्भिः खाद्यमानः दुष्टमनुष्यैः हन्यमानः अपि । सर्वत्र अपि संत्रस्तः भयदुःखं विषहते भीमम् ॥] विषहते विशेषेण क्षमते । किम् । भयदुःखं भीतिकृतमसुखं सर्वत्रापि तिर्यग्गतौ, जीव इत्यध्याहार्यम्, दुःखं भीमं रौद्रम् । कथंभूतो जीवः । तिर्यग्गतिखाद्यमानैः व्याघ्रसिंहवृकभल्लूकमार्जारकुर्कुरमत्स्यादिभिः भक्ष्यमाणः, अपि पुनः, हन्यमानः मार्यमाणः । कैः । दुष्टमनुष्यैः म्लेच्छभिल्लधीवरपापिष्ठमानुषैः । कीदृक्षः । सर्वत्रापि प्रदेशेषु संत्रस्तः भयभीतः ॥ ४१ ॥

अण्णोण्णं खज्जंता तिरिया पावंति दारुणं दुक्खं ।
माया वि जत्थ भक्खदि अण्णो को तत्थ रक्खेदि ॥ ४२ ॥

[छाया-अन्योन्यं खादन्तः तिर्यञ्चः प्राप्नुवन्ति दारुणं दुःखम् । मातापि यत्र भक्षति अन्यः कः तत्र रक्षति ॥] तिर्यञ्चः एकेन्द्रियादयो जीवाः प्राप्नुवन्ति लभन्ते । किम् । दारुणं दुःखं रौद्रतरमसुखम् । कीदृक्षाः । अन्योन्यं खाद्यमानाः परस्परं भक्षयन्तः, यत्र तिर्यग्भवे मातापि, अपिशब्दात् अन्यापि, सर्पिणीमार्जारीप्रमुखवत् भक्षति खादति तत्र तिर्यग्भवे अन्यः परः मनुष्यादिः को रक्षति । न कोऽपि ॥ ४२ ॥

तिव्व-तिसाएँ तिसिदो तिव्व-विभुक्खाइ भुक्खिदो संतो ।
तिव्वं पावदि दुक्खं उयर-हुयासेणँ डज्झंतो ॥ ४३ ॥

[छाया-तीव्रतृषया तृषितः तीव्रबुभुक्षया बुभुक्षितः सन् । तीव्रं प्राप्नोति दुःखम् उदरहुताशेन दह्यमानः ॥] प्राप्नोति लभते । किम् । तीव्रं दुःखम् । कः । तिर्यग्जीवः इत्यध्याहार्यम् । कीदृक्षः सन् । तृषितः तृषाक्रान्तः सन् ।

चतुरिन्द्रिय वगैरहके सम्मूर्छन जन्म होता है और पञ्चेन्द्रियोंके सम्मूर्छन और गर्भ दोनों जन्म होते हैं । दोनों ही प्रकारके तिर्यञ्चोंको छेदन-भेदनका दुःख सहना पड़ता हैं । अपि शब्दसे ग्रन्थकारने यही बात प्रकट की है ॥ ४० ॥ **अर्थ**-अन्य तिर्यञ्च उसे खा डालते हैं । दुष्ट मनुष्य उसे मार डालते हैं । अतः सब जगहसे भयभीत हुआ प्राणी भयके भयानक दुःखको सहता है ॥ **भावार्थ**-तिर्यञ्चगतिमें भी जीवको अनेक कष्टोंका सामना करना पड़ता है । सबसे प्रथम उसे उससे बलवान व्याघ्र, सिंह, भालू, बिलाव, कुत्ता, मगर-मच्छ वगैरह हिंस्र जन्तु ही खा डालते हैं । यदि किसी प्रकार उनसे बच जाता है, तो म्लेच्छ, भील, धीवर आदि हिंसक मनुष्य उसे मार डालते हैं । अतः बेचारा रात-दिन भयका मारा मरा जाता है ॥ ४१ ॥ **अर्थ**-तिर्यञ्च परस्परमें ही एक दूसरेको खाजाते हैं, अतः दारुण दुःख पाते हैं । जहाँ माता ही भक्षक है, वहाँ दूसरा कौन रक्षा कर सकता है ॥ **भावार्थ**-'जीव जीवका भक्षक है' यह कहावत तिर्यञ्चजातिमें अक्षरशः घटित होती है । क्योंकि पृथ्वीपर वनराज सिंह वनवासी पशुओंसे अपनी भूख मिटाता है, आकाशमें गिद्ध चील वगैरह उड़ते हुए पक्षियोंको झपटकर पकड़ लेते हैं, जलमें बड़े बड़े मच्छ छोटी-मोटी मछलियोंको अपने पेटमें रख लेते हैं । अधिक क्या, सर्पिणी, बिल्ली वगैरह अपने बच्चोंको ही खा डालती हैं । अतः पशुगतिमें यह एक बड़ा भारी दुःख है ॥ ४२ ॥ **अर्थ**-तिर्यञ्च जीव तीव्र प्याससे प्यासा होकर और तीव्र भूखसे भूखा होकर पेटकी आगसे जलता हुआ बड़ा कष्ट पाता है ॥ **भावार्थ**-तिर्यञ्चगतिमें भूख

१ म भयचक्कं । २ [तिर्यग्भिः खाद्यमानः] । ३ ल म स ग अण्णुण्णं । ४ ग भिक्खदि यण्णो । ५ ब तिसाइ । ६ ग उवर । ७ ल म स ग हुयासेहि ।

कया। तीव्रतृषया अतिदुःसहपिपासया। पुनः कीदृक्षः। तीव्रबुभुक्षादिबुभुक्षितः तीव्रतरक्षुधादिभिः क्षुधाक्रान्तः। पुनः कीदृक्षः। दहन् ज्वाल्यमानः। कैः। उदरहुताशैः जठरवैश्वानरैः॥ ४३॥

एवं बहु-प्पयारं दुक्खं विसहेदि तिरिय-जोणीसु।
तत्तो णीसरिदूणं लद्धि-अपुण्णो णरो होदि॥ ४४॥

[छाया-एवं बहुप्रकारं दुःखं विषहते तिर्यग्योनिषु। ततः निःसृत्य लब्ध्यपूर्णः नरः भवति॥] तिर्यग्योनिषु विषहते क्षमते। किम्। दुःखम्। कीदृशं दुःखम्। एवं पूर्वोक्तप्रकारेण बहुप्रकारम् अनेकभेदभिन्नम्। नरः मनुष्यो भवति लब्ध्यपूर्णः लब्ध्यपर्याप्तकः, लब्धिः प्राप्तिः अपूर्णस्य अपर्याप्तिनामकर्मणः यस्य स तथोक्तः। किं कृत्वा। ततः तिर्यग्भ्यः निःसृत्य निर्गत्य॥ ४४॥

अह गब्भे वि य जायदि तत्थ वि णिवडीकयंग-पच्चंगो[४]।
विसहदि तिव्वं दुक्खं णिग्गममाणो वि जोणीदो॥ ४५॥

[छाया-अथ गर्भेऽपि च जायते तत्रापि निबिडीकृताङ्गप्रत्यङ्गः। विषहते तीव्रं दुःखं निर्गच्छन् अपि योनितः॥] अथ अथवा जायते उत्पद्यते। क। गर्भे स्त्रीणामुदरे, तत्रापि गर्भेऽपि तीव्रं घोरं दुःखं विषहते क्षमते। कीदृक्षः सन्। निबिडीकृतानि संकुचितानि अङ्गानि नलकबाहुशिरःपृष्ठिनितम्बोरांसि। शेषाणि अङ्गुलीनासिकादीनि प्रत्यङ्गानि यस्य स तथोक्तः, अपि पुनः, निर्गममानः निस्सरन्। कुतः। जन्मकाले योनितः स्त्रीभगात्॥ ४५॥

बालो वि पियर-चत्तो पर-उच्छिट्ठेण वड्ढदे दुहिदो।
एवं जायण-सीलो गमेदि कालं महादुक्खं॥ ४६॥

[छाया-बालोऽपि पितृत्यक्तः परोच्छिष्टेन वर्धते दुःखितः। एवं याचनशीलः गमयति कालं महादुःखम्॥] बालोऽपि शिशुरपि दुःखितः दुःखाक्रान्तः वर्धते वृद्धिं याति। केन। परोच्छिष्टेन परभुक्तमुक्तान्नेन। कीदृक्षः सन्।

और प्यासकी असह्य वेदना सहनी पड़ती है। जो पशु पालतू होते हैं, उन्हें तो कुछ दाना-पानी मिल भी जाता है, किन्तु जो पालतू नहीं होते, उन बेचारोंकी तो बुरी हालत होती है, वे खानेकी खोजमें इधर उधर भटकते हैं, और जहाँ किसीके चारेपर मुँह मारते हैं, वहीं उन्हें मार खानी पड़ती है॥ ४४॥ अब तिर्यञ्चगतिके दुःखोंका उपसंहार करते हुए साढ़े सोलह गाथाओंसे मनुष्यगतिका वर्णन करते हैं— **अर्थ**—इस प्रकार तिर्यञ्चयोनिमें जीव अनेक प्रकारके दुःख सहता है। वहाँसे निकलकर लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य होता है। [स्त्रियोंके काँख वगैरह प्रदेशोंमें ये मनुष्य नामके प्राणी उत्पन्न होजाते हैं। इनका सम्मूर्छन जन्म होता है। तथा शरीर पर्याप्तिपूर्ण होनेसे पहले ही अन्तर्मुहूर्तकालतक जीवित रहकर मर जाते हैं। अनु०] **अर्थ**—अथवा यदि गर्भमें भी उत्पन्न होता है तो वहाँ भी शरीरके अङ्ग-उपाङ्ग सङ्कुचित रहते हैं, तथा योनिसे निकलते हुए भी तीव्र दुःख सहना पड़ता है॥ **भावार्थ**—तिर्यञ्चयोनिसे निकलकर लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यपर्यायमें जन्म लेनेका कोई नियम नहीं है। यही इस गाथामें 'अह' पदसे सूचित किया गया है। यदि लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य न होकर गर्भज मनुष्य होता है तो गर्भमें भी नौमास तक हाथ, पैर, सिर, अंगुली, नाक वगैरह अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको समेटकर रहना पड़ता है, और जब बाहर आता है तो सङ्कुचित द्वारसे बाहर निकलते समय बड़ी वेदना सहनी पड़ती है॥ ४५॥ **अर्थ**—बाल अवस्थामें ही यदि माता-पिता छोड़कर मर जाते हैं या विदेश चले जाते हैं, तो दुःखी होता हुआ दूसरोंके उच्छिष्ट

१ ग तीव्र विभुक्षयादि। २ ल म स ग णीसरिऊणं। ३ ग लद्धियपुण्णो। ४ ब सव्वंगो। ५ ब णिग्गयमाणो। ६ ग निवडी°। ७ ब उच्चट्ठेण।

पितृत्यक्तः पापवशात् मातृपितृभ्यां मृतिवशात् देशान्तरादिगमनेन वा त्यक्तः मुक्तः, एवमुक्तप्रकारेण महादुःखं महाकष्टं यथा भवति तथा कालं समयं गमयति नयति । कीदृक्षः सन् । याञ्चाशीलः परपुरुषेभ्यः याञ्चां कर्तुं स्वभावः ॥ ४६ ॥

पावेण जणो एसो दुक्कम्म-वसेण जायदे सव्वो ।
पुणरवि करेदि पावं ण य पुण्णं को वि अज्जेदि ॥ ४७ ॥

[छाया-पापेन जनः एष दुष्कर्मवशेन जायते सर्वः । पुनरपि करोति पापं न च पुण्यं कोऽपि अर्जयति ॥] जायते उत्पद्यते सर्वः समस्तः एष प्रत्यक्षीभूतः जनो लोकः । केन । पापेन अशुभेन । कीदृक्षेण । [दुष्कर्मवशेन] दुष्कर्माणि द्व्यशीतिप्रकृतयः तेषां वशम् अधीनं यत् तत् तेन, पुनरपि मुहुर्मुहुः पापं दुरितं हिंसादिकं करोति विदधाति, च पुनः, कोऽपि पुमान् पुण्यं दानपूजातपश्चरणध्यानादिलक्षणं न अर्जयति नोपार्जयति ॥ ४७ ॥

विरलो[1] अज्जदि[2] पुण्णं सम्मादिट्ठी[3] वएहिं संजुत्तो ।
उवसम-भावें सहिदो णिंदण-गरहाहिँ संजुत्तो[4] ॥ ४८ ॥

[छाया-विरलः अर्जयति पुण्यं सम्यग्दृष्टिः व्रतैः संयुक्तः । उपशमभावेन सहितः निन्दनगर्हाभ्यां संयुक्तः ॥] विरलः स्वल्पो जनः पुण्यं द्वाचत्वारिंशत्प्रकृतिभेदभिन्नं प्रशस्तं कर्म अर्जयति उपार्जयति संचिनोति । कीदृक्षः सन् । सम्यग्दृष्टिः उपशमवेदकक्षायिकसम्यक्त्वयुक्तः । पुनः कीदृक् । व्रतैः द्वादशप्रकारैः पञ्चमहाव्रतैर्वा संयुक्तः सहितः, उपशमस्वभावेन उत्तमक्षमादिलक्षणेन सहितः परिणतः । पुनरपि कीदृक्षः । निन्दनेत्यादि निन्दनम् आत्मकृतदुष्कर्मणः स्वयंप्रकाशनं, गर्हणं गुरुसाक्षिकात्मदोषप्रकाशनं ताभ्यां संयुक्तः ॥ ४८ ॥

अन्नसे बड़ा होता है, और इस तरह भिखारी बनकर बड़े दुःखसे समय बिताता है । **भावार्थ**–गर्भ और प्रसवकी वेदना सहकर जिस किसी तरह बाहर आता है । किन्तु यदि बाल्यकालमें ही माता-पिताका विछोह हो जाता है तो दूसरोंका जूठा अन्न खाकर पेट भरना पड़ता है ॥ ४६ ॥ **अर्थ**–ये सभी जन बुरे कामोंसे उपार्जित पापकर्मके उदयसे जन्म लेते हैं, किन्तु फिर भी पाप ही करते हैं । पुण्यका उपार्जन कोई भी नहीं करता ॥ [आठ कर्मोंकी उत्तरप्रकृतियोंमेंसे ८२ पापप्रकृतियाँ होती हैं और ४२ पुण्यप्रकृतियाँ होती हैं । इनके नाम जाननेके लिये देखो गोम्मटसार कर्मकाण्ड-गाथा ४१-४४ । अनु०] **भावार्थ**-संसारके जीव रात-दिन पापके कामोंमें ही लगे रहते हैं । अतः पापकर्मका ही बन्ध करते हैं । इस पापकर्मके कारण उन्हें पुनः जन्म लेना पड़ता है । किन्तु पुनः जन्म लेकर भी वे पापके ही सञ्चयमें लगे रहते हैं । उनका समस्त जीवन खाने कमाने और इन्द्रियोंकी दासता करनेमें ही बीत जाता है । कोई भी भला आदमी दान, पूजा, तपस्या वगैरह शुभ कामोंके करनेमें अपने मनको नहीं लगाता है ॥ ४७ ॥ **अर्थ**–सम्यग्दृष्टि, व्रती, उपशमभावसे युक्त तथा अपनी निन्दा और गर्हा करनेवाले विरले जन ही पुण्यकर्मका उपार्जन करते हैं ॥ **भावार्थ**–जीव अजीव आदि सात तत्त्वोंके श्रद्धानको सम्यक्दर्शन कहते हैं । यह सम्यग्दर्शन तीन प्रकारका होता है–औपशमिक, क्षायिक, और क्षायोपशमिक । मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ, इन सात कर्मप्रकृतियोंके उपशमसे जो सम्यग्दर्शन होता है उसे औपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं । इन सातोंके क्षयसे जो सम्यग्दर्शन होता है उसे क्षायिक कहते हैं । तथा देशघातिसम्यक्त्वप्रकृतिका उदय रहते हुए मिथ्यात्व सम्यङ्मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीचतुष्क प्रकृतियोंके

---

१ ब म विरला । २ ब अज्जहि । ३ ब सम्माइट्ठी । ४ ब संयुत्ता ।

पुण्ण-जुदस्स वि दीसदि[1] इट्ठ-विओयं अणिट्ठ-संजोयं ।
भरहो वि साहिमाणो परिज्जिओ लहुय-भाएण ॥ ४९ ॥

[छाया - पुण्ययुतस्यापि दृश्यते इष्टवियोगः अनिष्टसंयोगः । भरतोऽपि साभिमानः पराजितः लघुकभ्रात्रा ॥] दृश्यते ईक्ष्यते [ईक्षते ?] । कम् । इष्टवियोगम् इष्टानां धनधान्यपुत्रकलत्रपौत्रमित्रादीनां वियोगः विप्रयोगः तम् , अनिष्टसंयोगं च अनिष्टानाम् अहिकण्टकशत्रुप्रमुखानां संयोगः मेलापकः तम् । कस्य । पुण्ययुतस्य शुभप्रकृतिविपाकसहितस्य, अपिशब्दात् न केवलम् अपुण्ययुतस्य, इष्टोऽपि अनिष्टतामेति । तत्र कथां कथयति । भरतोऽपि श्रीमदादिदेवपुत्रोऽपि प्रथमचक्रवर्त्यपि साभिमानः सन् सगर्वः सन् पराजितः पराजयं नीतः । केन । लघुकभ्रात्रा अनुजेन श्रीबाहुबलिना ॥४९॥

सर्वघाती स्पर्द्धकोंके उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशमसे जो सम्यग्दर्शन होता है, उसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं । जिसके तीनोंमेंसे कोई भी एक सम्यक्त्व होना है, उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं । गोम्मटसार जीवकाण्डमें सम्यग्दृष्टिका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है–"णो इंदियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वा पि । जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥ २९ ॥" अर्थात् , जो न तो इन्द्रियोंके विषयोंसे विरत है, न त्रस अथवा स्थावर जीवकी हिंसासे ही विरत है । किन्तु जो जिन-भगवानके वचनोंपर श्रद्धान करता है, वह अविरतसम्यग्दृष्टि है । जो सम्यग्दृष्टि व्रतसे युक्त होता है, उसे व्रती कहते हैं । व्रती दो प्रकार के होते हैं–एक अणुव्रती श्रावक और दूसरे महाव्रती मुनि । श्रावकके १२ व्रत होते हैं–[इन व्रतोंका स्वरूप जाननेके लिये देखो सर्वार्थसिद्धिका ७ वाँ अध्याय अथवा रत्नकरंडश्रावकाचारका ३, ४, ५ वाँ परिच्छेद । अनु० ।] पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत । तथा महाव्रती मुनिके पाँच महाव्रत होते हैं–अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह । इन्हीं पाँच महाव्रतोंके एकदेश पालन करनेको अणुव्रत कहते हैं । अपने किये हुए पापोंके स्वयं प्रकट करनेको निन्दा कहते हैं, और गुरुकी साक्षीपूर्वक अपने दोषोंके प्रकट करनेको गर्हा कहते हैं । कषायोंके मन्द होनेसे उत्तम क्षमा आदि रूप जो परिणाम होते हैं, उन्हें उपशम भाव कहते हैं । इन सम्यक्त्व, व्रत, निन्दा, गर्हा, आदि भावोंसे पुण्यकर्मका बन्ध होता है । किन्तु उनकी ओर विरले ही मनुष्योंकी प्रवृत्ति होती है । अतः विरले ही मनुष्य पुण्यकर्मका बन्ध करते हैं ॥ ४८ ॥ **अर्थ**–पुण्यात्मा जीवके भी इष्टका वियोग और अनिष्टका संयोग देखा जाता है । अभिमानी भरत चक्रवर्तीको भी अपने लघुभ्राता बाहुबलिके द्वारा पराजित होना पड़ा ॥ **भावार्थ**–पहली गाथाओंमें पापकर्मसे पुण्यकर्मको उत्तम बतलाकर पुण्यकर्मकी ओर लोगोंकी प्रवृत्ति न होनेकी शिकायत की थी । किन्तु इससे कोई यह न समझे कि पुण्यात्मा जीवोंको सुख ही सुख मिलता है । जिन जीवोंके पुण्यकर्मका उदय है, वे भी संसारमें दुःखी देखे जाते हैं । उन्हें भी अपने धन, धान्य, स्त्री, पुत्र, पौत्र, मित्र वगैरह इष्ट वस्तुओंका वियोग सहना पड़ता है, और सर्प, कण्टक, शत्रु वगैरह अनिष्ट वस्तुओंका संयोग होजानेपर उन्हें दूर करनेके लिये रात-दिन चिन्ता करनी पड़ती है । अतः यह नहीं समझना चाहिये कि जिनके पुण्यकर्मका उदय है, वे सब सुखी ही हैं । देखो, भगवान आदिनाथके बड़े पुत्र सम्राट् भरतको अपने ही छोटे भाई

१ ल म स ग दीसइ ।

सयलट्ठ-विसय-जोओ[1] बहु-पुण्णस्स वि ण सव्वहा[2] होदि ।
तं पुण्णं पि ण कस्स वि सव्वं [3]जेणिच्छिदं लहदि ॥ ५० ॥

[छाया-सकलार्थविषययोगः बहुपुण्यस्यापि न सर्वथा भवति । तत्पुण्यमपि न कस्यापि सर्वं येनेप्सितं लभते ॥] भवति सर्वतः साकल्येन, न इति निषेधे । कः । सकलार्थविषययोगः, अर्था धनधान्यादिपदार्थाः विषयाः पञ्चेन्द्रियगोचराः सकलाः सर्वे च ते च अर्थविषयाश्च सकलार्थविषयाः तेषां योगः संयोगः । कस्य । बहुपुण्यस्य प्रचुरवृषस्य, अपिशब्दात् न केवलं स्वल्पपुण्यस्य अपुण्यस्य च, कस्यापि प्राणिनः तत्पुण्यं न विद्यते येन पुण्येन सर्वं समस्तम् ईप्सितं वाञ्छितं वस्तु लभते प्राप्नोति ॥ ५० ॥ अथात्र संसारे[4] मनुष्याणां सर्वसामग्रीदुर्लभत्वं गाथादशकेनाह–

कस्स वि णत्थि कलत्तं अहव कलत्तं ण पुत्त-संपत्ती ।
अह तेसिं संपत्ती तह वि सरोओ[5] हवे देहो ॥ ५१ ॥

[छाया-कस्यापि नास्ति कलत्रं अथवा कलत्रं न पुत्रसंप्राप्तिः । अथ तेषां संप्राप्तिः तथापि सरोगः भवेत् देहः ॥] कस्यापि मनुष्यस्य कलत्रं भार्या नास्ति न विद्यते, अथवा कलत्रं चेत् तर्हि पुत्रसंपत्तिः पुत्राणां प्राप्तिर्न विद्यते, अथवा तेषां पुत्राणां प्राप्तिश्चेत् तथापि देहः शरीरं सरोगः श्वासोच्छ्वासभगंदरकुटोदरकुष्ठादिव्याधिर्भवेत् ॥ ५१ ॥

[6]अह णीरोओ[7] देहो तो धण-धण्णाण णेय[8] संपत्ती ।
अह धण-धण्णं होदि हु तो मरणं झत्ति ढुक्केदि[9] ॥ ५२ ॥

[छाया-अथ नीरोगः देहः तत् धनधान्यानां नैव संप्राप्तिः । अथ धनधान्यं भवति खलु तत् मरणं झगिति ढौकते ॥] अथ अथवा देहः शरीरं नीरोगः रोगरहितः तो तर्हि धनधान्यानां संपत्तिर्नैव, अथवा धनधान्यानां संपत्तिर्भवति चेत् तर्हि, हु स्फुटं, झगिति बाल्यकुमारयौवनावस्थादिषु मरणं मृत्युः ढौकते प्राप्नोति ॥ ५२ ॥

बाहुबलीसे पराजित होना पड़ा और उनका सब अभिमान धूलमें मिल गया [इनकी कथाके लिये आदिपुराण सर्ग ३५–३६ देखना चाहिये । अनु०] ॥ ४९ ॥ **अर्थ–**बहुत पुण्यशालीको भी सकल धन, धान्य, आदि पदार्थ तथा भोग पूरी तरहसे प्राप्त नहीं होते हैं । किसीके भी ऐसा पुण्य ही नहीं है, जिससे सभी इच्छित वस्तुएँ प्राप्त हो सकें ॥ **भावार्थ–**पूर्वोक्त शुभ-कार्योंमें प्रवृत्ति करनेसे पुण्यकर्मका बन्ध होता है, यह पहले कहा है । किन्तु प्रवृत्तिपरक मनुष्यमें वे बुराईयाँ वर्तमान रहती हैं, जिनसे पापकर्मका बन्ध होता है । अतः शुभ कार्योंमें प्रवृत्ति करते हुए भी कुछ न कुछ पापकर्म भी बँधते ही रहते हैं । फलतः जबतक जीवके साथ घातिकर्म लगे हुए हैं, तबतक पुण्यप्रकृतियोंके साथ पापप्रकृतियाँ भी बँधती ही रहती हैं, अतः ऐसा कोई क्षण ही नहीं होता जिसमें पुण्य ही पुण्यकर्मका बन्ध होता हो, इसलिये पुण्यात्मासे पुण्यात्मा जीवके साथ भी पापकर्म लगे ही रहते हैं और उनके कारण महापुण्यशाली जीवको भी संसारके सभी इच्छित पदार्थ प्राप्त नहीं हो सकते ॥ ५० ॥ **अर्थ–**किसी मनुष्यके तो स्त्री नहीं है, किसीके स्त्री है तो उसके पुत्र नहीं होता है, किसीके पुत्र भी हुआ तो शरीर रोगी रहता है ॥ ५१ ॥ **अर्थ–**किसीका शरीर नीरोग हुआ तो धन धान्य सम्पदा नहीं होती । किसीके धन धान्य भी हुआ तो उसकी मृत्यु शीघ्र हो जाती है ॥५२॥

---

१ ब सयलिट्ठ विसंजोउ । २ ल स ग सव्वदो, म सव्वदा । ३ ब जो णिच्छिदं । ४ ल संसारि । ५ ब स सरोवो । ६ म अहवणी° । ७ ब निरोओ । ८ ब णेव । ९ ल म स ग ढुक्केइ ।

कस्स वि दुट्ठ-कलत्तं[1] कस्स वि दुव्वसण-वसणिओ पुत्तो ।
कस्स वि अरि-सम-बंधू कस्स वि दुहिदा वि दुच्चरिया[2] ॥ ५३ ॥

[छाया–कस्यापि दुष्टकलत्रं कस्यापि दुर्व्यसनव्यसनिकः पुत्रः । कस्यापि अरिसमबन्धुः कस्यापि दुहितापि दुश्चरिता॥] कस्यापि नरस्य दुष्टं कलत्रं दुष्टं दुःशीलं दुश्चरित्रं मनोवचनकायकुटिलं तच्च तत् कलत्रं च दुष्टकलत्रं दुराचारिणी भार्या । कस्यापि नरस्यापि पुत्रः अङ्गजः दुर्व्यसनव्यसनिकः दुर्व्यसनेन द्यूतपलमद्यपण्याङ्गनापरवधूस्तेयमृगयाभिधानेन व्यसनिकः व्यसनयुक्तः । कस्यापि अरिसमबन्धुः शत्रुसदृशबन्धुजनः कुटुम्बवर्गः । कस्यापि दुहितापि सुतापि दुश्चरित्रा दुःशीला दुराचारिणी ॥ ५३ ॥

मरदि सुपुत्तो कस्स वि[3] कस्स वि महिला विणस्सदे[4] इट्ठा ।
कस्स वि अग्गि-पलित्तं गिहं कुडंबं च डज्झेइ ॥ ५४ ॥

[छाया–म्रियते सुपुत्रः कस्यापि कस्यापि महिला विनश्यति इष्टा । कस्यापि अग्निप्रदीप्तं गृहं कुटुम्बं च दह्यते ॥] कस्यापि म्रियते विनश्यति सुपुत्रः त्रिवर्गसाधनस्तनुजः । कस्यापि नरस्यापि महिला भार्या इष्टा वल्लभा विनश्यति म्रियते । कस्यापि गृहं कुटुम्बं च बन्धुवर्गः दह्यते दाहं प्राप्नोति । कीदृक्षम् । अग्निप्रलिप्तम् अग्निना परीतं व्याप्तम् अग्निज्वलितमित्यर्थः ॥ ५४ ॥

एवं मणुय-गदीए णाणा-दुक्खाइँ विसहमाणो वि ।
ण वि धम्मे कुणदि मइं[5] आरंभं णेय परिचयइ ॥ ५५ ॥

[छाया–एवं मनुजगतौ नानादुःखानि विषहमाणः अपि । नापि धर्मे करोति मतिम् आरम्भं नैव परित्यजति ॥] एवं पूर्वोक्तप्रकारेण मनुष्यगत्यां धर्मे वृषे पुमान् मतिं बुद्धिं नापि कुरुते । नैव परित्यजति नैव परिहरति । कम् । आरम्भं गृहव्यापारजं प्रारम्भम् । कीदृक्षः सन् । नानादुःखानि अनेकक्षुधातृषायोगवियोगभवानि अशर्माणि विषहमाणः क्षममाणः ॥ ५५ ॥ किं च इत्थ संसारे, अत्र संसारे किंचिद्विशेषं दर्शयति–

[6]सधणो वि होदि णिधणो धण-हीणो तह य ईसरो होदि ।
राया वि होदि भिच्चो भिच्चो वि य होदि णर-णाहो ॥ ५६ ॥

[छाया–सधनोऽपि भवति निर्धनः धनहीनः तथा च ईश्वरः भवति । राजापि भवति भृत्यः भृत्योऽपि च भवति नरनाथः॥] सधनोऽपि धनवानपि कालतः निर्धनो धनहीनः दरिद्री भवति, तथा च धनहीनः निर्धनः ईश्वरः अनेकैश्वर्य-

अर्थ–किसीकी स्त्री दुष्टा है । किसीका पुत्र जुआ आदि दुर्व्यसनोंमें फँसा हुआ है । किसीके भाई-बन्धु शत्रुके समान वैरी हैं । किसीकी पुत्री दुराचारिणी है ॥ ५३ ॥ **अर्थ**–किसीका सुपुत्र मर जाता है । किसीकी प्रिय स्त्री मर जाती है । किसीका घर कुटुम्ब आगमें पड़कर भस्म होजाता है ॥ ५४ ॥ **अर्थ**–इस प्रकार मनुष्यगतिमें अनेक दुःखोंको सहते हुए भी जीव न तो धर्ममें ही मन लगाता है, और न आरम्भको ही छोड़ता है ॥ ५५ ॥ इस संसारकी कुछ और भी विशेषता दिखाते हैं । **अर्थ**–धनवान निर्धन हो जाता है । निर्धन धनवान हो जाता है । राजा सेवक हो जाता है और सेवक भी राजा हो जाता है ॥ **भावार्थ**–इस संसारकी दशा बड़ी विचित्र है । जो आज धनवान है, कल वही निर्धन हो जाता है, और आज जो निर्धन है कल वही मालिक बन जाता है । अधिक क्या? पलभरमें राजा रङ्क हो जाता है और रङ्क राजा हो जाता है । इसका दृष्टान्त जीवन्धरकुमारके पिता राजा सत्यन्धरकी कथा है । विषयासक्त राजा सत्यन्धरने राज-काजका भार अपने मंत्री काष्ठाङ्गारको सौंप दिया था । काष्ठाङ्गारके

---

१ म कलत्ता । २ ग दुच्चरिआ । ३ ल म स ग कस्स वि मरदि सुपुत्तो । ४ ब विणिस्सदे । ५ ब कुणइ रई आ° । ६ गाथाके आरंभमें, ब किंच इत्थ संसारे स्वरूपं ।

संपदा युक्तः राजापि भूपतिरपि भृत्यः सेवको भवति, च पुनः, भृत्योऽपि दासोऽपि नरनाथः समस्तपृथ्वीपालको राजा काष्ठाङ्गारवत् भवति ॥ ५६ ॥

सत्तू वि होदि मित्तो मित्तो वि य जायदे तहा सत्तू ।
कम्म-विवागं-वसादो एसो संसार-सब्भावो ॥ ५७ ॥

[छाया–शत्रुः अपि भवति मित्रं मित्रमपि च जायते तथा शत्रुः । कर्मविपाकवशतः एष संसारस्वभावः ॥] शत्रुरपि वैर्यपि मित्रं सखा भवति । रामस्य विभीषणवत् । अपि च तथापि मित्रमपि शत्रुः वैरी जायते । रावणस्य विभीषणवत् । कुतः । कर्मविपाकवशात् कर्मणामुदयवशात् । एष पूर्वोक्तः संसारसद्भावः संसारस्वरूपम् ॥ ५७ ॥ अथ देवगतिस्वरूपं विवृणोति–

अह कह वि हवदि देवो तस्स वि[1] जाएदि माणसं दुक्खं ।
दट्ठूण महड्ढीणं[2] देवाणं रिद्धि-संपत्ती ॥ ५८ ॥

[छाया–अथ कथमपि भवति देवः तस्यापि जायते मानसं दुःखम् । दृष्ट्वा महर्द्धीनां देवानां ऋद्धिसंप्राप्तिम् ॥] अह अथवा, कथमपि महता कष्टेन भवति जायते । कः । देवः चतुर्णिकायदेवः । तस्य च देवस्य जायते उत्पद्यते । किं तत् । मानसं मनोभवं दुःखम् असातम् । किं कृत्वा । दृष्ट्वा अवलोक्य । काः । ऋद्धिसंपत्तीः ऋद्धीनां वैक्रियादीनां संपत्तीः संपदाः । केषाम् । देवानां सुराणां महर्द्धिकानाम् इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशादिसुराणाम् ॥ ५८ ॥

इट्ठ-विओगं[4]-दुक्खं होदि महड्ढीणं[5] विसय-तण्हादो ।
विसय-वसादो सुक्खं जेसिं तेसिं कुदो तित्ती ॥ ५९ ॥

मनमें धूर्तता आई और उसने राजद्रोही बनकर राजमहलको जा घेरा । उस समय रानी गर्भवती थी । राजाने रानीको तो मयूरयंत्रमें बैठाकर आकाशमार्गसे चलता कर दिया और स्वयं युद्धमें मारा गया । मयूरयंत्र रानीको लेकर स्मशानभूमिमें जा गिरा और वहींपर रानीने पुत्र प्रसव किया । इस घटनाका वर्णन करते हुए क्षत्रचूडामणिकारने ठीक ही कहा है, कि प्रातःकालके समय जिस रानीकी पूजा स्वयं राजाने की थी, सन्ध्याके समय उसी रानीको स्मशानभूमिकी शरण लेनी पड़ी । अतः समझदारोंको पापसे डरना चाहिये ॥ ५६ ॥ **अर्थ**–कर्मके उदयके कारण शत्रु भी मित्र हो जाता है और मित्र भी शत्रु हो जाता है । यही संसारका स्वभाव है ॥ **भावार्थ**–इस संसारमें सब कुछ कर्मका खेल है । शुभ कर्मका उदय होनेसे शत्रु भी मित्र हो जाता है । जैसे, रावणका भाई विभीषण रामचंद्रजीका मित्र बन गया था । और अशुभ कर्मका उदय होनेसे मित्र भी शत्रु हो जाता है । जसे, वही विभीषण अपने सहोदर रावणका ही शत्रु बनगया था । संसारका यही नग्न स्वरूप है ॥ ५७ ॥ अब देवगतिका स्वरूप कहते हैं । **अर्थ**–अथवा जिस किसी तरह देव होता है, तो महर्द्धिक देवोंकी ऋद्धिसम्पदाको देखकर उसे मानसिक दुःख होता है ॥ **भावार्थ**–मनुष्यगतिसे निकलकर जिस किसी तरह बड़ा कष्ट सहकर देव होता है, क्योंकि देव पर्याय पाना सहज नहीं है, तो वहाँ भी अपनेसे बड़े महाऋद्धिके धारक इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि देवोंकी विभूतिको देखकर मन ही मन झुरता है ॥ ५८ ॥ **अर्थ**–महर्द्धिक देवोंको विषयसुखकी बड़ी तृष्णा होती है, अतः उन्हें भी अपने प्रिय देव-देवाङ्गनाओंके वियोगका दुःख होता है । जिनका सुख विषयोंके अधीन है, उनकी तृप्ति

---

१ ब म स विवाय । २ ल म स ग य । ३ ल म स ग महद्धीणं । ४ ब विउयं, म विओगे । ५ ब महड्ढीण, ल म स ग महद्धीण ।

[छाया-इष्टवियोगदुःखं भवति महर्द्धीनां विषयतृष्णातः । विषयवशात् सुखं येषां तेषां कुतः तृप्तिः ॥] होदि भवति । किं तत् । दुःखम् । कीदृक्षम् । इष्टवियोगम् इष्टानां देवाप्सरोविषयादीनां वियोगजं विप्रयोगस्तत्संभवम् । केषाम् । महर्द्धीनां महर्द्धिकानाम् इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशादिदेवानाम् । कुतः । विषयतृष्णातः पञ्चेन्द्रियविषयसुखवाञ्छातः । येषां जीवानां विषयवशात् स्पर्शनादिविषयसुखवशतः सुखं शर्म तेषां जीवानां कुतः तृप्तिः संतोषः । न कुतोऽपि ॥ ५९ ॥

सारीरिय-दुक्खादो माणस-दुक्खं हवेइ अइ-पउरं ।
माणस-दुक्ख-जुदस्स हि[1] विसया वि दुहावहा हुंति ॥ ६० ॥

[छाया-शारीरिकदुःखतः मानसदुःखं भवति अतिप्रचुरम् । मानसदुःखयुतस्य हि विषयाः अपि दुःखावहाः भवन्ति ॥] ननु देवानां शारीरिकं दुःखं प्रायेण न संभवति मानसदुःखं कियन्मात्रम् इत्युक्ते वावदीति । मानसदुःखम् अतिप्रचुरम् अतिघनं भवेत् । कुतः । शारीरिकदुःखात् शरीरसंभवाशर्मतः । हि यस्मात्, मानसदुःखयुतस्य पुंसः विषया अपि इन्द्रियगोचरा अपि दुःखावहाः दुःखकारिणो भवन्ति ॥ ६० ॥

देवाणं पि य सुक्खं मणहर-विसएहिँ कीरदे[3] जदि हि ।
विसयं-वसं[4] जं सुक्खं दुक्खस्स वि कारणं तं पि ॥ ६१ ॥

[छाया-देवानामपि च सुखं मनोहरविषयैः क्रियते यदि हि । विषयवशं यत्सुखं दुःखस्यापि कारणं तदपि ॥] हि स्फुटम्, यदि चेत्, क्रियते निष्पाद्यते । किं तत् । सुखं शर्म । केषाम् । देवानाम्, अपिशब्दात् न केवलमन्येषाम् । कैः । मनोहरविषयैः देवीनवशरीरविक्रियाप्रमुखैः । यद् विषयवशं विषयाधीनं सुखं तदपि विषयवशं सुखम् । कालान्तरे द्रव्यान्तरसंबन्धे च तदपि सुख दुःखस्य कारणं हेतुर्जायते ॥ ६१ ॥

कैसे हो सकती है ? **भावार्थ**-स्वर्गमें केवल सामान्य देव ही दुःखी नहीं हैं, किन्तु महर्द्धिक देव भी दुःखी हैं । उन्हें भी विषयोंकी तृष्णा सतत सताती रहती है । अतः जब कोई उनका प्रियजन स्वर्गसे च्युत होता है, तो उन्हें उसका बड़ा दुःख होता है । ग्रन्थकार कहते हैं, कि यह ठीक ही है, क्योंकि जिनका सुख स्वाधीन नहीं है, पराधीन है, तथा जो विषयोंके दास हैं, उनको सन्तोष कैसे हो सकता है ? ॥ ५९ ॥ **अर्थ**-शारीरिक दुःखसे मानसिक दुःख बड़ा होता है । क्योंकि जिसका मन दुःखी होता है, उसे विषय भी दुःखदायक लगते हैं । **भावार्थ**-शायद कोई यह कहे कि देवोंको शारीरिक दुःख तो प्रायः होता ही नहीं है, केवल मानसिक दुःख होता है, और वह दुःख साधारण है । तो आचार्य कहते हैं, कि मानसिक दुःखको साधारण नहीं समझना चाहिये, वह शारीरिक दुःखसे भी बड़ा है; क्योंकि शारीरिक सुखके सब साधन होते हुए भी यदि मन दुःखी होता है तो सब साधन नीरस और दुःखदायी लगते हैं । अतः देव भी कम दुःखी नहीं हैं ॥ ६० ॥ **अर्थ**-यदि देवोंका भी सुख मनको हरनेवाले विषयोंसे उत्पन्न होता है, तो जो सुख विषयोंके आधीन है, वह दुःखका भी कारण है ॥ **भावार्थ**-सब समझते हैं कि देवलोकमें बड़ा सुख है और किसी दृष्टिसे ऐसा समझना ठीक भी है, क्योंकि वैषयिक सुखकी दृष्टिसे सब गतियोमें देवगति ही उत्तम है । किन्तु वैषयिक सुख विषयोंके अधीन है और जो विषयोंके अधीन है वह दुःखका भी कारण है । क्योंकि जो विषय आज हमें सुखदायक प्रतीत होते हैं, कल वे ही दुःखदायक लगने लगते हैं । जब तक हमारा मन उनमें लगता है, या जब तक वे हमारे मनके अनुकूल रहते हैं, तब तक तो वे

---

१ ब वि । २ ल ग अतिइन्द्रिय । ३ ल म स ग कीरए । ४ ब विसइ । ५ ग विस ।

एवं सुट्ठु असारे संसारे दुक्ख-सायरे घोरे।
किं कत्थ वि अत्थि सुहं वियारमाणं सुणिच्छयदो ॥ ६२ ॥

[छाया-एवं सुष्ठु असारे संसारे दुःखसागरे घोरे। किं कुत्रापि अस्ति सुखं विचार्यमाणं सुनिश्चयतः ॥] एवं चतुर्गतिषु दुःखसुखभावस्योपसंहारं दर्शयति। एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सुनिश्चयतः परमार्थतः विचार्यमाणं चर्च्यमानं कुत्रापि चतुर्गतिसंसारे सुखं किमस्ति। अपि तु नास्ति। कथंभूते संसारे। सुष्ठु असारे अतिशयेन सारवर्जिते। पुनः कीदृक्षे। दुःखसागरे असुखसमुद्रे, घोरे रौद्रे ॥ ६२ ॥ अथ जीवानाम् एकत्र स्थितौ नियतत्वं नास्तीत्यावेदयति-

दुक्किय-कम्म-वसादो राया वि य असुइ-कीडओ होदि।
तत्थेव य कुणइ रई पेक्खह[1] मोहस्स माहप्पं ॥ ६३ ॥

[छाया-दुष्कृतकर्मवशात् राजापि च अशुचिकीटकः भवति। तत्रैव च करोति रतिं प्रेक्षध्वं मोहस्य माहात्म्यम् ॥] च पुनः, राजापि भूपतिरपि न केवलमन्यः भवति जायते। कः। अशुचिकीटकः विष्टाकीटकः। कुतः। दुःकर्मवशात् पापकर्मोदयवशतः, च पुनः, तत्र विष्टामध्ये रतिं रागं कुरुते सुखं कृत्वा मन्यते। पश्यत यूयं प्रेक्षध्वं मोहस्य मोहनीयकर्मणः माहात्म्यं प्राबल्यं यथा ॥ ६३ ॥ येन अथैकस्मिन् भवे अनेके संबन्धा जायन्ते इति प्ररूपयति -

हमें सुखदायक मालूम होते हैं, किन्तु मनके उधरसे उचटते ही वे दुःखदायक लगने लगते हैं। या आज हमें जो वस्तु प्रिय है, उसका वियोग हो जानेपर वही दुःखका कारण बन जाती है। अतः विषयसुख दुःखका भी कारण है ॥ ६१ ॥ **अर्थ**–इस प्रकार परमार्थसे विचार करनेपर, सर्वथा असार, दुःखोंके सागर इस भयानक संसारमें क्या किसीको भी सुख है? ॥ **भावार्थ**–चारगतिरूप संसारमें सुख-दुःखका विचार करके आचार्य पूछते हैं, कि निश्चयनयसे विचार कर देखो कि इस संसारमें क्या किसीको भी सच्चा सुख प्राप्त है? जिन्हें हम सुखी समझते हैं, वस्तुतः वे भी दुःखी ही हैं। दुःखोंके समुद्रमें सुख कहाँ? ॥ ६२ ॥ अब यह बतलाते हैं कि जीवोंका एक पर्यायमें रहना भी नियत नहीं है। **अर्थ**–पापकर्मके उदयसे राजा भी मरकर विष्टाका कीड़ा होता है, और उसी विष्टामें रति करने लगता है। मोहका माहात्म्य तो देखो ॥ **भावार्थ**–विदेह देशमें मिथिला नामकी नगरी है। उसमें सुभोग नामका राजा राज्य करता था। उसकी पत्नीका नाम मनोरमा था। उन दोनोंके देवरति नामका युवा पुत्र था। एक बार देवकुरु नामके तपस्वी आचार्य संघके साथ मिथिला नगरीके उद्यानमें आकर ठहरे। उनका आगमन सुनकर राजा सुभोग मुनियोंकी वन्दना करनेके लिये गया। और आचार्यको नमस्कार करके उनसे पूछने लगा- मुनिराज! मै यहाँसे मरकर कहाँ जन्म लूँगा? राजाका प्रश्न सुनकर मुनिराज बोले-'हे राजेन्द्र! आजसे सातवें दिन बिजलीके गिरनेसे तुम्हारी मृत्यु हो जायेगी और तुम मरकर अपने अशौचालयमें टट्टीके कीड़े होओगे। हमारे इस कथनकी सत्यताका प्रमाण यह है, कि आज जब तुम यहाँसे जाते हुए नगरमें प्रवेश करोगे तो तुम मार्गमें एक भौरेकी तरह काले कुत्तेको देखोगे।' मुनिके वचन सुनकर राजाने अपने पुत्रको बुलाकर उससे कहा, 'पुत्र! आजसे सातवें दिन मरकर मै अपने अशौचालयमें टट्टीका कीड़ा हूँगा। तुम मुझे मार देना।' पुत्रसे ऐसा कहकर राजाने अपना राजपाट छोड़ दिया और बिजली गिरनेके भयसे जलके अन्दर बने हुए महलमें छिपकर बैठ गया। सातवें दिन बिजलीके गिरनेसे राजाकी मृत्यु हो गई

१ ब पेक्खहु, ल म ग पिक्खह।

पुत्तो वि भाउ जाओ सो चिय[1] भाओ वि देवरो होदि ।
माया होदि सवत्ती जणणो वि य होदि[2] भत्तारो ॥ ६४ ॥
[3]एयम्मि भवे एदे संबंधा होंति एय-जीवस्स ।
अण्ण-भवे किं भण्णइ जीवाणं धम्म-रहिदाणं ॥ ६५ ॥ [4]युगलम्

[छाया-पुत्रोऽपि भ्राता जातः स एव भ्रातापि देवरः भवति । माता भवति सपत्नी जनकोऽपि च भवति भर्ता ॥ एकस्मिन् भवे एते संबन्धाः भवन्ति एकजीवस्य । अन्यभवे किं भण्यते जीवानां धर्मरहितानाम् ॥] एकजीवस्य एकप्राणिनः एकस्मिन्नेव भवे जन्मनि एते पूर्वोक्ताः संबन्धा भ्रातृपुत्रादिरूपेण संयोगा भवन्ति[5] जायन्ते । ते के । पुत्रः तनुजः भ्राता बान्धवो जातः अभूत् । सोऽपि च भ्राता देवरः[6] भवति । माता जननी सपत्नी भर्तृभार्या भवति । जनकोऽपि च पितापि भर्ता वल्लभो भवति । अन्यभवे परभवे धर्मरहितानां किं भण्यते किं कथ्यते । वसन्ततिलकायाः वेश्यायाः धनदेवस्य कमलायाश्च एते पूर्वोक्ता दृष्टान्ताः ॥ उक्तं च । मालवदेशे उज्जयिन्यां राजा विश्वसेनः, श्रेष्ठी सुदत्तः षोडशकोटिद्रव्यस्वामी, वसन्ततिलका वेश्या । सा सुदत्तेन गृहवासे धृता । सा गुर्विणी सती कण्डूकाशश्वासादिरोगाक्रान्ता तेन त्यक्ता । स्वगृहे सा वसन्ततिलका बालयुगलं पुत्रं पुत्रीं प्रसूता । उद्विग्नया रत्नकम्बलेनावृत्य दक्षिणदिशि प्रतोल्यां सा कमला पुत्री मुक्ता । प्रयागवासिसुकेतुसार्थवाहेन सुप्रभाप्रियायाः दत्ता । तथैवोत्तरदिशि प्रतोल्यां पुत्रो धनदेवो मुक्तः सन् साकेतपुरस्थसुभद्रेण सुव्रतायाः दत्तः । पूर्वोपार्जितपापात् तयोः धनदेवकमलयोः दम्पतीत्वं जातम् । धनदेवः उज्जयिन्यां व्यापारार्थं गतः तया वसन्ततिलकया वेश्यया सह लुब्धः । ततस्तयोर्वरुणनामा बालो जातः । कमलया श्रीमुनिदत्तः पृष्टः । तेन श्रीमुनिदत्तेन सर्वः संबन्धः कथितः । कथं तत् । उज्जयिन्यां विप्रः सोमशर्मा, भार्या काश्यपी,

---

और वह मरकर अपने अशौचालयके विष्ठामें सफेद कीड़ा हुआ । पुत्रने जैसे ही उसे देखा और वह उसे मारनेको प्रवृत्त हुआ, वह कीड़ा विष्ठामें घुस गया । संसारकी यह विचित्रता देखकर पुत्रको बड़ा अचरज हुआ और वह विचारोंमें डूब गया । संसारकी यह स्थिति कितनी करुणाजनक है ॥ ६३ ॥ अब कहते हैं कि एक ही भवमें अनेक नाते हो जाते हैं । **अर्थ**–पुत्र भी भाई होता है । वह भाई भी देवर होता है । माता सौत होती है । पिता भी पति होता है । जब एक जीवके एकही भवमें ये नाते होते हैं, तो धर्मरहित जीवोंके दूसरे भवमें कहना ही क्या है ? **भावार्थ**–जैन शास्त्रोंमें अठारह नातेकी कथा प्रसिद्ध है । उसी कथाके प्रमुख पात्र धनदेव और पात्री वसन्ततिलका वेश्या तथा उसकी पुत्री कमलाके पारस्परिक सम्बन्धोंको लेकर उक्त बातें कही गईं हैं । कथा इस प्रकार है–मालवदेशकी उज्जैनी नगरीमें राजा विश्वसेन, सेठ सुदत्त और वसन्ततिलका वेश्या रहती थी । सेठ सुदत्त सोलह करोड़ द्रव्यका स्वामी था । उसने वसन्ततिलका वेश्याको अपने घरमें रखलिया । वह गर्भवती हुई और खाज, खाँसी, श्वास आदि रोगोंने उसे घेर लिया । तब सेठने उसे अपने घरसे निकाल दिया । अपने घरमें आकर वसन्ततिलकाने एक पुत्र और एक पुत्रीको जन्म दिया । खिन्न होकर उसने

---

१ **ल म स ग** विय । २ **ल म स ग** होइ । ३ एषा गाथा **ल**-पुस्तके नास्ति । ४ इस गाथाके अनन्तर नीचे लिखा हुआ अधिक पाठ, जैसा मिला, लिखा है । **ब**-"वसंततिलयाधणदेवपउमाइणि इत्थि दिट्ठता । माया भतिजय देवरो सि पुत्तो सि पुत्तपुत्तो सि । पित्तव्वउ सि वालय होसि णत्तछकेणं ॥ ६६ ॥ तुज्झ पिया मम भाया सुसुरो पुत्तो पइ य जणणो य । तह य पियामहु होइ वालयणत्तणत्थकेणं ॥ ६७ ॥ माया य तुज्झ वालय मम जणणी सासुय सवकी य । बहु भाउजया य पियामही य इत्थेव जाया या ॥ ६८ ॥" । **म**-वसततिलया धणदेवपउमाएइणि दिट्ठंता बालाय णिसुणहि वयणं तुहु सरिसइं हुति अट्ठदह नत्ता ॥ ६६ ॥ पुत्तु भत्तीजउ भायउ देवरु पित्तियउ पुत्तो जो ॥ ६६ ॥ तुहु पियरो महु पियरो पियामहो तहइ [य] हवइ भत्तारो । भायउ तहा वि पुत्तो सुसुरु हवय [इ] वालया मज्झ ॥ ६७ ॥ तुहु जणणी हुइ भज्जा पियामहि तह य मायरी । सवई हवइ बहु तह सा सुष कहिया अट्ठदह णत्ता ॥ ६८ ॥ । ५ **ल** संबंधा जायंते उत्पद्यन्ते । ६ **फ** देवरः भर्त्रनुजो भवति ।

तयोः पुत्रौ अग्निभूतिसोमभूतिनामानौ द्वावपि बहिः पठित्वा आगच्छन्तौ जिनदत्तपुत्रमुनेः मातरं जिनमत्यार्यिकां शरीरसमाधानं पृच्छन्तीम् आलोक्य जिनभद्रश्वशुरमुनेश्च वधूटिकासुभद्रार्यिकां शरीरसमाधानं पृच्छन्तीमालोक्य द्वाभ्यां भ्रातृभ्याम् उपहास्यं कृतम् । तरुणस्य[वृद्धा] वृद्धस्य तरुणी धात्रा विपरीतं कृतमिति । तथोपार्जितकर्मवशात् कालेनाऽोज्जयिन्यां सोमशर्मा मृत्वा वसन्तसेनासुता वसन्ततिलका जाता, अग्निभूतिसोमभूतिद्वन्द्वं मृत्वा तस्याः शिशुयुग्मं कमलाधनदेवपुत्रपुत्रीयुग्मं यथासंख्यं जातम्, काश्यपीत्वरीत्वरुणशिशुत्वं प्राप्ता । सर्वमेतच्छ्रुत्वा जातिस्मरी भूत्वाऽणुव्रतं लेत्वा[1] उज्जयिनीं गत्वा वसन्ततिलकागृहं प्रविश्य पालणस्थं वरुणम् आन्दोलयति। उक्तं च । 'बालेय[2] णिसुणसु वयणं तुज्झ सरिस्सा हि अट्ठदह णत्ता। पुत्तु भतिज्जउ भायउ देवरु पित्तियउ पोत्तेज्जु[3]॥' मम भर्तुः पुत्रत्वात् त्वं पुत्रः । १। धनदेवभ्रातुः पुत्रत्वात् त्वं बालो भ्रातृव्यः । २ । त्वन्मदेकमातृत्वात त्वं मम भ्राता । ३ । धनदेवस्य लघुभ्रातृत्वात् त्वं मम देवरः । ४ । धनदेवो मम तातः तद्भ्राता त्वं तेन मे पितृव्यः । ५ । अहं वेश्यासपत्नी तेन धनदेवो मत्पुत्रः तस्यापि त्वं पुत्रः तस्मान्मम पौत्रस्त्वम् । ६ । इति शिशुना सह संबन्धः ॥ 'तुह पियरो मई[4] पियरो पियामहो तह य हवइ भत्तारो। भायउ तह वि य पुत्तो ससुरो हवई स बालया मज्झ॥' धनदेवो वसन्ततिलकाभर्तृत्वात् मम पिता । १। त्वं मम पितृव्यस्तवापि स धनदेवः तातत्वात् मे पितामहः । २ । तथा मम सोऽपि भर्ता । ३ । एकमातृत्वात् स च मम भ्राता । ४ । अहं वेश्यायाः सपत्नी, स च तस्या वेश्यायाः पुत्रत्वात् ममापि पुत्रः । ५ । वेश्या मे श्वश्रूरहं तस्या वधूः, धनदेवो वेश्याभर्तृत्वात् मदीयः श्वशुरः । ६ । इति धनदेवेन सह संबन्धः ॥ 'भाउज्जा मि तुमं वा पियामही तह य मायरी सवई । हवइ वहू तह सासू[5] एक्कहिया अट्ठदह णत्ता॥' तव भ्रातृभार्यात्वात मम भ्रातृजाया । १। तव मम च

रत्नकम्बलमें लपेट कर कमला नामकी पुत्रीको तो दक्षिण ओरकी गलीमें डाल दिया । उसे प्रयागका व्यापारी सुकेत लेगया और उसने उसे अपनी सुपुत्रा नामकी पत्नीको सौंप दिया । तथा धनदेव पुत्रको उसी तरह रत्नकम्बलसे लपेटकर उत्तर ओरकी गलीमें रख दिया । उसे अयोध्यावासी सुभद्र ले गया और उसने उसे अपनी सुव्रता नामकी पत्नीको सौंप दिया । पूर्वजन्ममें उपार्जित पापकर्मके उदयसे धनदेव और कमलाका आपसमें विवाह होगया । एक बार धनदेव व्यापारके लिये उज्जैनी गया । वहाँ वसन्ततिलका वेश्यासे उसका सम्बन्ध होगया । दोनोंके सम्बन्धसे वरुण नामका पुत्र उत्पन्न हुआ । एक बार कमलाने श्रीमुनिदत्तसे अपने पूर्वभवका वृत्तान्त पूछा । श्रीमुनिदत्तने सब सम्बन्ध बतलाया, जो इस प्रकार है। उज्जैनीमें सोमशर्मा नामका ब्राह्मण था । उसकी पत्नीका नाम काश्यपी था । उन दोनोंके अग्निभूति और सोमभूति नामके दो पुत्र थे । वे दोनों परदेशसे विद्याध्ययन करके लौट रहे थे । मार्गमें उन्होंने जिनमति आर्यिकाको अपने पुत्र जिनदत्तमुनिसे कुशलक्षेम पूछते हुए देखा, तथा सुभद्रा आर्यिकाको अपने श्वशुर जिनभद्रमुनिसे कुशलक्षेम पूछते हुए देखा । इसपर दोनों भाईयोंने उपहास किया 'जवानकी स्त्री बूढ़ी और बूढ़ेकी स्त्री जवान, विधाताने अच्छा उलट फेर किया है ।' कुछ समय पश्चात् अपने उपार्जित कर्मोंके अनुसार सोमशर्मा ब्राह्मण मरकर उज्जैनीमें ही वसन्तसेनाकी पुत्री वसन्ततिलका हुई और अग्निभूति तथा सोमभूति दोनों मरकर उसके धनदेव और कमला नामके पुत्र और पुत्री हुए । ब्राह्मणकी पत्नी व्यभिचारिणी काश्यपी मरकर धनदेवके सम्बन्धसे वसन्ततिलकाके वरुण नामका पुत्र हुई । इस कथाको सुनकर कमलाको जातिस्मरण हो आया । उसने मुनिराजसे अणुव्रत ग्रहण किये और उज्जैनी जाकर वसन्ततिलकाके घरमें घुसकर पालनेमें पड़े हुए वरुणको झुलाने लगी और उससे कहने लगी–१ मेरे पतिके पुत्र होनेसे तुम मेरे

१ फ लीत्वा। २ सर्वत्र बालहेय इति पाठः। ३ सर्वत्र पौत्तुज्ज इति पाठः। ४ सर्वत्र मुहु इति पाठः। ५ सर्वत्र तह य सासू इति पाठः।

धनदेवः पिता, तस्यापि वेश्या माता, तेन मे पितामही सा। २। धनदेवस्य तवापि सा मातृत्वात् ममापि माता। ३। मद्भर्तृभार्यात्वात् सा मे सपत्नी। ४। धनदेवो मत्सपत्नीपुत्रत्वात् ममापि पुत्रस्तद्भार्यात्वात् मदीया सा वेश्या वधूः। ५। अहं धनदेवभार्या तस्य सा माता तेन मे श्वश्रूः। ६। एतच्छ्रुत्वा वेश्याधनदेवकमलावरुणादयः ज्ञातवृतान्ताः जातस्मरीभूताः प्रतिबुद्धाः तपो गृहीत्वा च स्वर्गं गता इति धनदेवादिदृष्टान्तकथा॥ ६४-६५॥ अथ पञ्चविधसंसारस्य नामानि निर्दिशति-

संसारो पंच-विहो दव्वे खेत्ते तहेव काले य।
भव-भमणो य चउत्थो पंचमओ भाव-संसारो॥ ६६॥

[छाया-संसारः पञ्चविधः द्रव्ये क्षेत्रे तथैव काले च। भवभ्रमणश्च चतुर्थः पञ्चमकः भावसंसारः॥] संसरणं संसारः परिवर्तनं भ्रमणमिति यावत् पञ्चविधः पञ्चप्रकारः। प्रथमो द्रव्यसंसारः १, द्वितीयः क्षेत्रसंसारः २, तथैव तृतीयः कालसंसारः ३, च पुनः चतुर्थो भवभ्रमणः भवसंसारः ४, पञ्चमो भावसंसारः ५॥ ६६॥ अथ प्रथमद्रव्यपरिवर्तनस्वरूपं निरूपयति-

बंधदि मुंचदि जीवो पडिसमयं कम्म-पुग्गला विविहा।
णोकम्म-पुग्गला वि य मिच्छत्त-कसाय-संजुत्तो॥ ६७॥[1]

पुत्र हो। २ मेरे भाई धनदेवके पुत्र होनेसे तुम मेरे भतीजे हो। ३ तुम्हारी और मेरी माता एक ही है, अतः तुम मेरे भाई हो। ४ धनदेवके छोटे भाई होनेसे तुम मेरे देवर हो। ५ धनदेव मेरी माता वसन्ततिलकाका पति है, इसलिये धनदेव मेरा पिता है। उसके भाई होनेसे तुम मेरे काका हो। ६ मैं वेश्या वसन्ततिलकाकी सौत हूँ। अतः धनदेव मेरा पुत्र है। तुम उसके भी पुत्र हो, अतः तुम मेरे पौत्र हो। यह छह नाते बच्चेके साथ हुए। आगे-१ वसन्ततिलकाका पति होनेसे धनदेव मेरा पिता है। २ तुम मेरे काका हो और धनदेव तुम्हारा भी पिता है, अतः वह मेरा दादा है। ३ तथा वह मेरा पति भी है। ४ उसकी और मेरी माता एक ही है; अतः धनदेव मेरा भाई है। ५ मैं वेश्या वसन्ततिलकाकी सौत हूँ और उस वेश्याका वह पुत्र है; अतः मेरा भी पुत्र है। ६ वेश्या मेरी सास है, मै उसकी पुत्रवधू हूँ और धनदेव वेश्याका पति है; अतः वह मेरा श्वशुर है। ये छह नाते धनदेवके साथ हुए। आगे-१ मेरे भाई धनदेवकी पत्नी होनेसे वेश्या मेरी भावज है। २ तेरे मेरे दोनोंके धनदेव पिता हैं और वेश्या उनकी माता है; अतः वह मेरी दादी है। ३ धनदेवकी और तेरी भी माता होनेसे वह मेरी भी माता है। ४ मेरे पति धनदेवकी भार्या होनेसे वह मेरी सौत है। ५ धनदेव मेरी सौतका पुत्र होनेसे मेरा भी पुत्र कहलाया। उसकी पत्नी होनेसे वह वेश्या मेरी पुत्रवधू है। ६ मैं धनदेवकी स्त्री हूँ और वह उसकी माता है; अतः मेरी सास है। इन अट्ठारह नातोंको सुनकर वेश्या धनदेव आदिको भी सब बातें ज्ञात होजानेसे जातिस्मरण हो आया। सभीने जिनदीक्षा लेली और मरकर स्वर्ग चले गये। इस प्रकार एक ही भवमें अट्ठारह नाते तक होजाते हैं, तो दूसरे भवकी तो कथा ही क्या है? ॥ ६४-६५॥ अब पाँच प्रकारके संसारके नाम बतलाते हैं। **अर्थ**-संसार पाँच प्रकारका होता है-द्रव्यसंसार, क्षेत्रसंसार, कालसंसार, भवसंसार और भावसंसार॥ **भावार्थ**-परिभ्रमणका नाम संसार है, और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावके निमित्तसे वह पाँच प्रकारका होता है॥ ६६॥ पहले द्रव्य परिवर्तन या द्रव्यसंसारका

१ ब म भवणो। २ ब मुंचदि। ३ गाथान्ते ब म 'दव्वे'।

तयोः पुत्रौ अग्निभूतिसोमभूतिनामानौ द्वावपि बहिः पठित्वा आगच्छन्त्यां जिनदत्तपुत्रमुनेः मातरं जिनमत्यर्यिकां शरीरसमाधानं पृच्छन्तीम् आलोक्य जिनभद्रश्वशुरमुनेश्च वधूटिकासुभद्रार्यिकां शरीरसमाधानं पृच्छन्तीमालोक्य द्वाभ्यां भ्रातृभ्याम् उपहास्यं कृतम् । तरुणस्य[वृद्धा] वृद्धस्य तरुणी धात्रा विपरीतं कृतमिति । तथोपार्जितकर्मवशात् कालेनाऽऽोज्जयिन्यां सोमशर्मा मृत्वा वसन्तसेनासुता वसन्ततिलका जाता, अग्निभूतिसोमभूतिद्वन्द्वं मृत्वा तस्याः शिशुयुग्मं कमलाधनदेवपुत्रपुत्रीयुग्मं यथासंख्यं जातम्, काश्यपीत्वरीवरुणशिशुत्वं प्राप्ता । सर्वमेतच्छ्रुत्वा जातिस्मरी भूत्वाऽणुव्रतं [1]लात्वा उज्जयिनीं गत्वा वसन्ततिलकागृहं प्रविश्य पालणस्थं वरुणम् आन्दोलयति। उक्तं च । '[2]बालेय णिसुणसु वयणं तुज्झ सरिस्सा हि अट्ठदह णत्ता। पुत्तु भतिज्जउ भायउ देवरु पित्तियउ पो[3]त्तुज्जु॥' मम भर्तुः पुत्रत्वात् त्वं पुत्रः । १। धनदेवभ्रातुः पुत्रत्वात् त्वं बालो भ्रातृव्यः । २ । त्वन्मदेकमातृत्वात् त्वं मम भ्राता । ३ । धनदेवस्य लघुभ्रातृत्वात् त्वं मम देवरः । ४ । धनदेवो मम तातः तद्भ्राता त्वं तेन मे पितृव्यः । ५ । अहं वेश्यासपत्नी तेन धनदेवो मत्पुत्रः तस्यापि त्वं पुत्रः तस्मान्मम पौत्रस्त्वम् । ६ । इति शिशुना सह संबन्धः ॥ 'तुह पियरो म[4]हुँ पियरो पियामहो तह य हवइ भत्तारो। भायउ तह वि य पुत्तो ससुरो हवई स बालया मज्झ॥' धनदेवो वसन्ततिलकाभर्तृत्वात् मम पिता । १। त्वं मम पितृव्यस्तवापि स धनदेवः तातत्वात् मे पितामहः । २ । तथा मम सोऽपि भर्ता । ३ । एकमातृत्वात् स च मम भ्राता । ४ । अहं वेश्यायाः सपत्नी, स च तस्या वेश्यायाः पुत्रत्वात् ममापि पुत्रः । ५ । वेश्या मे श्वश्रूरहं तस्या वधूः, धनदेवो वेश्याभर्तृत्वात् मदीयः श्वशुरः । ६ । इति धनदेवेन सह संबन्धः ॥ 'भाउज्जा मि तुमं वा पियामही तह य मायरी सवई । हवइ वहू तह सा[5]सू एक्कहिया अट्ठदह णत्ता ॥' तव भ्रातृभार्यात्वात मम भ्रातृजाया । १। तव मम च

रत्नकम्बलमें लपेट कर कमला नामकी पुत्रीको तो दक्षिण ओरकी गलीमें डाल दिया। उसे प्रयागका व्यापारी सुकेत लेगया और उसने उसे अपनी सुपुत्रा नामकी पत्नीको सौंप दिया। तथा धनदेव पुत्रको उसी तरह रत्नकम्बलसे लपेटकर उत्तर ओरकी गलीमें रख दिया। उसे अयोध्यावासी सुभद्र ले गया और उसने उसे अपनी सुव्रता नामकी पत्नीको सौंप दिया। पूर्वजन्ममें उपार्जित पापकर्मके उदयसे धनदेव और कमलाका आपसमें विवाह होगया। एक बार धनदेव व्यापारके लिये उज्जैनी गया। वहाँ वसन्ततिलका वेश्यासे उसका सम्बन्ध होगया। दोनोंके सम्बन्धसे वरुण नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। एक बार कमलाने श्रीमुनिदत्तसे अपने पूर्वभवका वृत्तान्त पूछा। श्रीमुनिदत्तने सब सम्बन्ध बतलाया, जो इस प्रकार है। उज्जैनीमें सोमशर्मा नामका ब्राह्मण था। उसकी पत्नीका नाम काश्यपी था। उन दोनोंके अग्निभूति और सोमभूति नामके दो पुत्र थे। वे दोनों परदेशसे विद्याध्ययन करके लौट रहे थे। मार्गमें उन्होंने जिनमति आर्यिकाको अपने पुत्र जिनदत्तमुनिसे कुशलक्षेम पूछते हुए देखा, तथा सुभद्रा आर्यिकाको अपने श्वशुर जिनभद्रमुनिसे कुशलक्षेम पूछते हुए देखा। इसपर दोनों भाईयोंने उपहास किया 'जवानकी स्त्री बूढ़ी और बूढ़ेकी स्त्री जवान, विधाताने अच्छा उलट फेर किया है।' कुछ समय पश्चात् अपने उपार्जित कर्मोंके अनुसार सोमशर्मा ब्राह्मण मरकर उज्जैनीमें ही वसन्तसेनाकी पुत्री वसन्ततिलका हुई और अग्निभूति तथा सोमभूति दोनों मरकर उसके धनदेव और कमला नामके पुत्र और पुत्री हुए। ब्राह्मणकी पत्नी व्यभिचारिणी काश्यपी मरकर धनदेवके सम्बन्धसे वसन्ततिलकाके वरुण नामका पुत्र हुई। इस कथाको सुनकर कमलाको जातिस्मरण हो आया। उसने मुनिराजसे अणुव्रत ग्रहण किये और उज्जैनी जाकर वसन्ततिलकाके घरमें घुसकर पालनेमें पड़े हुए वरुणको झुलाने लगी और उससे कहने लगी–१ मेरे पतिके पुत्र होनेसे तुम मेरे

१ फ लीत्वा। २ सर्वत्र बालहेय इति पाठः। ३ सर्वत्र पौत्तुज्ज इति पाठः। ४ सर्वत्र मुहु इति पाठः। ५ सर्वत्र तह य सासू इति पाठः।

धनदेवः पिता, तस्यापि वेश्या माता, तेन मे पितामही सा । २ । धनदेवस्य तवापि सा मातृत्वात् ममापि माता । ३ । मद्भर्तृभार्यात्वात् सा मे सपत्नी । ४ । धनदेवो मत्सपत्नीपुत्रत्वात् ममापि पुत्रस्तद्भार्यात्वात् मदीया सा वेश्या वधूः । ५ । अहं धनदेवभार्या तस्य सा माता तेन मे श्वश्रूः । ६ । एतच्छ्रुत्वा वेश्याधनदेवकमलावरुणादयः ज्ञातवृतान्ताः जातस्मरीभूताः प्रतिबुद्धाः तपो गृहीत्वा च स्वर्गं गता इति धनदेवादिदृष्टान्तकथा ॥ ६४–६५ ॥ अथ पञ्चविधसंसारस्य नामानि निर्दिशति–

संसारो पंच-विहो दव्वे खेत्ते तहेव काले य ।
भव-भमणो[1] य चउत्थो पंचमओ भाव-संसारो ॥ ६६ ॥

[छाया–संसारः पञ्चविधः द्रव्ये क्षेत्रे तथैव काले च । भवभ्रमणश्च चतुर्थः पञ्चमकः भावसंसारः ॥] संसरणं संसारः परिवर्तनं भ्रमणमिति यावत् पञ्चविधः पञ्चप्रकारः । प्रथमो द्रव्यसंसारः १, द्वितीयः क्षेत्रसंसारः २, तथैव तृतीयः कालसंसारः ३, च पुनः चतुर्थो भवभ्रमणः भवसंसारः ४, पञ्चमो भावसंसारः ५ ॥ ६६ ॥ अथ प्रथमद्रव्यपरिवर्तनस्वरूपं निरूपयति–

बंधदि मुंचदि[2] जीवो पडिसमयं कम्म-पुग्गला विविहा ।
णोकम्म-पुग्गला वि य मिच्छत्त-कसाय-संजुत्तो ॥ ६७ ॥[3]

पुत्र हो । २ मेरे भाई धनदेवके पुत्र होनेसे तुम मेरे भतीजे हो । ३ तुम्हारी और मेरी माता एक ही है, अतः तुम मेरे भाई हो । ४ धनदेवके छोटे भाई होनेसे तुम मेरे देवर हो । ५ धनदेव मेरी माता वसन्ततिलकाका पति है, इसलिये धनदेव मेरा पिता है । उसके भाई होनेसे तुम मेरे काका हो । ६ मैं वेश्या वसन्ततिलकाकी सौत हूँ । अतः धनदेव मेरा पुत्र है । तुम उसके भी पुत्र हो, अतः तुम मेरे पौत्र हो । यह छह नाते बच्चेके साथ हुए । आगे–१ वसन्ततिलकाका पति होनेसे धनदेव मेरा पिता है । २ तुम मेरे काका हो और धनदेव तुम्हारा भी पिता है, अतः वह मेरा दादा है । ३ तथा वह मेरा पति भी है । ४ उसकी और मेरी माता एक ही है; अतः धनदेव मेरा भाई है । ५ मैं वेश्या वसन्ततिलकाकी सौत हूँ और उस वेश्याका वह पुत्र है; अतः मेरा भी पुत्र है । ६ वेश्या मेरी सास है, मैं उसकी पुत्रवधू हूँ और धनदेव वेश्याका पति है; अतः वह मेरा श्वशुर है । ये छह नाते धनदेवके साथ हुए । आगे–१ मेरे भाई धनदेवकी पत्नी होनेसे वेश्या मेरी भावज है । २ तेरे मेरे दोनोंके धनदेव पिता हैं और वेश्या उनकी माता है; अतः वह मेरी दादी है । ३ धनदेवकी और तेरी भी माता होनेसे वह मेरी भी माता है । ४ मेरे पति धनदेवकी भार्या होनेसे वह मेरी सौत है । ५ धनदेव मेरी सौतका पुत्र होनेसे मेरा भी पुत्र कहलाया । उसकी पत्नी होनेसे वह वेश्या मेरी पुत्रवधू है । ६ मैं धनदेवकी स्त्री हूँ और वह उसकी माता है; अतः मेरी सास है । इन अट्ठारह नातोंको सुनकर वेश्या धनदेव आदिको भी सब बातें ज्ञात होजानेसे जातिस्मरण हो आया । सभीने जिनदीक्षा लेली और मरकर स्वर्ग चले गये । इस प्रकार एक ही भवमें अट्ठारह नाते तक होजाते हैं, तो दूसरे भवकी तो कथा ही क्या है ? ॥ ६४–६५ ॥ अब पाँच प्रकारके संसारके नाम बतलाते हैं । **अर्थ–**संसार पाँच प्रकारका होता है–द्रव्यसंसार, क्षेत्रसंसार, कालसंसार, भवसंसार और भावसंसार ॥ **भावार्थ–**परिभ्रमणका नाम संसार है, और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावके निमित्तसे वह पाँच प्रकारका होता है ॥ ६६ ॥ पहले द्रव्य परिवर्तन या द्रव्यसंसारका

---

१ ब म भवणो । २ ब मुञ्चदि । ३ गाथान्ते ब म 'दव्वे' ।

[छाया-बध्नाति मुञ्चति च जीवः प्रतिसमयं कर्मपुद्गलान् विविधान्। नोकर्मपुद्गलानपि च मिथ्यात्वकषायसंयुक्तः॥] जीवः संसारी प्राणी पञ्चमिथ्यात्वपञ्चविंशतिकषायवशात् प्रतिसमयं, समयं समयं प्रति, कर्मपुद्गलान् ज्ञानावरणादिसप्तकर्मयोग्यान् कर्मवर्गणायातपुद्गलस्कन्धान्, स्निग्धरूक्षवर्णगन्धादिभिः तीव्रमन्दमध्यमभावेन यथावस्थितान् योग्यान् अनेकप्रकारान्, अपि च, नोकर्मपुद्गलान्, शरीरत्रयस्य षट्पर्याप्तियोग्यपुद्गलान् बध्नाति योगवशात् बन्धं नयति, मुञ्चति स्वस्थितिकाल स्थित्वा जीर्णयति। उक्तं च। 'सर्वेऽपि पुद्गलाः खल्वेकेनात्तोज्झिताश्च जीवेन। ह्यसकृद्वानन्तकृत्वः पुद्गलपरिवर्तसंसारे ॥' इति 'अगहिदमिस्सयगहिदं मिस्समगहिदं तहेव गहिदं च। मिस्सं गहिदागहिदं गहिदं मिस्सं अगहिदं च॥' ० ० ×, ० ० ×, ० ० १, ० ० ×, ० ० ×, ० ० १। × × ०, × × ०, × × १, × × ०, × × ०, × × १। × × १, × × १, × × ०, × × १, × × १, × × ०। १ १ ×, १ १ ×, १ १ ०, १ १ ×, १ १ ×, १ १ ० ॥ ६७ ॥ अथ क्षेत्रपरिवर्तनमाह-

---

स्वरूप कहते हैं। **अर्थ**-मिथ्यात्व और कषायसे युक्त संसारी जीव प्रतिसमय अनेक प्रकारके कर्मपुद्गलों और नोकर्मपुद्गलोंको भी ग्रहण करता और छोड़ता है ॥ **भावार्थ**-कर्मबन्धके पाँच कारण हैं-मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इनमें मिथ्यात्व और कषाय प्रधान हैं, क्योंकि ये मोहनीयकर्मके भेद हैं और सब कर्मोंमें मोहनीयकर्म ही प्रधान और बलवान है। उसके अभावमें शेष सभी कर्म केवल निस्तेज ही नहीं होजाते, किन्तु संसार परिभ्रमणका चक्र ही रुक जाता है। इसी लिये आचार्यने मिथ्यात्व और कषायका ही ग्रहण किया है। मिथ्यात्वके पाँच भेद हैं और कषायके पच्चीस भेद हैं। इन मिथ्यात्व और कषायके आधीन हुआ संसारी जीव ज्ञानावरण आदि सात कर्मोंके योग्य पुद्गलस्कन्धोंको प्रतिसमय ग्रहण करता है। लोकमें सर्वत्र कार्माणवर्गणाएँ भरी हुई हैं, उनमेंसे अपने योग्यको ही ग्रहण करता है। तथा आयुकर्म सर्वदा नहीं बँधता, अतः सात ही कर्मोंके योग्य पुद्गलस्कन्धोंको प्रतिसमय ग्रहण करता है। और आबाधाकाल पूरा होजानेपर उन्हें भोगकर छोड़ देता है। जैसे प्रतिसमय कर्मरूप होनेके योग्य पुद्गलस्कन्धोंको ग्रहण करता है, वैसे ही औदारिक, वैक्रियिक और आहारक, इन तीन शरीरोंकी छह पर्याप्तियोंके योग्य नोकर्मपुद्गलोंको भी प्रतिसमय ग्रहण करता है और छोड़ता है। इस प्रकार जीव प्रतिसमय कर्मपुद्गलों और नोकर्मपुद्गलोंको ग्रहण करता और छोड़ता है। किसी विवक्षित समयमें एक जीवने ज्ञानावरण आदि सात कर्मोंके योग्य पुद्गलस्कन्ध ग्रहण किये और आबाधाकाल बीतजानेपर उन्हें भोगकर छोड़ दिया। उसके बाद अनन्त बार अगृहीतका ग्रहण करके, अनन्त बार मिश्रका ग्रहण करके और अनन्त बार गृहीतका ग्रहण करके छोड़ दिया। उसके बाद जब वे ही पुद्गल वैसे ही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि भावोंको लेकर, उसी जीवके वैसे ही परिणामोंसे पुनः कर्मरूप परिणत होते हैं, उसे कर्मद्रव्य परिवर्तन कहते हैं। इसी तरह किसी विवक्षित समयमें एक जीवने तीन शरीरोंकी छह पर्याप्तियोंके योग्य नोकर्मपुद्गल ग्रहण किये और भोगकर छोड़ दिये, पूर्वोक्त क्रमके अनुसार जब वे ही नोकर्मपुद्गल उसी रूप-रस आदिको लेकर उसी जीवके द्वारा पुनः नोकर्मरूपसे ग्रहण किये जाते हैं, उसे नोकर्म द्रव्यपरिवर्तन कहते हैं। कर्मद्रव्य परिवर्तन और नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनको द्रव्यपरिवर्तन या द्रव्यसंसार कहते हैं। कहा भी है-'पुद्गलपरिवर्तनरूप संसारमें इस जीवने सभी पुद्गलोंको क्रमशः अनन्त बार ग्रहण किया और छोड़ा।' जो पुद्गल पहले ग्रहण किये हों उन्हें गृहीत कहते हैं।

सो को वि णत्थि देसो लोयायासस्स णिरवसेसस्स ।
जत्थ ण सव्वो[1] जीवो जादो[2] मरिदो य बहुवारं ॥ ६८ ॥[3]

[छाया-स कोऽपि नास्ति देशः लोकाकाशस्य निरवशेषस्य। यत्र न सर्वः जीवः जातः मृतश्च बहुवारम् ॥] लोकाकाशस्य श्रेणि ङ घनमात्रस्य (≡ ३४३) निरवशेषस्य समग्रस्य स कोऽपि देशः प्रदेशो नास्ति न विद्यते। स कः। यत्र सर्वो जीवः समस्तसंसारी जीवः, बहुवारम् अनेकवारं यथा भवति तथा, न जातः न उत्पन्नः, न मृतश्च न मरणं प्राप्तः। क्षेत्रपरिवर्तनं द्वेधा स्वपरभेदात्। तत्र स्वक्षेत्रपरिवर्तनं कश्चित्सूक्ष्मनिगोदजीवः सूक्ष्मजघन्यनिगोदावगाहेन उत्पन्नः स्वस्थितिं जीवित्वा मृतः पश्चात् प्रदेशोत्तरावगाहनेन प्रदेशोत्तरक्रमेण महामत्स्यावगाहपर्यन्तं[4] अवगाहनानि करोति। परक्षेत्रपरिवर्तनं तु सूक्ष्मनिगोदोऽपर्याप्तकः सर्व जघन्यावगाहनशरीरो लोकमध्याष्टप्रदेशान् स्वशरीरमध्याष्टप्रदेशान् कृत्वोत्पन्नः क्षुद्रभवकालं १/१८ जीवित्वा मृतः। स एव पुनस्तेनैवावगाहनेन द्विवारं त्रिवारम् एवं यावत् घनाङ्गुलासंख्येयभागवारं तत्रैवोत्पन्नः पुनः एककप्रदेशाधिकभावेन सर्वं लोकं त्रिचत्वारिंशदधिकत्रिशत ३४३ रज्जुप्रमाणं स्वजन्मक्षेत्रभावं नयति इति परक्षेत्रपरिवर्तनम्। उक्तं च। 'सव्वम्हि लोयखेत्ते कमसो तं णत्थि जं ण उप्पण्णो। उग्गाहणाउ बहुसो हिंडंतो खेत्तसंसारे॥' ६८॥ अथ कालपरिवर्तनं प्रतनोति–

जो पहले ग्रहण न किये हों, उन्हें अगृहीत कहते हैं। दोनोंके मिलावको मिश्र कहते हैं। इनके ग्रहणका क्रम पूर्वोक्त प्रकार है। [इस क्रमको विस्तारसे जाननेके लिये इसी शास्त्रमालासे प्रकाशित गो० जीवकाण्ड (पृ० २०४) देखना चाहिये। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें द्रव्यपरिवर्तनके दो भेद किये गये हैं–बादर द्रव्यपरिवर्तन और सूक्ष्म द्रव्यपरिवर्तन। दोनोंके स्वरूपमें भी अन्तर है, जो इस प्रकार है–'जितने समयमें एक जीव समस्त परमाणुओंको औदारिक, वैक्रिय, तैजस, भाषा, आनप्राण, मन और कार्माणशरीर रूप परिणमाकर, उन्हें भोगकर छोड़ देता है, उसे बादर द्रव्यपरावर्त कहते हैं। और जितने समयमें समस्त परमाणुओंको औदारिक आदि सात वर्गणाओंमेंसे किसी एक वर्गणारूप परिणमाकर उन्हें भोगकर छोड़ देता है, उसे सूक्ष्म द्रव्यपरावर्त कहते हैं।' देखो हिन्दी पंचमकर्मग्रन्थ गाथा ८७ का, अनु०] ॥ ६७ ॥ अब क्षेत्रपरिवर्तनको कहते हैं। **अर्थ**–समस्त लोकाकाशका ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है, जहाँ सभी जीव अनेक बार जिये और मरे न हों॥ **भावार्थ**–यह लोक जगतश्रेणीका घनरूप है। सात राजूकी जगतश्रेणी होती है। उसका घन ३४३ राजू होता है। इन तीनसौ तेतालीस राजुओंमें सभी जीव अनेक बार जन्म ले चुके और मर चुके हैं। यही क्षेत्रपरिवर्तन है। वह दो प्रकारका होता है–स्वक्षेत्रपरिवर्तन और परक्षेत्रपरिवर्तन। कोई सूक्ष्मनिगोदियाजीव सूक्ष्मनिगोदियाजीवकी जघन्य अवगाहनाको लेकर उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया। पश्चात् अपने शरीरकी अवगाहनामें एक एक प्रदेश बढ़ाते बढ़ाते महामत्स्यकी अवगाहनापर्यन्त अनेक अवगाहना धारण करता है। इसे स्वक्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं। अर्थात् छोटी अवगाहनासे लेकर बड़ी अवगाहना पर्यन्त सब अवगाहनाओंको धारण करनेमें जितना काल लगता है उसको स्वक्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं। कोई जघन्य अवगाहनाका धारक सूक्ष्मनिगोदियालब्ध्यपर्याप्तकजीव लोकके आठ मध्यप्रदेशोंको अपने शरीरके आठ मध्यप्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ। पीछे वही जीव उस ही रूपसे उस ही स्थानमें दूसरी तीसरी बार भी उत्पन्न हुआ॥

१ ब सव्वे। २ ब जादो य मदो य इति पाठः परिवर्तितः। ३ गाथान्ते ब खेत्त, म खेत्ते। ४ सर्वत्र 'महामत्स्या १८ वगाह°' इति पाठः।

उवसप्पिणि-अवसप्पिणि-पढम-समयादि-चरम-समयंतं ।
जीवो कमेण जम्मदि मरदि य सव्वेसु[1] कालेसु[2] ॥ ६९ ॥

[छाया-उत्सर्पिणीअवसर्पिणीप्रथमसमयादिचरमसमयान्तम् । जीवः क्रमेण जायते म्रियते च सर्वेषु कालेषु ॥] जीवः संसारी प्राणी उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योः दशदशकोटाकोटिसागरोपमस्थित्योः प्रथमसमये जायते, क्रमेण स्वस्थितिं जीवित्वा मृतः, पुनस्तयोर्द्वितीयादिवारागतयोः द्वितीयतृतीयादिसमयेषु उत्पद्य उत्पद्य मृतः चरमसमयपर्यन्तं सर्वकालं जन्मना संपूर्णतां नयति । एवं मरणेनोत्सर्पिण्यवसर्पिण्योः सर्वान् समयान् परिपूर्णतां नयति । उक्तं च । 'उवसप्पिणि-अवसप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसासु । जादो मुदो य बहुसो हिंडंतो कालसंसारे' ॥६९॥ अथ भवपरिवर्तनं विभावयति-

---

इसी प्रकार घनाङ्गुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण जघन्य अवगाहनाके जितने प्रदेश हैं, उतनी बार उसी स्थानपर क्रमसे उत्पन्न हुआ और श्वासके अट्ठारहवें भाग प्रमाण क्षुद्र आयुको भोगकर मरणको प्राप्त हुआ । पीछे एक एक प्रदेश बढ़ाते बढ़ाते सम्पूर्ण लोकको अपना जन्मक्षेत्र बना ले, यह परक्षेत्रपरिवर्तन है । कहा है-'समस्त लोकमें ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है, जहाँ क्षेत्ररूप संसारमें परिभ्रमण करते हुए अनेक अवगाहनाओंको लेकर वह जीव क्रमशः उत्पन्न न हुआ हो ।' [श्वेताम्बरसाहित्यमें क्षेत्रपरावर्तके भी दो भेद हैं-बादर और सूक्ष्म । कोई जीव भ्रमण करता करता आकाशके किसी एक प्रदेशमें मरण करके पुनः किसी दूसरे प्रदेशमें मरण करता है, फिर किसी तीसरे प्रदेशमें मरण करता है । इस प्रकार जब वह लोकाकाशके समस्त प्रदेशोंमें मर चुकता है तो उतने कालको बादरक्षेत्रपरावर्त कहते हैं । तथा कोई जीव भ्रमण करता करता आकाशके किसी एक प्रदेशमें मरण करके पुनः उस प्रदेशके समीपवर्ती दूसरे प्रदेशमें मरण करता है, पुनः उसके समीपवर्ती तीसरे प्रदेशमें मरण करता है । इस प्रकार अनन्तर अनन्तर प्रदेशमें मरण करते करते जब समस्त लोकाकाशके प्रदेशोंमें मरण कर चुकता है, तब सूक्ष्म क्षेत्रपरावर्त होता है । अनु०] ॥ ६८ ॥ अब कालपरिवर्तनको कहते हैं । **अर्थ-**उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके प्रथम समयसे लेकर अन्तिम समय पर्यन्त सब समयोंमें यह जीव क्रमशः जन्म लेता और मरता है ॥ **भावार्थ-**कोई जीव उत्सर्पिणी कालके प्रथम समयमें उत्पन्न हुआ और आयुपूर्ण करके मर गया । फिर भ्रमण करके दूसरी उत्सर्पिणीके दूसरे समयमें उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया । फिर भ्रमण करके तीसरी उत्सर्पिणीके तीसरे समयमें उत्पन्न हुआ और उसी तरह मर गया । यही क्रम अवसर्पिणी कालके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये । इस क्रमसे उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणीके बीस कोड़ाकोड़ी-सागरके जितने समय हैं, उनमें उत्पन्न हुआ, तथा इसी क्रमसे मरणको प्राप्त हुआ । अर्थात् उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके प्रथम समयमें मरा, फिर दूसरी उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके दूसरे समयमें मरा । इसे कालपरिवर्तन कहते हैं । कहा भी है-"काल संसारमें भ्रमण करता हुआ यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके सब समयोंमें अनेक बार जन्मा और मरा ।" [श्वेताम्बर साहित्यमें कालपरावर्तके भी दो भेद हैं । जितने समयमें एक जीव अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालके सब समयोंमें क्रम या विना क्रमके मरण कर चुकता है, उतने कालको बादरकालपरावर्त कहते हैं । सूक्ष्म कालपरावर्त दिगम्बर साहित्यके कालपरिवर्तनके जैसा ही है । अनु०] ॥ ६९ ॥

---

१ ब समइसु सव्वेसु । २ ब म काले ।

णेरइयादि-गदीणं अवर-ट्ठिदो[1] वर-ट्ठिदी जाव[2] ।
सव्व-ट्ठिदिसु वि जम्मदि जीवो गेवेज्ज-पज्जंतं ॥ ७० ॥[3]

[छाया–नैरयिकादिगतीनाम् अपरस्थितितः वरस्थितिं यावत् । सर्वस्थितिष्वपि जायते जीवः ग्रैवेयकपर्यन्तम् ॥] **जीवः** संसार्यात्मा नरकादिगतीनां चतसृणाम् अवरस्थितितः जघन्यस्थितिमारभ्य उत्कृष्टस्थितिपर्यन्तम् । तथा हि नरकगतौ जघन्यायुर्दशसहस्रवर्षाणि, तेनायुषा तत्रोत्पन्नः पुनः संसारे भ्रान्त्वा तेनैवायुषा तत्रोत्पन्नः । एवं दशवर्षसहस्रसमयवारं तत्र चोत्पन्नो मृतश्च । पुनः एकैकसमयाधिक्येन त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमाप्यन्ते । पश्चात्तिर्यग्गतौ अन्तर्मुहूर्तायुषोत्पन्नः प्राग्वत् तत्समयवारम् उत्पन्नः समयाधिक्येन त्रिपल्योपमानि तेनैव जीवेन परिसमाप्यन्ते । एवं मनुष्यगतावपि । नरकगतिवत् देवगतावपि । तत्रायं विशेषः । उत्कर्षतः एकत्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमाप्यन्ते । एवं भ्रान्त्वागत्य पूर्वोक्तजघन्यस्थितिको नारको जायते । तदेतत्सर्वं समुदितं भवपरिवर्तनम् । उक्तं च । 'णिरयाउवा जहण्णा जीवदुं उवरिल्लयादु गेवज्जो । जीवो मिच्छत्तवसा भवट्ठिदे हिंडिदो बहुसो ॥' ७० ॥ अथ भावपरिवर्तनं निरूपयति–

परिणमदि सण्णि-जीवो विविह-कसाएहिँ ठिदि-णिमित्तेहिँ ।
अणुभाग-णिमित्तेहि य वट्टंतो भाव-संसारे[5] ॥ ७१ ॥[6]

अब भवपरिवर्तनको कहते हैं । **अर्थ–**संसारी जीव नरकादिक चार गतियोंकी जघन्य स्थितिसे लेकर उत्कृष्ट स्थितिपर्यन्त सब स्थितियोंमें ग्रैवेयक तक जन्म लेता है ॥ **भावार्थ–**नरकगतिमें जघन्य आयु दस हजार वर्षकी है । उस आयुको लेकर कोई जीव प्रथम नरकमें उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया । पुनः उसी आयुको लेकर वहाँ उत्पन्न हुआ और मर गया । इस प्रकार दस हजार वर्षके जितने समय हैं, उतनी बार दस हजार वर्षकी आयु लेकर प्रथम नरकमें उत्पन्न हुआ । पीछे एक समय अधिक दस हजार वर्षकी आयु लेकर वहाँ उत्पन्न हुआ । फिर दो समय अधिक दस हजार वर्षकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ । इस प्रकार एक एक समय बढ़ाते बढ़ाते नरकगतिकी उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर पूर्ण करता है । फिर तिर्यञ्चगतिमें अन्तर्मुहूर्तकी जघन्य आयु लेकर उत्पन्न हुआ और पहलेकी ही तरह अन्तर्मुहूर्तके जितने समय होते हैं, उतनी बार अन्तर्मुहूर्तकी आयु लेकर वहाँ उत्पन्न हुआ । फिर एक एक समय बढ़ाते बढ़ाते तिर्यञ्चगतिकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्य समाप्त करता है । फिर तिर्यञ्चगति ही की तरह मनुष्यगतिमें भी अन्तर्मुहूर्तकी जघन्य आयुसे लेकर तीन पल्यकी उत्कृष्ट आयु समाप्त करता है । पीछे नरकगतिकी तरह देवगतिकी आयुको भी समाप्त करता है । किन्तु देवगतिमें इतनी विशेषता है कि वहाँ इकतीस सागरकी ही उत्कृष्ट आयुको पूर्ण करता है, क्योंकि ग्रैवेयकमें उत्कृष्ट आयु इकतीस सागरकी होती है, और मिथ्यादृष्टियोंकी उत्पत्ति ग्रैवेयक तक ही होती है । इस प्रकार चारों गतियोंकी आयु पूर्ण करनेको भवपरिवर्तन कहते हैं । कहा भी है–'नरककी जघन्य आयुसे लेकर ऊपरके ग्रैवेयक पर्यन्तके सब भवोंमें यह जीव मिथ्यात्वके आधीन होकर अनेक बार भ्रमण करता है ।' ॥ ७० ॥ अब भावपरिवर्तनको कहते हैं । **अर्थ–**सैनीजीव जघन्य आदि उत्कृष्ट स्थितिबन्धके कारण तथा अनु-

---

१ ग अवरिट्ठिदिदो वरिट्ठिदी । २ ब जाम । ३ म भावे[भत्रे] । ब प्रतिमें इस गाथाके बीच और बाद नातेके कुछ शब्द लिखे गये हैं, इसलिए किसी दूसरेने हासियेमें यह गाथा लिखी है । गाथाके अन्तमें 'भवो' शब्द है । ४ [जावदु] ५ क स ग संसारो । ६ ब भावसंसारो, म भाव ।

[छाया-परिणमते संज्ञिजीवः विविधकषायैः स्थितिनिमित्तैः । अनुभागनिमित्तैश्च वर्तमानः भावसंसारे ॥] भावसंसारः भावपरिवर्तनम्। संज्ञिजीवः मिथ्यादृष्टिः पञ्चेन्द्रियपर्याप्तकः प्राणी स्वयोग्यसर्वजघन्यां ज्ञानावरणप्रकृतिमन्तः-कोटाकोटिप्रमितां बध्नाति। तस्य जीवस्य कषायाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयलोकमात्राणि जघन्यस्थितियोग्यानि । तत्र सर्वजघन्यकषायाध्यवसायस्थानं सर्वजघन्यानुभागबन्धाध्यवसायस्थानं च प्राप्तस्य तद्योग्यसर्वजघन्यं योगस्थानं भवति। तेषामेव स्थितिकषायाध्यवसायानुभागस्थानानां द्वितीयमसंख्येयभागयुक्तं योगस्थानम्। एवमसंख्यातभागवृद्धि-संख्यात-भागवृद्धि-संख्यातगुणवृद्धि-असंख्यातगुणवृद्ध्याख्यचतुःस्थानवृद्धिपतितानि श्रेण्यसंख्येयभागप्रमितानि योगस्थानानि भवन्ति । तथा तामेव स्थितिं तदेव कषायाध्यवसायस्थानमास्कन्दतो द्वितीयमनुभागबन्धाध्यवसायस्थानं भवति । तस्यापि योगस्थानानि पूर्वोक्तान्येव ज्ञातव्यानि। एवं तृतीयादिष्वप्यनुभागाध्यवसायस्थानेष्वसंख्यातलोकपरिसमाप्ति-पर्यन्तेषु प्रत्येकं योगस्थानानि नेतव्यानि। एवं तामेव स्थितिं बध्नतो द्वितीयं कषायाध्यवसायस्थानं भवति । तस्याप्यनु-भागबन्धाध्यवसायस्थानानि योगस्थानानि च प्राग्वत् ज्ञातव्यानि। एवं तृतीयादिकषायाध्यवसायस्थानेष्वसंख्यातलोकमात्र-परिसमाप्तिपर्यन्तेष्वावृत्तिक्रमो ज्ञातव्यः। ततः समयाधिकस्थितेरपि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि प्राग्वदसंख्येयलोक

भागबन्धके कारण अनेक प्रकारकी कषायोंसे, तथा 'च'शब्दसे श्रेणीके असंख्यातवें भाग प्रमाण योग-स्थानोंसे वर्धमान भावसंसारमें परिणमन करता है ॥ **भावार्थ**–योगस्थान, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान कषायाध्यवसायस्थान और स्थितिस्थान, इन चारके निमित्तसे भावपरिवर्तन होता है। प्रकृतिबन्ध और प्रदेश-बन्धके कारण आत्माके प्रदेशपरिस्पन्दरूप योगके तरतमरूप स्थानोंको योगस्थान कहते हैं। अनु-भागबन्धके कारण कषायके तरतमस्थानोंको अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान कहते हैं। स्थितिबन्धके कारण कषायके तरतमस्थानोंको कषायस्थान या स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान कहते हैं। बँधनेवाले कर्मकी स्थितिके भेदोंको स्थितिस्थान कहते हैं। योगस्थान श्रेणीके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान असंख्यातलोकप्रमाण हैं। तथा कषायाध्यवसायस्थान भी असंख्यातलोकप्रमाण हैं। मिथ्यादृष्टी, पञ्चेन्द्रिय, सैनी, पर्याप्तक कोई जीव ज्ञानावरणकर्मकी अन्तःकोड़ाकोड़ीसागरप्रमाण जघन्यस्थितिको बाँधता है। उस जीवके उस स्थितिके योग्य जघन्य कषायस्थान, जघन्य अनुभाग०स्थान और जघन्य ही योगस्थान होता है। फिर उसी स्थिति, उसी कषाय० स्थान और उसी अनुभाग० स्थानको प्राप्तजीवके दूसरा योगस्थान होता है। जब सब योगस्थानोंको समाप्त कर लेता है तब उसी स्थिति और उसी कषाय० स्थानको प्राप्तजीवके दूसरा अनुभाग० स्थान होता है। उसके योगस्थान भी पूर्वोक्त प्रकार ही जानने चाहिये। इस प्रकार प्रत्येक अनुभाग० स्थानके साथ सब योगस्थानोंको समाप्त करता है। अनुभाग० स्थानोंके समाप्त होनेपर, उसी स्थितिको प्राप्त जीवके दूसरा कषाय० स्थान होता है। इस कषाय० स्थानके अनुभाग० स्थान तथा योगस्थान पूर्ववत् जानने चाहिये। इस प्रकार सब कषाय० स्थानोंकी समाप्तितक अनुभाग० स्थान और योगस्थानोंकी समाप्तिका क्रम जानना चाहिये। कषाय० स्थानोंके भी समाप्त होनेपर वही जीव उसी कर्मकी एक समय अधिक अन्तःकोड़ाकोड़ीसागरप्रमाण स्थिति बाँधता है। उसके भी कषाय० स्थान, अनुभागस्थान तथा योगस्थान पूर्ववत् जानने चाहिये। इस प्रकार एक एक समय बढ़ाते बढ़ाते उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ीसागर पर्यन्त प्रत्येक स्थितिके कषाय० स्थान, अनुभाग०स्थान और योगस्थानोंका क्रम जानना चाहिये इसी प्रकार समस्त मूल और उत्तरप्रकृतियोंमें समझना चाहिये। अर्थात् प्रत्येक मूलप्रकृति और प्रत्येक उत्तरप्रकृतिकी जघन्य स्थितिसे लेकर उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त प्रत्येक स्थितिके साथ पूर्वोक्त सब कषाय० स्थानों, अनुभाग० स्थानों

मात्राणि भवन्ति। एवं समयाधिकक्रमेणोत्कृष्टस्थितिपर्यन्तं त्रिंशत्सागरोपमकोटाकोटिप्रमितस्थितेरपि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि योगस्थानानि च ज्ञातव्यानि। एवं मूलप्रकृतीनाम् उत्तरप्रकृतीनां च परिवर्तनक्रमो ज्ञातव्यः। तदेतत्सर्वं समुदितं भावपरिवर्तनं भवति। परिणमति परिणामान् प्राप्नोतीति भावसंसारः। कीदृक्ष सन्। वर्धमानः सन्। कैः। विविधकषायैः, असंख्यातलोकमात्रकषायाध्यवसायैः। कीदृक्षैः। स्थितिनिमित्तैः, कर्मणां जघन्याद्युत्कृष्टस्थितिबन्धकारणैः। पुनः कीदृक्षैः। अनुभागनिमित्तैः, अनुभागः फलदानपरिणतिः तस्य निमित्तैः कारणैः। चशब्दात् श्रेण्यसंख्येयभागयोगस्थानैः। इति भावसंसारः॥ ७१॥ एवं पञ्चपरिवर्तनान्युपसंहरति–

एवं अणाइ-काले[1] पंच-पयारे[2] भमेइ संसारे।
णाणा-दुक्ख-णिहाणो जीवो मिच्छत्त-दोसेण॥ ७२॥

[छाया–एवम् अनादिकाले पञ्चप्रकारे भ्रमति संसारे। नानादुःखनिधानः जीवः मिथ्यात्वदोषेण॥] **एवं पूर्वोक्तप्रकारेण, संसारे** भवे, **जीवः अनादिकाल भ्रमति** भ्रमणं करोति। केन। **मिथ्यात्वदोषेण,** मिथ्यात्वलक्षणदोषतः। कीदृक्षे। **पञ्चप्रकारे,** द्रव्यादिपञ्चभेदभिन्ने। पुनः कीदृक्षे। नानादुःखनिधाने, अनेकाशर्मोत्पत्तिनिमित्ते॥ ७२॥

इय संसारं जाणिय मोहं सव्वायरेण चइऊणं।
तं झायह स-सरूवं[3] संसरणं[4] जेण णासेइ॥ ७३॥[5]

[छाया–इति संसारं ज्ञात्वा मोहं सर्वादरेण त्यक्त्वा। तं ध्यायत स्वस्वरूपं संसरणं येन नश्यति॥] **तं प्रसिद्धं स्वस्वभावं** शुद्धबोधमयस्वरूपं **ध्यायत** यूयं स्मरत, **येन** ध्यातेन **नश्यति** विनाशमेति। किम्। **संसरणं** पञ्चसंसारभ्रमणम्। **किं कृत्वा।** सर्वादरेण सम्यक्त्वव्रतध्यानादिसर्वोद्यमेन त्यक्त्वा मुक्त्वा। कम्। **मोहं,** ममत्वपरिणाममोहनीयकर्म च। **किं कृत्वा पुनः।** इति पूर्वोक्तं सर्वं ज्ञात्वा अवगम्य। कम्। संसारम्॥ ७३॥

संसरन्त्यत्र संसारे जीवा मोहविपाकतः। स्तवीमि तत्परित्यक्तं सिद्धं शुद्धं चिदात्मकम्॥

इति श्रीस्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षायास्त्रिविद्यविद्याधरषड्भाषाकवि-
चक्रवर्तिभट्टारकश्रीशुभचन्द्रदेवविरचितटीकायां
संसारानुप्रेक्षायां तृतीयोऽधिकारः॥ ३॥

और योगस्थानोंको पहलेकी ही तरह लगा लेना चाहिये। इस प्रकार सब कर्मोंकी स्थितियोंको भोगनेको भावपरिवर्तन कहते हैं। इन परिवर्तनोंको पूर्ण करनेमें जितना काल लगता है, उतना काल भी उस उस परावर्तनके नामसे कहाता है॥ ७१॥ [श्वे० सा० में भावपरावर्तके भी दो भेद हैं। असंख्यातलोकप्रमाण अनुभागबन्धस्थानोंमेंसे एक एक अनुभागबन्धस्थानमें क्रमसे या अक्रमसे मरण करते करते जीव जितने समयमें समस्त अनुभागबन्धस्थानोमें मरण कर चुकता है, उतने समयको बादर भाव परावर्त कहते हैं। तथा जघन्य अनुभागस्थानसे लेकर उत्कृष्ट अनुभाग स्थान पर्यन्त प्रत्येक स्थानमें क्रमसे मरण करनेमें जितना समय लगता है, उसे सूक्ष्मभाव परावर्त कहते हैं। श्वे० सा० में प्रत्येक परावर्तके नामके साथ पुद्गल शब्द भी जुड़ा रहता है। यथा–द्रव्य पुद्गल परावर्त, क्षेत्र पुद्गल परावर्तकाल पुद्गल परावर्त आदि। अनु०] पाँच परिवर्तनोंका उपसंहार करते हैं। **अर्थ–**इस प्रकार अनेक दुःखोंकी उत्पत्तिके कारण पाँच प्रकारके संसारमें, यह जीव मिथ्यात्वरूपी दोषके कारण अनादि कालतक भ्रमण करता रहता है॥ ७२॥ **अर्थ–**इस प्रकार संसारको जानकर और सम्यक्त्व, व्रत, ध्यान आदि समस्त उपायोंसे मोहको त्यागकर अपने उस शुद्ध ज्ञानमय स्वरूपका ध्यान करो, जिससे पाँच प्रकारके संसारभ्रमणका नाश होता है॥ ७३॥ इति संसारानुप्रेक्षा॥ ३॥

---

१ ब अणायकाले, ल म स ग अणाइकालं। २ ब पयारेहिं भमए सं०। ३ ल म स ग ससहावं। ४ म संसारं। ५ ब म संसारानुप्रेक्षा।

[४. एकत्वानुप्रेक्षा]

अथैकत्वानुप्रेक्षां गाथाषट्केनाह-

इक्को जीवो जायदि एक्को[1] गब्भम्हि[2] गिण्हदे देहं ।
इक्को बाल-जुवाणो इक्को वुड्ढो जरा-गहिओ ॥ ७४ ॥

[छाया-एकः जीवः जायते एकः गर्भे गृह्णाति देहम् । एकः बालः युवा एकः वृद्धः जरागृहीतः ॥] जायते उत्पद्यते । कः । जीवः जन्तुरेक अद्वितीय एव नान्यः । गृह्णाति अङ्गीकरोति । कम् । देहं शरीरम् । क्व । गर्भे मातृजठरे । एक एव बालः शिशुः, एक एव युवा यौवनेनात्यन्तशाली, एक एव वृद्धः जरागृहीतः स्थविरः जराजर्जरितः एक एव ॥ ७४ ॥

इक्को[3] रोई सोई इक्को[3] तप्पेइ माणसे दुक्खे ।
इक्को[5] मरदि वराओ णरय[4]-दुहं सहदि इक्को वि ॥ ७५ ॥

[छाया-एकः रोगी शोकी एकः तप्यते मानसे दुःखे । एकः म्रियते वराकः नरकदुःखं सहते एकोऽपि ॥] एक एव जीवः रोगी रोगाक्रान्तः । एक एव शोकी शुचाक्रान्तः । मानसैर्दुःखैः तप्यति तापं संतापं गच्छति । एक एव म्रियते मरणदुःखं प्राप्नोति । एक एव वराकः दीनः जीव नरकदुःखं रत्नप्रभादिदुस्सहवेदनादुःखं सहते क्षमते ॥ ७५ ॥

इक्को[6] संचदि पुण्णं एक्को[6] भुंजेदि विविह-सुर-सोक्खं ।
इक्को[6] खवेदि कम्मं इक्को[6] वि य पावए[7] मोक्खं ॥ ७६ ॥

[छाया-एकः संचिनोति पुण्यम् एकः भुनक्ति विविधसुरसौख्यम् । एकः क्षपयति कर्म एकोऽपि च प्राप्नोति मोक्षम् ॥] एक एव पुण्यं शुभकर्म सम्यक्त्वं व्रतदानादिलक्षणं संचिनोति संग्रहीकरोति । एक एव भुंक्ते विविधसुरसौख्यं चतुर्णिकायदेवानाम् अनेकप्रकारसुखम् । एक एव क्षपकश्रेण्यामारूढः सन् कर्म ज्ञानावरणादिकं क्षपयति क्षयं करोति । अपि पुनः, एक एव सकलकर्मविप्रमुक्तः सन् मोक्षं सकलकर्मविप्रमुक्तिं प्राप्नोति लभते ॥ ७६ ॥

सुयणो पिच्छंतो वि हु ण दुक्ख-लेसं पि सक्कदे गहिदुं ।
एवं जाणंतो वि हु तो वि ममत्तं ण छंडेई[8] ॥ ७७ ॥

छह गाथाओंसे एकत्वानुप्रेक्षाको कहते हैं । **अर्थ**-जीव अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही माताके उदरमें शरीरको ग्रहण करता है, अकेला ही बालक होता है, अकेला ही जवान होता है, और अकेला ही बुढ़ापेसे बूढ़ा होता है ॥ ७४ ॥ **अर्थ**-अकेला ही रोगी होता है, अकेला ही शोक करता है, अकेला ही मानसिक दुःखसे संताप पाता है, अकेला ही मरता है, और बेचारा अकेला ही नरकके असह्य दुःखको सहता है ॥ ७५ ॥ **अर्थ**-अकेला ही पुण्यका संचय करता है, अकेला ही देवगतिके अनेक प्रकारके सुखोंको भोगता है । अकेला ही कर्मका क्षय करता है, और अकेला ही मुक्तिको प्राप्त करता है ॥ ७६ ॥ **अर्थ**-कुटुम्बीजन देखते हुए भी दुःखके लेशमात्रको भी ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं होते हैं । किन्तु ऐसा जानते हुए भी ममत्वको नहीं छोड़ता है ॥ **भावार्थ**-यह जीव जानता है, कि जब मुझे कोई कष्ट सताता है तो कुटुम्बीजन उसे देखते हुए भी बाँट नहीं सकते हैं । शरीरमें पीड़ा होनेपर उसका कष्ट मुझे ही भोगना पड़ता है, अन्य वस्तुओंकी तरह उसमें कोई चाहनेपर भी हिस्सादार नहीं कर सकता । किन्तु फिर भी माता, पिता, भाई, पुत्र वगैरह कुटुम्बियोंसे

---

१ ल म स ग इक्को । २ ब गब्भम्मि...देहो । ३ ब एको । ४ ब निरय । ५ ब एको । ६ ल म स ग इक्को । ७ ब म पावइ । ८ स छेडेइ ।

[छाया-स्वजनः पश्यन्नपि खलु न दुःखलेशमपि शक्नोति प्रहीतुम् । एवं जानन्नपि खलु ततः अपि ममत्वं न त्यजति ॥] अपि पुनः, शक्नोति समर्थो भवति, न प्रहीतुं लातुम् । किम् । दुःखलेशं स्वकीयजनजातासातलेशं कणिकाम् । कः । सुजेनोऽपि मातृपितृभ्रातृपुत्राद्यात्मजनोऽपि । अपिशब्दात् अन्योऽपि हु स्फुटं, पश्यन्नपि प्रेक्षमाणोऽपि, एवं जानन् अपि, हु स्फुटं, तो वि तथापि, ममत्वं न त्यजति ॥ ७७ ॥

जीवस्स णिच्छयादो धम्मो दह-लक्खणो हवे सुयणो[2] ।
सो णेइ देव-लोए सो च्चिय[3] दुक्ख-क्खयं कुणइ ॥ ७८ ॥

[छाया-जीवस्य निश्चयतः धर्मः दशलक्षणः भवेत् स्वजनः । सः नयति देवलोके स एव दुःखक्षयं करोति ॥] स्वजनः आत्मीयजनः, निश्चयतः परमार्थतः, भवेत् । कस्य । जीवस्य आत्मनः । कः । दशलक्षणः उत्तमक्षमादिदशलाक्षणिकधर्मः । स धर्मो जिनोक्तः, नयति प्रापयति, देवलोके सौधर्मादिनाकलोके । स एव दशलाक्षणिकधर्मः करोति विदधाति । कम् । दुःखक्षयं चतुर्गतिदुःखानां विनाशम्[4] ॥ ७८ ॥

सव्वायरेण जाणेह[5] एक्कं[6] जीवं सरीरदो भिण्णं ।
जम्हि दु मुणिदे जीवे[7] होदि[8] असेसं खणे हेयं ॥ ७९ ॥

[छाया-सर्वादरेण जानीत एकं जीवं शरीरतः भिन्नम् । यस्मिन् तु ज्ञाते जीवे भवति अशेषं क्षणे हेयम् ॥] सर्वादरेण समस्तोद्यमेन, जानीहि विद्धि, एकमद्वितीयं जीवं चिदानन्दम् । कीदृशम् । शरीरतः नोकर्मकर्मादेर्भिन्नं पृथक् । तु पुनः । यस्मिन् जीवे शुद्धचिद्रूपे ज्ञाते सति, क्षणे क्षणतः, अशेषं शरीरमित्रकलत्रधनधान्यादि सर्वं, हेयं त्याज्यं, भवति जायते ॥ ७९ ॥

एकं श्रीशुभचन्द्रमिन्द्रनिकरैः सेव्यं जिनं संभज, एकं सन्मतिकीर्तिदायकमरं तत्त्वं स्मर स्मारय ।
एकं जैनमतानुशास्त्रनिकरं श्रव्यं कुरु प्रीतये, एकं ध्यानगतं विशुद्धममलं चिद्रूपभावं धर ॥

इति श्रीस्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षायास्त्रिविद्यविद्याधरषड्भाषा-
कविचक्रवर्तिभट्टारकश्रीशुभचन्द्रदेवविरचितटीकायाम्
एकत्वानुप्रेक्षायां चतुर्थोऽधिकारः ॥ ४ ॥

उसे जो मोह है, वह उसे नहीं छोड़ता है ॥ ७७ ॥ **अर्थ**—यथार्थमें जीवका आत्मीय जन उत्तम क्षमादिरूप दशलक्षणधर्म ही है । वह दशलक्षणधर्म सौधर्म आदि स्वर्गमें लेजाता है, और वही चारों गतियोंके दुःखोंका नाश करता है ॥ **भावार्थ**—अपना सच्चा आत्मीय वही है, जो हमें सुख देता है और दुःखोंको दूर करता है । लौकिक सम्बन्धी न तो हमें सुख ही देते हैं और न दुःखोंसे ही हमारी रक्षा कर सकते हैं । किन्तु धर्म दोनों काम कर सकनेमें समर्थ है । अतः वही हमारा सच्चा बन्धु है, और उसीसे हमें प्रीति करना चाहिये ॥ ७८ ॥ **अर्थ**—पूरे प्रयत्नसे शरीरसे भिन्न एक जीवको जानो । उस जीवके जान लेनेपर क्षणभरमें ही शरीर, मित्र, स्त्री, धन, धान्य वगैरह सभी वस्तुएँ हेय होजाती हैं ॥ **भावार्थ**—संसारकी दशा देखते हुए भी अपने कुटुम्बीजनोंसे जीवका मोह नहीं छूटता है । इसका कारण यह है, कि जीव अपनेको अभी नहीं जान सका है । जिस समय वह अपनी शुद्ध चैतन्यमय आत्माको जान लेगा, उसी समय उसे सभी परवस्तुएँ हेय प्रतीत होने लगेंगी । अतः सब कुछ छोड़कर अपनेको जाननेका पूरा प्रयत्न करना चाहिये ॥ ७९ ॥ इति एकत्वानुप्रेक्षा ॥ ४ ॥

---

१ ग स्वजनोपि । २ म सुवणो । ३ स वि य । ४ सर्वत्र 'विनाशं करोति' इति पाठः । ५ ब जाणइ । ६ ल म स ग इक्कं । ७ ब म जीवो । ८ ल म स ग होइ । ९ ब एकत्ताणुवेक्खा, म एकत्वानुप्रेक्षा ।

[५. अन्यत्वानुप्रेक्षा]

अथ त्रिभिर्गाथाभिरन्यत्वानुप्रेक्षामुत्प्रेक्षते-

अण्णं देहं गिण्हदि[1] जणणी अण्णा य होदि कम्मादो ।
अण्णं होदि कलत्तं अण्णो वि य जायदे पुत्तो ॥ ८० ॥

[छाया-अन्यं देहं गृह्णाति जननी अन्या च भवति कर्मणः । अन्यत् भवति कलत्रं अन्योऽपि च जायते पुत्रः ॥] अन्यं भिन्नं, देहं शरीरं, गृह्णाति अङ्गीकरोति, जीवः इत्यध्याहार्यम् । जननी सवित्री माता अन्या च भिन्ना च भवति । कुतः । कर्मतः स्वकीयकृतकर्मविपाकात् । कलत्रम् आत्मनः स्वभावाद् अन्यत् पृथग्भवति । अपि च पुत्रः आत्मजः अन्यः शरीरादेः पृथक् जायते उत्पद्यते ॥ ८० ॥

एवं बाहिर-दव्वं जाणदि रूवादु अप्पणो भिण्णं ।
जाणंतो वि हु जीवो तत्थेव हि रच्चदे मूढो ॥ ८१ ॥

[छाया-एवं बाह्यद्रव्यं जानाति रूपात् आत्मनः भिन्नम् । जानन्नपि खलु जीवः तत्रैव हि रज्यति मूढः ॥] एवं शरीरजननीकलत्रपुत्रादिवत् बाह्यद्रव्यं गजतुरगरथद्रव्यगृहादिकः आत्मनः स्वरूपात् चिद्रूपस्य स्वभावात् भिन्नं पृथक् जानाति वेत्ति । हु स्फुटम् । भिन्नं जानन्नपि मूढो जीवः अज्ञः प्राणी तत्रैव बाह्यद्रव्ये पुत्रमित्रकलत्रधनधान्यादौ रज्यति रागं गच्छति ॥ ८१ ॥

जो जाणिऊण देहं जीव-सरूवादु[3] तच्चदो भिण्णं ।
अप्पाणं पि य सेवदि कज्जकरं तस्स अण्णत्तं ॥ ८२ ॥[4]

[छाया-यः ज्ञात्वा देहं जीवस्वरूपात् तत्त्वतः भिन्नम् । आत्मानमपि च सेवते कार्यकरं तस्य अन्यत्वम् ॥] तस्य जीवस्य अन्यत्वम् अन्यत्वानुप्रेक्षाचिन्तनं कार्यकरं मोक्षपर्यन्तसाध्यसाधकम् । तस्य कस्य । यः सेवते भजते । कम् । आत्मानं शुद्धचिद्रूपम् । किं कृत्वा । ज्ञात्वा परिज्ञाय । कम् । देहं शरीरं, जीवस्वरूपात् आत्मस्वरूपात्, तत्त्वतः परमार्थतः, भिन्नं पृथक् ॥ ८२ ॥

भिन्नं जिनं जगति कर्मशरीरगेहात् ज्ञानादितो न खलु भिन्नमिमं भजध्वम् ।
भिन्नं जगद्वदति यो जगतां जितात्मा भिन्नेतरादिघटनां घटयन् स भाति ॥

इति श्रीस्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षायास्त्रिविद्यविद्याधरषड्भाषा-
कविचक्रवर्तिभट्टारकश्रीशुभचन्द्रदेवविरचितटीकायाम्
अन्यत्वानुप्रेक्षायां पञ्चमोऽधिकारः ॥ ५ ॥

तीन गाथाओंसे अन्यत्वानुप्रेक्षाको कहते है । **अर्थ**-अपने उपार्जित कर्मोंके उदयसे जीव भिन्न शरीरको ग्रहण करता है । माता भी उससे भिन्न होती है । स्त्री भी भिन्न होती है और पुत्र भी भिन्न ही पैदा होता है ॥ **भावार्थ**-आत्मासे शरीर, स्त्री, पुत्र, आदिके भिन्न चिन्तन करनेको अन्यत्वानुप्रेक्षा कहते हैं । आत्मासे ये सभी वस्तुएँ भिन्न हैं ॥ ८० ॥ **अर्थ**-इस प्रकार शरीर, माता, स्त्री, पुत्र आदिकी तरह हाथी, घोड़ा, रथ, धन, मकान वगैरह बाह्य द्रव्योंको यद्यपि आत्मासे भिन्न जानता है, किन्तु भिन्न जानते हुए भी मूर्ख प्राणी उन्हींसे राग करता है ॥ **भावार्थ**-यह सब जानते हैं, कि संसारकी सब विभूति हमसे पृथक् है, किन्तु फिर भी सब उनसे प्रीति करते देखे जाते हैं ॥ ८१ ॥ **अर्थ**-जो आत्मस्वरूपसे शरीरको यथार्थमें भिन्न जानकर अपनी आत्माका ही ध्यान करता है, उसीकी अन्यत्वानुप्रेक्षा कार्यकारी है ॥ **भावार्थ**-शरीरादिकसे

---

१ ब गिण्हदि । २ ब जाण सरूवादि अ° । ३ ब जीवस्स रूवादि । ४ ब अनुत्ताणप्रेषा, म अन्यत्वानुप्रेक्षा ।

[६. अशुचित्वानुप्रेक्षा]

अथ गाथाषट्केनाशुचित्वानुप्रेक्षां सूचयति-

सयल-कुहियाण पिंडं किमि-कुल-कलियं अउव्व-दुग्गंधं ।
मल-मुत्ताण य गेहं देहं जाणेहि[1] असुइमयं[2] ॥ ८३ ॥

[छाया-सकलकुथितानां पिण्डं कृमिकुलकलितमपूर्वदुर्गन्धम्। मलमूत्राणां च गेहं देहं जानीहि अशुचिमयम्॥] जानीहि त्वं, हे भव्य प्रतीहि । कम् । देहं शरीरम् । किंभूतम् । अशुचिमयम् अपवित्रद्रव्यनिष्पादितम् । कीदृक्षम् । सकलकुथितानां पिण्डं समस्तकुत्सितानां द्रव्याणां निचयम् । पुनः कीदृक्षम् । क्रिमिकुलकलितं, क्रिमयः जठरजद्वीन्द्रियजीवाः जन्तवः यूकादयः निगोदादयः तेषां कुलानि वृन्दानि तैः कलितं युक्तम् । अतीवदुर्गन्धम् । मलमूत्राणां गृहं, मला विष्ठादयः मूत्राणि प्रस्रवादयस्तेषां गृहं स्थानम् ॥ तथा श्रीभगवत्याराधनायां शरीरस्य निष्पत्त्यादिकं प्रोक्तं च। तद्यथा । 'कलिल १० कलुष १० स्थिरत्वं १० पृथग्दशाहेन बुद्बुदोऽथ घनः । तदनु ततः पलपेश्यः क्रमेण मासेन पुलकमतः ॥' १ ॥ 'चर्मनखरोमसिद्धेः स्यादङ्गोपाङ्गसिद्धिश्च । स्पन्दनमष्टममासे नवमे दशमेऽथ निस्सरणम् ॥' २ ॥ कलिलं दिन १०, कलुषीकृतं (दिन १०) पांशुरससदृशं दिन १०, स्थिरभूतं दिन १०, मास १ । बुद्बुदभूतं मास १ । घनभूतं मास १ । मांसपेशी मास १ । पञ्चपुलकानि मास १ । अङ्गोपाङ्गानि मास १ । चर्मनखरोमनिष्पत्तिः मास १ । चलनम् । मासे नवमे निर्गमनम् ॥ शरीरस्य अवयवानाचष्टे । त्रिशतानि अस्थीनि ३००, तानि सर्वाणि मज्जाधातुभिर्भृतानि । तावन्ति संधयः ३०० । स्नायूनां नवशतानि ९०० । शिराणां सप्तशतानि ७०० । पञ्चशतानि मांसपेश्यः ५०० । चत्वारि शिराजालानि ४ । षोडशखण्डसंज्ञानि १६ । शिरामूलानि षडेव ६ । मांसरज्जुद्वयं २ । त्वचः सप्त ७ । कालेयानि सप्त ७ । रोमकोटीनामशीतिशतसहस्राणि ८०००००००००००० । आमाशये अवस्थिता अन्त्रयष्टयः षोडश १६ ।

आत्माके भिन्न चिन्तन करनेको अन्यत्वानुप्रेक्षा कहते हैं । अन्यत्वका चिन्तन करते हुए भी यदि यथार्थमें भेदज्ञान न हुआ तो वह चिन्तन कार्यकारी नहीं है ॥ ८२ ॥ इति अन्यत्वानुप्रेक्षा ॥ ५ ॥

छह गाथाओंसे अशुचित्वअनुप्रेक्षाका सूचन करते हैं। **अर्थ**-इस शरीरको अपवित्र द्रव्योंसे बना हुआ जानो। क्योंकि यह शरीर समस्त बुरी वस्तुओंका समूह है। उदरमें उत्पन्न होनेवाले दोइन्द्रिय लट, जूं तथा निगोदियाजीवोंके समूहसे भरा हुआ है, अत्यन्त दुर्गन्धमय है, तथा मल और मूत्रका घर है ॥ **भावार्थ**-श्रीभगवतीआराधनामें गाथा १००७ से शरीरकी उत्पत्ति वगैरह इस प्रकार बतलाई है-"गर्भमें दस दिनतक वीर्य कलल अवस्थामें रहता है। अर्थात् गले हुए ताम्बे और चाँदीको परस्परमें मिलानेसे उन दोनोंकी जो अवस्था होती है, वैसी ही अवस्था माताके रज और पिताके वीर्यके मिलनेसे होती है । उसे ही कलल अवस्था कहते हैं। उसके पश्चात् दस दिनतक वह काला रहता है। उसके पश्चात् दस दिनतक स्थिर रहता है । इस प्रकार प्रथम मासमें रज और वीर्यके मिलनेसे ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। दूसरे मासमें बुलबुलेकी तरह रहता है । तीसरे मासमें कड़ा होजाता है । चौथे मासमें मांसका पिण्ड होजाता है। पाँचवें मासमें हाथ, पैर और सिरके स्थानमें पाँच अङ्कुर फूटते हैं । छठे मासमें अङ्ग और उपाङ्ग बन जाते हैं। सातवें मासमें चमड़ा, रोम और नाखून बन जाते हैं । आठवें मासमें बच्चा पेटमें घूमने लगता है । नवें अथवा दसवें मासमें बाहर आजाता है ।" शरीरके अवयव इस प्रकार हैं-"इस शरीर में तीनसौ हड्डियाँ हैं । वे सभी मज्जा नामकी धातुसे भरी हुई हैं। तीन सौ ही सन्धियाँ हैं । नौसौ स्नायु हैं । सात सौ सिराएँ हैं

---

१ ल म स जाणेह, ग जाणेइ। २ म असुइत्तं।

कुथितस्याश्रयाः सप्तैव भवन्ति ७। स्थूणाः तिस्रो भवन्ति ३। मर्मणां शतं सप्ताधिकं १०७ भवति। व्रणमुखानि नव भवन्ति ९, नित्यं कुथितं स्रवन्ति यानि। मस्तिष्कं स्वाञ्जलिप्रमाणं, मेदोऽञ्जलिप्रमाणम्, ओजो निजाञ्जलिप्रमाणं, शुक्रं स्वाञ्जलिप्रमाणं, वसा धातवः तिस्रोऽञ्जलयः, पित्ताञ्जलित्रिकं ३, श्लेष्माञ्जलित्रिकं ३। रुधिरं सेर ८, मूत्रं सेर १६, विष्ठा सेर २४। नख २०, दन्ताः ३२। 'क्रिमिकीटनिगोदादिभिर्भृतमिदं शरीरम्। रसा १ ऽसृक् २ मांस ३ मेदो ४ ऽस्थि ५ मज्जा ६ शुक्राणि ७ धातवः॥' सप्तधातुभिर्निष्पन्नम्॥ ८३॥

सुट्ठु पवित्तं दव्वं सरस-सुगंधं[1] मणोहरं जं पि।
देह-णिहित्तं जायदि घिणावणं सुट्ठु दुग्गंधं॥ ८४॥

[छाया-सुष्ठु पवित्रं द्रव्यं सरससुगन्धं मनोहरं यदपि। देहनिहितं जायते घृणास्पदं सुष्ठु दुर्गन्धम्॥] यदपि द्रव्यं चन्दनकर्पूरागरुकस्तूरीसुगन्धपुष्पप्रमुखम्। कीदृक्षम्। सुष्ठु अतिशयेन पवित्रं शुचिः। कीदृक्षं पुनः। सरससुगन्धम् अपूर्वरसगन्धसहितम् अन्नपानादि, मनोहरं चेतश्चमत्कारकम्, तदपि द्रव्यं देहनिक्षिप्तं शरीरसंस्पृष्टं जायते भवति। कीदृक्षम्। घृणास्पदं सृगोत्पादकं [जुगुप्सोत्पादकं], सुष्ठु अतिशयेन दुर्गन्धं पूतिगन्धम्॥ ८४॥

मणुयाणं[2] असुइमयं विहिणा देहं विणिम्मियं[3] जाण।
तेसिं विरमण-कज्जे ते पुण तत्थेव[4] अणुरत्ता॥ ८५॥

[छाया-मनुजानामशुचिमयं विधिना देहं विनिर्मितं जानीहि। तेषां विरमणकार्ये ते पुनः तत्रैव अनुरक्ताः॥] जाण जानीहि, मनुष्याणां देहं शरीरं विधिना पूर्वोपार्जितकर्मणा अशुचिमयम् अपवित्रतामयं विनिर्मितं निष्पादितम्। तेषां मनुष्याणां विरमणकार्ये वैराग्योत्पत्तिनिमित्तं पुनः ते मनुष्याः तत्रैव शरीरे अनुरक्ताः प्रेमसंबद्धाः॥ ८५॥

एवंविहं पि देहं पिच्छंता वि य कुणंति अणुरायं।
सेवंति आयरेण य अलद्ध-पुव्वं[5] ति मण्णंता॥ ८६॥

पाँच सौ मांसपेशियाँ हैं। सिराओंके चार समूह हैं। रक्तसे भरी १६ महासिराएँ हैं। सिराओंके छह मूल हैं। पीठ और उदरकी ओर दो मांसरज्जु हैं। चर्मके सात परत हैं। सात कालेयक अर्थात् मांस खण्ड हैं। अस्सी लाख करोड़ रोम है। आमाशयमें सोलह आँतें हैं। सात दुर्गन्धके आश्रय हैं। तीन स्थूणा है-वात, पित्त और कफ। एक सौ सात मर्मस्थान हैं। नौ मलद्वार हैं, जिनसे सर्वदा मल बहता रहता है। एक अञ्जलि प्रमाण मस्तक है। एक अञ्जलिप्रमाण मेद है। एक अञ्जलिप्रमाण ओज है। एक अञ्जलिप्रमाण वीर्य है। ये अञ्जलियाँ अपनी अपनी ही लेनी चाहिये। तीन अञ्जलिप्रमाण वसा है। तीन अञ्जलिप्रमाण पित्त है। [भगवती० में पित्त और कफको ६-६ अञ्जलिप्रमाण बतलाया है। देखो, गा० १०३४। अनु०।] ८ सेर रुधिर है। १६ सेर मूत्र है। २४ सेर विष्ठा है। बीस नख हैं। ३२ दाँत हैं। यह शरीर कृमि, लट तथा निगोदिया जीवोंसे भरा हुआ है। तथा रस, रुधिर, माँस, मेद, हड्डी, मज्जा और वीर्य इन सात धातुओंसे बना हुआ है। अतः गन्दगीका घर है॥ ८३॥ **अर्थ**-जो द्रव्य अत्यन्त पवित्र, अपूर्व रस और गंध से युक्त, तथा चित्तको हरनेवाले हैं, वे द्रव्य भी देहमें लगनेपर अति घिनावने तथा अति दुर्गन्धयुक्त होजाते हैं॥ **भावार्थ**-चन्दन, कपूर, अगरु, कस्तूरी, सुगन्धित पुष्प वगैरह पवित्र और सुगन्धित द्रव्य भी शरीरमें लगनेसे दुर्गन्धयुक्त होजाते हैं॥ ८४॥ **अर्थ**-मनुष्योंको विरक्त करनेके लिये ही विधिने मनुष्योंके शरीरको अपवित्र बनाया है, ऐसा प्रतीत होता है। किन्तु वे उसीमें अनुरक्त हैं॥ ८५॥ **अर्थ**-शरीरको इस प्रकारका देखते हुए भी मनुष्य उसमें अनुराग करते हैं। और मानों इससे पहले

१ ब सु(य)ध। २ छ म ग स मणुआण। ३ ब विणिम्मिदं [?]। ४ ब पुणु तित्थेव। ५ छ ग पुव्व चि, म सेव चि।

[छाया-एवंविधम् अपि देहं पश्यन्तः अपि च कुर्वन्ति अनुरागम् । सेवन्ते आदरेण च अलब्धपूर्वम् इति मन्यमानाः ॥] कुर्वन्ति । कम् । अनुरागं शरीरे अतिस्नेहम् । के । मनुष्याः । कीदृक्षाः । एवंविधमपि सप्तधातुमल-मूत्रदुर्गन्धतादिनिवृत्तमपि देहं शरीरं पश्यन्तः प्रेक्षमाणाः, अपि च पुनः, आदरेण च उद्यमेन सेवन्ते स्त्रीशरीरादिकं भजन्ति । कीदृक्षाः सन्तः । अलब्धपूर्वमिति मन्यमानाः, अतः पूर्वं कदाचिदपि न प्राप्तमिति जानन्तः ॥ ८६ ॥

जो पर-देह-विरत्तो णिय-देहे ण य करेदि अणुरायं ।
अप्प-संरूव[1]-सुरत्तो असुइत्ते[2] भावणा तस्स ॥ ८७ ॥[3]

[छाया-यः परदेहविरक्तः निजदेहे न च करोति अनुरागम् । आत्मस्वरूपसुरक्तः अशुचित्वे भावना तस्य ॥] तस्य मुनेः अशुचित्वे भावना अशुचित्वानुप्रेक्षा भवतीत्यर्थः । तस्य कस्य । यः पुमान् परदेहविरक्तः, परेषां स्त्रीप्रमुखानां देहे शरीरे विरक्तः विरतिं प्राप्तः । च पुनः, न करोति न विदधाति । कम् । अनुरागम् अतिस्नेहम् । क । निजदेहे स्वकीयशरीरे । कीदृक्षः सन् । आत्मस्वरूपे शुद्धचिद्रूपे, सुरक्तः ध्यानेन लीनः ॥ ८७ ॥

देहाशुचिं चेतसि भावयन्तं शुभेन्दुदेवं प्रणमामि भक्त्या । सुसन्मतिं कीर्तिमितं प्रयत्नात् सद्भावनाभावकृते शुभावात् ॥

इति श्रीस्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षायां भट्टारकश्रीशुभचन्द्रदेव-
विरचितटीकायाम् अशुचित्वानुप्रेक्षाप्रतिपादकः
षष्ठोऽधिकारः ॥ ६ ॥

[७. आस्रवानुप्रेक्षा]

अथास्रवानुप्रेक्षां गाथासप्तभिराह-

मण-वयण-काय-जोया जीव[4]-पएसाण फंदण-विसेसा ।
मोहोदएण[5] जुत्ता विजुदा वि य आसवा होंति ॥ ८८ ॥

[छाया-मनवचनकाययोगाः जीवप्रदेशानां स्पन्दनविशेषाः । मोहोदयेन युक्ताः वियुताः अपि च आस्रवाः भवन्ति ॥] अथास्रवाणां निमित्तानि योगान् युनक्ति । मनोवचनकाययोगाः, मनोयोगाः सत्यादिचत्वारः, वचनयोगाः

कभी मिला ही नहीं, ऐसा मान कर आदरसे उसका सेवन करते हैं ॥ ८६ ॥ **अर्थ**-जो दूसरोंके शरीरसे विरक्त है और अपने शरीरसे अनुराग नहीं करता है, तथा आत्माके शुद्ध चिद्रूपमें लीन रहता है उसीकी अशुचित्वमें भावना है ॥ **भावार्थ**-आचार्य कहते हैं, कि उसीकी अशुचित्वभावना है, जो न अपने शरीरसे अनुराग करता है और न स्त्री-पुत्रादिकके शरीरसे अनुराग करता है । तथा आत्म-ध्यानमें लीन रहता है । किन्तु जो अशुचित्वका चिन्तन करते हुए भी अपने या परके शरीरमें अनुरक्त है, उसकी अशुचित्वभावना केवल विडम्बना है ॥ ८७ ॥ इति अशुचित्वानुप्रेक्षा ॥ ६ ॥

सात गाथाओंसे आस्रवानुप्रेक्षाको कहते हैं । **अर्थ**-जीवके प्रदेशोंके हलन चलनको योग कहते हैं । योग तीन हैं-मनोयोग, वचनयोग और काययोग । ये योग मोहनीयकर्मके उदयसे युक्त भी रहते हैं और वियुक्त भी रहते हैं । इन योगोंको ही आस्रव कहते हैं ॥ **भावार्थ**-आस्रव नाम आनेका है और शरीरनामकर्मके उदयसे मन, वचन और कायसे युक्त जीवकी जो शक्ति कर्मोंके आगमनमें कारण है, उसे योग कहते हैं । अतः योग आस्रवका कारण है । योगके निमित्तसे ही कर्मोंका आस्रव होता है । इसलिये योगको ही आस्रव कहा है । वह योग तीन प्रकारका है-मनोयोग, वचनयोग और

---

१ क ग स अप्पसुरूवसु० । २ ब असुइत्तो । ३ ब असुइत्ताणुवेक्खा, म असुचित्वानुप्रेक्षा । ४ ब जीवापइसाण । ५ ब मोहोदइण ।

सत्यादयश्चत्वारः, काययोगा औदारिकादयः सप्त। कीदृक्षास्ते। जीवप्रदेशानाम् आत्मप्रदेशानां लोकमात्राणां स्पन्दनविशेषाः चलनरूपाः। तत्र केचन मिथ्यादृष्ट्यादिसूक्ष्मसांपरायगुणस्थानपर्यन्तानां जीवानां योगाः मोहोदयेन अष्टाविंशतिभेदभिन्नमोहकर्मविपाकेन युक्ताः। अपि पुनः। ततः उपरि त्रिषु गुणस्थानेषु तेन मोहोदयवियुक्ता रहिताः आस्रवाः, आस्रवन्ति संसारिणं जीवमिति आस्रवाः, भवन्ति ॥ ८८ ॥

मोह-विवाग-वसादो जे परिणामा हवंति जीवस्स।
ते आसवा मुणिज्जसु[1] मिच्छत्ताई[2] अणेय-विहा ॥ ८९ ॥

[छाया-मोहविपाकवशात् ये परिणामाः भवन्ति जीवस्य। ते आस्रवाः जानीहि मिथ्यात्वादयः अनेकविधाः ॥] जीवस्य संसारिणः ते प्रसिद्धाः मिथ्यात्वादयः, मिथ्यात्व ५, अविरति १२, कषाय २५, योगाः १५, अनेकविधाः शुभाशुभभेदेन बहुप्रकाराः, तान् आस्रवान् मन्यस्व, हे भव्य, त्वं जानीहि। ते के। ये जीवस्य भावाः परिणामा भवन्ति। कुतः। मोहविपाकवशात् मोहनीयकर्मोदयवशात् ॥ ८९ ॥

कम्मं पुण्णं पावं हेउं[3] तेसिं च होंति सच्छिदरा।
मंद-कसाया सच्छा तिव्व-कसाया असच्छा हु ॥ ९० ॥

काययोग। मनोवर्गणाके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंमें जो हलन चलन होता है, उसे मनोयोग कहते हैं। वचनवर्गणाके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंमें जो हलन चलन होता है, उसे वचनयोग कहते हैं। और कायवर्गणाके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंमें जो परिस्पंद होता है, उसे काययोग कहते हैं। मनोयोगके चार भेद हैं–सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, उभयमनोयोग और अनुभयमनोयोग। वचनयोगके भी चार भेद है–सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, उभयवचनयोग और अनुभयवचनयोग। काययोगके सात भेद हैं–औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियिककाययोग, वैक्रियिकमिश्रकाययोग, आहारककाययोग, आहरकमिश्रकाययोग और कार्मणकाययोग। योग तेरहवें गुणस्थानतक होता है, और मोहनीयकर्मका उदय दसवें गुणस्थानतक होता है। अतः दसवें गुणस्थानतक तो योग मोहनीयकर्मके उदयसे सहित होता है। किन्तु उसके आगे ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें जो योग रहता है, वह मोहनीयकर्मके उदयसे रहित होता है ॥ ८८ ॥ **अर्थ–**मोहनीयकर्मके उदयसे जीवके जो अनेक प्रकारके मिथ्यात्व आदि परिणाम होते हैं, उन्हें आस्रव जानो ॥ **भावार्थ–**आस्रवपूर्वक ही बन्ध होता है। बन्धके पाँच कारण हैं–मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इनमेंसे योगके सिवाय शेष कारण मोहनीयकर्मके उदयसे होते हैं। और मोहनीयकर्मका उदय दसवें गुणस्थानतक रहता है। दसवें गुणस्थानमें मोहनीयकर्मकी बन्धव्युच्छित्ति होजानेसे ग्यारहवें आदि गुणस्थानोंमें योगके द्वारा केवल एक सातावेदनीयका ही बन्ध होता है। शेष ११९ प्रकृतियाँ मोहनीयकर्मजन्य भावोंके ही कारण बँधती हैं। अतः यद्यपि आस्रवका कारण योग है, तथापि प्रधान होनेके कारण योगके साथ रहनेवाले मोहनीयकर्मके मिथ्यात्व आदि भावोंको भी आस्रव कहा है ॥ ८९ ॥ **अर्थ–**कर्म दो तरह के होते हैं—पुण्य और पाप। पुण्यकर्मका कारण शुभास्रव कहाता है और पापकर्मका कारण अशुभास्रव कहाता है। मन्दकषायसे जो आस्रव होता है, वह शुभास्रव है और तीव्रकषायसे जो आस्रव होता है, वह अशुभास्रव है ॥ **भावार्थ–**कषाय चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। इनमेंसे प्रत्येककी चार जातियाँ होती हैं। अनन्तानुबन्धी,

---

१ स मुणिज्जहु। २ ब म मिच्छत्ताइ। ३ ग हेउ [हेऊ]।

[छाया-कर्म पुण्यं पापं हेतवः तेषां च भवन्ति स्वच्छेतराः । मन्दकषायाः स्वच्छाः तीव्रकषायाः अस्वच्छाः खलु ॥] एवं पुण्यं कर्म प्रशस्तप्रकृतिद्व्यशीतिः । परं पापं कर्माप्रशस्तप्रकृतिद्वाचत्वारिंशत् । तयोः शुभाशुभकर्मणोः हेतवः कारणानि स्वच्छेतराः स्वच्छाः निर्मलाः इतरे अस्वच्छाः आस्रवा भवन्ति । स्वच्छास्रवाः पुण्यहेतवः, अस्वच्छास्रवाः पापहेतव इत्यर्थः । हु स्फुटम् । के स्वच्छाः के अस्वच्छाश्च । मन्दकषायाः प्रत्याख्यानसंज्वलनक्रोधादयो नोकषायाश्च स्वच्छाः निर्मलाः । तीव्रकषायाः अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानक्रोधादयः मिथ्यात्वं तु अस्वच्छाः अनिर्मलाः॥९०॥ अथ मन्दकषायाणां दृष्टान्तं दर्शयति-

सव्वत्थ वि पिय-वयणं दुव्वयणे दुज्जणे वि खम-करणं ।
सव्वेसिं गुण-गहणं मंद-कसायाण दिट्ठंता ॥ ९१ ॥

[छाया-सर्वत्र अपि प्रियवचनं दुर्वचने दुर्जने अपि क्षमाकरणम् । सर्वेषां गुणग्रहणं मन्दकषायाणां दृष्टान्ताः ॥] मन्दकषायाणां स्वच्छकषायाणां जीवानां दृष्टान्ताः उदाहरणानि । सर्वत्रापि शत्रुमित्रादिष्वपि प्रियवचन कोमलं वाक्यम् । दुर्वचने दुष्टवचने उक्ते सति, अपि पुनः, दुर्जने दुष्टलोके क्षमाकरणम्, मम दोषं क्षमस्वेति कर्तव्यम् । सर्वेषां जीवानां शुभाशुभानां गुणग्रहणं तेषां ये ये गुणाः सन्ति केवलं तेषामेव ग्रहणम् ॥ ९१ ॥

अप्प-पसंसण-करणं पुज्जेसु वि दोस-गहण-सीलत्तं ।
वेरं-धरणं च सुइरं तिव्व-कसायाण लिंगाणि ॥ ९२ ॥

[छाया-आत्मप्रशंसनकरणं पूज्येषु अपि दोषग्रहणशीलत्वम् । वैरधरणं च सुचिरं तीव्रकषायाणां लिङ्गानि ॥] तीव्रकषायाणां लिङ्गानि लिङ्गयति, लिङ्गानि चिह्नानि उदाहरणानीति यावत् । केषाम् । तीव्रकषायाणाम् अस्वच्छकषायाणाम् । तानि कानि । आत्मप्रशंसनकरणम्, आत्मनः स्वकीयस्य प्रशंसनं स्वमाहात्म्योद्घाटनं स्वगुणप्रकाशनं च, तस्य करणं कर्तव्यम् । अपि पुनः, पूज्येषु गुर्वादिषु दोषग्रहणशीलत्वम्, अवगुणग्रहणस्वभावत्वम् । च पुनः । सुचिरं चिरकालं, वेरंधरणं वैरधरणम् ॥ ९२ ॥

अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन । उनमेंसे अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरणको तीव्र कषाय कहते हैं और प्रत्याख्यानावरण तथा संज्वलनको मन्द कषाय कहते हैं । तीव्र कषाय सहित योगसे जो आस्रव होता है, उसे अशुभास्रव कहते हैं और मन्द कषाय सहित योगसे जो आस्रव होता है, उसे शुभास्रव कहते हैं । आठों कर्मोंकी १२० बन्धप्रकृतियोंमेंसे ४२ पुण्यप्रकृतियाँ हैं और ८२ पापप्रकृतियाँ हैं । [वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शनामकर्म पुण्यरूप भी होते हैं और पापरूप भी होते हैं । अतः उन्हें दोनोंमें गिना जाता है । अनु०] वैसे तो जीवके शुभास्रवसे भी दोनों ही प्रकारकी प्रकृतियोंका बन्ध होता है और अशुभास्रवसे भी दोनों प्रकारकी प्रकृतियोंका बन्ध होना संभव है । किन्तु शुभास्रवसे पुण्य प्रकृतियोंमें स्थिति और अनुभाग अधिक पड़ता है, और अशुभास्रवसे पापप्रकृतियोंमें स्थिति और अनुभाग अधिक पड़ता है । इसीसे शुभास्रवको पुण्यकर्मका और अशुभास्रवको पापकर्मका कारण कहा जाता है ॥ ९० ॥ मन्दकषायी जीवोंके चिन्ह बतलाते हैं । **अर्थ**-सभीसे प्रिय वचन बोलना, खोटे वचन बोलनेपर दुर्जनको भी क्षमा करना, और सभीके गुणोंको ग्रहण करना, ये मन्दकषायी जीवोंके उदाहरण हैं ॥ **भावार्थ**-जिस जीवमें उक्त बातें पाई जायें, उसे मन्दकषायी समझना चाहिये ॥ ९१ ॥ तीव्रकषायी जीवोंके चिन्ह बतलाते हैं । **अर्थ**-अपनी प्रशंसा करना, पूज्यपुरुषोंमें भी दोष निकालनेका स्वभाव होना, और बहुत कालतक बैरका धारण करना, ये तीव्रकषायी जीवोंके चिन्ह हैं ॥

---

१ ल खेरिधरणं, म वेरिध° । २ ग खेरधरणं, प खेदधरणं ।

एवं जाणंतो वि हु परिचयणीए[1] वि जो ण परिहरइ ।
तस्सासवाणुवेक्खा[2] सव्वा वि णिरत्थया होदि ॥ ९३ ॥

[छाया-एवं जानन् अपि खलु परित्यजनीयान् अपि यः न परिहरति । तस्य आस्रवानुप्रेक्षा सर्वा अपि निरर्थका भवति ॥] तस्य जीवस्य सर्वापि समस्तापि आस्रवानुप्रेक्षा निरर्थका निष्फला भवति । तस्य कस्य । हु स्फुटम् । यः पुमान् एवं पूर्वोक्तं जानन्नपि परित्यजनीयानपि परिहार्यान् मिथ्यात्वकषायादीन् न परिहरति ॥ ९३ ॥

एदे मोहय-भावा[3] जो परिवज्जेइ उवसमे लीणो ।
हेयं ति[4] मण्णमाणो आसव-अणुवेहणं[5] तस्स ॥ ९४ ॥[6]

[छाया-एतान् मोहजभावान् यः परिवर्जयति उपशमे लीनः । हेयम् इति मन्यमानः आस्रवानुप्रेक्षणं तस्य ॥] तस्य योगिनः आस्रवानुप्रेक्षणं आस्रवाणां सप्तपञ्चाशतां ५७ अनुप्रेक्षणम् अवलोकनं विचारणं च । तस्य कस्य । यः पुमान् परिवर्जयति परित्यजति । कान् । एतान् पूर्वोक्तान् आत्मप्रशंसादीन् मोहजभावान् मोहकर्मजनितपरिणामान् । कीदृक्षः सन् । उपशमे लीनः उपशमपरिणामे स्वशाम्ये लीनः लयं प्राप्तः । पुनः कीदृक्षः । हेयमिति मन्यमानः सर्वं शरीरादि त्याज्यमिति जानन् ॥ ९४ ॥

सर्वास्रवपरित्यक्तं सम्यक्त्वादिगुणैर्युतम् । शुभचन्द्रनुतं सिद्धं वन्दे सुमतिकीर्तये ॥

इति श्रीस्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षायास्त्रिविद्यविद्याधरषड्भाषाकविचक्र-वर्तिभट्टारकश्रीशुभचन्द्रदेवविरचितटीकायाम् आस्रवानु-प्रेक्षायां सप्तमोऽधिकारः ॥ ७ ॥

[८. संवरानुप्रेक्षा]

अथ संवरानुप्रेक्षां गाथासप्तकेनाह-

सम्मत्तं देस-वयं महव्वयं तह जओ कसायाणं ।
एदे संवर-णामा जोगाभावो तहा[7] चेव ॥ ९५ ॥

भावार्थ-जिस जीवमें उक्त बातें पाई जायें, उसे तीव्रकषायवाला समझना चाहिये ॥ ९२ ॥ **अर्थ**-इस प्रकार जानते हुए भी जो मनुष्य छोड़ने योग्य भी मिथ्यात्व, कषाय वगैरहको नहीं छोड़ता है, उसकी सभी आस्रवानुप्रेक्षा निष्फल है ॥ **भावार्थ**-किसी बातका विचार करना तभी सार्थक है, जब उससे कुछ लाभ उठाया जाये । आस्रवका विचार करके भी यदि उससे बचनेका प्रयत्न नहीं किया जाता, तो वह विचार निरर्थक है ॥ ९३ ॥ **अर्थ**-जो मुनि साम्यभावमें लीन होता हुआ, मोहकर्मके उदयसे होनेवाले इन पूर्वोक्त भावोंको त्यागने योग्य जानकर, उन्हें छोड़ देता है, उसीके आस्रवानुप्रेक्षा है ॥ **भावार्थ**-उसी योगीकी आस्रवानुप्रेक्षा सफल है, जो आस्रवके कारण पाँच प्रकारके मिथ्यात्व, बारह प्रकारकी अविरति, पचीस प्रकारकी कषाय और पन्द्रह प्रकारके योगको छोड़ देता है ॥ ९४ ॥ इति आस्रवानुप्रेक्षा ॥ ७ ॥

सात गाथाओंसे संवरअनुप्रेक्षाको कहते हैं । **अर्थ**-सम्यक्त्व, देशव्रत, महाव्रत, कषायोंका जीतना और योगोंका अभाव, ये सब संवरके नाम हैं ॥ **भावार्थ**-आस्रवके रोकनेको संवर कहते हैं । आस्रवानुप्रेक्षामें मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योगको आस्रव

---

१ ब परच°, ल परिवयणीये, स ग °णीये । २ ल म स ग °णुपिक्खा । ३ ल म स ग मोहजभावा । ४ ल म स ग हेयमिदि म° । ५ ल म स ग अणुपेहणं । ६ ब आसवाणुवेक्खा, म आसवानुप्रेक्षा । ७ ल म ग तह चेव, स तह चेव ।

[छाया–सम्यक्त्वं देशव्रतं महाव्रतं तथा जयः कषायाणाम् । एते संवरनामानः योगाभावः तथा एव ॥] एते पूर्वोक्ताः संवरनामानः, आस्रवनिरोधः संवरः, तदभिधानाः । ते के । सम्यक्त्वम् उपशमवेदकक्षायिकदर्शनं, देशव्रतं देशसंयमं श्राद्धद्वादशव्रतादिरूपम्, तह तथा, महाव्रतम् अहिंसादिपञ्चमहाव्रतरूपम्, तथा कषायाणां क्रोधादीनां पञ्चविंशतिभेदभिन्नानां जयः निग्रहः, तथैव योगाभावः मनोवचनकाययोगानां निरोधः ॥ ९५ ॥

गुत्ती समिदी धम्मो अणुवेक्खा[1] तह य परिसेह-जओ[2] वि ।
उक्किट्ठं चारित्तं संवर-हेदू[3] विसेसेण ॥ ९६ ॥

[छाया--गुप्तयः समितयः धर्मः अनुप्रेक्षाः तथा च परीषहजयः अपि । उत्कृष्टं चारित्रं संवरहेतवः विशेषेण ॥] विशेषेण उत्कर्षेण, एते संवरहेतवः आस्रवनिरोधकारणानि । ते के । गुप्तयः मनोवचनकायगोपनलक्षणास्तिस्रः, समितयः ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपणोत्सर्गलक्षणाः पञ्च, धर्मः उत्तमक्षमादिदशप्रकारः, तथा अनुप्रेक्षाः अनित्यादयो द्वादश, अपि पुनः, परीषहजयः परीषहाणां क्षुधादीनां जयः विजयः उत्कृष्टं चारित्रं सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराय-यथाख्यातलक्षणम् । तथा चोक्तं श्रीउमास्वामिदेवेन । 'स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ।' ॥ ९६ ॥ अथ गुप्त्यादीन् विशदयति–

गुत्ती जोग-णिरोहो समिदी य पमाद[4]-वज्जणं चेव ।
धम्मो दया-पहाणो सुतत्त[5]-चिंता अणुप्पेहा[6] ॥ ९७ ॥

कहा था। सो चौथे गुणस्थानमें सम्यक्त्वके होनेपर मिथ्यात्वका निरोध होजाता है। पाँचवें गुणस्थानमें पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, इस प्रकार बारह व्रतरूप देशसंयमके होनेपर अविरतिका एकदेशसे अभाव होजाता है। छट्ठे गुणस्थानमें अहिंसादि पाँच महाव्रतोंके होने पर अविरतिका पूर्ण अभाव होजाता है। सातवें गुणस्थानमें अप्रमादी होनेके कारण प्रमादका अभाव होजाता है। ग्यारहवें गुणस्थानमें २५ कषायोंका उदय न होनेसे कषायोंका संवर होजाता है। और चौदहवें गुणस्थानमें योगोंका निरोध होनेसे योगका अभाव होजाता है॥ अतः मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगके विरोधी होनेके कारण सम्यक्त्व, देशव्रत, महाव्रत, कषायजय और योगाभाव संवरके कारण हैं। इसी लिये उन्हें संवर कहा है॥ ९५ ॥ **अर्थ–**गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, और उत्कृष्ट चारित्र, ये विशेषरूपसे संवरके कारण हैं॥ **भावार्थ–**पूर्व गाथामें जो संवरके कारण बतलाये हैं, वे साधारण कारण हैं, क्योंकि उनमें प्रवृत्तिको रोकनेकी मुख्यता नहीं है। और जबतक मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको रोका नहीं जाता, तब-तक संवरकी पूर्णता नहीं हो सकती। किन्तु इस गाथामें संवरके जो कारण बतलाये हैं, उनमें निवृत्तिकी ही मुख्यता है। इसी लिये उन्हें विशेष रूपसे संवरके कारण कहा है। मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको रोकनेको गुप्ति कहते हैं। इसीसे गुप्तिके तीन भेद होगये हैं—मनोगुप्ति, वचन-गुप्ति और कायगुप्ति। समितिके पाँच भेद हैं—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग। धर्म उत्तम क्षमादि रूप दस प्रकारका है। अनुप्रेक्षा अनित्य, अशरण आदि बारह हैं। परीषह क्षुधा, पिपासा आदि बाईस हैं। उत्कृष्ट चरित्रके पाँच भेद हैं–सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात। तत्त्वार्थसूत्रके ९ वें अध्यायमें उमास्वामी महाराजने संवरके यही कारण विस्तारसे बतलाये हैं॥ ९६ ॥ गुप्ति आदिको स्पष्ट करते हैं। **अर्थ–**मन, वचन, और कायकी

---

१ ब अणुवेहा, स ग °विक्खा। २ ल म ग तह परीसह, स तह य परीसह। ३ ब हेऊ। ४ म स पमाय- ५ ब सुतत्थ-, क स ग सुतच-। ६ ब अणुवेहा।

[छाया-गुप्तिः योगनिरोधः समितिः च प्रमादवर्जनम् एव । धर्मः दयाप्रधानः सुतत्त्वचिन्ता अनुप्रेक्षा ॥] योगनिरोधः योगानां मनोवचनकायानां निरोधो गोपनं गुप्तिः कथ्यते । च पुनः, प्रमादानां विकथाकषायादिविकाराणां वर्जनं त्यजनं समितिः कथ्यते । च पुनः, दयाप्रधानः दयायाः प्राणिकृपायाः प्राधान्यं मुख्यत्वं यत्र दयाप्रधानः धर्मो भवेत् । सुतत्त्वचिन्ता आत्मादिपदार्थानां चिन्ता चिन्तनम् अनुप्रेक्षा भवेत् ॥ ९७ ॥

सो वि परीसह-विजओ छुहादि[१]-पीडाण अइ-रउद्दाणं ।
सवणाणं च मुणीणं उवसम-भावेण जं सहणं ॥ ९८ ॥

[छाया-स अपि परीषहविजयः क्षुधादिपीडानाम् अतिरौद्राणाम् । श्रमणानां च मुनीनाम् उपशमभावेन यत् सहनम् ॥] सोऽपि संवरः श्रवणानां [श्रमणानां] मुनीनां यत् उपशमभावेन क्षमादिपरिणामेन सहनं परामर्षणम् । केषाम् । अतिरौद्राणाम् अतिभीमानां क्षुधादिपीडानां बुभुक्षादिवेदनानां, सोऽपि परीषहविजयः द्वाविंशतिपरीषहाणां जयः कथ्यते ॥ ९८ ॥

अप्प-सरूवं वत्थुं चत्तं रायादिएहि दोसेहिं ।
सज्झाणम्मि णिलीणं[२] तं जाणसु उत्तमं चरणं ॥ ९९ ॥

[छाया-आत्मस्वरूपं वस्तु त्यक्तं रागादिकैः दोषैः । स्वध्याने निलीनं तत् जानीहि उत्तमं चरणम् ॥] तत् उत्तमं चरणम् उत्तमं श्रेष्ठं चारित्रं जानीहि विद्धि, भो भव्य त्वम् । तत् किम् । आत्मस्वरूपं स्वचिदानन्दं वस्तु, वसति अनन्तगुणानिति वस्तु, आत्मानम्, स्वध्याने धर्मध्याने शुक्लध्याने वा निलीनं लयं प्राप्तम् । कीदृक्षम् । रागादिदोषैः त्यक्तं रागद्वेषादिदोषैर्निर्मुक्तम् ॥ ९९ ॥

एदे संवर-हेदूं[३] वियारमाणो वि जो ण आयरइ ।
सो भमई[४] चिरं कालं संसारे दुक्ख-संतत्तो ॥ १०० ॥

[छाया-एतान् संवरहेतून् विचारयन् अपि यः न आचरति । स भ्रमति चिरं कालं संसारे दुःखसंतप्तः ॥] यः पुमान् न आचरति न प्रवर्तयति । कीदृक्षः सन् । विचारयन्नपि चर्चयन्नपि । कान् । एतान् गुप्त्यादीन् संवरहेतून् आस्रवनिरोधकारणानि । स पुमान् चिरं कालं दीर्घकालं संसारे पञ्चविधे भवे भ्रमति । कीदृक्षः । दुःखसंतप्तः दुःखैः तापं नीतः ॥ १०० ॥

प्रवृत्तिके रोकनेको गुप्ति कहते हैं । विकथा कषाय वगैरह प्रमादोंके छोड़नेको समिति कहते हैं । जिसमें दया ही प्रधान है, वह धर्म है । जीव, अजीव, आदि तत्त्वोंके चिन्तन करनेको अनुप्रेक्षा कहते हैं ॥ **भावार्थ**–प्रवृत्तिको रोकनेके लिये गुप्ति है । जो मुनि प्रवृत्तिको रोकनेमें असमर्थ हैं उन्हें प्रवृत्तिका उपाय बतलानेके लिये समिति है । प्रवृत्ति करते हुए प्रमाद न करनेके लिये धर्म है । और उस धर्मको दृढ करनेके लिये अनुप्रेक्षा है ॥ ९७ ॥ **अर्थ**–अत्यन्त भयानक भूख आदिकी वेदनाको ज्ञानी मुनि जो शान्त भावसे सहन करते हैं, उसे परीषहजय कहते हैं । वह भी संवररूप ही है ॥ ९८ ॥ **अर्थ**–रागादि दोषोंसे रहित शुभध्यानमें लीन आत्मस्वरूप वस्तुको उत्कृष्ट चारित्र जानो ॥ **भावार्थ**–रागादि दोषोंको छोड़कर, धर्मध्यान या शुक्लध्यानके द्वारा आत्माका आत्मामें लीन होना ही उत्कृष्ट चारित्र है ॥ ९९ ॥ **अर्थ**–जो पुरुष इन संवरके कारणोंका विचार करता हुआ भी उनका आचरण नहीं करता है । वह दुःखोंसे संतप्त होकर चिरकाल तक संसारमें भ्रमण करता

---

१ ल म ग छुहाइ- । २ ब विलीणं [?] । ३ ब हेदूं, क स ग हेदुं, म हेदु । ४ ब भमेइ [भमइ] य चिरकालं ।

जो पुण विसये-विरत्तो अप्पाणं सव्वदो[1] वि संवरइ ।
मणहर-विसएहिंतो[4] तस्स फुडं संवरो होदि ॥ १०१ ॥[5]

[छाया-यः पुनः विषयविरक्तः आत्मानं सर्वतः अपि संवृणोति । मनोहरविषयेभ्यः तस्य स्फुटं संवरः भवति ॥] स्फुटं निश्चितं, तस्य मुनेः संवरः कर्मणां निरोधः भवति । तस्य कस्य । यः मुनिः पुनः संवृणोति संवरविषयीकरोति सर्वदा सर्वकालमपि । कम् । आत्मानं स्वचिदानन्दम् । कुतः । मनोहरविषयेभ्यः मनोज्ञपञ्चेन्द्रियगोचरेभ्यः । कीदृक्षः सन् । विषयविरक्तः विषया अष्टाविंशतिभेदभिन्नाः तेभ्यो विरक्तः निर्वृतः ॥ १०१ ॥

संवरं संवरं सारं कर्तुकामो विचेष्टते । शुभचन्द्रः सदात्मानं सदा सुमतिकीर्तिना ॥

इति श्रीस्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षायास्त्रिविद्यविद्याधरषड्भाषा-
कविचक्रवर्तिभट्टारकश्रीशुभचन्द्रदेवविरचितटीकायां
संवरानुप्रेक्षायामष्टमोऽधिकारः ॥ ८ ॥

[९. निर्जरानुप्रेक्षा]

अथ निर्जरानुप्रेक्षां प्रकाशयति

बारस-विहेण तवसा णियाण-रहियस्स णिज्जरा होदि ।
वेरग्ग-भावणादो णिरहंकारस्स[6] णाणिस्स ॥ १०२ ॥

[छाया-द्वादशविधेन तपसा निदानरहितस्य निर्जरा भवति । वैराग्यभावनातः निरहंकारस्य ज्ञानिनः ॥] भवति । का । निर्जरा निर्जरणम् एकदेशेन कर्मणां गलनम् । कस्य । ज्ञानिनः स्वात्मज्ञस्य । कीदृक्षस्य । निदानरहितस्य इहामुत्रसुखकांक्षारहितस्य । पुनः कीदृक्षस्य । निरहंकारिणः अभिमानरहितस्य मदाष्टकरहितस्य । केन । द्वादशविधेन तपसा अनशनावमोदर्यादिद्वादशप्रकारतपश्चरणेन । कुतः । वैराग्यभावनातः, भवाङ्गभोगविरतिर्वैराग्यं तस्य भावना अनुभवनम्, अथवा भावना स्वस्वरूपश्रद्धानम्, वैराग्यं च भावना च वैराग्यभावने, ताभ्यां कर्मणां निर्जरा स्यात् । 'तपसा निर्जरा च ।' इति सूत्रात् ॥ १०२ ॥ अथ निर्जरालक्षणं लक्षयति-

---

है ॥ १०० ॥ **अर्थ**-किन्तु जो मुनि विषयोंसे विरक्त होकर, मनको हरनेवाले पाँचो इन्द्रियोंके विषयोंसे अपने को सदा दूर रखता है, उनमें प्रवृत्ति नहीं करता, उसी मुनिके निश्चयसे संवर होता है ॥ १०१ ॥ इति संवरानुप्रेक्षा ॥ ८ ॥

अब निर्जरानुप्रेक्षाको कहते हैं । **अर्थ**-निदानरहित, निरभिमानी ज्ञानी पुरुषके वैराग्यकी भावनासे अथवा वैराग्य और भावनासे बारह प्रकारके तपके द्वारा कर्मोंकी निर्जरा होती है ॥ **भावार्थ**-आत्मासे कर्मोंके एकदेशसे झड़नेको निर्जरा कहते हैं । सामान्य निर्जरा तो प्रत्येक जीवके प्रतिसमय होती ही रहती है, क्योंकि जिन कर्मोंका फल भोग लिया जाता है, वे आत्मासे पृथक् हो जाते हैं । किन्तु विशेष निर्जरा तपके द्वारा होती है । वह तप बारह प्रकारका है । अनशन अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह बाह्य तप हैं । और, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान, ये छह अन्तरंग तप हैं । इन तपोंके द्वारा निर्जरा होती है । किन्तु ज्ञानी पुरुषका ही तप निर्जराका कारण है, अज्ञानीका तप तो उलटे कर्मबन्धका ही कारण होता है । तथा तप करके यदि कोई उसका मद करता है, कि मैं बड़ा तपस्वी हूँ तो यह तप बंधका ही कारण होता है । अतः निरभिमानी ज्ञानी का ही तप निर्जराका कारण होता है । तथा यदि इस लोकमें ख्याति पूजा वगैरहके लोभसे और परलोकमें इन्द्रासन वगैरह

---

१ ब पुणु । २ ग विसइ । ३ ल म स ग सव्वदा । ४ ब विसयेहिंतो । ५ ब संवराणुवेक्खा । ६ ल स °कारिस्स । ७ ग सवणं ।

सव्वेसिं कम्माणं सत्ति-विवाओ[1] हवेइ अणुभाओ ।
तदणंतरं तु सडणं कम्माणं णिज्जरा जाण ॥ १०३ ॥

[छाया-सर्वेषां कर्मणां शक्तिविपाकः भवति अनुभागः । तदनन्तरं तु शटनं कर्मणां निर्जरां जानीहि ॥] कर्मणां ज्ञानावरणादीनां निर्जरां निर्जरणम् एकदेशेन शंडनं गलनं जानीहि । शक्तिविपाकः शक्तिः सामर्थ्यं तस्य विपाकः उदयः अनुभागः फलदानपरिणतिः । केषाम् । सर्वेषां कर्मणां ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मणां वा मूलप्रकृतीनाम् उत्तरप्रकृतीनाम् उत्तरोत्तरप्रकृतीनां च । तु पुनः । तदनन्तरं कर्मविपाकादनन्तरं शटनं निषेकरूपेण गलनम् ॥ १०३ ॥ अथ तस्याः द्वैविध्यमभिधत्ते-

सा पुणं दुविहा णेया सकाल-पत्ता तवेण कयमाणा ।
चादुगदीणं[5] पढमा वय-जुत्ताणं हवे बिदिया ॥ १०४ ॥

[छाया-सा पुनः द्विविधा ज्ञेया स्वकालप्राप्ता तपसा क्रियमाणा । चातुर्गतिकानां प्रथमा व्रतयुक्तानां भवेत् द्वितीया ॥] सा पुनः निर्जरा द्विविधा द्विप्रकारा ज्ञेया ज्ञातव्या, सविपाकाविपाकभेदात् । तत्र सविपाका स्वकालप्राप्ता स्वोदयकालेन निर्जरणं प्राप्ता, समयप्रबद्धेन बद्धं कर्म स्वाबाधाकालं स्थित्वा स्वोदयकालेन निषेकरूपेण गलति, पक्वाम्रफलवत् । द्वितीया तु अविपाकनिर्जरा तपसा क्रियमाणा अनशनादिद्वादशप्रकारेण विधीयमाना, यथा अपक्वाना कदलीफलाना हठात्पाचनं विधीयते तथा अनुदयप्राप्तानां कर्मणां तपश्चरणादिना त्रिद्रव्यनिक्षेपेण कर्मनिषेकाना गालनम् । तत्र प्रथमा सविपाकनिर्जरा चातुर्गतिकानां सर्वेषां प्राणिनां साधारणा । द्वितीया च अविपाकनिर्जरा व्रतयुक्तानां सम्यक्त्वदेशव्रतमहाव्रतादिसहितानां भवेत् ॥ १०४ ॥ अथ निर्जरावृद्धिं दर्शयति-

की प्राप्तिके लोभसे कोई तपस्या करता है तो वह निरर्थक है । अतः निदानरहित तप ही निर्जराका कारण है। तथा यदि कोई संसार, शरीर और भोगोंमें आसक्त होकर तप करता है तो वह तपभी बन्धका ही कारण है । अतः वैराग्यभावनासे किया गया तप ही निर्जराका कारण होता है ॥ १०२ ॥ अब निर्जराका लक्षण कहते है । **अर्थ**–सब कर्मोंकी शक्तिके उदय होनेको अनुभाग कहते हैं । उसके पश्चात् कर्मोंके खिरनेको निर्जरा कहते है ॥ **भावार्थ**–उदयपूर्वक ही कर्मोंकी निर्जरा होती है । पहले सत्तामें वर्तमान कर्म उदयमें आते हैं । उदयमें आनेपर वे अपना फल देकर झड़ जाते हैं । इसीका नाम निर्जरा है ॥ १०३ ॥ अब उसके दो भेदोंको कहते है । **अर्थ**–वह निर्जरा दो प्रकारकी है–एक स्वकालप्राप्त और दूसरी तपके द्वारा की जानेवाली । पहली निर्जरा चारों गतिके जीवोंके होती है और दूसरी निर्जरा व्रती जीवोंके होती है ॥ **भावार्थ**–निर्जरा के दो भेद हैं–सविपाकनिर्जरा और अविपाकनिर्जरा । सविपाकनिर्जराको स्वकालप्राप्त कहते है; क्योंकि बँधे हुए कर्म अपने आबाधाकालतक सत्तामें रहकर, उदयकाल आने पर जब अपना फल देकर झड़ते है, तो अपने समयपर ही झड़नेके कारण उसे स्वकालप्राप्त निर्जरा कहते हैं । जैसे वृक्षपर पका हुआ आमका फल अपने समयपर पक कर टपक पड़ता है । दूसरी अविपाकनिर्जरा है, जो बारह प्रकारके तपके द्वारा की जाती है । जैसे कच्चे आमोंको समयसे पहले पका लिया जाता है, वैसे ही जो कर्म उदयमें नहीं आए हैं उन्हें तपस्या आदिके द्वारा बलपूर्वक उदयमें लाकर खिरा दिया जाता है । पहले प्रकारकी निर्जरा सभी जीवोंके होती है, क्योंकि बँधे गये कर्म समय आनेपर सभीको फल देते हैं और पीछे अलग हो जाते है । किन्तु दूसरे प्रकारकी निर्जरा व्रतधारियोंके ही होती है; क्योकि वे तपस्या वगैरहके द्वारा कर्मोंको बलपूर्वक उदयमें लासकते हैं ॥ १०४ ॥

१ ब सत्त । २ ल विवागो । ३ ग सडनं । ४ ब पुणु । ५ ब चाऊगदीण, स चाउ° ।

उवसम-भाव-तवाणं जह जह वड्ढी[1] हवेइ[2] साहूणं ।
तह तह णिज्जर-वड्ढी[3] विसेसदो धम्म-सुक्कादो ॥ १०५ ॥

[छाया–उपशमभावतपसां यथा यथा वृद्धिः भवति साधोः । तथा तथा निर्जरावृद्धिः विशेषतः धर्म-शुक्लाभ्याम् ॥] साधूनां योगिनां, यथा यथा येन येन प्रकारेण, उपशमभावतपसाम् उपशमभावस्य उपशमसम्यक्त्वादेः तपसाम् अनशनादीनां वृद्धिर्वर्धनं भवेत्, तथा तथा तेन तेन प्रकारेण निर्जरावृद्धिर्जायते, असंख्यातगुणा कर्मनिर्जरा स्यात्, धर्मशुक्लाभ्यां धर्मध्यानात् आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयभेदभिन्नात्, शुक्लध्यानाच्च पृथक्त्ववितर्कविचारादेः, विशेषतः असंख्यातगुणा असंख्यातगुणा कर्मणां निर्जरा जायते ॥ १०५ ॥ अथैकादशनिर्जराणां स्थाननियमं गाथात्रयेण निर्दिशति–

मिच्छादो सद्दिट्ठी असंख-गुण-कम्म-णिज्जरा होदि ।
तत्तो अणुवय-धारी तत्तो य महव्वई णाणी ॥ १०६ ॥
पढम-कसाय-चउण्हं विजोजओ तह य खवय[5]-सीलो य ।
दंसण-मोह-तियस्स य तत्तो उवसमग[6]-चत्तारि ॥ १०७ ॥
खवगो य खीण-मोहो सजोइ-णाहो[7] तहा अजोईया[8] ।
एदे[9] उवरिं उवरिं असंख-गुण-कम्म-णिज्जरया ॥ १०८ ॥

[छाया–मिथ्यात्वतः सदृष्टिः असंख्यगुणकर्मनिर्जरो भवति । ततः अणुव्रतधारी ततः च महाव्रती ज्ञानी ॥ प्रथमकषायचतुर्णां वियोजकः तथा च क्षपकशीलः च । दर्शनमोहत्रिकस्य च ततः उपशमकचत्वारः ॥ क्षपकः च क्षीणमोहः सयोगिनाथः तथा अयोगिनः । एते उपरि उपरि असंख्यगुणकर्मनिर्जरकाः ॥] प्रथमोपशमसम्यक्त्वोत्पत्तौ करणत्रयपरिणामचरमसमये वर्तमानविशुद्धविशिष्टमिथ्यादृष्टेः आयुर्वर्जितज्ञानावरणादिसप्तकर्मणां यद्गुणश्रेणिनिर्जराद्रव्यं,

अब निर्जराकी वृद्धिको दिखलाते है । **अर्थ**–साधुओंके जैसे जैसे उपशमभाव और तपकी वृद्धि होती है, वैसे वैसे निर्जराकी भी वृद्धि होती है । धर्मध्यान और शुक्लध्यानसे विशेषकरके निर्जराकी वृद्धि होती है ॥ **भावार्थ**–जैसे जैसे साधुजनोंमें साम्यभाव और तपकी वृद्धि होती है, अर्थात् साम्यभावके आधिक्यके कारण मुनिगण तपमें अधिक लीन होते हैं, वैसे वैसे कर्मोंकी निर्जरा भी अधिक होती है । किन्तु, आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय नामके धर्मध्यानसे तथा पृथक्त्ववितर्कविचार, एकत्ववितर्कविचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिर्वृती नामके शुक्लध्यानसे कर्मोंकी और भी अधिक निर्जरा होती है । सारांश यह है, कि ध्यानमें कर्मोंको नष्ट करनेकी शक्ति सबसे अधिक है ॥ १०५ ॥ तीन गाथाओंसे निर्जराके ग्यारह स्थानोंको बतलाते हैं । **अर्थ**–मिथ्यादृष्टिसे सम्यग्दृष्टीके असंख्यात गुणी कर्मनिर्जरा होती है । सम्यग्दृष्टिसे अणुव्रतधारीके असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा होती है । अणुव्रतधारीसे ज्ञानी महाव्रतीके असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा होती है । महाव्रतीसे अनन्तानुबन्धी कषायका विसंयोजन करनेवालेके असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा होती है । उससे दर्शनमोहनीयका क्षपण–विनाश करनेवालेके असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा होती है । उससे उपशमश्रेणिके आठवें, नौवें तथा दसवें गुणस्थानमें चारित्रमोहनीयका उपशम करनेवालेके असंख्यात गुणी कर्मनिर्जरा होती है । उससे ग्यारहवें गुणस्थान वाले उपशमकके असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा होती है । उससे क्षपकश्रेणिके आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थानमें चरित्रमोहनीयका क्षय करने वालेके

१ म वुड्ढी । २ ब हवइ । ३ द वुड्ढी । ४ प असंख्यागुणा । ५ स खवइ । ६ ब उवसमग्ग । ७ ब सयोगिणाहो, म सजोयणाणो । ८ ब तह अयोगी य । ९ द एदो ।

ततः असंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानगुणश्रेणिनिर्जराद्रव्यमसंख्यातगुणं भवति । १ । ततः देशसंयतस्य गुणश्रेणिनिर्जराद्रव्यमसंख्यातगुणम् । २ । ततः सकलसंयतस्य गुणश्रेणिनिर्जराद्रव्यमसंख्यातगुणम् । ३ । ततोऽनन्तानुबन्धिकषायविसंयोजकस्य गुणश्रेणिनिर्जराद्रव्यमसंख्यातगुणम् । ४ । ततो दर्शनमोहक्षपकस्य गुणश्रेणिनिर्जराद्रव्यमसंख्यातगुणम् । ५ । ततः कषायोपशमत्रयस्य गुणश्रेणिनिर्जराद्रव्यमसंख्यातगुणम् । ६ । ततः उपशान्तकषायस्य गुणश्रेणिनिर्जराद्रव्यमसंख्यातगुणम् । ७ । ततः क्षपकत्रयस्य गुणश्रेणिनिर्जराद्रव्यमसंख्यातगुणम् । ८ । ततः क्षीणकषायस्य गुणश्रेणिनिर्जराद्रव्यमसंख्यातगुणम् । ९ । ततः स्वस्थानकेवलिजिनस्य गुणश्रेणिनिर्जराद्रव्यमसंख्यातगुणम् । १० । ततः समुद्घातकेवलिजिनस्य गुणश्रेणिनिर्जराद्रव्यमसंख्यातगुणम् । ११ । इत्येकादशस्वस्थाने गुणश्रेणिनिर्जराद्रव्यस्य प्रतिस्थानमसंख्यातगुणितत्वमुक्तम् ॥ १०६-८ ॥ अथाधिकनिर्जराकारणं गाथाचतुष्केनाह–

जो विसहदि दुव्वयणं साहम्मिय-हीलणं च उवसग्गं ।
जिणिऊण कसाय-रिउं तस्स हवे णिज्जरा विउला ॥ १०९ ॥

असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा होती है । उससे बारहवें क्षीणमोह गुणस्थानवालेके असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा होती है । उससे सयोगकेवली भगवानके असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा होती है । उससे अयोगकेवली भगवानके असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा होती है । इस प्रकार इन ग्यारह स्थानोंमें ऊपर ऊपर असंख्यात गुणी असंख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा होती है ॥ **भावार्थ–**प्रथम उपशम सम्यक्त्वके प्रकट होनेसे पहले सातिशय मिथ्यादृष्टिजीवके अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामके तीन परिणाम होते हैं। जब वह जीव उन परिणामोंके अन्तिम समयमें वर्तमान होता है, तो उसके परिणाम विशुद्ध होते हैं, और वह अन्य मिथ्यादृष्टियोंसे विशिष्ट कहाता है । उस विशिष्ट मिथ्यादृष्टिके आयुकर्मके सिवाय शेष सातकर्मोंकी जो गुणश्रेणि निर्जरा होती है, उससे असंयतसम्यग्दृष्टिके असंख्यातगुणी निर्जरा होती है । इसी प्रकार आगेभी समझना चाहिये । सारांश यह है कि जिन जिन स्थानोंमें विशेष विशेष परिणाम विशुद्धि है, उन उनमें निर्जरा भी अधिक अधिक होती है, और ऐसे स्थान ग्यारह हैं । यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि ग्रन्थकारने ग्यारहवाँ स्थान अयोगकेवलीको बतलाया है । किन्तु सं. टीकाकारने सयोगकेवलीके ही दो भेद करके स्वस्थानसयोगकेवलीको दसवाँ और समुद्घातगत सयोगकेवलीको ग्यारहवाँ स्थान बतलाया है । और, 'अजोइया' को एक प्रकार से छोड़ ही दिया है । इन स्थानोंको गुणश्रेणि भी कहते हैं, क्योंकि इनमें गुणश्रेणिनिर्जरा होती है । [तत्त्वार्थसूत्र ९–४५ में तथा गो. जीवकाण्ड गा० ६७ में केवल 'जिन' पद आया है । तत्त्वार्थसूत्रके टीकाकारोंने तो उसका अर्थ केवल जिन ही किया है और इस तरह दसही स्थान माने हैं (देखो, सर्वार्थ० और राजवार्ति०) किन्तु जीवकाण्डके सं. टीकाकारोंने 'जिन' का अर्थ स्वस्थानकेवली और समुद्घातकेवली ही किया है । श्वे० साहित्य पंचम कर्मग्रन्थ, पञ्चसंग्रह वगैरहमें सयोगकेवली और अयोगकेवलीका ग्रहण किया है । अनु०] ॥ १०६–८ ॥ चार गाथाओंसे अधिक निर्जरा होनेके कारण बतलाते हैं । **अर्थ–**जो मुनि कषायरूपी शत्रुओंको जीतकर, दूसरोंके दुर्वचन, अन्य साधर्मी मुनियोंके द्वारा किये गये अनादर और देव वगैरहके द्वारा किये गये उपसर्गको सहता है, उसके बहुत निर्जरा होती है ॥ **भावार्थ–**जीवके साथ दूसरे लोग जो कुछ दुर्व्यवहार करते हैं, वह उसके ही पूर्वकृत कर्मोंका फल है । ऐसा समझकर जो मुनि दूसरोंपर

१ ब साहम्मिदी । २ ब णिजर विउल ।

[छाया-यः विषहते दुर्वचनं साधर्मिकहीलनं च उपसर्गम् । जित्वा कषायरिपुं तस्य भवेत् निर्जरा विपुला ॥] तस्य मुनेः, विपुला प्रचुरा विस्तीर्णा, निर्जरा कर्मणां गलनं भवेत् । तस्य कस्य । यः मुनिः विषहते क्षमते । किम् । दुर्वचनम् अन्यकृतगालिप्रदानं हननम् अपमानम् अनादरं साधर्मिकानादरं विषहते । च पुनः, उपसर्गं देवादिकृतचतुर्विधोपसर्गं सहते । किं कृत्वा । जित्वा निगृह्य कषायरिपुं क्रोधमानमायालोभरागद्वेषादिशत्रुम् ॥ १०९ ॥

रिण-मोयणं व मण्णइ जो उवसग्गं परीसहं तिव्वं ।
पाव-फलं मे एदं मया वि जं संचिदं[1] पुव्वं ॥ ११० ॥

[छाया-ऋणमोचनम् इव मन्यते यः उपसर्गं परीषहं तीव्रम् । पापफलं मे एतत् मया अपि यत् संचितं पूर्वम् ॥] यः मुनिः मन्यते जानाति । कम् । उपसर्गं देवादियष्टिमुष्टिमारणादिकं कृतं, च पुनः, तीव्रं घोरं परीषहं क्षुधादिजनितम् । किंवत् । ऋणमोचनवत्, यथा येन केनोपायेन ऋणमोचनं क्रियते तथा उपसर्गादिसहनं पापऋणमोचनार्थं कर्तव्यम् । अपि पुनः, मे मम, एतत्पापफलम् एतदुपसर्गादिकं मम पापफलम्, यत् पापफलं मया पूर्वम् अतः प्राक्संचितम् उपार्जितम् इति मन्यते ॥ ११० ॥

जो चिंतेइ सरीरं ममत्त-जणयं विणस्सरं असुइं[3] ।
दंसण-णाण-चरित्तं सुह-जणयं णिम्मलं णिच्चं ॥ १११ ॥

[छाया-यः चिन्तयति शरीरं ममत्वजनकं विनश्वरम् अशुचिम् । दर्शनज्ञानचरित्रं शुभजनकं निर्मलं नित्यम् ॥] यो मुनिः चिन्तयति । किं तत् । शरीरं कायम् । कीदृक्षम् । ममत्वजनकं ममत्वोत्पादकम् । पुनः कीदृक्षम् । विनश्वरं भङ्गुरं क्षणिकम् । पुनः कीदृक्षम् । अशुचि अपवित्रद्रव्यजनितम् अपवित्रधातुपूरितं च एवंभूतं शरीरं चिन्तयति । दर्शनज्ञानचारित्रं चिन्तयति । कीदृक्षम् । शुभजनकं प्रशस्तकार्योत्पादकम् । पुनः निर्मलं, सम्यक्त्वस्य पञ्चविंशतिः मलाः, ज्ञानस्य अनर्थपाठादयोऽष्टौ मलाः, चारित्रस्य अनेके मलाः, तेभ्यः निःक्रान्तम् । कीदृक्षम् । नित्यं शाश्वतं स्वात्मगुणत्वात् ॥१११॥

क्रोध नहीं करता और दुर्वचन, निरादर तथा उपसर्गको धीरतासे सहता है, उसके कर्मोंकी अधिक निर्जरा होती है । अतः उपसर्ग वगैरहको धीरतासे सहना विशेष निर्जराका कारण है । उपसर्ग चार प्रकारका होता है । देवकृत-जो किसी व्यन्तरादिकके द्वारा किया जाये, मनुष्यकृत-जो मनुष्यके द्वारा किया जाये, तिर्यञ्चकृत-जो पशु वगैरहके द्वारा किया जाये, और अचेतनकृत-जो वायु वगैरहके द्वारा किया जाये ॥ १०९ ॥ **अर्थ**-'मैंने पूर्वजन्ममें जो पाप कमाया था, उसीका यह फल है', ऐसा जानकर जो मुनि तीव्र परीषह तथा उपसर्गको कर्जसे मुक्त होनेके समान मानता है, उसके बहुत निर्जरा होती है ॥ **भावार्थ**-जैसे पहले लिये हुए ऋणको जिस किसी तरह चुकाना ही पड़ता है, उसमें अधीर होनेकी आवश्यकता नहीं है । वैसे ही पूर्वजन्ममें संचित पापोंका फल भी भोगना ही पड़ता है, उसमें अधीर होनेकी आवश्यकता नहीं है, ऐसा समझकर जो उपसर्ग आनेपर अथवा भूख प्यास वगैरहकी तीव्र वेदना होनेपर उसे शान्त भावसे सहता है, व्याकुल नहीं होता, उस मुनिके बहुत निर्जरा होती है ॥ ११० ॥ **अर्थ**-जो मुनि शरीरको ममत्वका उत्पादक, नाशमान और अपवित्र धातुओंसे भरा हुआ विचारता है, तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको शुभ कार्योंका उत्पादक, अविनाशी और मलरहित विचारता है, उसके अधिक निर्जरा होती है ॥ **भावार्थ**-शरीरके दोषोंका और सम्यग्दर्शन वगैरहके गुणोंका चिन्तन करनेसे शरीरादिकसे मोह नहीं होता और सम्यग्दर्शनादि गुणोंमें प्रवृत्ति दृढ़ होती है, अतः ऐसा चिन्तन भी निर्जराका कारण है । सम्यग्दर्शनके २५ मल हैं, सम्यग्ज्ञानके आठ मल हैं और सम्यक् चारित्रके अनेक मल हैं

---

१ ल म स ग 'मोयणुव्व । २ ब संचयं । ३ ब असुइं

अप्पाणं जो णिंदइ गुणवंताणं करेइ[1] बहुमाणं ।
मण-इंदियाण विजई स सरूव-परायणो होउ[2] ॥ ११२ ॥

[छाया-आत्मानं यः निन्दति गुणवतां करोति बहुमानम्। मनइन्द्रियाणां विजयी स स्वरूपपरायणो भवतु ॥] यः निर्जरापरिणतः पुमान् निन्दयति निन्दां विदधाति, अप्पाणं आत्मानम्, अहं पापीति कृत्वा आत्मानं निन्दयतीत्यर्थः। करोति विदधाति । कम् । बहुमानं प्रचुरमानसन्मानम । केषाम् । गुणवतां सम्यक्त्वव्रतज्ञानादियुक्तानां श्रावकाणां मुनीनां च । कीदृक्षः सन् । मनइन्द्रियाणां विजयी, मनः चित्तम् इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि तेषां विजयी जेता वशीकर्ता । किं कृत्वा । भूत्वा । कीदृक्षः । स्वस्वरूपपरायणः स्वशुद्धचिदानन्दध्याने परायणः तत्परः ॥ ११२ ॥

तस्स य सहलो जम्मो तस्स य[3] पावस्स[4] णिज्जरा होदि ।
तस्स य[5] पुण्णं वड्ढदि तस्स वि[6] सोक्खं परं[7] होदि ॥ ११३ ॥

[छाया-तस्य च सफलं जन्म तस्य च पापस्य निर्जरा भवति । तस्य च पुण्यं वर्धते तस्य अपि सौख्यं परं भवति ॥] [तस्य मुनेः सफलं जन्म, तस्य च पापस्य] या ईदृग्विधा निर्जरा निर्जरणं भवति जायते। अपि पुनः, तस्य मुनेः वर्धते वृद्धिं याति । किम् । पुण्यं प्रशस्तकर्म, च पुनः, तस्य मुनेः भवति जायते। किं तत् । परम् उत्कृष्टं सौख्यं शर्म मोक्षसौख्यमित्यर्थः । इति गाथाचतुष्केण संबन्धो विधीयताम् ॥ ११३ ॥ अथ परमनिर्जरामभिधत्ते-

जो सम-सोक्ख[8]-णिलीणो वारंवारं सरेइ अप्पाणं ।
इंदिय-कसाय-विजई तस्स हवे णिज्जरा परमा ॥ ११४ ॥[9]

[छाया-यः समसौख्यनिलीनः वारंवारं स्मरति आत्मानम् । इन्द्रियकषायविजयी तस्य भवेत् निर्जरा परमा ॥] तस्य भव्यवरपुण्डरीकस्य मुनेः, परमा उत्कृष्टा, निर्जरा कर्मणां निर्जरणं गलनं भवेत् । तस्य कस्य । यो मुनिः वारंवारं पुनः पुनः स्मरति ध्यायति चिन्तयति । कम् । आत्मानं शुद्धबोधनिधानं शुद्धचिद्रूपम् । कीदृक्षः सन् । समसौख्यनिलीनः साम्यसुखे लयं प्राप्तः । पुनः कीदृक्षः । इन्द्रियकषायविजयी इन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि, कषायाः अनन्तानुबन्ध्यादिक्रोधमानमायालोभाः पञ्चविंशतिः, तेषां विजयी जेता वशीकर्ता ॥ ११४ ॥

ये बध्यन्ते प्रकृतिनिचया योगयोगेन युक्ता निर्जीर्यन्ते स्वकृतसुकृतैः कर्मगा ते निषेकाः ।
संज्ञायन्ते विशदहृदयैर्ध्यानतस्ते समस्ताः संत्यज्यन्ते भवहतियुतैर्युक्तकर्मानुभागाः ॥

इति श्रीस्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षायाः त्रिविद्यविद्याधरषड्भाषाकवि-
चक्रवर्तिभट्टारकश्रीशुभचन्द्रदेवविरचितटीकायां
निर्जरानुप्रेक्षायां नवमोऽधिकारः ॥ ९ ॥

॥ १११ ॥ **अर्थ**–जो मुनि अपने स्वरूपमें तत्पर होकर मन और इन्द्रियोंको वशमें करता है, अपनी निन्दा करता है और गुणवानोंकी–सम्यक्त्व, व्रत और ज्ञानसे युक्त मुनियों और श्रावकोंकी प्रशंसा करता है, उसके बहुत निर्जरा होती है ॥ **भावार्थ**–अपनी निन्दा करना, गुणवानोंकी प्रशंसा करना तथा मन और इन्द्रियोंपर विजय पाना अधिक निर्जराके कारण हैं ॥ ११२ ॥ **अर्थ**–जो साधु निर्जराके पूर्वोक्त कारणोंमें तत्पर रहता है, उसीका जन्म सफल है, उसीके पापोंकी निर्जरा होती है, उसीके पुण्यकी बढ़ती होती है, और उसीको उत्कृष्ट सुख-मोक्षसुख प्राप्त होता है ॥ ११३ ॥ अब परम निर्जराको कहते हैं । **अर्थ**–जो मुनि समतारूपी सुखमें लीन हुआ, बार बार आत्माका स्मरण करता है, इन्द्रियों और कषायोंको जीतनेवाले उसी साधुके उत्कृष्ट निर्जरा होती है ॥ **भावार्थ**–परम वीतरागता ही परम निर्जराका कारण है ॥ ११४ ॥ इति निर्जरानुप्रेक्षा ॥ ९ ॥

---

१ ल म स ग करेदि। २ ग होऊ [होइ]। ३ ल म स ग वि। ४ ग पावस्स। ५ ल म स ग वि। ६ ल म स ग य। ७ ब परो। ८ ल म स ग सुक्ख। ९ ब निजराणुवेखा।

[१०. लोकानुप्रेक्षा]

सिद्धं शुद्धं जिनं नत्वा लोकालोकप्रकाशकम्। वक्ष्ये व्याख्या समासेनानुप्रेक्षाया जगत्स्थितेः ॥

अथ लोकानुप्रेक्षां व्याख्यायमानः श्रीस्वामिकार्त्तिकेयो लोकाकाशस्वरूपं प्ररूपयति-

सव्वायासमणंतं[1] तस्स य बहु-मज्झ-संठिओ[2] लोओ।
सो केण वि णेव[3] कओ ण य धरिओ हरि-हरादीहिं ॥ ११५ ॥

[छाया-सर्वाकाशमनन्तं तस्य च बहुमध्यसंस्थितः लोकः। स केनापि नैव कृतः न च धृतः हरिहरादिभिः ॥] सर्वाकाशं लोकाकाशम् अनन्तम् अनन्तानन्तं द्विकवारानन्तमानं सर्वं नभोऽस्ति। तस्य च सर्वाकाशस्य बहुमध्यसंस्थितो लोकः। बहुमध्ये अनन्तानन्ताकाशबहुमध्यप्रदेशे सप्तघनरज्जुमात्रे सम्यक्प्रकारेण स्थितः संस्थितः लोक्यते इति लोकः। घनोदधिघनवाततनुवाताभिधानवातत्रयवेष्टितः लोकः जगत्। तथा त्रैलोक्यसारे एवमप्युक्तमस्ति। 'बहुमज्झदेसभागम्हि'। तेनायमर्थः। बहुमध्यदेशभागे बहव अतिशयितारचनीकृताः असंख्याताः वा आकाशस्य मध्यदेशा यस्य स बहुमध्यदेशः स चासौ भागश्च खण्डः तस्मिन् बहुमध्यदेशभागे। अथवा बहवः अष्टौ गोस्तनाकाराः आकाशस्य मध्यदेशे यस्य स तथोक्तस्तस्मिन् लोकोऽस्ति। ननु स लोकः केनापि ब्रह्मादिना कृता भविष्यति, तच्छङ्कानिरासार्थमाह। सो केण वि णेय कओ, स लोकः केनापि महेश्वरादिना कृतो नैव। केचन एवं वदन्ति। शेषीभूतैर्हरिहरादिभिर्धृतः इति। तच्छङ्कानिरासार्थमाह। ण य धरिओ हरिहरादीहिं, न च धृतो हरिहरादिभिः, हरिर्विष्णुः हरो महेश्वरः आदिशब्दात् कपिलपरिकल्पिता प्रकृतिः ब्रह्मा च तैर्धृता न च ॥ ११५ ॥ अथ सर्वाकाशे लोकाकाश इति विशेषः कुत इति चेदाह-

अब लोकानुप्रेक्षाका व्याख्यान करते हुए श्री स्वामिकार्त्तिकेय लोकाकाशका स्वरूप कहते हैं। **अर्थ**-यह समस्त आकाश अनन्तप्रदेशी है। उसके ठीक मध्यमें भले प्रकारसे लोक स्थित है। उसे किसीने बनाया नहीं है, और न हरि, हर वगैरह उसे धारण ही किये हुए है॥ **भावार्थ**-लोकका क्षेत्रफल सातराजुका घन अर्थात् ३४३ राजु प्रमाण है। अतः आकाशके बीचोबीच ३४३ राजु क्षेत्रमें यह जगत स्थित है। उसे चारों ओरसे घनोदधि, घनवात और तनुवात नामकी तीन वायु घेरे हुए हैं। वे ही लोकको धारण करती हैं। त्रिलोकसार ग्रन्थमें 'बहुमज्झदेसभागम्हि' लिखा है, और उसका अर्थ किया है-'आकाशके असंख्यात प्रदेशवाले मध्यभागमें', क्योंकि लोकाकाश-जितने आकाशमें लोक स्थित है आकाशका उतना भाग-असंख्यातप्रदेशी है। इसका दूसरा अर्थ इस प्रकार भी किया है-'बहु' अर्थात् 'आठ गौके स्तनके आकारके आकाशके मध्य प्रदेश जिस भागमें पाये जाते हैं, उस भागमें'। आशय यह है कि लोकके ठीक मध्यमें सुमेरुपर्वतके नीचे गौके स्तनके आकार आठ प्रदेश स्थित हैं। जिस भागमें वे प्रदेश स्थित है, वही लोकका मध्य है। और जो लोकका मध्य है, वही समस्त आकाशका मध्य है, क्यों कि समस्त आकाशके मध्यमें लोक स्थित है, और लोकके मध्यमें वे प्रदेश स्थित हैं। अन्य दार्शनिक मानते है कि यह जगत महेश्वर वगैरहका बनाया हुआ है, और विष्णु आदि देवता उसे धारण किये हुए हैं। उनका निराकरण करनेके लिये ग्रन्थकार कहते है कि इस जगतको न किसीने बनाया है और न कोई उसे धारण किये हुए है। वह अकृत्रिम है और वायु उसको धारण किये हुए है [त्रिलोकसारमें लोकका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है- "सव्वागासमणंतं तस्स य बहुमज्झदेसभागम्हि। लोगोसंखपदेसो जगसेढिघणप्पमाणो हु ॥ ३ ॥" अर्थ-सर्व आकाश अनन्तप्रदेशी है, उसके 'बहुमध्य-देश भागमें' लोक है। वह असङ्ख्यातप्रदेशी है, और जगतश्रेणीके घन प्रमाण ३४३ राजु है। अनु०]

---

१ ग सव्वागासमं°। २ ब म संठिउ, ल ग सठियो, स संठ्ठिगो। ३ म णेय, स ग णेय।

अण्णोण्ण-पवेसेण य दव्वाणं अच्छणं हवे[1] लोओ।
दव्वाणं णिच्चत्तो लोयस्स वि मुणह[2] णिच्चत्तं[3] ॥ ११६ ॥

[छाया-अन्योन्यप्रवेशेन च द्रव्याणाम् आसनं भवेत् लोकः। द्रव्याणा नित्यत्वतः लोकस्यापि जानीत नित्यत्वम् ॥] लोकः त्रिभुवनं भवेत्। अन्योन्यप्रवेशेन द्रव्याणां परस्परप्रवेशेन जीवपुद्गलधर्माधर्मादिवस्तूनाम् अच्छणं स्थितिः अस्तित्वं भवेल्लोकः। द्रव्याणां जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकालरूपाणां णिचत्तो नित्यत्वात् कथंचित् ध्रुवत्वात् लोकस्यापि णिचत्तं नित्यत्वं कथंचिद्ध्रुवत्वं मुणह जानीहि विद्धि ॥ ११६ ॥ ननु यदि लोकस्य सर्वथा नित्यत्वं तर्हि स्याद्वादमतभङ्गः स्यात् इति वदन्तं प्रति प्राह-

परिणाम-सहावादो पडिसमयं परिणमंति दव्वाणि[4]।
तेसिं परिणामादो लोयस्स वि मुणह[5] परिणामं ॥ ११७ ॥

[छाया-परिणामस्वभावतः प्रतिसमयं परिणमन्ति द्रव्याणि। तेषां परिणामात् लोकस्यापि जानीत परिणामम् ॥] द्रव्याणि यथा स्वपर्यायैः द्रूयन्ते द्रवन्ति वा तानीति द्रव्याणि जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकालरूपाणि, प्रतिसमयं समयं समयं प्रति, परिणमन्ति उत्पादव्ययध्रौव्यरूपेण परिणमन्ति परिणामं पर्यायान्तरं गच्छन्ति। कुतः। परिणामस्वभावात् अतीतानागतवर्तमानानन्तपर्यायस्वभावेन परिणमनात्। तेषां जीवपुद्गलादिद्रव्याणां परिणामात् परिणमनात् अनेकस्वभावविभाव-

॥ ११५ ॥ समस्त आकाशके मध्यमें लोकाकाश है, इत्यादि विशेषताका क्या कारण है, यह बतलाते हैं। **अर्थ**-द्रव्योंकी परस्परमें एकक्षेत्रावगाहरूप स्थितिको लोक कहते हैं। द्रव्य नित्य है, अतः लोकको भी नित्य जानो॥ **भावार्थ**-जितने आकाशमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ये छहों द्रव्य पाये जाते हैं, उसे लोक कहते हैं। छहो द्रव्य अनादि और अनन्त हैं, अतः लोकको भी अनादि और अनन्त जानना चाहिये [त्रिलोकसारमें भी लिखा है-"लोगो अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिव्वत्तो। जीवाजीवेहिं फुडो सव्वागासवयवो णिच्चो॥ ४ ॥" अर्थ-लोक अकृत्रिम है, अनादि अनन्त है, स्वभावसे निष्पन्न है, जीव-अजीव द्रव्योंसे भरा हुआ है, समस्त, आकाशका अङ्ग है और नित्य है।] शङ्का-यदि लोक सर्वथा नित्य है तो स्याद्वादमतका भङ्ग होता है, क्योंकि स्याद्वादी किसी भी वस्तुको सर्वथा नित्य नहीं मानते हैं। इसका उत्तर देते है। **अर्थ**-परिणमन करना वस्तुका स्वभाव है अतः द्रव्य प्रतिसमय परिणमन करते हैं। उनके परिणमनसे लोकका भी परिणमन जानो॥ **भावार्थ**-जो पर्यायोंके द्वारा प्राप्त किये जाते है, या पर्यायोंको प्राप्त करते है, उन्हे द्रव्य कहते है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, इन छहों द्रव्योंमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूपसे प्रतिसमय परिणमन होता रहता है। प्रतिसमय छहों द्रव्योंकी पूर्व पूर्व पर्याय नष्ट होती है, उत्तर उत्तर पर्याय उत्पन्न होती हैं, और द्रव्यता ध्रुव रहती है। इस तरह भूत, भविष्यत् और वर्तमानकालमें अनन्तपर्यायरूपसे परिणमन करना द्रव्यका स्वभाव है। जो इस तरह परिणमनशील नहीं है, वह कभी सत् हो ही नहीं सकता। अतः नित्य होनेपर भी जीव, पुद्गल आदि द्रव्य अनेक स्वभावपर्याय तथा विभावपर्यायरूपसे प्रतिसमय परिणमन करते रहते हैं। परिणमन करना उनका स्वभाव है। स्वभावके बिना कोई वस्तु स्थिर रह ही नहीं सकती। उन्हीं परिणामी द्रव्योंके समुदायको लोक कहते हैं। अतः जब द्रव्य परिणमनशील हैं तो उनके समुदायरूप लोकका परिणामी होना सिद्ध ही है, अतः द्रव्योंकी तरह लोकको भी परिणामी नित्य जानना चाहिये। [गो० जीवकाण्डमें द्रव्योंकी स्थिति बतलाते हुए लिखा है-"एयदवियम्मि जे

१ ल स ग भवे। २ ब मुणहि। ३ ग णिचित्तं। ४ ल दव्वाणि। ५ ब मुणहि। ६ ग द्रवंति।

पर्यायरूपेण परिणमनात् लोकस्यापि परिणामं परिणमनं पर्यायरूपेण कथंचित् अनित्यत्वं सपर्यायत्वं च मन्यस्व जानीहि विद्धि। ननु यत्र नित्यत्वं प्रागुक्तं तत्रानित्यत्वं कथं विरोधात् इति चेन्न, वस्तुनः अनेकान्तात्मकत्वं सत्त्वात्। अथ द्रव्याणां नित्यत्वेनानित्यत्वेन किं नाम पर्याया इति चेदाह। जीवद्रव्यस्य नरनारकादिविभावव्यञ्जनपर्यायाः, पुद्गलस्य शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतसहिताः विभावव्यञ्जनपर्याया भवन्ति। एवमन्येषामपि ज्ञेयम् ॥ ११७ ॥ अथ लोकस्य परपरिकल्पितस्थानमानविप्रतिपत्तिनिरासार्थमाह–

सत्तेक्क-पंच-इक्का मूले मज्झे तहेव बंभंते।
लोयंते रज्जूओ पुव्वावरदो[2] य वित्थारो ॥ ११८ ॥

अत्थपज्जया वियणपज्जया चावि। तीदाणागदभूदा तावदियं तं हवदि दव्वं ॥५५१॥" अर्थ–एकद्रव्यमें त्रिकालसम्बन्धी जितनी अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्याय हैं, उतना ही द्रव्य है। अर्थात् त्रिकालवर्ती पर्यायोंको छोड़कर द्रव्य कोई चीज नहीं है। अनु०] शङ्का–जो नित्य है, वह अनित्य किसप्रकार हो सकता है ? नित्यता और अनित्यतामें परस्परमें विरोध है। उत्तर–वस्तु अनेकधर्मात्मक होती है, क्यों कि वह सत है। यदि एकवस्तुमें उन अनेकधर्मोंको अपेक्षाभेदके विना योंही मान लिया जाये तो उनमें विरोध हो सकता है। किन्तु भिन्न भिन्न अपेक्षाओंसे विरोधी दिखाई देनेवाले धर्म भी एक स्थानपर विना किसी विरोधके रह सकते है। जैसे, पिता, पुत्र, भ्राता, जामाता आदि लौकिक सम्बन्ध परस्परमें विरोधी प्रतीत होते हैं। किन्तु भिन्न भिन्न सम्बन्धियोंकी अपेक्षासे यह सभी सम्बन्ध एकही मनुष्यमें पाये जाते हैं। एकही मनुष्य अपने पिताकी अपेक्षासे पुत्र है, अपने पुत्रकी अपेक्षासे पिता है अपने भाईकी अपेक्षासे भ्राता है, और अपने श्वशुरकी अपेक्षासे जामाता है। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य द्रव्यरूपसे नित्य है, क्योंकि द्रव्यका नाश कभी भी नहीं होता। किन्तु प्रतिसमय उसमें परिणमन होता रहता है, जो पर्याय एकसमयमें होती है, वही पर्याय दूसरे समयमें नहीं होती, जो दूसरे समयमें होती है वह तीसरे समयमें नहीं होती, अतः पर्यायकी अपेक्षासे अनित्य है। पर्याय दो प्रकारकी होती हैं, एक व्यञ्जनपर्याय और दूसरी अर्थपर्याय। इन दोनों प्रकारोंकेभी दो दो भेद होते हैं–स्वभाव और विभाव। जीवद्रव्यकी नर, नारक आदि पर्याय विभाव व्यञ्जनपर्याय है, और पुद्गलद्रव्यकी शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, आकार, खण्ड, अन्धकार, छाया, धूप, चांदनी वगैरह पर्याय विभावव्यञ्जन पर्याय हैं। [प्रदेशवत्त्वगुणके विकारको व्यञ्जनपर्याय और अन्य शेष गुणोंके विकारको अर्थपर्याय कहते हैं। तथा जो पर्याय परसम्बन्धके निमित्तसे होती है उसे विभाव, तथा जो परसम्बन्धके निमित्तके विना स्वभावसे ही होती है उसे स्वभावपर्याय कहते है। हम चर्मचक्षुओंसे जो कुछ देखते हैं, वह सब विभाव व्यञ्जन पर्याय है। अनु०] सारांश यह है कि द्रव्योंके समूहका ही नाम लोक है। द्रव्य नित्य हैं, अतः लोक भी नित्य है। द्रव्य परिणामी हैं, अतः लोक भी परिणामी है ॥ ११७ ॥ **अर्थ–** पूरब–पश्चिम दिशामें लोकका विस्तार मूलमें अर्थात् अधोलोकके नीचे सात राजू है। अधोलोकसे ऊपर क्रमशः घटकर मध्यलोकमें एक राजूका विस्तार है। पुनः क्रमशः बढ़कर ब्रह्मलोक स्वर्गके अन्तमें पाँच राजूका विस्तार है। पुनः क्रमशः घटकर लोकके अन्तमें एकराजूका विस्तार है ॥ **भावार्थ–**लोक पुरुषाकार है। कोई पुरुष दोनों पैर फैलाकर और दोनों हाथोंको कटिप्रदेशके दोनो

१ ल ग सत्तेक्क, म सत्तिक, स सनेक। २ ग पुव्वापरदो।

[छाया-सप्तैकपञ्चैकाः मूले मध्ये तथैव ब्रह्मान्ते । लोकान्ते रज्जवः पूर्वापरतश्च विस्तारः ॥] लोकस्येत्यध्याहार्यम् । पूर्वापरतः पूर्वां दिशामाश्रित्य पश्चिमां दिशामाश्रित्य च विस्तारः व्यासः । मूले त्रिलोकस्याधोभागे पूर्वपश्चिमेन सप्तरज्जुविस्तारः ७ । तथैव प्रकारेण मध्ये अधोभागात्क्रमहानिरूपेण हीयते यावन्मध्यलोके पूर्वापरतः एका एकरज्जुप्रमाणविस्तारः । तथैव बंभंते, ततो मध्यलोकादूर्ध्वं क्रमवृद्ध्या वर्तते यावद् ब्रह्मलोकान्ते पूर्वपश्चिमेन रज्जुपञ्चविस्तारः ५ । लोयंते, ततश्चोर्ध्वं पुनरपि हीयते यावल्लोकान्ते लोकोपरिमभागे पूर्वापरतः एकरज्जुप्रमाणविस्तारो १ भवति ॥ ११८ ॥ अथ दक्षिणोत्तरतः कियन्मात्र इत्युक्ते प्राह-

दक्खिण-उत्तरदो पुण[1] सत्त वि रज्जू हवंति[2] सव्वत्थ ।
उड्ढं[3] चउदह[4] रज्जू सत्त वि रज्जू घणो लोओ ॥ ११९ ॥

[छाया-दक्षिणोत्तरतः पुनः सप्तापि रज्जवः भवन्ति सर्वत्र । ऊर्ध्वः चतुर्दश रज्जवः सप्तापि रज्जवः घनः लोकः ॥] पुनः दक्षिणोत्तरपार्श्वमाश्रित्य स चतुर्दश १४ रज्जूत्सेधपर्यन्तं व्यास आयामः सप्तरज्जुरेव भवति ७ । लोकस्योदयः कियन्मात्र इति चेदूर्ध्वः चतुर्दशरज्जूदयरूपः १४ लोको भवति । सर्वलोकस्य क्षेत्रं कियन्मात्रम् । सप्तरज्जुघनः सप्तरज्जूनां घनः त्रिवारगणनम् । 'त्रिसमाहतिर्घनः' स्यादिति वचनात् । जगच्छ्रेणि = । ७ घनः = ३४३ प्रमाणः सर्वलोकः त्रिशतरज्जुमात्रः त्रिचत्वारिंशदधिकः ३४३ इत्यर्थः । तावदधोलोकस्य मानमानीयते । 'मुहभूमीजोगदले पदगुणिदे पदघणं होदि ।' मुखं एकरज्जुः १, भूमिस्तु सप्तरज्जुः ७, तयोर्योगः ८, तद्दलं ४, पदेन सप्तभिः ७, गुणिते २८, वेधेन ७ गुणिते १९६ । एवमूर्ध्वलोकमानमानेतव्यम् १४७ । सर्वं इत्यर्थः ३४३ ॥ ११९ ॥ अथ त्रिलोकस्योदयं विभजति-

मेरुस्स हिट्ठ-भाए[5] सत्त वि रज्जू हवेइ अह-लोओ[6] ।
उड्ढम्मि उड्ढ-लोओ मेरु-समो मज्झिमो लोओ ॥ १२० ॥

ओर रखकर यदि खड़ा हो तो उसका जैसा आकार होता है, वैसा ही आकार लोकका जानना चाहिये अतः पुरुषका आकार लोकके समान कल्पना करके उसका पूरब-पश्चिम विस्तार इस प्रकार जानना चाहिये । पञ्जोंके अन्तरालका विस्तार सातराजू है । कटिप्रदेशका विस्तार एक राजू है । दोनो हाथोंका–एक कोनीसे लेकर दूसरी कोनी तकका-विस्तार पाँच राजू है । और ऊपर, शिरोदेशका विस्तार एक राजू है ॥ ११८ ॥ अब लोकका दक्षिण-उत्तरमें विस्तार कहते हैं । **अर्थ–**दक्षिण-उत्तर दिशामें सब जगह लोकका विस्तार सात राजू है । ऊँचाई चौदह राजु है और क्षेत्रफल सात राजूका घन अर्थात् ३४३ राजू है ॥ **भावार्थ–**पूरब-पश्चिम दिशामें जैसा घटता बढ़ता विस्तार है, वैसा दक्षिण–उत्तर दिशामें नहीं है । दक्षिण उत्तर दिशामें सब जगह सात राजू विस्तार है । तथा लोककी नीचेसे ऊपर तक ऊँचाई चौदह राजू है और लोकका क्षेत्रफल सात राजूका घन है । तीन समान राशियोंको परस्परमें गुणा करनेसे घन आता है । अतः सात राजूका घन ७×७×७=३४३ राजू होता है । इस क्षेत्रफलकी रीति निम्न प्रकार है । पहले अधोलोकका क्षेत्रफल निकालते हैं । त्रिलोकसारमें कहा है कि "जोगदले पदगुणिदे फलं घणो वेधगुणिदफलं ॥ ११४ ॥" मुख और भूमिको जोड़कर उसका आधा करो, और उस आधेको पदसे गुणा करदो तो क्षेत्रफल होता है और क्षेत्रफलको ऊँचाईसे गुणाकरनेपर घन फल होता है । इस रीतिके अनुसार मुख १ राजू, भूमि ७ राजू, दोनों को जोडकर ७+१=८ आधा करनेसे ४ होते हैं । इस ४ राजूको पद–दक्षिण उत्तर विस्तार ७ राजूसे गुणा करनेपर ४×७=२८ राजू क्षेत्रफल होता है । और इस क्षेत्रफलको अधोलोककी ऊँचाई सात राजूसे गुणा

१ ब पुणु । २ ल स ग हवेंति । ३ ब उड्ढ [?], ल म ग उड्ढो, स उद्दो । ४ ल स ग चउदस, म चउद्दस । ५ ल ग भागे । ६ ब हवेइ अहो लोउ [?], ल स ग हवे अहो लोओ, म हवेइ अह लोउ ।

[छाया-मेरोः अधोभागे सप्तापि रज्जवः भवति अधोलोकः । ऊर्ध्वे ऊर्ध्वलोकः मेरुसमः मध्यमः लोकः ॥] मेरोरधस्तनभागे अधोलोकः । सप्तरज्जुमात्रो भवेत् । तथा हि, अधोभागे मेर्वाधारभूता रत्नप्रभाख्या प्रथमा पृथिवी । तस्या अधोऽधः प्रत्येकमेकैकरज्जुप्रमाणमाकाशं गत्वा यथाक्रमेण शर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमःसंज्ञाः षट् भूमयो भवन्ति । तस्मादधोभागे रज्जुप्रमाणक्षेत्रं भूमिरहितं निगोदादिपञ्चस्थावरभृतं च तिष्ठति । रत्नप्रभादिपृथिवीनां प्रत्येकं घनोदधिघनवाततनुवातत्रयमाधारभूतं भवतीति विज्ञेयम् । उड्ढम्हि उड्ढलोओ ऊर्ध्वे ऊर्ध्वलोकः, मेरोरुपरिभागे ऋजु-पटलमारभ्य त्रैलोक्यशिखरपर्यन्तम् ऊर्ध्वलोकः सप्तरज्जुमात्रो भवति । मध्यमो लोकः मेरुसमः । मेरोरुदयमात्रः लक्ष-योजनप्रमाण इत्यर्थः ॥ १२० ॥ लोकशब्दस्य निरुक्तिमाह-

करनेपर २८×७=१९६ राजु अधोलोकका घनफल होता है। इसी प्रकार ऊर्ध्वलोकका भी घन-फल निकाल लेना चाहिये। अर्थात् मुख १ राजू, भूमि ५ राजू, दोनोका जोड़ ६ राजू, उसका आधा ३ राजू, इस ३ राजूको पद ७ राजूसे गुणा करनेपर ७×३=२१ राजू आधे ऊर्ध्वलोकका क्षेत्रफल होता है। इसे उँचाई साढे तिन राजूसे गुणा करनेपर २१×$\frac{७}{२}$=$\frac{१४७}{२}$ राजू आधे ऊर्ध्वलोकका घन फल होता है। इसको [illegible] करदेने से १४७ राजू पूरे ऊर्ध्वलोकका घन फल होता है। अधोलोक और ऊर्ध्वलोकके घन फलोंको जोड़नेसे १९६+१४७=३४३ राजू पूरे लोकका घनफल होता है। गाथामें आये क्षेत्रफल शब्दसे घन क्षेत्रफल ही समझना चाहिये ॥११९॥ तीनों लोकोंकी उँचाईका विभाग करते हैं। **अर्थ**-मेरुपर्वतके नीचे सात राजूप्रमाण अधोलोक है। ऊपर ऊर्ध्वलोक है। मेरुप्रमाण मध्य लोक है॥ **भावार्थ**-'मेरु' शब्दका अर्थ 'माप करनेवाला' होता है। जो तीनों लोकोंका माप करता है, उसे मेरु कहते हैं। ["लोकत्रयं मिनातीति मेरुरिति।" राजवा. पृ. १२७] जम्बूद्वीपके बीचमें एक-लाख योजन ऊँचा मेरुपर्वत स्थित है। वह एक हज़ार योजन पृथ्वीके अन्दर है और ९९ हज़ार योजन बाहर। ['जम्बूद्वीपे महामन्दरो योजनसहस्रावगाहो भवति नवनवतियोजनसहस्रोच्छ्रायः। तस्याधस्ता-दधोलोकः। बाहुल्येन तत्प्रमाणः तिर्यक्प्रसृतस्तिर्यग्लोकः। तस्योपरिष्टादूर्ध्वलोकः। मेरुचूलिका चत्वारिंश-द्योजनोच्छ्राया तस्या उपरि केशान्तरमात्रे व्यवस्थितमृजुविमानमिन्द्रकं सौधर्मस्य।" सर्वार्थ० पृ. १५७ अनु०] उसके ऊपर ४० योजनकी चूलिका है। रत्नप्रभा नामकी पहली पृथिवीके ऊपर यह स्थित है। इस पृथिवीके नीचे शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा और महातमप्रभा नामकी छह पृथिवीयां और है। सातवीं पृथिवीके नीचे १ राजूमें निगोदस्थान है। ये सभी पृथिवियां घनोदधि, घनवात और तनुवात नामके तीन वातवलयोंसे वेष्टित हैं। मेरुसे नीचेका सात राजू प्रमाण यह सब क्षेत्र, अधोलोक कहलाता है। तथा ऊपर सौधर्मस्वर्गके ऋजुविमानके तलसे लेकर लोकके शिखरपर्यन्त सात राजू क्षेत्रको ऊर्ध्वलोक कहते हैं। [मेरुपर्वतकी चूलिका और ऋजुविमानमें एक बाल मात्रका अन्तर है]। सोलह स्वर्ग, नौ ग्रैवेयक, पाँच अनुत्तर तथा सिद्धशिला, ये सब ऊर्ध्वलोकमें सम्मिलित हैं। तथा, अधोलोक और ऊर्ध्वलोकके बीचमें सुमेरुपर्वतके तलसे लेकर उसकी चूलिकापर्यन्त एक लाख चालीस योजन प्रमाण ऊँचा क्षेत्र मध्यलोक कहलाता है। शङ्का-लोककी ऊँचाई चौदह राजू बतलाई है। उसमें सात राजू प्रमाण अधोलोक बतलाया है और सात राजू प्रमाण ऊर्ध्वलोक बतलाया है। ऐसी दशामें मध्यलोककी ऊँचाई एकलाख चालीस योजन अधोलोकमें सम्मिलित है या ऊर्ध्वलोकमें या दोनोसे पृथक् ही है। उत्तर-मेरुपर्वतके तलसे नीचे सातराजू प्रमाण अधोलोक है और तलसे ऊपर सातराजू प्रमाण ऊर्ध्वलोक है। अतः मध्यलोककी ऊँचाई ऊर्ध्वलोकमें सम्मिलित है। सात राजूकी

दीसंति जत्थ अत्था जीवादीया स भण्णदे[1] लोओ ।
तस्स सिहरम्मि सिद्धा अंत-विहीणा विरायंते[2] ॥ १२१ ॥

[छाया-दृश्यन्ते यत्र अर्थाः जीवादिकाः स भण्यते लोकः । तस्य शिखरे सिद्धाः अन्तविहीनाः विराजन्ते ॥] स लोकः भण्यते, यत्र जीवादिकाः अर्थाः जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकालरूपपदार्थाः द्रव्याणि षट् दृश्यन्ते लोक्यन्ते इति स लोकः कथ्यते सर्वज्ञैः । तस्य लोकस्य शिखरे तनुवातमध्ये सिद्धाः सिद्धपरमेष्ठिनः द्रव्यभावनोकर्मरहिता निरञ्जनाः परमात्मानः सम्यक्त्वाद्यष्टगुणोपेताः विराजन्ते शोभन्ते । कथंभूतास्ते सिद्धाः । अन्तविहीना विनाशरहिताः, अथवा अनन्तानन्तमानोपेताः सन्ति ॥ १२१ ॥ अत्र च कैः कैर्जीवैर्भृतो लोक इति चेदुच्यते-

एइंदिएहिँ[4] भरिदो पंच-पयारेहिँ सव्वदो लोओ ।
तस-णाडीएँ वि तसा ण बाहिरा[5] होंति सव्वत्थ ॥ १२२ ॥

[छाया-एकेन्द्रियैः भृतः पञ्चप्रकारैः सर्वतः लोकः । त्रसनाड्याम् अपि त्रसा न बाह्याः भवन्ति सर्वत्र ॥] लोकः त्रिभुवनम्, सर्वतः श्रेणिघने, त्रिचत्वारिंशदधिकत्रिशत ३४३ रज्जुप्रमाणे पञ्चप्रकारैः पञ्चविधैः एकेन्द्रियैः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायिकैर्जीवैर्भृतः । तर्हि त्रसाः क्व तिष्ठन्तीति चेत्, त्रसनाड्यामपि । तस्यैव लोकस्य मध्ये पुनरुदूखलस्य मध्याधो भागे छिद्रे कृते सति निक्षिप्तवंशनलिकेव चतुःकोणा त्रसनाडी भवति । सा चैकरज्जुविष्कम्भा चतुर्दशरज्जूत्सेधा विज्ञेया, तस्यां त्रसनाड्यामेव त्रसाः द्विचतुःपञ्चेन्द्रिया जीवा भवन्ति तिष्ठन्ति । ण बाहिरा होंति

तुलनामें एक लाख योजन ऐसेही हैं, जैसे पर्वतकी तुलनामें राई । अतः उन्हें अलग नहीं किया है । यथार्थमें ऊर्ध्वलोककी ऊँचाई एक लाख चालीस योजन कम सातराजू जाननी चाहिये ॥ १२० ॥ लोकशब्दकी निरुक्ति कहते हैं । **अर्थ**-जहाँपर जीव आदि पदार्थ देखे जाते हैं, उसे लोक कहते हैं । उसके शिखरपर अनन्त सिद्धपरमेष्ठी विराजमान हैं ॥ **भावार्थ**-'लोक' शब्द '**लुक्**' धातुसे बना है, जिसका अर्थ देखना होता है । अतः जितने क्षेत्रमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ये छहों द्रव्य देखे जाते हैं, उसे लोक कहते हैं । ["धर्माधर्मादीनि द्रव्याणि यत्र लोक्यन्ते स लोकः ।" सर्वार्थ०, पृ. १७६] लोकके मस्तक पर तनुवातवलयमें कर्म और नोकर्मसे रहित तथा सम्यक्त्व आदि आठ गुणोंसे सहित सिद्धपरमेष्ठी विराजमान हैं । जो अन्तरहित- अविनाशी हैं, अथवा जो अन्तरहित- अनन्त हैं ॥ १२१ ॥ जिन जीवोंसे यह लोक भरा हुआ है, उन्हें बतलाते हैं । **अर्थ**-यह लोक पाँच प्रकारके एकेन्द्रिय जीवोंसे सर्वत्र भरा हुआ है । किन्तु त्रसजीव त्रसनालीमें ही होते हैं, उसके बाहर सर्वत्र नहीं होते ॥ **भावार्थ**-पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक, ये पाँच प्रकारके एकेन्द्रिय जीव ३४३ राजू प्रमाण सभी लोकमें भरे हुए हैं । किन्तु त्रस अर्थात् दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, और पञ्चेन्द्रिय जीव त्रसनालीमें ही पाये जाते हैं । उदूखल [कोशकारोंने उदूखलका अर्थ ओखली और जूगुलवृक्ष किया है । यहा वृक्ष लेना ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि त्रिलोकप्रज्ञप्ति तथा त्रिलोकसारमें त्रसनालीकी उपमा वृक्षके सार अर्थात् छाल वगैरह के मध्यमें रहनेवाली लकड़ीसे दी है । अनु०] के बीचमें छेदकरके उसमें रखी हुई बाँसकी नलीके समान लोकके मध्यमें चौकोर त्रसनाली है । उसीमें त्रसजीव रहते हैं । [उपपाद और मारणान्तिक समुद्घातके सिवाय त्रसजीव उससे बाहर नहीं रहते हैं "उववादमारणंतियपरिणदतसमुज्झिऊण सेसतसा । तसणालिबाहिरम्हि य

---

१ ब भण्णइ । २ ल म स ग विरायंति । ३ अनु वा अनू इति मूलपाठः । ४ ब स °दिएहि । ५ ब नाहिए ।

सव्वत्थ, त्रसनाड्या बाह्ये सर्वत्र लोके उपपादमारणान्तिकपरिणतत्रसान् विहाय त्रसा न भवन्तीत्यर्थः। ण बादरा होंति सव्वत्थ इति पाठे सर्वत्र लोके बादराः स्थूलाः पृथ्वीकायिकादयस्त्रसाश्च न सन्ति। 'आधारे थूलाओ' इति च वचनात्। ननु त्रसनाड्यां सर्वत्र त्रसास्तिष्ठन्ति इति चेत्प्राह। त्रसनाड्यां त्रसा इति सामान्यवचनम्। विशेषवाक्यं त्रिलोकप्रज्ञप्तौ प्रोक्तं च। 'लोयबहुमज्झदेसे तरुम्मि सारं व रज्जुपदरजुदा। तेरसरज्जुस्सेहा किंचूणा होदि तसणाली॥'

णत्थि त्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं॥ १९२॥" गो. जीवकाण्ड] त्रसनालीसे बाहरका कोई एकेन्द्रिय जीव त्रसनामकर्मका बन्ध करके, मृत्युके पश्चात् त्रसनालीमें जन्म लेनेके लिये गमन करता है, तब उसके त्रसनामकर्मका उदय होनेके कारण उपपादकी अपेक्षासे त्रसजीव त्रसनालीके बाहर पाया जाता है। तथा, जब कोई त्रसजीव त्रसनालीसे बाहर एकेन्द्रियपर्यायमें जन्म लेनेसे पहले मारणान्तिक समुद्घात करता है, तब त्रसपर्यायमें होते हुएभी उसकी आत्माके प्रदेश त्रसनालीके बाहर पाये जाते हैं। 'ण बाहिरा होंति सव्वत्थ' के स्थानमें 'ण बादरा होंति सव्वत्थ' ऐसा भी पाठ है। इसका अर्थ होता है कि बादर जीव अर्थात् स्थूल पृथ्वीकायिक वगैरह एकेन्द्रिय जीव तथा त्रसजीव सर्वलोकमें नहीं रहते हैं। क्योंकि जीवकाण्डमें लिखा है–'स्थूलजीव आधारसे ही रहते हैं' ['आधारे थूलाओ' ॥१९३॥] शङ्का–क्या त्रसनालीमें सर्वत्र त्रसजीव रहते हैं? उत्तर–त्रसनालीमें त्रसजीव रहते हैं, यह सामान्यकथन है। त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें इसका विशेष कथन किया है। ["लोयबहुमज्झदेसे तरुम्मि सारं व रज्जुपदरजुदा। तेरस रज्जुस्सेहा किंचूणा होदि तसणाली॥ ६॥" द्वि. अधि.] उसमें कहा है–"वृक्षमें उसके सारकी तरह, लोकके ठीक मध्यमें एक राजू लम्बी, एक राजू चौड़ी और कुछ कम तेरह राजू ऊँची त्रसनाली है।" शङ्का–त्रसनालीको कुछ कम तेरह राजू ऊँची कैसे कहा है? उत्तर–सातवी महातमःप्रभा नामकी पृथिवी आठ हजार योजनकी मोटी है [देखो, त्रिलोकसार गा. १७४ की टीका]। उसके ठीक मध्यमें नारकियोंके श्रेणीबद्ध बिले बने हुए हैं। उन बिलोंकी मोटाई $\frac{4}{3}$ योजन है। इस मोटाईको समच्छेद करके पृथिवीकी मोटाईमें घटानेसे $\frac{24000}{3} - \frac{4}{3} = \frac{23996}{3}$ योजन शेष बचता है। इसका आधा $\frac{11998}{3}$ योजन होता है। भाग देनेपर ३९९९$\frac{1}{3}$ योजन आते हैं। इतने योजनोंके ३१९९४६६६$\frac{2}{3}$ धनुष होते हैं। यह तो नीचेकी गणना हुई। अब ऊपरकी लीजिये। सर्वार्थसिद्धि विमानसे ऊपर १२ योजनपर ईषत्प्राग्भार नामकी आठवी पृथ्वी है, जो आठ योजन मोटी है। ["तिहुवणमुड्ढारूढा ईसिपभारा धरट्ठमी रुंदा। दिग्घा इगिसगरज्जू अडजोयणपमिदबाहल्ला॥ ५५६॥" त्रिलोकसार. **अर्थ**–'तीनो लोकोंके मस्तकपर आरूढ ईषत्प्राग्भार नामकी आठवीं पृथ्वी है। उसकी चौड़ाई एक राजू, लम्बाई सात राजू और मोटाई आठ योजन है।'] १२ योजनके ९६००० धनुष होते हैं। और आठवीं पृथ्वीके ८ योजनके ६४००० धनुष होते है। ["कोसाणं दुगमेक्कं देसूणेक्कं च लोयसिहरम्मि। ऊणधणूणपमाणं पणुवीसज्झहियचारिसयं॥ १२६॥" त्रिलोकसार. अर्थ–'लोकके शिखरपर तीनों वातवलयोंका बाहुल्य दो कोस, एक कोस और कुछ कम एक कोस है। कुछ कमका प्रमाण ४२५ धनुष है।' अतः तीनो वातवलयोंका बाहुल्य ४०००+२०००+१५७५=७५७५ धनुष होता है। क्योंकि एक कोसके २००० धनुष होते हैं।] उसके उपर तीनो वातवलयोंकी मोटाई ७५७५ धनुष है। इन सब धनुषोंका जोड़ ३२१६२२४१$\frac{2}{3}$ धनुष होता है। [ऊणपमाणं दंडा कोडितियं एक्कवीस-लक्खाणं। वासट्ठिं च सहस्सा दुसमा इगिदाल दुतिभाया॥ ७॥" त्रिलोकप्र०, २ य अधि०।

किंचूणा होदि तसणाली इत्यत्र ऊनदण्डप्रमाणं कथमिति, सप्तमपृथिव्याः श्रेणिबद्धादधोयोजनानां ३९९९$\frac{१}{३}$, दंडाः ३१९९४ ६६६$\frac{२}{३}$। सर्वार्थसिद्धेरुपरियोजनानां १२, [दण्डाः ९६०००,] अष्टमपृथ्व्यां योजनानां ८, दण्डाः ६४००० । तस्या उपरि वायुत्रयदण्डाः ७५७५ । एते सर्वे दण्डाः ३२१६२२४१$\frac{२}{३}$ । किञ्चिन्न्यूनत्रयोदशरज्जुप्रमाणत्रसनाड्यां त्रसास्तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥ १२२ ॥ अथ स्थूलसूक्ष्मादिभेदेन जीवान् विभजति–

पुण्णा वि [1]अपुण्णा वि य थूला जीवा हवंति साहारा ।
छविहे[2]-सुहुमा[3] जीवा लोयायासे वि सव्वत्थ ॥ १२३ ॥

[छाया–पूर्णाः अपि अपूर्णाः अपि च स्थूलाः जीवाः भवन्ति साधाराः । षड्विधसूक्ष्माः जीवाः लोकाकाशे अपि सर्वत्र ॥] स्थूलाः बादराः बादरनामकर्मोदयनिष्पादितपर्यायाः । कथंभूतास्ते स्थूलाः । पूर्णाः अपि च अपूर्णा अपि च, पर्याप्ताः अपर्याप्ता अपि च जीवाः प्राणिनः । साहारा साधाराः पृथिव्यादिकमाधारमाश्रित्य भवन्ति तिष्ठन्तीत्यर्थः । अथवा जायन्ते उत्पद्यन्ते । 'आधारे थूलाओ' आधारे आश्रये वर्तमानशरीरविशिष्टा ये जीवास्ते सर्वेऽपि स्थूलाः बादरा इत्यर्थः इति गोम्मटसारे । सुहुमा सूक्ष्माः सूक्ष्मनामकर्मोदयापादितपर्याया जीवाः प्राणिनः षडविधाः षड्भेदाः । पृथिवीकायिकसूक्ष्मः १, जलकायिकसूक्ष्मः २, तेजस्कायिकसूक्ष्मः ३, वायुकायिकसूक्ष्मः ४, नित्यनिगोदवनस्पतिकायिकसूक्ष्मः ५, इतरनिगोदवनस्पतिकायिकसूक्ष्मजीवाः ६, इति षोढा । लोकाकाशे सर्वत्र सर्वलोके, जले स्थले आकाशे वा, निरन्तराः आधारानपेक्षितशरीराः जीवाः सूक्ष्मा भवन्ति । जलस्थलरूपाधारेण तेषां शरीरगतिप्रतिघातो नास्ति, अत्यन्तसूक्ष्मपरिणामत्वात् । ते जीवाः सूक्ष्माः निराधारा निरन्तरास्तिष्ठन्ति उत्पद्यन्ते च ॥ १२३ ॥

पुढवी[4]-जलग्गि-वाऊ चत्तारि वि होंति[5] बायरा सुहुमा ।
साहारण-पत्तेया वणप्फदी[6] पंचमा दुविहा ॥ १२४ ॥

[छाया–पृथ्वीजलाग्निवायवः चत्वारः अपि भवन्ति बादराः सूक्ष्माः । साधारणप्रत्येकाः वनस्पतयः पञ्चमाः द्विविधाः ॥] पृथिवीजलाग्निवायवश्चत्वारोऽपि जीवा बादराः सूक्ष्माश्च भवन्ति । पृथिवीकायिकजीवा बादराः सूक्ष्माश्च

अर्थ–कमधनुषोंका प्रमाण ३२१६२२४१$\frac{२}{३}$ है । अनु०] इतने धनुष कम तेरह राजूप्रमाण त्रसनालीमें त्रसजीव रहते हैं । सारांश यह है कि लोककी ऊँचाई १४ राजू है । इतनीही ऊँचाई त्रसनालीकी है । उसमेंसे सातवे नरकके नीचे एक राजूमें निगोदिया जीव ही रहते हैं । अतः एकराजू कम होनेसे १३ राजू रहते है । उनमेंभी सातवीं पृथ्वीके मध्यमें ही नारकी रहते हैं, नीचेके ३९९९$\frac{१}{३}$ योजन प्रमाण पृथ्वीमें कोई त्रस नहीं रहता है । तथा ऊर्ध्वलोकमें सर्वार्थसिद्धि विमानतकही त्रसजीव रहते हैं । सर्वार्थसिद्धिसे ऊपरके क्षेत्रमें कोई त्रसजीव नहीं रहता है । अतः सर्वार्थसिद्धिसे लेकर आठवीं पृथिवीतकका अन्तराल १२ योजन, आठवीं पृथिवीकी मोटाई ८ योजन और आठवीं पृथ्वीके ऊपर ७५७५ धनुष प्रमाण क्षेत्र त्रसजीवोंसे शून्य है । अतः नीचे और ऊपरके उक्तधनुषोंसे कम १३ राजू प्रमाण त्रसनालीमें त्रसजीव जानने चाहिये ॥ १२२ ॥ अब स्थूल, सूक्ष्म आदि भेदसे जीवोंका विभाग करते हैं । **अर्थ**–पर्याप्तक और अपर्याप्तक, दोनोंही प्रकारके बादरजीव आधारके सहारेसे रहते हैं । और छह प्रकारके सूक्ष्मजीव समस्त लोकाकाशमें रहते है ॥ **भावार्थ**–जीव दो प्रकारके होते हैं–बादर और सूक्ष्म । बादर नामकर्मके उदयसे बादर पर्यायमें उत्पन्न जीवोंको बादर कहते है, और सूक्ष्मनामकर्मके उदयसे सूक्ष्म पर्यायमें उत्पन्न जीवोंको सूक्ष्म कहते हैं । सूक्ष्मजीवोंके भी छह भेद हैं– पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजकायिक, वायुकायिक, नित्यनिगोद वनस्पतिकायिक और इतरनिगोद वनस्पतिकायिक । ये सब जीव पर्याप्त कभी होते हैं । और अपर्याप्त कभी होते हैं । जो बादर होते हैं,

१ ब छ म स ग यपुण्णा । २ ब ल स ग छविह । ३ ब सुहमा । ४ ल ग पुढवि । ५ ब हुंति । ६ ब वणप्फदि ।

भवन्ति । अप्कायिका जीवा बादराः सूक्ष्माश्च भवन्ति । तेजस्कायिका जीवा बादराः सूक्ष्माश्च सन्ति । वायुकायिका जीवा बादराः सूक्ष्माश्च भवन्तीत्यर्थः । पञ्चमाः पृथिव्यादिसंख्यया पञ्चमत्वं प्राप्ताः वनस्पतयः द्विविधा द्विप्रकाराः । कुतः । साधारणप्रत्येकात्, साधारणवनस्पतिप्रत्येकवनस्पतिभेदात् । ये तु साधारणवनस्पतिकायिकास्ते नित्यचतुर्गतिनिगोदजीवाः बादराः सूक्ष्माश्च भवन्ति । ये प्रत्येकवनस्पतिकायिका जीवास्ते तु बादरा एव न तु सूक्ष्माः ॥ १२४ ॥ अथ साधारणानां द्विविधत्वं दर्शयति-

साहारणा वि दुविहा अणाइ-काला य साइ-काला य ।
ते वि य बादर-सुहुमा सेसा पुणे बायरा सव्वे ॥ १२५ ॥

[छाया-साधारणाः अपि द्विविधाः अनादिकालाः च सादिकालाः च । ते अपि च बादरसूक्ष्माः शेषाः पुनर् बादराः सर्वे ॥] साधारणनामकर्मोदयात् साधारणाः साधारणनिगोदाः, अपि पुनः, द्विविधा द्विप्रकाराः । ते के प्रकाराः । अनादिकालाश्च सादिकालाश्च नित्यनिगोदाश्चतुर्गतिनिगोदाश्च। च शब्दः समुच्चयार्थः। ते वियँ त एव नित्यचतुर्गतिनिगोदजीवा बादरसूक्ष्माः बादरसूक्ष्मनामकर्मोदयं प्राप्नुवन्ति । पुनः शेषाः सर्वे प्रत्येकवनस्पतयः द्वीन्द्रियादयश्च सर्वे समस्ता बादरा एव ॥ १२५ ॥ अथ तेषां निगोदानां साधारणत्वं कुत इति चेदुच्यते-

साहारणाणि जेसिं आहारुस्सास-काय-आऊणि ।
ते साहारण-जीवा णंताणंत-प्पमाणाणं ॥ १२६ ॥

[छाया-साधारणानि येषाम् आहारोच्छ्वासकायआयूंषि । ते साधारणजीवा अनन्तानन्तप्रमाणानाम् ॥] येषां साधारणनामकर्मोदयवशवर्त्यनन्तानन्तजीवानां निगोदानाम् आहारोच्छ्वासकायायूंषि साधारणानि सदृशानि समकालानि

वे किसी आधारसे रहते हैं। किन्तु सूक्ष्मजीव विना किसी आधारके समस्त लोकमें रहते हैं ॥ १२३ ॥ **अर्थ**–पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक जीव बादर भी होते हैं और सूक्ष्म भी होते हैं। पाँचवे वनस्पतिकायिकके दो भेद हैं–साधारण और प्रत्येक ॥ १२४ ॥ अब साधारण वनस्पतिकायके दो भेद बतलाते हैं । अर्थ-साधारण वनस्पति काय के दो भेद हैं-अनादि साधारण वनस्पति काय और सादि साधारण वनस्पति काय। ये दोनों प्रकार के जीव बादर भी होते हैं और सूक्ष्म भी होते हैं। बाकी के सब जीव बादरही होते हैं। **भावार्थ**–साधारण नाम कर्म के उदय से साधारण वनस्पतिकायिक जीव होते हैं, जिन्हें निगोदिया जीव भी कहते हैं। उनके भी दो भेद हैं–अनादिकालीन और आदिकालीन । अनादिकालीन साधारण वनस्पति कायको नित्य निगोद कहते हैं और सादिकालीन वनस्पति कायको चतुर्गति निगोद कहते हैं। ये नित्य निगोदिया और चतुर्गति निगोदिया जीव भी बादर और सूक्ष्मके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। जिन जीवोंके बादर नाम कर्मका उदय होता है वे बादर कहलाते हैं और जिन जीवोंके सूक्ष्म नाम कर्मका उदय होता है वे सूक्ष्म कहलाते हैं । दोनों ही प्रकारके निगोदिया जीव बादर भी होते हैं और सूक्ष्म भी होते हैं । किन्तु बाकीके सब प्रत्येक वनस्पति कायिक जीव और द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीव बादर ही होते हैं ॥ १२५ ॥ अब यह बतलाते हैं कि वे निगोदिया जीव साधारण क्यों कहे जाते हैं। **अर्थ**–जिन अनन्तानन्त जीवोंका आहार, श्वासोच्छ्वास, शरीर और आयु साधारण होती है उन जीवोंको साधारणकायिक जीव कहते हैं। **भावार्थ**–जिन अनन्तानन्त निगोदिया जीवोंके साधारण नाम कर्मका उदय होता है उनकी

---

१ छ ग अणाय। २ छ म स कालाइ साइ कालाइं। ३ ब ते पुणु बादर, छ ते चिय। ४ ब पुणु। ५ ब युगलं।

भवन्ति । एकस्मिन् जीवे आहारं गृह्णति सति अनन्तानन्तजीवाः साधारणं समानं सदृशं समकालं गृह्णन्ति । एकस्मिन् जीवे श्वासोच्छ्वासं गृह्णति सति अनन्तानन्तजीवाः साधारणं सदृशं समकालं श्वासोच्छ्वासं गृह्णन्ति । एकस्मिन् जीवे शरीरं गृह्णति सति अनन्तानन्तजीवाः शरीरं गृह्णन्ति मुञ्चन्ति च । एकस्मिन् जीवति सति अनन्तानन्तजीवा जीवन्ति म्रियन्ते च । ते साधारणजीवाः कथ्यन्ते । कथंभूतानां येषाम् । अनन्तानन्तप्रमाणानाम् । तद्यथा । यत्साधारणजीवानाम् उत्पन्नप्रथमसमये आहारपर्याप्तिः, तत्कार्यं चाहारवर्गणायातपुद्गलस्कन्धानां खलरसभागपरिणमनं साधारणं सदृशं समकालं च भवति । १ । तथा शरीरपर्याप्तिः, तत्कार्यं चाहारवर्गणायातपुद्गलस्कन्धानां शरीराकारपरिणमनं साधारणं सदृशं समकालं च भवेत् । २ । तथा इन्द्रियपर्याप्तिः, तत्कार्यं च स्पर्शनेन्द्रियाकारेण परिणमनम् । ३ । आनपानपर्याप्तिः, तत्कार्यं चोच्छ्वासनिःश्वासग्रहणं साधारणं सदृशं समकालं भवति । ४ । तथा गोम्मटसारे साधारणलक्षणं प्रोक्तं च ।

आहार, श्वासोच्छ्वास, शरीर और आयु साधारण यानी समान होती है। अर्थात् उन अनन्तानन्त जीवों का पिण्ड मिलकर एक जीवके जैसा हो जाता है अतः जब उनमेंसे एक जीव आहार ग्रहण करता है तो उसी समय उसीके साथ अनन्तानन्त जीव आहार ग्रहण करते हैं। जब एक जीव श्वास लेता है तो उसी समय उसके साथ अनन्तानन्त जीव श्वास लेते हैं। जब उनमेंसे एक जीव मरकर नया शरीर धारण करता है तो उसी समय उसीके साथ अनन्तानन्त जीव वर्तमान शरीरको छोड़ कर उसी नये शरीरको अपना लेते हैं। सारांश यह है कि एकके जीवनके साथ उन सब का जीवन होता है और एककी मृत्युके साथ उन सबकी मृत्यु हो जाती है इसीसे उन जीवोंको साधारण जीव कहते हैं। इसका और भी खुलासा इस प्रकार है साधारण वनस्पति कायिक जीव एकेन्द्रिय होता हैं। और एकेन्द्रिय जीवके चार पर्याप्तिया होती हैं आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति और श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति। जब कोई जीव जन्म लेता है तो जन्म लेने के प्रथम समयमें आहार पर्याप्ति होती है, उसके बाद उक्त तीनो पर्याप्तिया एकके बाद एकके क्रमसे होती हैं। आहार वर्गणाके रूपमें ग्रहण किये गये पुद्गल स्कन्धोंका खल भाग और रस भाग रूप परिणमन होना आहार पर्याप्तिका कार्य है। खल भाग और रस भागका शरीर रूप परिणमन होना शरीर पर्याप्तिका कार्य है। आहार वर्गणाके परमाणुओंका इन्द्रियके आकार रूप परिणमन होना इन्द्रिय पर्याप्तिका कार्य है। और आहार वर्गणाके परमाणुओंका श्वासोच्छ्वास रूप परिणमन होना श्वासोच्छ्वास पर्याप्तिका कार्य है। एक शरीरमें रहनेवाले अनन्तानन्त साधारण कायिक जीवोंमें ये चारों पर्याप्तियां और इनका कार्य एकसाथ एक समयमें होता है। गोम्मटसार जीवकाण्डमें साधारण वनस्पति कायका लक्षण इस प्रकार कहा है- 'जहां एक जीवके मर जाने पर अनन्त जीवों का मरण हो जाता है और एक जीवके शरीरको छोड़ कर चले जाने पर अनन्त जीव उस शरीर को छोड़ कर चले जाते हैं वह साधारण काय है'। वनस्पति कायिक जीव दो प्रकारके होते हैं-एक प्रत्येक शरीर और एक साधारण शरीर। जिस वनस्पतिरूप शरीरका स्वामी एक ही जीव होता है उसे प्रत्येक शरीर कहते है। और जिस वनस्पति रूप शरीरके बहुतसे जीव समान रूपसे स्वामी होते हैं उसे साधारण शरीर कहते हैं। सारांश यह है कि प्रत्येक वनस्पतिमें तो एक जीवका एक शरीर होता है। और साधारण वनस्पतिमें बहुतसे जीवोंका एक ही शरीर होता है। ये बहुतसे जीव एक साथ ही खाते हैं, एक साथ ही श्वास लेते है। एक साथ ही मरते है और एक साथ ही जीते

१ सर्वत्र 'गोमट्ट' इति पाठः ।

'जत्थेक्कु मरदि जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं । वक्कमइ जत्थ एक्को वक्कमणं तत्थ णंताणं ॥' १२६ ॥ अथ सूक्ष्मत्वं बादरत्वं च व्यनक्ति–

ण य जेसिं पडिखलणं पुढवी[2]-तोएहिँ अग्गि-वाएहिं ।
ते जाणं[3] सुहुम-काया इयरा पुण[4] थूल-काया य ॥ १२७ ॥

[छाया–न च येषां प्रतिस्खलनं पृथ्वीतोयाभ्याम् अग्निवाताभ्याम् । ते जानीहि सूक्ष्मकायाः इतरे पुनः स्थूलकायाः च ॥] ते पञ्च स्थावरा जीवाः सूक्ष्मा इति जानीहि । येषां जीवानां प्रतिस्खलनं रुन्धनम् । कैः । पृथिवीतोयैः पृथिवीकायाप्कायैः, च पुनः, अग्निवातैः अग्निकायवायुकायैः, न च कैरपि द्रव्यैः वज्रपटलादिभिः येषां जीवानां प्रतिस्खलनं रुन्धनं न विद्यते इति भावः । ते सूक्ष्मकायाः सूक्ष्मकायिका जीवास्तान् जानीहि विद्धि त्वम् । पुनः इयरा इतरे अन्ये पृथिवीकायिकादयः पृथ्वीजलवाताग्निकायिभिः प्रतिस्खलनोपेताः स्थूलकायाश्च बादराः कथ्यन्ते ॥ १२७ ॥ अथ प्रत्येकस्वरूपं प्ररूपयति–

पत्तेया वि य दुविहा णिगोद-सहिदा[5] तहेव रहिया य ।
दुविहा होंति[6] तसा वि य वि-ति-चउरक्खा तहेव पंचक्खा ॥१२८ ॥[7]

[छाया–प्रत्येकाः अपि च द्विविधाः निगोदसहिताः तथैव रहिताः च । द्विविधाः भवन्ति त्रसाः अपि च द्वित्रिचतुरक्षाः तथैव पञ्चाक्षाः ॥] अपि च, प्रत्येकाः प्रत्येकवनस्पतिकायिकाः, दुविहा द्विविधाः द्विप्रकाराः, एके निगोदसहिताः

हैं । इन्हें ही निगोदिया जीव कहते हैं । इन साधारण अथवा निगोदिया जीवोंके भी दो भेद हैं–एक नित्य निगोदिया और एक इतर निगोदिया अथवा चतुर्गति निगोदिया । जो जीव अनादिकालसे निगोदमें ही पडे हुए हैं और जिन्होने कभी भी त्रस पर्याय नहीं पाई है उन्हें नित्य निगोदिया कहते हैं । और जो जीव त्रस पर्याय धारण करके निगोद पर्यायमें चले जाते हैं उन्हें इतर निगोदिया कहते हैं । साधारण वनस्पतिकी तरह प्रत्येक वनस्पतिके भी दो भेद हैं–सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक । जिस प्रत्येक वनस्पतिके शरीरमें बादर निगोदिया जीवोंका आवास हो उसे सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं और जिस प्रत्येक वनस्पतिके शरीरमें बादर निगोदिया जीवोंका वास न हो उसे अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं । प्रत्येक वनस्पतिका वर्णन ग्रन्थकारने आगे स्वयं किया है ॥ १२६ ॥ अब सूक्ष्म और बादर की पहचान बतलाते हैं । **अर्थ**–जिन जीवोंका पृथ्वीसे, जलसे, आगसे, और वायुसे प्रतिघात नहीं होता उन्हें सूक्ष्मकायिक जीव जानो । और जिनका इनसे प्रतिघात होता है उन्हें स्थूलकायिक जीव जानो ॥ **भावार्थ**–पांच प्रकारके स्थावर कायोंमें ही बादर और सूक्ष्म भेद होता है । त्रसकायिक जीव तो बादर ही होते हैं । जो जीव न पृथ्वीसे रुकते हैं, न जलसे रुकते हैं, न आगसे जलते हैं और न वायुसे टकराते है, सारांश यह कि वज्रपटल वगैरहसे भी जिनका रुकना सम्भव नहीं है–उन जीवोंको सूक्ष्मकायिक जीव कहते हैं । और जो दीवार वगैरहसे रुक जाते हैं, पानीके बहावके साथ बह जाते हैं, अग्निसे जल जाते है और वायुसे टकराते हैं वे जीव बादरकायिक कहे जाते हैं ॥ १२७ ॥ अब प्रत्येक वनस्पतिका स्वरूप बतलाते हैं ।

---

१ म पुहई, ल ग पुढवी । २ ब जाणि । ३ ब पुणु । ४ ब सहिया । ५ ब हुंति । ६ साहारणाणि इत्यादि-गाथा (१२९) ब पुस्तकेऽत्र 'आहारउसास्स आउ काऊणि' इति पाठान्तरेण पुनरुक्ता दृश्यते ।

प्रतिष्ठितप्रत्येकाः भवन्ति । प्रतिष्ठितं साधारणशरीरैराश्रितं प्रत्येकशरीरं येषां ते प्रतिष्ठितप्रत्येकशरीराः । ते के इति चेद्, गोम्मटसारे प्रोक्तं च। 'मूलग्गपोरबीजा कंदा तह खंदबीजबीजरुहा। संमुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य ॥' मूलं बीजं येषां ते मूलबीजाः, आर्द्रकहरिद्रादयः । १ । अग्रं बीजं येषां ते अग्रबीजाः, आर्यकोदीच्यादयः । २ । पर्वबीजाः इक्षुवेत्रादयः । ३ । कन्दबीजाः पिण्डालुसूरणादयः । ४ । स्कन्धबीजाः सल्लकीकण्टकीपलाशादयः । ५ । बीजा रोहन्तीति बीजरुहाः, शालिगोधूमादयः । ६ । [संमूर्छे समन्तात् प्रसृतपुद्गलस्कन्धे भवाः] संमूर्छिमाः । ७ । अनन्तानां निगोदजीवानां कायाः शरीराणि येष्वित्यनन्तकायाः प्रतिष्ठितप्रत्येका भवन्ति । तथा । 'गूढसिरसंधिपव्वं समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं । साहारणं सरीरं तव्विवरीयं च पत्तेयं' ॥ यत्प्रत्येकशरीरं गूढशिरम् अदृश्यबहिःस्नायुकम् । १ । अदृश्यसंधिरेखाबन्धम् । २ । अदृश्यग्रन्थिकम् । ३ । समभङ्गं त्वग्गृहीतत्वेन सदृशच्छेदम् । ४ । अहीरकम् अन्तर्गतसूत्ररहितं । ५ । छिन्नं रोहतीति छिन्नरुहं च । ६ । तत्साधारणं साधारणजीवाश्रितत्वेन साधारणमित्युपचर्यते, प्रतिष्ठितशरीरमित्यर्थः । तद्विपरीतम् अप्रतिष्ठितप्रत्येकशरीरमिति । तथा । 'मूले कन्दे छल्लीपवालसालदलकुसुमफलबीजे। समभंगे सदि णंता असमे सदि होंति पत्तेया ॥' मूले कन्दे त्वचि पल्लवाङ्कुरे क्षुद्रशाखायां पत्रे कुसुमे फले बीजे च समभङ्गे सति अनन्ताः अनन्तकायाः, प्रतिष्ठितप्रत्येकशरीरा इत्यर्थः । मूलादिषु समभङ्गरहितवनस्पतिषु अप्रतिष्ठितप्रत्येकशरीरा भवन्ति । तथा । 'कंदस्स व मूलस्स व सालाखंदस्स वावि बहुलतरी। छल्ली साणंतजिया पत्तेयजिया तु तणुकदरी ॥' येषां प्रत्येकवनस्पतीनां कन्दस्य वा मूलस्य वा शालाया वा क्षुद्रशाखाया वा स्कन्धस्य वा या त्वक् बहुतरी स्थूलतरी स्यात्, ते वनस्पतयोऽनन्तकायजीवा भवन्ति। निगोदसहितप्रतिष्ठितप्रत्येका भवन्तीत्यर्थः। तु पुनः। येषां कन्दादिषु त्वक् तनुतरी ते वनस्पतयो अप्रतिष्ठितप्रत्येकशरीरा भवन्तीत्यर्थः । अथ प्रकृतव्याख्यामाह। प्रत्येकवनस्पतयः द्विप्रकाराः। एके निगोदसहिताः साधारणैः संयुक्ताः प्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पतयो भवन्ति । तेषां लक्षणं गाथाचतुष्केणोक्तम् । तह्नेव तथैव, रहिया य निगोदरहिताश्च साधारणरहिता इत्यर्थः, अप्रतिष्ठितप्रत्येकाः । प्रतिष्ठितं साधारणशरीरैराश्रितं प्रत्येकशरीरं येषां ते प्रतिष्ठितप्रत्येकशरीराः पूर्वोक्ताः । तैरनाश्रितशरीरा अप्रतिष्ठितप्रत्येकशरीराः स्युः । ते के । तालनालिकेर-

---

अर्थ–प्रत्येक वनस्पति कायिक जीव दो प्रकार के होते हैं–एक निगोद सहित, दूसरे निगोद रहित । त्रस जीव भी दो प्रकारके होते हैं–एक दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चौइन्द्रिय, दूसरे पञ्चेन्द्रिय ॥ **भावार्थ**–प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके होते हैं । एक निगोद सहित अर्थात् जिसके आश्रय अनेक निगोदिया जीव रहते हैं । ऐसे प्रत्येक वनस्पतिको सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं । गोम्मटसारमें कहा है–वनस्पतियां ७ प्रकारकी होती हैं–मूलबीज, अग्रबीज, पर्वबीज, कंदबीज स्कन्धबीज, बीजरुह और सम्मूर्छन । जिन वनस्पतियोंका बीज उनका मूल ही होता है उन्हें मूलबीज कहते हैं । जैसे अदरक हल्दी वगैरह । जिन वनस्पतियोंका बीज उनका अग्रभाग होता है उन्हें अग्रबीज कहते हैं । जैसे नेत्रबाला वगैरह । जिन वनस्पतियोंका बीज उनका पर्वभाग होता है उन्हें पर्वबीज कहते हैं जैसे ईख, बेंत वगैरह । जिन वनस्पतियोंका बीज कंद होता है उन्हें कंदबीज कहते हैं । जैसे रताळु, सूरण वगैरह । जिन वनस्पतियोंका बीज उनका स्कन्धभाग होता है उन्हें स्कन्धबीज कहते हैं । जैसे सलई, पलाश वगैरह । जो वनस्पतियां बीजसे पैदा होती हैं उन्हें बीजरुह कहते हैं । जैसे धान, गेहूं वगैरह । और जो वनस्पति स्वयं ही उग आती है वह सम्मूर्छन कही जाती हैं । ये वनस्पतियां अनन्तकाय अर्थात् सप्रतिष्ठित प्रत्येक भी होती हैं और अप्रतिष्ठित प्रत्येक भी होती हैं ॥ १ ॥ जिस प्रत्येक वनस्पतिकी धारियां, फांके और गांठे दिखाई न देतीं हों, जिसे तोड़नेपर खटसे दो टुकड़े बराबर २ हो जायें और बीचमें कोई तार वगैरह न लगा रहे तथा जो काट देने पर भी पुनः उग आये वह साधारण अर्थात् सप्रतिष्ठित प्रत्येक है । यहां सप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर

तिंतिणीकेसहकारादिशरीरम् अप्रतिष्ठितप्रत्येकशरीरमित्येते । अपि च त्रसाः त्रसनामकर्मोदयात् त्रसजीवा द्विविधाः द्विप्रकाराः, विकलेन्द्रियाः सकलेन्द्रियाश्चेति । तत्र विकलेन्द्रियाः बितिचउरक्खा द्वित्रिचतुरिन्द्रिया जीवाः । शंखादयो द्वीन्द्रियाः स्पर्शनरसनेन्द्रिययुक्ताः । पिपीलिकामत्कुणादयस्त्रीन्द्रियाः स्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रिययुक्ताः । भ्रमरमक्षिकादंशमशकादयश्चतुरिन्द्रियाः स्पर्शनरसनघ्राणलोचनेन्द्रिययुक्ताः । तहेव तथैव, पञ्चेन्द्रियाः सकलेन्द्रियाः, मनुष्यदेवनारकपश्वादयः स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रिययुक्ताः सकलेन्द्रियाः कथ्यन्ते ॥ १२८ ॥ अथ पञ्चेन्द्रियतिरश्चां भेदं विवृणोति–

पंचक्खा वि य तिविहा जल-थल-आयास-गामिणो तिरिया ।
पत्तेयं ते दुविहा मणेण जुत्ता[2] अजुत्ता य ॥ १२९ ॥

[छाया–पञ्चाक्षाः अपि च त्रिविधाः जलस्थलआकाशगामिनः तिर्यञ्चः । प्रत्येकं ते द्विविधाः मनसा युक्ताः अयुक्ताः च ॥] पञ्चाक्षाः पञ्चेन्द्रियनामकर्मोदयेन पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो जीवाः भवन्ति । अपि च पुनः, ते त्रिविधाः

वनस्पतिको साधारण जीवोंका आश्रय होनेसे साधारण कहा है। तथा जिस वनस्पतिमें उक्त बातें न हों अर्थात् जिसमें धारियां वगैरह स्पष्ट दिखाई देती हों, तोड़ने पर समान टुकड़े न हों, टूटने पर तार लगा रह जाये आदि, उस वनस्पतिको अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर कहते हैं ॥ २ ॥ जिस वनस्पतिकी जड़, कन्द, छाल, कोंपल, टहनी, पत्ते, फूल, फल और बीजको तोड़ने पर खटसे बराबर २ दो टुकड़े हो जायें उसे सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। और जिसका समभंग न हो उसे अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं ॥ ३ ॥ तथा जिस वनस्पतिके कंदकी, जड़की, टहनीकी, अथवा तनेकी छाल मोटी हो वह अनन्त काय यानी सप्रतिष्ठित प्रत्येक है। और जिस वनस्पतिके कन्द वगैरहकी छाल पतली हो वह अप्रतिष्ठित प्रत्येक है ॥ ४ ॥ इस तरह श्री गोम्मटसारमें सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित वनस्पतिकी पहचान बतलाई है। अस्तु, अब पुनः मूल गाथा का व्याख्यान करते है। प्रत्येक वनस्पति के दो भेद हैं–एक निगोद सहित, एक निगोद रहित। अथवा एक सप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर, एक अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर। जिन प्रत्येक वनस्पतिके शरीरोंको निगोदिया जीवोंने अपना वासस्थान बनाया है उन्हे सप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर कहते हैं। उनकी पहचान ऊपर बतलाई है। और जिन प्रत्येक वनस्पतिके शरीरोंमें निगोदिया जीवोंका आवास नहीं है उन्हें अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर कहते हैं। जैसे पके हुए तालफल, नारियल, इमली आम वगैरहका शरीर। जिनके त्रस नाम कर्मका उदय होता है उन्हें त्रस जीव कहते हैं। उनके भी दो भेद हैं–एक विकलेन्द्रिय, एक सकलेन्द्रिय। दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय जीवोंको विकलेन्द्रिय कहते हैं; क्यों कि शंख आदि दो इन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन और रसना दो ही इन्द्रियां होती हैं। चिऊंटी, खटमल वगैरह तेइन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना और घ्राण, ये तीन ही इन्द्रियां होती हैं। और भौंरा, मक्खी, डांस, मच्छर वगैरह चौइन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार ही इन्द्रियां होती हैं। अतः ये जीव विकलेन्द्रिय कहे जाते हैं। मनुष्य, देव, नारकी, पशु आदि पञ्चेन्द्रिय जीवोंको सकलेन्द्रिय कहते हैं; क्यों कि उनके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांचों इन्द्रियां पाई जाती हैं ॥ १२८ ॥ अब पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोंके भेद बतलाते हैं। **अर्थ–**पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च जीवोंके भी तीन भेद हैं–जलचर, थलचर और

---

१ ख तिंतिडीक, ग तिंतडीक। २ म इत्ता अइत्ता य।

त्रिप्रकाराः, जलस्थलाकाशगामिनो भेदात्। केचन जलचारिणो मत्स्यकूर्मादयः । १ । केचन स्थलचारिणो हस्तिघोटकगोमहिषव्याघ्रवृकसिंहमृगशशकादयः । २ । केचन आकाशगामिनः शुककाकबकचटकसारसहंसमयूरादयः । । ३ । च पुनः, ते जलगामिप्रमुखास्तिर्यञ्चो जीवास्त्रिविधा अपि, प्रत्येकं एकं एकं प्रति प्रत्येकं, द्विविधा भवन्ति । ते के । एके नानाविकल्पजालमनसा चेतसा युक्ताः सहिताः संज्ञिनस्तिर्यञ्चो जीवाः । एके नानाविकल्पजालमनसा अयुक्ताः नानाविकल्पजालमनोरहिता असंज्ञिनः गण्डकादयः । तथा हि जलचरतिर्यञ्चौ संश्यसंज्ञिनौ, स्थलचरतिर्यञ्चौ संश्यसंज्ञिनौ, नभःस्थतिर्यञ्चौ संश्यसंज्ञिनौ, इत्यर्थः ॥ १२९ ॥ अथ तेषां तिरश्चां भेदानाह-

ते वि पुणो वि य दुविहा गब्भज-जम्मा तहेव संमुच्छा ।
भोग-भुवा गब्भ-भुवा थलयर-णह-गामिणो सण्णी ॥ १३० ॥

[छाया-ते अपि पुनः अपि च द्विविधाः गर्भजजन्मानः तथैव संमूर्च्छनाः । भोगभुवः गर्भभुवः स्थलचरनभोगामिनः संज्ञिनः ॥] पुनः तेऽपि पूर्वोक्ताः षड्विधास्तिर्यञ्चो द्विविधा द्विप्रकाराः । एके गर्भजन्मानः, जायमानजीवेन शुक्रशोणितरूपपिण्डस्य गरणं शरीरतयोपादानं गर्भः, ततो जाता ये[3] गर्भजाः तेषां गर्भजानां जन्म उत्पत्तिर्येषां ते गर्भजन्मानः, मातुर्गर्भसमुत्पन्ना इत्यर्थः । तथैव संमूर्च्छनाः गर्भोत्पादरहिताः । सं समन्तात् मूर्छनं जायमानजीवानुग्राहकाणां[4] जीवोपकाराणां शरीराकारपरिणमनयोग्यपुद्गलस्कन्धानां समुच्छ्रयणं तत् विद्यते येषां ते संमूर्च्छनशरीराः ।

नभचर । इन तीनोंमेंसे प्रत्येकके दो दो भेद हैं-एक मन सहित सैनी और एक मन रहित असैनी ॥ **भावार्थ**-पञ्चेन्द्रिय नाम कर्मके उदयसे तिर्यञ्च जीव पञ्चेन्द्रिय होते हैं । पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च जीवोंके तीन भेद हैं-जलचर, थलचर और नभचर। अर्थात् कुछ पञ्चेन्द्रिय जीव जलचर होते हैं। जैसे मछली, कछुआ वगैरह । कुछ थलचर होते हैं-जैसे हाथी, घोड़ा, गाय, भैंस, व्याघ्र, भेड़िया, सिंह, मृग, खरगोश, वगैरह । और कुछ पञ्चेन्द्रिय जीव नभचर होते हैं, जैसे तोता, कौआ, बगुला, चिड़िया, सारस, हंस, मयूर, वगैरह इन तीनों प्रकार के तिर्यञ्चोंमेंसे भी प्रत्येकके दो दो भेद होते हैं-एक अनेक प्रकारके संकल्प विकल्पसे युक्त मन सहित सैनी तिर्यञ्च और एक अनेक प्रकारके संकल्प विकल्प युक्त मनसे रहित असैनी तिर्यञ्च । अर्थात् सैनी जलचर तिर्यञ्च, असैनी जलचर तिर्यञ्च, सैनी थलचर तिर्यञ्च असैनी थलचर तिर्यञ्च, सैनी नभचर तिर्यञ्च, असैनी नभचर तिर्यञ्च, । इस तरह पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोंके छै भेद हुए ॥ १२९ ॥ अब इन तिर्यञ्चोंके भी भेद कहते हैं । **अर्थ**-इन छै प्रकारके तिर्यञ्चोंके भी दो भेद हैं-एक गर्भजन्म वाले और एक सम्मूर्छन जन्म वाले । किन्तु भोग भूमिके तिर्यञ्च गर्भज ही होते हैं । तथा वे थलचर और नभचर ही होते हैं, जलचर नहीं होते । और सब सैनी ही होते हैं असैनी नहीं होते ॥ **भावार्थ**-वे पूर्वोक्त छै प्रकारके तिर्यञ्च भी दो प्रकारके होते हैं-एक, गर्भजन्म वाले और एक सम्मूर्छन जन्म वाले । जन्म लेने वाले जीवके द्वारा रज और वीर्य रूप पिण्डको अपने शरीर रूपसे परिणमानेका नाम गर्भ है । उस गर्भसे जो पैदा होते हैं उन्हें गर्भजन्म वाले कहते हैं । अर्थात् माताके गर्भसे पैदा होने वाले जीव गर्भजन्मवाले कहे जाते हैं । शरीरके आकाररूप परिणमन करनेकी योग्यता रखनेवाले पुद्गल स्कन्धोंका चारों ओरसे एकत्र होकर जन्म लेने वाले जीवके शरीर रूप होनेका नाम सम्मूर्छन है और सम्मूर्छनसे जन्म लेने वाले जीव सम्मूर्छन जन्म वाले कहे जाते हैं । किन्तु भोगभूमियां तिर्यञ्च गर्भज ही होते हैं, सम्मूर्छन जन्मवाले

१ ब भुया । २ स नभ । ३ ल ग जायते ४ ग कारणं ।

अपि च, भोगभुवा भोग-भूमिजातास्तिर्यञ्चो गर्भभवा एव गर्भोत्पन्ना भवन्ति, न तु संमूर्च्छनाः। स्थलचरनभोगामिनः, स्थलगामिनः गोमहिषमृगादयः १, नभोगामिनः हंसमयूरशुकादयः २, न तु जलचराः, संणी संज्ञिन एव, न तु असंज्ञिनः ॥ १३० ॥ अथ तिर्यग्जीवसमासभेदानाह–

अट्ठ वि गब्भज दुविहा तिविहा [1]संमुच्छिणो वि तेवीसा।
इदि पणसीदी भेया [2] सव्वेसिं होंति तिरियाणं ॥ १३१ ॥

[छाया–अष्टौ अपि गर्भजाः द्विविधाः त्रिविधाः संमूर्च्छनाः अपि त्रयोविंशतिः। इति पञ्चाशीतिः भेदाः सर्वेषां भवन्ति तिरश्चाम् ॥] गर्भजाः गर्भोत्पन्नाः कर्मभूमिजगर्भजतिर्यञ्चो जलचराः मत्स्यादयः संज्ञिनः असंज्ञिनश्च २, कर्मभूमिजगर्भजतिर्यञ्चः स्थलचराः मृगादयः संज्ञिनः असंज्ञिनश्च २, कर्मभूमिजगर्भजतिर्यञ्चः नभश्चराः पक्ष्यादयः संज्ञिनः असंज्ञिनश्च २, भोगभूमिजस्थलचरतिर्यञ्चः संज्ञिन एव १, भोगभूमिजनभश्चरतिर्यञ्चः संज्ञिन एव १, एवम् अष्टावपि च ते द्विविधा द्विप्रकाराः, पर्याप्ता निर्वृत्त्यपर्याप्ताश्च, इति गर्भजतिरश्चां षोडशभेदाः १६। अपि पुनः संमूर्च्छनाः त्रयोविंशतिभेदा भवन्ति। तथा हि। पृथिवीकायिकाः सूक्ष्मबादरा इति द्वौ २, अप्कायिका सूक्ष्मबादरा इति द्वौ २, तेजस्कायिकाः सूक्ष्मबादरा इति द्वौ २, वायुकायिकाः सूक्ष्मबादरा इति द्वौ २, नित्यनिगोदसाधारणवनस्पतिकायिकाः सूक्ष्मबादरा इति द्वौ २, चतुर्गतिनिगोदसाधारणवनस्पतिकायिकाः सूक्ष्मबादरा इति द्वौ २। नियतां गां भूमिं क्षेत्रमनन्तानन्तजीवानां ददातीति निगोदम्, निगोदं शरीरं येषां ते निगोदशरीरा इति निरुक्तेः। प्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पतिकायिका बादरा एवेत्येकः १, अप्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पतिकायिका बादरा एवेत्येकः १, इत्येकेन्द्रियस्य चतुर्दशभेदाः १४। शंखशुक्त्यादयो द्वीन्द्रियाः १, कुन्थुपिपीलिकादयस्त्रीन्द्रियाः २, दंशमशकादयश्चतुरिन्द्रियाः ३, इति विकलत्रयाणां त्रयो भेदाः ३। कर्मभूमिजजलचरतिर्यञ्चपञ्चेन्द्रियसंज्ञिनः असंज्ञिनश्च इति द्वौ २, कर्मभूमिजस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः संज्ञिनः असंज्ञिनश्च इति द्वौ २, कर्मभूमिजनभश्चरपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः संज्ञिनः असंज्ञिनश्च इति द्वौ २, इति कर्मभूमिजतिरश्चां पञ्चेन्द्रियाणां षड्भेदाः ६।

नहीं होते। और भोगभूमिमें गौ, भैंस, हिरन वगैरह थलचर तिर्यञ्च तथा हंस, मोर, तोता वगैरह नभचर तिर्यञ्च ही होते हैं, जलचर तिर्यञ्च नहीं होते। तथा ये सब पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च संज्ञी ही होते हैं, असंज्ञी नहीं होते ॥ १३० ॥ अब तिर्यञ्चमें जीवसमासके भेद बतलाते हैं। **अर्थ**–आठों ही गर्भजोंके पर्याप्त और अपर्याप्तकी अपेक्षा सोलह भेद होते हैं। और तेईस सम्मूर्छन जन्म वालोंके पर्याप्त निवृत्त्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्तकी अपेक्षा उनहत्तर भेद होते हैं। इस तरह सब तिर्यञ्चके पिचासी भेद होते हैं ॥ **भावार्थ**–कर्मभूमिया गर्भज तिर्यञ्च जलचर, जैसे मछली वगैरह। ये संज्ञी और असंज्ञीके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। २। कर्मभूमिया गर्भज तिर्यञ्च थलचर, जैसे हरिन वगैरह, ये भी संज्ञी और असंज्ञीके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। २। कर्मभूमिया गर्भज तिर्यञ्च नभचर, जैसे पक्षी वगैरह, ये भी संज्ञी और असंज्ञीके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। २। भोगभूमिया थलचर तिर्यञ्च संज्ञी ही होते हैं। १। और भोगभूमिया नभचर तिर्यञ्च भी संज्ञी ही होते हैं। १। इस तरह ये आठोंही कर्मभूमिया और भोगभूमिया गर्भज तिर्यञ्च पर्याप्त भी होते हैं और निवृत्त्यपर्याप्त भी होते हैं। अतः गर्भज तिर्यञ्चोंके सोलह भेद होते हैं। तथा सम्मूर्छन जन्मवाले तिर्यञ्चोंके तेईस भेद होते हैं, जो इस प्रकार हैं– सूक्ष्म पृथिवी कायिक, बादर पृथिवीकायिक, सूक्ष्म जलकायिक, बादर जलकायिक, सूक्ष्म तेजस्कायिक, बादर तेजस्कायिक, सूक्ष्म वायु कायिक, बादर वायु कायिक, सूक्ष्म नित्य निगोद साधारण वनस्पतिकायिक,

१ ब ग समु°। २ स भेदा।

एवम् एकत्रीकृतास्त्रयोविंशतिभेदाः संमूर्च्छनतिर्यञ्चो भवन्ति २३। तेऽपि त्रयोविंशतिसंमूर्च्छनतिर्यञ्चस्त्रिविधाः, पर्याप्ताः निर्वृत्त्यपर्याप्ताः लब्ध्यपर्याप्ता इति, एवं तेन सर्वे संमूर्च्छनतिरश्चामेकोनसप्ततिभेदा भवन्ति ६९, पूर्वोक्तगर्भजतिर्यग्भिः षोडशभेदैर्युक्ताः पञ्चाशीतिभेदाः ८५ भवन्ति ॥ इति सर्वेषां तिरश्चां पञ्चाशीतिजीवसमासभेदाः सन्ति ॥ १३१ ॥ अथ मनुष्यजीवसमासभेदान् निरूपयति–

अज्जव-मिलेच्छ[1]-खंडे भोग-महीसु[2] वि कुभोग-भूमीसु ।
मणुया[3] हवंति दुविहा णिव्वित्ति-अपुण्णगा पुण्णा ॥ १३२ ॥

[छाया–आर्यम्लेच्छखण्डयोः भोगमहीषु अपि कुभोगभूमीषु । मनुजाः भवन्ति द्विविधाः निर्वृत्त्यपूर्णकाः पूर्णाः ॥] आर्यखण्डम्लेच्छखण्डेषु भोगभूमिष्वपि कुभोगभूमिषु मनुष्या मानवाः भवन्ति ते द्विविधा निर्वृत्त्यपर्याप्ताः पूर्णपर्याप्ताश्च । तथा हि । सप्तत्यधिकशतेष्वार्यखण्डेषु १७० मनुष्या निर्वृत्त्यपर्याप्तकाः पर्याप्तकाश्च इति द्वौ २, पञ्चाश-

---

बादर नित्य निगोद साधारण वनस्पतिकायिक, सूक्ष्म चतुर्गति निगोद साधारण वनस्पतिकायिक, बादर चतुर्गति निगोद साधारण वनस्पतिकायिक, तथा सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कायिक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कायिक जीव बादर ही होते हैं। इस तरह एकेन्द्रियके चौदह भेद हुए।१४। शंख सीप वगैरह द्वीइन्द्रिय, कुन्थु चींटी वगैरह तेइन्द्रिय और डांस मच्छर वगैरह चौइन्द्रिय, ये विकलेन्द्रियके तीन भेद हैं।३। कर्मभूमिया जलचर तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय संज्ञी भी होते है और असंज्ञी भी होते हैं। कर्मभूमिया थलचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च संज्ञी और असंज्ञी।२। कर्मभूमिया नभचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च संज्ञी और असंज्ञी।२। इस तरह कर्मभूमिया पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोंके छै भेद हुए। इन सबको जोडनेसे १४+३+६=२३ भेद सम्मूर्छन तिर्यञ्चोंके होते हैं। ये तेईस प्रकारके सम्मूर्छन तिर्यञ्च भी तीन प्रकारके होते हैं पर्याप्त, निवृत्त्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त। अतः तेईसको तीनसे गुणा करनेपर सब सम्मूर्छन तिर्यञ्चोंके ६९ भेद होते हैं। इनमें पहले कहे हुए गर्भज तिर्यञ्चोंके १६ भेद मिलानेसे सब तिर्यञ्चोंके ६९+१६=८५ पिचासी भेद होते हैं ॥ १३१ ॥ अब मनुष्योंमें जीवसमासके भेद बतलाते हैं। **अर्थ–**आर्यखण्डमें, म्लेच्छखण्डमें, भोगभूमिमें और कुभोगभूमिमें मनुष्य होते हैं। ये चारों ही प्रकारके मनुष्य पर्याप्त और निवृत्त्यपर्याप्त के भेदसे दो प्रकारके होते हैं ॥ **भावार्थ–** आर्यखण्ड, म्लेच्छखण्ड, भोगभूमि और कुभोगभूमिकी अपेक्षा मनुष्य चार प्रकारके होते हैं। तथा ये चारोंही प्रकारके मनुष्य निवृत्त्यपर्याप्त भी होते हैं और पर्याप्त भी होते हैं। इसका खुलासा इस प्रकार है–आर्यखण्ड १७० हैं–पांच भरत सम्बन्धी ५, पांच ऐरावत सम्बन्धी ५, और पांच विदेह सम्बन्धी १६०। क्योंकि एक एक महाविदेहमें बत्तीस बत्तीस उपविदेह होते हैं। तथा आठसौ पचास म्लेछखण्ड हे; क्योंकि प्रत्येक भरत, प्रत्येक ऐरावत और प्रत्येक उपविदेह क्षेत्रके छै छै खण्ड होते हैं। जिनमेंसे एक आर्यखण्ड होता है, और शेष ५ म्लेच्छखण्ड होते हैं। अतः एक सौ सत्तर आर्यखण्डोंसे पांच गुने म्लेच्छखण्ड होते हैं। इससे १७०×५=८५० आठ सौ पचास म्लेच्छखण्ड हैं। और तीस भोगभूमियां हैं–जिनमें ५ हैमवत् और ५ हैरण्यवत् ये दस जघन्य भोगभूमियां हैं। ५ हरिवर्ष और पांच रम्यक वर्ष ये दस मध्यम भोगभूमियां हैं। और पांच देवकुरु और पांच उत्तरकुरु ये दस उत्कृष्ट भोगभूमियां हैं। इस तरह कुल तीस भोगभूमियां हैं।

---

१ स मिलछे, ग मलेच्छ। २ ग भोगभूमीसु। ३ म स ग मणुआ।

दधिकाष्टशतेषु म्लेच्छखण्डेषु ८५० मनुष्या निर्वृत्त्यपर्याप्तकाः पर्याप्तकाश्च इति द्वौ २, त्रिंशत्सु जघन्यादिभोगभूमिषु ३० मनुष्या निर्वृत्त्यपर्याप्तकाः पर्याप्तकाश्च इति द्वौ २, समुद्रान्तर्वर्तिषु षण्णवतिकुभोगभूमिषु निर्वृत्त्यपर्याप्तकाः पर्याप्तकाश्च इति द्वौ २, इति अष्टप्रकारा मनुष्या भवन्ति ॥ १३२ ॥ अथ लब्ध्यपर्याप्तकमनुष्यस्थाननियमं नारकदेवजीवसमासांश्चाह–

संमुच्छिया मणुस्सा अज्जव-खंडेसु होंति[1] णियमेण ।
ते पुण लद्धि[2]-अपुण्णा णारय-देवा वि ते दुविहा ॥ १३३ ॥[3]

[छाया–संमूर्च्छिताः मनुष्याः आर्यखण्डेषु भवन्ति नियमेन । ते पुनः लब्ध्यपूर्णाः नारकदेवाः अपि ते द्विविधाः ॥] आर्यखण्डेषु सप्तत्यधिकशतप्रमाणेषु १७० संमूर्च्छना मनुष्या नियमेन भवन्ति, नियमात् नान्यत्र भोगभूम्यादिषु । पुनः ते संमूर्च्छना मनुष्या लब्ध्यपर्याप्तका एव १ । ते क केषु उत्पद्यन्ते इति चेद् भगवत्याराधनाटीकायां प्रोक्तं च । 'शुक्रसिंहाणक[5]श्लेष्मदन्तकर्णमलेषु च । अत्यन्ताशुचिदेशेषु सद्यः संमूर्च्छना भवेयुः ॥' इति । नवप्रकारमनुष्यजीवसमासाः ९ । अपि पुनः नारका देवाश्च ते द्विविधा द्विप्रकाराः । नारकाः पर्याप्ता निर्वृत्त्यपर्याप्ताश्चेति द्वौ २ । भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्ककल्पवासिनो देवाः पर्याप्ता निर्वृत्त्यपर्याप्ताश्चेति द्वौ २ । एवममुना प्रकारेणाष्टानवतिजीवसमासाः, जीवाः समस्यन्ते संगृह्यन्ते यैर्येषु वा ते जीवसमासा इति निर्वचनात् ॥ इति श्रीस्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षायां भट्टारकशुभचन्द्रकृतव्याख्यायां इत्यष्टानवतिजीवसमासाः समाप्ताः । ९८ ॥ १३३ ॥ अथ पर्याप्तिभेदान् तल्लक्षणं गाथाद्वयेन प्रतिपादयति–

तथा लवण समुद्र और कालोदधि समुद्रमें जो ९६ अन्तर्द्वीप हैं जिनमेंसे २४ अन्तर्द्वीप लवणसमुद्रके जम्बूद्वीप सम्बन्धी तटके करीबमें हैं और २४ अन्तर्द्वीप धातकी खण्ड सम्बन्धी तटके निकट हैं । इस तरह ४८ अन्तर्द्वीप तो लवण समुद्रमें हैं और इसी प्रकार ४८ अन्तर्द्वीप कालोदधि समुद्रमें हैं, जिनमेंसे चौवीस अभ्यन्तर तटके करीब हैं और २४ बाह्य तटके करीब हैं । इन ९६ अन्तर्द्वीपोंमें कुभोगभूमि है । अतः ९६ कुभोगभूमियां हैं । इन १७० आर्यखण्डोंमें, ८५० म्लेच्छखण्डोंमें, ३० भोगभूमियोंमें और ९६ कुभोगभूमियोंमें रहनेवाले मनुष्य निवृत्त्यपर्याप्तक और पर्याप्तकके भेदसे दो दो प्रकारके होते हैं । इस तरह मनुष्योंके आठ भेद होते हैं ॥ १३२ ॥ अब लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्योंका निवासस्थान बतलाते हुए नारकियों और देवोंमें जीवसमासके भेद बतलाते हैं । **अर्थ–**सम्मूर्छन मनुष्य नियमसे आर्यखण्डोंमें ही होते हैं । और वे लब्ध्यपर्याप्तक ही होते हैं । तथा नारकी और देव निवृत्त्यपर्याप्तक और पर्याप्तकके भेद से दो प्रकारके होते हैं ॥ **भावार्थ–**एक सौ सत्तर आर्यखण्डोंमें ही सम्मूर्छन मनुष्य नियमसे होते हैं, आर्यखण्डके सिवा अन्य भोगभूमि वगैरहमें नहीं होते। तथा वे सम्मूर्छन मनुष्य लब्ध्यपर्याप्तक ही होते हैं । वे सम्मूर्छन मनुष्य कहां उत्पन्न होते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर भगवती आराधनामें देते हुए बतलाया है कि वीर्यमें, नाकके सिंहाणकोंमें, कफमें, दाँतके मैलमें, कानके मैलमें और शरीरके अत्यन्त गन्दे प्रदेशोंमें तुरन्त ही सम्मूर्छन जीव पैदा हो जाते हैं । अस्तु, इस प्रकार मनुष्यकी अपेक्षा जीव समास के नौ भेद होते हैं । तथा नारकी भी पर्याप्त और निवृत्त्यपर्याप्तकी अपेक्षा दो प्रकारके होते हैं । और भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी देव भी पर्याप्त और निवृत्त्यपर्याप्तकी अपेक्षा दो प्रकारके होते हैं । इस तरह तिर्यञ्चोंके पिचासी,

---

१ ब हुंति । २ ब लद्ध । ३ ब एव अट्ठाणउदी भेया । ४ लग °राधनायां । ५ ग सिंघाणक ।

आहार-सरीरिंदियं-णिस्सासुस्सास-भासं-मणसाणं[1] ।
परिणइ-वावारेसु य जाओ छ च्चेव[1] सत्तीओ ॥ १३४ ॥

[छाया-आहारशरीरेन्द्रियनि:श्वासोच्छ्वासभाषामनसाम् । परिणतिव्यापारेषु च याः षडेव शक्तयः ॥] आहार-शरीरेन्द्रियनिःश्वासोच्छ्वासभाषामनसा व्यापारेषु ग्रहणप्रवृत्तिषु परिणतयः परिणतिः परिणमनं वा ताः पर्याप्तयः । जाओ याः, सत्तीओ शक्तयः, समर्थता षडेव । एवकारात् न च पञ्च सप्त च । अत्रौदारिकवैक्रियकाहारकशरीरनामकर्मोदयप्रथमसमयमादिं कृत्वा तच्छरीरत्रयषट्पर्याप्तिपर्यायपरिणमनयोग्यपुद्गलस्कन्धान् खलरसभागेन परिणामयितुं पर्याप्तनामकर्मोदयावष्टम्भप्रभूतात्मनः शक्तिनिष्पत्तिराहारपर्याप्तिः । १ । तथापरिणतपुद्गलस्कन्धानां खलभागं अस्थ्यादिस्थिरावयवरूपेण रसभागं रुधिरादिद्रवावयवरूपेण च परिणामयितुं शक्तिनिष्पत्तिः शरीरपर्याप्तिः । २ । आवरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविजृम्भितात्मनो योग्यदेशावस्थितरूपादिविषयग्रहणव्यापारे शक्तिनिष्पत्तिर्जातिनामकर्मोदयजनितेन्द्रियपर्याप्तिः । ३ । आहारकवर्गणायातपुद्गलस्कन्धान् उच्छ्वासरूपेण परिणामयितुमुच्छ्वासनिःश्वासनामकर्मोदयजनितशक्तिनिष्पत्तिरुच्छ्वासनि:श्वासपर्याप्तिः । ४ । स्वरनामकर्मोदयवशाद् भाषावर्गणायातपुद्गलस्कन्धान् सत्यासत्योभयानुभयभाषारूपेण परिणामयितुं शक्तिनिष्पत्तिः भाषापर्याप्तिः । ५ । मनोवर्गणायातपुद्गलस्कन्धान् अङ्गोपाङ्गनामकर्मोदयबलाधानेन द्रव्यमनोरूपेण परिणामयितुं तद्द्रव्यमनोबलाधानेन नोइन्द्रियावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषेण गुणदोषविचारानु-

---

मनुष्योंके नौ और नारकी तथा देवोंके चार ये सब मिलकर जीव समास के ९८ अठानवें भेद होते हैं। जिनके द्वारा अथवा जिनमें जीवोंका संक्षेपसे संग्रह किया जाता है उन्हें जीवसमास कहते हैं सो इन ९८ जीवसमासोंमें सब संसारी जीवोंका समावेश हो जाता है ॥ १३३ ॥ इस प्रकार स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा की आचार्य शुभचंद्रकृत टीकामें अठानवे जीव समासोंका वर्णन समाप्त हुआ ॥

अब दो गाथाओंके द्वारा पर्याप्तिके भेद और लक्षण कहते हैं। **अर्थ**—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनके व्यापारोंमें परिणमन करनेकी जो शक्तियां हैं वे छै ही हैं ॥ **भावार्थ**—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा, और मनके व्यापारोंमें अर्थात् प्रवृत्तियोंमें परिणमन करनेकी जो शक्तियां हैं उन्हींको पर्याप्ति कहते हैं। वे छै ही हैं। पांच नहीं हैं। उनका स्वरूप इस प्रकार है। पर्याप्ति नाम कर्मके उदयसे विशिष्ट आत्माके, औदारिकशरीरनामकर्म, वैक्रियिक शरीरनामकर्म और आहारक शरीर नामकर्मके उदयके प्रथम समयसे लेकर इन तीनों शरीरों और छै पर्याप्तियों रूप होनेके योग्य पुद्गलस्कन्धोंको, खल भाग और रस भाग रूप परिणामानेकी शक्तिकी पूर्णताको आहार पर्याप्ति कहते हैं। १। तथा जिन स्कन्धोंको खल रूप परिणमाया हो उनको अस्थि आदि कठोर अवयव रूप और जिनको रसरूप परिणमाया हो उनको रुधिर आदि द्रव अवयव रूप परिणमानेकी शक्तिकी पूर्णताको शरीर पर्याप्ति कहते हैं ॥ २ ॥ ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे विशिष्ट आत्माके जातिनाम कर्मके उदयके अनुसार योग्य देशमें स्थित रूप आदि विषयोंको ग्रहण करनेकी शक्तिकी पूर्णताको इन्द्रियपर्याप्ति कहते हैं ॥ ३ ॥ उच्छ्वासनिःश्वासनाम कर्मका उदय होनेपर आहार वर्गणारूपसे ग्रहण किये गये पुद्गलस्कन्धोंको श्वासोच्छ्वास रूपसे परिणमानेकी शक्तिकी पूर्णताको उच्छ्वासनिःश्वास पर्याप्ति कहते हैं ॥ ४ ॥ स्वर नाम कर्मका उदय होनेसे भाषा वर्गणारूपसे ग्रहण किये गये पुद्गलस्कन्धोंको सत्य, असत्य, उभय और अनुभय

---

१ म ग सरीरेंदिय। २ स हास। ३ ब मणुमाण। ४ ब परिणवइ। ५ ब छव्वेव। ६ ल ग मनो इन्द्रियां।

स्मरणप्रणिधानलक्षणभावमनःपरिणमनशक्तिनिष्पत्तिर्मनःपर्याप्तिः । ६ । पर्याप्तेः प्रारम्भः पूर्णताकालं च कथमिति चेद् गोम्मटसारोक्तगाथामाह । 'पज्जत्तीपट्ठवणं जुगवं तु कमेण होदि णिट्ठवणं । अंतोमुहुत्तकालेणहियकमा तत्तियालावा ॥' समस्तस्वयोग्यपर्याप्तीनां शरीरनामकर्मोदयप्रथमसमये एव युगपत्प्रतिष्ठापनं प्रारम्भो भवति । तु पुनः । तन्निष्ठापनान्यन्तर्मुहूर्तेन क्रमेण तथापि तावन्मात्रालापेनैव भवन्ति ॥ १३४ ॥

तस्सेव कारणाणं पुग्गल-खंधाण जा हु णिप्पत्ती ।
सा पज्जत्ती भण्णादि[1] छब्भेया जिणवरिंदेहिं ॥ १३५ ॥

[छाया-तस्याः एव कारणानां पुद्गलस्कन्धानां या खलु निष्पत्तिः । सा पर्याप्तिः भण्यते षड्भेदा जिनवरेन्द्रैः ॥] तस्सेव तस्याः एव शक्तेः, कारणानां हेतुभूतानां पुद्गलस्कन्धानां आहाराद्यायातपुद्गलस्कन्धानां या निष्पत्तिः शक्तिनिष्पत्तिः समर्थतासिद्धिः, हु इति स्फुटम्, जिनस्वामिभिः सा पर्याप्तिर्भण्यते । सा कतिधा । षड्भेदाः षट्प्रकाराः । आहारपर्याप्तिः १, शरीरपर्याप्तिः २, इन्द्रियपर्याप्तिः ३, आनप्राणपर्याप्तिः ४, भाषापर्याप्तिः ५, मनःपर्याप्तिः ६, इति पर्याप्तयः षट् ॥ १३५ ॥ अथ निर्वृत्त्यपर्याप्तकालं पर्याप्तकालं च लक्षयति–

पज्जत्तिं गिण्हंतो मणु-पज्जत्तिं ण जाव समणोदि[2] ।
ता णिव्वत्ति-अपुण्णो मण[3]-पुण्णो भण्णदे[4] पुण्णो ॥ १३६ ॥

भाषारूपसे परिणमानेकी शक्तिकी पूर्णताको भाषापर्याप्ति कहते हैं ॥ ५ ॥ मनोवर्गणारूपसे ग्रहण किये गये पुद्गल स्कन्धोंको अङ्गोपाङ्ग नामकर्मके उदयकी सहायतासे द्रव्यमनरूपसे परिणमानेकी, तथा उस द्रव्यमनकी सहायतासे और नोइन्द्रियावरण तथा वीर्यान्तरायकर्मका क्षयोपशम होनेसे गुण-दोषका विचार व स्मरण आदि व्यापाररूप भावमनकी शक्तिकी पूर्णताको मनःपर्याप्ति कहते हैं ॥ ६ ॥ पर्याप्तिका आरम्भ कैसे होता है और उसके पूरे होनेमें कितना समय लगता है ? इन बातोंको गोम्मटसारमें इस प्रकार बतलाया है–पर्याप्तियोंका आरम्भ तो एकसाथ होता है किन्तु उनकी समाप्ति क्रमसे होती है । तथा प्रत्येक पर्याप्तिके पूर्ण होनेमें अन्तर्मुहूर्तकाल लगता है और वह अन्तर्मुहूर्त उत्तरोत्तर अधिक २ होता है । किन्तु सामान्यसे एक अन्तर्मुहूर्त कालमें सब पर्याप्तियां पूर्ण हो जाती हैं । आशय यह है कि शरीरनामकर्मका उदय होते ही जीवके अपने योग्य समस्त पर्याप्तियोंका आरम्भ एक साथ होजाता है और समाप्ति पहले आहारपर्याप्तिकी होती है, फिर शरीरपर्याप्तिकी होती है, फिर इन्द्रियपर्याप्तिकी होती है, इस तरह क्रमसे समाप्ति होती है और सब पर्याप्तियां एक अन्तर्मुहूर्तमें निष्पन्न हो जाती हैं ॥ १३४ ॥ **अर्थ–**उस शक्तिके कारण जो पुद्गलस्कन्ध हैं उन पुद्गलस्कन्धोंकी निष्पत्तिको ही जिनेन्द्रदेवने पर्याप्ति कहा है । उस पर्याप्तिके छै भेद हैं ॥ **भावार्थ–**ऊपर जो जीवकी छै शक्तियां बतलाई हैं उन शक्तियोंके हेतुभूत जिन पुद्गलस्कन्धोंको आहार आदि वर्गणारूपसे जीव ग्रहण करता है उन पुद्गलस्कन्धोंका शरीर आदि रूपसे परिणत होजाना ही पर्याप्ति है । आशय यह है पहली गाथामें शक्तिरूप पर्याप्तिको बतलाया है और इस गाथामें उन शक्तियोंका कार्य बतलाया है । जैसे, आहारवर्गणाके द्वारा ग्रहण किये गये पुद्गलस्कन्धोंको खलभाग और रसभाग रूप करनेकी जीवकी शक्तिकी पूर्णताका नाम आहारपर्याप्ति है । वह पर्याप्ति शक्तिरूप है । और इस शक्तिके द्वारा पुद्गलस्कन्धोंको खल भाग और रस भाग रूप कर देना यह

१ ग भणिदि छभेया । २ म समाणेदि । ३ ब म स मणु- । ४ ल ग भण्णते ।

[छाया–पर्याप्तिं गृह्णन् मनःपर्याप्तिं न यावत् समाप्नोति । तावन्निर्वृत्त्यपूर्णः मनःपूर्णः भण्यते पूर्णः ॥] जीवः पर्याप्ति गृण्हन् सन् यावत्कालं मनःपर्याप्तिं न समणोदि न समाप्ति नयति, परिपूर्णतां न यातीत्यर्थः, ता तावत्कालं निर्वृत्त्यपर्याप्तको जीवः भण्यते । मनःपूर्णः मनःपर्याप्तिपूर्णतां प्राप्तो जीवः पूर्णः पर्याप्तको भण्यते । केचन नेमिचन्द्राचार्यादयः पर्याप्तनिर्वृत्त्यपर्याप्तकालविभागमीदृशं कथयन्ति । तथा हि । 'पज्जत्तस्स य उदये णियणियपज्जत्तिणिट्ठिदो होदि । जाव सरीरमपुण्णं णिव्वत्तियपुण्णगो ताव ॥' पर्याप्तनामकर्मोदये सत्येकेन्द्रियविकलचतुष्कसंज्ञिजीवाः निजनिजचतुःपञ्चषट्पर्याप्तिभिर्निष्ठिताः निष्पन्नशक्तयो भवन्ति । यावत् शरीरपर्याप्तिर्न निष्पन्ना तावत्ते च जीवाः समयोनशरीरपर्याप्तिकालान्तर्मुहूर्तपर्यन्तं । २७।५ । निर्वृत्त्यपर्याप्ता इत्युच्यन्ते । निर्वृत्त्या शरीरनिष्पत्त्या अपर्याप्ता अपूर्णा निर्वृत्त्यपर्याप्ता इति निर्वचनात् ॥ १३६ ॥ अथ लब्ध्यपर्याप्तरूपं निरूपयति–

उस्सासट्ठारसमे भागे जो मरदि ण य समाणेदि ।
एक्को[1] वि य पज्जत्ती लद्धि-अपुण्णो[2] हवे सो दु ॥ १३७ ॥

[छाया–उच्छ्वासाष्टादशमे भागे यः म्रियते न च समाप्नोति । एकाम् अपि पर्याप्तिं लब्ध्यपूर्णः भवेत् स तु ॥] तु पुनः, स जीवः लब्ध्यपर्याप्तको भवेत् । स कः । यो जीवः एक्का वि य पज्जत्ती एकामपि पर्याप्तिं न च समाणेदि न च

कार्यरूप पर्याप्ति है । अथवा यह कहना चाहिये कि यह उस शक्तिका कार्य है । इसी तरह छहों पर्याप्तियोंमें समझ लेना चाहिये ॥ १३५ ॥ अब निर्वृत्त्यपर्याप्त और पर्याप्तका काल कहते हैं । **अर्थ**–जीवपर्याप्तिको ग्रहण करते हुए जबतक मनःपर्याप्तिको समाप्त नहीं करलेता तबतक निर्वृत्त्यपर्याप्त कहाजाता है । और जब मनःपर्याप्तिको पूर्ण कर लेता है तब पर्याप्त कहा जाता है ॥ **भावार्थ**–पर्याप्तिको ग्रहण करता हुआ जीव जबतक मनःपर्याप्तिको पूर्ण नहीं कर लेता तबतक निर्वृत्त्यपर्याप्तक कहा जाता है । और जब मनःपर्याप्तिको पूर्णकर लेता है तब पूर्ण पर्याप्तक कहा जाता है । किन्तु नेमिचन्द्र आदि कुछ आचार्य पर्याप्त और निर्वृत्त्यपर्याप्तके कालका विभाग इस प्रकार बतलाते हैं–'पर्याप्त नामकर्मका उदय होनेपर जीव अपनी अपनी पर्याप्तियोंसे निष्ठित होता है । जबतक उसकी शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तबतक वह निर्वृत्त्यपर्याप्त कहा जाता है । आशय यह है कि निर्वृत्त्यपर्याप्तकके भी पर्याप्तनामकर्मका ही उदय होता है । अतः पर्याप्त नामकर्मका उदय होनेपर एकेन्द्रिय जीव अपनी चार पर्याप्तियोंको पूर्ण करनेकी शक्तिसे युक्त होकर उनको पूरा करनेमें लग जाता है, दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव अपनी पांच पर्याप्तियोंको पूर्ण करनेकी शक्तिसे युक्त होकर उन पांचोंको पूरा करनेमें लग जाते हैं । संज्ञीपञ्चेन्द्रिय जीव अपनी छै पर्याप्तियोंको पूरा करनेकी शक्तिसे युक्त होकर उन छहोंको पूरा करनेमें लग जाता है । और जब तक शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती, अर्थात् शरीरपर्याप्तिके अन्तर्मुहूर्तकालमें एक समय कम काल तक वे जीव निर्वृत्त्यपर्याप्त कहे जाते हैं । क्यों कि निवृत्ति अर्थात् शरीरकी निष्पत्तिसे जो अपर्याप्त यानी अपूर्ण होते हैं उन्हें निर्वृत्त्यपर्याप्त कहते हैं ऐसी निर्वृत्त्यपर्याप्त शब्दकी व्युत्पत्ति है । सारांश यह है कि यहां ग्रन्थकारने सैनी पञ्चेन्द्रिय जीवकी अपेक्षासे कथन किया है; क्योंकि मनःपर्याप्ति उसीके होती है । किन्तु अन्य ग्रन्थोंमें 'जब तक शरीर पर्याप्ति पूर्ण न हो तबतक जीव निर्वृत्त्यपर्याप्त होता है' ऐसा कथन सब जीवोंकी अपेक्षासे किया है ॥ १३६ ॥ अब लब्ध्यपर्याप्तका स्वरूप कहते हैं । **अर्थ**–जो जीव श्वासके अट्ठारहवें भागमें मर जाता है और एक भी पर्याप्तिको समाप्त नहीं करपाता, उसे लब्ध्यपर्याप्त

१ ब एक्का (?), ल म स ग एक्का । २ म ग लद्धियपुण्णो ।

प्राप्नोति न च समाप्तिं नयति, परिपूर्णतां न नयति। च पुनः। उस्सासट्ठारसमे भागे उच्छ्वासाष्टादशैकभागमात्रे म्रियते स लब्ध्यपर्याप्तकः। तथा गोम्मटसारे प्रोक्तं च। 'उदये दु अपुण्णस्स य सगसगपज्जत्तियं ण णिट्ठवदि। अंतोमुहुत्तमरणं लद्धियपज्जत्तगो सो दु॥' अपर्याप्तनामकर्मोदये सत्येकेन्द्रियविकलचतुष्कसंज्ञिजीवाः स्वस्वचतुःपञ्चषट्पर्याप्तीर्न निष्ठापयन्ति। उच्छ्वासाष्टादशैक १/१८ भागमात्रे एवान्तर्मुहूर्ते म्रियन्ते ते जीवा लब्ध्यपर्याप्तका इत्युच्यन्ते। लब्ध्या स्वस्य पर्याप्तिनिष्ठापनयोग्यतया अपर्याप्ता अनिष्पन्नाः लब्ध्यपर्याप्ता इति निरुक्तेः। अथैकेन्द्रियादिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तलब्ध्यपर्याप्तकजीवेषु सर्वनिरन्तरजन्ममरणकालप्रमाणम्। गोम्मटसारोक्तगाथात्रयमाह। 'तिण्णि सया छत्तीसा छावट्ठिसहस्सगाणि मरणाणि। अंतोमुहुत्तकाले तावदिया चेव खुद्दभवा॥' १॥ अन्तर्मुहूर्तकाले क्षुद्राणां लब्ध्यपर्याप्तानां मरणानि षट्त्रिंशत्त्रिशताधिकषट्षष्टिसहस्राणि ६६३३६ संभवन्ति। तथा तद्भवा अपि तावन्तः ६६३३६ एव। 'सीदी सट्ठी चालं वियले चउवीस होंति पंचक्खे। छावट्ठिं च सहस्सा सयं ज बत्तीसमेयक्खे॥' २॥ ते निरन्तरक्षुद्रभवाः लब्ध्यपर्याप्तेषु एकेन्द्रियेषु द्वात्रिंशदग्रशताधिकषट्षष्टिसहस्राणि भवन्ति ६६१३२। तद्यथा। कश्चिदेकेन्द्रियो लब्ध्यपर्याप्तकः तद्भवप्रथमसमयादारभ्योच्छ्वासाष्टादशैकभागमात्रां स्वस्थितिं जीवित्वा पुनः तदेकेन्द्रिये एवोत्पन्नः तावन्मात्रां स्वस्थितिं जीवितः। एवं निरन्तरमेकेन्द्रिये लब्ध्यपर्याप्तकभवानेव बहुवारं गृह्णाति तदा उक्तसंख्यां ६६१३२ नातिक्रामति। एवमेव द्वीन्द्रिये लब्ध्यपर्याप्तके अशीतिः ८०, त्रीन्द्रिये लब्ध्यपर्याप्तके षष्टिः ६०, चतुरिन्द्रिये लब्ध्यपर्याप्तके चत्वारिंशत् ४०, पञ्चेन्द्रियलब्ध्यपर्याप्तके चतुर्विंशतिः २४, तत्र तु मनुष्यलब्ध्यपर्याप्तकेऽष्टौ ८, असंज्ञिपञ्चेन्द्रियलब्ध्यपर्याप्तकेऽष्टौ ८, संज्ञिपञ्चेन्द्रिये लब्ध्यपर्याप्तकेऽष्टौ ८, मिलित्वा पञ्चेन्द्रियलब्ध्यपर्याप्तके चतुर्विंशतिर्भवन्ति २४। अथैकेन्द्रियलब्ध्यपर्याप्तकस्य निरन्तरक्षुद्रभवसंख्यां स्वामिभेदान् आश्रित्य विभजति। 'पुढविदगागणिमारुदसाहारणथूलसुहुमपत्तेया। एदेसु अपुण्णेसु य एक्केक्के बार खं छक्कं॥' ३॥ पृथिव्यप्तेजोवायुसाधारणवनस्पतयः पञ्चापि प्रत्येकं बादरसूक्ष्मभेदेन दश १०। तथा प्रत्येकवनस्पतिश्चेत्येतेष्वेकादशसु लब्ध्यपर्याप्तकभेदेष्वेकैकस्मिन् भेदे प्रत्येकं द्वादशोत्तरषट्सहस्रनिरन्तरक्षुद्रभवा भवन्ति ६०१२। लब्ध्यपर्याप्तानां मरणानि भवा ६६३३६॥ पृ. सू. ६०१२ + पृ. बा.

कहते हैं ॥ **भावार्थ**–वह जीव लब्ध्यपर्याप्तक है जो एक भी पर्याप्तिको पूर्ण नहीं करता और एक श्वासके अट्ठारह भागोंमेंसे एक भागमें ही मर जाता है। गोम्मटसारमें भी कहा है–अपर्याप्त नाम–कर्मका उदय होनेपर जीव अपनी अपनी पर्याप्तिको पूर्ण नहीं करता और अन्तर्मुहूर्तमें मर जाता है। उसे लब्ध्यपर्याप्तक कहते हैं। अर्थात् एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोंके अपर्याप्तनामकर्मका उदय होनेपर वे जीव अपनी अपनी चार, पांच या छै पर्याप्तियोंमेंसे एक भी पर्याप्तिको पूर्ण नहीं कर पाते। तथा श्वासके अट्ठारहवें भाग प्रमाण अन्तर्मुहूर्तकालमें ही मर जाते हैं। उन जीवोंको लब्ध्यपर्याप्तक कहते हैं। क्योंकि लब्धि अर्थात् अपनी अपनी पर्याप्तियोंको पूर्ण करनेकी योग्यतासे जो अपर्याप्त अर्थात् अपूर्ण हैं वे लब्ध्यपर्याप्त हैं–ऐसी लब्ध्यपर्याप्त शब्दकी व्युत्पत्ति है। एकेन्द्रियसे लेकर संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंमें निरन्तर जन्ममरणका काल गोम्मटसारमें तीन गाथाओंके द्वारा इस प्रकार कहा है–'एक अन्तर्मुहूर्त कालमें क्षुद्र अर्थात् लब्ध्यपर्याप्त जीव ६६३३६ बार मरता है और ६६३३६ बार ही जन्म लेता है। १। उन छियासठ हजार तीन सौ छत्तीस क्षुद्र भवोंमें से ६६१३२ बार तो लब्ध्यपर्याप्त एकेन्द्रियोंमें जन्म लेता है। जिसका खुलासा इस प्रकार है–कोई एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक जीव अपने भवके प्रथम समयसे लेकर उच्छ्वासके अट्ठारहवें भाग प्रमाण अपनी आयु पूरी करके पुनः एकेन्द्रिय पर्यायमें ही उत्पन्न हुआ। और उच्छ्वासके अट्ठारहवें भाग काल तक जीकर मरगया और पुनः एकेन्द्रियपर्यायमें उत्पन्न हुआ।

---

१ सर्वत्र 'गोमट्ट' इति पाठः।

६०१२ + अ. सू. ६०१२ + अ. बा. ६०१२ + ते. सू. ६०१२ + ते. बा. ६०१२ + वा. सू. ६०१२ + वा बा. ६०१२ + सा. सू. ६०१२ + सा. बा. ६०१२ + प्र. व. ६०१२ + द्वि. ल. ८० + त्रि. ल. ६० + च. ल. ४० + पं. ल. २४ [= ६६३३६] ॥ प्र. [म.] १ : इ. [म.] ६६३३६ : : फ. [उ.] $\frac{१}{१८}$ = [ल. उ.] ३६८५$\frac{१}{३}$ । [प्र. उ.] $\frac{१}{१८}$: [इ. उ.] ३६८५$\frac{१}{३}$: : [फ. म.] १ = [ल. म.] ६६३३६ । [प्र. म.] ६६३३६ : [इ. म.] १ : : [फ. उ.] ३६८५$\frac{१}{३}$ = [ल. उ.] $\frac{१}{१८}$ । [प्र. उ.] ३६८५$\frac{१}{३}$: [इ. उ.] $\frac{१}{१८}$: : [फ.] मरणलब्ध ६६३३६ = [ल. म.] १ ॥ मुहूर्तस्य उ. ३७७३, अं. ३६८५$\frac{१}{३}$, १ मरण ल. उ. $\frac{१}{१८}$ । [प्र. = प्रमाणराशी, इ. = इच्छाराशी, फ. = फलराशी, ल. = लब्धराशी = उत्तर, अं. = अंतर्मुहूर्त, उ. = उच्छ्वास, म. = मरण । यहां मूलप्रतिकी संदृष्टी आधुनिक त्रैराशिक पद्धतीसे ऊपर लिखी गई है ।] ॥ १३७ ॥ अथ पर्याप्तिलब्ध्यपर्याप्त्योः पर्याप्तिसंख्यां कथयति–

लद्धियपुण्णे पुण्णं पज्जत्ती एयक्ख-वियल-सण्णीणं ।
चदु-पण-छक्कं कमसो पज्जत्तीएं[1] वियाणेह ॥ १३८ ॥

[छाया–लब्ध्यपूर्णे पूर्ण पर्याप्तिः एकाक्षविकलसंज्ञिनाम् । चतुःपञ्चषट्कं क्रमशः पर्याप्तीः विजानीहि ॥] लब्ध्यपर्याप्तके जीवे पर्याप्त्यपूर्णं पर्याप्तम् । लब्ध्यपर्याप्तकजीवानां पर्याप्त्या व्याख्यानं परिपूर्णं जातम् । एयक्खादि

इस तरह यदि वह निरन्तर एकेन्द्रियलब्ध्यपर्याप्तमें ही बार बार जन्म लेता है तो ६६१३२ बारसे अधिक जन्म नहीं ले सकता । इसी तरह दो इन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकोंमें ८० बार, तेइन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकोंमें ६० बार, चौइन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकोंमें ४० बार और पञ्चेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकोंमें २४ बार, उसमें भी मनुष्य लब्ध्यपर्याप्तकमें आठ बार, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकमें आठ बार, और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकमें आठ बार इस तरह मिलकर पञ्चेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकमें चौबीस बार निरन्तर जन्म लेता है । इससे अधिक जन्म नहीं ले सकता । एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके निरन्तर क्षुद्र भवोंकी संख्या जो ६६१३२ बतलाई है उसका विभाग स्वामिकी अपेक्षासे इस प्रकार है- पृथिवीकाय, जलकाय, तेजकाय, वायुकाय और साधारण वनस्पतिकाय ये पांचों बादर और सूक्ष्मके भेदसे १० होते हैं । इनमें प्रत्येक वनस्पतिको मिलानेसे ग्यारह होते हैं । इन ग्यारह प्रकारके लब्ध्यपर्याप्तकोंमेंसे एक एक भेदमें ६०१२ निरन्तर क्षुद्र भव होते हैं । अर्थात् लब्ध्यपर्याप्त जीव जो एकेन्द्रियपर्यायमें ६६१३२ भव धारण करता है उन भवोंमें से ६०१२ भव पृथिवीकायमें धारण करता है, ६०१२ भव जलकायमें धारण करता है, ६०१२ भव तेजकायमें धारण करता है । इस तरह एकेन्द्रियके ग्यारहों भेदोंमें ६०१२, ६०१२ बार जन्म लेता और मरता है । इस प्रकार एक अन्तर्मुहूर्तकालमें लब्ध्यपर्याप्तक जीव ६६३३६ बार जन्म लेता है, और उतनी ही बार मरता है ॥ १३७ ॥ गाथा १३७ कि संदृष्टिका खुलासा इस प्रकार है– (१) पृथिवीकायिक सूक्ष्मके भव ६०१२+(२) पृथिवीकायिक बादरके भव ६०१२+(३) जलकायिक सूक्ष्मके भव ६०१२+(४) जलकायिक बादरके भव ६०१२+(५) तेजकायिक सूक्ष्मके भव ६०१२+(६) तेजकायिक बादरके भव ६०१२+(७) वायुकायिक सूक्ष्मके भव ६०१२+(८) वायुकायिक बादरके भव ६०१२+(९) साधारणकायिक सूक्ष्मके भव ६०१२+(१०) साधारणकायिक बादरके भव ६०१२+(११) प्रत्येक वनस्पतिकायिकके भव ६०१२=६६१३२+दोइन्द्रिय लब्ध्य-

१ ब पज्जत्तीअ (?) ।

एकेन्द्रियविकलसंज्ञिनां क्रमशः चदुपणछक्कं चतस्रः, पञ्च, षट् च पर्याप्तीर्जानीहि। एकेन्द्रियजीवानाम् आहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासपर्याप्तयश्चतस्रो ४ भवन्ति। द्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवानाम् आहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासभाषापर्याप्तयः पञ्च स्युः ५। संज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवानाम् आहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासभाषामनःपर्याप्तयः षट् ६ सन्ति ॥ १३८ ॥ अथ दश प्राणान् लक्षयति—

मण-वयण-काय-इंदिय-णिस्सासुस्सास-आउ-उदयाणं[१] ।
जेसिं जोए जम्मदि मरदि[२] विओगम्मि ते वि दह पाणा ॥ १३९ ॥

[छाया-मनोवचनकायेन्द्रियनिःश्वासोच्छ्वासायुरुदयानाम्। येषां योगे जायते म्रियते वियोगे ते अपि दश प्राणाः ॥] येषां मनोवचनकायेन्द्रियनिःश्वासोच्छ्वासायुरुदयानां जोए संयोगे जम्मदि जीवो जायते उत्पद्यते, येषां वियोगे सति जीवो म्रियते जीवितव्यरहितो भवति, तेऽपि दश प्राणाः कथ्यन्ते। इत्थंभूतैर्दशभिर्द्रव्यप्राणैः यथासंभवं जीवति

पर्याप्तकके ८०+तेइन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके ६०+चौइन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके ४०+पञ्चेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके २४=६६३३६॥ ये ६६३३६ भव एक अन्तर्मुहूर्तमें होते हैं। १)—अतः यदि एक भवका काल एक उच्छ्वासका अट्ठारहवां भाग है तो ६६३३६ भवका काल कितने उच्छ्वास होगा। ऐसा त्रैराशिक करने पर ६६३३६ में $\frac{1}{18}$ का भाग देनेसे लब्ध ३६८५$\frac{1}{3}$ होता है सो इतने उच्छ्वासमें ६६३३६ भव लब्ध्यपर्याप्तक जीव धारण करता है। एक मुहूर्तमें ३७७३ उच्छ्वास होते हैं। अतः ३६८५$\frac{1}{3}$ उच्छ्वास एक एक अन्तमुहूर्तमें हुआ। २)—यदि $\frac{1}{18}$ उच्छ्वासमें १ भव धारण करता है तो ३६८५$\frac{1}{3}$ उच्छ्वासमें कितने भव धारण करेगा ऐसा त्रैराशिक करनेपर ३६८५$\frac{1}{3}$ में १८ का गुणा करनेसे ६६३३६ भव होते हैं। ३)—यदि छियासठ हजार तीन सौ छत्तीस भवका काल ३६८५$\frac{1}{3}$ उच्छ्वास है तो एक भवका काल कितना है ऐसा त्रैराशिक करने पर ६६३३६ से ३६८५$\frac{1}{3}$ उच्छ्वासमें भाग देनेसे एक भवका काल $\frac{1}{18}$ उच्छ्वास आता है। ४)—यदि ३६८५$\frac{1}{3}$ उच्छ्वासमें ६६३३६ भव धारण करता है तो $\frac{1}{18}$ उच्छ्वासमें कितने भव धारण करेगा। ऐसा त्रैराशिक करने पर उत्तर एक भव आता है। अब पर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त जीवोंके पर्याप्तियोंकी संख्या कहते हैं। **अर्थ**—लब्ध्यपर्याप्त जीव तो अपर्याप्तक होता है अतः उसके पर्याप्ति नहीं है। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवके क्रमसे चार, पांच और छै पर्याप्तियां जानो ॥ **भावार्थ**—लब्ध्यपर्याप्तक जीवके किसी पर्याप्तिकी पूर्ति नहीं होती; क्योंकि वह अपर्याप्तक है। अतः लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंके पर्याप्तिका कथन इतनेसे ही पूर्ण हो जाता है। पर्याप्तक जीवोंमें एकेन्द्रियके आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, उच्छ्वासपर्याप्ति ये चार पर्याप्तियां होती हैं। दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोंके आहार, शरीर, इन्द्रिय, उच्छ्वास और भाषा ये पांच पर्याप्तियां होती हैं। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोंके आहार, शरीर, इन्द्रिय, उच्छ्वास, भाषा और मन ये छै पर्याप्तियां होती हैं ॥ १३८ ॥ पर्याप्तियोंका कथन करके अब प्राणोंका कथन करते हैं। **अर्थ**—जिन मन, वचन, काय, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और आयुके उदयके संयोगसे जीव जन्मलेता है और वियोग होनेसे मर जाता है उन्हें प्राण कहते हैं। वे दस हैं **भावार्थ**—जिनके संयोगसे जीवन और वियोगसे मरण होता है उन्हें प्राण कहते हैं वे प्राण दस हैं—मनोबल, वचनबल, कायबल, पांच इन्द्रियां, श्वासोच्छ्वास और आयु। इन दस द्रव्य प्राणोंमें से जो

१ **ल म ग** आउरुदयाणं, **स** आउसहियाणं। २ **ब ग** मरिदि।

जीविष्यति जीवितपूर्वो वा यो व्यवहारनयात् स जीवः। सत्ताचैतन्यसुखबोधादयः शुद्धभावप्राणाः ॥ १३९ ॥ अथैकेन्द्रियादीनां पर्याप्तानां प्राणसंख्यां ख्यापयति—

एयक्खे चदु पाणा बि-ति-चउरिंदिय-असण्णि-सण्णीणं।
छह सत्त अट्ठ[1] णवयं दह पुण्णाणं कमे पाणा ॥ १४० ॥

[छाया-एकाक्षे चत्वारः प्राणाः द्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिनाम्। षट् सप्त अष्ट नव दश पूर्णानां क्रमेण प्राणाः ॥] क्रमेण एकेन्द्रियादिषु पर्याप्तकेषु चतुःषट्सप्ताष्टनवदशप्राणा भवन्ति। तथा हि। पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायिकानां पर्याप्तकजीवानां स्पर्शनेन्द्रियकायोच्छ्वासनिःश्वासायुःकर्मरूपाश्चत्वारः प्राणाः ४ भवन्ति। शङ्खशुक्तिकवराटिकजलौकादि-द्वीन्द्रियपर्याप्तकजीवानां स्पर्शनरसनेन्द्रियकायवचनानप्राणायुरूपाः षट् प्राणाः ६ स्युः। कुन्थुयूकामत्कुणवृश्चिकादि-त्रीन्द्रियपर्याप्तकजीवानां स्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रियकायवचननिःश्वासोच्छ्वासायुर्लक्षणाः सप्त प्राणाः ७ सन्ति। दंशमशकपतङ्ग-भ्रमरादिचतुरिन्द्रियपर्याप्तानां स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुरिन्द्रियकायवचनानप्राणायुरूपाः अष्टौ ८ प्राणाः। असंज्ञिनाम् अमनस्कानां तिरश्चां पञ्चेन्द्रियपर्याप्तानां स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रियकायवचनश्वासोच्छ्वासायुकर्मरूपाः नव प्राणाः ९ विद्यन्ते। सज्ञिनां समनस्काना देवमनुष्यादीनां पञ्चेन्द्रियपर्याप्ताना स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रियमनोवचनकायप्राणा-

अपने योग्य प्राणोंसे वर्तमानमें जीता है, भविष्यमें जियेगा और भूतकालमें जिया है, व्यवहारनयसे वह जीव है। तथा सत्ता, चैतन्य, सुख और ज्ञान आदि शुद्ध भाव प्राण हैं। आशय यह है कि ऊपर जो दस प्राण बतलाये हैं वे द्रव्य प्राण हैं, जो संसारी जीवोंके पाये जाते हैं। किन्तु मुक्तावस्थामें ये द्रव्य प्राण नहीं रहते, बल्कि सत्ता आदि शुद्ध भाव प्राण रहते हैं। ये भाव प्राण ही जीवके असली प्राण हैं; क्यौंकि इनके विना जीवका अस्तित्व ही नहीं रह सकता। अतः निश्चयनयसे जिसमें ये शुद्ध भाव प्राण पाये जाते हैं वही जीव है। यद्यपि संसारी जीवमें भी ये भाव प्राण पाये जाते हैं, किन्तु वे शुद्ध भाव प्राण नहीं है ॥ १३९ ॥ अब एकेन्द्रिय आदि पर्याप्त जीवोंके प्राणोंकी संख्या बतलाते हैं। **अर्थ**–पर्याप्त एकेन्द्रिय जीवके चार प्राण होते हैं और पर्याप्त दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवके क्रमसे छै, सात, आठ, नौ और दस प्राण होते हैं ॥ **भावार्थ**–पर्याप्त एकेन्द्रिय आदि जीवोंके क्रमसे चार, छै, सात, आठ, नौ और दस प्राण होते हैं। जिसका विवरण इस प्रकार है–पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक पर्याप्तक जीवोंके स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयुकर्म, ये ४ प्राण होते हैं। शंख, सीप, कौडी जोंख आदि दो इन्द्रिय पर्याप्तक जीवोंके स्पर्शन और रसना इन्द्रिय, कायबल, वचनबल, श्वासोच्छ्वास और आयु, ये छै प्राण होते हैं। कुंथु, जूं, खटमल, विच्छु वगैरह तेइन्द्रिय पर्याप्तक जीवोंके स्पर्शन, रसना और घ्राण इन्द्रिय, कायबल, वचनबल, श्वासोच्छ्वास और आयु ये सात प्राण होते हैं। डांस, मच्छर, पतङ्ग, भौरा आदि चौइन्द्रिय पर्याप्तक जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन्द्रिय, कायबल, वचनबल, श्वासोच्छ्वास और आयु ये आठ प्राण होते हैं। असैनी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक तिर्यञ्चोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रिय, कायबल, वचनबल, श्वासोच्छ्वास और आयु ये नौ प्राण होते हैं। सैनी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तकोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्रेन्द्रिय, मनोबल, वचनबल, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयु ये दस प्राण होते हैं। इन दस

१ ब सत्तट्ठ।

पानायुरूपाः दश प्राणाः १० भवन्ति । वीर्यान्तरायमतिज्ञानावरणक्षयोपशमजनिताः स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रिय-मनोबलप्राणाः ६ भवन्ति । शरीरनामकर्मोदये सति कायबलप्राणाः आनप्राणश्च भवन्ति २ । शरीरनामकर्मोदये स्वरनामकर्मोदये च वचोबलप्राणो भवति १ । आयुःकर्मोदये आयुःप्राणो भवति १ । एवं प्राणानामुत्पत्तिसामग्री सूचिता ॥ १४० ॥ अथ द्विविधानामपर्याप्तानां प्राणसंख्यां विभजति—

दुविहाणमपुण्णाणं इगि[1]-वि-ति-चउरक्ख-अंतिम-दुगाणं ।
तिय चउ पण छह सत्त य कमेण पाणा मुणेयव्वा ॥ १४१ ॥

[छाया—द्विविधानाम् अपूर्णानाम् एकद्वित्रिचतुरक्षान्तिमद्विकानाम् । त्रयः चत्वारः पञ्च षट् सप्त च क्रमेण प्राणाः ज्ञातव्याः ॥] द्विविधानामपूर्णानां निर्वृत्यपर्याप्तानां लब्ध्यपर्याप्तानां च । इगि इत्यादि एकद्वित्रिचतुरक्षान्तिमद्विकानाम् एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां क्रमेण प्राणाः मन्तव्याः ज्ञातव्याः । कतिकतीत्यादि त्रयश्चत्वारः पञ्च षट् सप्त च ज्ञातव्याः । तथा हि निर्वृत्यपर्याप्तकलब्ध्यपर्याप्तकानामेकेन्द्रियजीवानां स्पर्शनेन्द्रिय-कायबलायुःप्राणास्त्रयो भवन्ति ३, न तु निश्वासोच्छ्वासः । निर्वृत्यलब्ध्यपर्याप्ताना द्वीन्द्रियजीवानां स्पर्शनरसनेन्द्रिय-कायबलायुःप्राणाश्चत्वारो ४ विद्यन्ते न तु भाषोच्छ्वासौ । निर्वृत्यलब्ध्यपर्याप्तानां त्रीन्द्रियजीवानां स्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रिय-कायबलायुःप्राणाः पञ्च ५ सन्ति, न तु भाषोच्छ्वासौ । निर्वृत्यलब्ध्यपर्याप्तानां चतुरिन्द्रियजीवानां स्पर्शनरसन-घ्राणचक्षुरिन्द्रियकायबलायु प्राणाः षट् ६ स्युः, न तु निश्वासभाषाप्राणौ । निर्वृत्यलब्ध्यपर्याप्तानाम् असंज्ञिजीवानां

प्राणोंमेंसे स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांच इन्द्रियां और मनोबल प्राण वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होते हैं। शरीर नाम कर्मका उदय होनेपर कायबल प्राण और श्वासोच्छ्वास प्राण होते हैं। शरीर नाम कर्म और स्वरनामकर्मका उदय होनेपर वचनबल प्राण होता है। और आयुकर्मका उदय होनेपर आयुप्राण होता है। इस तरह प्राणोंकी उत्पत्तिकी सामग्री बतलाई है ॥ १४० ॥ अब दोनों प्रकारके अपर्याप्तकोंके प्राणोंकी संख्या कहते हैं। **अर्थ—** दोनों प्रकारके अपर्याप्त एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोंके क्रमसे तीन, पांच, छै और सात प्राण जानने चाहिये। **भावार्थ—**दोनों प्रकारके अपर्याप्त अर्थात् निर्वृत्त्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय असंज्ञी पञ्चे-न्द्रिय और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोंके क्रमसे तीन, चार, पांच, छै और सात प्राण होते हैं अर्थात् निर्वृत्त्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त एकेन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, आयु ये तीन प्राण होते हैं श्वासोच्छ्वास प्राण नही होता। निर्वृत्त्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त दो इन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन और रसना इन्द्रिय, कायबल, आयु, ये चार प्राण होते हैं, वचनबल और श्वासोच्छ्वास प्राण नहीं होते। निर्वृत्त्य-पर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त तेइन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना और घ्राण इन्द्रिय, कायबल और आयु ये पांच प्राण होते हैं, वचनबल और श्वासोच्छ्वास प्राण नहीं होते। निवृत्त्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त चौइन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन्द्रिय, कायबल और आयु ये छै प्राण होते हैं, वचनबल और श्वासोच्छ्वास प्राण नहीं होते। निर्वृत्त्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तथा संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रिय, कायबल आर आयु ये सात प्राण होते हैं, श्वासोच्छ्वास वचनबल और मनोबल प्राण नहीं होते। शङ्का—पर्याप्ति और प्राणमें क्या भेद है। समाधान—आहारवर्गणा, भाषावर्गणा और मनोवर्गणाके परमाणुओंको आहार, शरीर,

---

१ ग इग।

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रियकायबलायुःप्राणाः सप्त ७ भवन्ति, न तु भाषोच्छ्वासमनःप्राणाः । अत्र पर्याप्ति-प्राणयोः को भेदः । आहारशरीरेन्द्रियानप्राणभाषामनोऽर्थग्रहणशक्तिनिष्पत्तिरूपाः पर्याप्तयः, विषयग्रहणव्यापारव्यक्तिरूपाः प्राणाः, इति भेदो ज्ञातव्यः ॥ १४१ ॥ ननु त्रसनाड्यां त्रसाः सर्वत्रेति प्रश्ने, अथ विकलत्रयाणां स्थाननियमं निर्दिशति–

वि-ति-चउरक्खा जीवा हवंति णियमेण कम्म-भूमीसु ।
चरिमे दीवे अद्धे चरम[1]-समुद्दे वि सव्वेसु ॥ १४२ ॥

[छाया–द्वित्रिचतुरक्षाः जीवाः भवन्ति नियमेन कर्मभूमिषु । चरमे द्वीपे अर्धे चरमसमुद्रे अपि सर्वेषु ॥] द्वित्रिचतुरिन्द्रिया जीवाः प्राणिनः नियमतः सर्वासु कर्मभूमिषु पञ्चभरतपञ्चैरावतपञ्चविदेहेषु पञ्चदशकर्मधरासु विकलत्रयासंज्ञिजीवा भवन्ति, न तु भोगभूम्यादिषु । अपि पुनः, चरमे द्वीपे अर्धे स्वयंप्रभद्वीपे चरमे तस्यार्धे स्वयंप्रभपर्वतोऽस्ति मानुषोत्तरवत् । तस्य स्वयंप्रभस्य परतः अर्धद्वीपे चरमसमुद्रे स्वयंभूरमणसमुद्रे सर्वस्मिन् द्वित्रि-चतुरिन्द्रिया जीवाः । अपिशब्दात् असंज्ञिनो भवन्ति । एते नान्यत्र स्थानेषु ॥ १४२ ॥ अथ मानुषक्षेत्रबहिर्भागेषु तिरश्चामायुःकायादिनियमं निगदति–

माणुस-खित्तस्स वहिं चरिमे[2] दीवस्स अद्धयं जाव[3] ।
सव्वत्थे वि[4] तिरिच्छा हिमवद-तिरिएहिं[5] सारिच्छा ॥ १४३ ॥

[छाया–मानुषक्षेत्रस्य बहिः चरमे द्वीपस्य अर्धकं यावत् । सर्वत्र अपि तिर्यञ्चः हैमवततिर्यग्भिः सदृशाः ॥] मनुष्यक्षेत्रस्य बहिर्भागे चरमे द्वीपस्य स्वयंप्रभद्वीपस्य यावत्, अद्धयं अर्धकं, पुष्करद्वीपार्धस्थितमानुषोत्तरपर्वतात् अग्रे स्वयंप्रभद्वीपमध्यस्थितस्वयंप्रभाचलात् अर्वाक्, सव्वत्थे वि सर्वत्रापि, अपरपुष्करार्धद्वीपादिस्वयंप्रभद्वीपार्धपर्यन्तेषु

इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनरूप परिणमानेकी शक्तिकी पूर्णताको पर्याप्ति कहते हैं। और पर्याप्तिके पूर्ण हो जानेपर इन्द्रिय वगैरहका विषयोंको ग्रहण करना आदिरूप अपने कार्यमें प्रवृत्ति करना प्राण है। इस तरह दोनोंमें कारण और कार्यका भेद है ॥ १४१ ॥ किसीने प्रश्न किया कि क्या त्रस नाडीमें सर्वत्र त्रस रहते हैं? इसके समाधानके लिये ग्रन्थकार विकलत्रय जीवोंके निवासस्थानको बतलाते हैं। **अर्थ–**दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चौइन्द्रिय जीव नियमसे कर्मभूमिमें ही होते हैं। तथा अन्तके आधे द्वीपमें और अन्तके सारे समुद्रमें होते हैं ॥ **भावार्थ–**पांच भरत, पांच ऐरावत और पांच विदेह, इन पन्द्रह कर्मभूमियोंमें विकलत्रय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव होते हैं, भोगभूमि वगैरहमें नहीं होते। तथा जैसे पुष्कर द्वीपके मध्यमें मानुषोत्तर पर्वत पड़ा हुआ है वैसे ही अन्तके स्वयंप्रभद्वीपके बीचमें स्वयंप्रभ पर्वत पड़ा हुआ है। उसके कारण द्वीपके दो भाग हो गये हैं। सो स्वयंप्रभ पर्वतके उस ओरके आधे द्वीपमें और पूरे स्वयंभुरमण समुद्रमें दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय और चौइन्द्रिय जीव तथा 'अपि' शब्दसे असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव होते हैं। इनके सिवा अन्य स्थानोंमें ये जीव नहीं होते ॥ १४२ ॥ अब मनुष्यलोकसे बाहरके भागोंमें रहनेवाले तिर्यञ्चोंकी आयु और शरीर वगैरहका नियम कहते हैं। **अर्थ–**मनुष्यलोकसे बाहर अन्तके स्वयंप्रभ द्वीपके आधे भाग तक, सब द्वीपोंमें जो तिर्यञ्च रहते हैं वे हैमवत क्षेत्रके तिर्यञ्चोंके समान होते हैं ॥ **भावार्थ–**पुष्करद्वीपके आधे भागमें स्थित मानुषोत्तर पर्वतसे आगे और स्वयंप्रभ द्वीपके मध्यमें स्थित स्वयंप्रभ पर्वतसे पहले अर्थात् पश्चिम पुष्करार्ध द्वीपसे लेकर स्वयंप्रभद्वीपके आधे भाग तक असंख्यात द्वीपोंमें जो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय थलचर और नभचर तिर्यञ्च होते हैं वे हैमवत भोगभूमिके तिर्यञ्चोंके

१ ल चरिम । २ ग चरमे । ३ ब जाम । ४ ल स ग सव्वत्थि वि । ५ ब हिमवदितिरियेहि ।

असंख्यातद्वीपेषु, तिरश्चां तिर्यञ्चः, पञ्चेन्द्रियाः संज्ञिनः स्थलचरनभश्चरा भवन्ति । हिमवदतिरिएहिं हैमवतभोगभूमिजतिर्यग्भिः, सारिच्छा आयुःकायाहारयुग्मोत्पत्तिसुखादिभिः सदृशा भवन्ति उत्सेधाः पल्यायुष्काः । सौम्याः मृगादयः पक्षिणश्च स्युरित्यर्थः ॥ १४३ ॥ अथ लवणादिसमुद्रेषु जलचरजीवभावाभावं प्ररूपयति–

लवणोए कालोए अंतिम[1]-जलहिम्मि जलयरा संति ।
सेस-समुद्देसु पुणो ण जलयरा संति णियमेण ॥ १४४ ॥

[छाया–लवणोदे कालोदे अन्तिमजलधौ जलचराः सन्ति । शेषसमुद्रेषु पुनः न जलचराः सन्ति नियमेन ॥] लवणोदके जलधौ द्विलक्षयोजनप्रमाणसमुद्रे जलचराः द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियजीवाः सन्ति । कालोदकसमुद्रे अष्टलक्षयोजनप्रमाणे जलचरास्त्रसा विद्यन्ते । अन्तिमजलधौ चरमस्वयंभूरमणसमुद्रे असंख्याातयोजनप्रमाणे जलचराः द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियप्राणिनो भवन्ति । पुनः शेषसमुद्रेषु सर्वेषु असंख्यातप्रमितेषु नियमतः जलचराः द्वीन्द्रियादयो जीवा न सन्ति । ननु समुद्रेषु जलस्वादः कीदृक् इति चेत्रैलोक्यसारगाथामाह । "लवणं वारुणतियमिदि कालदुगंतिमसयंभुरमणमिदि । पत्तेयजलस्सादा अवसेसा होंति इच्छुरसा ॥" इति ॥ १४४ ॥ अथ भवनवासिदेवादीनां स्थाननियमं वक्ति–

खरभाय-पंकभाए भावण-देवाण होंति भवणाणि ।
विंतर[3]-देवाण तहा दुण्हं पि य तिरिय-लोयम्मि[4] ॥ १४५ ॥

[छाया–खरभागपङ्कभागयोः भावनदेवानां भवन्ति भवनानि । व्यन्तरदेवानां तथा द्वयोरपि च तिर्यक्लोके ॥] रत्नप्रभायां प्रथमपृथिव्यामेकलक्षाशीतिसहस्रयोजनबाहुल्यप्रमितायां १८०००० प्रथमखरभागे षोडशसहस्रयोजनबाहुल्ये असुरकुलं विहाय नाग १ विद्युत् २ सुपर्ण ३ अग्नि ४ वात ५ स्तनित ६ उदधि ७ द्वीप ८ दिक् ९

समान होते हैं । अर्थात् उनकी आयु, शरीर, आहार, युगलरूपमें जन्म और सुख वगैरह जघन्य भोगभूमिके तिर्यञ्चोंके सदृश ही होते हैं । उन्हींके समान वहांके मृग आदि थलचर और पक्षी आदि नभचर तिर्यञ्च सौम्य होते हैं, शरीरकी ऊंचाई भी उन्हींके समान होती है और एक पल्यकी आयु होती है ॥ १४३ ॥ अब लवण आदि समुद्रोंमें जलचर जीवोंके होने और न होनेका कथन करते हैं । **अर्थ**–लवणोद समुद्रमें, कालोद समुद्रमें और अन्तके स्वयंभुरमण समुद्रमें जलचर जीव हैं । किन्तु शेष बीचके समुद्रोंमें नियमसे जलचर जीव नहीं हैं ॥ **भावार्थ**–दो लाख योजन विस्तारवाले लवण समुद्रमें और आठ लाख योजन विस्तारवाले कालोद समुद्रमें दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जलचर जीव होते हैं । असंख्यात योजन विस्तारवाले अन्तके स्वयंभूरमण समुद्रमें भी दो इन्द्रिय आदि जलचर जीव होते हैं । किन्तु बाकीके सब समुद्रोंमें जलचर जीव नियमसे नहीं होते । **शङ्का**–समुद्रोंके जलका स्वाद कैसा है? **समाधान**–त्रैलोक्यसार नामक ग्रन्थमें कहा है कि लवणसमुद्रके जलका स्वाद नमककी तरह है । वारुणीवर समुद्रके जलका स्वाद शराबके जैसा है, घृतवरसमुद्रके जलका स्वाद घीके जैसा है । क्षीरवर समुद्रके जलका स्वाद दूधके जैसा है । कालोद, पुष्करवर और स्वयंभुरमण समुद्रोंके जलका स्वाद जलके जैसा है, और शेष समुद्रोंका स्वाद गन्नेके रसके जैसा है ॥ १४४ ॥ अब भवनवासी आदि देवोंका निवासस्थान बतलाते हैं । **अर्थ**–खरभाग और पंकभागमें भवनवासी देवोंके भवन हैं और व्यन्तरोंके भी निवास हैं । तथा इन दोनोंके तिर्यग्लोकमें भी निवास स्थान हैं ॥ **भावार्थ**–रत्नप्रभा नामकी पहली पृथिवी एक लाख अस्सी हजार योजन

---

१ ब अंतम । २ ल ग जलचरा । ३ ग विंतर । ४ ल म स ग तिरियलोए वि ।

कुमाराणां भवनवासिनां नवानां, तथैव राक्षसकुलं विहाय व्यन्तराणां सप्तानां किंनर १ किंपुरुष २ महोरग ३ गन्धर्व ४ यक्ष ५ भूत ६ पिशाचानां ७ भवनानि आवासाः सन्ति । अपिशब्दात् चतुरशीतिसहस्रयोजनप्रमितपङ्कभागे असुरकुमाराणां राक्षसानां चावासा भवन्ति। अशीतिसहस्रयोजनप्रमाणाब्बहुलभागे नारकास्तिष्ठन्ति। प्रसंगप्राप्तव्याख्यानमिदम् । अपि दुण्हं पि तिरियलोए द्वयानामपि भवनवासिदेवानां व्यन्तरदेवानां च तिर्यग्लोके आवासाः सन्ति । व्यन्तरा निरन्तरा इति वचनात् सर्वद्वीपसमुद्रेषु तद्वासाः । भवनेषु वसन्तीत्येवंशीला भवनवासिनः । विविधदेशान्तरेषु येषां निवासास्ते व्यन्तराः ॥ १४५ ॥ अथ ज्योतिषां कल्पसुराणां नारकाणां च स्थाननियममाह–

जोइसियाण विमाणा रज्जू-मित्ते वि तिरिय-लोए वि[1] ।
कप्प-सुरा उड्ढम्मि[2] य अह-लोए होंति[3] णेरइया ॥ १४६ ॥[4]

[छाया–ज्योतिष्काणां विमाना रज्जुमात्रे अपि तिर्यग्लोके अपि । कल्पसुराः ऊर्ध्वे च अधोलोके भवन्ति नैरयिकाः ॥] रज्जुमात्रे तिर्यग्लोके मध्यलोके चित्राभूमितः उपरि नवत्यधिकानि सप्तशतयोजनानि विहायसि गत्वा तारकाणां विमानाः सन्ति। ततोऽपि योजनदशकं गत्वा सूर्याणां विमानाः। ततः परम् अशीतियोजनानि गत्वा चन्द्राणां विमानाः सन्ति । ततोऽपि योजनचतुष्टयं गते अश्विन्यादिनक्षत्राणां विमानाः । तदनन्तरं योजनचतुष्टये गते बुधानां विमानाः। ततोऽपि योजनत्रये गते शुक्राणां विमानाः । ततः परं योजनत्रये गते बृहस्पतीनां विमानाः । ततो योजनत्रयानन्तरं मङ्गलविमानाः। ततोऽपि योजनत्रयानन्तरं शनैश्चराणां विमानाः। तथा चोक्तं च । "णवदुत्तरसत्तसया दस सीदी चउ दुगं तु तिचउक्कं । ताररविससिरिक्खा बुहभग्गवअंगिरारसणी ॥" इति दशोत्तरशतयोजन ११० बाहुल्यप्रमाणे ज्योतिषां चन्द्रादित्यग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाणां विमानाः व्योमयानानि भवन्ति विद्यन्ते। च पुनः, कप्पसुरा उड्ढम्हि कल्पवासिदेवा ऊर्ध्वलोके । तथा हि आदिमध्यान्तेषु द्वादशाष्टचतुर्योजनवृत्तविष्कम्भा चत्वारिंशत्प्रमितयोजनोत्सेधा या मेरुचूलिका तिष्ठति, तस्या उपरि कुरुभूमिबालाग्रान्तरितं पुनः ऋजुविमानमस्ति । तदादिं कृत्वा चूलिकासहितलक्षयोजनप्रमाणमेरूत्सेधन्यूनमर्धाधिकैकरज्जुप्रमाणं $\frac{3}{2}$ यदाकाशक्षेत्रं तत्पर्यन्तं सौधर्मैशानसंज्ञं स्वर्गयुगलं तिष्ठति । ततः परमर्धाधिकैकरज्जुपर्यन्तं $\frac{3}{2}$ सनत्कुमारमाहेन्द्रसंज्ञं स्वर्गयुगलं भवति । तस्मादर्धरज्जुप्रमाणाकाशपर्यन्तं $\frac{1}{2}$ ब्रह्मब्रह्मोत्तराभिधानं स्वर्गयुगलमस्ति । तस्मादर्धरज्जुपर्यन्तं $\frac{1}{2}$ लान्तवकापिष्ठस्वर्गद्वयं तिष्ठति । ततश्चार्धरज्जुपर्यन्तं $\frac{1}{2}$ शुक्रमहा-

मोटी है। उसका प्रथम भाग, जिसे खर भाग कहते हैं, सोलह हजार योजन मोटा है। उस खर भागमें असुरकुमारोंको छोड़कर बाकीके नागकुमार, विद्युतकुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार नामके नौ भवनवासियोंके भवन है। तथा राक्षसोंको छोड़कर किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, भूत और पिशाच, इन सात प्रकारके व्यन्तरोंके आवास हैं। 'अपि' शब्दसे चौरासी हजार योजन मोटे दूसरे पङ्कभागमें असुरकुमारोंके भवन और राक्षसोंके आवास हैं। और अस्सी हजार योजन मोटे तीसरे अब्बहुल भागमें नारकी रहते हैं। यहां नारकियोंका कथन प्रसङ्गवश कर दिया है। अस्तु, इसके सिवा भवनवासी और व्यन्तर देवोंके वासस्थान तिर्यग्लोकमें भी है। क्यो कि ऐसा वचन है 'व्यन्तरा निरन्तराः।' अतः सभी द्वीप समुद्रोंमें उनका निवास है। जो भवनोंमें निवास करते हैं उन देवोंको भवनवासी कहते हैं। और विविध देशोंमें जिनका निवास है उन देवोंको व्यन्तर कहते हैं ॥ १४५ ॥ अब ज्योतिषी देव, कल्पवासी देव और नारकियोंका निवास स्थान बतलाते हैं। **अर्थ**–ज्योतिषी देवोंके विमान एक राजुप्रमाण तिर्यग्लोकमें है। कल्पवासी देव ऊर्ध्वलोकमें रहते हैं और नारकी अधोलोकमें रहते हैं। **भावार्थ**–एक राजु प्रमाण मध्यलोकमें, चित्रा भूमिसे ऊपर सातसौ नव्वे योजन जाकर आकाशमें तारोंके विमान हैं।

१ ब लोए मि। २ ल ग उड्ढम्हि, स उद्म्हि। ३ ब हुंति। ४ ब स्थितित्य। बादर इत्यादि। ५ कचिद्गाथास्वपि संख्याङ्कनिर्देशः। ६ कचित्संख्याङ्कनिर्देशो वाक्यान्ते।

शुक्राभिधानस्वर्गद्वयं ज्ञातव्यम् । तदनन्तरम् अर्धरज्जुपर्यन्तं $\frac{1}{2}$ शतारसहस्रारसंज्ञं स्वर्गयुगलं भवति । ततोऽप्यर्ध-रज्जुपर्यन्तम् $\frac{1}{2}$ आनतप्राणतनामस्वर्गयुगलम् । ततः परमर्धरज्जुपर्यन्तमाकाशं $\frac{1}{2}$ यावदारणाच्युताभिधानस्वर्गद्वयं ज्ञातव्य-मिति । षोडशस्वर्गादूर्ध्वमेकरज्जुमध्ये नवग्रैवेयकनवानुदिशपञ्चानुत्तरविमानवासिदेवास्तिष्ठन्ति । ततः परं तत्रैव द्वादश-योजनेषु गतेष्वष्टयोजनबाहुल्या मनुष्यलोकवत् पञ्चाधिकचत्वारिंशल्लक्षयोजनविस्तारा ४५००००० मोक्षशिला भवति । तस्या उपरि घनोदधिघनवाततनुवातत्रयमस्ति । तत्र तनुवातमध्ये लोकान्ते केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहिताः सिद्धाश्च तिष्ठन्तीति। अहलोए णारया होंति, अधोलोके अधोभागे मेरोराधारभूता रत्नप्रभाख्या प्रथमपृथिवी, तस्यास्तृतीये अब्बहुलभागे अशीतिसहस्रयोजनबाहुल्ये रत्नप्रभाभूमौ घर्मानाम्नि प्रथमनरके त्रयोदशपटलेषु त्रिंशल्लक्षबिलेषु ३०००००० नारका भवन्ति तिष्ठन्ति । शर्कराप्रभाभूमौ वंशानामनि द्वितीयनरके एकादशपटलेषु पञ्चविंशतिलक्षबिलेषु नारकाः सन्ति । वालुका-

उससे भी दस योजन ऊपर जाकर सूर्योंके विमान हैं । उससे ऊपर अस्सी योजन जाकर चन्द्रमाओंके विमान हैं । उससे भी चार योजन ऊपर जाकर अश्विनी आदि नक्षत्रोंके विमान हैं । उससे ऊपर चार योजन जाकर बुधग्रहोंके विमान हैं । उससे ऊपर तीन योजन जाकर शुक्रग्रहोंके विमान हैं । उससे ऊपर तीन योजन जाकर बृहस्पति ग्रहोंके विमान हैं । उससे ऊपर तीन योजन जानेपर मंगलग्रहोंके विमान हैं । उस सेभी ऊपर तीन योजन जानेपर शनिग्रहोंके विमान हैं । कहा भी है–"७९० योजनपर तारा हैं, उससे दस योजन ऊपर सूर्य है । सूर्यसे अस्सी योजन ऊपर चन्द्रमा है । चन्द्रमासे चार योजनपर नक्षत्र और नक्षत्रसे चार योजनपर बुध है । बुधसे तीन योजनपर शुक्र, उससे तीन योजन ऊपर बृहस्पति, उससे तीन योजन ऊपर मंगल और उससे तीन योजन ऊपर शनि है ।" इस तरह एक सौ दस योजनकी मोटाईमें चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारोंके विमान रहते हैं । और कल्पवासी देव ऊर्ध्वलोकमें रहते हैं । सो सुमेरु पर्वतकी चूलिका (चोटी) का विस्तार नीचे बारह योजन, मध्यमें आठ योजन और ऊपर चार योजन है तथा ऊंचाई चालीस योजन है । उस चूलिकासे ऊपर उत्तरकुरु भोगभूमिके मनुष्यके बालके अग्रभाग जितना अन्तर देकर ऋजु नामक विमान है । उस ऋजु विमानसे लेकर चूलिका सहित मेरुकी ऊंचाई एक लाख चालीस योजनसे हीन डेढ़ राजु प्रमाण आकाश प्रदेश पर्यन्त सौधर्म और ऐशान नामका स्वर्गयुगल है । उससे ऊपर डेढ़ राजु तक सनत्कुमार और माहेन्द्र नामका स्वर्गयुगल है । उससे ऊपर आधा राजु आकाशपर्यन्त ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर नामका स्वर्गयुगल है । उससे ऊपर आधा राजुपर्यन्त लान्तव और कापिष्ठ नामका स्वर्गयुगल है । उससे ऊपर आधा राजुपर्यन्त शुक्र और महाशुक्र नामका स्वर्गयुगल है । उससे ऊपर आधा राजु पर्यन्त शतार और सहस्रार नामका स्वर्गयुगल है । उससे ऊपर आधा राजुपर्यन्त आनत और प्राणत नामका स्वर्गयुगल है । उससे ऊपर आधा राजु पर्यन्त आरण और अच्युत नामका स्वर्ग युगल है । इन सोलह स्वर्गोंसे ऊपर एक राजुके भीतर नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पांच अनुत्तर विमानोंके वासी देव रहते हैं । अनुत्तर विमानोसे बारह योजन ऊपर जानेपर उसी एक राजुके भीतर आठ योजनकी मोटी सिद्धशिला है, जिसका विस्तार मनुष्यलोककी तरह पैंतालीस लाख योजन है । उसके ऊपर घनोदधिवात, घनवात और तनु-वात नामके तीन वातवलय हैं । उनमेंसे लोकके अन्तमें तनुवातवलयमें केवल ज्ञान आदि अनन्त गुणोंसे युक्त सिद्ध परमेष्ठी विराजमान हैं । इस तरह ऊर्ध्व लोकमें वैमानिक देवोंका निवास है । तथा अधो-लोकमें नारकी रहते हैं । सो अधोलोकमें मेरु पर्वतकी आधारभूत रत्नप्रभा नामकी पहली पृथिवी है ।

प्रभापृथिव्यां मेघानाम्नि तृतीयनरके नवपटलस्थितपञ्चदशलक्षबिलेषु नारकाः स्युः। पङ्कप्रभाभूमौ अञ्जनानामचतुर्थनरके सप्तपटलस्थितदशलक्षबिलेषु नारका विद्यन्ते। धूमप्रभापृथिव्यां रिष्टानामपञ्चमनरके पञ्चपटलस्थितत्रिलक्षबिलेषु नारका भवन्ति। तमःप्रभाभूमौ मघवानामषष्ठनरके त्रिपटलस्थितपञ्चोनलक्षबिलेषु नारकाः सन्ति। महातमःप्रभाभूमौ सप्तमे नरके एकपटलस्थितपञ्चबिलेषु नारका भवन्ति। एवमेकोनपञ्चाशत्पटलस्थित ४९ चतुरशीतिलक्ष ८४००००० नरकबिलेषु पूर्वपापोदयकर्मपीडिताः पञ्चप्रकारदुःखाक्रान्ता नारका भवन्ति। रत्नप्रभादिपृथिवीनां प्रत्येकं घनोदधि-घनवाततनुवातत्रयमाधारभूतं भवतीति विज्ञेयम्। अच्छणं स्थानं गतम् ॥ १४६ ॥ अथ तेजस्कायिकादिजीवानां संख्यां गाथापञ्चकेनाह–

बादर[1]-पज्जत्ति-जुदा घण-आवलिया-असंख-भागा दु।
किंचूण[2]-लोय-मित्ता तेऊ-वाऊ जहा-कमसो ॥ १४७ ॥

[*छाया–बादरपर्याप्तियुताः घनावलिका–असंख्यभागाः तु। किंचिदूनलोकमात्राः तेजोवायवः यथाक्रमशः ॥*] *यथाक्रमशः अनुक्रमतः, तेऊ तेजस्कायिका जीवा बादराः स्थूलाः पर्याप्तियुक्ताः घनावलिकाऽसंख्यभागमात्रा द्रु।* तु पुनः, वायुकायिकाः प्राणिनः बादराः स्थूलाः पर्याप्ताः किंचिन्न्यूनलोकमात्राः। गोम्मटसारे च तन्मानमुक्तमाह।

उसके तीन भाग हैं। तीसरा अब्बहुल भाग अस्सी हजार योजन मोटा है। उसमें घर्मा नामका प्रथम नरक है। उस नरकमें तेरह पटल हैं, और तेरह पटलोंमें तीस लाख बिल हैं। उन बिलोंमें नारकी रहते हैं। उसके नीचे शर्कराप्रभा नामकी भूमिमें वंशा नामका दूसरा नरक है। उस नरकमें ग्यारह पटल हैं और उन पटलोंमें पच्चीस लाख बिल हैं। उन बिलोंमें नारकी रहते है। उसके नीचे वालुकाप्रभा नामकी पृथिवीमें मेघा नामका तीसरा नरक है। उसमें नौ पटल हैं। उन पटलोंमें पन्द्रह लाख बिल हैं। उन बिलोंमें नारकी रहते है। उसके नीचे पङ्कप्रभा नामकी भूमिमें अंजना नामका चौथा नरक है। उस नरकमें सात पटल हैं। उन पटलोंमें दस लाख बिले हैं। उन बिलोंमें नारकी रहते हैं। उसके नीचे धूमप्रभा नामकी पृथिवीमें अरिष्टा नामका पांचवा नरक है। उस नरकमें पांच पटल हैं। उन पटलोंमें तीन लाख बिल हैं। उन बिलोंमें नारकी रहते हैं। उसके नीचे तमःप्रभा नामकी पृथ्वीमें मघवी नामका छठा नरक है। उसमें तीन पटल हैं। उन पटलोंमें पांच कम एक लाख बिल हैं। उन बिलोंमें नारकी रहते हैं। उसके नीचे महातमःप्रभा नामकी पृथिवीमें माघवी नामका सातवां नरक है। उसमें एकही पटल है और उस एक पटलमें कुल पांच बिल हैं। उन बिलोंमें नारकी रहते हैं। इस तरह सातों नरकोंके ४९ पटलोंमें कुल चौरासी लाख बिल हैं। और इन बिलोंमें पूर्वजन्ममें उपार्जित पापकर्मसे पीड़ित और पांच प्रकारके दुःखोसे घिरे हुए नारकी निवास करते हैं। रत्नप्रभा आदि सातों पृथिवियोंमेंसे प्रत्येकके आधारभूत घनोदधि, घन और तनु ये तीन वातवलय हैं ॥ १४६ ॥ अब पांच गाथाओंसे तेजस्कायिक आदि जीवोंकी संख्या कहते हैं। **अर्थ**–बादर पर्याप्त तेजस्कायिक और वायुकायिक जीव क्रमसे घनावलीके असंख्यातवें भाग और कुछ कम लोक प्रमाण हैं ॥ **भावार्थ**–क्रमानुसार बादर पर्याप्त तेजस्कायिक जीव घनावलिके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। और बादर पर्याप्त वायुकायिक जीव कुछ कम लोक प्रमाण हैं। गोम्मटसारमें उनका प्रमाण इस प्रकार बतलाया है–'घनावलीके असंख्यातवें भाग प्रमाण तो बादर पर्याप्त तेजस्कायिक जीव हैं और लोक-

१ ब ग बादर। २ स ग किंचूणा।

" विंदावलिलोगाणमसंखं संखं च तेउवाऊणं । पज्जत्ताण पमाणं तेहिं विहीणा अपज्जता ॥" वृन्दावलेरसंख्यातभक्तैक-भागमात्राः बादरतेजस्कायिकपर्याप्तजीवा भवन्ति [symbol] । तथा लोकस्य संख्यातभक्तैकभागप्रमिताः बादरवायुकायिक-पर्याप्तजीवा भवन्ति [symbol] ॥ १४७ ॥

पुढवी-तोयं[1]-सरीरा पत्तेया वि य पइट्ठिया इयरा ।
होंति[2] असंखा सेढी पुण्णापुण्णा य तह य तसा ॥ १४८ ॥

[छाया- पृथ्वीतोयशरीराः प्रत्येकाः अपि च प्रतिष्ठिताः इतरे । भवन्ति असंख्यातश्रेणयः पूर्णापूर्णाः च तथा च त्रसाः ॥] पृथिवीकायिका जीवाः १, तोयकायिका जीवाः २, प्रत्येकाः प्रत्येकवनस्पतिकायिका जीवाः ३, अपि च प्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पतिकायिका जीवाः ४, इतरे अप्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पतिकायिकाः ५, एते सर्वेऽपि पूर्णापूर्णाश्च पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च १० । एते दश प्रकाराः प्रत्येकं असंख्यातश्रेणिमात्राः -a । तह य तसा तथा च त्रसाः पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च । एतेऽपि दशप्रकारा भवन्ति द्वित्रिचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिभेदात् । एतेऽपि असंख्यातश्रेणिमात्राः भवन्ति =/४/२/a । पज्जत्तकाय =/४/५ । अपज्जत्तकाय =/४/a-५ ॥ १४८ ॥

बादर[3]-लद्धि-अपुण्णा[4] असंख-लोया हवंति पत्तेया ।
तह य अपुण्णा सुहुमा पुण्णा वि य संख-गुण-गणिया ॥ १४९ ॥

राशिके संख्यातवें भाग प्रमाण बादर पर्याप्त वायुकायिक जीव हैं । और बादर तेजस्कायिक तथा बादर वायुकायिक जीवोंके प्रमाणमेंसे बादर पर्याप्त तेजस्कायिकोंका तथा बादर पर्याप्त वायुकायिक जीवोंका प्रमाण कम कर देनेसे जो शेष रहे उतना बादर अपर्याप्त तेजस्कायिक तथा बादर अपर्याप्त वायुकायिक जीवोंका प्रमाण होता है ॥' इस प्रकार घनावलीके असंख्यात भागोंमेंसे एक भाग प्रमाण बादर पर्याप्त तेजस्कायिक जीव होते हैं । और कुछ कम लोक प्रमाण (गोम्मटसारके मतसे लोकके संख्यात भागोंमेंसे एक भाग प्रमाण) बादर वायुकायिक पर्याप्त जीव होते हैं ॥ १४७ ॥ अब पृथिवी कायिक आदि जीवोंकी संख्या कहते हैं । **अर्थ**–पृथिवीकायिक, अप्कायिक, प्रत्येक वनस्पतिकायिक, प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित तथा त्रस, ये सब पर्याप्त और अपर्याप्त जीव जुदे जुदे असंख्यात जगत्-श्रेणिप्रमाण होते हैं ॥ **भावार्थ**–पृथिवीकायिक जीव, जलकायिक जीव, प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव, प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव, अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव ये सब पर्याप्त और अपर्याप्तके भेदसे दस हुए । इन दसों प्रकारके जीवोंमेंसे प्रत्येकका प्रमाण असंख्यात जगत्श्रेणि है । तथा त्रस भी दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय और संज्ञिपञ्चेन्द्रियके भेदसे पांच प्रकारके होते हैं । तथा ये पांचों पर्याप्त और अपर्याप्तके भेदसे दो प्रकारके होते हैं । ये दसों प्रकारके त्रस जीव भी असंख्यात जगतश्रेणि प्रमाण होते हैं ॥ १४८ ॥ **अर्थ**–प्रत्येक वनस्पतिकायिक बादर लब्ध्यपर्याप्तक जीव असंख्यात लोक प्रमाण हैं । सूक्ष्म अपर्याप्तक जीव भी असंख्यात लोक प्रमाण हैं और सूक्ष्मपर्याप्तक जीव संख्यातगुने हैं । **भावार्थ**–प्रत्येक वनस्पति कायिक बादर लब्ध्यपर्याप्तक जीव असंख्यात लोक प्रमाण हैं । सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्तक जीव भी यद्यपि असंख्यात लोक प्रमाण हैं । किन्तु उनसे संख्यातगुने हैं । तथा सूक्ष्म पर्याप्त जीव उनसेभी संख्यातगुने हैं ॥ [यहां जो संख्या बतलाई

१ ग पुढवीयतोय । २ ब हुंति । ३ ब बायर । ४ म स ग लद्धियपुण्णा ।

[छाया-बादरलब्ध्यपूर्णाः असंख्यलोकाः भवन्ति प्रत्येकाः । तथा च अपूर्णाः सूक्ष्माः पूर्णाः अपि च संख्यगुणगणिताः ॥] पत्तेया प्रत्येकवनस्पतिकायिकाः बादरलब्ध्यपर्याप्तकाः असंख्यातलोकमात्राः ≡ a भवन्ति । तह य तथा च सुहुमा सूक्ष्माः अपुण्णा लब्ध्यपर्याप्तकाः संख्यातगुणितक्रमाः स्युः । अपि पुनः, सूक्ष्माः पर्याप्ताः संख्यातगुणाकारगुणितक्रमा भवन्ति ॥ १४९ ॥

सिद्धा संति अणंता सिद्धाहिंतो[1] अणंत-गुण-गुणिया ।
होंति णिगोदा जीवा भागमणंतं अभव्वा य ॥ १५० ॥

[छाया-सिद्धाः सन्ति अनन्ताः सिद्धेभ्यः अनन्तगुणगुणिताः । भवन्ति निगोदाः जीवाः भागमनन्तं अभव्याः च ॥] सिद्धाः सिद्धपरमेष्ठिनः कर्मकलङ्कविमुक्तजीवाः अनन्ता द्विकवारानन्तसंख्योपेताः सन्ति भवन्ति । सिद्धाहिंतो सिद्धेभ्यः सिद्धराशेः निगोदा जीवाः, नि नियतां गां भूमिं क्षेत्रं ददातीति अनन्तानन्तजीवानाम् इति निगोदाः साधारणजन्तवोऽनन्तगुणकारगुणिताः १३ = भवन्ति । च पुनः, अभव्या जीवाः सिद्धानन्तैकभागमात्रा जघन्ययुक्तानन्तमात्रा भवन्ति ॥ १५० ॥

सम्मुच्छिमा[2] हु मणुया सेढियसंखिज्ज[3]-भाग-मित्ता हु ।
गब्भज-मणुया सव्वे संखिज्जा होंति णियमेण ॥ १५१ ॥[4]

है उसमें और गोम्मटसारमें बतलाई हुई संख्यामें अन्तर है। तथा इस गाथामें जो 'पत्तेया' शब्द है उसका अर्थ टीकाकारने प्रत्येक वनस्पतिकायिक किया है। किन्तु मुझे यह अर्थ ठीक प्रतीत नहीं होता। क्यों कि यदि ऐसा अर्थ किया जाये तो प्रथम तो चूंकि प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव सब बादर ही होते हैं। अतः प्रत्येक वनस्पति बादर लब्ध्यपर्याप्तक कहना उचित नहीं जंचता। दूसरे, शेष पृथिवीकायिक आदि बादर लब्ध्य पर्याप्तकोंकी संख्या बतलानेसे रह जाती है। अतः 'पत्तेया'का अर्थ यदि प्रत्येक मात्र किया जाये तो अर्थकी संगति ठीक बैठती है। अर्थात् प्रत्येक पृथिवीकायिक आदि बादर लब्ध्यपर्याप्तकोंका प्रमाण असंख्यात लोक है। ऐसा अर्थ करनेसे बादर लब्ध्यपर्याप्तकोंका प्रमाण बतलाकर फिर सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्तकोंका प्रमाण बतलाना और फिर सूक्ष्म पर्याप्तकोंका प्रमाण बतलाना ठीक और संगत प्रतीत होता है। अनु०] ॥ १४९ ॥ **अर्थ**–सिद्ध जीव अनन्त हैं। सिद्धोंसे अनन्तगुने निगोदिया जीव हैं। और सिद्धोंके अनन्तवें भाग अभव्य जीव हैं ॥ **भावार्थ**–कर्मकलङ्कसे रहित सिद्धपरमेष्ठी जीव अनन्तानन्त हैं। जो एक सीमित स्थानमें अनन्तानन्त जीवोंको स्थान देते हैं उन्हें निगोदिया अथवा साधारणवनस्पतिकायिक जीव कहते हैं। सिद्ध जीवोंकी राशिसे अनन्तगुने निगोदिया जीव हैं। तथा सिद्ध राशिके अनन्तवें भाग अभव्य जीव हैं, जो जघन्य युक्तानन्त प्रमाण होते हैं। सारांश यह है कि अनन्तके तीन भेद हैं परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त। इनमेंसे भी प्रत्येकके जघन्य मध्यम और उत्कृष्टकी अपेक्षासे तीन तीन भेद हैं। सो सिद्ध जीव तो अनन्तानन्त हैं, क्योंकि अनादिकालसे जीव मोक्ष जारहे हैं। निगोदिया जीव सिद्धोंसे भी अनन्तगुने हैं, क्योंकि एक एक निगोदिया शरीरमें अनन्त निगोदिया जीव रहते हैं। तथा अभव्य जीव, जो कभी मोक्ष नहीं जा सकेंगे, जघन्य युक्तानन्त प्रमाण हैं। यह राशि सिद्ध राशिको देखते हुए उसके अनन्तवें भाग मात्र है ॥ १५० ॥ **अर्थ**–सम्मूर्छन मनुष्य जगत्श्रेणिके

---

१ म सिद्धेहिंतो। २ ब सम्मुच्छिमा, ल म स सम्मुच्छिमा, ग सम्मुच्छिया। ३ ब सेढिअसं०। ४ ब संखा छ। देवा वि इत्यादि।

[छाया-संमूर्छनाः खलु मनुजाः श्रेण्यसंख्यातभागमात्राः खलु । गर्भजमनुजाः सर्वे संख्याताः भवन्ति नियमेन ॥] सन्मूर्च्छना मनुष्या लब्ध्यपर्याप्तका एव । सेढियसंखिज्जभागमित्ता श्रेणेरसंख्यातैकभागमात्राः ते भवन्ति । नियमतः सर्वे गर्भजमनुष्याः संख्यातमात्राः स्युः ७ । तथा गोम्मटसारे मनुष्यगतिजीवसंख्यां गाथात्रयेणोक्तं च । "सेढी सूई-अंगुलआदिमतदियपदभाजिदेगूणा । सामण्णमणुसरासी पंचमकदिघणसमा पुण्णा ॥" जगच्छ्रेणि सूच्यङ्गुलस्य प्रथम-मूलतृतीयमूलाभ्यां भक्त्वा तल्लब्धे एकरूपेऽपनीते स राशिः सामान्यमनुष्यराशिः स्यात् । $\frac{-}{1|3}$ । द्विरूपवर्गधारासंबन्धि-पञ्चमवर्गस्य बादालसंज्ञस्य घनप्रमाणाः पर्याप्तमनुष्या भवन्ति । ४२ = । ४२ = । ४२ = । अस्मिन् राशौ परस्परं गुणिते यल्लब्धं तं राशिमक्षरसंज्ञयाङ्कक्रमेण कथयति । "तललीनमधुगविमलं धूमसिलागाविचोरभयमेरू । तटहरिखझसा होंति हु माणुसपज्जत्तसंखंका ॥" सप्तचतुर्वारकोटिद्वानवतिलक्षाष्टाविंशतिसहस्रैकशतद्वाषष्टित्रिवारकोट्येकपञ्चाशल्लक्षद्वा-चत्वारिंशत्सहस्रषट्शतत्रिचत्वारिंशद्द्विवारकोटिसप्तत्रिंशल्लक्षैकोनषष्टिसहस्रत्रिशतचतुःपञ्चाशत्कोट्येकान्नचत्वारिंशल्लक्षपं-चाशत्सहस्रत्रिशतषट्त्रिंशत्प्रमिता पर्याप्तमनुष्याणां संख्या भवति । ७,९२२८१६२,५१४२६४३,३७५९३५४,-३९५०३३६ । 'पज्जत्तमणुस्साणं तिचउत्थो माणुसीण परिमाणं । सामण्णा पुण्णूणा मणुव अपज्जत्तगा होंति ॥' पर्याप्त-मनुष्यराशेः त्रिचतुर्भागो मानुषीणां द्रव्यस्त्रीणां परिमाणं भवति । ४२ = ४२ = ४२ = $\frac{3}{4}$ । सामान्यमनुष्यराशौ पर्याप्त-मनुष्यराशावपनीते अपर्याप्तमनुष्यप्रमाणं भवति $\frac{-}{1|3}$ - ७ । इति संख्या गता । १५१ ॥ अथ सान्तरमार्गणामाह-

---

असंख्यातवें भाग मात्र हैं । और गर्भज मनुष्य नियमसे संख्यात ही हैं ॥ **भावार्थ**-सम्मूर्छन मनुष्य लब्ध्य-पर्याप्तक ही होते हैं । उनका प्रमाण श्रेणिके असंख्यातवें भाग मात्र है । तथा सब गर्भज मनुष्य नियमसे संख्यात ही होते हैं । गोम्मटसारमें भी तीन गाथाओंके द्वारा मनुष्य गतिमें जीवोंकी संख्या इस प्रकार बतलाई है-सूच्यंगुलके प्रथम वर्गमूल और तृतीय वर्गमूलसे जगत् श्रेणिमें भाग दो । जो लब्ध आवे उसमें एक कमकर लो । उतना तो सामान्य मनुष्यराशिका प्रमाण है । तथा द्विरूप वर्गधारा सम्बन्धी पाचवें वर्गका, जिसे बादाल कहते हैं, घन प्रमाण पर्याप्त मनुष्योंका प्रमाण है । आशय यह है कि दोसे लेकर जो वर्गकी धारा चलती है उसे द्विरूपवर्गधारा कहते हैं । जैसे २ × २ = ४ यह प्रथम वर्ग है । ४ × ४ = १६ यह दूसरा वर्ग है । १६ × १६ = २५६ यह तीसरा वर्ग है । २५६ × २५६ = ६५५३६ यह चौथा वर्ग है । ६५५३६ × ६५५३६ = ४२९४९६७२९६ यह पांचवा वर्ग है । इसके शुरुके ४२ के अंकके ऊपरसे इस संख्याका संक्षिप्त नाम बादाल है । इस बादालको तीन वार परस्परमें गुणा करनेसे (४२९४९६७२९६ × ४२९४९६७२९६ × ४२९४९६७२९६) जो राशि पैदा होती है गोम्मटसारमें अक्षरोंके संकेतके द्वारा एक गाथामें उस राशिको इसप्रकार बतलाया है 'तललीनमधुगविमलं धूमसिलागाविचोरभयमेरू । तटहरिखझसा होंति हु माणुसपज्जत्तसंखंका ।' ॥ २ ॥ इसका अर्थ समझनेके लिये अक्षरोंके द्वारा अंकोंको कहनेकी विधि समझ लेनी चाहिये जो इस प्रकार है-ककारसे लेकर झकार तकके नौ अक्षरोंसे एक से लेकर नौ तकके अंक लेना चाहिये । इसी तरह टकारसे लेकर धकार तकके नौ अक्षरोंसे एक, दो, तीन आदि अंक लेना चाहिये । इसी तरह पकारसे लेकर मकार तकके अक्षरोंसे एक दो आदि पांच अंक तक लेना चाहिये । इसी तरह यकारसे लेकर हकार तकके आठ अक्षरोंसे क्रमशः एकसे लेकर आठ अंक तक लेना चाहिये । जहां कोई स्वर हो, या ञकार हो अथवा नकार लिखा हो तो वहाँ शून्य लेना । सो यहाँ इस विधिसे अक्षरोंके द्वारा अंक कहे हैं । उन अंकोंको बाई ओरसे लिखनेसे वे इस प्रकार होते हैं-७,९२२८१६२,५१४२६४३,३७५-९३५४,३९५०३३६ । सो सात कोड़ाकोड़ी कोड़ाकोड़ी, बानवे लाख अठाईस हजार एकसौ बासठ

देवा वि णारया वि य लद्धियपुण्णा हु संतरा[1] होंति ।
सम्मुच्छिया[2] वि मणुया सेसा सव्वे णिरंतरया ॥ १५२[3] ॥

[छाया–देवाः अपि नारकाः अपि च लब्ध्यपूर्णाः खलु सान्तराः भवन्ति । सम्मूर्च्छिनाः अपि मनुजाः शेषाः सर्वे निरन्तरकाः ॥] देवा वि य देवाः, अपि पुनः, नारकाः अपि च, अपिशब्दात् देवानां नारकाणां च उत्पत्तिमरणान्तरं लभ्यते। चतुर्णिकायदेवानां सप्तनरके नारकाणां च गोम्मटसारादौ अन्तरप्रतिपादनात्। हु स्फुटम्। लब्ध्यपर्याप्ताः सन्मूर्च्छनमनुष्याः पल्यासंख्यभागमात्रान्तरमुत्कृष्टेन, शेषाः एकेन्द्रियादयः सर्वे निरन्तराः अन्तररहिताः। तथा गोम्मटसारे गाथात्रयेण प्रोक्तं च । "उवसमसुहुमाहारे वेगुव्वियमिस्सणरअपज्जत्ते । सासणसम्मे मिस्से सांतरगा मग्गणा अट्ठ ॥ सत्तदिणा छम्मासा वासपुधत्तं च बारस मुहुत्ता । पल्लासंखं तिण्हं वरमवरं एकसमओ दु ॥" लोके नानाजीवापेक्षया विवक्षितगुणस्थानं मार्गणास्थानं वा त्यक्त्वा गुणान्तरे मार्गणास्थानान्तरे वा गत्वा पुनर्यावत्तद्विवक्षितगुणस्थानं मार्गणास्थानं वा नायाति तावान् कालः अन्तरं नाम । तत्रोत्कृष्टेनौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां सप्तदिनानि ७ । तदनन्तरं कश्चित् स्यादेवेत्यर्थः । सूक्ष्मसांपरायसंयमिनां षण्मासाः ६ । आहारकतन्मिश्रकाययोगिनां वर्षपृथक्त्वं ४ । त्रितयादुपरि नवकादधः पृथक्त्वमित्यागमसंज्ञा । वैक्रियिकमिश्रकाययोगिनां द्वादशमुहूर्ताः । लब्ध्यपर्याप्तकमनुष्याणां सासादनसम्यग्दृष्टीनां सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां च प्रत्येकं पल्यासंख्यातैकभागमात्रम् । उप० दि० ७ । सूक्ष्मसांप० मास ६ । वैक्रियिक मिश्र मुहु० १२ । णर अ० प/a । सासादन प/a । मिश्र प/a । एवं सान्तरमार्गणा अष्टौ तासां जघन्येनान्तरमेकसमय एव ज्ञातव्यः । "पढमुवसमसहिदाए विरदाविरदीए चोद्दसा दिवसा । विरदीए पण्णरसा विरहिदकालो दु बोद्धव्वो ॥" विरहकालः उत्कृष्टेनान्तरं प्रथमोपशमसम्यक्त्वसहितायाः विरताविरतेः अणुव्रतस्य चतुर्दश दिनानि १४ । तत्प्रथमोपशमसम्यक्त्वसहितविरतेर्महाव्रतस्य पञ्चदश दिनानि १५ । तु पुनः, द्वितीयसिद्धान्तापेक्षया चतुर्विंशतिदिनानि २४ । इदम् उपलक्षणम् इत्येकजीवापेक्षयाप्युक्तमार्गणानामन्तरं प्रवचनानुसारेण बोद्धव्यम् ॥ अन्तरं गतम् ॥ १५२ ॥

मणुयादो णेरइया णेरइयादो असंख-गुण-गुणियाँ[4] ।
सव्वे हवंति देवा पत्तेय-वणप्फदी[5] तत्तो ॥ १५३ ॥

कोड़ाकोड़ाकोड़ी, इक्यावन लाख बयालीस हजार छसौ तेतालीस कोड़ाकोड़ी सैंतीस लाख उनसठ हजार तीन सौ चौवन कोड़ी, उनतालीस लाख पचास हजार तीन सौ छत्तीस, इतनी पर्याप्त मनुष्योंकी संख्या जाननी चाहिये । तथा पर्याप्त मनुष्योंकी इस संख्याके चार भाग करो । उसमेंसे तीन भाग प्रमाण मनुष्यिणी हैं। और सामान्य मनुष्य राशिमेंसे पर्याप्त मनुष्योंकी संख्याको घटानेसे जो शेष रहे उतना अपर्याप्त मनुष्योंका प्रमाण है । इस प्रकार गोम्मटसारमें भी मनुष्योंका प्रमाण कहा है ॥ संख्याका वर्णन समाप्त हुआ ॥ १५१ ॥ अब सान्तरमार्गणा बतलाते हैं । **अर्थ**–देव नारकी, और लब्ध्यपर्याप्तक सम्मूर्छन मनुष्य, ये तो सान्तर अर्थात् अन्तर सहित है । और बाकीके सब जीव निरन्तर हैं ॥ **भावार्थ**–देवों और नारकियोंमें जन्म और मरणका अन्तरकाल पाया जाता है, क्यों कि गोम्मटसार वगैरह ग्रन्थोंमें चार प्रकारके देवोंका और सातवें नरकमें नारकियोंका अन्तर काल कहा है । सम्मूर्छन जन्मवाले लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्योंका उत्कृष्ट अन्तर पल्यके असंख्यातवे भाग है । बाकीके एकेन्द्रिय आदि सब जीव अन्तर रहित हैं, वे सदा पाये जाते हैं । गोम्मटसारमें तीन गाथाओंके द्वारा सान्तर मार्गणाओंका कथन किया है । यह कथन नाना जीवोंकी अपेक्षासे है । विवक्षित गुणस्थान अथवा मार्गणास्थानको छोड़कर अन्य किसी गुणस्थान अथवा मार्गणास्थानको चला जाये और उस

१ ल म स ग सांतरा । २ ब ग सम्मुच्छिया । ३ ब अंतरं ॥ मणुयादो इत्यादि । ४ स गुणिदा । ५ ग वणप्पदी ।

[छाया-मनुजात् नैरयिकाः नैरयिकात् असंख्यगुणगुणिताः । सर्वे भवन्ति देवाः प्रत्येकवनस्पतयः ततः ॥] मणुयादो सामान्यमनुष्यराशितः सूच्यङ्गुलप्रथमतृतीयमूलभक्तैकश्रेणिमात्रात् $\frac{-}{१}$।$\frac{-}{३}$ । णेरइया नारकाः असंख्यातगुणाः घनाङ्गुलद्वितीयमूलजगच्छ्रेणिमात्रा -२ मू । ततो नारकराशितः सर्वदेवा असंख्यातगुणाः $\frac{=}{४}$।६५=, ॥ /१/७/१ ततः असंख्यातगुणाः ≡a ॥ १५३ ॥

पंचक्खा चउरक्खा लद्धियपुण्णा[1] तहेव तेयक्खा ।
वेयक्खा वि य कमसो विसेस-सहिदा[2] हु सव्व-संखाए[3] ॥ १५४ ॥

[छाया-पञ्चाक्षाः चतुरक्षाः लब्ध्यपूर्णाः तथैव त्र्यक्षाः । द्व्यक्षाः अपि च क्रमशः विशेषसहिताः खलु सर्व्वसंख्यया ॥] पंचक्खा लब्ध्यपर्याप्ताः पञ्चेन्द्रियास्तिर्यञ्चः संख्यातघनांगुलभक्तजगत्प्रतरमात्राः $\frac{=}{४}$। ततः चतुरिन्द्रिया लब्ध्यपर्याप्ता विशेषेणाधिकाः । तहेव तथैव त्रीन्द्रिया लब्ध्यपर्याप्ता विशेषाधिकाः । ततः वेयक्खा द्वीन्द्रिया लब्ध्यपर्याप्ताः विशेषाधिकाः क्रमशः क्रमेण सर्वसंख्यया ॥ १५४ ॥

विवक्षित गुणस्थान या मार्गणास्थानको जब तक प्राप्त न हो उतने कालको अन्तर काल कहते हैं । सो नाना जीवोंकी अपेक्षा उपशम सम्यग्दृष्टि जीवोंका अन्तरकाल सात दिन है । अर्थात् तीनों लोकोंमें कोई जीव उपशम सम्यक्त्वी न हो तो अधिकसे अधिक सात दिन तक नहीं होगा, उसके बाद कोई अवश्य उपशम सम्यक्त्वी होगा । इसी तरह सबका अन्तर समझना चाहिये । सूक्ष्म साम्पराय संयमका अन्तरकाल छै महिना है । छै महिनेके बाद कोई न कोई जीव सूक्ष्म साम्पराय संयमी अवश्य होगा । आहारक और आहारक मिश्रकाययोगका उत्कृष्ट अन्तर वर्षपृथक्त्व है । तीन से ऊपर और नौसे नीचेकी संख्याको पृथक्त्व कहते हैं । सो इन दोनोंका अन्तर तीन वर्षसे अधिक और नौ वर्षसे कम है । इतने कालके बाद कोई आहारककाययोगी अवश्य होगा । वैक्रियिक मिश्र काययोगका उत्कृष्ट अन्तर बारह मुहूर्त है । बारह मुहूर्तके बाद देवों और नारकियोंमें कोई जीव अवश्य जन्म लेगा । तथा लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य, सासादन गुणस्थानवर्ती और मिश्र गुणस्थानवर्ती जीव, इन तीनोंमेंसे प्रत्येकका अन्तर पल्यके असंख्यातवें भाग है । यह आठ सान्तर मार्गणा हैं । इनका जघन्य अन्तर एक समय है ॥ तथा प्रथमोपशमसम्यक्त्व सहित पंचमगुणस्थानवर्ती जीवका अन्तर काल चौदह दिन है । और प्रथमोपशम सम्यक्त्व सहित महाव्रतीका अन्तरकाल पन्द्रह दिन है । और दूसरे सिद्धान्तकी अपेक्षा चौवीस दिन है । इस तरह नाना जीवोंकी अपेक्षा यह अन्तर कहा है । इन मार्गणाओंका एक जीवकी अपेक्षा अन्तर अन्य ग्रन्थोंसे जानलेना चाहिये । अन्तरका कथन समाप्त हुआ ॥ १५२ ॥ अब जीवोंकी संख्याको लेकर अल्पबहुत्व कहते हैं । **अर्थ**–मनुष्योंसे नारकी असंख्यातगुने हैं । नारकियोंसे सब देव असंख्यात गुने हैं । देवोंसे प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव असंख्यात गुने हैं ॥ **भावार्थ**–सूच्यंगुलके प्रथम और तृतीय वर्गमूलसे भाजित जगतश्रेणि प्रमाण तो सामान्य मनुष्यराशि है । सामान्य मनुष्यराशिसे असंख्यात गुने नारकी हैं । नारकियोंकी राशिसे सब देव असंख्यात गुने हैं और सब देवोंसे प्रत्येक वनस्पति जीव असंख्यात गुने हैं ॥ १५३ ॥ **अर्थ**–पञ्चेन्द्रिय, चौइन्द्रिय, तेइन्द्रिय और दोइन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक जीव संख्याकी अपेक्षा क्रमसे विशेष अधिक हैं ॥ **भावार्थ**–लब्ध्यपर्याप्तक पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च संख्यात घनांगुलसे भाजित जगत

१ ब लद्धिअपुण्णा तहेय । २ ब विसेसिसहदा, ग विसेसहिदा । ३ स संक्खाय, म सव्वजए ।

देवा वि णारया वि य लद्धियपुण्णा हु संतरा[1] होंति ।
सम्मुच्छिया[2] वि मणुया सेसा सव्वे णिरंतरया ॥ १५२[3] ॥

[छाया–देवाः अपि नारकाः अपि च लब्ध्यपूर्णाः खलु सान्तराः भवन्ति । सम्मूर्छिनाः अपि मनुजाः शेषाः सर्वे निरन्तरकाः ॥] देवा वि य देवाः, अपि पुनः, नारकाः अपि च, अपिशब्दात् देवानां नारकाणां च उत्पत्तिमरणान्तरं लभ्यते। चतुर्णिकायदेवाना सप्तनरके नारकाणां च गोम्मटसारादौ अन्तरप्रतिपादनात्। हु स्फुटम्। लब्ध्यपर्याप्ताः सन्मूर्च्छनमनुष्याः पल्यासंख्यभागमात्रान्तरमुत्कृष्टेन, शेषाः एकेन्द्रियादयः सर्वे निरन्तराः अन्तररहिताः। तथा गोम्मटसारे गाथत्रयेण प्रोक्त च । "उवसमसुहुमाहारे वेगुव्वियमिस्सणरअपज्जते । सासणसम्मे मिस्से सांतरगा मग्गणा अट्ठ ॥ सत्तदिणा छम्मासा वासपुधत्तं च बारस मुहुत्ता । पल्लासंखं तिण्हं वरमवरं एकसमओ दु ॥" लोके नानाजीवापेक्षया विवक्षितगुणस्थानं मार्गणास्थानं वा त्यक्त्वा गुणान्तरे मार्गणास्थानान्तरे वा गत्वा पुनर्यावत्तद्विवक्षितगुणस्थानं मार्गणास्थानं वा नायाति तावान् कालः अन्तरं नाम । तच्चोत्कृष्टेनौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां सप्तदिनानि ७ । तदनन्तरं कश्चित् स्यादेवेत्यर्थः । सूक्ष्मसांपरायसंयमिनां षण्मासाः ६ । आहारकतन्मिश्रकाययोगिनां वर्षपृथक्त्वं ४। त्रितयादुपरि नवकादधः पृथक्त्वमित्यागमसंज्ञा । वैक्रियिकमिश्रकाययोगिनां द्वादशमुहूर्ताः । लब्ध्यपर्याप्तकमनुष्याणां सासादनसम्यग्दृष्टीनां सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां च प्रत्येकं पल्यासंख्यातैकभागमात्रम् । उप० दि० ७ । सूक्ष्मसांप० मास ६ । वैक्रियिक मिश्र मुहु० १२ । णर अ० प/a । सासादन प/a । मिश्र प/a । एवं सान्तरमार्गणा अष्टौ तासां जघन्येनान्तरमेकसमय एव ज्ञातव्यः । "पढमुवसमसहिदाए विरदाविरदीए चोद्दसा दिवसा । विरदीए पण्णरसा विरहिदकालो दु बोद्धव्वो ॥" विरहकालः उत्कृष्टेनान्तरं प्रथमोपशमसम्यक्त्वसहितायाः विरताविरतेः अणुव्रतस्य चतुर्दश दिनानि १४। तत्प्रथमोपशमसम्यक्त्वसहितविरतेर्महाव्रतस्य पञ्चदश दिनानि १५ । तु पुनः, द्वितीयसिद्धान्तापेक्षया चतुर्विंशतिदिनानि २४ । इदम् उपलक्षणम् इत्येकजीवापेक्षयाप्युक्तमार्गणानामन्तरं प्रवचनानुसारेण बोद्धव्यम् ॥ अन्तरं गतम् ॥ १५२ ॥

मणुयादो णेरइया णेरइयादो असंख-गुण-गुणिया[4] ।
सव्वे हवंति देवा पत्तेय-वणप्फदी[5] तत्तो ॥ १५३ ॥

कोड़ाकोड़ाकोड़ी, इक्यावन लाख बयालीस हजार छसौ तेतालीस कोड़ाकोड़ी सैंतीस लाख उनसठ हजार तीन सौ चौवन कोड़ी, उनतालीस लाख पचास हजार तीन सौ छत्तीस, इतनी पर्याप्त मनुष्योंकी संख्या जाननी चाहिये । तथा पर्याप्त मनुष्योंकी इस संख्याके चार भाग करो । उसमेंसे तीन भाग प्रमाण मनुष्यिणी हैं। और सामान्य मनुष्य राशिमेंसे पर्याप्त मनुष्योंकी संख्याको घटानेसे जो शेष रहे उतना अपर्याप्त मनुष्योंका प्रमाण है । इस प्रकार गोम्मटसारमें भी मनुष्योंका प्रमाण कहा है ॥ संख्याका वर्णन समाप्त हुआ ॥ १५१ ॥ अब सान्तरमार्गणा बतलाते हैं । **अर्थ–**देव नारकी, और लब्ध्यपर्याप्तक सम्मूर्छन मनुष्य, ये तो सान्तर अर्थात् अन्तर सहित हैं । और बाकीके सब जीव निरन्तर हैं॥ **भावार्थ–**देवों और नारकियोंमें जन्म और मरणका अन्तरकाल पाया जाता है, क्यों कि गोम्मटसार वगैरह ग्रन्थोंमें चार प्रकारके देवोंका और सातवें नरकमें नारकियोंका अन्तर काल कहा है । सम्मूर्छन जन्मवाले लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्योंका उत्कृष्ट अन्तर पल्यके असंख्यातवें भाग है । बाकीके एकेन्द्रिय आदि सब जीव अन्तर रहित हैं, वे सदा पाये जाते हैं । गोम्मटसारमें तीन गाथाओंके द्वारा सान्तर मार्गणाओंका कथन किया है । यह कथन नाना जीवोंकी अपेक्षासे है । विवक्षित गुणस्थान अथवा मार्गणास्थानको छोड़कर अन्य किसी गुणस्थान अथवा मार्गणास्थानको चला जाये और उस

---

१ ल म स ग सांतरा । २ ब ग समुच्छिया । ३ ब अंतर ॥ मणुयादो इत्यादि । ४ स गुणिदा । ५ ग वणप्पदी ।

[छाया-मनुजात् नैरयिकाः नैरयिकात् असंख्यगुणगुणिताः । सर्वे भवन्ति देवाः प्रत्येकवनस्पतयः ततः ॥] मणुयादो सामान्यमनुष्यराशितः सूच्यङ्गुलप्रथमतृतीयमूलभक्तैकश्रेणिमात्रात् ३।३ । णेरइया नारकाः असंख्यातगुणाः घनाङ्गुलद्वितीयमूलजगच्छ्रेणिमात्रा -२ मू । ततो नारकराशितः सर्वदेवा असंख्यातगुणाः =।६५=, ॥ /१/७/१ ततः असंख्यातगुणाः ≡a ॥ १५३ ॥

पंचक्खा चउरक्खा लद्धियपुण्णा[1] तहेव तेयक्खा ।
वेयक्खा वि य कमसो विसेस-सहिदा[2] हु सव्व-संखाए[3] ॥ १५४ ॥

[छाया-पञ्चाक्षाः चतुरक्षाः लब्ध्यपूर्णाः तथैव त्र्यक्षाः । द्व्यक्षाः अपि च क्रमशः विशेषसहिताः खलु सर्वसंख्यया ॥] पंचक्खा लब्ध्यपर्याप्ताः पञ्चेन्द्रियास्तिर्यञ्चः संख्यातघनांगुलभक्तजगत्प्रतरमात्राः =४। ततः चतुरिन्द्रिया लब्ध्यपर्याप्ता विशेषेणाधिकाः । तहेव तथैव त्रीन्द्रिया लब्ध्यपर्याप्ता विशेषाधिकाः । ततः वेयक्खा द्वीन्द्रिया लब्ध्यपर्याप्ताः विशेषाधिकाः क्रमशः क्रमेण सर्वसंख्यया ॥ १५४ ॥

विवक्षित गुणस्थान या मार्गणास्थानको जब तक प्राप्त न हो उतने कालको अन्तर काल कहते हैं । सो नाना जीवोंकी अपेक्षा उपशम सम्यग्दृष्टि जीवोका अन्तरकाल सात दिन है । अर्थात् तीनों लोकोमें कोई जीव उपशम सम्यक्त्वी न हो तो अधिकसे अधिक सात दिन तक नहीं होगा, उसके बाद कोई अवश्य उपशम सम्यक्त्वी होगा । इसी तरह सबका अन्तर समझना चाहिये । सूक्ष्म साम्पराय संयमका अन्तरकाल छै महिना है । छै महिनेके बाद कोई न कोई जीव सूक्ष्म साम्पराय संयमी अवश्य होगा । आहारक और आहारक मिश्रकाययोगका उत्कृष्ट अन्तर वर्षपृथक्त्व है । तीन से ऊपर और नौसे नीचेकी संख्याको पृथक्त्व कहते हैं । सो इन दोनोंका अन्तर तीन वर्षसे अधिक और नौ वर्षसे कम है । इतने कालके बाद कोई आहारककाययोगी अवश्य होगा । वैक्रियिक मिश्र काययोगका उत्कृष्ट अन्तर बारह मुहूर्त है । बारह मुहूर्तके बाद देवों और नारकियोंमें कोई जीव अवश्य जन्म लेगा । तथा लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य, सासादन गुणस्थानवर्ती और मिश्र गुणस्थानवर्ती जीव, इन तीनोंमेंसे प्रत्येकका अन्तर पल्यके असंख्यातवें भाग है । यह आठ सान्तर मार्गणा हैं । इनका जघन्य अन्तर एक समय है ॥ तथा प्रथमोपशमसम्यक्त्व सहित पंचमगुणस्थानवर्ती जीवका अन्तर काल चौदह दिन है । और प्रथमोपशम सम्यक्त्व सहित महाव्रतीका अन्तरकाल पन्द्रह दिन है । और दूसरे सिद्धान्तकी अपेक्षा चौबीस दिन है । इस तरह नाना जीवोंकी अपेक्षा यह अन्तर कहा है । इन मार्गणाओंका एक जीवकी अपेक्षा अन्तर अन्य ग्रन्थोंसे जानलेना चाहिये । अन्तरका कथन समाप्त हुआ ॥ १५२ ॥ अब जीवोंकी संख्याको लेकर अल्पबहुत्व कहते हैं । **अर्थ**–मनुष्योंसे नारकी असंख्यातगुने हैं । नारकियोंसे सब देव असंख्यात गुने हैं । देवोंसे प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव असंख्यात गुने हैं ॥ **भावार्थ**–सूच्यंगुलके प्रथम और तृतीय वर्गमूलसे भाजित जगतश्रेणि प्रमाण तो सामान्य मनुष्यराशि है । सामान्य मनुष्यराशिसे असंख्यात गुने नारकी हैं । नारकियोंकी राशिसे सब देव असंख्यात गुने हैं और सब देवोंसे प्रत्येक वनस्पति जीव असंख्यात गुने हैं ॥ १५३ ॥ **अर्थ**–पञ्चेन्द्रिय, चौइन्द्रिय, तेइन्द्रिय और दोइन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक जीव संख्याकी अपेक्षा क्रमसे विशेष अधिक हैं ॥ **भावार्थ**–लब्ध्यपर्याप्तक पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च संख्यात घनांगुलसे भाजित जगत

१ ब लद्धिअपुण्णा तहेय । २ ब विसेसिसहदा, ग विसेसहिदा । ३ स संक्खाय, म सव्वजए ।

चउरक्खा पंचक्खा वेयक्खा तह य जाण[1] तेयक्खा ।
एदे पज्जत्ति-जुदा अहिया अहिया कमेणेव ॥ १५५ ॥

[छाया-चतुरक्षाः पञ्चाक्षाः द्व्यक्षाः तथा च जानीहि त्र्यक्षाः । एते पर्याप्तियुताः अधिकाः अधिकाः क्रमेण एव ॥] एते चतुरिन्द्रियादयः पर्याप्तियुक्ताः क्रमेण अधिका अधिका भवन्ति । चतुरिन्द्रियपर्याप्तेभ्यः पञ्चेन्द्रियपर्याप्ताः अधिकाः स्युः । तथा च ततः पञ्चेन्द्रियपर्याप्तेभ्यः द्वीन्द्रियाः पर्याप्ताः अधिकाः । ततः द्वीन्द्रियपर्याप्तेभ्यः त्रीन्द्रियाः पर्याप्ता अधिका भवन्ति । एते चतुरिन्द्रियादयः पर्याप्तियुक्ताः पर्याप्तकाः क्रमेण अधिकाधिका विशेषाधिका भवन्ति ॥ १५५ ॥

परिवज्जिय सुहुमाणं सेस-तिरिक्खाणं[2] पुण्ण-देहाणं ।
इक्को भागो होदि हु संखातीदा अपुण्णाणं ॥ १५६ ॥

[छाया-परिवर्ज्य सूक्ष्माणां शेषतिरश्चां पूर्णदेहानाम् । एकः भागः भवति खलु संख्यातीताः अपूर्णानाम् ॥] सुहुमाणं सूक्ष्माणां, परिवज्जिय वर्जयित्वा, सूक्ष्मान् जीवान् पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायिकान् वर्जयित्वा इत्यर्थः । पुण्णदेहाणं पर्याप्तानां शेषतिरश्चां पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायिकानां बादराणाम् एको भागः संख्या भवति । हु इति स्फुटम् । अपुण्णाणं लब्ध्यपर्याप्तानां तिरश्चां संखातीदा असंख्यातलोकबहुभागा भवन्ति ॥ १५६ ॥

सुहुमापज्जत्ताणं इक्को[3] भागो हवेदि णियमेण ।
संखिज्जा[4] खलु भागा तेसिं पज्जत्ति-देहाणं ॥ १५७ ॥

प्रतर प्रमाण हैं । उनसे चौइन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त विशेष अधिक हैं । उनसे तेइन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त विशेष अधिक हैं । उनसे दोइन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त विशेष अधिक हैं । इस प्रकार क्रमसे ये सब जीव कुछ अधिक कुछ अधिक हैं ॥ १५४ ॥ **अर्थ**—चौइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, दोइन्द्रिय और तेइन्द्रिय पर्याप्त जीव क्रमसे अधिक अधिक हैं ॥ **भावार्थ**—ये पर्याप्त चौइन्द्रिय आदिजीव क्रमसे अधिक अधिक हैं । अर्थात् चौइन्द्रिय पर्याप्त जीवोंसे पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीव अधिक हैं । पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीवोंसे दोइन्द्रिय पर्याप्त जीव अधिक हैं । दोइन्द्रिय पर्याप्त जीवोंसे तेइन्द्रिय पर्याप्त जीव अधिक हैं । इस तरह ये पर्याप्त चौइन्द्रिय आदि जीव क्रमसे अधिक अधिक हैं ॥ १५५ ॥ **अर्थ**—सूक्ष्म जीवोंको छोड़कर शेष जो तिर्यञ्च हैं, उनमें एक भाग तो पर्याप्त हैं और असंख्यात बहुभाग अपर्याप्त हैं ॥ **भावार्थ**—सूक्ष्म पृथिवीकायिक, सूक्ष्म जलकायिक, सूक्ष्म तैजस्कायिक, सूक्ष्म वायुकायिक और सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीवोंको छोड़कर शेष जो बादर पृथिवीकायिक, बादर जलकायिक, बादर तैजस्कायिक, बादर वायुकायिक और बादर वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय तिर्यञ्च हैं। उनमें एक भाग प्रमाण पर्याप्तक हैं और असंख्यात लोक बहु भाग प्रमाण अपर्याप्तक हैं । अर्थात्, बादर जीवोंमें पर्याप्त थोड़े होते हैं, अपर्याप्त बहुत हैं ॥ १५६ ॥ **अर्थ**—सूक्ष्म अपर्याप्त जीव नियमसे एक भाग प्रमाण होते हैं और सूक्ष्म पर्याप्त जीव संख्यात बहुभाग प्रमाण होते हैं ॥ **भावार्थ**—एकेन्द्रिय जीवोंकी राशिमें असंख्यात लोकका भाग देनेसे लब्ध एक भाग प्रमाण सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्तक पृथिवीकायिक आदि जीवोंका परिमाण होता है । गोम्मटसारमें जीवोंकी जो संख्या बतलाई है वह इस प्रकार है—साढ़े तीन बार लोकराशिको परस्परमें गुणा करनेसे जो राशि उत्पन्न हो उतना तैजस्कायिक

१ म जाणि । २ ल म स तिरिक्खाण । ३ ल म स ग एगो भागो हवेइ । ४ ब संखज्जा ।

[छाया–सूक्ष्मपर्याप्तानाम् एकः भागः भवति नियमेन । संख्येयाः खलु भागाः तेषां पर्याप्तदेहानाम् ॥] सुहुमापज्जत्ताणं सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्तानां पृथ्वीकायिकादिजीवानामेकेन्द्रियजीवराशेरसंख्यातलोकैकभागपरिमाणं भवति। तथा गोम्मटसारे प्रोक्तं च। "आउड्ढरासिवारं लोगे अण्णोण्णसंगुणे तेऊ। भूजलवाऊ अहिया पडिभागोऽसंखलोगो दु॥" असंख्यातगुणितलोकमात्रतेजस्कायिकजीवराशिप्रमाणं ≡ a भवति[1]। भूजलवायुकायिकाः क्रमेण तेजस्कायिकराशितोऽधिका भवन्ति तदधिकागमननिमित्तं भागहारः प्रतिभागहारोऽसंख्यातलोकप्रमितो भवति। तत्संदृष्टिर्नवाङ्कः ९। अधिकक्रमो दर्श्यते। तद्यथा। उक्ततेजस्कायिकराशौ ≡ a अस्यैव तत्प्रतिभागहारभक्तैकभागेन ≡ a। १/९ अधिकीकृते सति पृथिवीकायिकजीवराशिप्रमाणं भवति ≡ a १०/९। पुनः अस्मिन्नेव राशौ अस्यैव तत्प्रतिभागहारभक्तैकभागेन ≡ a १०/९ १/९ अधिकीकृते सति अप्कायिकजीवराशिप्रमाणं भवति। ≡ a १०/९ १०/९। पुनः अस्मिन्नेव राशौ अस्यैव प्रतिभागहारभक्तैकभागेन ≡ a १०/९ १०/९ १/९ अधिकीकृते सति वायुकायिकजीवराशिप्रमाणं भवति ≡ a १०/९ १०/९ १०/९। "अपदिट्ठिदपत्तेया असंखलोगप्पमाणया होंति। तत्तो पदिट्ठिदा पुण असंखलोगेण संगुणिदा॥" अप्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पतिकायिका जीवाः यथायोग्यासंख्यातलोकप्रमाणाः भवन्ति ≡ a। पुन· प्रतिष्ठितप्रत्येक-

जीवराशिका प्रमाण है। सो गुणा करनेकी पद्धति इस प्रकार है–लोकके प्रदेश प्रमाण विरलन, शलाका और देय राशि रखकर विरलन राशिका विरलन करके एक एक जुदा जुदा रखो। और प्रत्येकपर देय राशिको स्थापित करके परस्परमें गुणा करो। तथा शलाका राशिमेंसे एक घटाओ। ऐसा करनेसे जो राशि उत्पन्न हो उसका विरलन करके एक एक के ऊपर उसी राशिको देकर फिर परस्परमें गुणा करो और शलाका राशिमेंसे एक घटाओ। जब तक लोकप्रमाण शलाका राशि पूर्ण न हो तब तक ऐसा ही करो। ऐसा करनेसे जो राशि उत्पन्न हो, फिर उतनी ही शलाका, विरलन और देयराशिको रखकर विरलन राशिका विरलन करो और एक एकपर देयराशिको रखकर परस्परमें गुणा करो। तथा दूसरी बार रखी हुई शलाका राशिमेंसे एक घटाओ। इस तरह गुणा करनेसे जो राशि उत्पन्न हो उसका विरलन करके एक एकपर उसी राशिको रखकर परस्परमें गुणा करो और शलाका राशिमेंसे पुनः एक घटाओ। इस तरह दूसरी बार रक्खी हुई शलाका राशिको भी समाप्त करके जो महाराशि उत्पन्न हो, तीसरी बार उतनी ही शलाका विरलन और देय राशि स्थापित करो। विरलन राशिका विरलन करके एक एकके ऊपर देयराशिको रखकर परस्परमें गुणा करो और तीसरी बारकी शलाका राशिमेंसे एक घटाओ। ऐसा करनेसे जो राशि उत्पन्न हो उसका विरलन करके एक एकके ऊपर उसी राशिको रखकर परस्परमें गुणा करो और शलाका राशिमेंसे एक घटाओ। इस तरह तीसरी बार रक्खी हुई शलाका राशिको भी समाप्त करके अन्तमें जो महाराशि उत्पन्न हो उतनी ही विरलन और देयराशि रखो। और पहलीबार, दूसरीबार, तीसरीबार रखी हुई शलाका राशिको जोड़कर जितना प्रमाण हो उतना उस राशिमेंसे घटाकर शेष जो रहे उतनी शलाका राशि रखो। विरलन राशिका विरलन करके एक एकके ऊपर देयराशिको रखकर परस्परमें गुणा करो और चौथी बार रक्खी हुई शलाका राशिमें से एक घटाओ। ऐसा करनेसे जो राशि उत्पन्न हो उसका विरलन करके एक एकके ऊपर उसी रासीको रखकर परस्परमें गुणा करो और शलाका

१ कुत्रचित् a संज्ञायाः स्थाने ७ सत्याङ्कनिर्देशः दृश्यते, समानार्थत्वात्।

वनस्पतिकायिका जीवाः तेभ्यो असंख्येयलोकगुणिता भवन्ति ≡ a ≡ a । "तसरासिपुढविआदीचउक्कपत्तेय-हीणसंसारी। साहारणजीवाणं परिमाणं होदि जिणदिट्ठं ॥" त्रसराशिना आवल्यसंख्येयभागभक्तप्रतराङ्गुलभाजितजगत्प्रतर-प्रमितेन =४२/a तथा पृथिव्यादिचतुष्टयेन प्रत्येकवनस्पतिराशिद्वयेन चेति राशित्रयेण विहीनः संसारराशिरेव साधारणजीव-राशिप्रमाणं भवति १३ ≡ ॥ "सगसग असंखभागो बादरकायाण होदि परिमाणं। सेसा सुहुमपमाणं पडिभागो पुव्व-णिद्दिट्ठो ॥" पृथिव्यप्तेजोवायुकायिकानां साधारणवनस्पतिकायिकानां चासंख्येयलोकैकभागमात्रं स्वस्वबादरकायानां परिमाणं भवति । शेषतत्तद्बहुभागाः सूक्ष्मकायजीवानां प्रमाणम् ॥ "सुहुमेसु संखभागं संखाभागा अपुण्णगा इदरा ।" पृथिव्यप्तेजोवायुसाधारणवनस्पतिकायिकानां ये सूक्ष्माः प्रागुक्तास्तेष्वपर्याप्ताः तत्संख्यातैकभागप्रमाणा भवन्ति । पर्याप्त-कास्तत्संख्यातबहुभागप्रमिता भवन्ति । तथा बालावबोधार्थं पुनरप्येकेन्द्रियादीनां सामान्यसंख्यां गोम्मटसारोक्तामाह । "थावरसंखपिपीलियभमरमणुस्सादिगा सभेदा जे । दुगवारमसंखेज्जाणंताणंता णिगोदभवा ॥" स्थावराः पृथिव्यप्तेजोवायु-प्रत्येकवनस्पतिकायिकनामानः पञ्चविधैकेन्द्रियाः, शंखादयो द्वीन्द्रियाः, पिपीलिकादयस्त्रीन्द्रियाः, भ्रमरादयश्चतुरिन्द्रियाः, मनुष्यादयः पञ्चेन्द्रियाश्च, स्वस्वावान्तरभेदसहिताः प्राक्कथितास्ते प्रत्येकं द्विकवारासंख्यातप्रमिता भवन्ति । निगोदाः साधारणवनस्पतिकायिकाः अनन्तानन्ता भवन्ति ॥ अथ विशेषसंख्यां कथयंस्तावदेकेन्द्रियसंख्यामाह । "तसहीणो संसारी एयक्खा ताण संखगा भागा। पुण्णाणं परिमाणं संखेज्जदिमं अपुण्णाणं ॥" त्रसराशिहीनसंसारिराशिरेव एकेन्द्रियराशिर्भवति १३- । अस्य च संख्यातबहुभागाः पर्याप्तकपरिमाणं भवति १३- । ४/५ । तदेकभागः अप-र्याप्तकराशिप्रमाणं भवति १३- । १/५ । अत्र संख्यातस्य संदृष्टिः पञ्चाङ्कः ५ ॥ अथैकेन्द्रियावान्तरभेदसंख्याविशेषमाह । "बायरसुहुमा तेसिं पुण्णापुण्णेत्ति छव्विहाणं पि । तक्कायमग्गणाए भणिज्जमाणक्कमो णेयो ॥" सामान्यैकेन्द्रियराशेः बादरसूक्ष्माविति द्वौ भेदौ । तयोः पुनः प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्ताविति चत्वारः । एवं षड्भेदानां तत्कायमार्गणायां भणि-ष्यमाणः क्रमो ज्ञेयः । तथा हि । एकेन्द्रियसामान्यराशेरसंख्यातलोकभक्तैकभागो बादरैकेन्द्रियराशिप्रमाणं १३-१/a,

राशिमेंसे एक घटाओ। इस तरह जब शलाका राशि समाप्त हो जाये तो अन्तमें जो महाराशि उत्पन्न हो उतनी ही तैजस्कायिक जीव राशि है। इस राशिमें असंख्यात लोकका भाग देनेपर जो लब्ध आवे उसे तैजस्कायिक जीवोंके प्रमाणमें मिला देनेसे पृथिवीकायिक जीवोंका प्रमाण होता है। इस पृथिवीकायिक राशिमें असंख्यात लोकका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसे पृथिवी कायिक जीवोंके प्रमाणमें मिला देनेसे अप्कायिक जीवोंका प्रमाण होता है। अप्कायिक राशिमें असंख्यात लोकका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसे अप्कायिक जीवोंके प्रमाणमें मिला देनेसे वायुकायिक जीवोंका प्रमाण आता है। इस तरह तैजस्कायिक जीवोंसे पृथ्वीकायिक जीव अधिक हैं। उनसे अप्कायिक जीव अधिक हैं। और उनसे वायुकायिक जीव अधिक हैं ॥ १ ॥ अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव यथायोग्य असंख्यात लोक प्रमाण हैं। इनको असंख्यात लोकसे गुणा करने पर जो प्रमाण आवे उतने प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव हैं ॥ २ ॥ आवलीके असंख्यातवें भागसे भाजित प्रतरांगुलका भाग जगत्प्रतरमें देनेसे जो लब्ध आवे उतना त्रस राशिका प्रमाण है। इस त्रस राशिके प्रमाणको तथा ऊपर कहे गये पृथिवीकायिक, अप्कायिक, तैजस्कायिक, वायुकायिक और प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवोंके प्रमाणको संसारी जीवोंके परिमाण मेंसे घटाने पर जो शेष रहे उतना साधारण वनस्पतिकायिक अर्थात् निगोदिया जीवोंका परिमाण होता है ॥ ३ ॥ पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और साधारण वनस्पतिकायिक जीवोंका जो ऊपर प्रमाण कहा है उस परिमाणमें असंख्यातका भाग दो। सो एक भाग प्रमाण तो बादर कायिकोंका प्रमाण है और शेष बहुभाग प्रमाण सूक्ष्म कायिक जीवोंका प्रमाण है।

तद्बहुभागः १३–$\frac{८}{९}$ सूक्ष्मैकेन्द्रियराशिप्रमाणम् । अत्रासंख्यातलोकस्य संदृष्टिर्नवाङ्कः ९ । पुनः बादरैकेन्द्रियराशेरसंख्यातलोकभक्तैकभागस्तत्पर्याप्तराशिः १३– $\frac{१}{९}$ । $\frac{१}{७}$ बहुभागस्तदपर्याप्तराशिः १३–$\frac{१}{९}$ । $\frac{६}{७}$ । अत्रासंख्यातलोकस्य संदृष्टिः सप्ताङ्कः ७ । सूक्ष्मैकेन्द्रियराशेः संख्यातभक्तबहुभागस्तत्पर्याप्तराशिः १३– $\frac{८}{९}$ । $\frac{४}{५}$ तदेकभागस्तदपर्याप्तराशिः १३–$\frac{८}{९}$ । $\frac{१}{५}$ । अत्र संख्यातस्य संदृष्टिः पञ्चाङ्कः ५ । $\frac{=}{४}$/७ । पर्याप्ताः १३– । $\frac{४}{५}$ । अपर्याप्ताः १३–$\frac{१}{५}$ ॥ एइंदिय १३–, बादर १३–$\frac{१}{९}$, सूक्ष्म १३–$\frac{८}{९}$ । बादर पर्या० १३–$\frac{१}{९}$ $\frac{१}{७}$, बादर अपर्या० १३–$\frac{१}{९}$ $\frac{६}{७}$ । सूक्ष्मपर्याप्त १३–$\frac{८}{९}$ $\frac{४}{५}$, सूक्ष्म अपर्या० १३–$\frac{८}{९}$ $\frac{१}{५}$ ॥ असंखिज्जलोयस्स सदिट्ठी ९ । ७ । संख्यातस्य संदृष्टिः ५ ।

जैसे पृथिवीकायिकोंके परिमाणमें असंख्यातका भाग देनेसे एक भाग प्रमाण बादर पृथ्वीकायिक जीवोंका परिमाण है और शेष बहु भाग प्रमाण सूक्ष्म पृथिवीकायिक जीवोंका परिमाण है । इसी तरह सबका समझना । यहां भी भागहारका प्रमाण जो पहले असंख्यात लोक कहा है वही है ॥ ४ ॥ पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और साधारण वनस्पतिकायिक सूक्ष्म जीवोंका जो पहले प्रमाण कहा है उसमेंसे अपने अपने सूक्ष्म जीवोंके प्रमाणमें संख्यातका भाग देनेसे एक भाग प्रमाण तो अपर्याप्त हैं और शेष बहुभाग प्रमाण पर्याप्त हैं । अर्थात् सूक्ष्म जीवोंमें अपर्याप्त राशिसे पर्याप्त राशिका प्रमाण बहुत है; इसका कारण यह है कि अपर्याप्त अवस्थाके कालसे पर्याप्त अवस्थाका काल संख्यात गुणा हैं ॥ ५ ॥ मन्दबुद्धि जनोंको समझाने के लिये गोम्मटसारमें कही हुई एकेन्द्रिय आदि जीवोंकी सामान्य संख्याको फिर भी कहते हैं–'पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, प्रत्येक वनस्पति ये पांच प्रकारके एकेन्द्रिय, शंख वगैरह दो इन्द्रिय, चींटी वगैरह तेइन्द्रिय, भौंरा वगैरह चौइन्द्रिय और मनुष्य वगैरह पंचेन्द्रिय जीव अलग अलग असंख्यातासंख्यात हैं । और निगोदिया जीव जो साधारण वनस्पतिकायिक होते हैं, वे अनंतानन्त हैं ॥ १ ॥ सामान्य संख्याको कहकर विशेष संख्या कहते हैं । सो प्रथम एकेन्द्रिय जीवोंकी संख्या कहते हैं– 'संसारी जीवोंके प्रमाणमेंसे त्रस जीवोंका प्रमाण घटाने पर एकेन्द्रिय जीवोंका परिमाण होता है, एकेन्द्रिय जीवोंके परिमाणमें संख्यातका भाग देने पर एक भाग प्रमाण अपर्याप्त एकेन्द्रियोंका परिमाण है और शेष बहुभाग प्रमाण पर्याप्त एकेन्द्रियोंका परिमाण है ॥ २ ॥' आगे एकेन्द्रिय जीवोंके अवान्तर भेदोंकी संख्या कहते हैं–'सामान्य एकेन्द्रिय जीवो के दो भेद हैं–एक बादर और एक सूक्ष्म । उनमेंसे भी प्रत्येकके दो दो भेद हैं–एक पर्याप्त और एक अपर्याप्त । इस तरह ये चार भेद हुए । इन छहों भेदोंकी संख्या इस प्रकार है– सामान्य एकेन्द्रिय जीव राशिमें असंख्यात लोकका भाग दो । उसमें एक भाग प्रमाण तो बादर एकेन्द्रिय हैं और शेष बहुभाग प्रमाण सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव हैं । बादर एकेन्द्रियोंके परिमाणमें असंख्यात लोकका भाग दो । उसमें एक भाग प्रमाण पर्याप्त हैं और शेष बहुभाग प्रमाण अपर्याप्त हैं । तथा सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवोंके परिमाणमें संख्यातका भाग दो । उसमें एक भाग प्रमाण तो अपर्याप्त हैं और शेष बहुभाग प्रमाण पर्याप्त हैं । अर्थात् बादर जीवोंमें तो पर्याप्त थोड़े हैं, अपर्याप्त ज्यादा हैं । और सूक्ष्म जीवोंमें पर्याप्त ज्यादा हैं अपर्याप्त थोड़े हैं ॥ ३ ॥ आगे त्रस जीवोंकी संख्या कहते हैं–'दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय-इस सब त्रसोंका

अथ त्रसजीवसंख्यां प्राह । "बितिचपमाणमसंखे णवहिदपदरंगुलेण हिदपदरं । हीणकमं पडिभागो आवलियासंखभागो दु ॥" द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियजीवाना सामान्यराशिप्रमाणम् असंख्यातभक्तप्रतराङ्गुलभक्तजगत्प्रतरप्रमितं भवति । अत्र द्वीन्द्रियराशिप्रमाणं सर्वाधिकम् । ततः त्रीन्द्रियराशिः विशेषहीनः । ततः चतुरिन्द्रियराशिर्विशेषहीनः । ततः पञ्चेन्द्रियराशिर्विशेषहीनः । तथा पञ्चेन्द्रियेभ्यश्चतुरिन्द्रिया विशेषेण बहवः । चतुरिन्द्रियेभ्यः त्रीन्द्रिया बहवः । त्रीन्द्रियेभ्यो द्वीन्द्रिया बहवः, तेभ्यः एकेन्द्रिया बहवः । अत्र विशेषागमननिमित्तं भागहारः प्रतिभागहारः स चावल्यसंख्येयभागमात्रः । एतेषां त्रसानां सामान्यराशेः पर्याप्तराशेः अपर्याप्तराशेश्च रचना लिख्यते । 'हारस्य हारो गुणकोऽशराशेः' इति सूत्रेण हारहारभूतासंख्यातद्वयमंशराशेर्गुणाकारोऽभूत् ॥

बेइंदिय	तेइंदिय	चउरिंदिय	पंचेंदिय	
=८४२४ ४।४।६५६१ ७	=६१२० ४।४।६५६१ ७	=५८६४ ४।४।६५६१ ७	=५८३६ ४।४।६५६१ ७	सामण्णरासी
=६१२० ४।४।६५६१ ५	=८४२४ ४।४।६५६१ ५	=५८३६ ४।४।६५६१ ५	=५८६४ ४।४।६५६१ ५	पज्जत्तरासी स्तोक
५।६१२० =८४२४।७ ४।४।६५६१	५।८४२४ =६१२०।७ ४।४।६५६१	५।५८३६ =५८६४।७ ४।४।६५६१	५।५८६४ =५८३६।७ ४।४।६५६१	अपज्जत्तरासी बहु

परिमाण प्रतरांगुलमें असंख्यातका भाग देनेपर जो प्रमाण आवे उसका भाग जगत् प्रतरमें देनेसे जितना लब्ध आता है उतना है । इसमें दोइन्द्रिय जीवोंका प्रमाण सबसे अधिक है । उनसे तेइन्द्रिय जीवोंका प्रमाण कुछ कम है । तेइन्द्रिय जीवोंके प्रमाणसे चौइन्द्रिय जीवोंका प्रमाण कुछ कम है । चौइन्द्रिय जीवोंसे पञ्चेन्द्रिय जीवोंका प्रमाण कुछ कम है । तथा पञ्चेन्द्रियोंसे चौइन्द्रिय जीव विशेष अधिक हैं । चौइन्द्रियोंसे तेइन्द्रिय जीव विशेष अधिक हैं और तेइन्द्रियोंसे दोइन्द्रिय जीव विशेष अधिक हैं तथा उनसे चारो प्रकारके एकेन्द्रिय जीव बहुत हैं । यहां विशेषका प्रमाण लानेके लिये भागहार और भागहारका भागहार आवलीके असंख्यातवें भाग है ॥ टीकाकारने अपनी टीकामें एकेन्द्रिय जीवों और त्रस जीवोंकी राशि संदृष्टिके द्वारा बतलाई है । उसका खुलासा किया जाता है । एकेन्द्रिय जीवोंकी राशिकी संदृष्टि इस प्रकार है १३—। यहां तेरहका अंक संसार राशिको बतलाता है और उसके आगे यह — घटाने का चिन्ह है । सो त्रसराशिके घटानेको सूचित करता है अर्थात् संसार राशि (१३) में से त्रसराशिको घटानेसे एकेन्द्रिय जीवोंका प्रमाण आता है जिसका चिन्ह (१३ —) यह है । संख्यातका चिन्ह ५ का अङ्क है । सो एकेन्द्रिय राशिमें संख्यातका भाग देनेसे बहु भाग प्रमाण पर्याप्त जीव होते हैं और एक भाग मात्र अपर्याप्त जीव होते हैं । सो पर्याप्त जीवोंकी संदृष्टि इस प्रकार है — १३ — $\frac{४}{५}$ । यहां बहुभागका ग्रहण करनेके लिये एकेन्द्रिय राशि (१३ —) को पांच से भाग देकर चारसे गुणा करदिया है । जो यह बतलाता है कि $\frac{४}{५}$ प्रमाण पर्याप्त है और शेष $\frac{१}{५}$ अपर्याप्त है अतः अपर्याप्त राशिकी संदृष्टि इस प्रकार है १३—$\frac{१}{५}$ । असंख्यात लोकका चिन्ह नौ ९ का अंक है । सामान्य एकेन्द्रिय राशिमें असंख्यात लोक (९) का भाग

देने से एक भाग बादर और बहुभाग सूक्ष्म जीव होते हैं। बादर एकेन्द्रिय जीवोंकी संदृष्टि $१३-\frac{१}{९}$ इस प्रकार है और सूक्ष्म जीवों की संदृष्टि $१३-\frac{८}{९}$ है। नीचे असंख्यात लोकका चिन्ह ७ का अंक है। सो बादर एकेन्द्रिय राशि $१३-\frac{१}{९}$ को असंख्यात लोक (७) का भाग देनेसे बहु भाग मात्र अपर्याप्त और एक भाग मात्र पर्याप्त जीव होते हैं। सो बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त राशिकी संदृष्टि $१३-\frac{१}{९}।\frac{६}{७}$ ऐसी हे और बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त राशि की संदृष्टि $३१-\frac{१}{९}।\frac{१}{७}$ ऐसी है। सूक्ष्म एकेन्द्रिय राशि $१३-\frac{८}{९}$ को संख्यात (५) का भाग देने पर बहु भाग प्रमाण पर्याप्त राशि और एक भाग प्रमाण अपर्याप्त राशि आती है। सो यहां पर्याप्त राशिकी संदृष्टि $१३-\frac{८}{९}।\frac{४}{५}$ यह है और अपर्याप्त राशिकी संदृष्टि $१३-\frac{८}{९}।\frac{१}{५}$ यह है। अब त्रस राशिकी संदृष्टिका खुलासा करते हैं वह इस प्रकार है–जगत्प्रतरका चिन्ह = यह है। प्रतरांगुलका चिन्ह ४ का अंक है। और असंख्यात का चिन्ह ७ का अंक है। प्रतरांगुलके असंख्यातवें भागका भाग जगत्प्रतरको देनेसे त्रस राशिका प्रमाण आता है। सो त्रस राशिका संकेत $\overset{=}{\underset{७}{४}}$ यह है। आवलीके असंख्यातवें भागका संकेत नौ का अंक है। सो त्रसराशिमें आवलीके असंख्यातवें भाग (९) का भाग देकर बहु भाग निकालो। सो बहुभाग राशिका प्रमाण $\overset{=८}{\underset{७}{४।९}}$ यह है। इसको चार हिस्सोंमें बांटनेके लिये चारका भाग देनेसे ऐसे हुआ $\overset{=८}{\underset{७}{४।९।४}}$। यह एक एक समान भाग दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चौइन्द्रिय और पंचेंन्द्रिय जीवोंको दे दो। शेष एकभाग रहा उसका प्रमाण $\overset{=}{\underset{७}{४।९}}$ यह है। इसको आवलीके असंख्यातवें भाग (९) का भाग देकर बहुभाग निकाला सो $\overset{=८}{\underset{७}{४।९।९}}$ इतना हुआ। यह दो इन्द्रियको देदो। शेष एक भाग $\overset{=}{\underset{७}{४।९।९}}$ ऐसा रहा। इसको आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर बहुभाग निकाला सो $\overset{=८}{\underset{७}{४।९।९।९}}$ इतना हुआ। वह तेइन्द्रियको देदो। शेष एक भाग $\overset{=}{\underset{७}{४।९।९।९}}$ रहा। इसमें भी आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देनेसे बहुभाग $\overset{=८}{\underset{७}{४।९।९।९।९}}$ ऐसा हुआ। यह चौइन्द्रियको देना। शेष एकभाग रहा $\overset{=}{\underset{७}{४।९।९।९।९}}$ यह पञ्चेन्द्रियको देना। सम भाग और देय भागका प्रमाण इस प्रकार हुआ–

यहां देय भाग के भागहार में सब से अधिक चार बार नौ के अंक हैं। और सम

	दोइन्द्रिय	तेइन्द्रिय	चौइन्द्रिय	पञ्चेन्द्रिय
समभाग	=८ ४।९।४ ७	=८ ४।९।४ ७	=८ ४।९।४ ७	=८ ४।९।४ ७
देयभाग	=८ ४।९।९ ७	=८ ४।९।९।९ ७	=८ ४।९।९।९।९ ७	= ४।९।९।९।९ ७

भागके भागहार में नौका अंक एक ही है। इसलिये भागहार में सर्वत्र चारबार नौका अंक करने के लिये सम भाग में तीनबार नौ के अंक का गुणाकार और भागहार करो। तथा देय राशिके भाग हारमें चारका अंक नहीं है और समभागके भागहारमें चारका अंक है। इसलिये समच्छेद करने के लिये देयराशिमें सर्वत्र चारका गुणाकार और भागहार रखो। तो सर्वत्र चार बार नौके अंकका भागहार करना है अतः चूंकि दो इन्द्रियकी देय राशिमें दो बार नौके अंकका भागहार है इस लिये वहां दो बार नौके अंकको गुणाकार और भागहारमें रखो। तेइन्द्रियकी देयराशिमें तीनबार नौके अंकका भागहार है अतः वहां एक बार नौके अंकको गुणाकार और भागहारमें रक्खो। चौइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रियकी देय राशिमें चार बार नौ का भागहार है ही, अतः वहां और गुणाकार और भागहार रखनेकी जरूरत नहीं है। इस तरह समच्छेद करनेपर समभाग और देय भाग की स्थिति इस प्रकार होती है–

यहां समभागका गुणाकार आठ और तीन बार नौ है। इनको परस्परमें

	दोइन्द्रिय	तेइन्द्रिय	चौइन्द्रिय	पञ्चेन्द्रिय
समभाग	=८।९।९।९ ४।४।९।९।९।९ ७	=८।९।९।९ ४।४।९।९।९।९ ७	=८।९।९।९ ४।४।९।९।९।९ ७	=८।९।९।९ ४।४।९।९।९।९ ७
देयभाग	=८।४।९।९ ४।४।९।९।९।९ ७	=८।४।९ ४।४।९।९।९।९ ७	=८।४ ४।४।९।९।९।९ ७	=१।४ ४।४।९।९।९।९ ७

गुणनेसे (८×९×९×९=५८३२) अठावनसौ बत्तीस होते हैं। तथा देय भागके गुणाकारमें दोइन्द्रियके ८×४×९×९ को परस्पर में गुणाकरने से २५९२ पच्चीस सौ बानवें होते हैं। तेइन्द्रिय के ८×४×९ को परस्परमें गुणनेसे २८८ दो सौ अठासी होते हैं। चौइन्द्रियके ८×४ को परस्परमें गुणाकरने से ३२ बत्तीस होते हैं और पञ्चेन्द्रियके चार ४ ही है। तथा भागहारमें सर्वत्र चार के गुणाकारको अलग करके चार बार नौ के अंकोंको परस्परमें गुणा करने से ९×९×९×९=६५६१ पैंसठ सौ इकसठ होते हैं। इस तरह करने से समभाग और देयभाग की स्थिति इस प्रकार हो जाती है–

	दोइन्द्रिय	तेइन्द्रिय	चौइन्द्रिय	पञ्चेन्द्रिय
समभाग	=५८३२ ४।४।६५६१ ७	=५८३२ ४।४।६५६१ ७	=५८३२ ४।४।६५६१ ७	=५८३२ ४।४।६५६१ ७
देयभाग	=२५९२ ४।४।६५६१ ७	=२८८ ४।४।६५६१ ७	=३२ ४।४।६५६१ ७	=४ ४।४।६५६१ ७

इस समभाग और देयभागोंको जोड़नेसे दोइन्द्रिय आदि जीवोंके प्रमाणकी संदृष्टि इस प्रकार होती है–

	दोइन्द्रिय	तेइन्द्रिय	चौइन्द्रिय	पञ्चेन्द्रिय
प्रमाण	=८४२४ ४।४।६५६१ ७	=६१२० ४।४।६५६१ ७	=५८६४ ४।४।६५६१ ७	=५८३६ ४।४।६५६१ ७

अब पर्याप्त त्रस जीवोंके प्रमाणकी संदृष्टिका खुलासा करते हैं–संख्यातका चिन्ह पांचका अंक है। संख्यातसे भाजित प्रतरांगुलका भाग जगत्प्रतरमें देनेसे पर्याप्त त्रस जीवोंका प्रमाण आता है। वह इस प्रकार है = ४/५। इसमें पूर्वोक्त प्रकारसे आवलीके असंख्यातवे भागका भाग देकर बहुभाग निकालना चाहिये और बहुभागके चार समान भाग करके तेइन्द्रिय दोइन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय और चौइन्द्रियको देना चाहिये। शेष एक भागमेंसे बहुभाग क्रमसे तेइन्द्रिय, दोइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रियको देना चाहिये तथा बाकी बचा एक भाग चौइन्द्रियको देना चाहिये। उनकी संदृष्टि इस प्रकार होती है–

	तेइन्द्रिय	दोइन्द्रिय	पञ्चेन्द्रिय	चौइन्द्रिय
समभाग	=८ ४।९।४ ५	=८ ४।९।४ ५	=८ ४।९।४ ५	=८ ४।९।४ ५
देयभाग	=८ ४।९।९ ५	=८ ४।९।९।९ ५	=८ ४।९।९।९।९ ५	=१ ४।९।९।९।९ ५

इनको पूर्वोक्त प्रकारसे समच्छेद करके मिलानेपर पर्याप्त त्रस जीवोंके प्रमाणकी संदृष्टि इस प्रकार होती है–

संखिज्ज-गुणा देवा अंतिम-पडलादु आणदं[2] जावं[3] ।
तत्तो असंख-गुणिदा सोहम्मं जाव पडि-पडलं ॥ १५८ ॥

[छाया-संख्येयगुणाः देवाः अन्तिमपटलात् आनतं यावत् । ततः असख्यगुणिताः सौधर्मं यावत् प्रतिपटलम् ॥] अन्तिमपटलात् पञ्चानुत्तरपटलात्, आनतस्वर्गं यावत् आनतस्वर्गयुगलपर्यन्तं संख्यातगुणा देवा भवन्ति । तत्रान्तिमपटले पल्यासंख्यातैकभागमात्रा अहमिन्द्रसुराः पुं पञ्चानुत्तरे नवानुत्तरेषु ऊर्ध्वग्रैवेयकत्रये मध्यमग्रैवेयकत्रये अधोग्रैवेयकत्रये अच्युतारणयोः प्राणतानतयोश्च सर्वत्र सप्तसु स्थानेषु प्रत्येकं देवानां पल्यासंख्यातत्वेऽपि संख्यातगुणत्वसंभवात् । तत्तो ततः आनतपटलात् अधोऽधोभागे सौधर्मस्वर्गपर्यन्तं प्रतिपटलं, पटलं पटलं प्रति, असंख्यातगुणत्वात् ।

	तेइन्द्रिय	दोइन्द्रिय	पञ्चेन्द्रिय	चौइन्द्रिय
प्रमाण	=८४२४ ४।४।६५६१ ५	=६१२० ४।४।६५६१ ५	=५८६४ ४।४।६५६१ ५	=५८३६ ४।४।६५६१ ५

पूर्वोक्त सामान्य त्रस जीवोंके प्रमाणमें से इस पर्याप्त त्रस जीवोंके प्रमाणको घटानेपर अपर्याप्त त्रस जीवोंके प्रमाणकी संदृष्टि इस प्रकार होती है–

	दोइन्द्रिय	तेइन्द्रिय	चौइन्द्रिय	पञ्चेन्द्रिय
प्रमाण	५।६१२० =८४२४।७ ४।४।६५६१	५।८४२४ =६१२०।७ ४।४।६५६१	५।५८३६ =५८६४।७ ४।४।६५६१	५।५८६४ =५८३६।७ ४।४।६५६१

इसका खुलासा इस प्रकार है। सामान्य त्रस राशि तो मूलराशि है और पर्याप्त त्रस राशि ऋणराशि है। इन दोनों राशियों में जगत्प्रतर और उसमें प्रतरांगुल और चार गुने पैंसठ सौ इकसठ का भाग =४।४।६५६१ समान है। अतः इसको मूल राशिका गुणाकार किया। और 'भागहारका भागहार भाज्यका गुणकार होता है' इस नियमके अनुसार मूल राशिमें जो भागहार प्रतरांगुल, उसका भागहार असंख्यात है उसको मूलराशिके गुणकारका गुणकार कर दिया। और ऋणराशिमें जो पांचका अंक है उसको ऋणराशिके गुणकारका गुणकार करदिया। ऐसा करनेसे जो स्थिति हुई वही ऊपर संदृष्टि के द्वारा बतलाई है ॥ १५७ ॥ **अर्थ**–अन्तिम पटलसे लेकर आनत स्वर्ग तक देव संख्यातगुने हैं। और उससे नीचे सौधर्म स्वर्ग पर्यन्त प्रत्येक पटलमें असंख्यात गुने हैं ॥ **भावार्थ**–अन्तिम पटल अर्थात् पञ्च अनुत्तर विमानसे लेकर आनत स्वर्ग युगल तक संख्यातगुने देव हैं। उनमें से अन्तिम पटल में पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण अहमिन्द्र देव हैं। तथा पांच अनुत्तर, नौ अनुदिश, तीन ऊर्ध्व ग्रैवेयक, तीन मध्य ग्रैवेयक, तीन अधो ग्रैवेयक, अच्युत आरण, और प्राणत आनत इन सातो स्थानोंमेंसे प्रत्येकमें यद्यपि देवोका प्रमाण पल्यके असंख्यातवें भाग है फिर भी एक स्थानसे दूसरे स्थानमें संख्यातगुना संख्यातगुना प्रमाण होना संभव है। अर्थात् सामान्य रूपसे उक्त सातों स्थानोंमें यद्यपि देवोंका प्रमाण पल्यके असंख्यातवें भाग है, किन्तु फिर भी ऊपरसे नीचेकी ओर एक स्थानसे दूसरे स्थानमें संख्यातगुने संख्यातगुने देव हैं। आनत पटलसे लेकर

१ **ल** पटलादु, **स** पडलादो, **ग** पटलागो। २ **लग** आरण, **स** आणदं। ३ **ब** जाम।

तत्संख्या गोम्मटसारोक्ता लिख्यते । शतारसहस्रारस्वर्गयुगले निजचतुर्थमूलेन भाजितजगच्छ्रेणिप्रमिताः देवा भवन्ति $\frac{-}{४}$ । ततः शुक्रमहाशुक्रस्वर्गयुगले निजपञ्चममूलेन भाजितजगच्छ्रेणिमात्रा देवाः भवन्ति $\frac{-}{५}$ । ततः लान्तवकापिष्टस्वर्गयुगले निजसप्तममूलेन भाजितजगच्छ्रेणिप्रमिता देवाः भवन्ति $\frac{-}{७}$ । ततः ब्रह्मब्रह्मोत्तरस्वर्गयुगले निजनवममूलेन भक्तजगच्छ्रेणिमात्रा देवाः स्युः $\frac{-}{९}$ । ततः सनत्कुमारमाहेन्द्रस्वर्गयुगले निजैकादशमूलेन भाजितजगच्छ्रेणिमात्रा देवाः सन्ति $\frac{-}{११}$ । ततः सौधर्मैशानस्वर्गयुगले श्रेणिगुणितघनाङ्गुलतृतीयमूलप्रमिता देवाः भवन्ति –३ । घनाङ्गुलतृतीयमूलेन गुणितजगच्छ्रेणिमात्रा देवाः सौधर्मैशानजा उत्कृष्टेन भवन्तीत्यर्थः । सर्वार्थसिद्धजाहमिन्द्राः त्रिगुणाः । तिगुणा सत्तगुणा वा सव्वट्ठा माणुसीपमाणादो ॥ १५८ ॥

प ७	प ७	प ७	प ७	प ७	प ७	प ७	— ४	— ५	— ७	— ९	— ११	–३
५	९	३	३	३	११३	११९	११०	११०	११०	११०	११९	११९

नीचे नीचे सौधर्म स्वर्ग तक प्रत्येक पटलमें देव असंख्यातगुने असंख्यात गुनेहैं । यहां गोम्मटसार में जो देवोंकी संख्या बतलाई है [घणअंगुलपढमपदं तदियपदं सेढिसंगुणं कमसो । भवणो सोहम्मदुगे देवाणं होदि परिमाणं ॥ १६१ ॥ तत्तो एगारणव सग पण चउ णियमूल भाजिदा सेढी । पल्ला संखेज्जदिमा पत्तेयं आणदादि सुरा ॥ १६२ ॥" गो०] वह लिखते हैं जगतश्रेणीके चौथे वर्गमूल का जगतश्रेणीमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे, उतने देव शतार और सहस्रार स्वर्गमें हैं । जगतश्रेणीके पांचवे वर्गमूलका जगतश्रेणिमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने देव शुक्र और महाशुक्र स्वर्गमें हैं। जगतश्रेणिके सातवें वर्गमूलसे जगतश्रेणिमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने देव लान्तव और कापिष्ठ स्वर्गमें हैं । जगतश्रेणिके नौवे वर्गमूलसे जगतश्रेणिमें भाग देनेसे जितना लब्ध आवे उतने देव ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्गमें हैं । जगतश्रेणिके ग्यारहवें वर्गमूलसे जगतश्रेणिमें भाग देनेसे जितना लब्ध आवे उतने देव सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गमें हैं । और सौधर्म तथा ऐशान स्वर्गमें घनांगुलके तीसरे वर्गमूलसे गुणित जगतश्रेणि प्रमाण देवराशि है । इस तरह ऊपरके स्वर्गोंसे नीचेके स्वर्गों में देवराशिका प्रमाण उत्तरोत्तर अधिक अधिक है । यह प्रमाण उत्कृष्ट है । अर्थात् अधिकसे अधिक इतनी देवराशि उक्त स्वर्गोंमें होसकती है । सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें देवराशिकी संदृष्टि ३ ऐसी है । यहां – यह जगतश्रेणीका चिन्ह है। और घनांगुल का तृतीय वर्गमूलका चिन्ह ३ है । तो जगतश्रेणीको घनांगुलके तृतीय वर्गमूलसे गुणा करने पर – ३ ऐसा होता है यही सौधर्म युगलमें देवोंका प्रमाण है । सनत्कुमार माहेन्द्र युगलसे लेकर पाच युगलोंमें देवराशिकी संदृष्टि क्रमसे इस प्रकार है $\frac{-}{११}$ $\frac{-}{९}$ $\frac{-}{७}$ $\frac{-}{५}$ $\frac{-}{४}$ । जिसका आशय यह है कि जगतश्रेणिको क्रमसे जगतश्रेणिके ही ग्यारहवें नौवें, सातवें, पांचवें और चौथे वर्गमूलका भाग दो । तथा आनतादि दो युगल, ३ अधोग्रैवेयक, ३ मध्यमग्रैवेयक, ३ उपरिम ग्रैवेयक, ९ अनुदिश विमान और ५ अनुत्तर विमान इन सात स्थानोंमें से प्रत्येकमें पल्यके असंख्यातवें भाग देवराशि है । उनकी संदृष्टि $\frac{प}{७}$ ऐसी है । ऊपर जो संदृष्टि दी है वह पांच अनुत्तरसे लेकर सौधर्मयुगल तक की है । सो ऊपरवाली पंक्तिके कोठोंमें तो देवोंका प्रमाण लिखा है । और नीचेवाली पंक्तिमें अनुतर वगैरह का संकेत है । सो पांच अनुत्तरों का संकेत

सत्तम-णारयहिंतो असंख-गुणिदा[1] हवंति णेरइया ।
जाव य पढमं णरयं बहु-दुक्खा होंति[2] हेट्ठिट्ठा[3] ॥ १५९ ॥

[छाया-सप्तमनारकेभ्यः असंख्यगुणिताः भवन्ति नैरयिकाः । यावत् च प्रथमं नरकं बहुदुःखाः भवन्ति अधोऽधः ॥] सप्तमनरकात् तमस्तमःप्रभामाघवीनाम्नः सकाशात् उपर्युपरि नारकाः यावत् प्रथमनरकं रत्नप्रभा-घर्मानामप्रथमनरकपर्यन्तं असंख्यातगुणिता नारकाः भवन्ति । सप्तमे माघवीनाम्नि नरके नारकाः सर्वस्तोकाः, श्रेण्यसंख्येयभागप्रमिताः निजद्वितीयवर्गमूलभक्तजगच्छ्रेणिमात्रा नारकाः भवन्ति -/२ । षष्ठे मघवीनाम्नि नरके सप्तमपृथिवीनारकेभ्यः षष्ठतमःप्रभापृथिवीनारका असंख्यातगुणाः, निजतृतीयवर्गमूलभाजितजगच्छ्रेणिमात्रा भवन्ति -/३ । तेभ्यश्च षष्ठनारकेभ्यश्च पञ्चमपृथिवीनारका असंख्यातगुणाः, पञ्चमेऽरिष्टानामनि नरके निजषष्ठवर्गमूलभक्तजगच्छ्रेणिमात्रा नारकाः स्युः -/६ । तेभ्यश्च पञ्चमपृथिवीनारकेभ्यश्च, चतुर्थपृथिवीनारकाः असंख्यातगुणाः सन्तः अञ्जनानाम्नि चतुर्थनरके अष्टमनिजवर्गमूलविभक्तजगच्छ्रेणिमात्रा नारका भवन्ति -/८ । तेभ्यश्चतुर्थनारकेभ्यस्तृतीयपृथिवीनारकाः असंख्यातगुणाः सन्तः वालुकाप्रभामेघानामनि तृतीयनरके दशमनिजवर्गमूलापहृतजगच्छ्रेणिमात्रा नारका भवन्ति -/१० । तेभ्यश्च तृतीयपृथिवीनारकेभ्यो द्वितीयनरके नारकाः असंख्यातगुणाः, द्वादशनिजवर्गमूलभक्तजगच्छ्रेणिमात्राः वंशानाम्नि द्वितीये

५, नौ अनुदिशोका ९, तीन तीन उपरिम, मध्य और अधोग्रैवेयकका संकेत ३ का चिन्ह है । तथा पहले दूसरे, सातवे आठवे स्वर्गयुगलमे दो दो इन्द्रसम्बन्धी देवोका प्रमाण है । अतः वहां दो एक १।१ रखे हैं । और तीसरे, चौथे, पांचवें और छठे युगलमें एक एक ही इन्द्र होता है अतः वहां एक एक और एक बिन्दी १।० इस तरह रखी है ॥ १५८ ॥ **अर्थ**—सातवे नरकमे लेकर ऊपर पहले नरक तक नारकियोंकी संख्या असंख्यात गुणी असंख्यात गुणी है । तथा प्रथम नरकसे लेकर नीचे नीचे बहुत दुःख है ॥ **भावार्थ**—महातमःप्रभा नामक पृथ्वीमें स्थित माघवी नामके सातवें नरकसे लेकर ऊपर ऊपर रत्नप्रभानामक पृथ्वीमें स्थित घर्मा नामके प्रथम नरकतक नारकियोंकी संख्या असंख्यातगुणी है । अर्थात् सातवें माघवी नामके नरकमें सबसे कम नारकी हैं । उनका प्रमाण जगतश्रेणिके दूसरे वर्गमूलसे भाजित जगतश्रेणि प्रमाण है । छठे मघवी नामके नरकमें सातवें नरकके नारकियोंसे असंख्यात गुने नारकी हैं । उनका प्रमाण जगतश्रेणिके तीसरे वर्गमूल से भाजित जगतश्रेणि प्रमाण है । छठे नरकके नारकियोसे पांचवे नरकके नारकियोंका प्रमाण असंख्यातगुना है जो जगतश्रेणिके छठे वर्गमूलसे भाजित जगतश्रेणि प्रमाण है । उन पांचवें नरकके नारकियोंसे चौथे नरकके नारकियोंका प्रमाण असंख्यातगुणा है जो जगतश्रेणिके आठवें वर्गमूलसे भाजित जगतश्रेणिप्रमाण है । चौथे नरकसे तीसरे नरकके नारकियोंका प्रमाण असंख्यातगुणा है । अतः वालुकाप्रभाभूमिमें स्थित मेघा नामके तीसरे नरकमें जगतश्रेणिके दसवें वर्गमूलसे भाजित जगतश्रेणिप्रमाण नारकी हैं । तीसरे नरकके नारकियोंसे दूसरे नरकमें नारकी असंख्यातगुने हैं । अतः वंशा नामके दूसरे नरकमें जगतश्रेणिके बारहवें वर्गमूलसे भाजित जगतश्रेणि प्रमाण नारकी हैं । दूसरे नरकके नारकियोंसे असंख्यातगुने प्रथम नरकके नारकी हैं । सो समस्त नरकोंके नारकियोंका प्रमाण घनांगुलके दूसरे वर्गमूलसे जगतश्रेणिको गुणा करनेसे जो प्रमाण आवे, उतना है । इस ऊपर कहे छै नरकोंके नारकियों के प्रमाणको जोड़कर इस प्रमाणमें से घटा देने पर जो शेष रहे उतना प्रथम नरकके नारकियोंका प्रमाण है । तथा नीचे नीचे नारकी उत्तरोत्तर अधिक २ दुखी हैं । अर्थात् प्रथम नरकके दुःखसे दूसरे

१ ब गुणिदा । २ स ग हवंति । ३ ब म हिट्ठिट्ठा ।

नरके नारका भवन्ति $\frac{-}{१२}$ । तेभ्यश्च द्वितीयपृथिवीनारकेभ्यः प्रथमपृथिवीनारकाः सन्तः रत्नप्रभाघर्मानाम्नि प्रथमनरके घनाङ्गुलद्वितीयमूलगुणितजगच्छ्रेणिमात्रा नारका भवन्ति –२। $\frac{-}{१२}$ । एकत्रीकृतषड्नारकसंख्याहीना प्रथमनरके नारकसंख्या भवति । सामान्यनारकाः सर्वपृथ्वीजाः घनाङ्गुलद्वितीयवर्गमूलगुणितजगच्छ्रेणिप्रमिता भवन्ति–२ मू। हिट्ठिट्ठा अधोऽधो नारका बहुदुःखा भवन्ति । प्रथमनरकदुःखात् द्वितीये नरके अनन्तगुणं दुःखम्, एवं तृतीयादिषु । रयणपहा–२–१, सक्करा $\frac{-}{१२}$ वालु $\frac{-}{१०}$, पंक $\frac{-}{८}$, धूम $\frac{-}{६}$, तमस्तम $\frac{-}{३}$, सर्वनारका –२ मू ॥ १५९ ॥

कप्प-सुरा भावणया विंतर-देवा तहेव जोइसिया ।
बे[1] हुंति असंख-गुणा संख-गुणा होंति जोइसिया ॥ १६० ॥[2]

[छाया–कल्पसुराः भावनकाः व्यन्तरदेवाः तथैव ज्योतिष्काः । द्वौ भवतः असंख्यगुणौ संख्यगुणाः भवन्ति ज्योतिष्काः ॥] कप्पसुरा कल्पवासिनो देवाः षोडशस्वर्गनवग्रैवेयकनवानुदिशपञ्चानुत्तरजाः विमानवासिनः सुराः असंख्यातश्रेणिप्रमिताः, साधिकघनाङ्गुलतृतीयमूलगुणितश्रेणिमात्राः –३ । तेभ्यश्च वैमानिकेभ्यः देवेभ्य असंख्यातगुणा असुरकुमारादिदशविधा भवनवासिनो देवाः घनाङ्गुलप्रथममूलगुणितश्रेणिमात्राः –१। तेभ्यो भवनेभ्य असंख्यातगुणाः किंनराद्यष्टप्रकारा व्यन्तरदेवाः, त्रिशतयोजनकृतिभक्तजगत्प्रतरमात्राः ४।६५=८१।१० । तेभ्यश्च व्यन्तरदेवेभ्यः सूर्यचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रतारकाः पञ्चप्रकाराः ज्योतिष्काः संख्यातगुणा, बेसदछप्पण्ण-घनाङ्गुलकृतिभक्तजगत्प्रतरमात्राः ४।६५= । अत्र चतुर्णिकायदेवेषु कल्पवासिदेवतः भावनव्यन्तरदेवानां द्वौ राशी असंख्यातगुणौ स्तः । व्यन्तरेभ्यः ज्योतिष्कदेवराशिः संख्यातगुणः=क ३ भ–१ व्यं ४।६५=८१ । १० । इत्यल्पबहुत्वं गतम् । अथैकेन्द्रियादिजीवानामुत्कृष्टमायुर्गाथात्रयेण निगदति ॥ १६० ॥

नरकमें अनन्तगुणा दुःख है। इसी तरह तीसरे आदि नरकोंमें भी जानना ॥ यहां जो प्रथम द्वितीय आदि वर्गमूल कहा है उसका उदाहरण इस प्रकार है। जैसे दो सौ छप्पनका प्रथमवर्गमूल सोलह हैं; क्योंकि सोलहका वर्ग दो सौ छप्पन होता है। दूसरा वर्गमूल चार है। क्योंकि चारका वर्ग १६ और १६ का वर्ग २५६ होता है। तथा तीसरा वर्गमूल दो है। अब यदि जगतश्रेणिका प्रमाण २५६ मान लिया जाये तो उसके तीसरे वर्गमूल दो का दो सौ छप्पन में भाग देनेसे १२८, दूसरे वर्गमूल ४ का भाग देनेसे चौसठ और प्रथम वर्गमूल १६ का भाग देनेसे १६ आता है। इसी तरह प्रकृतमें समझना ॥ १५९ ॥ **अर्थ–**कल्पवासी देवोंसे भवनवासी देव और व्यन्तर देव ये दो राशियां तो असंख्यात गुणी हैं। तथा ज्योतिषी देव व्यन्तरोंसे संख्यातगुणे हैं ॥ **भावार्थ–**सोलह स्वर्ग, नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पांच अनुत्तर विमानोंके वासी देवोंको कल्पवासी कहते हैं। कल्पवासी देव घनांगुलके तीसरे वर्गमूलसे गुणित जगतश्रेणिके प्रमाणसे अधिक हैं। इन कल्पवासी देवोंसे असंख्यात गुने असुर कुमार आदि दस प्रकारके भवनवासी देव हैं। सो भवनवासी देव घनांगुलके प्रथम वर्गमूलसे गुणित जगतश्रेणि प्रमाण हैं। भवनवासियोंसे असंख्यातगुने किन्नर आदि आठ प्रकारके व्यन्तर देव हैं, तीन सौ योजन के वर्गका जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जितना प्रमाण आता है उतने व्यन्तर देव हैं। व्यन्तर देवोंसे सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारे ये पांच प्रकारके ज्योतिषी देव संख्यातगुने हैं। सो दो सौ छप्पन घनांगुल के वर्गका जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जितना प्रमाण आता है उतने ज्योतिषी देव हैं। इस तरह चार निकायके देवोंमें कल्पवासी देवोंसे भवनवासी और व्यन्तर देवोंकी संख्या असंख्यात गुणी हैं और व्यन्तरोंसे संख्यात गुणी ज्योतिष्क देवोंकी संख्या है। इस प्रकार अल्प बहुत्व समाप्त हुआ ॥ १६० ॥

१ ब म ते। २ ब अल्पबहुत्वं । पत्तेयाणं इत्यादि ।

पत्तेयाणं आऊ वास-सहस्साणि दह हवे परमं[1] ।
अंतो-मुहुत्तमाऊं[2] साहारण-सव्व-सुहुमाणं ॥ १६१ ॥

[छाया–प्रत्येकानाम् आयुः वर्षसहस्राणि दश भवेत् परमम् । अन्तर्मुहूर्तम् आयुः साधारणसर्वसूक्ष्माणाम् ॥] प्रत्येकानां प्रत्येकवनस्पतिकायिकानां तालनालिकेरतिन्तिणीकादीनां आयुरुत्कृष्टं दशवर्षसहस्राणि १०००० । साहारण-सव्वसुहुमाणं साधारणसर्वसूक्ष्माणां, साधारणानां नित्येतरनिगोदजीवसूक्ष्मबादराणां, सर्वसूक्ष्माणां च पृथ्वीकायिकाप्का-यिकतेजस्कायिकवायुकायिकसूक्ष्मजीवानां च उत्कृष्टायुरन्तर्मुहूर्तमात्रम् २१ ॥ १६१ ॥

बावीस-सत्त-सहसा पुढवी-तोयाण आउसं होदि ।
अग्गीणं[3] तिण्णि दिणा तिण्णि सहस्साणि वाऊणं ॥ १६२ ॥

[छाया–द्वाविंशतिसप्तसहस्राणि पृथ्वीतोययोः आयुः भवति । अग्नीनां त्रीणि दिनानि त्रीणि सहस्राणि वायूनाम् ॥] द्वाविंशतिसप्तसहस्रवर्षाणि पृथ्वीतोयानाम् आयुष्कं भवति । खरपृथ्वीकायिकजीवानां ज्येष्ठायुः द्वाविंश-तिवर्षसहस्राणि २२०००, कोमलपृथ्वीकायिकजीवानां ज्येष्ठायुर्द्वादशवर्षसहस्राणि भवन्ति १२००० । तोयानाम् अप्कायिकजीवानाम् उत्कृष्टायुः सप्तवर्षसहस्राणि ७००० । अग्गीणं अग्निकायिकानां जीवानां त्रयो दिवसाः, दिवसत्रयमुत्कृष्टायु ३ । वायुकायिकानां त्रिसहस्रवर्षाण्युत्कृष्टायुः ३००० ॥ १६२ ॥

बारस-वास वियक्खे[4] एगुणवण्णा दिणाणि तेयक्खे[5] ।
चउरक्खे छम्मासा पंचक्खे तिण्णि पल्लाणि ॥ १६३ ॥[6]

[छाया–द्वादशवर्षाणि द्व्यक्षे एकोनपञ्चाशत् दिनानि त्र्यक्षे । चतुरक्षे षण्मासाः पञ्चाक्षे त्रीणि पल्यानि ॥] बारसवास वियक्खे द्वादशवर्षाणि द्व्यक्षे, शंखशुक्तिजलौकादीनां द्वीन्द्रियजीवानां द्वादशवर्षाण्युत्कृष्टायुः १२ । एकोनपञ्चा-शद्दिनानि त्र्यक्षे, कुन्थूद्देहिकापिपीलिकायूकामत्कुणवृश्चिकशतपादिकादीनां त्रीन्द्रियजीवानामुत्कृष्टेनैवैकोनपञ्चाशद्दिना-

अब तीन गाथाओंसे एकेन्द्रिय आदि जीवोंकी उत्कृष्ट आयु कहते हैं। **अर्थ–**प्रत्येक वनस्पतिकी उत्कृष्ट आयु दस हजार वर्ष है। तथा साधारण वनस्पति और सब सूक्ष्म जीवोंकी उत्कृष्ट आयु अन्तर्मुहूर्त है ॥ **भावार्थ–**ताड़, नारियल, इमली आदि प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु दस हजार वर्ष है। सूक्ष्म और बादर नित्य निगोदिया और इतर निगोदिया जीवोंकी तथा सूक्ष्म पृथ्वीकायिक सूक्ष्म अप्कायिक, सूक्ष्म तेजस्कायिक, और सूक्ष्म वायुकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु अन्तर्मुहूर्त मात्र है ॥ १६१ ॥ **अर्थ–**पृथिवीकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु बाईस हजार वर्ष है। अप्कायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु सात हजार वर्ष है। अग्निकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु तीन दिन है और वायुकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु तीन हजार वर्ष है ॥ **भावार्थ–**कठोर पृथिवीकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु बाईस हजार वर्ष है। कोमल पृथिवीकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु बारह हजार वर्ष है। अप्कायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु सात हजार वर्ष है। अग्निकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु तीन दिन है और वायुकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु तीन हजार वर्ष है ॥ १६२ ॥ **अर्थ–**दो इन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु बारह वर्ष है। तेइन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु उनचास दिन है। चौइन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु छै महीना है और पञ्चेन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्य है ॥ **भावार्थ–**शङ्ख, सीप, जोंक आदि दोइन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु बारह वर्ष है। कुंथु, दीमक, चींटी, जूं, खटमल, बिच्छु, गिर्जाइ आदि

१ ल ग परमा । २ ब सहुत्तमाऊ । ३ ब अग्गिग, स अग्गीणं । ४ ब विअक्खे । ५ ब तेअक्खे । ६ ब उत्कृष्टं सव्व इत्यादि ।

न्यायुः ४९ । चतुरक्षे षण्मासा., दंशमशकमक्षिकाभ्रमरादीनां चतुरिन्द्रियजीवानामुत्कृष्टं षण्मासायुः ६ । पञ्चाक्षे त्रीणि पल्यानि, उत्तमभोगभूमिजानां मनुष्यतिरश्चामुत्कृष्टेन त्रीणि पल्यान्यायुः ३ । इत्युत्कृष्टमायुर्गतम् ॥ १६३ ॥ अथ सर्वेषां तिर्यग्मनुष्याणां जघन्यायुर्देवनारकाणां च जघन्योत्कृष्टमायुर्गाथाद्वयेनाह–

सव्व-जहण्णं आऊ[1] लद्धि-अपुण्णाणं[2] सव्व-जीवाणं ।
मज्झिम-हीण-मुहुत्तं[3] पज्जत्ति-जुदाण णिक्किट्ठं[4] ॥ १६४ ॥

[छाया–सर्वजघन्यम् आयुः लब्ध्यपूर्णानां सर्वजीवानाम् । मध्यमहीनमुहूर्तं पर्याप्तियुतानां निःकृष्टम् ॥] लब्ध्यपर्याप्तानां सर्वजीवानां लब्ध्यपर्याप्तैकेन्द्रियजीवानां लब्ध्यपर्याप्तद्वीन्द्रियप्राणिनां लब्ध्यपर्याप्तत्रीन्द्रियप्राणिनां लब्ध्यपर्याप्तचतुरिन्द्रियप्राणिनां लब्ध्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियसंज्ञिजीवासंज्ञिजीवानां च सर्वजघन्यमायुः क्षुद्रभवग्रहणम् उच्छ्वासस्यैकस्याष्टादशो भागः लक्ष्यः मध्यमान्तर्मुहूर्तमात्रं 1/18 । तथा वसुनन्दिश्रावकाचारे सर्वलब्ध्यपर्याप्तानाम् उच्छ्वासस्य किंचिन्न्यूनाष्टादशो 1/18 भागः । पज्जत्तिजुदाणं पर्याप्तियुक्तानां पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायिकैकेन्द्रियाणां पर्याप्तानां शंखादिद्वीन्द्रियपर्याप्तानां गोम्यादित्रीन्द्रियपर्याप्तानां भ्रमरादिचतुरिन्द्रियपर्याप्तानां गोगजाश्वहंसादीनां कर्मभूमिजानां कर्मभूमिप्रतिभागजानां पञ्चेन्द्रियतिरश्चां कर्मभूमिजत्रिषष्टिशलाकापुरुषचरमदेहादिवर्जितमनुष्याणां च मध्यमहीनमुहूर्तं जिनदृष्टमध्यमान्तर्मुहूर्तमात्रं निकृष्टं जघन्यायुः हीनमुहूर्तं भिन्नमुहूर्तं वा, किंतु पूर्वोक्तान्मुहूर्तात् अयं महान्मुहूर्तः ॥ १६४ ॥

देवाणं[5] णारयाणं सायर-संखा हवंति तेत्तीसा[6] ।
उक्किट्ठं च जहण्णं वासाणं दस सहस्साणि ॥ १६५ ॥[7]

तेइन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु ४९ दिन है । डांस, मच्छर, मक्खी, भौंरा आदि चौइन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु छै मास है । उत्कृष्ट भोगभूमिया मनुष्य तिर्यञ्चोंकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्य है । इस प्रकार उत्कृष्ट आयुका वर्णन समाप्त हुआ ॥ १६३ ॥ अब तिर्यञ्च और मनुष्योंकी जघन्य आयु तथा देव और नारकियोंकी जघन्य और उत्कृष्ट आयु दो गाथाओंसे कहते हैं । **अर्थ–**लब्ध्यपर्याप्तक सब जीवोंकी जघन्य आयु मध्यम हीनमुहूर्त है और पर्याप्तक सब जीवोंकी जघन्य आयु भी मध्यम हीन मुहूर्त है ॥ **भावार्थ–**लब्ध्यपर्याप्तक एकेन्द्रिय जीवोंकी, लब्ध्यपर्याप्तक दोइन्द्रिय जीवोंकी, लब्ध्यपर्याप्तक तेइन्द्रिय जीवोंकी, लब्ध्यपर्याप्तक चौइन्द्रिय जीवोंकी और लब्ध्यपर्याप्तक पञ्चेन्द्रिय असंज्ञी तथा संज्ञी जीवोंकी सबसे जघन्य आयु क्षुद्र भव ग्रहण है जो एक श्वासका अट्ठारहवां भाग है । यह मध्यम अन्तर्मुहूर्त मात्र है । जैसा कि वसुनन्दि श्रावकाचारमें भी बतलाया है कि सब लब्ध्यपर्याप्तकोंकी जघन्य आयु श्वासके अट्ठारहवें भाग है । तथा पृथिवीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय पर्याप्तकोंकी, शंख आदि दोइन्द्रिय पर्याप्तकोंकी, बिच्छु आदि तेइन्द्रिय पर्याप्तकोंकी, भौंरा आदि चौइन्द्रिय पर्याप्तकोंकी, गाय हाथी घोड़ा हंस आदि कर्मभूमिया पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोंकी तथा त्रिषष्टिशलाका पुरुष और चरमशरीरी पुरुषोंके सिवा शेष कर्मभूमिया मनुष्योंकी जघन्य आयु भी मध्यम अन्तर्मुहूर्त मात्र है । किन्तु पूर्व मध्यम अन्तर्मुहूर्तसे यह मध्यम अन्तर्मुहूर्त बड़ा है ॥ १६४ ॥ **अर्थ–**देवों और नारकियोंकी उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर है । और जघन्य आयु दस हजार वर्ष है ॥ **भावार्थ–**देवो और नारकियोंकी उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर प्रमाण होती है और

१ **ब** आउ, **म** आउं, **ग** आयु । २ **ल म स ग** यपुण्णाण । ३ **ल म ग** मुहुत्तं । ४ **ब** निकिट्ठं । ५ **ग** देवाण । ६ **ग** तेत्तीसा । ७ **ब** आउसं । अंगुल इत्यादि ।

[छाया-देवानां नारकाणां सागरसंख्या भवन्ति त्रयस्त्रिंशत् । उत्कृष्टं च जघन्यं वर्षाणां दश सहस्राणि] देवानां नारकाणां चोत्कृष्टमायुस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणं भवति । च पुनः, तेषां देवानां नारकाणां च जघन्यायुर्दशवर्षसहस्राणि १०००० । तथा हि ॥ "बेसत्तदसयचोद्दससोलसअट्ठारवीसबावीसा । एयाधिया य एत्तो सक्कादिसु सागरुवमाणं ॥" २ । ७ । १० । १४ । १६ । १८ । २० । २२ । २३ । २४ । २५ । २६ । २७ । २८ । २९ । ३० । ३१ । ३२ । ३३ । सौधर्मैशानयोर्देवानां द्वे सागरोपमे परमायुषः स्थितिः २ । अघातायुषोऽपेक्षयैतदुक्तम् । घातायुषोऽपेक्षया पुनर्द्वे सागरोपमे सागरोपमार्धेनाधिके भवतः $\frac{5}{2}$ । एवम् अर्धसागरोपममधिकं घातायुषां देवानां सहस्रारकल्पपर्यन्तम्, ततः समुत्पत्तेरभावात् । सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः देवानां परमायुः सप्तसागरोपमाणि ७ । ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोर्देवानां परमायुः दशसागरोपमाणि १० । किंतु लौकान्तिकाना सारस्वतादीनाम् अष्टौ सागराः ८ । लान्तवकापिष्टयोः देवानां चतुर्दश सागराः १४ । शुक्रमहाशुक्रयोः षोडश सागराः १६ । सतारसहस्रारयोरष्टादशसागराः १८ । आनतप्राणतयोर्विंशतिः सागराः २० । आरणाच्युतयोर्द्वाविंशतिः सागराः २२ । सुदर्शने त्रयोविंशतिरब्धीना परमा स्थितिः २३ । अमोघे चतुर्विंशतिः सागराः २४ । सुप्रबुद्धे पञ्चविंशतिः सागराः २५ । यशोधरे सागराः २६ । सुभद्रे सागराः २७ । सुविशाले सागराः २८ । सुमनसि सागराः २९ । सौमनस्ये सागराः ३० । प्रीतिंकरे सागराः ३१ । आदित्ये सागराः ३२ । सर्वार्थसिद्धौ त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि ३३ ॥ जघन्यं तु 'अपरा पल्योपममधिकम्' सौधर्मैशानयोः प्रथमपटले जघन्यायुःस्थितिः एकपल्योपमं किंचिदधिकं भवति । सौधर्मैशानयोरुत्कृष्टायुषः स्थितिः २ । सनत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवानां समयाधिका जघन्या सा स्थितिः । एवमुपर्युपरि ब्रह्मब्रह्मोत्तरादिषु ज्ञेया । तथा सौधर्मैशानयोः प्रथमपटले

जघन्य आयु दस हजार वर्ष है । कहा भी है—'वैमानिक देवोंकी आयु क्रमश दो, सात, दस, चौदह सोलह, अट्ठारह, बीस और बाईस सागर है और आगे एक एक सागर अधिक है ।' अर्थात् सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति दो सागर है । यह स्थिति अघातायुष्ककी अपेक्षासे कही है । घातायुष्ककी अपेक्षा उत्कृष्ट स्थिति आधा सागर अधिक दो सागर होती है । आशय यह है कि जिस जीवने पूर्वभवमें पहले अधिक आयुका बन्ध किया था पीछे परिणामोंके वशसे उस आयु को घटाकर कम कर दिया वह जीव घातायुष्क कहा जाता है । ऐसा घातायुष्क जीव अगर सम्यग्दृष्टी होता है तो उसके उक्त उत्कृष्ट आयुसे आधा सागर अधिक आयु सहस्रार स्वर्गपर्यन्त होती है; क्योंकि घातायुष्क देव सहस्रार स्वर्गपर्यन्त ही जन्म लेते हैं, उससे आगे उनकी उत्पत्ति नहीं होती । अस्तु, सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गके देवोंकी उत्कृष्ट आयु सात सागर है । ब्रह्म ब्रह्मोत्तर स्वर्गके देवोंकी उत्कृष्ट आयु दस सागर है । किन्तु ब्रह्म स्वर्गके अन्तमें रहनेवाले सारस्वत आदि लौकान्तिक देवोंकी उत्कृष्ट आयु आठ सागर है । लान्तव कापिष्ट स्वर्गके देवोंकी आयु चौदह सागर है । शुक्र महाशुक्र स्वर्गके देवोंकी उत्कृष्ट आयु सोलह सागर है । सतार और सहस्रार स्वर्गके देवोंकी उत्कृष्ट आयु अट्ठारह सागर है । आनत और प्राणत स्वर्गके देवोंकी उत्कृष्ट आयु बीस सागर है । आरण और अच्युत स्वर्गके देवोंकी उत्कृष्ट आयु बाईस सागर है । प्रथम सुदर्शन ग्रैवेयकमें तेईस सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है । दूसरे अमोघ ग्रैवेयकमें चौबीस सागर, तीसरे सुप्रबुद्धमें पच्चीस सागर, चौथे यशोधरमें २६ सागर, पांचवें सुभद्रमें सत्ताईस सागर, छठे सुविशालमें अट्ठाईस सागर, सातवें सुमनसमें उनतीस सागर, आठवें सौमनस्यमें तीस सागर और नौवें प्रीतिंकर ग्रैवेयकमें इकतीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है । आदित्य पटलमें स्थित नौ अनुदिशोंमें बत्तीस सागर तथा सर्वार्थसिद्धि आदि पंच अनुत्तरोंमें तेतीस सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है । सौधर्म और ऐशान स्वर्गके प्रथम

उत्कृष्टायुरर्धसागरोपमम् । तत् द्वितीयपटले जघन्यम् । एवं त्रिषष्टिपटलेषु ज्ञेयम् ॥ भवनवासिनां तु 'स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्धहीनमिता' । असुरकुमाराणां उत्कृष्टा स्थितिः सागरोपमा एका १ । नागानां पल्यत्रयमुत्कृष्टायुः ३ । सुपर्णानां सार्धपल्यद्वयमुत्कृष्टायुः $\frac{5}{2}$ । द्वीपानामुत्कृष्टायुः पल्यद्वयं २ । विद्युत्कुमारादीनां षट्प्रकाराणां प्रत्येकं सार्धं पल्योपममेकम् $\frac{3}{2}$ उत्कृष्टा स्थितिर्भवति । भवनवासिदेवानां दशसहस्रवर्षाणि १०००० जघन्या स्थितिर्भवति । परा पल्योपममधिकम् व्यन्तराणाम् उत्कृष्टम् आयुः पल्योपमैकं किंचिदधिकं भवति । जघन्यं तु दशवर्षसहस्राणामायुः । ज्योतिष्काणां परमायुः पल्योपममेकं किंचिदधिकं भवति । जघन्यं तु तदष्टभागोऽपरा पल्योपमस्याष्टमो भागः $\frac{1}{8}$ । नारकाणां तु तेष्वेक १ त्रि ३ सप्त ७ दश १० सप्तदश १७ द्वाविंशति २२ त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः । रत्नप्रभायां नारकाणां उत्कृष्टायुः सागरः १ । शर्करप्रभायां नारकाणां त्रिसागरोपमा परा स्थितिः ३ । वालुकायां नारकाणामुत्कृष्टायुः सागराः ७ । पङ्कप्रभायां नारकाणां दशसागरोत्कृष्टायुष्कम् १० । धूमप्रभायां नारकाणां सप्तदश सागराः १७ उत्कृष्टायुः । तमःप्रभायां नारकाणां द्वाविंशतिसागरोपमा परा स्थितिः २२ । महातमःप्रभायां नारकाणां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमोत्कृष्टायुः ३३ ॥ विस्तरेण तु रत्नप्रभायाः प्रथमनरकपटले नवतिवर्षसहस्राणि परा स्थितिर्भवति । जघन्यं तु दशवर्षसहस्राण्यायुर्ज्ञेयम् । यदायुः प्रथमनरकपटले वा उत्कृष्टं तदायुः द्वितीयनरकपटले वा जघन्यायुः ॥ इत्यायुःकर्मवर्णना पूर्णा जाता च ॥ १६५ ॥

अथैकेन्द्रियादिजीवानां शरीरावगाहमुत्कृष्टजघन्यं गाथादशकेनाह—

अंगुल-असंख-भागो एयक्खं-चउक्ख-देह-परिमाणं ।
जोयण-सहस्समहियं पउमं उक्कस्सयं जाण ॥ १६६ ॥

पटलमें जघन्य आयु एक पल्यसे कुछ अधिक है । सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें उत्कृष्ट आयु दो सागर है । वही एक समय अधिक सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके देवोंकी जघन्य आयु है । इसी तरह ब्रह्म ब्रह्मोत्तर आदि स्वर्गोंमें भी जानना चाहिये । अर्थात् जो नीचेके युगलमें उत्कृष्ट स्थिति है वही एक समय अधिक स्थिति उसके ऊपरके युगलमें जघन्य स्थिति है । तथा सौधर्म और ऐशान स्वर्गके प्रथम पटलमें उत्कृष्ट आयु आधा सागर है वही उसके दूसरे पटलमें जघन्य आयु है । इसी तरह तरेसठ पटलोंमें जानना चाहिये । भवनवासियोंमें असुरकुमारोंकी उत्कृष्ट आयु एक सागर है, नागकुमारोंकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्य है, सुपर्णकुमारोंकी उत्कृष्ट आयु ढाई पल्य है, द्वीपकुमारोंकी उत्कृष्ट आयु दो पल्य है, शेष विद्युत्कुमार आदि छै प्रकारके भवनवासियोंकी उत्कृष्ट आयु डेढ़ डेढ़ पल्य है । तथा भवनवासी देवोंकी जघन्य आयु दस हजार वर्ष है । व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट आयु एक पल्यसे कुछ अधिक है । जघन्य आयु दस हजार वर्ष है । ज्योतिष्क देवोंकी उत्कृष्ट आयु भी एक पल्यसे कुछ अधिक है । तथा जघन्य आयु एक पल्यका आठवां भाग है । रत्नप्रभामें नारकियोंकी उत्कृष्ट आयु एक सागर है । शर्कराप्रभामें उत्कृष्ट आयु तीन सागर है । वालुकाप्रभामें उत्कृष्ट आयु सात सागर है । पंकप्रभामें उत्कृष्ट आयु दस सागर है । धूमप्रभामें उत्कृष्ट आयु सतरह सागर है । तमःप्रभामें उत्कृष्ट आयु बाईस सागर है । और महातमःप्रभामें उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर है । विस्तारसे रत्नप्रभाके प्रथम नरक पटलमें नौवे हजार वर्ष प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है और जघन्य आयु दस हजार वर्ष है, तथा प्रथम नरकपटलमें जो उत्कृष्ट आयु है वह दूसरे नरकपटलमें जघन्य है । इस प्रकार आयुका वर्णन पूर्ण हुआ ॥ १६५ ॥ अब एकेन्द्रिय आदि जीवोंके शरीरकी जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहना दस गाथाओंसे कहते हैं । **अर्थ**—एकेन्द्रिय चतुष्कके शरीरकी अवगाहनाका प्रमाण अंगुलके असं-

१ ल एगक्ख २ ब जोइण ।

[छाया-अङ्गुलासंख्यभागः एकाक्षचतुष्कदेहपरिमाणम् । योजनसहस्रमधिकं पद्मम् उत्कृष्टकं जानीहि ॥] एकाक्षचतुष्कदेहपरिमाणम् एकेन्द्रियचतुष्कणां पृथिवीकायिकानाम् अप्कायिकानां तेजस्कायिकानां वायुकायिकानां जीवानां प्रत्येकं चतुर्णां देहप्रमाणं शरीरावगाहक्षेत्रं जघन्योत्कृष्टम् असंखभागो अगुलस्यासंख्यातो भागः घनाङ्गुलस्यासंख्येयभागमात्रः $\frac{6}{9}$ । तथा वसुनन्दियत्याचारे प्रोक्तं च । "अंगुलअसंखभागं बादरसुहुमा य सेसया काया । उक्कस्सेण दु णियमा मणुगा य तिगाउदुव्विद्धा ॥" अङ्गुलं द्रव्याङ्गुलम् अष्टयवनिष्पन्नम् । अंगुलेन येऽवष्टब्धाः आकाशप्रदेशाः तेषां मध्येऽनेकस्याः प्रदेशपङ्क्तेर्यावत् आयामः तावन्मात्रं द्रव्याङ्गुलम् । तस्य द्रव्याङ्गुलस्य असंख्यातखण्डं कृत्वा तत्रैकखण्डम् अङ्गुलासंख्यातभागम् । बादरनामकर्मोदयाद्बादराः, सूक्ष्मनामकर्मोदयात् सूक्ष्माः, बादराश्च सूक्ष्माश्च बादरसूक्ष्माः, पृथिवीकायिकादयः । शेषाः कायाः, पृथिवीकायाप्कायतेजस्कायवायुकायाः, उत्कृष्टेन सुष्ठु महत्त्वेन विशेषेण द्रव्याङ्गुलस्यासंख्यातभागमात्रशरीराः । सर्वेऽपि बादरकायाः पृथिवीकायिकादिवायुकायान्ता द्रव्याङ्गुलासंख्यातभागशरीरोत्सेधाः । सूक्ष्माश्च किंचित् हीनमात्रशरीरा घटन्ते । मनुष्याश्च उत्तमभोगभूमिजाः त्रिगव्यूतिशरीरोत्सेधाः ॥ तथा गोम्मटसारे सूक्ष्मबादराणां पर्याप्तापर्याप्तादीनां च जघन्योत्कृष्टभेदेन बहुधा भेदोऽस्ति तत्र ज्ञातव्यः । प्रत्येकवनस्पतिकायिकेषु पउमं पद्मं कमलम् उत्कृष्टमानयुक्तं साधिकसहस्रयोजनप्रमितं जानीहि ॥ १६६ ॥

वारस-जोयण-संखो कोस-तियं गोब्भिया समुद्दिट्ठा ।
भमरो जोयणमेगं सहस्स संमुच्छिमो मच्छो ॥ १६७ ॥

[छाया-द्वादशयोजनः शङ्खः क्रोशत्रिकं गोभिका समुद्दिष्टा । भ्रमरः योजनमेकं सहस्रं संमूर्च्छिमः मत्स्यः ॥] द्वीन्द्रियेषु शंखः द्वादशयोजनायामः १२, चतुर्योजनमुखः ४, सपादयोजनोत्सेधः $\frac{5}{4}$ । त्रीन्द्रियेषु गोभिका, ग्रैष्मिका कर्णवृ-

ख्यातवें भाग है । और कमलकी उत्कृष्ट अवगाहना कुछ अधिक एक हजार योजन है ॥ **भावार्थ–** एकेन्द्रिय चतुष्क अर्थात् पृथिवीकायिक, जलकायिक, तैजस्कायिक और वायुकायिक जीवोंमेंसे प्रत्येक के शरीरकी जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहना घनांगुलके असंख्यातवें भाग मात्र है । वसुनन्दि श्रावकाचारमें भी एक गाथाके द्वारा इसी बातको कहा है जिसका अर्थ इस प्रकार है–'अंगुलसे द्रव्यांगुल लेना, जो आठ यव मध्यका लिखा है । उस अंगुल प्रमाण क्षेत्रमें आकाशके जितने प्रदेश आयें उन प्रदेशोंमेसे बनी अनेक प्रदेशपंक्तियोंकी जितनी लम्बाई हो उतना द्रव्यांगुल होता है । उस द्रव्यांगुलके असंख्यात खण्ड करो । उनमेंसे एक खण्डको अंगुलका असंख्यातवां भाग कहते हैं । जिन जीवोंके बादर नामकर्मका उदय होता है उन्हें बादर कहते हैं और जिन जीवोंके सूक्ष्म नामकर्मका उदय होता है उन्हे सूक्ष्म कहते है । जितने भी बादर और सूक्ष्म पृथिवीकायिक, अप्कायिक, तैजस्कायिक और वायुकायिक जीव है उनके शरीरकी उत्कृष्ट ऊंचाई द्रव्यांगुलके असंख्यातवें भाग है । किन्तु बादर जीवोंसे सूक्ष्म जीवोंकी ऊंचाई कुछ कम होती है । तथा उत्तम भोगभूमिया मनुष्योंके शरीरकी ऊंचाई तीन कोस होती है । तथा गोम्मटसारमें सूक्ष्म बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त वगैरह जीवोंके जघन्य और उत्कृष्टके भेदसे बहुतसे अवगाहनाके भेद बतलाये हैं सो वहांसे जान लेना । यह तो हुआ एकेन्द्रिय चतुष्ककी अवगाहना का प्रमाण । और प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवोंमें कमलकी उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण कुछ अधिक एक हजार योजन जानना चाहिये ॥ १६६ ॥ **अर्थ–**दो इन्द्रियोंमें शंखकी उत्कृष्ट अवगाहना बारह योजन है । तेइन्द्रियोंमें गोभिका (कानखजूरा) की उत्कृष्ट अवगाहना तीन कोस है । चौइन्द्रियोंमें भ्रमरकी उत्कृष्ट अवगाहना एक योजन है । और पञ्चेन्द्रियोंमें

१ ब जोयण । २ ब कोस । ३ **लमसग** गुब्भिया । ४ ब जोयणमेगं । ५ **लग** सहस्सं, **म** सहस्सा । ६ **लमसग** समुच्छिदो ।

श्चिक इत्यर्थः, क्रोशत्रिकायामा ३ समुद्दिष्टा। चतुरिन्द्रियेषु भ्रमरः एकयोजनायामः १, तद्विस्तारस्तु क्रोशत्रिकः ३, वेधस्तु द्विक्रोशमात्रः २। पञ्चेन्द्रियेषु मत्स्यः सन्मूर्च्छनः एकसहस्रायामः १०००, पञ्चशतयोजनविस्तारः ५००, सार्धद्विशतयोजनोत्सेधः २५०। एतत्सर्वमुत्कृष्टमानं जानीहि। तथा गोम्मटसारे प्रोक्तं च। 'साहियसहस्समेकं वारं कोसूणमेक्कमेक्कं च। जोयणसहस्सदीहं पउमे वियले महामच्छे॥' एकेन्द्रियेषु स्वयम्भूरमणद्वीपवर्तिस्वयंप्रभाचलापरभागस्थितक्षेत्रोत्पन्नपद्मे साधिकसहस्रयोजनायामैकयोजनव्यासोत्कृष्टावगाहो भवति। अस्य च व्यासः योजन १, त्रिगुणः १।३ परिधिः, अयं च व्यासचतुर्थां $\frac{१}{४}$ हतः १।३। $\frac{३}{४}$ क्षेत्रफलम्। तच्च वेधेन यो १००० चतुर्भिरपवर्तितेन गुणितं योजनात्मकं खातफलं भवति ७५०॥ द्वीन्द्रियेषु तत्स्वयम्भूरमणवर्तिशंखे द्वादशयोजनायामयोजनपञ्चचतुर्थांशोत्सेधः $\frac{५}{४}$ चतुर्योजनमुखव्यासोत्कृष्टावगाहो भवति। अस्य च व्यासः यो० १२ तावद्गुणितो १४४, वदन ४, दल २, ऊनो १४२, मुखार्धवर्ग ४ युतः १४६, द्विगुणः २९२, चतुर्विभक्तः ७३, पञ्चगुणः ३६५ शंखखातफलम्॥ त्रीन्द्रियेषु स्वयम्भूरमणद्वीपपरभागवर्तिकर्मभूमिप्रतिबद्धक्षेत्रे रक्तवृश्चिकजीवे योजनत्रिचतुर्भागायाम $\frac{३}{४}$, तदष्टमांशव्यासः $\frac{३}{३२}$, तदर्धोत्सेधः $\frac{३}{६४}$ उत्कृष्टावगाहोऽस्ति, अस्य च भुजकोटिवधात् पजायते क्षेत्रफलं $\frac{३}{४}\cdot\frac{३}{३२}$ तच्च वेधगुण $\frac{३}{४}\cdot\frac{३}{३२}\cdot\frac{३}{६४}$ घनफलं भवति $\frac{२७}{८१९२}$॥ चतुरिन्द्रियेषु स्वयम्भूरमणद्वीपापरभागकर्मभूमिप्रतिबद्धक्षेत्रवर्तिभ्रमरे एकयोजनायाम १, तत्त्रिचतुर्भागव्यासः $\frac{३}{४}$, अर्धयोजनोत्सेधः $\frac{१}{२}$ उत्कृष्टावगाहोऽस्ति। अस्य च भुजकोटीत्यादिनानीतं घनफलं $\frac{३}{८}$ योजनत्र्यष्टमभागो भवति॥ पञ्चेन्द्रियेषु स्वयम्भूरमणसमुद्रमध्यवर्तिमहामत्स्ये सहस्रयोजनायामः १०००, पञ्चशतयोजनव्यासः ५००, पञ्चाशदग्रद्विशतयोजनोत्सेधः २५० उत्कृष्टावगाहोऽस्ति। अस्य च भुजकोटीत्यादिनानीतघनफलं १२५०००००००

महामत्स्यकी उत्कृष्ट अवगाहना एक हजार योजन है॥ **भावार्थ**–दो इन्द्रियोंमें शंखकी लम्बाई बारह योजन है। चार योजनका उसका मुख है और सवा योजन ऊंचाई है। तेइन्द्रियोंमें गोभिका अर्थात् कानखजूराकी लम्बाई तीन कोस बतलाई हैं। चौइन्द्रियोंमें भौंरा एक योजन लम्बा है, उसका विस्तार तीन कोस है और ऊंचाई दो कोस है। पञ्चेन्द्रियोंमें मत्स्य, जो कि सम्मूर्छन है, एक हजार योजन लम्बा है, पांच सौ योजन चौड़ा है और अढ़ाई सौ योजन ऊंचा है। यह सब उत्कृष्ट प्रमाण है। गोम्मटसारमें भी कहा है–'स्वयंभूरमणके द्वीपके मध्यमें जो स्वयंप्रभ नामका पर्वत है उसके उधर कर्मभूमि है। वहां पर एकेन्द्रियोंमें उत्कृष्ट अवगाहनावाला कुछ अधिक एक हजार योजनका लम्बा और एक योजन चौड़ा कमल है। उसका क्षेत्रफल इस प्रकार है कमल गोल है। गोल वस्तुका क्षेत्रफल निकालनेका कायदा यह है–'व्याससे तिगुनी परिधि होती है। परिधिको व्यासके चौथाई भागसे गुणा करनेपर क्षेत्रफल होता है। और क्षेत्रफलको ऊंचाईसे गुणा करनेपर खात क्षेत्रफल होता है। सो कमलका व्यास एक योजन है। उसको तिगुना करनेसे तीन योजन उसकी परिधि होती है। इस परिधिको व्यासके चौथे भाग पाव योजनसे गुणा करनेपर क्षेत्रफल पौन योजन होता है। उसको कमलकी लम्बाई एक हजार योजनमें गुणाकरनेपर $\frac{३}{४} \times १००० = ७५०$ योजन कमलका क्षेत्रफल होता है। तथा दो इन्द्रियोंमें उत्कृष्ट अवगाहनवाला उसी स्वयंभुरमण समुद्रमें बारह योजन लम्बा सवा योजन ऊंचा और चार योजन का मुख वाला शंख है। इसका क्षेत्रफल निकालनेका नियम इस प्रकार है–व्यासको व्याससे गुणित करके उसमें मुखका आधा प्रमाण घटाओ। फिर उसमें मुखके आधे प्रमाणके वर्गको जोड़ो। उसका दूना करो। फिर उसे चारका भाग दो और पांचसे गुणाकरो। ऐसा करनेसे शंखका क्षेत्रफल निकल आता है। सो यहां व्यास बारह योजनको बारह योजनसे गुणाकरो

सार्धद्वादशकोटियोजनमात्रं भवति । एतान्युक्तघनफलानि प्रदेशीकृतानि तदेकेन्द्रियस्य चतुःसंख्यातगुणितघनाङ्गुलमात्रं ६ १ १ १ १ । द्वीन्द्रियस्य त्रिसंख्यातगुणितघनाङ्गुलमात्रं ६ १ १ १ । त्रीन्द्रियस्यैकसंख्यातगुणितघनाङ्गुलमात्रं ६ १ । चतुरिन्द्रियस्य द्विसंख्यातगुणितघनाङ्गुलमात्रं ६ १ १ । पञ्चेन्द्रियस्य पञ्चसंख्यातगुणितघनाङ्गुलमात्रं ६ १ १ १ १ १ ॥ १६७ ॥ अथ नारकाणां देहोत्सेधमाह–

पंच-सया-धणु-छेहा[1] सत्तम-णरए हवंति णारइया[2] ।
तत्तो उस्सेहेण य अद्धद्धा होंति[3] उवरुवरिं ॥ १६८ ॥

[छाया–पञ्चशतधनूत्सेधाः सप्तमनरके भवन्ति नारकाः । ततः उत्सेधेन च अर्धार्धाः भवन्ति उपर्युपरि ॥] सप्तमे नरके माधव्याम् उत्कृष्टतो नारकाः पञ्चशतधनु.शरीरोत्सेधाः भवन्ति ५०० । ततः सप्तमनरकात उपर्युपरि

एकसौ चवालीस हुए । उसमें मुख ४ का आधा २ घटानेसे १४२ रहे । उसमें मुखके आधा प्रमाण २ के वर्ग चारको जोड़नेसे एकसौ छियालीस हुए । उसका दूना करनेसे २९२ हुए । उसमें ४ का भाग देनेसे ७३ हुए । ७३ में पांचको गुणा करनेसे तीन सौ पैंसठ योजन शंखका क्षेत्रफल होता है । तेइन्द्रियोंमें उत्कृष्ट अवगाहनावाला, उसी स्वयंभूरमण द्वीपके परले भागमें जो कर्म भूमि है वहां पर लाल विच्छु है । वह $\frac{३}{४}$ योजन लम्बा, और लम्बाईके आठवें भाग $\frac{३}{३२}$ चौड़ा और चौड़ाई से आधा $\frac{३}{६४}$ ऊंचा है । यह क्षेत्र लम्बाईको लिये हुए चौकोर है । इस लिये लम्बाई, चौड़ाई और ऊचाईको गुणा करनेसे क्षेत्रफल निकलता है । सो यहां लम्बाई $\frac{३}{४}$ को चौड़ाई $\frac{३}{३२}$ से गुणा करनेपर $\frac{९}{१२८}$ हुआ इसको ऊंचाई $\frac{३}{६४}$ से गुणा करनेपर $\frac{९}{१२८} \times \frac{३}{६४} = \frac{२७}{८१९२}$ योजन घन क्षेत्रफल होता है । चौइन्द्रियोंमें उत्कृष्ट अवगाहनावाला उसी स्वयंभूरमणद्वीप सम्बन्धी कर्मभूमिमें भौरा है । वह एक योजन लम्बा, पौन योजन चौड़ा और आधा योजन ऊंचा है । सो तीनोंको गुणाकरनेसे $१ \times \frac{३}{४} \times \frac{१}{२} = \frac{३}{८}$ योजन घन क्षेत्रफल होता है । पञ्चेन्द्रियोंमें उत्कृष्ट अवगाहनावाला स्वयंभुरमण समुद्रका महामत्स्य है । वह एक हजार योजन लम्बा, पांचसौ योजन चौड़ा और दो सौ पचास योजन ऊंचा है । सो इन तीनोंको परस्परमें गुणा करने से १०००×५००×२५०= साढ़े बारह करोड़ योजन घनक्षेत्रफल होता है । इन योजनरूप घनफलोंको यदि प्रदेशोंके प्रमाणकी दृष्टिसे आंका जाये तो घनांगुलको चार बार संख्यातसे गुणा करने पर जितना परिमाण होता है उतने प्रदेश एकेन्द्रिय कमलकी उत्कृष्ट अवगाहनाके होते हैं । इसी तरह घनांगुलको तीन बार संख्यातसे गुणा करनेपर जितना प्रदेशोंका प्रमाण हो उतने प्रदेश दो इन्द्रियकी उत्कृष्ट अवगाहनामें होते हैं । घनांगुलको एक बार संख्यातसे गुणा करनेपर जितना प्रदेशोंका परिमाण हो उतने प्रदेश तेइन्द्रियकी उत्कृष्ट अवगाहनामें होते हैं । घनांगुलको दो बार संख्यातसे गुणा करनेपर जितना प्रदेशोंका परिमाण हो उतने प्रदेश चौइन्द्रियकी उत्कृष्ट अवगाहनामें होते हैं । और घनांगुलको पांचबार संख्यातसे गुणाकरने पर जितना प्रदेशोंका परिमाण हो उतने प्रदेश पंचेन्द्रियकी उत्कृष्ट अवगाहनामें होते हैं ॥ १६७ ॥ अब नारकियोंके शरीरकी ऊंचाई कहते हैं । **अर्थ–**सातवें नरकमें नारकियोंका शरीर पांचसौ धनुष ऊंचा है । उससे ऊपर ऊपर देहकी ऊंचाई आधी आधी है ॥ **भावार्थ–**माधवी नामक सातवें नरकमें नारकी जीवोंके शरीरकी ऊंचाई अधिकसे अधिक पांचसौ

१ **ब** पचसधणुच्छेहा (?) । २ **ल म ग** णेरइया । ३ **ब** हुंति ।

षष्ठादिनरकेषु शरीरोत्सेधेन अर्धार्धमानाः भवन्ति। तत्र षष्ठे नरके मघव्यां नारकाः सार्धद्विशतचापोत्तुङ्गाः स्युः २५०। पञ्चमे नरके रिष्टायां पञ्चविंशत्यधिकशतशरासनोत्सेधशरीराः नारकाः भवन्ति १२५। चतुर्थे नरके अञ्जनायां सार्धद्विषष्टिचापोत्तुङ्गाः नारकाः सन्ति $\frac{१२५}{२}$। तृतीयनरके मेघायां सपादैकत्रिंशच्चापोत्सेधशरीराः नारकाः, धनुः ३१ हस्त १। द्वितीये नरके वंशायां सार्धपञ्चदशचापा द्वादशाङ्गुलाधिकाः शरीरोत्तुङ्गा नारकाः स्युः, धनु १५, हस्त २, अङ्गुल १२। प्रथमे नरके घर्मायां सार्धसप्तधनुरेकहस्तषडङ्गुलोदयशरीरा नारका भवन्ति, धनुः ७, हस्ताः ३, अङ्गुलाः ६॥ तथा त्रैलोक्यसारे पटलं प्रति नारकाणां शरीरोत्सेधः। उक्तं च। "पढमे सत्त ति छक्कं उदयं धणु रयणि अंगुलं सेसे। दुगुणकमं पढमिंदे रयणितियं जाण हाणिचयं॥" प्रथमपृथिव्याश्चरमपटले सप्त ७ त्रि ३ षट्कं ६ उदयः धनूरत्न्यंगुलानि। द्वितीयादिपृथिव्याश्चरमपटले द्विगुणक्रमम्। प्रथमपृथिव्याः प्रथमेन्द्रके हस्तत्रियम्। एतद्दृत्वा हानिचयं जानीहि। आदीअंतविसेसे रूऊणद्धा हिदम्हि हाणिचयं। प्रथमे नरके हानिचयं हस्त २, अङ्गुल ८ भाग $\frac{१}{२}$, द्वितीये हस्त २ अङ्गुलः २० भाग $\frac{२}{११}$, तृतीये दण्ड १ हस्त २ अङ्गुल २२ भाग $\frac{२}{३}$, चतुर्थे दण्ड ४ हस्त १ अङ्गुल २० भाग $\frac{४}{७}$, पञ्चमे दण्ड १२ हस्त २, षष्ठे दण्ड ४१ हस्त २ अङ्गुल १६, सप्तमे दण्ड २५०। इति हानिचयम्॥ प्रथमनरके पटलं २ प्रति नारकाणां देहोत्सेधः। १ प०, दं ० ह ३ अं ० भा ०। २ प०, दं १ ह १ अं ८ भा $\frac{१}{२}$। ३ प० दं १ ह ३ अं १७ भा ०। ४ प०, दं २ ह २ अं १ भा $\frac{१}{२}$। ५ प०, दं ३ ह ० अं १० भा $\frac{१}{२}$। ६ प०, दं ३ ह २ अं १८ भा $\frac{१}{२}$। ७ प०, दं ४ ह १ अं ३ भा ०। ८ प०, दं ४ ह ३ अं ११। ९ प०, दं ५ ह १ अ २० भा ०। १० प०, दं ६ ह ० अं ४ भा $\frac{१}{२}$। ११ प० दं ६ ह २ अं १३ भा ०। १२ प० दं ७ ह ० अं २१ भा $\frac{१}{२}$। १३ प० दं ७ ह ३ अं ६ भा ०॥ द्वितीयनरके पटलं २ प्रति नारकाणां देहोत्सेधः। १ प०, दं ८ ह २ अं २ भा $\frac{२}{११}$। २ प० दं ९ ह ० अं २२ भा $\frac{४}{११}$। ३ प०, दं ९ ह ३ अं १८ भा $\frac{६}{११}$। ४ प०, दं १० ह २ अं १४ भा $\frac{८}{११}$। ५ प०, दं ११ ह १ अं १० भा $\frac{१०}{११}$। ६ प०, दं १२ ह ० अं ७ भा $\frac{१}{११}$। ७ प०, दं १२ ह ३ अं ३ भा

धनुष होती है। और सातवें नरकसे ऊपर ऊपर शरीरकी ऊंचाई आधी आधी होती जाती है। अतः मघवी नामक छठे नरकमें शरीरकी ऊंचाई अढ़ाईसौ धनुष है। अरिष्टा नामके पांचवे नरकमें शरीरकी ऊंचाई एकसौ पच्चीस धनुष है। अंजना नामक चौथे नरकमें साढ़े बासठ धनुष है। मेघा नामके तीसरे नरकमें नारकियोंके शरीरकी ऊंचाई सवा इकतीस धनुष है। वंशा नामके दूसरे नरकमें नारकियोंके शरीरकी ऊंचाई १५ धनुष, २ हाथ, १२ अंगुल है। और घर्मा नामके प्रथम नरकमें नारकियोंके शरीरकी ऊंचाई ७ धनुष, ३ हाथ ६ अंगुल है। त्रिलोकसार नामक ग्रन्थमें प्रत्येक पटलमें नारकियोंके शरीरकी ऊंचाई बतलाई है जो इस प्रकार है–प्रथम नरकके अन्तिम पटलमें ७ धनुष, ३ हाथ, ६ अंगुल ऊंचाई है। दूसरे आदि नरकोंके अन्तिम पटलमें दूनी दूनी ऊंचाई है। तथा प्रथम नरकके प्रथम पटलमें तीन हाथ ऊंचाई है। आगेके पटलोंमें हानि वृद्धि जाननेके लिये अन्तिम पटलकी ऊंचाईमें प्रथम पटलकी ऊंचाई घटाकर जो शेष रहे उसमें प्रथम नरकके पटलोंकी संख्यामें एक कम करके उसका भाग दे देना चाहिये। सो ७–३–६ में ३ हाथको घटानेसे ७ धनु, ६ अं० शेष बचते हैं। इसमें प्रथम नरकके कुल पटल १३ मे एक कम करके १२ का भाग देने से २ हाथ ८$\frac{१}{२}$ अंगुल हानि वृद्धिका प्रमाण आता है। अर्थात् प्रथम नरकके दूसरे आदि पटलोंमें शरीरकी ऊंचाई २ हाथ ८$\frac{१}{२}$ अंगुल बढ़ती जाती है। इसी तरह दूसरे नरकके अन्तिम पटलमें शरीरकी ऊंचाई १५ धनुष, २ हाथ, बारह अंगुल है। इसमेंसे प्रथम नरकके अन्तिम पटल में जो शरीरकी ऊंचाई है उसे घटानेसे ७ धनुष, ३ हाथ, ६ अंगुल शेष रहते हैं। इसमें दूसरे नरकके पटलोंकी संख्या ११ का भाग देनेसे वृद्धि हानिका प्रमाण २ हाथ २०$\frac{२}{११}$ अंगुल आता

$\frac{3}{11}$ । ८ प०, दं १३ ह १ अं २३ भा $\frac{5}{11}$ । ९ प०, दं १४ ह ० अं १९ भा $\frac{7}{11}$ । १० प०, दं १४ ह ३ अं १५ भा $\frac{0}{11}$ । ११ प०, दं १५ ह २ अं १२ भा ० ॥ तृतीयनरके पटलं प्रति नारकाणां देहोत्सेधः । १ प०, दं १७ ह १ अ १० भा $\frac{2}{3}$ । २ प०, दं १९ ह ०, अं ९ भा $\frac{1}{3}$ । ३ प०, दं २०, ह ३, अं ८ भा० । ४ प०, दं २२ ह २ अ ६ भा $\frac{2}{3}$ । ५ प०, दं २४ ह १ अं ५ भा $\frac{1}{3}$ । ६ प०, दं २६ ह० अं ४ भा० । ७ प०, दं २७ ह ३ अं २ भा $\frac{2}{3}$ । ८ प०, दं २९ ह २ अं १ भा $\frac{1}{3}$ । ९ प०, दं ३१ ह १ अं० भा० ॥ चतुर्थनरके पटलं प्रति नारकाणां देहोत्सेधः । १ प०, दं ३५ ह २ अं २० भा $\frac{4}{7}$ । २ प०, दं ४० ह० अं १७ भा $\frac{1}{7}$ । ३ प०, दं ४४ ह २ अं १३ भा $\frac{5}{7}$ । ४ प०, दं ४९ ह० अ १० भा $\frac{2}{7}$ । ५ प०, दं ५३ ह २ अं ६ भा $\frac{6}{7}$ । ६ प०, दं ५८ ह० अं ३ भा $\frac{3}{7}$ । ७ प०, दं ६२ ह २ अं० भा० ॥ पञ्चमनरके पटलं प्रति नारकाणां देहोत्सेधः । १ प०, दं ७५ ह० अं० भा० । २ प०, दं ८७ ह २ अं० भा० । ३ प०, दं १०० ह० अं० भा० । ४ प०, दं ११२ ह २ अं० भा० । ५ प०, दं १२५ ह० अं० भा० ॥ षष्ठनरके पटलं प्रति नारकाणां देहोत्सेधः । १ प०, दं० १६६ ह २ अं १६ भा० । २ प०, दं २०८ ह १ अ ८ भा० । ३ प०, दं २५० ह० अं० भा० ॥ सप्तमे नरके पटलं प्रति नारकाणां देहोत्सेध. । १ प०, दं ५०० ह० अं० भा० ॥ १६८ ॥

असुराणं पणवीसं सेसं-णव-भावणा य दह-दंडं ।
विंतर-देवाण तहा जोइसिया[1] सत्त-धणु-देहा ॥ १६९ ॥

[छाया–असुराणां पञ्चविंशतिः शेषाः नवभावनाः च दशदण्डाः । व्यन्तरदेवानां तथा ज्योतिष्काः सप्तधनुर्देहाः ॥] असुरकुमाराणां प्रथमकुलानां देहोदय. पञ्चविंशतिधनूंषि २५ । सेस-णव-भावणा, शेषनवभावनाश्च नवभवनवासिनो देवाः नवकुलभेदाः । नागकुमार १ विद्युत्कुमार २ सुपर्णकुमार ३ अग्निकुमार ४ वातकुमार ५ स्तनितकुमार ६ उदधिकुमार ७ द्वीपकुमार ८ दिक्कुमारदेवाः ९. नवप्रकारा दशदण्डशरीरोत्सेधा भवन्ति १० । विंतरदेवाण व्यन्तरदेवानां किन्नर १ किंपुरुष २ महोरग ३ गन्धर्व ४ यक्ष ५ राक्षस ६ भूत ७ पिशाचानाम् ८ अष्टप्रकाराणां तथा तेनैव

है । सो दूसरे नरकके प्रत्येक पटलमें नीचे नीचे इतनी ऊंचाई बढ़ती गई है । तीसरे नरकके अन्तिम पटलमें शरीरकी ऊंचाई ३१ धनुष १ हाथमेंसे दूसरे नरकके अन्तिम पटलकी ऊंचाई १५ धनु, २ हाथ बारह अंगुलको कम कर देनेसे १५ धनुष, २ हाथ, बारह अंगुल शेष रहते हैं । इसमें पटलोंकी संख्या ९, का भाग देनेसे १ धनुष, २ हाथ २२$\frac{2}{3}$ अंगुल हानि वृद्धिका प्रमाण आता है । सो तीसरे नरकके प्रत्येक पटलमें इतनी ऊंचाई नीचे नीचे बढ़ती जाती है । इसी तरह चौथे नरकके प्रत्येक पटलमें हानि वृद्धिका प्रमाण ४ धनुष, १ हाथ २०$\frac{4}{7}$ अंगुल है । पांचवे में १२ धनुष, २ हाथ है । और छठे में ४१ धनुष, २ हाथ, १६ अंगुल है । सातवें नरकमें तो एक ही पटल है अतः छठे नरकके अन्तिम पटलमें शरीरकी उंचाई २५० धनुषमें २५० की वृद्धि होनेसे सातवें नरककी ऊंचाई आजाती है । इस प्रकार प्रत्येक नरकके प्रत्येक पटलमें शरीरकी ऊंचाई जाननी चाहिये । जैसा कि ऊपर दिये नकशेसे स्पष्ट होता है ॥ १६८ ॥ अब देवोंके शरीरकी ऊंचाई बतलाते हैं । **अर्थ–**भवनवासियोंमें असुरकुमारोंके शरीरकी ऊंचाई पच्चीस धनुष है और शेष नौ कुमारोंकी दस धनुष है । तथा व्यन्तर देवोंके शरीरकी ऊंचाई भी दस धनुष है और ज्योतिषी देवोंके शरीरकी ऊंचाई सात धनुष है । **भावार्थ–**भवनवासियोंके प्रथम भेद असुरकुमारोंके शरीरकी ऊंचाई पच्चीस धनुष है । और शेष नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार, दिक्कुमार इन नौ प्रकारके भवनवासी देवोंके शरीर

१ ग जोयसिया ।

प्रकारेण शरीरं दशदण्डोच्चत्वं १० भवति । ज्योतिष्काः सूर्यचन्द्रग्रहनक्षत्रतारकाः पञ्चविधा ज्योतिष्कदेवाः सप्तधनुर्देहाः सप्तशरासनोत्सेधदेहा भवन्ति ॥ १६९ ॥ स्वर्गग्रैवेयकादिदेवानां देहोदयमाह–

दुग-दुग-चदु-चदु-दुग-दुग-कप्प-सुराणं सरीर-परिमाणं ।
सत्तच्छे[1]-पंच-हत्था चउरो अद्धद्ध-हीणा य ॥ १७० ॥

[छाया–द्विकद्विकचतुश्चतुर्द्विकद्विककल्पसुराणां शरीरपरिमाणम् । सप्तषट्पञ्चहस्ताः चत्वारः अर्धार्धहीनाः च ॥] द्विकद्विकचतुश्चतुर्द्विकद्विककल्पसुराणां प्रथमयुगल २ द्वितीययुगल २ तृतीयचतुर्थयुगल ४ पञ्चमषष्ठयुगल ४ सप्तम २ अष्टमयुगल २ निवासिदेवाना शरीरप्रमाणं देहोदयं यथाक्रमं सप्त ७, षट् ६, पञ्च ५, चत्वारो हस्ता ४, अर्धार्धहीनाश्च ७/२, ३ । तद्यथा । सौधर्मैशानयोः देवाः सप्तहस्तोत्सेधशरीराः ७, सनत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवाः षड् हस्तोदयदेहाः ६, ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु चतुर्षु देवाः पञ्चहस्तोत्सेधशरीराः ५, शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारकल्पेषु चतुर्षु चतुःकरोदयशरीराः ४ । ततश्च अर्धार्धहस्तहीनक्रमाः । आनतप्राणतयो सुराः सार्धत्रिहस्तोदयशरीरा भवन्ति । तथा त्रैलोक्यसारे एवमप्युक्तं च । "दुसु दुसु चदु दुसु दुसु चदु तितिसु सेसेसु देहउस्सेहो । रयणीण सत्त छप्पण चत्तारि दलेण हीणकमा ॥" द्वयोर्द्वयो २ श्चतुर्षु ४ द्वयोर्द्वयो २ श्चतुर्षु त्रिस्त्रिषु ९ शेषे १४ ष्विति दशसु स्थानेषु देहोत्सेधो यथासंख्यं सप्त ७ षट् ६ पञ्च ५ चत्वारो ४ रत्नयः । ततः उपर्यर्धहस्तहीनक्रमो ज्ञातव्यः । सौ ई. ह. ७, स. मा० ६, ब्र. ब्र लां. का. ह. ५, शु. म. ह. ४, सतारसह. ७/२, आ. प्रा. आ० अच्यु. ह ३, प्र० त्रि ५/२, द्वि. त्रि. २, तृ. त्रि. ३/२, नवानुदिशपञ्चानुत्तरदेवशरीराः, हस्त १ ॥ १७० ॥

की ऊंचाई दस धनुष है । तथा किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच इन आठ प्रकारके व्यन्तर देवोंके शरीरकी ऊंचाई भी दस धनुष है । सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, तारे इन पाच प्रकारके ज्योतिषी देवोंके शरीरकी ऊंचाई सात धनुष है ॥ १६९ ॥ अब वैमानिक देवोंके शरीरकी ऊंचाई कहते हैं । **अर्थ**–दो, दो, चार, चार, दो, दो कल्पोंके निवासी देवोंके शरीरकी ऊंचाई क्रमसे सात हाथ, छै हाथ, पाच हाथ, चार हाथ और फिर आधा आधा हाथ हीन है । **भावार्थ**–प्रथमयुगल, द्वितीययुगल, तृतीय और चतुर्थ युगल, पञ्चम और छठे युगल, सातवें युगल, और आठवें युगलके निवासी देवोंके शरीरकी ऊंचाई क्रमसे सात हाथ, छै हाथ, पांच हाथ, चार हाथ और आधा आधा हाथ हीन है । अर्थात सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देवोंका शरीर सात हाथ ऊंचा है । सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके देवोका शरीर छै हाथ ऊंचा है । ब्रह्म ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ स्वर्गमें देवोका शरीर पाच हाथ ऊंचा है । शुक्र महाशुक्र, शतार और सहस्रार स्वर्गमें देवोंका शरीर चार हाथ ऊंचा है । आनत प्राणतमें ३॥ हाथका ऊचा शरीर है और आरण अच्युतमें तीन हाथका ऊंचा शरीर है । त्रिलोकसारमें भी इसी प्रकार (थोड़े भेदसे) देवोंके शरीरकी ऊंचाई बतलाते हुए लिखा है–दो, दो, चार, दो, दो, चार, तीन, तीन, तीन, और शेषमें शरीरकी ऊंचाई क्रमसे ७ हाथ, छै हाथ, पांच हाथ, चार हाथ और फिर आधा आधा हाथ कम जानना चाहिये । अर्थात सौधर्म ईशानमें ७ हाथ, सनत्कुमार माहेन्द्रमें छै हाथ, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लान्तव कापिष्ठमें पाच हाथ, शुक्र महाशुक्रमें ४ हाथ, शतार सहस्रारमें ३½ हाथ, आनत प्राणत आरण अच्युतमें ३ हाथ, तीन अधोग्रैवेयकमें २½ हाथ, तीन मध्यग्रैवेयकमें दो हाथ, तीन उपरिमग्रैवेयकमें १½ हाथ और

[1] ग सत्तचपच [सत्तछहपंच ?] ।

हिट्ठिम-मज्झिम-उवरिम-गेवज्जे[1] तह विमाण-चउदसए ।
अद्ध-जुदा वे[2] हत्था हीणं अद्धद्धयं उवरिं ॥ १७१ ॥

[छाया-अधस्तनमध्यमोपरिमग्रैवेयके तथा विमानचतुर्दशके । अर्धयुतौ द्वौ हस्तौ हीनम् अर्धार्धकम् उपरि ॥] अधस्तनमध्यमोपरिमग्रैवेयकेषु तथा विमानचतुर्दशेषु अर्धयुक्तौ द्वौ हस्तौ $\frac{5}{2}$, द्वौ हस्तौ, ततः उपरि अर्धार्धहीनः $\frac{3}{2}$ । १ । तद्यथा । अधोग्रैवेयकत्रिकेऽहमिन्द्राणां शरीरोच्चत्वं सार्धद्विहस्तौ, मध्यमग्रैवेयकत्रिके अहमिन्द्राणां शरीरोदयः द्वौ हस्तौ २, उपरिमग्रैवेयकत्रिके अहमिन्द्रदेवानां देहोदयः व्यर्धहस्तप्रमाणः $\frac{3}{2}$, नवानुदिशपञ्चानुत्तरचतुर्दशविमानेषु एकहस्तोदयशरीरा अहमिन्द्रा भवन्ति ॥ १७१ ॥ अथ भरतैरावतक्षेत्रेषु अवसर्पिण्याः षट्कालापेक्षया शरीरोत्सेधं साधयति–

अवसप्पिणीए[3] पढमे काले मणुया ति-कोस-उच्छेहा ।
छट्ठस्स वि अवसाणे हत्थ-पमाणा विवत्था य ॥ १७२ ॥

[छाया-अवसर्पिण्याः प्रथमे काले मनुजाः त्रिक्रोशोत्सेधाः । षष्ठस्य अपि अवसाने हस्तप्रमाणाः विवस्त्राः च ॥] अवसर्पिण्याः प्रथमकाले सुषमसुषमसंज्ञे[4] मनुष्याः त्रिक्रोशोत्सेधशरीराः क्रो. ३, तस्यान्ते द्वितीयकालस्यादौ च द्विक्रोशोदयशरीराः २, तस्यान्ते सुषमदुषमतृतीयकालस्यादौ च क्रोशोत्सेधदेहाः क्रो. १, तस्यान्ते दुषमसुषमचतुर्थकालस्यादौ च पञ्चशतधनुःसमुत्तुङ्गाङ्गाः ५००, तस्यान्ते दुःषमसंज्ञ[5]पञ्चमकालस्यादौ च सप्तहस्तोन्नतमनुष्याः $\frac{७}{०}$, षष्ठकालस्यापि अवसाने अन्ते एकहस्तप्रमाणोदयाः मनुष्याः १ । विवस्त्राश्च वस्त्ररहिताः, चकारात् आभरणगृहादिरहिता भवन्ति ॥ १७२ ॥ अथ सर्वजीवानामुत्कृष्टोदयं प्रकाश्य जघन्योदयं व्यनक्ति–

सव्व-जहण्णो देहो लद्धि-अपुण्णाणं[6] सव्व-जीवाणं ।
अंगुल-असंख-भागो अणेय-भेओ हवे सो वि ॥ १७३ ॥

नौ अनुदिश तथा पाच अनुत्तरोंमें १ हाथ ऊंचाई है ॥ १७० ॥ **अर्थ**–अधोग्रैवेयक, मध्यमग्रैवेयक, उपरिमग्रैवेयक तथा चौदह विमानोंमें देवोंके शरीरकी ऊंचाई क्रमसे अढ़ाई हाथ, दो हाथ, डेढ़ हाथ और एक हाथ है ॥ **भावार्थ**–तीन अधोग्रैवेयकोंमें अहमिन्द्रोंके शरीरकी ऊंचाई अढ़ाई हाथ है। तीन मध्यमग्रैवेयकोंमें अहमिन्द्रदेवोंके शरीरकी ऊंचाई दो हाथ है। तीन उपरिम ग्रैवेयकोंमें अहमिन्द्र देवोंके शरीरकी ऊंचाई डेढ़ हाथ है। तथा नौ अनुदिश और पांच अनुत्तर इन चौदह विमानोंके अहमिन्द्रोंके शरीरकी ऊंचाई, एक हाथ है ॥ १७१ ॥ अब भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें अवसर्पिणी कालकी अपेक्षासे मनुष्योंके शरीरकी ऊंचाई कहते हैं। **अर्थ**–अवसर्पिणीके प्रथम कालमें मनुष्योंके शरीरकी ऊंचाई तीन कोस है। और छठे कालके अन्तमें एक हाथ है। तथा छठे कालके मनुष्य नंगे रहते हैं ॥ **भावार्थ**–अवसर्पिणीके सुषमसुषमा नामक प्रथम कालमें मनुष्योंका शरीर तीन कोस ऊंचा होता है। उसके अन्तमें और सुषमा नामक दूसरे कालके आदिमें दो कोस ऊंचा शरीर होता है। दूसरेके अन्तमें और सुषमदुषमा नामक तीसरे कालके आदिमें एक कोसका ऊंचा शरीर होता है। तीसरेके अन्तमें और दुषमसुषमा नामक चौथे कालके आदिमें ५०० धनुषका ऊंचा शरीर होता है। चौथेके अन्तमें और दुषमा नामक पांचवे कालके आदिमें सात हाथका उंचा शरीर होता है। पांचवेके अन्तमें और दुषमा दुषमा नामक छठे कालके आदिमें दो हाथका ऊंचा शरीर होता है। तथा छठेके अन्तमें मनुष्योंके शरीरकी ऊंचाई एक हाथ होती है। वे नंगे रहते हैं और न उनके घर-द्वार होता है ॥ १७२ ॥ अब सब जीवोंके शरीरकी उत्कृष्ट ऊंचाई बतलाकर जघन्य

१ ब गेवज्जे, म गेविज्ज । २ [बे ?] ३ म उवस० । ४ ग सुषुमसुषुम° । ५ ग दुःखम° । ६ म लद्धियपुण्णाण (?) ।

[छाया–सर्वजघन्यः देहः लब्ध्यपूर्णानां सर्वजीवानाम् । अङ्गुलासंख्यभागः अनेकभेदः भवेत स अपि ॥] लब्ध्यपर्याप्तानां सर्वजीवानाम् एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिप्राणीनां सर्वजघन्यो देहो भवति शरीरावगाहः सर्वजघन्यः स्यात् । स कियन्मात्र इति चेत, अंगुलअसंखभागो घनाङ्गुलस्यासंख्यातभागमात्रः ६/७ । सोऽप्यवगाहः एकप्रकारो अनेकप्रकारो वा इत्युक्ते आह । अनेकभेदः अनेकप्रकारः स्यात् । गोम्मटसारे मत्स्यरचनायां चतुःषष्टिजीवसमासावगाहः घनाङ्गुलस्यासंख्येयभागः अनेकप्रकारः अवलोकनीयः ॥ १७३ ॥ अथ द्वीन्द्रियादीनां जघन्यावगाहं गाथाद्वयेनाह–

वि-ति-चउ-पंचक्खाणं जहण्ण-देहो हवेइ पुण्णाणं ।
अंगुल-असंख-भागो संख-गुणो सो वि उवरुवरिं[1] ॥ १७४ ॥

[छाया–द्वित्रिचतुःपञ्चाक्षाणां जघन्यदेहः भवति पूर्णानाम् । अङ्गुलासंख्यभागः संख्यगुणः स अपि उपर्युपरि ॥] द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाणां द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियजीवानाम् । कथंभूतानाम् । पूर्णानां पर्याप्तकानां, जघन्यदेहः जघन्यशरीरावगाहः, अङ्गुलासंख्यातभागः । घनाङ्गुलस्यासंख्यातभागमात्रोऽपि उपर्युपरि सोऽपि तत्संख्यातगुणो भवति । द्वीन्द्रियादिपर्याप्तकस्य जघ॰ावगाहः ६/७ ॥ त्री. प. ज. ६/७ ७, च. प. ज. ६/७ ७ ७, प. प. ज. ६/७ ७ ७ ७ ॥ अपर्याप्तद्वीन्द्रियादीनाम् उत्कृष्टशरीरावगाहः जघन्यतः किंचित्किंचिदधिकक्रमो ज्ञातव्यः ॥ १७४ ॥ पूर्वकथितपर्याप्तकद्वीन्द्रियादीनां स्वामिनिर्देशमाह–

अणुद्धरीयं[2] कुंथो[3] मच्छी काणा य सालिसित्थो य ।
पज्जत्ताण तसाणं जहण्ण-देहो विणिद्दिट्ठो ॥ १७५ ॥[4]

ऊंचाई बतलाते हैं । **अर्थ**–लब्ध्यपर्याप्तक सब जीवोंका सबसे जघन्य शरीर होता है, जो घनांगुलके असंख्यातवें भाग है । तथा उसके भी अनेक भेद हैं ॥ **भावार्थ**–लब्ध्यपर्याप्तक एकेन्द्रिय, लब्ध्यपर्याप्तक दोइन्द्रिय, लब्ध्यपर्याप्तक तेइन्द्रिय, लब्ध्यपर्याप्तक चौइन्द्रिय, लब्ध्यपर्याप्तक असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय और लब्ध्यपर्याप्तक संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोंका शरीर सबसे जघन्य होता है । उसकी अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भाग होती है । किन्तु उसमें भी अनेक भेद हैं । गोम्मटसार जीवकाण्डके जीवसमास अधिकारमें मत्स्यरचनाका कथन करते हुए चौंसठ जीवसमासोंकी अवगाहना घनांगुलके असंख्यात भाग बतलाई है और उसके अनेक अवान्तर भेद बतलाये हैं । सो वहांसे जानलेना चाहिये ॥ १७३ ॥ अब दोइन्द्रिय आदि जीवोंकी जघन्य अवगाहना दो गाथाओंसे कहते हैं । **अर्थ**–दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीवोंकी जघन्य अवगाहना अंगुलके असंख्यातवें भाग है । सो भी ऊपर ऊपर संख्यातगुणी है ॥ **भावार्थ**–दोइन्द्रिय पर्याप्त, तेइन्द्रिय पर्याप्त, चौइन्द्रिय पर्याप्त और पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीवोंके शरीरकी जघन्य अवगाहना यद्यपि सामान्यसे घनांगुलके असंख्यातवें भाग हैं किन्तु ऊपर ऊपर वह संख्यातगुणी संख्यातगुणी होती गई है । अर्थात् दोइन्द्रिय पर्याप्तककी जघन्य अवगाहना घनांगुलके असंख्यातवें भाग है । उससे संख्यात गुणी तेइन्द्रिय पर्याप्तक जीवके शरीरकी अवगाहना है । तेइन्द्रियसे संख्यातगुणी चौइन्द्रिय पर्याप्तक जीवकी अवगाहना है । चौइन्द्रियसे संख्यातगुणी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तककी अवगाहना है । पर्याप्त दो इन्द्रिय आदिके शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहना जघन्य अवगाहनासे कुछ अधिक कुछ अधिक

१ ग उवरुवरि । २ ब अणुधरायं, ल म [illegible]०, स आणुद्ध०, ग अणुध० । ३ ल ग कुंथुमच्छा, म स कुंथं (?) । ४ ब देहप्रमाणं । लोय इत्यादि ।

[छाया-अनुद्धरीकः कुन्थुः काणमक्षिका च शालिसिक्थः च । पर्याप्तानां त्रसानां जघन्यदेहः विनिर्दिष्टः ॥] पर्याप्तानां त्रसानां पर्याप्तिप्राप्तानां द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजीवानां जघन्यदेहोदयः जघन्यशरीरावगाहः । अणुद्धरीय द्वीन्द्रियजन्तुविशेषः । कुन्थोरपि सूक्ष्मो जीवः अणुद्धरी कथ्यते । त्रीन्द्रियः कुन्थुजीवः । चतुरिन्द्रियः काणमक्षिका । लोके मिसिनामगेरुवानामजीवाः । पञ्चेन्द्रियः शालिशिक्थकाख्यो मत्स्यश्च । एतेषां पर्याप्तानां जघन्यदेहो निर्दिष्टः, कथितो जिनैरिति शेषः । तथा गोम्मटसारे प्रोक्तं च । "वितिचपपुण्णजहण्णं अणुद्धरीकुंथुकाणमच्छीसु । सित्थयमच्छे विंदंगुलसंखं संखगुणिदकमा ॥" द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकेषु यथासंख्यं अणुद्धरीकुन्थुकाणमक्षिकाशिक्थमत्स्यजीवेषु जघन्यावगाह-विशिष्टशरीरावष्टब्धप्रदेशप्रमाणं वृन्दाङ्गुलसंख्यातैकभागमादिं कृत्वा संख्यातगुणितक्रमेण भवति ६ द्वि. प. (अणुद्धरी) / ९ ९ ९ ९ । ६ त्रि. प (कुन्थु) / ९ ९ ९ । ६ च. प. (काणमक्षिका) / ९ ९ । ६ पं. प. (मत्स्य) / ९ । एषामिदानीं व्यामायामोत्सेधानामुपदेशो नास्तीति घनफलमेवोक्तम् ॥ गोम्मटसारोक्तसर्वजघन्योत्कृष्टशरीरावगाहन-स्वामिनौ निर्दिशति । "सुहुमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयम्हि । अंगुलअसंखभागं जहण्णमुक्कस्सयं मच्छे ॥" सूक्ष्मनिगोदलब्ध्यपर्याप्तकस्य तद्भवे ऋजुगत्योत्पन्नस्य तृतीयसमये घनाङ्गुलासंख्यातैकभागमात्रप्रदेशावगाह-

---

जाननी चाहिये ॥ १७४ ॥ अब पूर्वोक्त जघन्य अवगाहनाके धारी दो इन्द्रिय आदि जीवोंको बतलाते हैं ॥ **अर्थ**–पर्याप्त त्रसोंकी जघन्य अवगाहनाके धारी अणुंधरी, कुंथु, काणमक्षिका, और शालिसिक्थक नामका मत्स्य बतलाये हैं ॥ **भावार्थ**–पर्याप्तक त्रसजीवोंमेंसे दोइन्द्रिय जीवकी जघन्य अवगाहनाका धारी अणुंधरी नामक जन्तुविशेष है, यह कुन्थुसे भी सूक्ष्म होता है । तेइन्द्रिय जीव-की जघन्य अवगाहनाका धारी कुन्थु जीव है । चौइन्द्रिय जीवकी जघन्य अवगाहनाका धारी काणमक्षिका नामका जीव है जिसे लोग गेरुआ कहते हैं । पञ्चेन्द्रिय जीवकी जघन्य अवगाहनाका धारी तन्दुल मत्स्य है । गोम्मटसारमें भी कहा है पर्याप्त दोइन्द्रियोंमें अणुंधरी, तेइन्द्रियोंमें कुंथु, चौइन्द्रियोंमें काणमक्षिका, पञ्चेन्द्रियोंमें तन्दुल मत्स्य इन जीवोंके जघन्य अवगाहनाके धारी शरीर जितना क्षेत्र रोकते हैं उसके प्रदेशोंका प्रमाण घनांगुलके संख्यातवें भागसे लगाकर क्रमसे संख्यातगुणा २ जानना । अर्थात चार बार संख्यातका भाग घनांगुलमें देनेसे जो आवे उतना दो इन्द्रिय पर्याप्तकी जघन्य अवगाहनाके प्रदेशोंका परिमाण होता है । तीन बार संख्यातका भाग घनांगुलमें देनेसे जो आवे उतना तेइन्द्रिय पर्याप्तकी जघन्य अवगाहनाके प्रदेशोंका परिमाण होता है । दो बार संख्यातका भाग घनांगुलमें देनेसे जो आवे उतना चौइन्द्रिय पर्याप्तकी जघन्य अवगाहनाके प्रदेशोंका प्रमाण होता है । एक बार संख्यातका भाग घनांगुलमें देनेसे जो आवे उतना पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तकी जघन्य अवगाहनाके प्रदेशोंका प्रमाण होता है । आशय यह है कि शरीरकी अवगाहनाका मतलब है कि उस शरीरने कितना क्षेत्र रोका । जो शरीर जितना क्षेत्र रोकता है उस क्षेत्रमें जितने आकाशके प्रदेश होते हैं उतनी ही उस शरीरकी अवगाहना कही जाती है जैसा ऊपर बतलाया है । इन जीवोंके शरीरकी लम्बाई, चौड़ाई और ऊंचाई का कथन नहीं मिलता । इससे इनका घनफल ही कहा है । गोम्मटसारमें सबसे जघन्य और सबसे उत्कृष्ट शरीरकी अवगाहनाके स्वामी बतलाये हैं सो यहां बतलाते हैं । उसमें कहा है–जो सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव उस पर्यायमें ऋजुगतिसे उत्पन्न हुआ हो उसके तीसरे समयमें घनांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण अवगाहना होती है । यह अवगाहना सबसे

---

१ ग गोमट्ट०, छ गोमट०.।

विशिष्टशरीरं सर्वावगाहविकल्पेभ्यो जघन्यं भवति। स्वयंभूरमणसमुद्रमध्यवर्तिमहामत्स्ये उत्कृष्टावगाहेभ्यः सर्वेभ्यः सर्वोत्कृष्टावगाहविशिष्टशरीरं भवतीति। इति देहावगाहप्रमाणं गतम् ॥१७५॥ अथ जीवस्य कथंचित्सर्वगतत्वं देहप्रमाणं चाचष्टे–

लोय-पमाणो जीवो देह-पमाणो वि अच्छदे खेत्ते।
उग्गाहण[1]-सत्तीदो संहरण-विसप्प-धम्मादो ॥ १७६ ॥

[छाया–लोकप्रमाणः जीवः देहप्रमाणः अपि आस्ते क्षेत्रे। अवगाहनशक्तितः संहरणविसर्पधर्मात् ॥] जीवः आत्मा लोकप्रमाणः, निश्चयनयतः लोकाकाशप्रमाणो जीवो भवति। कुतः। जीवस्य लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशमात्रत्वात्, केवलिनो दण्डकपाटप्रतरलोकपूरणसमुद्घातकाले लोकव्यापकत्वाच्च। अपिशब्दात् स्वयं चित्समुत्पन्नकेवलज्ञानोत्पत्तिप्रस्तावे ज्ञानापेक्षया व्यवहारनयेन लोकालोकव्यापको जीवो भवेत्, न च प्रदेशापेक्षया। अपि पुनः, क्षेत्रे शरीरे, अच्छदे आस्ते संतिष्ठते। व्यवहारनयेन नामकर्मोदयात् अत एव देहप्रमाणः जीवः। जघन्येन उत्सेधघनाङ्गुलासंख्येयभागप्रमितलब्ध्यपूर्णसूक्ष्मनिगोदशरीरमात्रः आत्मा। उत्कृष्टेन योजनसहस्रप्रमाणमहामत्स्यशरीरमात्रो जीवः। मध्यमावगाहेन मध्यमशरीरप्रमाणः प्राणी। अत्रानुमानं देवदत्तात्मा देवदत्तशरीरे एव। तत्रैव सर्वत्रैवोपलभ्यते तत्रैव तत्र सर्वत्रैव तदसाधारणतद्गुणत्वोपलब्ध्यन्यथानुपपत्तेः। ननु व्यापकत्वं कथमिति चेत्, अवगाहनशक्तितः। सा शक्तिः कुतः। संहरणविसर्पणधर्मात्। संहरणं संकोचः विसर्पणं विस्तारः त एव धर्मः स्वभावः तस्मात्, शरीरनामकर्मजनितविस्तारोपसंहारधर्माभ्यामित्यर्थः। कोऽत्र दृष्टान्तः। यथा प्रदीप उपसंहरणस्वभावेन घटीघटोदंचनादिलघुभाजनप्रच्छादितस्तद्भाजनान्तरं प्रकाशयति, विस्तारेण दीपः अलिंजरगृहादिमहद्भाजनप्रच्छादितः तद्भाजनान्तरं प्रकाशयति। तथात्मा संहरणधर्मेण निगोदादिशरीरमात्रः, विसर्पण [–धर्मेण] मत्स्यादिशरीरमात्रो जायते। तथा वेदनाकषायविक्रियामारणान्तिकतैजसाहारकेवलिसंज्ञसप्तसमुद्घातवर्जनात् जीवः शरीरप्रमाणः। तद्यथा। "मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स। णिग्गमणं देहादो हवदि समुग्घादयं णाम ॥" तीव्रवेदनानुभवात् मूलशरीरमत्यक्त्वा आत्मप्रदेशानां बहिर्गमनम्, सीता[2]दिपीडितानां रामचन्द्रादीनां चेष्टाभिरिव[3], वेदनासमुद्घातः दृश्यते इति वेदनासमुद्घातः। १। तीव्रकषायोदयान्मूलशरीरमत्यक्त्वा परस्य घातार्थमात्मप्रदेशानां बहिर्निर्गमनं सग्रामे सुभटानां रक्तलोचनादिभिः प्रत्यक्षदृश्यमानमिति

जघन्य है। तथा स्वयंभूरमण समुद्रमें जो महामत्स्य रहता है उसके शरीरकी अवगाहना सबसे उत्कृष्ट होती है। इस प्रकार शरीरकी अवगाहनाके प्रमाणका वर्णन समाप्त हुआ ॥ १७५ ॥ अब जीवको कथंचित् सर्वगत और कथंचित् शरीर प्रमाण बतलाते हैं। **अर्थ**–अवगाहन शक्तिके कारण जीव लोकप्रमाण है। और संकोच विस्तार धर्मके कारण शरीरप्रमाण भी है ॥ **भावार्थ**– निश्चयनयसे जीव लोकाकाशके बराबर है; क्योंकि जीवके लोकाकाशप्रमाण असंख्यात प्रदेश होते हैं। तथा जब केवली दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात करते हैं उस समय जीव समस्त लोकमें व्याप्त हो जाता है। 'अपि' शब्द से जब जीवको केवल ज्ञान उत्पन्न होता है तो वह लोकालोकको जानता है। अतः व्यवहार नयसे ज्ञानकी अपेक्षा जीव लोकालोकमें व्यापक है, प्रदेशोंकी अपेक्षासे नहीं। तथा नामकर्मके उदयके कारण जीव शरीरमें रहता है अतः व्यवहारनयसे शरीरके बराबर है। जघन्यसे जीव घनांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके शरीरके बराबर है। उत्कृष्टसे एक हजार योजन प्रमाण महामत्स्यके शरीरके बराबर है। और मध्यम अवगाहनाकी अपेक्षा मध्यम शरीरके बराबर है जीव शरीरके बराबर है, इसकी सिद्धि अनुमानसे भी होती है। देवदत्तकी आत्मा देवदत्तके शरीरमें ही सर्वत्र है; क्योंकि देवदत्तके सर्व शरीरमें ही उसके असाधारण गुण देखे जाते हैं। शङ्का–आत्मा

१ [ओगाहण ?]। २ मूले तु 'सीदादि°'। ३ मूले तु 'रामचन्द्रचेष्टाभिः'।

कषायसमुद्धातः । २ । मूलशरीरमत्यक्त्वा किमपि विकुर्वयितुमात्मप्रदेशानां बहिर्गमनमिति विकुर्वणासमुद्धातः । स तु विष्णुकुमारादिवत् महर्षीणां देवानां च भवति । ३ । मरणान्तसमये मूलशरीरमत्यक्त्वा यत्र कुत्रचित् बद्धमायुस्तत्प्रदेशं स्फुटितुम् आत्मप्रदेशानां बहिर्गमनमिति मारणान्तिकसमुद्धातः । स च संसारिजीवानां विग्रहगतौ स्यात् । ४ । स्वस्य मनोऽनिष्टजनकं किंचित्कारणान्तरमवलोक्य समुत्पन्नक्रोधस्य संयमनिधानस्य महामुनेर्मूलशरीरमत्यज्य सिन्दूरपुञ्जप्रभः दीर्घत्वेन द्वादशयोजनप्रमाणः १२ सूच्यङ्गुलसंख्येयभागो मूलविस्तारः २ नवयोजनाग्रविस्तारः ९ काहलाकारपुरुषः वामस्कन्धान्निर्गत्य वामप्रदक्षिणेन हृदयनिहितं विरुद्धं वस्तु भस्मसात्कृत्य तेनैव संयमिना सह च भस्म व्रजति, द्वीपायनवत् । असावशुभस्तेजःसमुद्धातः । लोकं व्याधिदुर्भिक्षादिपीडितमवलोक्य समुत्पन्नकृपस्य परमसंयमनिधानस्य महर्षेर्मूलशरीरमत्यज्य शुभ्राकृतिः प्रागुक्तदेहप्रमाणः दीर्घयो. १२ । सू. २ वि. यो. १।९ पुरुषो दक्षिणस्कन्धान्निर्गत्य दक्षिणप्रदक्षिणेन व्याधिदुर्भिक्षादिकं स्फेटयित्वा पुनरपि स्वस्थाने प्रविशति । असौ शुभरूपस्तेजःसमुद्धातः । ५ । समुत्पन्नपदपदार्थभ्रान्तेः परमर्द्धिसंपन्नस्य महर्षेः मूलशरीरमत्यज्य शुद्धस्फटिकाकृतिः एकहस्तप्रमाणः पुरुषो मस्तकमध्यान्निर्गत्य यत्र कुत्रचिदन्तर्मुहूर्तमध्ये केवलज्ञानिनं पश्यतस्तद्दर्शनात् च स्वाश्रयस्य मुनेः पदपदार्थनिश्चयं समुत्पाद-

---

व्यापक कैसे है ? समाधान–क्योंकि उसमें अवगाहन शक्ति है । शङ्का–अवगाहन शक्ति क्यों है ? समाधान–शरीर नाम कर्मका उदय होनेसे आत्मामें संकोच और विस्तार धर्म पाया जाता है । जैसे दीपकको यदि घड़े घड़िया या सकोरे वगैरह छोटे बर्तनोंसे ढक दिया जाये तो वह अपने संकोच स्वभावके कारण उसी बर्तनको प्रकाशित करता है । और यदि उसी दीपकको किसी बड़े बरतनसे ढाक दिया जाये या किसी घर वगैरहमें रखदिया जाये तो वह फैलकर उसीको प्रकाशित करता है । इसी तरह आत्मा निगोदिया शरीर पानेपर सकुचकर उतना ही होजाता है और महामत्स्य वगैरहका बड़ा शरीर पानेपर फैलकर उतना ही बड़ा होजाता है । तथा वेदना समुद्घात, कषाय समुद्घात, विक्रिया समुद्घात, मारणान्तिक समुद्घात, तैजस समुद्घात, आहारक समुद्घात और केवली समुद्घात इन सात समुद्घातोंको छोड़कर जीव अपने शरीरके बराबर है । मूल शरीरको न छोड़कर आत्मप्रदेशोंके बाहर निकलनेको समुद्घात कहते हैं । तीव्र कष्टका अनुभव होनेसे मूलशरीरको न छोड़कर आत्मप्रदेशोंके बाहर निकलने को वेदना समुद्घात कहते हैं । तीव्र कषायके उदयसे मूल शरीरको न छोड़कर परस्परमें एक दूसरेका घात करनेके लिये आत्मप्रदेशोंके बाहर निकलनेको कषाय समुद्घात कहते हैं । संग्राममें योद्धा लोग क्रोधमें आकर लाल लाल आंख करके अपने शत्रुको ताकते हैं यह प्रत्यक्ष देखा जाता है, यही कषाय समुद्घातका रूप है । कोई भी विक्रिया करते समय मूल शरीरको न छोड़कर आत्मप्रदेशोंके बाहर निकलनेको विक्रिया समुद्घात कहते हैं । तत्त्वोंमें शंका होनेपर उसके निश्चयके लिये या जिनालयोंकी वन्दनाके लिये छठे गुणस्थानवर्ती मुनिके मस्तकसे जो पुतला निकलता है और केवली या श्रुतकेवलीके निकट जाकर अथवा जिनालयोंकी वन्दना करके लौटकर पुनः मुनिके शरीरमें प्रविष्ट होजाता है वह आहारसमुद्घात है । जब केवलीकी आयु अन्तर्मुहूर्तमात्र शेष रहती है और शेष तीन अघातिया कर्मोंकी स्थिति उससे अधिक होती है तो विना भोगे तीनों कर्मोंकी स्थिति आयुकर्मके बराबर करनेके लिये दण्ड, कपाट, मथानी, और लोकपूरण रूपमें केवली भगवान्, अपनी आत्माके प्रदेशोंको सब लोकमें फैला देते हैं उसे केवली समुद्घात कहते हैं । इन सात समुद्घातोंको छोड़कर जीव अपने शरीरके

यिष्यतः पुनः स्वस्थाने प्रविशति । असावाहारकसमुद्घातः । ६ । सप्तमः केवलिनां दण्डकपाटमन्थानप्रतरणलोकपूरणः सोऽयं केवलिसमुद्घातः । ७ । सप्त समुद्घातान् वर्जयित्वा जीवः शरीरप्रमाण इत्यर्थः ॥ १७६ ॥ अथ केचन नैयायिकादयः जीवस्य सर्वगतत्वं प्रतिपादयन्ति, तन्निषेधपरं सूत्रमाचष्टे–

सव्व-गओ जदि जीवो सव्वत्थ वि दुक्ख-सुक्ख-संपत्ती ।
जाइज्ज[1] ण सा दिट्ठी णिय-तणु-माणो तदो जीवो ॥ १७७ ॥

[छाया–सर्वगतः यदि जीवः सर्वत्र अपि दुःखसौख्यसंप्राप्तिः । जायते न सा दृष्टिः निजतनुमानः ततः जीवः ॥] भो नैयायिकाः, यदि चेत् जीवः, सर्वगतः सर्वव्यापकः, 'एक एव हि भूतात्मा देहे देहे व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलकुण्डवत् ॥" इति जीवस्य व्यापकत्वम् अङ्गीक्रियते तर्हि सर्वत्रापि स्वशरीरेऽपि स्वप्रदेशवत् परप्रदेशेऽपि च सुखदुःखसंपत्तिः सुखदुःखसंप्राप्तिर्जायते उत्पद्यते । यथा स्वशरीरे जीवस्य सुखदुःखावाप्तिः तथा परशरीरेऽपि भवतु नाम को दोषः । सा दिट्ठी ण, परशरीरसुखदुःखसंपत्तिः प्रत्यक्षादिप्रमाणतः दृष्टा न । तदो ततः कारणात् स्वशरीरे स्वशरीरे सुखदुःखानुभवनात् जीवः निजतनुप्रमाणः स्वकीयशरीरप्रमाणः स्वकीयदेहमात्र इत्यर्थः ॥ १७७ ॥ अथ नैयायिकसांख्यादयः अर्थान्तरभूतेन ज्ञानेन जीवं ज्ञानिनं निगदन्ति तन्निषेधमाह–

बराबर है । आशय यह है कि समुद्घात दशामें तो आत्मप्रदेश शरीरसे बाहर भी फैले रहते हैं, अतः उस समय जीव अपने शरीरके बराबर नहीं होता । समुद्घात दशाको छोड़कर जीव अपने शरीर के बराबर होता है ॥ १७६ ॥ नैयायिक वगैरह जीवको व्यापक मानते हैं । उनका निषेध करनेके लिये गाथा कहते हैं । **अर्थ–**यदि जीव व्यापक है तो इसे सर्वत्र सुखदुःखका अनुभव होना चाहिये । किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता । अतः जीव अपने शरीरके बराबर है ॥ **भावार्थ–**हे नैयायिको ! यदि आप जीवको व्यापक मानते हैं; क्यों कि ऐसा कहा है "एक ही आत्मा प्रत्येक शरीरमें वर्तमान है । और वह एक होते हुए भी अनेक रूप दिखाई देता है । जैसे एक ही चन्द्रमा अनेक जलाशयोंमें प्रतिबिम्बित होनेसे अनेक दिखाई देता है ।" तो जैसे जीवको अपने शरीरमें होनेवाले सुखदुःखका अनुभव होता है वैसे ही पराये शरीरमें होने वाले सुखदुःखका भी अनुभव उसे होना चाहिये । किन्तु यह बात प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे सिद्ध है कि पराये शरीरमें होनेवाले सुखदुःखका अनुभव जीवको नहीं होता, बल्कि अपने शरीरमें होनेवाले सुखदुःखका ही अनुभव होता है । अतः जीव अपने शरीरके ही बराबर है । अन्य मतोंमें जीवके विषयमें जुदी जुदी मान्यताएँ हैं । कोई उसे एक मानकर व्यापक मानता है, और कोई उसे अनेक मानकर व्यापक मानते हैं । नैय्यायिक, वैशेषिक वगैरह जैनोंकी तरह प्रत्येक शरीरमें जुदी जुदी आत्मा मानते हैं, और प्रत्येक आत्माको व्यापक मानते हैं । ब्रह्मवादी एक ही आत्मा मानते हैं और उसे व्यापक मानते हैं । ऊपर टीकाकारने जो चन्द्रमाका दृष्टान्त दिया है वह ब्रह्मवादियोंके मतसे दिया है । जैसे एक चन्द्रमा अनेक जलपात्रोंमें परछाईके पड़नेसे अनेक रूप दिखाई देता है वैसे ही एक आत्मा अनेक शरीरोंमें व्याप्त होनेसे अनेक प्रतीत होता है । इसपर जैनोंकी यह आपत्ति है कि यदि आत्मा व्यापक और एक है तो सब शरीरोंमें एक ही आत्मा व्यापक हुआ । ऐसी स्थितिमें जैसे हमें अपने शरीरमें होनेवाले सुखदुःखका अनुभव होता है वैसे ही अन्य शरीरोंमें होनेवाले सुख दुःखका

[1] म जोइज्ज (?) ।

जीवो णाण-सहावो जह अग्गी उण्हवो[1] सहावेण ।
अत्थंतर-भूदेण हि णाणेण ण सो हवे णाणी ॥ १७८ ॥

[छाया-जीवः ज्ञानस्वभावः यथा अग्निः उष्णः स्वभावेन । अर्थान्तरभूतेन हि ज्ञानेन न स भवेत ज्ञानी ॥] हि इति निश्चितम् । णाणेण ज्ञानेन अर्थान्तरभूतेन जीवात सर्वथा भिन्नेन स जीवः ज्ञानी भवेत् न । नैयायिकाः गुणगुणिनोरात्मज्ञानयोर्भिन्नत्वमाचक्षते । सांख्यास्तु आत्मनः सकाशात प्रकृतिर्भिन्ना, ततः बुद्धिर्जायते, प्रकृतेर्महान् इति वचनात । तदपि सर्वमसत । जीवः ज्ञानस्वभावः । यथा अग्निः स्वभावेन उष्णः, तथा आत्मा स्वभावेन ज्ञानमयः ॥ १७८ ॥ अथ जीवात सर्वथा ज्ञानं भिन्नं प्रतिपादयतो नैयायिकान् दूषयति-

जदि जीवादो भिण्णं सव्व-पयारेण हवदि तं णाणं ।
गुण-गुणि-भावो य तहा दूरेण पणस्सदे[3] दुण्हं ॥ १७९ ॥

[छाया-यदि जीवात भिन्नं सर्वप्रकारेण भवति तत ज्ञानम् । गुणगुणिभावः च तथा दूरेण प्रणश्यते द्वयोः ॥] अथ जीवात् आत्मनः सर्वप्रकारेण गुणगुणिभावेन जन्यजनकभावेन ज्ञानात्मस्वभावेन स्वभावविभावेन च तं णाणं ज्ञानं

अनुभव भी हमें होना चाहिये; क्यों कि एक ही आत्मा सब शरीरोंमें व्याप्त है । परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता । प्रत्येक प्राणीको अपने ही शरीरमें होने वाले सुख दुःखका अनुभव होता है । इस लिये जीवको शरीर प्रमाण मानना ही उचित है ॥ १७७ ॥ नैयायिक सांख्य वगैरह आत्मासे ज्ञानको भिन्न मानते हैं । और उस भिन्न ज्ञानके सम्बन्धसे आत्माको ज्ञानी कहते हैं । आगे इसका निषेध करते हैं। **अर्थ**-जैसे अग्नि स्वभावसे ही उष्ण है वैसे ही जीव ज्ञानस्वभाव है । वह अर्थान्तरभूत ज्ञानके सम्बन्धसे ज्ञानी नहीं है ॥ **भावार्थ**-नैयायिक गुण और गुणीको भिन्न मानता है । आत्मा गुणी है और ज्ञान गुण है । अतः वह इन दोनोंको भिन्न मानता है । सांख्य मतमें आत्मा और प्रकृति ये दो जुदे जुदे तत्त्व है । और प्रकृतिसे बुद्धि उत्पन्न होती है; क्यों कि 'प्रकृतिसे महान् नामका तत्त्व पैदा होता है' ऐसा सांख्य मतमें कहा है । इस तरह ये दोनों मत आत्मासे ज्ञानको भिन्न मानते हैं । किन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि जैसे अग्नि स्वभावसे ही उष्ण होती है वैसे ही आत्मा भी स्वभावसे ही ज्ञानी है । जिनके प्रदेश जुदे जुदे होते हैं वे भिन्नभिन्न होते हैं । जैसे डण्डाके प्रदेश जुदे हैं, और देवदत्तके प्रदेश जुदे हैं । अतः वे दोनों अलग २ दो वस्तुएं मानी जाती हैं । तथा जब देवदत्त हाथमें डण्डा लेलेता है तो डण्डेके सम्बन्धसे वह दण्डी कहलाने लगता है । इस तरह गुण और गुणीके प्रदेश जुदे जुदे नहीं हैं । जो प्रदेश गुणीके हैं वे ही प्रदेश गुणके हैं । इसीसे गुण हमेशा गुणीवस्तुमें ही पाया जाता है । गुणीको छोड़कर गुण अन्यत्र नहीं पाया जाता । अतः गुणके सम्बन्धसे वस्तु गुणी नहीं है । किन्तु स्वभावसे ही वैसी है । इसीसे अग्नि स्वभावसेही उष्ण है, आत्मा स्वभावसे ही ज्ञानी है; क्योंकि अग्नि और उष्णकी तथा आत्मा और ज्ञानकी सत्ता स्वतंत्र नहीं है ॥ १७८ ॥ आगे आत्मासे ज्ञानको सर्वथा भिन्न माननेवाले नैयायिकोंके मतमें दूषण देते हैं । **अर्थ**-यदि जीवसे ज्ञान सर्वथा भिन्न है तो उन दोनोंका गुणगुणीभाव दूरसे ही नष्ट हो जाता है ॥ **भावार्थ**-यदि जीवसे ज्ञान सर्वथा भिन्न है, अर्थात् मति श्रुत आदिके भेदसे प्रसिद्ध ज्ञानमें और आत्मा में न गुणगुणी भाव है, न जन्यजनक भाव है, और न ज्ञान आत्माका स्वभाव है,

१ ल म स उण्हओ । २ ब गुणिगुणि । ३ म विणस्सदे । ४ प सर्वथा प्रकारेण ।

तत् मतिश्रुतादिभेदेन प्रसिद्धं ज्ञानं बोधः भिन्नं पृथक् भवति यदि चेत्, तदा दोण्हं जीवज्ञानयोः गुणगुणिभावः, ज्ञानं गुणः जीवः गुणी इति भावः, दूरेण अत्यर्थं प्रणश्यति। चशब्दात् स्वभावविभावः कार्यकारणभावश्च गृह्यते, सह्यविन्ध्यवत्। यथा सह्यविन्ध्ययोरत्यन्तभेदेन न घटते तथात्मज्ञानयोरपि ॥ १७९ ॥ अथ जीवज्ञानयोः गुणगुणिभावेन भेदं निगदति–

जीवस्स वि णाणस्स वि गुणि-गुण[1]-भावेण कीरए भेओ।
जं जाणदि तं णाणं एवं भेओ कहं होदि ॥ १८० ॥

[छाया–जीवस्य अपि ज्ञानस्य अपि गुणिगुणभावेन क्रियते भेदः। यत् जानाति तत् ज्ञानम् एवं भेदः कथं भवति ॥] जीवस्यापि ज्ञानस्यापि भेदः पृथक्त्वं गुणगुणिभावेन क्रियते। ज्ञानं गुणः, आत्मा गुणी, ज्ञानजीवस्वभावेन गुणगुणिनोः कथंचिद्भेदः भिन्नलक्षणत्वात्, घटवस्त्रवदिति तयोर्भिन्नलक्षणत्वं परिणामविशेषात् शक्तिमच्छक्तिभावतः संज्ञासंख्याविशेषाच्च कार्यकारणभेदाच्च पावकोष्णवत्। तथा चोक्तमष्टसहस्र्याम्। "द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः। परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावतः। संज्ञासंख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः। कार्य[2]कारणभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा॥" इति ॥ १८० ॥ अथ ज्ञानं पृथ्व्यादिभूतविकारमिति वादिनं चार्वाकं निराकरोति–

यदि ऐसा मानते हो तो जीव और ज्ञानमें से जीव गुणी है और ज्ञान गुण है यह गुणगुणी भाव एकदम नष्ट होजाता है। जैसे सह्य और विन्ध्य नामके पर्वतोंमें न गुणगुणी भाव है, न कार्यकारण भाव है, और न स्वभाव-स्वभाववान्‌पना है। इसलिये ये दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। इसी तरह आत्मा और ज्ञानको भी सर्वथा भिन्न माननेसे उनमें गुणगुणीपना नहीं बन सकता ॥ १७९ ॥ अब कोई प्रश्न करता है कि यदि आत्मा और ज्ञान जुदे जुदे नहीं है तो उनमें गुण गुणीका भेद कैसे है? इसका उत्तर देते हैं। **अर्थ**–जीव और ज्ञानमें गुण-गुणी भावकी अपेक्षा भेद किया जाता है। यदि ऐसा न हो तो 'जो जानता है वह ज्ञान है' ऐसा भेद कैसे हो सकता है ॥ **भावार्थ**–गुणगुणी भावकी अपेक्षा जीव और ज्ञानमें भी भेद किया जाता है। ज्ञान गुण है और आत्मा गुणी है। क्योंकि जैसे भिन्न लक्षण होनेसे घट और वस्त्र भिन्न भिन्न है वैसे ही गुण और गुणी भी भिन्न लक्षणके होनेसे भिन्न भिन्न हैं–गुणका लक्षण जुदा है और गुणीका लक्षण जुदा है। गुणी परिणामी है और गुण उसका परिणाम है। गुणी शक्तिमान् है और गुण शक्ति है। गुणी कारण है और गुण कार्य है। तथा गुण और गुणीमें नाम भेद है। संख्याकी अपेक्षा भेद है गुणी एक होता है और गुण अनेक होते हैं। जैसे अग्नि गुणी है और उष्ण गुण है। ये दोनो यद्यपि अभिन्न हैं फिर भी गुण गुणी भावकी अपेक्षा इन दोनोंमें भेद है। इसी तरह जीव और ज्ञानमें भी जानना चाहिये। आचार्य समन्तभद्रने भी आप्तमीमांसा कारिका ७१-७२ में ऐसा ही कहा है और अष्टसहस्रीमें उसका व्याख्यान करते हुए बतलाया है कि 'द्रव्य अर्थात गुणी और पर्याय अर्थात् गुण दोनो एक वस्तु है; क्योंकि वे दोनों अभिन्न हैं फिर भी उन दोनोंमें कथंचित् भेद है। क्योकि दोनोंका स्वभाव भिन्न भिन्न है–द्रव्य अनादि अनन्त और एकस्वभाव होता है और पर्याय सादि सान्त और अनेक स्वभाववाली होती है। द्रव्य शक्तिमान् होता है और पर्याय उसकी शक्तियां हैं। द्रव्यकी संज्ञा द्रव्य है और पर्यायकी संज्ञा पर्याय है। द्रव्यकी संख्या एक होती है और पर्यायोंकी संख्या अनेक

१ ब गुणिगुणि, ल म स ग गुणगुणि। २ आदर्शे 'कारिकारण' इति पाठः।

णाणं भूय-वियारं जो मण्णदि सो वि भूद-गहिदव्वो ।
जीवेण विणा णाणं किं केण वि दीसदे[1] कत्थ ॥ १८१ ॥

[छाया-ज्ञानं भूतविकारं यः मन्यते सः अपि भूतगृहीतव्यः । जीवेन विना ज्ञानं किं केन अपि दृश्यते कुत्र ॥] **यश्चार्वाकः** ज्ञानं जीवः । गुणगुणिनोरभेदात् कारणे कार्योपचाराच्च ज्ञानशब्देन जीवो गृह्यते । भूतविकारं ज्ञानं पृथि **व्यप्तेजोवायुविकारो** जीवः मन्यते अङ्गीकरोति । सोऽपि चार्वाकः भूतगृहीतव्यः भूतैः पिशाचादिभिः गृहीतव्यः गृथिल **इत्यर्थः** । कत्थ वि कुत्रापि स्थाने केनापि मनुष्यादिजीवेन आत्मना विना ज्ञानं बोधः किं दृश्यते । अपि पुनः ॥ १८१ ॥ **अथ सचेतन**प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनं जीवाभाववादिनं च चार्वाकं दूषयति-

सच्चेयण-पच्चक्खं जो जीवं णेव मण्णदे[3] मूढो ।
सो जीवं ण मुणंतो जीवाभावं कहं कुणदि ॥ १८२ ॥

[छाया-सचेतनप्रत्यक्षं यः जीवं नैव मन्यते मूढः । स जीवं न जानन् जीवाभावं कथं करोति ॥] यश्चार्वाको मूढः **जीवमात्मानं नैव मन्यते,** जीवो नास्तीति कथयतीत्यर्थः । कीदृशं जीवम् । सचेतनं प्रत्यक्षं सत् विद्यमानं चेतनप्रत्यक्षं

होती है । द्रव्यका लक्षण गुणपर्यायवान् है और गुण या पर्यायका लक्षण द्रव्याश्रयी और निर्गुण है । द्रव्यका कार्य एकत्वका और अन्वयपनेका ज्ञान कराना है, और पर्यायका कार्य अनेकत्वका और व्यतिरेकपनेका ज्ञान कराना है । अतः परिणाम, स्वभाव, संज्ञा, संख्या और प्रयोजन आदिका भेद होनेसे द्रव्य और गुण भिन्न हैं, किन्तु सर्वथा भिन्न नहीं हैं ॥ १८० ॥ चार्वाक ज्ञानको पृथिवी आदि पञ्चभूतका विकार मानता है । आगे उसका निराकरण करते हैं । **अर्थ-**जो ज्ञानको भूतोंका विकार मानता है उसे भी भूतोंने जकड़ लिया है; क्योंकि क्या किसीने कहीं जीवके विना ज्ञान देखा है ॥ **भावार्थ-**यहां पर ज्ञानशब्दसे जीव लेना चाहिये; क्योंकि गुण और गुणीमें अभेद होनेसे अथवा ज्ञानके कारण जीवमें, कार्य ज्ञानका उपचार करनेसे जीवको ज्ञान शब्दसे कहा जा सकता है । अतः गाथाका ऐसा अर्थ करना चाहिये-जो चार्वाकमतानुयायी जीवको पृथिवी, जल, अग्नि और वायुका विकार मानता है, उसे भी भूत अर्थात् पिशाचोंने अपने वशमें कर लिया है; क्योंकि किसी भी जगह विना आत्माके ज्ञान क्या देखा है ? चार्वाक मतमें जीव अथवा आत्मा नामका कोई अलग तत्त्व नहीं है । पृथिवी, जल, आग और वायुके मेलसे ही चैतन्यकी उत्पत्ति या अभिव्यक्ति होजाती है । ऐसा उनका मत है । इसपर जैनोंका कहना है कि भूतवादी चार्वाक पर अवश्य ही भूत सवार हैं तभी तो वह इस तरहकी बात कहता है, क्योंकि जीवका खास गुण ज्ञान है । ज्ञान चैतन्यमें ही रहता है, पृथिवी आदि भूतोंमें नहीं रहता । अतः जब पृथिवी आदि भूतोंमें चैतन्य अथवा ज्ञानगुण नहीं पाया जाता तब उनसे चैतन्यकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है; क्योंकि कारणमें जो गुण नहीं होता वह गुण कार्यमें भी नहीं होता । इसके सिवा मुर्देके शरीरमें पृथिवी आदि भूतोंके रहते हुए भी ज्ञान नहीं पाया जाता । अतः ज्ञान भूतोंका विकार नहीं है ॥ १८१ ॥ केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण माननेवाले और जीवका अभाव कहनेवाले चार्वाकके मतमें पुनः दूषण देते हैं । **अर्थ-**जो मूढ स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे सिद्ध जीवको नहीं मानता है वह जीवको विना जाने जीवका अभाव कैसे करता है ॥ **भावार्थ-**जो मूढ चार्वाक स्वसंवेदन अर्थात् स्वानुभव प्रत्यक्षसे सिद्ध जीवको नहीं मानता

१ ल म स ग दीसए । २ ल स ग णेय, म णय । ३ ग मण्णदि ।

स्वसंवेदनप्रत्यक्षं स्वानुभवप्रत्यक्षमिति यावत् । स चार्वाकः जीवमात्मानं न जानन् सन् जीवाभावं जीवस्यात्मनः अभावं नास्तित्वं कहं कथं करोति केन प्रकारेण विदधाति । योऽयं न वेत्ति स तस्याभावं कर्तुं न शक्नोतीत्यर्थः ॥ १८२ ॥ अथ युक्त्या चार्वाकं प्रति जीवसद्भावं विभावयति–

जदि ण य हवेदि जीवो ता को वेदेदि सुक्ख-दुक्खाणि ।
इंदिय-विसया सव्वे को वा जाणदि विसेसेण ॥ १८३ ॥

[छाया-यदि न च भवति जीवः तत् कः वेत्ति सुखदुःखे । इन्द्रियविषयाः सर्वे कः वा जानाति विशेषेण ॥] यदि चेत् जीवो न च भवति तो तर्हि कः जीवः सुखदुःखानि वेत्ति जानाति । वि पुनः, विशेषेण विशेषतः, सर्वे इन्द्रियविषयाः स्पर्श ८ रस ५ गन्ध २ वर्ण ५ शब्द ७ रूपाः । प्राकृतत्वात् प्रथमा अर्थतस्तु द्वितीया विभक्तिः विलोक्यते । तान् इन्द्रियविषयान् को जानाति को वेत्ति । आत्मनोऽभावे प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनश्चार्वाकस्येन्द्रियप्रत्यक्षं कथं स्यात् ॥ १८३ ॥ अथात्मनः सद्भावे उपपत्तिमाह–

संकप्प-मओ जीवो सुह-दुक्खमयं हवेइ संकप्पो ।
तं चिय वेददि[1] जीवो देहे मिलिदो वि सव्वत्थ ॥ १८४ ॥

और कहता है कि जीव नहीं है । यह चार्वाक जीवको विना जाने कैसे कहता है कि जीव नहीं है ? क्योंकि जो जिसे नहीं जानता वह उसका अभाव नहीं कर सकता । चार्वाक केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है । उसके मतानुसार जो वस्तु प्रत्यक्ष अनुभवमें आती है केवल वही सत् है और जिसका प्रत्यक्ष नहीं होता वह असत् है । उसकी इस मान्यताके अनुसार भी जीवका सद्भाव ही सिद्ध होता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्तिको 'मैं हूं' ऐसा अनुभव होता है । यह अनुभव मिथ्या नहीं है क्योंकि इसका कोई बाधक नहीं है । सन्दिग्ध भी नहीं है, क्योंकि जहां 'सीप है या चादी' इस प्रकारकी दो कोटियां होती हैं वहां संशय होता है । शायद कहा जाये कि 'मैं हूं' इस अनुभवका आलम्बन शरीर है, किन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'मैं हूं' यह अनुभव विना बाह्य इन्द्रियोंकी सहायताके मनसे ही होता है, शरीर तो बाह्य इन्द्रियोंका विषय है । अतः वह इस प्रकारके स्वानुभवका विषय नहीं हो सकता । अतः 'मैं हूं' इस प्रकारके प्रत्ययका आलम्बन शरीरसे भिन्न कोई ज्ञानवान् पदार्थ ही हो सकता है । वही जीव है । दूसरे, जब चार्वाक जीवको प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय ही नहीं मानता तो वह विना जाने यह कैसे कह सकता है कि 'जीव नहीं है' । अतः चार्वाकका मत ठीक नहीं है ॥ १८२ ॥ अब ग्रन्थकार युक्तिसे चार्वाकके प्रति जीवका सद्भाव सिद्ध करते हैं । **अर्थ–**यदि जीव नहीं है तो सुख आदिको कौन जानता है ? तथा विशेष रूपसे सब इन्द्रियोंके विषयोंको कौन जानता है ॥ **भावार्थ–**यदि जीव नहीं है तो कौन जीव सुख दुःख वगैरहको जानता है । तथा खास तौरसे इन्द्रियोंके विषय जो ८ स्पर्श, ५ रस, २ गन्ध, ५ वर्ण, और ७ शब्द हैं, उन सबको भी कौन जानता है । क्योंकि आत्माके अभावमें एक प्रत्यक्ष प्रमाणवादी चार्वाकका इन्द्रियप्रत्यक्ष भी कैसे बन सकता है ? यहां गाथामें 'इंदियविसया सव्वे' यह प्राकृत भाषामें होनेसे प्रथमा विभक्ति है किन्तु अर्थ की दृष्टिसे इसे द्वितीया विभक्ति ही लेना चाहिये ॥ १८३ ॥ फिर भी आत्माके सद्भावमें युक्ति देते हैं । **अर्थ–**यदि जीव संकल्पमय है और संकल्प सुखदुःखमय है तो सर्व शरीरमें मिला हुआ

[1] ग वेददे ।

[छाया-सकल्पमयः जीवः सुखदुःखमयः भवति संकल्पः । तत् एव वेत्ति जीवः देहे मिलितः अपि सर्वत्र ॥] जीवः आत्मा चेत यदि संकल्पमयः संकल्पनिर्वृत्तः स संकल्पः सुखदुःखमयो भवेत् सुखदुःखात्मको भवति । देहे शरीरे मिलितोऽपि मिश्रीभूतोऽपि सर्वत्र सर्वाङ्गे सर्वशरीरप्रदेशे तं चिय तदेव सुखदुःखं वेत्ति जानातीत्यर्थः ॥ १८४ ॥ अथ देहमिलितो जीवः सर्वकार्याणि करोति तद्दर्शयति-

देह-मिलिदो वि जीवो सव्व-कम्माणि[2] कुव्वदे जम्हा ।
तम्हा पयट्टमाणो एयत्तं बुज्झदे[3] दोण्हं[4] ॥ १८५ ॥

[छाया-देहमिलितः अपि जीवः सर्वकर्माणि करोति यस्मात् । तस्मात् प्रवर्तमानः एकत्वं बुध्यते द्वयोः ॥] यस्मात्कारणात् जीवः देहमिलितोऽपि शरीरयुक्तोऽपि । अपि शब्दात् विग्रहगत्यादौ औदारिकवैक्रियिकाहारकशरीररहितोऽपि । सर्वकर्माणि सर्वाणि कार्याणि घटपटलकुटमुकुटशकटगृहासिमषिकृषिवाणिज्यगोपालादिसर्वकार्याणि, तथा ज्ञानावरणादिशुभाशुभकर्माणि कुर्वते करोति विदधाति । तस्मात्कारणात् कार्यादिषु प्रवर्तमानो जनः । दोण्हं द्वयोः जीवशरीरयोः एकत्वं बुध्यते मन्यते जानाति ॥ १८५ ॥ अथ शरीरयुक्तत्वेऽपि जीवस्य दर्शनादिक्रियां व्यनक्ति-

देह-मिलिदो वि पिच्छदि देह-मिलिदो वि णिसुण्णदे[5] सद्दं ।
देह-मिलिदो वि भुंजदि देह[6]-मिलिदो वि गच्छेदि[7] ॥ १८६ ॥

[छाया-देहमिलितः अपि पश्यति देहमिलितः अपि निशृणोति शब्दम् । देहमिलितः अपि भुङ्क्ते देहमिलितः अपि गच्छति ॥] अपि पुनः, देहमिलितो जीवः शरीरेण संयुक्त आत्मा पश्यति श्वेतपीतहरितारुणकृष्णरूपाणि वस्तूनि सर्वकार्याणि लोचनाभ्यां मनसा वा चावलोकयति जीवः । अपि पुनः, निसुणदे कर्णाभ्यां शृणोति । किमु इति चेदुक्तं च ।

होनेपर भी जीव उसीको जानता है ॥ **भावार्थ**-यदि जीव संकल्पमय है अर्थात् संकल्पोंका एक पुंज मात्र है और संकल्प सुखदुःखमय है तो शरीरमें मिला होनेपर भी जीव समस्त शरीरप्रदेशोंमें होने वाले सुखदुःखको ही जानता है । आशय यह है कि यदि चार्वाक जीवको संकल्पविकल्पोंका एक समूह मात्र मानता है तो वे संकल्पविकल्प सुखदुःखरूप ही हो सकते हैं । उन्हींको जीव जानता है तभी तो उसे 'मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं' इत्यादि प्रत्यय होता है । बस वही तो जीव है ॥ १८४ ॥ आगे बतलाते हैं कि जीव शरीरमें मिला हुआ होनेपर भी सब कार्य करता है । **अर्थ**-यतः शरीरसे मिला हुआ होनेपर भी जीव सब कार्योंको करता है । अतः प्रवर्तमान मनुष्य जीव और शरीरको एक समझता है ॥ **भावार्थ**-जिस कारणसे शरीरसे युक्त भी जीव तथा 'अपि' शब्दसे विग्रहगति वगैरहमें औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीरसे रहित भी जीव घट, वस्त्र, लकडी, मुकुट, गाडी, घर, वगैरह बनाता है, असि, मषी, कृषि, व्यापार, गोपालन आदिसे आजीविका करता है, इस तरह वह सब कार्योंको करता है तथा ज्ञानावरण आदि जो शुभाशुभ कर्म हैं उनको करता है, इसकारणसे कार्य वगैरह करनेवाला मनुष्य यह मान बैठता है कि जीव और शरीर दोनों एकही हैं । किन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है-जीव जुदा है और शरीर जुदा है ॥ १८५ ॥ आगे बतलाते हैं कि शरीरसे युक्त होने परभी जीव देखता सुनता है । **अर्थ**-शरीरसे मिला हुआ होनेपर भी जीव देखता है । शरीरसे मिला हुआ होनेपर भी जीव सुनता है । शरीरसे मिला हुआ होनेपर भी जीव भोक्ता है और शरीरसे

---

१ **ब** देहि । २ [सव्व कम्माणि] । ३ **ब ल म स ग** बुज्झदे । ४ **ब** दुण्ह । ५ **ल म स ग** णिसुणदे, [देहे मिलिदो वि णिसुणदे] । ६ [देहे] । ७ **ल म स ग** गच्छेइ, **ब** गच्छेदि (?) । ८ **प** क ।

"निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः । पञ्चमश्चेति सप्तैते तन्त्रीकण्ठोत्थिताः स्वराः ॥ १ ॥ कण्ठदेशे स्थितः षड्जः शिरःस्थ ऋषभस्तथा । नासिकायां च गान्धारो हृदये मध्यमो भवेत् ॥ २ ॥ पञ्चमश्च मुखे ज्ञेयस्तालुदेशे तु धैवतः । निषादः सर्वगात्रे च ज्ञेयाः सप्त स्वरा इति ॥ ३ ॥ निषादं कुञ्जरो वक्ति ब्रूते गौ ऋषभं तथा । अजा वदति गान्धारं षड्जं ब्रूते भुजङ्गभुक् ॥ ४ ॥ ब्रवीति मध्यमं क्रौञ्चो धैवतं च तुरंगमः । पुष्पसंधारणे काले पिकः कूजति पञ्चमम् ॥ ५ ॥ नासाकण्ठमुरस्तालुजिह्वादन्तांश्च संस्पृशन् । षड्भ्यः संजायते यस्मात् तस्मात् षड्ज इति स्मृतः ॥ ६ ॥ नृणामुरसि मन्द्रस्तु द्वाविंशतिविधो ध्वनिः । स एव कण्ठे मध्यः स्यात् तारः शिरसि गीयते ॥ ७ ॥ घनं तु कांस्यतालादि वंशादिसुषिरं विदुः । ततं वीणादिकं वाद्यं विततं पटहादिकम् ॥ ८ ॥" इति स्वरसप्तवाच्यं श्रवणविषयं करोति । कः । देहमिलितो जीवः । अपि पुनः, भुंजदि अन्नं भुङ्क्ते, अशनपानखाद्यस्वाद्यमाहारं भुंक्ते अश्नाति । कः । देहमिलितो जीवः । अपि पुनः, गच्छति चतुर्दिङ्मार्गे चतुर्विदिङ्मार्गे अध ऊर्ध्वमार्गे च याति व्रजति । कः । देहमिलितो जीवः ॥१८६॥ अथ जीवस्यात्मदेहयोः जीवस्य भेदापरिज्ञानं दर्शयति–

राओ हं भिच्चो हं सिट्ठी हं चेव दुब्बलो बलिओ ।
इदि एयत्ताविट्ठो दोण्हं[1] भेयं ण बुज्झेदि ॥ १८७ ॥

[छाया – राजा अहं भृत्यः अहं श्रेष्ठी अहं चैव दुर्बलः बली । इति एकत्वाविष्टः द्वयोः भेदं न बुध्यति ॥] इत्यमुना प्रकारेण एकत्वाविष्टः, अहं शरीरमेवमित्येकत्वं परिणतः, एकान्तत्वं मिथ्यात्वं प्राप्तो बहिरात्मा वा दोण्हं द्वयोर्जीव-

मिला हुआ होनेपर भी जीव चलता है ॥ **भावार्थ**–ऊपर कहीगई बातोंके सिवा शरीरसे संयुक्त होनेपर भी जीव सफेद, पीली, हरी, लाल और काले रंगकी विविध वस्तुओंको आंखोंसे मन लगाकर देखता है । तथा कानोंसे शब्दोंको सुनता है । शब्द अथवा स्वरके भेद इस प्रकार बतलाये हैं–निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड्ज, मध्यम, धैवत, और पञ्चम ये सात स्वर तन्त्रीरूप कण्ठसे उत्पन्न होते हैं । १ । जो स्वर कण्ठ देशमें स्थित होता है उसे षड्ज कहते हैं । जो स्वर शिरोदेशमें स्थित होता है उसे ऋषभ कहते हैं । जो स्वर नासिका देशमें स्थित होता हैं उसे गान्धार कहते है । जो स्वर हृदयदेशमें स्थित होता है उसे मध्यम कहते हैं । २ । मुख देशमें स्थित स्वरको पञ्चम कहते हैं । तालुदेशमें स्थित स्वरको धैवत कहते हैं और सर्व शरीरमें स्थित स्वरको निषाद कहते हैं । इस तरह ये सात स्वर जानने चाहियें । ३ । हाथीका स्वर निषाद है । गौका स्वर वृषभ है । बकरीका स्वर गान्धार है और गरुडका स्वर षड्ज है । ४ । क्रौञ्च पक्षीका शब्द मध्यम है । अश्वका स्वर धैवत है और वसन्तऋतुमें कोयल पञ्चम स्वरसे कूजती है । ५ । नासिका, कण्ठ, उर, तालु, जीभ और दांत इन छैके स्पर्शसे षड्ज स्वर उत्पन्न होता है इसीसे उसे षड्ज कहते हैं । मनुष्योंके उरप्रदेशसे जो बाईस प्रकारकी ध्वनि उच्चरित होती है वह मन्द्र है । वही जब कण्ठदेशसे उच्चरित होती है तो मध्यम है । और जब शिरो देशसे गाई जाती है तब 'तार' है । ७ । कांसेके बाजोंके शब्दको घन कहते हैं । बांसुरी वगैरहके शब्दको सुषिर कहते हैं । वीणा वगैरह वाद्योंके शब्दको तत कहते हैं और ढोल वगैरहके शब्दको वितन कहते हैं । ८ । इन सात स्वरोंको यह शरीरसे संयुक्त जीव ही सुनता है । यही अशन, पान, खाद्य और स्वाद्यके भेदसे चार प्रकारके आहारको ग्रहण करता है ॥ १८६ ॥ आगे बतलाते हैं कि जीव आत्मा और शरीरके भेदको नहीं जानता । **अर्थ**–मै राजा हूं, मैं भृत्य हूं, मैं सेठ हूं, मैं दुर्बल हूं, मै बलवान् हूं, इस प्रकार शरीर और आत्माके एकत्वको मानने

[1] ब दुण्ह ।

देहयोर्भेदं भेदभिन्नं पृथक्त्वं न बुध्यते न जानाति । इति किम् । राजाहं, अहं राजा नृपोऽहं पृथ्वीपालकोऽहम् । भृत्योऽहं, च पुनः, अहमेव भृत्यः कर्मकरोऽहं । अहमेव श्रेष्ठी । च पुनः, अहमेव दुर्बलः निःस्वोऽहं वा कृशीभूतशरीरोऽहम् । अहमेव बलिष्ठः बलवान् बलवत्तरशरीरोऽहम् । इति एकत्वं परिणतो मिथ्यात्वं प्राप्तो बहिरात्मा जीवः जीवशरीरयोर्भेदं पृथक्त्वं भिन्नं न जानातीत्यर्थः ॥ तथा योगीन्द्रदेवैः दोधकपञ्चकेन मिथ्यात्वपरिणामेन कृत्वा बहिरात्मात्मनि योजयतीति स्वस्वरूप निरूप्यते । "हउं गोरउ हउ सांवलउं हउं जि विभिण्णउ वण्णु । हउं तणुअंगउं थूलु हउं एहउ मूढउ मण्णु ॥ १ ॥ हउं वरु बंभणु वइसु हउं हउं खित्तिउ सेसु । पुरिसु णउंसउ इत्थि हउं मण्णइ मूढु विसेसु ॥ २ ॥ तरुणउ बूढउ रूयडउ सूरउ पडिउ देव्वु । खवणउ वंदउ सेवडउ मूढउ मण्णइ सव्वु ॥ ३ ॥ जणणी जणणु वि कंत घरु पुत्त वि मित्तु वि दव्वु । मायाजालु वि अप्पणउं मूढउ मण्णइ सव्वु ॥ ४ ॥ दुक्खहं कारणि जे विसय ते सुहहेउ रमेइ । मिच्छाइट्ठिउ जीवडउ एत्थु ण काइं करेइ ॥ ५ ॥" इति मूढात्मा मिथ्यादृष्टिः जीवः सर्वम् एवं मन्यते ॥१८७॥ जीवकर्तृत्वादिधर्मान् गाथाचतुष्टयेनाह–

जीवो हवेइ[1] कत्ता सव्वंकम्माणि कुव्वदे जम्हा ।
कालाइ-लद्धि-जुत्तो संसारं कुणइ[4] मोक्खं च ॥ १८८ ॥

वाला जीव दोनोंके भेदको नहीं जानता । **भावार्थ–**मैं राजा हूं, मैं नौकर हूं, मैं सेठ हूं, मैं दुर्बल हू, मैं बलवान् हूं इस प्रकारसे लोग शरीरको ही आत्मा मानते हैं क्योंकि वे मिथ्यादृष्टि हैं, अतः वे दोनोंके भेदको नहीं समझते । 'मैं राजा हूं' इत्यादि जितने भी विकल्प हैं वे सब शरीरपरक ही हैं; क्योंकि आत्मा तो न राजा है, न नौकर है, न सेठ है, न गरीब हैं, न दुबला है और न बलवान् हैं । बहिर्दृष्टि लोग शरीरको ही आत्मा मानकर ये विकल्प करते हैं और यह नहीं समझते कि आत्मा इस शरीरमें रमा होकर भी इससे जुदा है ॥ १८७ ॥ अब चार गाथाओंसे जीवके कर्तृत्व आदिका कथन करते हैं । **अर्थ–**यतः जीव सब कर्मोंको करता है अतः वह कर्ता है । वह स्वयं ही संसारका कर्ता है और काललब्धि आदिके मिलनेपर स्वयं ही मोक्षका कर्ता है ॥ **भावार्थ–**यद्यपि शुद्ध निश्चय नयसे आदि मध्य और अन्तसे रहित तथा स्व और परको जानने देखने वाला यह जीव अविनाशी निरुपाधि चैतन्य लक्षण रूप निश्चय प्राणसे जीता है तथापि अशुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा अनादिकालसे होनेवाले कर्मबन्धके कारण अशुद्ध द्रव्यप्राण और भावप्राणोंसे जीता है इसीलिये उसे जीव कहते हैं । वह जीव शुभाशुभ कर्मोंका कर्ता है क्योंकि वह सब काम करता है । व्यवहार नयसे घट, वस्त्र, लाठी, गाड़ी, मकान, प्रासाद स्त्री, पुत्र, पौत्र, असि, मषि, व्यापार आदि सब कार्योंको, ज्ञानावरण आदि शुभाशुभ कर्मोंको, और औदारिक वैक्रियिक और आहारक शरीरोंकी पर्याप्तियोंको जीव करता है । और निश्चय नयसे टांकीसे पत्थरमें उकेरे हुए चित्रामकी तरह निश्चल एक ज्ञायक स्वभाववाला यह जीव अपने अनन्त चतुष्टय रूप स्वभावका कर्ता है । यही जीव द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावके भेदसे पञ्च परावर्तन रूप संसारका कर्ता है । यही कर्मोंसे बद्ध जीव जब संसार परिभ्रमणका काल अर्धपुद्गल परावर्तन प्रमाण शेष रह जाता है तब प्रथमोपशम सम्यक्त्वको ग्रहण करनेके योग्य होता है इसे ही काल लब्धि कहते हैं । आदि शब्दसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव लेना चाहिये । सो द्रव्य तो वज्रवृषभ नाराच संहनन होना चाहिये । क्षेत्र पन्द्रह कर्मभूमियोंमें से होना चाहिये, काल

१ ग कत्ता । २ ग कम्माणि जो वि विन्य । ३ म कुव्वदि । ४ ल म स कुणदि, ग कुणइ ।

[छाया – जीवः भवति कर्ता सर्वकर्माणि करोति यस्मात् । कालादिलब्धियुक्तः संसारं करोति मोक्षं च ॥] जीवः शुद्धनिश्चयनयेनादिमध्यान्तवर्जितः स्वपरप्रकाशकः अविनश्वरनिरुपाधिशुद्धचैतन्यलक्षणनिश्चयप्राणैः यद्यपि जीवति तथाप्यशुद्धनयेनानादिकर्मबन्धवशादशुद्धद्रव्यभावप्राणैर्जीवति इति जीवः । तथा करोति कर्ता भवति शुभाशुभकर्मणां निष्पादकः स्यात् । कुतः । यस्मात् सर्वकर्माणि कुर्वन् । व्यवहारनयेन घटपटलकुटशकटगृहहट्टस्त्रीपुत्रपौत्रासिमषिवाणिज्यादीन् सर्वकार्याणि, ज्ञानावरणादिशुभाशुभकर्माणि, शरीरत्रयस्य पर्याप्तीश्च करोति जीवः विदधाति । निश्चयनयेन निःक्रियटंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावोऽयं जीवः । तथानन्तचतुष्टयस्य कर्ता च । पुनः संसारं कुणदि संसृतिं करोति द्रव्य १ क्षेत्र २ काल ३ भव ४ भाव ५ भेदभिन्नं पञ्चविधं विदधाति सृजति च । पुनः एवंभूतो जीवः कर्माविष्टः अर्धपुद्गल-

---

चतुर्थ हो, भव मनुष्य पर्याय हो, और भावसे विशुद्ध परिणामवाला हो। तथा क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धि-लब्धि, देशना लब्धि, प्रायोग्यलब्धि और अधःकरण, अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण रूप पांच लब्धियोंसे युक्त होना चाहिये। ऐसा होनेपर वही जीव कर्मोंका क्षय करके संसारसे अथवा कर्मबन्धनसे छूट जाता है। जो जिये अर्थात प्राणधारण करे उसे जीव कहते हैं। प्राण दो तरहके होते हैं–एक निश्चय प्राण और एक व्यवहार प्राण। जीवके निश्चय प्राण तो सत्ता, सुख, ज्ञान और चैतन्य हैं। और व्यवहार प्राण इन्द्रिय, बल, आयु, और श्वासोच्छ्वास हैं। ये सब कर्मजन्य है, संसारदशामें कर्मबन्धके कारण शरीरके संसर्गसे इन व्यवहार प्राणोंकी प्राप्ति होती है। और कर्मबन्धनसे छूटकर मुक्त होनेपर शरीरके न रहनेसे ये व्यवहार प्राण समाप्त होजाते हैं और जीवके असली प्राण प्रकट हो जाते हैं। यह जीव निश्चय नयसे अपने भावोंका कर्ता है क्योंकि वास्तवमें कोई भी द्रव्य पर भावोका कर्ता नहीं हो सकता। किन्तु संसारी जीवके साथ अनादि कालसे कर्मोंका संबंध लगा हुआ है। उन कर्मोंका निमित्त पाकर जीवके विकाररूप परिणाम होते हैं। उन परिणामोंका कर्ता जीव ही है इस लिये व्यवहारसे जीवको कर्मोंका कर्ता कहा जाता है। सो यह संसारी जीव अपने अशुद्ध भावोंको करता है उन अशुद्ध भावोंके निमित्तसे नये कर्मोंका बन्ध होता है। उस कर्मबन्धके कारण उसे चतुर्गतिमें जन्म लेना पड़ता है। जन्म लेनेसे शरीर मिलता है। शरीरमें इन्द्रियां होती हैं। इन्द्रियोसे वह इष्ट अनिष्ट पदार्थोंको जानता है, उससे उसे राग द्वेष होता है। रागद्वेषसे पुनः कर्मबन्ध होता है। इस तरह संसाररूपी चक्रमें पड़े हुए जीवके यह परिपाटी तब तक इसी प्रकार चलती रहती है जब तक काल लब्धि नहीं आती। जब उस जीवके संसारमें भटकनेका काल अर्धपुद्गल परावर्तन प्रमाण शेष रहता है तब वह सम्यक्त्व ग्रहण करनेका पात्र होता है। सम्यत्त्वकी प्राप्तिके लिये पांच लब्धियोंका होना जरूरी है। वे पांच लब्धियां हैं–क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशना लब्धि, प्रायोग्य लब्धि और करणलब्धि। इनमेसे चार लब्धियां तो संसारमें अनेक वार होती हैं, किन्तु करण लब्धि भव्यके ही होती है और उसके होने पर सम्यक्त्व अवश्य होता है। अप्रशस्त ज्ञानावरणादि कर्मोंका अनुभाग प्रतिसमय अनन्तगुणा घटता हुआ उदयमें आवे तो उसे क्षयोपशम लब्धि कहते हैं। क्षयोपशम लब्धिके होनेसे जो जीवके साता आदि प्रशस्त प्रकृतियोंके बन्धयोग्य धर्मानुरागरूप शुभ परिणाम होते हैं उसे विशुद्धि लब्धि कहते हैं। छै द्रव्यों और नौपदार्थोंका उपदेश करने वाले आचार्य वगैरहसे उपदेशका लाभ होना देशना लब्धि है। इन तीन लब्धियोंसे युक्त जीव प्रतिसमय विशुद्धतासे वर्धमान होते हुए जीवके आयुके सिवा शेष सात कर्मोंकी स्थिति अन्तःकोड़ाकोड़ी मात्र शेष रहती है तब वह उसमेंसे संख्यात हजार सागर

देहयोर्भेदं भेदभिन्नं पृथक्त्वं न बुध्यते न जानाति । इति किम् । राजाहं, अहं राजा नृपोऽहं पृथ्वीपालकोऽहम् । भृत्योऽहं, च पुनः, अहमेव भृत्यः कर्मकरोऽहं । अहमेव श्रेष्ठी । च पुनः, अहमेव दुर्बलः निःस्वोऽहं वा कृशीभूतशरीरोऽहम् । अहमेव बलिष्ठः बलवान् बलवत्तरशरीरोऽहम् । इति एकत्वं परिणतो मिथ्यात्वं प्राप्तो बहिरात्मा जीवः जीवशरीरयोर्भेदं पृथक्त्वं भिन्नं न जानातीत्यर्थः ॥ तथा योगीन्द्रदेवैः दोधकपञ्चकेन मिथ्यात्वपरिणामेन कृत्वा बहिरात्मात्मनि योजयतीति स्वस्वरूपं निरूप्यते । "हउं गोरउ हउ सांवलउं हउं जि विभिण्णउ वण्णु । हउं तणुअंगउ थूलु हउं एहउ मूढउ मण्णु ॥ १ ॥ हउं वरु बंभणु वइसु हउं हउं खित्तिउ सेसु । पुरिसु णउंसउ इत्थि हउं मण्णइ मूढु विसेसु ॥ २ ॥ तरुणउ बूढउ रूयडउ सूरउ पडिउ देव्वु । खवणउ वंदउ सेवडउ मूढउ मण्णइ सव्वु ॥ ३ ॥ जणणी जणणु वि कंत घरु पुत्त वि मित्तु वि दव्वु । मायाजालु वि अप्पणउं मूढउ मण्णइ सव्वु ॥ ४ ॥ दुक्खहं कारणि जे विसय ते सुहहेउ रमेइ । मिच्छाइट्ठिउ जीवडउ एत्थु ण काइं करेइ ॥ ५ ॥" इति मूढात्मा मिथ्यादृष्टिः जीवः सर्वम् एवं मन्यते ॥१८७॥ जीवकर्तृत्वादिधर्मान् गाथचतुष्टये गाह–

जीवो हवेइ[1] कत्ता सव्वंकम्माणि कुव्वदे जम्हा ।
कालाइ-लद्धि-जुत्तो संसारं कुणइ[4] मोक्खं च ॥ १८८ ॥

वाला जीव दोनोंके भेदको नहीं जानता । **भावार्थ–**मैं राजा हूं, मैं नौकर हूं, मैं सेठ हूं, मैं दुर्बल हूं, मैं बलवान् हूं इस प्रकारसे लोग शरीरको ही आत्मा मानते हैं क्योंकि वे मिथ्यादृष्टि हैं, अतः वे दोनोंके भेदको नहीं समझते । 'मैं राजा हूं' इत्यादि जितने भी विकल्प है वे सब शरीरपरक ही हैं; क्योंकि आत्मा तो न राजा है, न नौकर है, न सेठ है, न गरीब है, न दुबला है और न बलवान् हैं । बहिर्दृष्टि लोग शरीरको ही आत्मा मानकर ये विकल्प करते हैं और यह नहीं समझते कि आत्मा इस शरीरमें रमा होकर भी इससे जुदा है ॥ १८७ ॥ अब चार गाथाओसे जीवके कर्तृत्व आदिका कथन करते हैं । **अर्थ–**यतः जीव सब कर्मोंको करता है अतः वह कर्ता है । वह स्वयं ही संसारका कर्ता है और काललब्धि आदिके मिलनेपर स्वयं ही मोक्षका कर्ता है ॥ **भावार्थ–**यद्यपि शुद्ध निश्चय नयसे आदि मध्य और अन्तसे रहित तथा स्व और परको जानने देखने वाला यह जीव अविनाशी निरुपाधि चैतन्य लक्षण रूप निश्चय प्राणसे जीता है तथापि अशुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा अनादिकालसे होनेवाले कर्मबन्धके कारण अशुद्ध द्रव्यप्राण और भावप्राणोंसे जीता है इसीलिये उसे जीव कहते हैं । वह जीव शुभाशुभ कर्मोंका कर्ता है क्योंकि वह सब काम करता है । व्यवहार नयसे घट, वस्त्र, लाठी, गाड़ी, मकान, प्रासाद स्त्री, पुत्र, पौत्र, असि, मषि, व्यापार आदि सब कार्योंको, ज्ञानावरण आदि शुभाशुभ कर्मोंको, और औदारिक वैक्रियिक और आहारक शरीरोंकी पर्याप्तियोंको जीव करता है । और निश्चय नयसे टांकीसे पत्थरमें उकेरे हुए चित्रामकी तरह निश्चल एक ज्ञायक स्वभाववाला यह जीव अपने अनन्त चतुष्टय रूप स्वभावका कर्ता है । यही जीव द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावके भेदसे पञ्च परावर्तन रूप संसारका कर्ता है । यही कर्मोंसे बद्ध जीव जब संसार परिभ्रमणका काल अर्धपुद्गल परावर्तन प्रमाण शेष रह जाता है तब प्रथमोपशम सम्यक्त्वको ग्रहण करनेके योग्य होता है इसे ही काल लब्धि कहते हैं । आदि शब्दसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव लेना चाहिये । सो द्रव्य तो वज्रवृषभ नाराच संहनन होना चाहिये । क्षेत्र पन्द्रह कर्मभूमियोंमें से होना चाहिये, काल

१ ग आप्प । २ ग कत्ता जो वि विभिण्य । ३ म हवेदि । ४ ल म स कुणदि, ग कुणइ ।

[छाया – जीवः भवति कर्ता सर्वकर्माणि करोति यस्मात् । कालादिलब्धियुक्तः संसारं करोति मोक्षं च ॥] जीवः शुद्धनिश्चयनयेनादिमध्यान्तवर्जितः स्वपरप्रकाशकः अविनश्वरनिरुपाधिशुद्धचैतन्यलक्षणनिश्चयप्राणैः यद्यपि जीवति तथाप्यशुद्धनयेनानादिकर्मबन्धवशादशुद्धद्रव्यभावप्राणैर्जीवति इति जीवः । तथा करोति कर्ता भवति शुभाशुभकर्मणां निष्पादकः स्यात् । कुतः । यस्मात् सर्वकर्माणि कुर्वते । व्यवहारनयेन घटपटलकुटशकटगृहहट्टस्त्रीपुत्रपौत्रासिमषिवाणिज्यादीन् सर्वकार्याणि, ज्ञानावरणादिशुभाशुभकर्माणि, शरीरत्रयस्य पर्याप्तीश्च करोति जीवः विदधाति । निश्चयनयेन निःक्रियटंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावोऽयं जीवः । तथानन्तचतुष्टयस्य कर्ता च । पुनः संसारं कुणदि संसृतिं करोति द्रव्य १ क्षेत्र २ काल ३ भव ४ भाव ५ भेदभिन्नं पञ्चविधं विदधाति सृजति च । पुनः एवंभूतो जीवः कर्माविष्टः अर्धपुद्गल-

चतुर्थ हो, भव मनुष्य पर्याय हो, और भावसे विशुद्ध परिणामवाला हो । तथा क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धि–लब्धि, देशना लब्धि, प्रायोग्यलब्धि और अधःकरण, अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण रूप पांच लब्धियोंसे युक्त होना चाहिये । ऐसा होनेपर वही जीव कर्मोंका क्षय करके संसारसे अथवा कर्मबन्धनसे छूट जाता है । जो जिये अर्थात प्राणधारण करे उसे जीव कहते हैं । प्राण दो तरहके होते हैं– एक निश्चय प्राण और एक व्यवहार प्राण । जीवके निश्चय प्राण तो सत्ता, सुख, ज्ञान और चैतन्य हैं । और व्यवहार प्राण इन्द्रिय, बल, आयु, और श्वासोच्छ्वास हैं । ये सब कर्मजन्य हैं, संसारदशामें कर्मबन्धके कारण शरीरके संसर्गसे इन व्यवहार प्राणोंकी प्राप्ति होती है । और कर्मबन्धनसे छूटकर मुक्त होनेपर शरीरके न रहनेसे ये व्यवहार प्राण समाप्त होजाते हैं और जीवके असली प्राण प्रकट हो जाते हैं । यह जीव निश्चय नयसे अपने भावोंका कर्ता है क्योंकि वास्तवमें कोई भी द्रव्य पर भावोंका कर्ता नहीं हो सकता । किन्तु संसारी जीवके साथ अनादि कालसे कर्मोंका संबंध लगा हुआ है । उन कर्मोंका निमित्त पाकर जीवके विकाररूप परिणाम होते हैं । उन परिणामोंका कर्ता जीव ही है इस लिये व्यवहारसे जीवको कर्मोंका कर्ता कहा जाता है । सो यह संसारी जीव अपने अशुद्ध भावोंको करता है उन अशुद्ध भावोंके निमित्तसे नये कर्मोंका बन्ध होता है । उस कर्मबन्धके कारण उसे चतुर्गतिमें जन्म लेना पड़ता है । जन्म लेनेसे शरीर मिलता है । शरीरमें इन्द्रियां होती हैं । इन्द्रियोंसे वह इष्ट अनिष्ट पदार्थोंको जानता है, उससे उसे राग द्वेष होता है । रागद्वेषसे पुनः कर्मबन्ध होता है । इस तरह संसाररूपी चक्रमें पड़े हुए जीवके यह परिपाटी तब तक इसी प्रकार चलती रहती है जब तक काल लब्धि नहीं आती । जब उस जीवके संसारमें भटकनेका काल अर्धपुद्गल परावर्तन प्रमाण शेष रहता है तब वह सम्यक्त्व ग्रहण करनेका पात्र होता है । सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये पांच लब्धियोंका होना जरूरी है । वे पांच लब्धियां हैं–क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशना लब्धि, प्रायोग्य लब्धि और करणलब्धि । इनमेंसे चार लब्धियां तो संसारमें अनेक बार होती हैं, किन्तु करण लब्धि भव्यके ही होती है और उसके होने पर सम्यक्त्व अवश्य होता है । अप्रशस्त ज्ञानावरणादि कर्मोंका अनुभाग प्रतिसमय अनन्तगुणा घटता हुआ उदयमें आवे तो उसे क्षयोपशम लब्धि कहते हैं । क्षयोपशम लब्धिके होनेसे जो जीवके साता आदि प्रशस्त प्रकृतियोंके बन्धयोग्य धर्मानुरागरूप शुभ परिणाम होते हैं उसे विशुद्धि लब्धि कहते हैं । छै द्रव्यों और नौपदार्थोंका उपदेश करने वाले आचार्य वगैरहसे उपदेशका लाभ होना देशना लब्धि है । इन तीन लब्धियोंसे युक्त जीव प्रतिसमय विशुद्धतासे वर्धमान होते हुए जीवके आयुके सिवा शेष सात कर्मोंकी स्थिति अन्तःकोडाकोडी मात्र शेष रहती है तब वह उसमेंसे संख्यात हजार सागर

परिमाणे कालेऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्वयोग्यो भवतीति काललब्धिः । आदिशब्दात् द्रव्यं वज्रवृषभनाराचलक्षणम्, क्षेत्रं पञ्चदशकर्मभूमिलक्षणम्, भवः मनुष्यादिलक्षणः, भावः विशुद्धिपरिणामः, लब्धयः क्षायोपशमनविशुद्धिदेशनाप्रायोग्याधःकरणापूर्वकरणानिवृत्तकरणलक्षणाः, ताभिर्युक्तः जीवः मोक्षं संसारविमुक्तिलक्षणं कर्मणां मोचनं मोक्षस्तं कर्मक्षयं च करोति विदधाति ॥ १८८ ॥

जीवो वि हवइ भुत्ता कम्म-फलं सो वि भुंजदे जम्हा ।
कम्म-विवायं विविहं सो वि यं भुंजेदि संसारे ॥ १८९ ॥

[छाया-जीवः अपि भवति भोक्ता कर्मफलं सः अपि भुङ्क्ते यस्मात् । कर्मविपाकं विविधं सः अपि च भुनक्ति संसारे ॥] जीवः भोक्ता भवति व्यवहारनयेन शुभाशुभकर्मजनितसुखदुःखादीनां भोक्ता, यस्मात् सोऽपि जीवः कर्मफलं

प्रमाण स्थितिका घात करता है और घातिया कर्मोंका लता और दारु रूप तथा अघातिया कर्मोंका नीम और कांजीर रूप अनुभाग शेष रहता है। इस कार्यको करनेकी योग्यताकी प्राप्तिको प्रायोग्य लब्धि कहते हैं। इन चारों लब्धियोंके होनेपर भव्य जीव अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणको करता है इन तीनो करणोंके होनेका नाम करण लब्धि है। प्रत्येक करणका काल अन्तर्मुहूर्त है। किसी जीवको अधःकरण प्रारम्भ किये थोड़ा समय हुआ हो और किसीको बहुत समय हुआ हो तो उनके परिणाम विशुद्धतामें समान भी होते है इसीसे इसका नाम अधःप्रवृत्त करण है। जिसमें प्रति समय जीवोंके परिणाम अपूर्व अपूर्व होते हैं उसे अपूर्व करण कहते हैं। जैसे किसी जीवको अपूर्वकरण आरम्भ किये थोड़ा समय हुआ और किसीको बहुत समय हुआ तो उनके परिणाम एकदम भिन्न होते हैं। और जिसमें प्रति समय एक ही परिणाम हो उसे अनिवृत्ति करण कहते हैं। पहले अधःकरणमे गुणश्रेणि गुणसंक्रमण वगैरह कार्य नहीं होते, केवल प्रति समय अनन्तगुणी विशुद्धता बढ़ती जाती है। अपूर्व करणमे प्रथम समयसे लगाकर जबतक मिथ्यात्वको सम्यक्त्वमोहनीय और सम्यक्मिथ्यात्वरूप परिणमाता है तब तक गुणश्रेणि, गुणसंक्रमण, स्थितिखण्डन और अनुभागखण्डन चार कार्य होते हैं। अनिवृत्तिकरणमें ये कार्य होते हैं। जब अनिवृत्तिकरणका बहुभाग बीतकर एक भाग शेष रह जाता है तो जीव दर्शन मोहका अन्तर करण करता है। विवक्षित निषेकोंके सब द्रव्योंका अन्य निषेकोंमें निक्षेपण करके उन निषेकोंका अभाव कर देनेको अन्तर करण कहते हैं। अनिवृत्ति करणके समाप्त होते ही दर्शन मोह और अनन्तानुबन्धी चतुष्कका उपशम होनेसे जीव औपशमिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। उसके बाद योग्य समय आनेपर कर्मोंको नष्ट करके मुक्त होजाता है ॥ १८८ ॥ **अर्थ**—यतः जीव कर्मफलको भोगता है इसलिए वही भोक्ता भी है। संसारमें वह अनेक प्रकारके कर्मके विपाकको भोगता है ॥ **भावार्थ**—व्यवहारनयसे जीव शुभ और अशुभ कर्मके उदयसे होनेवाले सुख दुःख आदिका भोक्ता है; क्योंकि वह ज्ञानावरण आदि पुद्गल कर्मोंके फलको भोगता है। तथा वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावके भेदसे पांच प्रकारके संसारमें अशुभ कर्मोंके निम्ब, कांजीर, विष और हालाहल रूप अनुभागको तथा शुभकर्मोंके गुड़, खाण्ड, शर्करा और अमृतरूप अनुभागको भोगता है। यह आत्मा संसार अवस्थामें अपने चैतन्य स्वभावको न छोड़ते हुए ही अनादि

१ ब सो विय ।

भुङ्क्ते ज्ञानावरणादिपुद्गलकर्मफलं सातासातजं सुखदुःखरूपं भुनक्ति । सोऽपि संसारे द्रव्यादिपञ्चप्रकारे भवे भुञ्जति भुनक्ति । किं तत्। विविधं नानाप्रकारम् अनेकप्रकारं कर्मविपाकं कर्मोदयम्, अशुभं निम्बकाञ्जीरविषहालाहलरूपं शुभं च गुडखण्डशर्करामृतरूपं च भुंक्ते । अपिशब्दात् निश्चयनयेन रागादिविकल्पोपाधिरहितो जीवः स्वात्मोत्थसुखामृतभोक्ता भवति ॥ १८९ ॥

जीवो वि हवे[1] पावं अइ-तिव्व-कसाय-परिणदो णिच्चं ।
जीवो वि हवइ[2] पुण्णं उवसम-भावेण संजुत्तो ॥ १९० ॥

[छाया-जीवः अपि भवेत् पापम् अतितीव्रकषायपरिणतः नित्यम् । जीवः अपि भवति पुण्यम् उपशमभावेन संयुक्तः ॥] जीवः आत्मा पापं भवति पापस्वरूपः स्यात् । अपिशब्दात् पापपुण्याभ्यां मिश्रो भवति । कीदृक् सन्

कालसे कर्मबंधनसे बद्ध होनेके कारण सदा मोह राग और द्वेषरूप अशुद्ध भावोंसे परिणमता रहता है। अतः इन भावोंका निमित्त पाकर पुद्गल अपनी ही उपादान शक्तिसे आठ प्रकार कर्मरूप हो जाते हैं। और जैसे तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम या मन्द, मन्दतर और मन्दतम परिणाम होते हैं उसीके अनुसार कर्मोंमें अनुभाग शक्ति पड़जाती है। अनुभाग शक्तिके तरतमांशकी उपमा चार विकल्पोंके द्वारा दी गई है। घातिया कर्मोंमें तो लतारूप, दारुरूप, अस्थिरूप और शैलरूप अनुभाग शक्ति होती है। अघातिया कर्मोंके दो भेद हैं-शुभ और अशुभ। शुभ कर्मोंकी अनुभाग शक्तिकी उपमा गुड़, खाण्ड, शर्करा और अमृतसे दी जाती है और अशुभ कर्मोंकी अनुभाग शक्तिकी उपमा नीम, कंजीर, विष और हलाहल विषसे दी जाती है। जैसी अनुभाग शक्ति पड़ती है उसीके अनुरूप कर्म अपना फल देता है। हां तो, जीव और पुद्गल कर्म परस्परमें एकक्षेत्रावगाहरूप होकर आपसमें बंध जाते हैं। कर्मका उदय काल आनेपर जब वे कर्म अपना फल देकर अलग होने लगते हैं तब निश्चयनयसे तो कर्म आत्मके सुखदुःख रूप परिणामोंमें और व्यवहारसे इष्ट अनिष्ट पदार्थोंकी प्राप्तिमें निमित्त होते हैं तथा जीव निश्चयसे तो कर्मके निमित्तसे होने वाले अपने सुखदुःखरूप परिणामो को भोगता है और व्यवहारसे इष्ट अनिष्ट पदार्थोंको भोगता है, अतः जीव भोक्ता भी है। उसमें भोगनेका गुण है॥ १८९॥

अर्थ–जब यह जीव अति तीव्र कषायरूप परिणमन करता है तब यही जीव पापरूप होता है और जब उपशमभावरूप परिणमन करता है तब यही जीव पुण्यरूप होता है ॥ **भावार्थ**–सदा अतितीव्र अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय तथा मिथ्यात्व आदि रूप परिणामोंसे युक्त हुआ जीव पापी है, और औपशमिक सम्यक्त्व, औपशमिक चारित्र तथा क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र रूप परिणामोंसे युक्त यही जीव पुण्यात्मा है। 'अपि' शब्दसे यही जीव जब अर्हन्त अथवा सिद्ध परमेष्ठी होजाता है तो यह पुण्य और पाप दोनोंसे रहित होजाता है। गोम्मटसारमें पापी जीव पुण्यात्मा जीव, पाप और पुण्यका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है। 'जीविदरे कम्मचये पुण्णं पावो त्ति होदि पुण्णं तु। सुह पयडीणं दव्वं पावं असुहाण दव्वं तु ॥ ६४३ ॥' अर्थात्–जीव पदार्थका वर्णन करते हुए सामान्यसे गुणस्थानोंमेंसे मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानवर्ती जीव तो पापी है। मिश्रगुणस्थानवाले जीव पुण्यपापरूप हैं; क्योंकि उनके एकसाथ सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप मिलेहुए परिणाम होते हैं। तथा असंयत सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्व सहित होनेसे, देशसंयत सम्यक्त्व और

१ ल म स ग हवइ। २ ल म स ग जीवो हवेइ।

पापस्वरूपो जीवः नित्यं सदा अतितीव्रकषायपरिणतः, अतितीव्राः अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभकषायादयः मिथ्यात्वादयश्च तैः परिणतः तत्परिणामयुक्तः इत्यर्थः। अपि पुनः, जीवो भवति। किं तत्। पुण्यं पुण्यरूपः स्यात्। कीदृक्। संयुक्तः सहितः। केन। उपशमभावेन, उपशमसम्यक्त्वोपशमचारित्रपरिणामरूपेण सहितः। उपलक्षणमेतत्। तेन क्षायिकसम्यक्त्व[1]क्षायिकचारित्रादिरूपेण परिणतः जीवः पुण्यरूपो भवति अपिशब्दाद्वा पुण्यपापरहितो जीवो भवति। कोऽसौ। अर्हन् सिद्धपरमेष्ठी जीवः। तथा गोम्मटसारे पापजीवाः पुण्यजीवाः पुण्यं पापं चेति यदुक्तं तदुच्यते। "जीविदरे कम्मचये पुण्णं पावो त्ति होदि पुण्णं तु। सुहपयडीणं दव्वं पावं असुहाण दव्वं तु॥" जीवपदार्थप्रतिपादने सामान्येन गुणस्थानेषु मिथ्यादृष्टयः सासादनाश्च पापजीवाः। मिश्राः पुण्यपापमिश्रजीवाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वमिश्रपरिणामपरिणतत्वात्। असंयताः सम्यक्त्वेन, देशसंयताः सम्यक्त्वेन देशव्रतेन च युक्तत्वात् पुण्यजीवा एवेत्युक्ताः। अनन्तरम् अजीवपदार्थप्ररूपणे कर्मचये कार्मणस्कन्धे पुण्यं पापमित्यजीवपदार्थो द्वेधा। तत्र शुभप्रकृतीनां सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणां द्रव्यं पुण्यं भवति। अशुभनामसद्वेद्यादिसर्वाप्रशस्तप्रकृतीनां द्रव्यं तु पुनः पापं भवति॥ १९०॥ तथा जीवस्तीर्थभूतो भवति तदाह–

रयणत्तय-संजुत्तो जीवो वि हवेइ उत्तमं तित्थं।
संसारं तरइ जदो रयणत्तय-दिव्व-णावाए॥ १९१॥

[छाया–रत्नत्रयसंयुक्तः जीवः अपि भवति उत्तमं तीर्थम्। संसारं तरति यतः रत्नत्रयदिव्यनावा॥] अपि पुनः, जीवो भवति। किं तत्। उत्तमं सर्वोत्कृष्टं तीर्थं, सर्वेषां तीर्थानां मध्ये सर्वोत्कृष्टः अनुपमः तीर्थभूतो जीवो

व्रतसे रहित होनेसे और प्रमत्त संयत आदि गुणस्थानवर्ती जीव सम्यक्त्व और महाव्रतसे सहित होनेसे पुण्यात्मा जीव हैं। अजीव पदार्थका वर्णन करते हुए–चूंकि कार्मणस्कन्ध पुण्यरूपभी होता है और पापरूपभी होता है अतः अजीवके भी दो भेद हैं। उनमेंसे सातावेदनीय, नरकायुके सिवा शेष तीन आयु, शुभ नाम और उच्च गोत्र इन शुभ प्रकृतियोंका द्रव्य पुण्यरूप है। और घातिया कर्मोंकी सब प्रकृतियां, असातावेदनीय, नरकायु, अशुभनाम, नीचगोत्र इन अशुभ प्रकृतियोंका द्रव्य पापरूप है। विशेषार्थ इस प्रकार है। क्रोध मान माया और लोभ कषायकी तीव्रतासे तो पापरूप परिणाम होते हैं, और इनकी मन्दतासे पुण्यरूप परिणाम होते हैं। जिस जीवके पुण्यरूप परिणाम होते हैं वह पुण्यात्मा है, और जिस जीवके पापरूप परिणाम होते हैं वह पापी है। इस तरह एक ही जीव कालभेदसे दोनों तरहके परिणाम होनेके कारण पुण्यात्मा और पापात्मा कहा जाता है। क्योंकि जब जीव सम्यक्त्व सहित होता है तो उसके तीव्र कषायोंकी जड़ कट जाती है अतः वह पुण्यात्मा कहा जाता है। और जब वही जीव मिथ्यात्वमें था तो उसके कषायोंकी जड़ बड़ी गहरी थी अतः तब वही पापी कहलाता था। आजकल लोग जिसको धनी और ऐश्वर्यसम्पन्न देखते हैं भलेही वह पाप करता हो उसे पुण्यात्मा कहने लगते हैं, और जो निर्धन गरीब होता है भलेही वह धर्मात्मा हो उसे पापी समझ बैठते हैं। यह लोगोंकी समझकी गलती है। पुण्य और पापका फल भोगनेवाला पुण्यात्मा और पापी नहीं है, जो पुण्यकर्म शुभभावपूर्वक करता है वही पुण्यात्मा है और जो अशुभ कर्म करता है वही पापी है। पापपुण्यका सम्बन्ध जीवके भावोंसे हैं॥ १९०॥ आगे कहते हैं कि वही जीव तीर्थरूप होता है। **अर्थ–**रत्नत्रयसे सहित यही जीव उत्तम तीर्थ है; क्योंकि वह रत्नत्रय रूपी दिव्य नावसे संसारको पार करता है॥ **भावार्थ–**जिसके

---

[1] ब मावाप।

भवेदित्यर्थः। तीर्यते संसारोऽनेनेति तीर्थम्। कीदृक् सन् जीवः। रत्नत्रयसंयुक्तः, व्यवहारनिश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपरत्नत्रयेण सहितः आत्मा तीर्थं स्यात्। यतः यस्मात्कारणात् तरति। कम्। तं संसारं भवसमुद्रम्। संसारसमुद्रस्य पारं गच्छतीत्यर्थः। कया। रत्नत्रयदिव्यनावा रत्नत्रयसर्वोत्कृष्टतरण्या सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपनौकया आत्मा भवसमुद्रं तरतीत्यर्थः॥ १९१॥ अथातोऽन्येऽपि जीवप्रकारा भण्यन्ते –

जीवा[1] हवंति तिविहा[2] बहिरप्पा तह य अंतरप्पा य।
परमप्पा वि य दुविहा अरहंता तह य सिद्धा य॥ १९२॥

[छाया–जीवाः भवन्ति त्रिविधाः बहिरात्मा तथा च अन्तरात्मा च। परमात्मानः अपि च द्विधा अर्हन्तः तथा च सिद्धाः च॥] जीवाः आत्मानः त्रिविधाः त्रिप्रकारा भवन्ति। एके केचन बहिरात्मानः, बहिर्द्रव्यविषये शरीरपुत्रकलत्रादिचेतनाचेतनरूपे आत्मा येषां ते बहिरात्मानः। अन्तः अभ्यन्तरे शरीरादेर्भिन्नप्रतिभासमानः आत्मा

द्वारा संसारको तिरा जाये उसे तीर्थ कहते हैं। सो व्यवहार और निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रयसे सहित यह आत्मा ही सब तीर्थोंसे उत्कृष्ट तीर्थ है; क्योंकि यह आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमय रत्नत्रयरूप नौकामें बैठकर संसार रूपी समुद्रको पार कर जाता है। आशय यह है कि जिसके द्वारा तिरा जाये वह तीर्थ कहा जाता है, सो वह जीव रत्नत्रयको अपनाकर संसार समुद्रको तिर जाता है अतः रत्नत्रय तीर्थ कहलाया। किन्तु रत्नत्रय तो आत्माका ही धर्म है, आत्मासे अलग तो रत्नत्रय नामकी कोई वस्तु है नहीं। अतः आत्मा ही तीर्थ कहलाया। वह आत्मा संसारसमुद्रको स्वयंही नहीं तिरता किन्तु दूसरोंके भी तिरनेमें निमित्त होता है अतः वह सर्वोत्कृष्ट तीर्थ है॥ १९१॥ अब दूसरी तरहसे जीवके भेद कहते हैं। **अर्थ**–जीव तीन प्रकारके हैं–बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। परमात्माके भी दो भेद हैं–अरहंत और सिद्ध॥ **भावार्थ**–आत्मा तीन प्रकारके होते हैं–बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। बाह्य द्रव्य शरीर, पुत्र, स्त्री वगैरहमें ही जिनकी आत्मा है अर्थात् जो उन्हें ही आत्मा समझते हैं वे बहिरात्मा हैं। जो शरीरसे भिन्न आत्माको जानते हैं वे अन्तरात्मा हैं। अर्थात् जो परम समाधिमें स्थित होकर शरीरसे भिन्न ज्ञानमय आत्माको जानते हैं वे अन्तरात्मा हैं। कहा भी है–जो परम समाधिमें स्थित होकर देहसे भिन्न ज्ञानमय परम आत्माको निहारता है वही पंडित कहा जाता है॥ १॥ 'पर' अर्थात् सबसे उत्कृष्ट, 'मा' अर्थात् अनन्त चतुष्टय रूप अन्तरंग लक्ष्मी और समवसरण आदिरूप बाह्य लक्ष्मीसे विशिष्ट आत्माको परमात्मा कहते हैं। वे परमात्मा दो प्रकारके होते हैं–एक तो छियालीस गुण सहित परम देवाधिदेव अर्हन्त तीर्थंकर और एक सम्यक्त्व आदि आठ गुण सहित अथवा अनन्त गुणोंसे युक्त और स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धिको प्राप्त हुए सिद्ध परमेष्ठी, जो लोकके अग्रभागमें विराजमान हैं॥ १९२॥ अब बहिरात्माका स्वरूप कहते हैं। **अर्थ**–जो जीव मिथ्यात्वकर्मके उदयरूप परिणत हो, तीव्र कषायसे अच्छी तरह आविष्ट हो और जीव तथा देहको एक मानता हो, वह बहिरात्मा है॥ **भावार्थ**–जिसकी आत्मा मिथ्यात्वरूप परिणत हो, अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि तीव्र कषायसे जकड़ी हुई हो और शरीर ही आत्मा है ऐसा जो अनुभव करता है वह मूढ़ जीव बहिरात्मा है। गुण

---

१ ग जीवो। २ ब तिवहा।

येषां ते अन्तरात्मानः । परमसमाधिस्थिताः सन्तः देहविभिन्नं ज्ञानमयं परमात्मानं ये जानन्ति ते अन्तरात्मानो भवन्तीत्यर्थः । तथा चोक्तम् । 'देहविभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ । परमसमाहिपरिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ॥' अपि च केचन परमात्मानः, परा सर्वोत्कृष्टा मा अन्तरङ्गबहिरङ्गलक्षणा अनन्तचतुष्टयादिसमवसरणादिरूपा लक्ष्मीर्येषां ते परमाः ते च ते आत्मानः परमात्मानः । ते द्विविधा अर्हन्तः षट्चत्वारिंशद्गुणोपेतास्तीर्थकरपरमदेवादयः । तथा च सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिर्येषां ते सिद्धाः, सम्यक्त्वाद्यष्टगुणोपेता वानन्तानन्तगुणविराजमानाः लोकाग्रनिवासिनश्च ॥ १९२ ॥ कीदृक्षो बहिरात्मा इत्युक्ते चेदुच्यते –

मिच्छत्त-परिणदप्पा तिव्व-कसाएण सुट्ठु आविट्ठो ।
जीवं देहं एक्कं मण्णंतो होदि बहिरप्पा ॥ १९३ ॥

[छाया–मिथ्यात्वपरिणतात्मा तीव्रकषायेण सुष्ठु आविष्टः । जीवं देहम् एकं मन्यमानः भवति बहिरात्मा ॥] होदि भवति । कः । बहिरात्मा । कीदृक् । मिथ्यात्वेन परिणतः आत्मा यस्यासौ मिथ्यात्वपरिणतात्मा । पुनः किंभूतः । तीव्रकषायेणानन्तानुबन्धिलक्षणेन क्रोधादिना सुष्ठु अतिशयेन आविष्टः गृहीतः । पुनरपि कीदृक्षः । बहिरात्मा जीवं देहम् एकं मन्यमानः, देहः शरीरमेव जीव आत्मा इत्यनयोरेकत्वं मन्यमानः अनुभवन् मूढात्मा भवतीत्यर्थः । गुणस्थानमाश्रित्योत्कृष्टादिबहिरात्मानः । तत्कथमिति चेत्तदुच्यते । उत्कृष्टा बहिरात्मानो गुणस्थानादिमे स्थिताः, द्वितीये मध्यमाः, मिश्रे गुणस्थाने जघन्यका इति ॥ १९३ ॥ अन्तरात्मनः स्वरूपं गाथात्रिकेन दर्शयति –

जे जिण-वयणे कुसला भेयं[3] जाणंति जीव-देहाणं ।
णिज्जिय-दुट्ठट्ठ-मया अंतरप्पा[4] य ते तिविहा ॥ १९४ ॥

[छाया–ये जिनवचने कुशलाः भेदं जानन्ति जीवदेहयोः । निर्जितदुष्टाष्टमदाः अन्तरात्मानः च ते त्रिविधाः॥] ते प्रसिद्धा अन्तरात्मानः कथ्यन्ते । ते के । ये जिनवचने कुशलाः, जिनानां तीर्थकरगणधरदेवादीनां वचने द्वादशाङ्ग-

---

स्थानकी अपेक्षासे बहिरात्माके उत्कृष्ट आदि भेद बतलाये हैं जो इस प्रकार हैं–प्रथम गुणस्थानमें स्थित जीव उत्कृष्ट बहिरात्मा हैं, दूसरे गुणस्थानवाले मध्यम बहिरात्मा हैं और तीसरे मिश्र गुणस्थान वाले जघन्य बहिरात्मा हैं । विशेष अर्थ इस प्रकार है । जो जीव शरीर आदि परद्रव्यमें आत्मबुद्धि करता है वह बहिरात्मा है । और इस प्रकारकी बुद्धिका कारण मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायका उदय है । मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीका उदय होनेसे शरीर आदि परद्रव्योंमें उसका अहंकार और ममत्वभाव रहता है । शरीरके जन्मको अपना जन्म और शरीरके नाशको अपना नाश मानता है । ऐसा जीव बहिरात्मा है । उसके भी तीन भेद हैं–उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य । प्रथम मिथ्यात्व गुण स्थानवर्ती जीव उत्कृष्ट बहिरात्मा है; क्योंकि उसके मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायका उदय रहता है । दूसरे सासादन गुणस्थानवर्ती जीव मध्यम बहिरात्मा है; क्योंकि वह अनन्तानुबन्धी कषायका उदय हो आनेके कारण सम्यक्त्वसे गिरकर दूसरे गुणस्थानमें आता है उसके मिथ्यात्वका उदय नहीं होता । तीसरे मिश्र गुणस्थानवर्ती जीव जघन्य बहिरात्मा है; क्योंकि उसके परिणाम सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप मिले हुए होते हैं तथा उसके न तो मिथ्यात्वका उदय होता है और न अनन्तानुबन्धीका उदय होता है ॥ १९३ ॥ अब तीन गाथाओंसे अन्तरात्माका स्वरूप कहते हैं । **अर्थ**–जो जीव जिनवचनमें कुशल हैं, जीव और देहके भेदको जानते हैं तथा जिन्होंने आठ दुष्ट मदोंको जीत लिया है वे अन्तरात्मा है । वे तीन प्रकारके है ॥ **भावार्थ**–अन्तरात्माओंका कथन

---

१ ग द्विधा । २ ब म सुट्ठु, ल कसाएट्ठु, स कसाएसु सुद्ध, ग कसाएसुट्ठियाविट्ठो । ३ स भेदं (?) । ४ [अंतर अप्पा] ।

रूपसिद्धान्ते कुशला दक्षा निपुणाः, जिनाज्ञाप्रतिपालका वा, जीवदेहयोरात्मशरीरयोर्भेदं जानन्ति, जीवाच्छरीरं भिन्नं पृथग्रूपमिति जानन्ति विदन्ति । पुनः कीदृक्षास्ते । निर्जितदुष्टाष्टमदाः । मदाः के । 'ज्ञानं पूजा कुलं जातिर्बलमृद्धिस्तपो वपुः' इत्यष्टौ मदा गर्वा अभिमानरूपाः, अष्टौ च मदाश्च अष्टमदाः, दुष्टाः सम्यक्त्वमलहेतुत्वात्, ते च ते अष्टमदाश्च, निर्जिता दुष्टाष्टमदा यैस्ते तथोक्ताः । ते त्रिविधाः त्रिप्रकारा अन्तरात्मानो भवन्ति जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदात् ॥१९४॥ अन्तरात्मनः तांश्च भेदान् दर्शयति –

पंच-महव्वय-जुत्ता धम्मे सुक्के वि संठिदा णिच्चं ।
णिज्जिय-सयल-पमाया उक्किट्ठा अंतरा होंति ॥ १९५ ॥

[छाया–पञ्चमहाव्रतयुक्ताः धर्मे शुक्ले अपि संस्थिताः नित्यम् । निर्जितसकलप्रमादाः उत्कृष्टाः अन्तराः भवन्ति ॥] होंति भवन्ति । के । उत्कृष्टा अन्तरात्मानः । कीदृक्षास्ते पञ्चमहाव्रतयुक्ताः, हिंसानृतस्तेयाब्रह्मचर्यपरिग्रहनिवृत्तिलक्षणैः महाव्रतैः सहिताः । पुनः कथंभूतास्ते । नित्यं निरन्तरं धर्मे शुक्लेऽपि संस्थिता, धर्मध्याने आज्ञापायविपाकसंस्थान-

करते हैं । जो तीर्थङ्करके द्वारा प्रतिपादित और गणधर देवके द्वारा गूंथे गये द्वादशाङ्ग रूप जिनवाणीमें दक्ष हैं, उसको जानते हैं अथवा जिन भगवानकी आज्ञा मानकर उसका आदर और आचरण करते हैं, और जीवसे शरीरको भिन्न जानते हैं । तथा जिन्होंने सम्यक्त्वमें दोष पैदा करनेवाले आठ दुष्ट मदोंको जीत लिया है । वे आठ मद इस प्रकार हैं–ज्ञानका मद, आदर सत्कारका मद, कुलका मद, जातिका मद, ताकतका मद, ऐश्वर्यका मद, तपका मद और शरीरका मद । इन मदोंको जीतने वाले जीव अन्तरात्मा कहलाते हैं । उनके उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन भेद हैं ॥ १९४ ॥ अब उत्कृष्ट अन्तरात्माका स्वरूप कहते हैं । **अर्थ**–जो जीव पांच महाव्रतोंसे युक्त होते हैं, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानमें सदा स्थित होते हैं, तथा जो समस्त प्रमादोंको जीत लेते हैं वे उत्कृष्ट अन्तरात्मा हैं ॥ **भावार्थ**–जो हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पाच पापोंकी निवृत्तिरूप पांच महाव्रतोंसे सहित होते हैं, आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय रूप दस प्रकारके धर्मध्यान और पृथक्त्व वितर्क वीचार तथा एकत्व वितर्क वीचाररूप दो प्रकारके शुक्लध्यानमें सदा लीन रहते हैं । तथा जिन्होंने प्रमादके १५ भेदोंको अथवा ८० भेदोंको या सैंतीस हजार पांच सौ भेदोंको जीत लिया है, ऐसे अप्रमत्त गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थानतकके मुनि उत्कृष्ट अन्तरात्मा होते हैं । विशेष अर्थ इस प्रकार है । प्रमादवश अपने या दूसरोंके प्राणोंका घात करना हिंसा है । जिससे दूसरोंको कष्ट पहुचे, ऐसे वचनका बोलना झूंठ है । बिना दिये पराये तृणमात्रको भी लेलेना अथवा उठाकर दूसरोंको देदेना चोरी है । कामके वशीभूत होकर कामसेवन आदि करना मैथुन है । शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, धान्य आदि वस्तुओंमें ममत्व रखना परिग्रह है । ये पांच पाप हैं । इसका एकदेशसे त्याग करना अणुव्रत है और पूरी तरहसे त्याग करना महाव्रत है । ध्यानका वर्णन आगे किया जायेगा । अच्छे कामोंमें आलस्य करनेका नाम प्रमाद है । प्रमाद १५ हैं– ४ विकथा अर्थात् खोटी कथा–स्त्रीकथा–स्त्रियोंकी चर्चा वार्ता करते रहना, भोजनकथा–खानेपीनेकी चर्चावार्ता करते रहना, राष्ट्रकथा–देशकी चर्चावार्ता करते रहना और राजकथा–राजाकी चर्चावार्ता

१ ल स ग सहिया ।

विचयरूपे दशविधधर्मध्याने वा शुक्लध्यानेऽपि । अपिशब्दः चार्थे । पृथक्त्ववितर्कवीचारैकत्ववितर्कवीचारलक्षणे द्विके शुक्लध्याने च स्थिताः निश्चलं गताः स्थिरीभूता इत्यर्थः। पुनः कीदृक्षाः। निर्जिताः नाशं नीताः सकलाः पञ्चदश प्रमादाः १५, अशीतिः प्रमादा वा ८०, सार्धसप्तत्रिंशत्सहस्रप्रमितप्रमादा वा ३७५००, यैस्ते तथोक्ताः। अप्रमत्तादिक्षीणकषाय-गुणस्थानवर्तिनो मुनय उत्कृष्टान्तरात्मानो भवन्तीति तात्पर्यम् ॥ १९५ ॥ के ते मध्यमा अन्तरात्मानः –

सावय-गुणेहिँ जुत्ता पमत्त-विरदा य मज्झिमा होंति ।
जिण-वयणे अणुरत्ता उवसम-सीला महासत्ता ॥ १९६ ॥

[छाया–श्रावकगुणैः युक्ताः प्रमत्तविरताः च मध्यमाः भवन्ति । जिनवचने अनुरक्ताः उपशमशीलाः महा-सत्त्वाः ॥] होंति भवन्ति । के ते । मध्यमा अन्तरात्मानः । कीदृक्षास्ते । श्रावकगुणैर्युक्ताः, द्वादशव्रतैकादशप्रतिमात्रि-पञ्चाशत्क्रियाभिः सहिताः पञ्चमगुणस्थानवर्तिनो विरताविरताः । च पुनः । प्रमत्तविरताः अप्रमत्तगुणस्थानवर्तिनो मुनयः पुनस्ते देशव्रतिनो मुनयश्च कीदृशाः । जिनवचने अनुरक्ताः, सर्वज्ञप्रणीतषड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थादिरूपे अत्यन्तमासक्ता निश्चलत्वं प्राप्ताः । पुनः कीदृक्षाः । उपशमशीलाः क्रोधाद्युपशमनस्वभावाः । मिथ्यात्वसम्यक्मिथ्यात्व-सम्यक्त्वानन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणकषायाणां यथासंभवमुपशमादि प्राप्ता इत्यर्थः । पुनः कीदृक्षाः । महासत्त्वाः उपसर्गपरीषहादिभिरखण्डितव्रताः ॥ १९६ ॥ अथ जघन्यान्तरात्मानं निगदति–

अविरय[1]-सम्मादिट्ठी[2] होंति जहण्णा जिणिंद[3]-पय-भत्ता ।
अप्पाणं णिंदंता गुण-गहणे सुट्ठु[4] अणुरत्ता ॥ १९७ ॥

[छाया–अविरतसम्यग्दृष्टयः भवन्ति जघन्याः जिनेन्द्रपदभक्ताः । आत्मानं निन्दन्तः गुणग्रहणे सुष्ठु अनु-रक्ताः ॥] होंति भवन्ति जघन्या जघन्यान्तरात्मानः । के ते । अविरतसम्यग्दृष्टयः, चतुर्थाविरतगुणस्थानवर्तिनः उपशमसम्यक्त्वाः वेदकसम्यग्दृष्टयः क्षायिकसम्यग्दृष्टयो वा । कीदृक्षास्ते । जिनेन्द्रपदभक्ताः जिनेश्वरचरणकमलासक्ताः ।

करते रहना, ४ कषाय–क्रोध, मान, माया लोभ, ५ पाचों इन्द्रियोंके विषय, १ निद्रा और १ मोह ये पन्द्रह प्रमाद हैं। इन प्रमादोंको परस्परमें मिलानेसे (४×४×५=८०) प्रमादके अस्सी भेद होजाते है। तथा २५ विकथा, सोलह कषाय और नौ नोकषाय इसतरह पच्चीस कषाय, पांच इन्द्रिय और एक मन ये छै, स्त्यानगृद्धि निद्रानिद्रा प्रचला प्रचला निद्रा प्रचला ये पाच निद्रा, स्नेह और मोह ये दो, इनको परस्परमे गुणा करनेसे (२५×२५×६×५×२) प्रमादके सैंतीस हजार पाचसौ भेद होते हैं ॥ १९५ ॥ अब मध्यम अन्तरात्माका स्वरूप कहते हैं। **अर्थ**–श्रावकके व्रतोंको पालने वाले ग्रहस्थ और प्रमत्त गुण स्थानवर्ती मुनि मध्यम अन्तरात्मा हैं। ये जिनवचनमें अनुरक्त होते हैं उपशम स्वभाववाले होते हैं और महा पराक्रमी होते है ॥ **भावार्थ**–बारह व्रत, ग्यारह प्रतिमा और तरेपन क्रियाओं को पालनेवाले, पञ्चम गुणस्थान वर्ती देशव्रती श्रावक तथा प्रमत्त गुणस्थान वर्ती मुनि मध्यम अन्तरात्मा होते हैं। ये देशव्रती श्रावक और महाव्रती मुनि जिनभगवान के द्वारा कहे गये छै द्रव्यों, पांच अस्तिकायों, सात तत्त्वों और नौ पदार्थोंमें अत्यन्त श्रद्धा रखते हैं–कोई भी उन्हें उससे विचलित नहीं कर सकता। तथा उनकी मिथ्यात्व मोहनीय, सम्यक् मिथ्यात्व मोहनीय, सम्यक्त्व, मोहनीय, अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ और प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ रूप कषाय यथासंभव शान्त रहती हैं और उपसर्ग तथा परीषह वगैरह होनेपर भी वे अपने

---

१ स अविरद । २ ब सम्माइट्ठी । ३ ब जिणिंद, ग जिणंद । ४ म सुट्ठु ।

पुनः कीदृक्षाः । गुणगहणे अणुव्रतमहाव्रतादिगुणग्रहणे, सुष्ठु अतिशयेन अनुरक्ताः प्रेमपरिणताः अकृत्रिमस्नेहाः । 'गुणिषु प्रमोदम्' इति वचनात् । तथा चोक्तम् । "जघन्या अन्तरात्मानो गुणस्थाने चतुर्थके । सन्ति द्वादशमे सर्वोत्कृष्टाः क्षीणकषायिणः ॥" अन्तरात्मान आत्मज्ञाः गुणस्थानेषु अनेकधा मध्यमा पञ्चमैकादशान्तेषु गुणवृद्धिगाः इति ॥ १९७ ॥ अथ परमात्मानं लक्षयति–

स-सरीरा अरहंता केवल-णाणेण मुणिय-सयलत्था ।
णाण-सरीरा सिद्धा सव्वुत्तम-सुक्ख[1]-संपत्ता ॥ १९८ ॥

[छाया–सशरीराः अर्हन्तः केवलज्ञानेन ज्ञातसकलार्थाः । ज्ञानशरीराः सिद्धाः सर्वोत्तमसौख्यसंप्राप्ताः ॥] अर्हन्तः सर्वज्ञाः परमात्मानः कीदृक्षाः । सशरीराः परमौदारिकशरीरसहिताः । रसासृक्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः सप्त, तथा मलमूत्रादिसप्तोपधातवः, ताभिर्विवर्जितशरीराः चतुस्त्रिंशदतिशयाष्टप्रातिहार्यानन्तचतुष्टयसहिताः । तथा गौतमस्वामिना उक्तं च । मोहादिसर्वदोषारिघातकेभ्यः सदा हतरजोभ्य विरहितरहस्कृतेभ्यः पूजार्हेभ्यो नमोऽर्हद्भ्यः । अर्हन्तो जिनेन्द्राः त्रयोदशचतुर्दशगुणस्थानवर्तिनः मुण्डकेवल्यादयश्च परमात्मानो भवन्तीत्यर्थः । कीदृक्षास्ते । केवलज्ञानेन मुनित ज्ञातसकलार्थाः केवलज्ञानदर्शनाभ्यां ज्ञातदृष्टयुगपदतीतानागतवर्तमानजीवादिपदार्थाः । सिद्धाः सिद्धपर-

व्रतोंसे विचलित नहीं होते ॥ १९६ ॥ अब जघन्य अन्तरात्मा का स्वरूप कहते हैं । **अर्थ–**जो जीव अविरत सम्यग्दृष्टि हैं वे जघन्य अन्तरात्मा हैं । वे जिन भगवानके चरणोंके भक्त होते हैं, अपनी निन्दा करते रहते हैं और गुणोंको ग्रहण करनेमें बड़े अनुरागी होते हैं ॥ **भावार्थ–**अविरत सम्यग्दृष्टि अर्थात् चौथे अविरत गुणस्थानवर्ती उपशम सम्यग्दृष्टि, वेदक सम्यक् दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य अन्तरात्मा होते हैं । वे जिन भगवानके चरणकमलोंके भक्त होते हैं, अणुव्रत महाव्रत आदि गुणोंको ग्रहण करनेमें अत्यन्त अनुरक्त होते हैं अथवा गुणोंके अनुरागी होने के कारण गुणीजनोंके बड़े प्रेमी होते हैं; क्योंकि गुणिजनोंको देखकर प्रमुदित होना चाहिये ऐसा वचन है । कहा भी है–"चौथे गुण स्थानवर्ती जीव जघन्य अन्तरात्मा हैं । और बारहवे गुणस्थान वर्ती क्षीणकषाय जीव सबसे उत्कृष्ट अन्तरात्मा है तथा मध्यम अन्तरात्मा पांचवे गुणस्थानसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक गुणोमें बढ़ते हुए अनेक प्रकारके होते हैं । विशेष स्पष्टिकरण इस प्रकार है । चौथे गुणस्थान वाले अविरत सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य अन्तरात्मा होते हैं । ये जिनेन्द्रदेव, जिनवाणी और निर्ग्रन्थ गुरुओंकी भक्ति करनेमें सदा तत्पर रहते हैं । अपनी सदा निन्दा करते रहते हैं; क्यों कि चरित्र मोहनीय का उदय होने से उनसे व्रत तो धारण किये नहीं जाते । किन्तु भावना सदा यही रहती है कि हम कब व्रत धारण करें अतः अपने परिणामोंकी सदा निन्दा किया करते हैं और जिनमें सम्यग्दर्शन आदि गुण देखते हैं उनसे अत्यन्त अनुराग रखते हैं । इस तरह अन्तरात्माके तीन भेद कहे । सो चौथे गुणस्थान वाला तो जघन्य अन्तरात्मा हैं, पांचवे गुणस्थान वाला मध्यम अन्तरात्मा है और सातवें गुणस्थानसे लगाकर बारहवें गुणस्थान तक उत्कृष्ट अन्तरात्मा हैं । इनमें भी सबसे उत्कृष्ट अन्तरात्मा बारहवे गुणस्थान वर्ती हैं अतः उसकी अपेक्षासे पांचवेसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तकके जीवोंको भी मध्यम अन्तरात्मा कह सकते है ॥ १९७ ॥ अब परमात्माका स्वरूप कहते हैं । **अर्थ–**केवल ज्ञानके द्वारा सब पदार्थोंको जान लेनेवाले, शरीर सहित

१ छ ग सौक्ख ।

मेष्ठिनः द्वितीयपरमात्मानः । ज्ञानं केवलज्ञानं तत्साहचर्यात् केवलदर्शनं च तदेव शरीरं येषां ते ज्ञानशरीराः । पुनः किंभूताः । सर्वोत्तमसौख्यसंप्राप्ताः, सर्वोत्कृष्टानन्तसातं तत्साहचर्यात् अनन्तवीर्यं च प्राप्ताः । तथा सम्यक्त्वाद्यष्टगुणान् अनन्तगुणान् वा प्राप्ताः सिद्धाः।"अट्ठविहकम्ममुक्के अट्ठगुणड्ढे सरे वंदे । अट्ठमपुढविणिविट्ठे णिट्ठियकज्जे य वंदिमो णिच्चं ॥" इत्यादिगुणगणविशिष्टाः परमात्मानो भवन्ति ॥ १९८ ॥ अथ परशब्दं व्याख्याति–

णीसेसे[1]-कम्म-णासे अप्प-सहावेण जा समुप्पत्ती ।
कम्मज-भाव-खए वि य सा वि य पत्ती[2] परा होदि ॥ १९९ ॥

[छाया–निःशेषकर्मनाशे आत्मस्वभावेन या समुत्पत्तिः । कर्मजभावक्षये अपि च सा अपि च प्राप्तिः परा भवति ॥] अपि च पुनः, सा पत्ती जीवानां प्राप्तिः परा उत्कृष्टा भवति । सा का । या आत्मस्वभावेन आत्मस्वरूपेण शुद्धबुद्धैकपरमानन्दस्वस्वरूपेण समुत्पत्तिः सम्यग् निष्पत्तिः । क्व सति । निःशेषकर्मनाशे सति, समस्तज्ञानावरणादिकर्मणां

अरहन्त और सर्वोत्तम सुखको प्राप्त कर लेनेवाले तथा ज्ञानमय शरीरवाले सिद्ध परमात्मा हैं ॥ **भावार्थ**–रस, रक्त, मांस, मेद, हड्डी, मज्जा और शुक्र ये सात धातुएं हैं और मल मूत्र वगैरह सात उपधातुएँ हैं । इन धातु उपधातुओंसे रहित परम औदारिक शरीर वाले, तथा चौतीस अतिशय, आठ प्रातिहार्य और अनन्तचतुष्टयसे सहित अर्हन्तदेव होते हैं । गौतम स्वामीने भी कहा है–"मोह आदि समस्त दोषरूपी शत्रुओंके घातक, सर्वदा के लिये ज्ञानावरण और दर्शनावरण रूपी रजको नष्ट कर डालनेवाले तथा अन्तराय कर्मसे रहित, अत एव पूजाके योग्य अर्हन्त भगवानको नमस्कार हो ।" ये तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती जिनेन्द्र देव तथा मूक केवली वगैरह, जिन्होने कि केवलज्ञान और केवल दर्शनके द्वारा भूत, वर्तमान और भावी जीव आदि सब पदार्थोंकी पर्यायोंको एक साथ देखा और जाना है, वे परमात्मा हैं । दूसरे परमात्मा सिद्ध परमेष्ठी हैं, जिनका केवल ज्ञान और केवल दर्शन ही शरीर है तथा जो सबसे उत्कृष्ट सुख, और उसके साथी अनन्तवीर्यसे युक्त हैं, और सम्यक्त्व आदि आठ गुणोसे अथवा अनन्तगुणोंसे सहित हैं । कहा भी है–"जो आठों कर्मोंसे मुक्त हो चुके हैं, आठ गुणोंसे विशिष्ट हैं और आठवीं पृथिवीके ऊपर स्थित सिद्धालयमें विराजमान हैं तथा जिन्होनें आप सब कर्तव्य पूरा कर लिया है उन सिद्धोंकी सदा वन्दना करता हूं ।" सारांश यह है कि अर्हन्त देव सकल (शरीर सहित) परमात्मा है और सिद्ध विकल (शरीर सहित) परमात्मा हैं ॥ १९८ ॥ अब 'परा' शब्दका व्याख्यान करते हैं । **अर्थ**–समस्त कर्मोका नाश होनेपर अपने स्वभावसे जो उत्पन्न होता है उसे परा कहते हैं । और कर्मोंसे उत्पन्न होने वाले भावोंके क्षयसे जो उत्पन्न होता है उसे भी परा कहते हैं ॥ **भावार्थ**–समस्त ज्ञानावरण आदि कर्मोंका क्षय होनेपर जीवको जो प्राप्ति होती है वह परा अर्थात् उत्कृष्ट है । तथा कर्म जन्य औदयिक क्षायोपशमिक और औपशमिक जो राग द्वेष मोह आदि भाव हैं, उनका पूरी तरहसे नाश हो जानेपर भी जो प्राप्ति होती है वह भी परा अर्थात् उत्कृष्ट है। वह 'परा' अर्थात् उत्कृष्ट, 'मा' अर्थात बाह्य और अभ्यन्तर रूप लक्ष्मी जिनके होती है वे परमात्मा होते हैं । विशेष अर्थ इस प्रकार है । 'परा' अर्थात् उत्कृष्ट, 'मा' अर्थात् लक्ष्मी जिसके हो उस आत्माको परमात्मा कहते हैं । यह परमात्मा

१ ल म स ग णिस्सेस । २ म पुत्ती ।

नाशे क्षये सति । अपि पुनः, कर्मजभावक्षये, कर्मजा भावाः औदयिकक्षायोपशमिकौपशमिकाः रागद्वेषमोहादयो वा तेषां क्षये निःशेषनाशे सति । सा परा उत्कृष्टा मा लक्ष्मीर्बाह्याभ्यन्तररूपा येषां ते परमात्मानो भवन्ति ॥ १९९ ॥ अथ यदि सर्वे जीवाः शुद्धस्वभावाः तेषां तपश्चरणविधानं निष्फलं भवतीति पूर्वपक्षं गाथाद्वयेन करोति–

जइ पुणं[1] सुद्ध-सहावा सव्वे जीवा अणाइ-काले वि ।
तो[2] तव-चरण-विहाणं सव्वेसिं णिप्फलं होदि ॥ २०० ॥[3]

[छाया-यदि पुनः शुद्धस्वभावाः सर्वे जीवाः अनादिकाले अपि । तत् तपश्चरणविधानं सर्वेषां निष्फलं भवति ॥] यदि चेत्, पुनः सर्वे जीवाः अनादिकालेऽपि अनाद्यनन्तकालेऽपि शुद्धस्वभावाः कर्ममलकलङ्करहितेन शुद्धस्वभावाः शुद्धबुद्धैकटङ्कोत्कीर्णकेवलज्ञानदर्शनस्वभावाः । तो तर्हि, सर्वेषां जीवानां तपश्चरणं ध्यानाध्ययनदानादिकं परीषहोपसर्गसहनं च तस्य विधानं निष्पादनं कर्तव्यं निष्फलं न कार्यकारि भवति ॥ २०० ॥ किं चेति दूषणान्तरे–

ता कहं गिण्हदि देहं णाणा-कम्माणि ता कहं कुणदि[4] ।
सुहिदा वि य दुहिदा[5] वि य णाणा-रूवा[6] कहं होंति[7] ॥ २०१ ॥[8]

[छाया-तत् कथं गृह्णाति देहं नानाकर्माणि तत् कथं करोति । सुखिनः अपि च दुःखिताः अपि च नानारूपाः कथं भवन्ति ॥] पुनः यदि सर्वे जीवाः सदा शुद्धस्वभावाः, ता तर्हि, देहम् औदारिकादिशरीरं सप्तधातुमलमूत्रादिमयं कथं गृह्णन्ति । जीवानां शुद्धस्वभावेन शरीरग्रहणायोगात् । यदि पुनः सर्वे जीवाः सदा कर्ममलकलङ्करहिताः, ता तर्हि नानाकर्माणि गमनागमनशयनभोजनस्थानादीनि असिमषिकृषिवाणिज्यादिकार्याणि ज्ञानावरणादीनि कर्माणि च कथं

शब्दका अर्थ है । सो घातिया कर्मोंको नष्ट करके अनन्त चतुष्टय रूप अन्तरंग लक्ष्मीको और समवसरण आदि रूप बाह्य लक्ष्मीको प्राप्त करनेवाले अरहन्त परमेष्ठी परमात्मा हैं । वे ही समस्त कर्मोंको तथा कर्मसे उत्पन्न होनेवाले औदयिक आदि भावोंको नष्ट करके आत्म स्वभावरूप लक्ष्मीको पाकर सिद्ध परमात्मा हो जाते है ॥ १९९ ॥ कोई कोई मतावलम्बी आत्माको सर्वथा शुद्ध ही मानते हैं । दो गाथाओंसे उनका निराकरण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि सब जीव शुद्धस्वभाव हैं तो उनका तपश्चरण आदि करना व्यर्थ है । **अर्थ**–यदि अनादिकालसे सब जीव शुद्धस्वभाव है तो सबका तपश्चरण करना निष्फल होता है ॥ **भावार्थ**–यदि सब जीव सदा शुद्धस्वभाव हैं तो सब जीवोंका ध्यान, अध्ययन आदि करना, दानदेना और परीषह उपसर्ग वगैरह सहना तथा उसका विधान करना कुछभी कार्यकारी नही होगा ॥ २०० ॥ और भी दूषण देते हैं । **अर्थ**–यदि जीव सर्वथा शुद्ध है तो वह शरीरको कैसे ग्रहण करता है? अनेक प्रकारके कर्मोंको कैसे करता हैं? तथा कोई सुखी है, कोई दुःखी है इस तरह नाना रूप कैसे होता है ॥ **भावार्थ**–यदि सब जीव सदा शुद्धस्वभाव ही हैं तो सप्तधातु और मलमूत्र आदिसे भरे औदारिक आदि शरीरको वे क्यों ग्रहण करते हैं? क्योंकि सब जीवोंके शुद्धस्वभाव होनेके कारण शरीरग्रहण करनेका योग नहीं है । तथा यदि सब जीव सदा कर्ममलरूपी कलङ्कसे रहित हैं तो जाना, आना, सोना, खाना, बैठना आदि, तथा तलवार चलाना, लेखन खेती व्यापार आदि कार्योंको और ज्ञानावरण आदि कर्मोंको कैसे करते हैं? तथा यदि सब जीव शुद्ध बुद्ध स्वभाववाले हैं तो कोई दुखी कोई सुखी, कोई जीवित कोई मृत, कोई अश्वारोही कोई घोड़ेके आगे आगे चलने वाला कोई बालक कोई वृद्ध, कोई पुरुष कोई स्त्री

१ ब पुणु । २ ब ते । ३ ब किंच । ४ ल म स ग किं । ५ ब सुहिदा वि दुहदा । ६ ब रूवं (?) । ७ ब हुंति, म ग होंति । ८ ब तदो एव भवतिः । सव्वे इत्यादि ।

करोति केन प्रकारेण कुर्वन्ति । अपि पुनः, सर्वे जीवाः शुद्धबुद्धस्वभावाः, ता तर्हि केचन सुखिताः केचन दुःखिताः । नानारूपाः केचन मरणयुक्ताः केचन अश्वारोहाः केचनाश्वाग्रे गामिनः केचन बालाः केचन वृद्धाः केचन नराः केचन स्त्रीनपुंसकरूपाः केचन रोगपीडिताः केचन निरामया इत्यादयः कथं भवन्ति ॥ २०१ ॥ तदो[1] एवं भवति, तत एवं वक्ष्यमाणगाथासूत्रोक्तं भवति–

सव्वे कम्म-णिबद्धा संसरमाणा अणाइ-कालम्हि ।
पच्छा तोडिय बंधं सिद्धा सुद्धा[3] धुवं[4] होंति ॥ २०२ ॥[5]

[छाया–सर्वे कर्मनिबद्धाः संसरमाणाः अनादिकाले । पश्चात् त्रोटयित्वा बन्धं सिद्धाः शुद्धाः ध्रुवं भवन्ति ॥] अनादिकाले सर्वे संसारिणो जीवाः संसरमाणा चतुर्विधसंसारे पञ्चप्रकारसंसारे वा परिभ्रमन्तः चङ्क्रमणं कुर्वन्तः कर्मनिबद्धाः ज्ञानावरणादिकर्मनिबन्धनैः शृंखलाभिः बद्धाः बन्धनं प्राप्ताः । पश्चात् बन्धं कर्मबन्धं प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धं तोडिय त्रोटयित्वा विनाश्य सिद्धा भवन्ति कर्ममलकलङ्करहिताः स्युः । कीदृक्षाः । शुद्धाः शुद्धबुद्धैकस्वरूपाः । पुनः कीदृक्षाः । ध्रुवाः नित्याः शाश्वताः जन्मजरामरणविवर्जिताः अनन्तानन्तकालस्थायिनः ॥ २०२ ॥ अथ येन बन्धेन जीवा ईदृक्षा भवन्ति स को बन्ध इति चेदुच्यते –

जो अण्णोण्ण-पवेसो जीव-पएसाण कम्म-खंधाणं ।
सव्व-बंधाण वि लओ[6] सो बंधो होदि जीवस्स ॥ २०३ ॥

कोई नपुंसक, कोई रोगी कोई नीरोग इस तरहसे नानारूप क्यों हैं ? ऐसा होनेसेही आगेकी गाथामें कही हुई बात घटित होती है ॥ २०१ ॥ आगे कहते हैं कि यह सब तभी हो सकता है जब ऐसा माना जाये । **अर्थ–**सभी जीव अनादिकालसे कर्मोंसे बंधे हुए हैं इसीसे संसारमें भ्रमण करते हैं । पीछे कर्मबन्धनको तोड़कर जब निश्चल सिद्ध पद पाते हैं तब शुद्ध होते हैं । **भावार्थ–**अनादिकालसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे चाररूप अथवा चारों गतियोंकी अपेक्षा चार रूप और द्रव्य क्षेत्र काल, भव और भाव की अपेक्षा पांचरूप संसार में भटकनेवाले सभी संसारी जीव ज्ञानावरण आदि कर्मोंकी सांकलोंसे बंधे हुए हैं । पीछे प्रकृतिबन्ध स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धकी अपेक्षासे चार प्रकार के कर्म बन्धनको तोड़कर कर्ममलरूपी कलङ्कसे रहित सिद्ध हो जाते हैं । तब वे शुद्ध बुद्ध स्वरूपवाले, और जन्म, बुढापा और मृत्युसे रहित होते हैं । तथा अनन्तानन्त काल तक वहीं बने रहते हैं । अर्थात् फिर वे कभी भी लौटकर संसारमें नहीं आते ॥ २०२ ॥ आगे जिसबन्धसे जीव बंधता है उस बंधका स्वरूप कहते हैं । **अर्थ–**जीवके प्रदेशोंका और कर्मके स्कन्धोंका परस्परमें प्रवेश होनाही जीवका बन्ध है । इस बन्धमें सब बन्धोंका विलय हो जाता है ॥ **भावार्थ–**जीवके लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशोंका और सिद्धराशिके अनन्तवें भाग अथवा अभव्यराशिसे अनन्तगुणी कार्मणवर्गणाओंका परस्परमें मिलना सो बन्ध है । अर्थात् एक आत्माके प्रदेशोंमें अनन्तानन्त पुद्गल स्कन्धोंके प्रवेशका नाम प्रदेश बन्ध है । इसीमें प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धका लय होता है । कहा भी है–"जीव राशि अनन्त है और एक एक जीवके असंख्यात प्रदेश होते हैं । तथा एक एक आत्मप्रदेशपर अनन्त कर्मप्रदेश होते हैं । आत्मा और कर्मके प्रदेशोंका

१ ग तदा । २ ल ग पुस्तकयोरेषा गाथा नास्ति संस्कृतव्याख्या तु वर्तते । ३ म सुद्धा सिद्धा । ४ ब धुवं (?), म धुआ, स धुवा । ५ ब को बंधो ॥ जो अण्णोण्ण इत्यादि । ६ म वलिउ ।

[छाया-यः अन्योन्यप्रवेशः जीवप्रदेशानां कर्मस्कन्धानाम् । सर्वबन्धानाम् अपि लयः स बन्धः भवति जीवस्य ॥] जीवस्य संसारिप्राणिनः स प्रसिद्धः बन्धो भवति कर्मणां बन्धः स्यात् । स कः । यः जीवप्रदेशानां लोकमात्राणाम् असंख्यातप्रमितानां कर्मस्कन्धानां कार्मणवर्गणानां सिद्धानन्तैकभागानाम् अभव्यसिद्धादनन्तगुणानाम् अन्योन्यं प्रवेशः परस्परं प्रवेश एकस्मिन्नात्मप्रदेशे अनन्तानां पुद्गलस्कन्धानां प्रवेशः स प्रदेशबन्धो भवति । अपि पुनः, सर्वबन्धानां प्रकृतिस्थित्यनुभागबन्धानां लओ लयः लीनश्च । उक्तं च । "जीवपएसेक्केक्के कम्मपएसा हु अंतपरिहीणा । होंति घणा णिविडभुवो संबंधो होइ णायव्वो ॥" जीवराशिरनन्तः प्रत्येकमेकैकस्य जीवस्यासंख्याताः प्रदेशा आत्मनः एकैकस्मिन् प्रदेशे कर्मप्रदेशा, हु स्फुटम्, अंतपरिहीणा इति अनन्ता भवन्ति । एतेषाम् आत्मकर्मप्रदेशानां सम्यग्बन्धो भवति । स बन्धः किंलक्षणो ज्ञातव्यः । घनः निबिडभूतः घनवत्, लोहमुद्गरवत् निबिडभूतः दृढतर इत्यर्थः । इति तथा च नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः इति बन्धः ॥२०३॥ अथ सर्वेषु द्रव्येषु जीवस्य परमतत्त्वं निगदति–

उत्तम-गुणाण धामं सव्व-दव्वाणं[1] उत्तमं दव्वं ।
तच्चाण परम-तच्चं जीवं जाणेह[2] णिच्छयदो ॥ २०४ ॥

[छाया-उत्तमगुणानां धाम सर्वद्रव्याणाम् उत्तमं द्रव्यम् । तत्त्वानां परमतत्त्वं जीवं जानीत निश्चयतः ॥] निश्चयत निश्चयनयमाश्रित्य जानीहि । कम् । उत्तमगुणानां धाम जीवम्, केवलज्ञानदर्शनानन्तसुखवीर्यादिगुणानां सम्यक्त्वाद्यष्टगुणानां चतुरशीतिलक्षगुणानाम् अनन्तगुणानां वा धाम स्थानं गृहमाधारभूतम् आत्मानं बुध्यस्व त्वम् । सर्वेषां द्रव्याणां मध्ये उत्तमं द्रव्यम् उत्कृष्टं वस्तु जीवं जानीहि । अजीवधर्माधर्माकाशकालानां जडत्वमचेतनत्वं च

लोहेके मुद्गरकी तरह मजबूत जो सम्बन्ध होता है वही बन्ध है । तत्त्वार्थ सूत्रमें प्रदेशबन्धका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है--प्रदेशबन्धका कारण सब कर्म प्रकृतियां ही हैं, उन्हींकी वजहसे कर्मबन्ध होता है । तथा वह योगके द्वारा होता है और सब भवोंमें होता है । जो कर्मस्कन्ध कर्मरूप होते हैं वे सूक्ष्म होते हैं, आत्माके साथ उनका एक क्षेत्रावगाह होता है । बन्धनेपर वे आत्मामें आकर ठहर जाते हैं और आत्माके सब प्रदेशोंमें रिलमिल जाते हैं तथा अनन्तानन्त प्रदेशी होते हैं । जो आत्मा कर्मोंसे बंधा हुआ है उसीके प्रतिसमय अनन्तानन्त प्रदेशी कर्मस्कन्धोंका बन्ध हुआ करता है । बन्धके चार भेद हैं–प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध । प्रकृति नाम स्वभावका है । कालकी मर्यादाको स्थिति कहते हैं । फलदेनेकी शक्तिका नाम अनुभाग है और प्रदेशोंकी संख्याका परिमाण प्रदेशबन्ध है । ये चारों बन्ध एक साथ होते हैं । जैसे ही अनन्तानन्त प्रदेशी कर्मस्कन्धोंका आत्माके प्रदेशोंके साथ सम्बन्ध होता है तत्कालही उनमें ज्ञानको घातने आदिका स्वभाव पड़ जाता है, वे कबतक आत्माके साथ बंधे रहेंगे इसकी मर्यादा बन्धजाती है और फलदेनेकी शक्ति पड़ जाती है । अतः प्रदेशबन्धके साथही शेष तीनों बन्ध हो जाते हैं । इसीसे यह कहा है कि प्रदेशबन्धमें ही सब बन्धोंका लय है ॥२०३॥ आगे कहते हैं कि सब द्रव्योंमें जीव ही परम तत्त्व है । **अर्थ–**जीव ही उत्तमगुणोंका धाम है, सब द्रव्योंमें उत्तम द्रव्य है और सब तत्त्वोंमें परमतत्त्व है, यह निश्चयसे जानो ॥ **भावार्थ–**निश्चयनयसे अपनी आत्माको जानो । यह आत्मा केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त सुख, अनन्तवीर्य आदि गुणोंका, अथवा सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान, अगुरुलघु, अवगाहना, सूक्ष्मत्व, वीर्य अव्याबाध इन आठ गुणोंका, अथवा चौरासी लाख गुणों अथवा अनन्त गुणोंका आधार है । सब द्रव्योंमें यही उत्तम द्रव्य है क्योंकि अजीव द्रव्य–धर्म, अधर्म, काल, आकाश और पुद्गल तो जड़ हैं

१ [सव्वदव्वाण] । २ ब जाणेहि (?) ।

वर्तते। जीवद्रव्यस्य तु चेतनत्वं सर्ववस्तुप्रकाशकत्वम् उपयोगलक्षणत्वं च वर्तते। अत एव जीवद्रव्यमुत्तमं जानीहि। तत्त्वानां सर्वतत्त्वानां मध्ये परमतत्त्वं जीवं जानीहि। ॥ २०४ ॥ जीवस्यैवोत्तमद्रव्यत्वपरमत्वं कथमिति चेदाह-

अंतर-तच्चं जीवो बाहिर-तच्चं हवंति सेसाणि।
णाण-विहीणं दव्वं हियाहियं[1] णेयं[2] जाणेदि ॥ २०५ ॥[3]

छाया-[अन्तस्तत्त्वं जीवः बाह्यतत्त्वं भवन्ति शेषाणि। ज्ञानविहीनं द्रव्यं हिताहितं नैव जानाति ॥] जीव आत्मा अंतरतच्चं अन्तस्तत्त्वम् आभ्यन्तरतत्त्वम्। शेषाणि तत्त्वानि अजीवास्रवबन्धादीनि पुत्रमित्रकलत्रशरीरगृहादिचेतनाचेतनादीनि च बाहिरतच्चं बाह्यतत्त्वं भवति। जीव एव अन्तस्तत्त्वम्। कुतः। यतः शेषद्रव्याणामचेतनत्वम्। ज्ञानेन विहीनं द्रव्यं पुद्गलधर्माधर्माकाशकालरूपं द्रव्यं हिताहितं हेयोपादेयं पुण्यं पापं सुखदुःखादिकं नैव जानाति। शेषाणां तु अज्ञस्वभावात्, जीवस्य ज्ञस्वभावात् सर्वोत्तमत्त्वम्। परमात्मप्रकाशे प्रोक्तं च। "जं णियदव्वहं भिण्णु जडु तं परदव्वु वियाणि। पोग्गल धम्माधम्म णहु कालु वि पंचमु जाणि॥" इति ॥२०५॥ जीवणिरूवणं जीवद्रव्यस्य निरूपणं समाप्तम्॥ अथ पुद्गलद्रव्यस्वरूपं गाथाषट्केन विवृणोति-

सव्वो लोयायासो पुग्गल-दव्वेहिँ सव्वदो भरिदो[4]।
सुहुमेहिँ बायरेहि य णाणा-विह-सत्ति-जुत्तेहिँ ॥ २०६ ॥

[छाया-सर्वः लोकाकाशः पुद्गलद्रव्यैः सर्वतः भृतः। सूक्ष्मैः बादरैः च नानाविधशक्तियुक्तैः ॥] सर्वः जगच्छ्रेणिघनप्रमाणः लोकाकाशः पुद्गलद्रव्यैः सर्वतः भृतः। कीदृक्षैः। पुद्गलद्रव्यैः सूक्ष्मैः बादरैः स्थूलैः। पुनः कीदृक्षैः।

अचेतन हैं किन्तु जीवद्रव्य चेतन है, वह वस्तुओंका प्रकाशक अर्थात् जानने देखनेवाला है; क्योंकि उसका लक्षण उपयोग है। इसीसे जीवद्रव्य ही सर्वोत्तम है। तथा जीव ही सब तत्त्वोंमें परमतत्त्व है ॥ २०४ ॥ आगे कहते हैं कि जीव ही उत्तम और परमतत्त्व क्यों हैं? । **अर्थ**-जीव ही अन्तस्तत्त्व है, बाकी सब बाह्य तत्त्व हैं। वे बाह्यतत्त्व ज्ञानसे रहित हैं अतः वे हित अहितको नहीं जानते॥ **भावार्थ**-आत्मा अभ्यन्तर तत्त्व है बाकीके अजीव, आस्रव, बन्ध वगैरह पुत्र, मित्र, स्त्री, शरीर, मकान आदि चेतन और अचेतन द्रव्य बाह्य तत्त्व हैं। एक जीव ही ज्ञानवान् है बाकीके सब द्रव्य अचेतन होनेके कारण ज्ञानसे शून्य हैं। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और कालद्रव्य हित अहित, हेय, उपादेय, पुण्य पाप, सुख दुःख वगैरहको नहीं जानते। अतः शेष सब द्रव्योंके अज्ञस्वभाव होनेसे और जीवके ज्ञानस्वभाव होनेसे जीव ही उत्तम है। परमात्मप्रकाशमें कहा भी है-'जो आत्म पदार्थसे जुदा जड पदार्थ है, उसे परद्रव्य जानो। और पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और पाँचवाँ कालद्रव्य ये सब परद्रव्य जानो।' जीवद्रव्यका निरूपण समाप्त हुआ ॥ २०५ ॥ अब छै गाथाओंके द्वारा पुद्गल द्रव्यका स्वरूप कहते हैं। **अर्थ**-अनेक प्रकारकी शक्तिसे सहित सूक्ष्म और बादर पुद्गल द्रव्योंसे समस्त लोकाकाश पूरी तरह भरा हुआ है॥ **भावार्थ**-यह लोकाकाश जगतश्रेणिके घनरूप अर्थात् ३४३ राजु प्रमाण है। सो यह पूराका पूरा लोकाकाश शरीर आदि अनेक कार्य करनेकी शक्तिसे युक्त तेईस प्रकारकी वर्गणा रूप पुद्गलद्रव्योंसे, जो सूक्ष्म भी हैं और स्थूल भी हैं, भरा हुआ है। उन पुद्गलोंके सूक्ष्म और बादर भेद इस प्रकार कहे हैं-"जिनवर देवने पुद्गल द्रव्यके छै भेद बतलाये हैं-पृथ्वी, जल, छाया, चक्षुके सिवा शेष चार इन्द्रियोंका विषय, कर्म और परमाणु। इनमेंसे पृथ्वीरूप पुद्गल द्रव्य बादर बादर है; क्योंकि जो छेदा भेदा जा सके तथा एक जगहसे दूसरी जगह ले जाया जा सके

१ ल स ग हेयाहेयं। २ ब णेव। ३ ब जीवणिरूवणं। सव्वो इत्यादि। ४ ब भरिओ।

नानाविधशक्तियुक्तैः त्रयोविंशतिवर्गणाभिरनेकशरीरादिकार्यकरणशक्तियुक्तैः । तेषां पुद्गलानां सूक्ष्मत्वं बादरत्वं च कथमिति चेत् । "पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसयकम्मपरमाणू । छव्विहभेयं भणियं पोग्गलदव्वं जिणवरेहिं ॥" पृथ्वी १ जलं २ छाया ३ चक्षुर्वर्जितशेषचतुरिन्द्रियविषयः ४ कर्म ५ परमाणुश्च ६ इति पुद्गलद्रव्यं षोढा जिनवरैर्भणितम्। "बादरबादर १ बादर १ बादरसुहुमं ३ च सुहुमथूलं ४ च । सुहुमं च ५ सुहुमसुहुमं ६ धरादियं होदि छब्भेयं ॥" पृथ्वीरूपपुद्गलद्रव्यं बादरबादरम्, छेत्तुं भेत्तुमन्यत्र नेतुं शक्यं तद्बादरबादरमित्यर्थः १। जलं बादरम्, यच्छेत्तुं भेत्तुमशक्यमन्यत्र नेतुं शक्यं तद्बादरमित्यर्थः २। छाया बादरसूक्ष्मम्, यच्छेत्तुं भेत्तुम् अन्यत्र नेतुम् अशक्यं तद्बादरसूक्ष्ममित्यर्थः ३। यश्चक्षुर्वर्जितचतुरिन्द्रियविषयो बाह्यार्थस्तत्सूक्ष्मस्थूलम् ४। कर्म सूक्ष्मम्, यद्द्रव्यं देशावधि-

उसे बादर बादर कहते हैं। जल बादर है; क्योंकि जो छेदा भेदा तो न जासके किन्तु एक जगहसे दूसरी जगह ले जाया जा सके उसे बादर कहते हैं। छाया बादर सूक्ष्म है; क्यों कि जो न छेदा भेदा जासके और न एक जगहसे दूसरी जगह लेजाया जा सके, उसे बादर सूक्ष्म कहते हैं। चक्षुके सिवा शेष इन्द्रियोंका विषय जो बाह्य द्रव्य है जैसे, गन्ध, रस, स्पर्श और शब्द ये सूक्ष्मबादर हैं। कर्म सूक्ष्म है; क्योंकि जो द्रव्य देशावधि और परमावधिका विषय होता है वह सूक्ष्म है। और परमाणु सूक्ष्म सूक्ष्म है; क्यों कि वह सर्वावधि ज्ञानका विषय है।" और भी कहा है–"जो सब तरहसे पूर्ण होता है उस पुद्गलको स्कन्ध कहते हैं। स्कन्धके आधे भागको देश कहते हैं और उस आधेके भी आधे भागको प्रदेश कहते हैं। तथा जिसका दूसरा भाग न होसके उसे परमाणु कहते हैं। अर्थात् जो आदि और अन्त विभागसे रहित हो, यानी निरंश हो, स्कन्धका उपादान कारणहो यानी जिसके मेलसे स्कन्ध बनता हो और जो इन्द्रिय गोचर न हो उस अखण्ड अविभागी द्रव्यको परमाणु कहते हैं। आचार्य नेमिचन्द्र वगैरहने पुद्गल द्रव्यकी विभाव व्यंजनपर्याय अर्थात् विकार इस प्रकार कहे हैं–"शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत ये पुद्गलद्रव्यकी पर्यायो हैं।" इन पर्यायोंका विस्तृत वर्णन करते हैं। शब्दके दो भेद हैं–भाषात्मक और अभाषात्मक। भाषात्मक शब्दके भी दो भेद हैं- अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक। संस्कृत भाषा, प्राकृतभाषा, अपभ्रंश भाषा, पैशाचिक भाषा आदिके भेदसे अक्षरात्मक शब्द अनेक प्रकारका है, जो आर्य और म्लेच्छ मनुष्योंके व्यवहारमें सहायक होता है। दो इन्द्रिय आदि तिर्यञ्च जीवोंमें तथा सर्वज्ञकी दिव्यध्वनिमें अनक्षरात्मक भाषाका व्यवहार होता है। अभाषात्मक शब्दभी प्रायोगिक और वैस्रसिकके भेदसे दो प्रकारका है। जो शब्द पुरुषके प्रयत्न करनेपर उत्पन्न होता है उसे प्रायोगिक कहते हैं। उसके चार भेद हैं–तत, वितत, घन और सुषिर। वीणा वगैरहके शब्दको तत कहते है। ढोल वगैरहके शब्दको वितत कहते हैं। कांसेके बाजेके शब्दको घन कहते हैं। और बांसुरी वगैरहके शब्दको सुषिर कहते है। जो शब्द स्वभावसे ही होता है उसे वैस्रसिक कहते हैं। स्निग्ध और रूक्ष गुणके निमित्तसे जो बिजली, मेघ, इन्द्रधनुष आदि बन जाते हैं, उनके शब्दको वैस्रसिक कहते हैं जो अनेक प्रकारका होता है। इस प्रकार शब्द पुद्गलका ही विकार है। अब बन्धको कहते हैं। मिट्टीके पिण्ड आदि रूपसे जो अनेक प्रकारका बन्ध होता है वह केवल पुद्गल पुद्गलका बन्ध है। कर्म और नोकर्मरूपसे जो जीव और पुद्गलका संयोगरूप बन्ध होता है वह द्रव्यबन्ध है और रागद्वेष आदि रूपसे भावबन्ध होता है। बेर वगैरहकी अपेक्षा बेल वगैरह

परमावधिविषयं तत्सूक्ष्ममित्यर्थः ५। परमाणुः सूक्ष्मसूक्ष्मम्, यत्सर्वावधिविषयं तत्सूक्ष्मसूक्ष्ममित्यर्थः ६। "खंधं सयल-समत्थं तस्स य अद्धं भणंति देसो त्ति। अद्धद्धं च पदेसो अविभागी चेव परमाणू ॥" स्कन्धं सर्वांशसंपूर्णं भणन्ति तदर्धं च देशम्, अर्धस्यार्धं प्रदेशम्, अविभागीभूतं परमाणुरिति। "आद्यन्तरहितं द्रव्यं विश्लेषरहितांशकम्। स्कन्धोपादानमत्यक्षं परमाणुं प्रचक्षते ॥" तथा पुद्गलद्रव्यस्य विभावव्यञ्जनपर्यायान विकारान् नेमिचन्द्राद्याः प्रतिपादयन्ति। "सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाणभेदतमछाया। उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ॥" शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्य-संस्थानभेदतमश्छायातपोद्द्योतसहिताः पुद्गलद्रव्यस्य पर्यायाः विकारा भवन्ति। अथ विस्तारः। भाषात्मकोऽभाषात्मकः द्विधा शब्दः। तत्राक्षरानक्षरात्मकभेदेन भाषात्मको द्विधा भवति। तत्राप्यक्षरात्मकः संस्कृतप्राकृतापभ्रंशपैशाचि-कादिभाषाभेदेनार्यम्लेच्छमनुष्यादिव्यवहारहेतुर्बहुधा। अनक्षरात्मकस्तु द्वीन्द्रियादितिर्यग्जीवेषु सर्वज्ञदिव्यध्वनौ च। अभाषात्मकोऽपि प्रायोगिकवैश्रसिकभेदेन द्विविधः। "ततं वीणादिकं ज्ञेयं विततं पटहादिकम्। घनं तु कंसतालादि सुषिरं वंशादिकं विदुः ॥" इति श्लोककथितक्रमेण पुरुषप्रयोगे भवः प्रायोगिकः चतुर्धा। विश्रसा स्वभावेन भवो वैश्रसिकः। स्निग्धरूक्षत्वगुणनिमित्तो विद्युदुल्कामेघाग्निसुरेन्द्रधनुरादिप्रभवो बहुधा। इति पुद्गलस्य विकार एव शब्दः १। बन्धः कथ्यते। मृत्पिण्डादिरूपेण योऽसौ बहुधा बन्धः स केवलः पुद्गलबन्धः, यस्तु कर्मनोकर्मरूप जीवपुद्गलसंयोग-बन्धः, असौ द्रव्यबन्धः। रागद्वेषादिरूपो भावबन्धः २। बिल्वाद्यपेक्षया बदरादीनां सूक्ष्मत्वं परमाणोः साक्षादिति ३। बदराद्यपेक्षया बिल्वादीना स्थूलत्वं जगद्व्यापिनि महास्कन्धे सर्वोत्कृष्टमिति ४। जीवानां समचतुरस्रन्यग्रोधवाल्मीक-कुब्जकवामनहुण्डकभेदेन षट् प्रकारं संस्थानम् पुद्गलसंस्थानम् वृत्तत्रिकोणचतुष्कोणमेघपटलादिव्यक्ताव्यक्तरूपं बहुधा संस्थानं तदपि पुद्गल एव ५। भेदाः षोढा, उत्करचूर्णखण्डचूर्णिकाप्रतराणुचटनविकल्पात्। तत्रोत्करः काष्ठादीनां करपत्रा-दिभिरुत्करः १, चूर्णो यवगोधूमादीनां सक्तुकणिकादिः २, खण्डो घटादीना कपालशर्करादि ३, चूर्णिका माषमुद्गादीनाम्, ४, प्रतरोऽभ्रपटलादीनाम् ५, अणुचटनं संतप्तायःपिण्डादिषु अयोघनादिभिर्हन्यमानेषु स्फुलिङ्गनिर्गमः ६, दृष्टिप्रतिबन्धकोऽन्धकारस्तम इति भण्यते ७। वृक्षाद्याश्रयरूपा मनुष्यादिप्रतिबिम्बरूपा वर्णादिविकारपरिणता च छाया ८। उद्द्योतः चन्द्रविमाने खद्योतादितिर्यग्जीवेषु च भवति ९। आतपः आदित्यविमानेऽन्यत्रापि सूर्यकान्तमणिविशेषादौ पृथ्वीकाये ज्ञातव्यः १०। इति ॥ २०६ ॥

सूक्ष्म होते हैं और सबसे सूक्ष्म परमाणु होता है। बेर वगैरहकी अपेक्षा बेल वगैरह स्थूल होते हैं और सबसे स्थूल जगतव्यापी महास्कन्ध होता है। जीवोंके समचतुरस्र संस्थान, न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान, स्वातिसंस्थान, कुब्जक संस्थान, वामनसंस्थान और हुण्डकसंस्थानके भेदसे जो छै प्रकारका संस्थान होता है वह पौद्गलिक है। इसके सिवा तिकोर चौकोर आदिभेदसे मेघपटल वगैरहमें बननेवाले अनेक प्रकारके व्यक्त और अव्यक्त आकार भी पुद्गलके ही संस्थान हैं। भेदके छै प्रकार हैं—उत्कर, चूर्ण, खण्ड, चूर्णिका, प्रतर और अणुचटन। लकड़ीको आरेसे चीरनेपर जो बुरादा झड़ता है वह उत्कर है। जौ, गेहूं वगैरहके आटे और सत्तु वगैरहको चूर्ण कहते हैं। घड़ेके ठीकरोंको खण्ड कहते हैं। उड़द मूंग वगैरहके छिलकोंको चूर्णिका कहते हैं। मेघपटलको प्रतर कहते हैं। तपाये हुए लोहेको हथोड़ेसे पीटनेपर जो फुलिंग निकलते हैं उन्हें अणुचटन कहते हैं। दृष्टिको रोकनेवाले अन्धकारको तम कहते हैं। वृक्ष वगैरहका आश्रय पाकर प्रकाशका आवरण होनेसे जो प्रतिकृति पड़ती है उसे छाया कहते हैं। वह छाया दो प्रकारकी होती है। एक तो मनुष्य वगैरहका प्रतिबिम्बरूप और एक जैसा मनुष्यका रूप रंग वगैरह हो हूबहू वैसी ही। चन्द्रमाके विमानमें और जुगुनु आदि तिर्यञ्चजीवोंमें उद्योत पाया जाता है अर्थात् चन्द्रमाका और जुगुनु वगैरहको जो प्रकाश होता है उसे उद्योत कहते हैं। सूर्यके विमानमें तथा सूर्यकान्तमणि वगैरह पृथ्वीकायमें आतप पाया जाता है। अर्थात् इनका जो प्रकाश होता है उसे आतप कहते हैं ॥ २०६ ॥

जं इंदिएहिं गिज्झं रूवं-रसं-गंध-फास-परिणामं ।
तं चिय पुग्गल-दव्वं अणंत-गुणं जीव-रासीदो ॥ २०७ ॥

[छाया-यत् इन्द्रियैः ग्राह्यं रूपरसगन्धस्पर्शपरिणामम् । तत् एव पुद्गलद्रव्यम् अनन्तगुणं जीवराशितः ॥] अथ पुद्गलद्रव्यस्य ग्राहित्वमस्तित्वं च कथमिति चेदाह । तदेव पुद्गलद्रव्यं जानीहीत्यध्याहार्यम् । तत् किम् । यदिन्द्रियैः स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राक्षैर्ग्राह्यं विषयभावं नीतम् । यतः रूपरसगन्धस्पर्शपरिणामम् । अत्र हेत्वर्थे प्रथमा । हेतौ सर्वाः प्राय । इति जैनेन्द्रव्याकरणे प्रोक्तत्वात् । यथा 'गुरवो राजमाषा[1] न भक्षणीयाः' इति यथा तथा चायं पुद्गलद्रव्यम् इन्द्रियग्राह्यं रूपरसगन्धस्पर्शपरिणामत्वात् पुद्गलपर्यायत्वात् । यथा शीतोष्णस्निग्धरूक्षमृदुकर्कशगुरु-लघुसंज्ञाः अष्टौ स्पर्शाः, स्पर्शनेन्द्रियेण स्पृश्यन्ते इति स्पर्शाः स्पर्शनेन्द्रियेण ग्राह्या इत्यर्थः १ । तिक्तकटुककषायाम्ल-मधुरसंज्ञाः पञ्च रसाः, रसनेन्द्रियेण रस्यन्ते रसाः रसनेन्द्रियेण ग्राह्याः इत्यर्थः २ । सुगन्धदुर्गन्धसंज्ञौ द्वौ गन्धौ, गन्ध्येते तौ गन्धौ घ्राणेन्द्रियस्य विषयौ ३ । श्वेतपीतनीलारुणकृष्णसंज्ञाः पञ्च वर्णाः, चक्षुरिन्द्रियेण वर्ण्यन्ते इति चक्षु-रिन्द्रियेण गोचराः ४ । शब्द्यते इति शब्दः, कर्णेन्द्रियविषयः ५ । व्यतिरेकेण जीववत् । तत्कियन्मात्रं जीवराशितः । सर्वजीवराशेरनन्तानन्तसंख्यातयुक्तत्वात् १६ अनन्तगुणं पुद्गलद्रव्यं १६ ख ॥ २०७ ॥ अथ पुद्गलस्य जीवोपका-रकारित्वं गाथाद्वयेन दर्शयति-

अर्थ-जो रूप, रस, गन्ध, और स्पर्शपरिणाम वाला होनेके कारण इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण करने योग्य होता है वह सब पुद्गलद्रव्य है । उनकी संख्या जीवराशिसे अनन्तगुणी है ॥ **भावार्थ**-अत्र ग्रन्थकार पुद्गलद्रव्यका अस्तित्व और ग्रहण होनेकी योग्यता बतलाते हैं-'इसीतरह पुद्गलद्रव्यको जानो' यह वाक्य ऊपरसे ले लेना चाहिये । पुद्गलद्रव्य स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियके द्वारा ग्रहण किये जानेके योग्य होता है; क्योंकि उसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पाया जाता है । इस गाथामें 'रूवरसगंधफासपरिणामं' यह प्रथमा विभक्ति हेतुके अर्थमें है । क्योंकि जैनेन्द्र व्याकरणमें हेतुके अर्थमें प्रथमा विभक्ति होनेका कथन है । जैसे किसीने कहा-'गुरवो राजमाषा न भक्षणीयाः ।' अर्थात् गरिष्ठ उड़द नहीं खाना चाहिये । इसका आशय यह है कि उड़द नहीं खाना चाहिये क्योंकि वे गरिष्ठ होते हैं-कठिनतासे हजम होते हैं । इस वाक्यमें 'गुरवः' प्रथमा विभक्तिका रूप है किन्तु वह हेतुके अर्थमें है । इसी तरह यहां भी जानना चाहिये कि पुद्गलद्रव्य इन्द्रियग्राह्य है; क्योंकि उसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुण पाये जाते हैं । जैसे, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मृदु, कठोर, भारी, हल्का ये आठ स्पर्श हैं । जो स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा स्पष्ट किये जाते हैं अर्थात् स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा ग्रहण किये जानेके योग्य होते हैं उन्हें स्पर्श कहते हैं । तिक्त, कटुक, कषाय, आम्ल, मधुर ये पांच रस हैं । जो रसनेन्द्रियके द्वारा अनुभूत किये जाते हैं । सुगन्ध और दुर्गन्ध नामके दो गन्ध गुण हैं । वे गन्ध गुण घ्राण इन्द्रियके विषय है । सफेद, पीला, नीला लाल और काला, ये पांच वर्ण अर्थात् रूप हैं । जो चक्षु इन्द्रियके द्वारा देखे जाते हैं अर्थात् चक्षु इन्द्रियके विषय होते हैं, उन्हे वर्ण या रूप कहते हैं । जो सुना जाता है उसे शब्द कहते है । शब्द कर्ण इन्द्रियका विषय होता है । इस तरह पुद्गल द्रव्यमें रूप स्पर्श आदिके होनेसे वह इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किया जा सकता है । अब यह बतलाते हैं कि पुद्गलद्रव्य कितने हैं? समस्त जीवराशी की संख्या अनन्तानन्त है । उससे भी

१ प राजा माषा । १ ल स रूवरस । २ ब ते विय, म स तं विय ।

जीवस्स बहु-पयारं[1] उवयारं कुणदि पुग्गलं दव्वं ।
देहं च इंदियाणि य वाणी उस्सास-णिस्सासं[2] ॥ २०८ ॥

[छाया-जीवस्य बहुप्रकारम् उपकारं करोति पुद्गलं द्रव्यम् । देहं च इन्द्रियाणि च वाणी उच्छ्वासनिःश्वासम् ॥] पुद्गलद्रव्यम् उपकारं करोति । कस्य जीवस्यात्मनः । कीदृशम् उपकारम् । बहुप्रकारम् अनेकभेदभिन्नं सुखदुःखजीवित-मरणादिरूपम् । देहम् औदारिकादिशरीरनिष्पादनम्, च पुनः, इन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणीति निष्पादनं च । वाणी शब्दः ततविततघनसुषिरादिरूपा सप्तस्वररूपद्वापञ्चाशदक्षररूपानक्षररूपा वा । उच्छ्वासनिःश्वासं प्राणा-पानोदानव्यानरूपमुपकारं जीवस्य विदधाति ॥ २०८ ॥

अण्णं पि एवमाई उवयारं कुणदि जाव[3] संसारं[4] ।
मोह-अणाण-मयं[5] पि य परिणामं कुणदि जीवस्स ॥ २०९ ॥

[छाया-अन्यमपि एवमादि उपकारं करोति यावत् संसारम् । मोहाज्ञानमयम् अपि च परिणामं करोति जीवस्य ॥] पुद्गलः एवमादिकमन्यमपि उपकारं शरीरवाङ्मनःप्राणाप्रानाः पुद्गलानां सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च इत्याद्युपकारं जीवानां करोति । तथाहि । पुद्गला देहादीनां कर्मनोकर्मवाङ्मनउच्छ्वासनिःश्वासानां निवर्तनकारणभूताः नियमेन भवन्ति । ननु कर्मापौद्गलिकमनाकारत्वात्, वा आकारवतामौदारिकादीनामेव तथात्वं युक्तमिति । तन्न । कर्मापि पौद्गलिकमेव लगुडकण्टकादिमूर्तद्रव्यसंबन्धेन पच्यमानत्वात् उदकादिमूर्तसबन्धेन व्रीह्यादिवत् । वाग्द्वेधा द्रव्यभावभेदात् तत्र भाववाग वीर्यान्तरायमतिश्रुतावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामकर्मलाभनिमित्तत्वात पौद्गलिका । तदभावे तद्वृत्त्यभावात् । तत्सामर्थ्योपेतत्वेन क्रियावतात्मना प्रेर्यमाणाः पुद्गलाः वाक्त्वेन परिणमन्तीति द्रव्यवागपि पौद्गलिकैव श्रोत्रेन्द्रिय-विषयत्वात् । मनोऽपि तथा द्वेधा । तत्र भावमनः लब्ध्युपयोगलक्षणं पुद्गलालम्बनात् पौद्गलिकम् । द्रव्यमनोऽपि ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामकर्मलाभप्रत्ययगुणदोषविचारस्मरणादिसावधानाभिमुखस्यात्मनोऽनुग्राहक-पुद्गलानां तथात्वेन परिणमनात् पौद्गलिकम् । वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामोदयापेक्षेणात्मनोदस्यमान-

अनन्तगुणे पुद्गलद्रव्य हैं । यहां सोलह १६ का अंक अनन्तानन्त संख्याका सूचक है और 'ख' अनन्तका सूचक है । अतः जबकि जीवराशिका प्रमाण १६ है तब पुद्गल राशिका प्रमाण १६ ख है ॥ २०७ ॥ अब दो गाथाओंसे पुद्गलका जीवके प्रति उपकार बतलाते हैं । **अर्थ**-पुद्गल द्रव्य जीवका बहुत तरहसे उपकार करता है-शरीर बनाता है, इन्द्रियां बनाता है, वचन बनाता है और श्वासोच्छ्वास बनाता है ॥ **भावार्थ**-पुद्गलद्रव्य जीवका अनेक प्रकारसे उपकार करता है । उसे सुख देता है, दुःख देता है, जिलाता है, मारता है, औदारिक आदि शरीरोंको रचता है, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियोंको बनाता है, तत वितत घन और सौषिररूप शब्दोंको, अथवा सात स्वररूप शब्दोंको अथवा बावन अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक वाणीको रचता है । और श्वास निश्वास या प्राण अपान वायुको रचता है इस तरह पुद्गल अनेक उपकार करता है ॥ २०८ ॥ **अर्थ**-जब तक जीव संसारमें रहता है तब तक पुद्गल द्रव्य इस प्रकारके और भी अनेक उपकार करता है। मोह परिणामको करता है तथा अज्ञानमय परिणामको भी करता है ॥ **भावार्थ**-पुद्गल द्रव्य जीवके अन्य भी अनेक उपकार करता है; क्योंकि तत्त्वार्थ सूत्रमें पुद्गलका उपकार बतलाते हुए लिखा है-'शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम्' । 'सुख- दुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ।' जिसका आशय यह है कि पुद्गल द्रव्य नियमसे

---

१ म ग बहुप्पयार । २ म णीसासं । ३ ब जाम । ४ स ग मसारे । ५ ब मोहं नाण (?), म अण्णाण-, स मोहं, ग मोह अण्णाणमियं पिय, [मोहण्णाण-मय]।

कम्प्रवायुरुच्छ्वासलक्षणः स प्राणः, तेनैव वायुनात्मनो बाह्यवायुरभ्यन्तरीक्रियमाणो निःश्वासलक्षणोऽपानः, तौ चात्मनोऽनुग्राहिणौ जीवितहेतुत्वात् । ते च मनःप्राणापानाः मूर्तिमन्तः मनसः प्रतिभयहेत्वशनिपातादिभिः, प्राणापानयोश्च श्वादिपूतगन्धप्रतिभयेन हस्ततलपुटादिभिर्मुखसंवरणेन श्लेष्मणा वा प्रतिघातदर्शनात् । अमूर्तस्य मूर्तिमद्भिः तदसंभवाच्च । तथा सदसद्वेद्योदयान्तरङ्गहेतौ सति बाह्यद्रव्यादिपरिपाकनिमित्तवशेनोत्पद्यमानप्रीतिपरितापरूपपरिणामौ सुखदुःखे । आयुरुदयेन भवस्थितिं बिभ्रतो जीवस्य प्राणापानक्रियाविशेषव्युच्छेदो मरणम् । तानि सुखदुःखप्राणापानजीवितमरणान्यपि पौद्गलिकानि मूर्तिमद्धेतुसंनिधाने सति तदुत्पत्तिसंभवात् । न केवलं शरीरादीनामेव निर्वृत्तकारणभूताः पुद्गलानामपि, कांस्यादीनां भस्मादिभिर्जलादीनां कतकादिभिर्लोहादीनां ज्वलनादिभिश्चोपकारदर्शनात् । एवमौदारिकवैक्रियिकाहारकनामकर्मोदयादाहारवर्गणया त्रीणि शरीराण्युच्छ्वासनिःश्वासौ च, तैजसनामकर्मोदयात् तेजोवर्गणया तैजसशरीरम् , कार्मणनामकर्मोदयात् कार्मणवर्गणया कार्मणशरीरम् , स्वरनामकर्मोदयाद्भाषावर्गणया वचनम् , मनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमोपेतसंज्ञिनोऽङ्गोपाङ्गनामकर्मोदयात् मनोवर्गणया द्रव्यमनश्च भवतीत्यर्थः । उक्तं च । "आहारवग्गणादो तिण्णि सरीराणि होंति उस्सासो । णिस्सासो वि य तेजोवग्गणखंधादु तेजंगं ॥" औदारिकवैक्रियकाहारकनामानि त्रीणि

शरीर, कर्म, नोकर्म, वचन, मन उच्छ्वास निश्वास वगैरहमें कारण होता है। शङ्का–कर्म पौद्गलिक नहीं हैं; क्योंकि वे निराकार होते हैं। जो आकारवाले औदारिक आदि शरीर हैं उन्हींको पौद्गलिक मानना उचित है? समाधान–ऐसा कहना उचित नहीं है, कर्म भी पौद्गलिक ही है; क्योंकि उसका विपाक लाठी, काण्टा वगैरह मूर्तिमान द्रव्यके सम्बन्धसे ही होता है। जैसे धान वगैरह जल, वायु, धूप आदि मूर्तिक पदार्थोंके सम्बन्धसे पकते हैं अतः वे मूर्तिक हैं वैसे ही पैरमें काण्टा लग जानेसे असाता वेदनीय कर्मका विपाक होता है और गुड़ वगैरह मिष्टान्नका भोजन मिलनेपर साता वेदनीय कर्मका विपाक होता है। अतः कर्म भी पौद्गलिक ही है। वचन दो प्रकारका होता है–भाव वचन और द्रव्यवचन। भाववचन अर्थात् बोलनेकी सामर्थ्य मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे तथा अंगोपांग नामकर्मके लाभके निमित्तसे होती है अतः वह पौद्गलिक है; क्योंकि यदि उक्त कर्मोंका क्षयोपशम और अंगोपांग नाम कर्मका उदय न हो तो भाववचन नहीं हो सकता। और भाववाक् रूप शक्तिसे युक्त क्रियावान् आत्माके द्वारा प्रेरित पुद्गलही वचनरूप परिणमन करते हैं अर्थात् बोलनेकी शक्तिसे युक्त आत्मा जब बोलनेका प्रयत्न करता है तो उसके तालु आदिके संयोगसे पुद्गलस्कन्ध वचनरूप हो जाते हैं उसीको द्रव्यवाक् कहते हैं। अतः द्रव्यवाक् भी पौद्गलिक ही है क्योंकि वह श्रोत्र इन्द्रियका विषय है। मन भी दो प्रकारका होता है–द्रव्यमन और भावमन। भावमनका लक्षण लब्धि और उपयोग है। ज्ञानावरणके क्षयोपशम विशेषका नाम लब्धि है और उसके निमित्तसे जो आत्माका जानने रूप भाव होता है वह उपयोग है। अतः भावमन लब्धि और उपयोगरूप है। वह पुद्गलका अवलम्बन पाकर ही होता है अतः पौद्गलिक है। ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशम तथा अंगोपांग नाम कर्मके उदयसे जो पुद्गल मन रूप होकर गुण दोषका विचार तथा स्मरण आदि व्यापारके अभिमुख हुए आत्माका उपकार करते हैं उन्हे द्रव्यमन कहते हैं। अतः द्रव्य मन पौद्गलिक है। वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्मके उदयके निमित्तसे जीव जो अन्दरकी वायु बाहर निकालता है उसे उच्छ्वास अथवा प्राण कहते हैं। और वही जीव जो बाहरकी वायु अन्दर लेजाता है उसे निश्वास अथवा अपान कहते हैं। ये दोनों उच्छ्वास और निश्वास आत्माके उपकारी हैं; क्योंकि उसके

शरीराणि उच्छ्वासनिःश्वासौ चाहारवर्गणाया भवन्ति । तेजोवर्गणास्कन्धैस्तेजःशरीरं भवति । "भासमणवग्गणादो कमेण भासामणं च कम्मादो । अट्ठविहकम्मदव्वं होदि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥" भाषावर्गणास्कन्धैश्चतुर्विधभाषा भवन्ति । मनोवर्गणास्कन्धैर्द्रव्यमनः । कार्माणवर्गणास्कन्धैरष्टविधं कर्मेति जिनैर्निर्दिष्टम् इति । जाव संसारं यावत्कालं संसारं मर्यादीकृत्य जीवानां पुद्गला उपकारं कुर्वन्ति । संसारमुक्तानां न । अपि पुनः, जीवस्य मोहं ममत्वलक्षणं परिणामं परिणतिं पुद्गलः शरीरसुवर्णरूप्यगृहवस्त्राभरणादिरूपः करोति । च पुनः, अज्ञानमयं अज्ञाननिवृत्तं मूढं बहिरात्मानं करोति ॥ २०९ ॥ जीवजीवानामुपकारं प्रकटीकरोति–

जीवा वि दु जीवाणं उवयारं कुणदि सव्व-पच्चक्खं ।
तत्थ वि पहाण-हेऊ[1] पुण्णं पावं च णियमेणं[2] ॥ २१० ॥

जीवित रहने में कारण होते हैं । तथा ये मन, प्राण और अपान मूर्तिक हैं; क्योंकि भयको उत्पन्न करने वाले वज्रपात आदिके होनेसे मनका प्रतिघात होता है । और भयंकर दुर्गन्धके भयसे जब हम हथेलीसे अपना मुंह और नाक बन्द करलेते हैं अथवा जुखाम होजाता है तो प्राण अपान रुक जाते हैं यानी हम श्वास नहींले सकते । अतः ये मूर्तिक हैं; क्योंकि मूर्तिमानके द्वारा अमूर्तिकका प्रतिघात होना असंभव हैं तथा अन्तरंग कारण सातावेदनीय और असातावेदनीय कर्मका उदय होनेपर और बाह्य कारण द्रव्य क्षेत्र काल भाव आदिके परिपाकके निमित्तसे जो प्रीतिरूप और संतापरूप परिणाम होते हैं उन्हें सुख और दुःख कहते हैं । आयुकर्मके उदयसे किसी एक भवमें स्थित जीवकी श्वासोच्छ्वास क्रियाका जारी रहना जीवन है और उसका नष्ट होजाना मरण है । ये सुख दुःख जीवन और मरण भी पौद्गलिक हैं; क्योंकि मूर्तिमानके होनेपर ही होते हैं । ये पुद्गल केवल शरीर वगैरहकी उत्पत्तिमें कारण होकर जीवका ही उपकार नहीं करते, किन्तु पुद्गल पुद्गलका भी उपकार करते हैं–जैसे राखसे कांसेके बर्तन साफ होजाते हैं, निर्मली डालनेसे गदला पानी साफ हो जाता है और आगमें गर्म करनेसे लोहा शुद्ध हो जाता है । इसी तरह औदारिक नामकर्म, वैक्रियिक नामकर्म और आहारक नामकर्मके उदयसे आहार वर्गणाके द्वारा तीनों शरीर और श्वासोच्छ्वास बनते है । तैजस नामकर्मके उदयसे तेजोवर्गणाके द्वारा तैजस शरीर बनता है, कार्मण नामकर्मके उदयसे कार्मण वर्गणाके द्वारा कार्मणशरीर बनता है । स्वरनाम कर्मके उदयसे भाषावर्गणाके द्वारा वचन बनता है । और मन इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमसे युक्त संज्ञीजीवके अंगोपांग नामकर्मके उदयसे मनोवर्गणाके द्वारा द्रव्यमन बनता है । गोम्मटसारमें भी कहा है–"आहार वर्गणासे औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर तथा श्वास उच्छ्वास बनते हैं । तेजोवर्गणासे तैजसशरीर बनता है । भाषा वर्गणासे भाषा बनती है, मनोवर्गणासे द्रव्यमन बनता है और कार्मण वर्गणासे आठों द्रव्यकर्म बनते है । ऐसा जिन भगवान ने कहा है ।" इस तरह जब तक जीव संसारमें रहते हैं तब तक पुद्गल जीवोंका उपकार करते रहते हैं । किन्तु जब जीव संसारसे मुक्त होजाते हैं तब पुद्गल उनका कुछ भी उपकार नहीं करते । तथा जीवमें जो ममत्वरूप परिणाम होता है वह भी शरीर, सोना, चांदी, मकान, वस्त्र, अलंकार आदि पुद्गलोंके निमित्तसे ही होता है । पुद्गल ही अज्ञानमयी भावोंसे बहिरात्माको मूढ़ बनाता है ॥ २०९ ॥ जीवका जीवके प्रति उपकार बतलाते हैं । **अर्थ**–जीव भी जीवोंका उपकार

१ ब ल ग हेउ, स हेऊ, म हेउं । २ ग नियमेण ।

[छाया-जीवाः अपि तु जीवानाम् उपकारं कुर्वन्ति सर्वप्रत्यक्षम् । तत्र अपि प्रधानहेतुः पुण्यं पापं च नियमेन॥] अपि तु जीवा जन्तवः जीवानां जन्तूनाम् उपकारं कुर्वन्ति । सर्वेषां प्रत्यक्षं यथा भवति तथा जीवाः जीवानामुपग्रहं कुर्वन्ति । तथा च सूत्रे 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' अन्योन्यम् उपकारेण जीवानां जीवा वर्तन्ते । यथा स्वामी भृत्यं वित्तत्यागादिना उपकारं करोति, भृत्यस्तं स्वामिनं हितप्रतिपादनाहितप्रतिषेधादिना, आचार्यः शिष्यस्योभयलोकफलप्रदोपदेशक्रियानुष्ठानाभ्याम्, शिष्यस्तमानुकूल्यवृत्त्युपकाराधिकारैः पादमर्दनादिना च । एवं पितृपुत्रयोः स्त्रीभर्त्रोः मित्रमित्रयोः परस्परमुपकारसद्भावः । अपिशब्दात् अनुपकारानुभयाभ्यां वर्तन्ते । तत्र वि तत्रापि परस्परमुपकारकरणे नियमेनावश्यं पुण्यं शुभं कर्म पापम् अशुभं कर्म प्रधानहेतु मुख्यकारणम् ॥ २१० ॥ अथ पुद्गलस्यास्य महतीं शक्तिं निरूपयति-

का वि अउव्वा दीसदि पुग्गल-दव्वस्स एरिसी[1] सत्ती ।
केवल-णाण-सहावो[2] विणासिदो[3] जाइ जीवस्स ॥ २११ ॥[4]

[छाया-का अपि अपूर्वा दृश्यते पुद्गलद्रव्यस्य ईदृशी शक्तिः । केवलज्ञानस्वभावः विनाशितः यया जीवस्य ॥] पुद्गलद्रव्यस्य सुवर्णरत्नमाणिक्यरूप्यधनधान्यगृहहट्टादिशरीरकलत्रपुत्रमित्रादिचेतनाचेतनमिश्रपदार्थस्य शक्तिः कापि काचिदलक्ष्या अद्वितीया अपूर्वा । पुद्गलद्रव्यं विहाय नान्यत्र लभ्यते । अपूर्वा शक्तिः समर्थता ईदृशी दृश्यते । कस्य ।

करते हैं यह सबके प्रत्यक्ष ही है । किन्तु उसमेंभी नियमसे पुण्य और पापकर्म कारण हैं ॥ **भावार्थ**-यह सब कोई जानते हैं कि जीव भी जीवका उपकार करते हैं । तत्त्वार्थ सूत्रमें भी कहा है-'परस्परोपग्रहो जीवानाम् ।' अर्थात् जीव भी परस्परमें एक दूसरेका उपकार करते हैं । जैसे स्वामी धन वगैरह देकर सेवकका उपकार करता है । और सेवक हितकी बात कहकर तथा अहितसे रोककर स्वामीका उपकार करता है । गुरु इस लोक और परलोकमें फल देनेवाला उपदेश देकर तथा उसके अनुसार आचरण कराकर शिष्यका उपकार करते हैं । और शिष्य गुरुकी आज्ञा पालन करके तथा उनकी सेवा शुश्रूषा करके गुरुका उपकार करते हैं । इसी तरह पिता पुत्र, पति पत्नि, और मित्र मित्र परस्परमें उपकार करते हैं । 'अपि' शब्दसे जीव जीवका अनुपकार भी करते हैं, और न उपकार करते हैं और न अनुपकार करते हैं । इस उपकार वगैरह करनेमें भी मुख्य कारण शुभ और अशुभ कर्म हैं । अर्थात् यदि जीवके शुभ कर्मका उदय होता है तो दूसरे जीव उसका उपकार करते हैं या वह स्वयं दूसरे जीवोंका उपकार करता है और यदि पाप कर्मका उदय होता है तो दूसरे जीव उसका उपकार नहीं करते हैं अथवा वह दूसरोंका उपकार नहीं करता है ॥ २१० ॥ आगे इस पुद्गलकी महती शक्तिको बतलाते हैं । **अर्थ**-पुद्गल द्रव्यकी कोई ऐसी अपूर्व शक्ति है जिससे जीवका जो केवलज्ञान स्वभाव है, वह भी विनष्ट हो जाता है ॥ **भावार्थ**-सोना, चांदी, मणि, मुक्ता, धन, धान्य, हाट हवेली, शरीर, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि अचेतन, चेतन और चेतन अचेतन रूप पदार्थोंमें कोई ऐसी अपूर्व अदृश्य शक्ति है जिस पौद्गलिक शक्तिके द्वारा जीवका केवलज्ञान रूप स्वभाव विनष्ट हो जाता है । आशय यह है कि जीवका स्वभाव अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य है । किन्तु अनादिकालसे यह जीव जन्म-मरणके चक्रमें पड़ा हुआ है । इसे जो वस्तु अच्छी लगती है उससे यह राग करता है और जो वस्तु इसे बुरी लगती है उससे द्वेष करता है । इन रागरूप और द्वेषरूप परिणामोंसे नये

१ ब स एरसी । २ म स सहाओ, ग सहाउ । ३ ग विणासदो । ४ ब पुद्गलनिरूपणं ॥ धम्म इत्यादि ।

पुद्गलद्रव्यस्य । ईदृशी कीदृशी शक्तिः । यया पुद्गलद्रव्यस्य शक्त्या जीवस्यात्मनः केवलज्ञानस्वभावं विनाशितो याति जायते वा । जीवस्य स्वरूपम् अनन्तचतुष्टयं विनाशयतीत्यर्थः । मोहाज्ञानोत्पादस्वभावात् पुद्गलानाम् । उक्तं च । "कम्मइं दिढघणचिक्कणइं गरुयइं मेरुसमाणि । णाणवियक्खण जीवडउ उप्पहि पाडहिं ताइं ॥" इति पुद्गलद्रव्यनिरूपणाधिकारः ॥ २११ ॥ अथ धर्माधर्मयोः कृतमुपकारं निरूपयति–

धम्ममधम्मं दव्वं गमण-ट्ठाणाण कारणं कमसो ।
जीवाण पुग्गलाणं विण्णि वि लोगं-प्पमाणाणि ॥ २१२ ॥

[छाया धर्मम् अधर्मं द्रव्यं गमनस्थानयोः कारणं क्रमशः । जीवानां पुद्गलानां द्वे अपि लोकप्रमाणे ॥] जीवानां पुद्गलानां च गमनस्थानयोर्धर्मद्रव्यमधर्मद्रव्यं च क्रमेण कारणं भवति । गतिपरिणतानां जीवपुद्गलानां धर्मद्रव्यं गमनसहकारिकारणं भवति । दृष्टान्तमाह । यथा मत्स्यानां जलं गमनसहकारिकारणं तथा धर्मास्तिकायः । स्वयं तान् जीवपुद्गलान् तिष्ठतः नैव नयति । तथाहि, यथा सिद्धो भगवान् अमूर्तो निःक्रियस्तथैवाप्रेरकोऽपि सिद्धवदनन्तज्ञानादिगुणस्वरूपोऽहमित्यादिव्यवहारेण सविकल्पसिद्धभक्तियुक्तानां निश्चयेन निर्विकल्पसमाधिरूपस्वकीयोपादान-

कर्मोका बन्ध होता हैं । ये कर्म पौद्गलिक होते हैं । इन कर्मोका निमित्त पाकर जीवको नया जन्म लेना पड़ता है । नया जन्म लेनेसे नया शरीर मिलता है । शरीरमें इन्द्रियां होती है । इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण करता है विषयोंको ग्रहण करनेसे इष्ट विषयोंसे राग और अनिष्ट विषयोंसे द्वेष होता है । इस तरह राग–द्वेषसे कर्मबन्ध और कर्मबन्धसे राग–द्वेषकी परम्परा चलती है । इसके कारण जीवके स्वाभाविक गुण विकृत होजाते है, इतना ही नहीं, किन्तु ज्ञानादिक गुण कर्मोसे आवृत हो जाते हैं । कर्मोसे ज्ञानादिक गुणोंके आवृत होजानेके कारण एक साथ समस्त द्रव्य पर्यायोंको जाननेकी शक्ति रखनेवाला जीव अल्पज्ञानी होजाता है । एक समयमें वह एक द्रव्यकी एक ही स्थूल पर्यायको मामूली तौरसे जान पाता है । इसीलिये ग्रन्थकारका कहना है कि उस पुद्गलकी शक्ति तो देखो जो जीवकी शक्तिको भी कुण्ठित कर देता है । पौद्गलिक कर्मोकी शक्ति बतलाते हुए परमात्मप्रकाशमें भी कहा है–'कर्म बहुत बलवान हैं, उनको नष्ट करना बड़ा कठिन है, वे मेरुके समान अचल होते हैं और ज्ञानादि गुणसे युक्त जीवको खोटे मार्गमें डाल देते हैं ॥ २११ ॥ आगे धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यके उपकारको बतलाते हैं । **अर्थ–**धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य जीव और पुद्गलोंके क्रमसे गमनमें तथा स्थितिमें कारण होते है । तथा दोनो ही लोकाकाशके बराबर परिमाणवाले हैं ॥ **भावार्थ–**जैसे मछलियोंके गमनमें जल सहकारी कारण होता है वैसे ही गमन करते हुए जीवों और पुद्गलोके गमनमें धर्मद्रव्य सहकारी कारण होता है । किन्तु वह ठहरे हुए जीव–पुद्गलोको जबरदस्ती नहीं चलाता है । इसका खुलासा यह है कि जैसे सिद्ध परमेष्ठी अमूर्त, निष्क्रिय और अप्रेरक होते है, फिर भी 'सिद्धकी तरह मै अनन्त ज्ञानादि गुणस्वरूप हूं' इत्यादि व्यवहार रूपसे जो सिद्धोंकी सविकल्प भक्ति करते है, अथवा निश्चयसे निर्विकल्प समाधिरूप जो अपनी उपादान शक्ति है, उस रूप जो परिणमन करते हैं उनकी सिद्ध पद प्राप्तिमें वह सहकारी कारण होते है, वैसे ही अपनी उपादान शक्तिसे गमन करते हुए जीव और पुद्गलोंकी गतिका सहकारी कारण धर्मद्रव्य है । अर्थात् गमन करनेकी शक्ति तो जीव और पुद्गल द्रव्यमें स्वभावसे ही है । धर्मद्रव्य उनमें वह शक्ति पैदा

१ ब लोय ।

कारणपरिणतानां भव्यानां सिद्धगतेः सहकारिकारणं भवति, तथा निःक्रियोऽमूर्तोऽप्रेरकोऽपि धर्मास्तिकायः स्वकीयोपादानकारणेन गच्छतां जीवपुद्गलानां गतेः सहकारिकारणं भवति। लोकप्रसिद्धदृष्टान्तेन तु मत्स्यादीनां जलादिवदित्यभिप्रायः। अपि पुनः, स्थितिवतां जीवानां पुद्गलानां च स्थितेः अधर्मद्रव्यं सहकारिकारणं भवति। दृष्टान्तः। छाया पथिकानाम्। स्वयं गच्छतः जीवपुद्गलान् सो अधर्मास्तिकायः नैव धरति। तद्यथा। स्वसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरूपं परमस्वास्थ्यं यद्यपि निश्चयेन स्वरूपे स्थितिकारणं भवति। तथा "सिद्धो हं सुद्धो हं अणंतणाणाइगुणसमिद्धो हं। देहपमाणो णिच्चो असंखदेसो अमुत्तो य॥" इति गाथाकथितसिद्धभक्तिरूपेणेह पूर्वं सविकल्पावस्थायां सिद्धोऽपि यथा भव्यानां बहिरङ्गसहकारिकारणं भवति, तथैव स्वकीयोपादानकारणेन स्वयमेव तिष्ठतां जीवपुद्गलानाम् अधर्मद्रव्यं स्थितेः सहकारिकारणम्। लोकव्यवहारेण तु छायावद्वा पृथिवीवद्वेति सूत्रार्थः। बिण्णि वि द्वे अपि धर्माधर्मे द्रव्ये लोकप्रमाणे लोकाकाशप्रदेशप्रमाणे स्तः। धर्मद्रव्यमसंख्येयप्रदेशप्रमितम्। अधर्मद्रव्यम् असंख्यातप्रदेशप्रमाणं च भवति॥ २१२॥ अथाकाशस्वरूपं निरूपयति-

सयलाणं दव्वाणं जं दादुं सक्कदे हि अवगासं।
तं आयासं दुविहं[1] लोयालोयाण भेएणं[2]॥ २१३॥

[छाया-सकलानां द्रव्याणां यत् दातुं शक्नोति हि अवकाशम्। तत् आकाशं द्विविधं लोकालोकयोः भेदेन॥] तत्प्रसिद्धं लोकाकाशं जानीहि। हि इति स्फुटम्। यत् लोकाकाशं सकलानां समस्तानां द्रव्याणां जीवपुद्गलधर्मादिद्रव्याणां षण्णाम् अवकाशम् अवकाशदानम् अवगाहनं दातुं शक्नोति। यथा वसतिः वसतः स्थितिदानं ददाति। तदपि आकाशं द्विविधं द्विप्रकारं लोकालोकयोर्भेदेन। धर्माधर्मकालाः पुद्गलजीवाश्च सन्ति यावत्याकाशे स लोकाकाशः, लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्था यत्र स लोक अवकाशते इति आकाश लोकाकाश इत्यर्थः॥ ननु सर्वेषां द्रव्याणाम् अवगाहनशक्तिरस्ति

नहीं कर देता। अतः गमनके उपादान कारण तो वे दोनों स्वयं ही हैं, किन्तु सहकारी कारण मात्र धर्मद्रव्य है। अर्थात् जब वे स्वयं चलनेको होते हैं तो वह उनके चलनेमें निमित्त होजाता है। इसी तरह गमन करते हुए जीव और पुद्गल जब स्वयं ठहरनेको होते हैं तो उनके ठहरनेमें सहकारी कारण अधर्मद्रव्य है। जैसे पथिकोंके ठहरनेमें वृक्षकी छाया सहकारी कारण होती है। किन्तु जैसे वृक्षकी छायाको देखकर भी यदि कोई पथिक ठहरना न चाहे तो छाया उसे बलपूर्वक नहीं ठहराती वैसे ही अधर्म द्रव्य चलते हुए जीवों और पुद्गलोंको बलपूर्वक नहीं ठहराता है। आशय यह है कि जैसे निश्चयनयसे स्वसंवेदनसे उत्पन्न सुखामृतरूपी परमस्वास्थ्य ही जीवकी स्वरूपमें स्थितिका उपादान कारण होता है। किन्तु 'मैं सिद्ध हूं, शुद्ध हूं, अनन्तज्ञान आदि गुणोंसे समृद्ध हूं, शरीरके बराबर हूं, नित्य हूं, असंख्यात प्रदेशी हूं, अमूर्तिक हूं' इस सविकल्प अवस्थामें स्थित भव्यजीवोंकी स्वरूपस्थितिमें सिद्ध परमेष्ठी भी सहकारी कारण हैं, वैसे ही अपनी अपनी उपादान शक्तिसे स्वयं ही ठहरे हुए जीवों और पुद्गलोंके ठहरनेमें अधर्मद्रव्य सहकारी कारण होता है। धर्म और अधर्म नामके दोनोंही द्रव्य लोकाकाशके बराबर हैं। अर्थात् जैसे लोकाकाश असंख्यात प्रदेशी होता है वैसे ही धर्मद्रव्य भी असंख्यात प्रदेशी है और अधर्मद्रव्य भी असंख्यात प्रदेशी है॥ २१२॥ आगे आकाश द्रव्यका स्वरूप बतलाते हैं। **अर्थ-**जो समस्त द्रव्योंको अवकाश देनेमें समर्थ है वह आकाश द्रव्य है। वह आकाश लोक और अलोकके भेदसे दो प्रकारका है॥ **भावार्थ-**जैसे मकान उसमें रहनेवाले प्राणियोंको स्थान देता है वैसे ही जीव पुद्गल आदि सभी द्रव्योंको जो स्थान देनेमें समर्थ है उसे

१ स ग दुविहा। २ म भेएहिं, ग भेदेण।

नास्ति वा। नास्ति चेत्, किं केनावकाशः क्रियते यथा पाषाणाद्भिन्नात् पाषाणादिपिण्डस्य प्रवेशो न। षण्णां द्रव्याणाम् आकाशस्यावगाहनाशक्तिरस्ति चेत्, तर्हि तदुत्पत्तिर्दर्शनीया। तथा अन्येन तटस्थेन पुंसा पृच्छयते। भो, भगवन् केवलज्ञानस्यानन्तभागप्रमिताकाशद्रव्यम्, तथाप्यनन्तभागे सर्वमध्यमप्रदेशो लोकस्तिष्ठति सोऽसंख्यातप्रदेशः, तत्रासंख्यातप्रदेशलोकेऽन्तानन्तजीवाः १६, तेभ्योऽप्यनन्तगुणाः पुद्गलाः १६ ख, लोकाकाशप्रमितासंख्येयकालगुणद्रव्याणि, प्रत्येकं लोकाकाशप्रमाणं धर्माधर्मद्वयम् इत्युक्तलक्षणाः पदार्थाः कथमवकाशं लभन्ते इति॥ २१३॥ भगवान् स्वामी गाथाद्वयेन प्रत्युत्तरमाह-

सव्वाणं दव्वाणं अवगाहण-सत्ति[1] अत्थि परमत्थं।
जह भसम-पाणियाणं जीव-पएसाण[2] बहुयाणं॥ २१४॥

[छाया-सर्वेषां द्रव्याणाम् अवगाहनशक्तिः अस्ति परमार्थतः। यथा भस्मपानीययोः जीवप्रदेशानां जानीहि बहुकानाम्॥] परमार्थतः निश्चयतः सर्वेषां द्रव्याणां जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकालानां पूर्वोक्तप्रमितसंख्योपेतानाम् अवगाहनशक्तिरस्ति, अवकाशदानसमर्थना विद्यते। यथा भस्मपानीययोः यथा भस्ममध्ये पानीयस्यावगाहोऽस्ति तथा बहुकानां जीवप्रदेशानाम् आकाशे अवकाशकं जानीहि। तथाहि, यथा घटाकाशस्य मध्ये घटभृत् भस्म माति तावन्मात्रजलं माति तावन्मात्रा शर्करा माति तावन्मात्रा सूचिर्माति, तथा सर्वद्रव्याणि लोकाकाशे परस्परम् अवकाशन्ते संमान्ति। तथा, एकप्रदीपप्रकाशे नानाप्रदीपप्रकाशवत्, एकगूढरसनागगधाणके बहुसुवर्णवत्, पारदगुटिकायां दग्धवत्, इत्यादिदृष्टान्तेन विशिष्टावगाहनशक्तिवशादसंख्यातप्रदेशेऽपि लोके सर्वद्रव्याणामवस्थानमवगाहो न विरुध्यते इति॥ २१४॥

आकाश द्रव्य कहते हैं। लोक और अलोकके भेदसे एक ही आकाश द्रव्यके दो भाग होगये हैं। जितने आकाशमें धर्म, अधर्म, जीव, पुद्गल और काल द्रव्य पाये जाते हैं उसे लोकाकाश कहते हैं। क्योंकि जहां जीवादि द्रव्य पाये जावें वह लोक है ऐसी लोक शब्दकी व्युत्पत्ति है। और जहां जीवादि द्रव्य न पाये जायें, केवल आकाश द्रव्य ही पाया जाये उसे अलोकाकाश कहते हैं॥ २१३॥ यहां शङ्काकार शङ्का करता है कि सब द्रव्योंमें अवगाहन शक्ति है या नहीं? यदि नहीं है तो कौन किसको अवकाश देता है? और यदि है तो उसकी उत्पत्ति बतलानी चाहिये। दूसरी शङ्का यह है कि आकाश द्रव्यको केवलज्ञानके अविभागी प्रतिच्छेदोंके अनन्तवें भाग बतलाया है। और उसके भी अनन्तवें भाग लोकाकाश है। वह असंख्यात प्रदेशी है। उस असंख्यात प्रदेशी लोकमें अनन्तानन्त जीव, जीवोंसे भी अनन्तगुने पुद्गल, लोकाकाशके प्रदेशोंके बराबर असंख्यात कालाणु, लोकाकाशके ही बराबर धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य कैसे रहते हैं? ग्रन्थकार स्वामी कार्त्तिकेय दो गाथाओंके द्वारा इन शङ्काओंका समाधान करते हैं। **अर्थ**-वास्तवमें सभी द्रव्योंमें परस्पर अवकाश देनेकी शक्ति है। जैसे भस्ममें और जलमें अवगाहन शक्ति है वैसे ही जीवके असंख्यात प्रदेशोंमें जानो॥ **भावार्थ**-जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, सभी द्रव्योंमें निश्चयसे अवगाहन शक्ति है। जैसे पानीसे भरे हुए घड़ेमें राख समा जाती है वैसे ही लोकाकाशमें सब द्रव्य परस्परमें एक दूसरेको अवकाश देते हैं। तथा जैसे एक दीपकके प्रकाशमें अनेक प्रदीपोंका प्रकाश समा जाता है, या एक प्रकारके रसमें बहुतसा सोना समाया रहता है अथवा पारदगुटिकामें दग्ध होकर अनेक वस्तुएँ समाविष्ट रहती हैं, वैसे ही विशिष्ट अवगाहन शक्तिके होनेसे असंख्यात प्रदेशी भी लोकमें सब द्रव्योंके रहनेमें कोई

---

१ ब सत्ती, स अवगाहणदाणसत्ति परमत्थं, ग सत्ति परमत्थं। २ म स पएसाण जाण बहुआणं, ग पयेसाण जाण बहुआणं।

जदि ण हवदि सा सत्ती सहाव-भूदा हि सव्व-दव्वाणं ।
[1]एक्केक्कास-पएसे कहं[2] ता सव्वाणि वट्टंति ॥ २१५ ॥

[छाया–यदि न भवति सा शक्तिः स्वभावभूता हि सर्वद्रव्याणाम् । एकस्मिन् आकाशप्रदेशे कथं तत् सर्वाणि वर्तन्ते ॥] यदि नन्वहो सर्वद्रव्याणां, हीति स्फुटं निश्चयतो वा, सा अवगाहनशक्तिः अवकाशदानसमर्थता स्वभावभूता स्वाभाविकी चेत् तो तर्हि सर्वाणि द्रव्याणि एकस्मिन् एकस्मिन् आकाशप्रदेशे कथं वर्तन्ते सन्ति । पुनरपि यथा जलपूर्णे घटे लवणं माति, अन्यच्च लोहसूच्यादिकं माति, तथा एकस्मिन्नाकाशप्रदेशे सर्वद्रव्यकदम्बं माति । स च कियान्मात्रः प्रदेशः इत्युक्ते, आगमे प्रोक्तं च । "जेत्ती वि खेत्तमित्तं अणुणा रुद्धं खु गयणदव्वं च । तं च पदेसं भणियं अवरावरकारणं जस्स ॥" यस्य परमाणोः परापरकारणं गगनद्रव्यं यावत् क्षेत्रमात्रं परमाणुना व्याप्तं स्फुटं स प्रदेशो भणित इति ॥२१५॥ अथ कालद्रव्यं लक्षयति–

सव्वाणं दव्वाणं परिणामं जो करेदि सो कालो ।
एक्केक्कास-पएसे सो वट्टदि एक्कको[3] चेव ॥ २१६ ॥

[छाया–सर्वेषां द्रव्याणां परिणामं यः करोति स कालः । एकैकाकाशप्रदेशे स वर्तते एकैकः एव ॥] स जगत्प्रसिद्धः कालः निश्चयकालः कथ्यते । स कः । यः सर्वेषां द्रव्याणां जीवपुद्गलादीनां परिणामं पर्यायं नवजीर्णतादिलक्षणम् उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं च । जीवानां स्वभावपर्यायं विभावपर्यायं क्रोधमानमायालोभरागद्वेषादिकं नरनारकतिर्यग्देवादिरूपं च, पुद्गलानां स्वभावपर्यायं रूपरसगन्धादिपर्यायं विभावपर्यायं द्व्यणुकत्र्यणुकादिस्कन्धपर्यन्तपर्यायं करेदि कारयति उत्पादयतीत्यर्थः । स च निश्चयकालः । एकैकाकाशप्रदेशे एकस्मिन् एकस्मिन्नाकाशप्रदेशे कालाणु वर्तते एव रत्न-

---

विरोध नहीं आता ॥ २१४ ॥ **अर्थ–**यदि सब द्रव्योंमें स्वभावभूत अवगाहन शक्ति न होती तो एक आकाशके प्रदेशमें सब द्रव्य कैसे रहते ॥ **भावार्थ–**सब द्रव्योंमें अवगाहनशक्ति स्वभावसे ही पाई जाती है । यदि अवगाहनशक्ति न होती तो आकाशके प्रत्येक प्रदेशमें सब द्रव्य नहीं पाये जाते । किन्तु जैसे जलसे भरे हुए घड़ेमें नमक समा जाता है, सूईयां समा जाती हैं, वैसे ही आकाशके एक प्रदेशमें सब द्रव्य रहते हैं । आकाशके जितने भागको पुद्गलका एक परमाणु रोकता है उसे प्रदेश कहते हैं । उस प्रदेशमें धर्म अधर्म, काल, आदि सभी द्रव्य पाये जाते हैं । इससे प्रतीत होता है कि सभी द्रव्योंमें स्वाभाविकी अवगाहन शक्ति है । शङ्का–यदि सभी द्रव्योंमें स्वाभाविक अवगाहन शक्ति है तो अवकाश देना आकाशका असाधारण गुण नहीं हुआ; क्यों कि असाधारण गुण उसे कहते हैं जो दूसरोंमें न पाया जाये ? समाधान–यह आपत्ति उचित नहीं है । सब पदार्थोंको अवकाश देना आकाशका असाधारण लक्षण है, क्योंकि अन्यद्रव्य सब पदार्थोंको अवकाश देनेमें असमर्थ हैं । शङ्का–अलोकाकाश तो किसी भी द्रव्यको अवकाश नहीं देता अतः इसमें अवकाशदानकी शक्ति नहीं माननी चाहिये । समाधान–अलोकाकाशमें आकाशके सिवाय अन्य कोई द्रव्य नहीं पाया जाता । किन्तु इससे वह अपने स्वभावको नहीं छोड़ देता ॥ २१५ ॥ अब काल द्रव्यका लक्षण कहते हैं । **अर्थ–** *जो सब द्रव्योंके परिणामका कर्ता है वह कालद्रव्य है । वह कालद्रव्य एक एक आकाशके प्रदेशपर एक एक ही रहता है ॥* **भावार्थ–**जीव पुद्गल आदि सब द्रव्योंमें नयापन और पुरानापनरूप अथवा उत्पाद व्यय और ध्रौव्यरूप परिणाम यानी पर्याय प्रतिसमय हुआ करती है । वह पर्याय दो प्रकारकी

---

१ म एक्केक्कास, ग एक्केकास । २ म किहं । ३ म स ग एक्किको ।

राशिवत् भिन्नभिन्न एव । तथाहि, पञ्चद्रव्याणां वर्तनाकारणं वर्तयिता प्रवर्तनलक्षणमुख्यकालः । वर्तनागुणो द्रव्यनिचये एव । तथा सति कालाधारेणैव सर्वद्रव्याणि वर्तन्ते स्वस्वपर्यायैः परिणमन्ति । ननु कालस्यैव परिणामक्रियापरत्वापरत्वोपकारो जीवपुद्गलयोः दृश्यते । धर्माद्यमूर्तद्रव्येषु कथमिति चेदुक्तं च । "धम्माधम्मादीणं अगुरुलहुगं तु छहिं वि वड्ढीहिं । हाणीहि वि वड्ढंतो हायंतो वट्टदे जम्हा ॥" यतः धर्माधर्मादीनामगुरुलघुगुणाविभागप्रतिच्छेदाः स्वद्रव्यत्वस्य निमित्तभूतशक्तिविशेषाः षड्वृद्धिभिर्वर्धमानाः षड्हानिभिः हीयमानाः परिणमन्ति । ततः कारणात् तत्रापि मुख्यकालस्यैव कारणत्वात् इति । तथा च । "लोगागासपदेसे एक्केक्के जे ठिया हु एक्केक्का । रयणाणं रासी इव ते कालाणू मुणेयव्वा ॥" एकैकलोकाकाशप्रदेशे ये एकैके भूत्वा रत्नानां राशिरिव भिन्नभिन्नव्यक्त्या तिष्ठन्ति ते कालाणवो मन्तव्याः । धर्माधर्माकाशाः एकैक एव अखण्डद्रव्यत्वात् । कालाणवो लोकप्रदेशमात्रा इति ॥ २१६ ॥ यथा कालाणूनां परिणमनशक्तिरस्ति तथा सर्वेषां द्रव्याणां स्वभावभूता परिणामशक्तिरस्तीत्यावेदयति–

णिय-णिय-परिणामाणं णिय-णिय-दव्वं पि कारणं होदि ।
अण्णं बाहिर-दव्वं णिमित्त-मित्तं[1] वियाणेह[2] ॥ २१७ ॥

[छाया–निजनिजपरिणामानां निजनिजद्रव्यम् अपि कारणं भवति । अन्यत् बाह्यद्रव्यं निमित्तमात्रं विजानीत ॥] निजनिजपरिणामानां स्वकीयस्वकीयपर्यायाणां जीवानां क्रोधमानमायालोभरागद्वेषादिपर्यायाणां नरनारकादिपर्यायाणां च पुद्गलानाम् औदारिकादिशरीरादीनां द्व्यणुकत्र्यणुकादिस्कन्धपर्यन्तानां परिणामानां पर्यायाणां च । निजनिजद्रव्यमपि, न केवलं कालद्रव्यम् इत्यपिशब्दार्थः, कारणं हेतुर्भवति, उपादानकारणं स्यात् । उक्तं च । "ण य परिणमदि

होती है एक स्वभावपर्याय और एक विभावपर्याय । बिना पर निमित्तके जो स्वतः पर्याय होती है उसे स्वभावपर्याय कहते हैं । जैसे जीवकी स्वभावपर्याय अनन्तचतुष्टय वगैरह और पुद्गलकी स्वभावपर्याय रूप, रस गन्ध वगैरह । स्वभावपर्याय सभी द्रव्योंमें होती है । किन्तु विभाव पर्याय जीव और पुद्गल द्रव्यमें ही होती है क्योंकि निमित्त मिलनेपर इन दोनों द्रव्योंमें विभावरूप परिणमन होता है । क्रोध, मान, माया और लोभ वगैरह तथा नर, नारक, तिर्यञ्च, और देव वगैरह जीवकी विभावपर्याय हैं और द्वयणुक त्र्यणुक आदि स्कन्धरूप पुद्गलकी विभावपर्याय है । इन पर्यायोंके होनेमें जो सहकारी कारण है वह निश्चयकाल है । आशय यह है कि सब द्रव्योंमें वर्तना नामक गुण पाया जाता है किन्तु काल द्रव्यका आधार पाकर ही सब द्रव्य अपनी अपनी पर्यायरूप परिणमन करते हैं । शंका–काल द्रव्यके परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व आदि उपकार जीव और पुद्गलमें ही देखे जाते हैं । धर्म आदि अमूर्त द्रव्योंमें ये उपकार कैसे होते हैं ? समाधान–धर्म आदि अमूर्त द्रव्योंमें अगुरुलघु नामक जो गुण पाये जाते हैं इन गुणोंके अविभागी प्रतिच्छेदोंमें छै प्रकारकी हानि और छै प्रकारकी वृद्धि होती रहती है । उसमें भी निश्चयकाल ही कारण है । अतः सब द्रव्योंमें होनेवाले परिणमनमें जो सहायक है वही निश्चयकाल है । वह निश्चयकाल अणुरूप है और उसकी संख्या असंख्यात है; क्योंकि लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशपर एक एक कालाणु रत्नोंकी राशिकी तरह अलग अलग स्थित है । सारांश यह है कि धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य तो एक एक ही है, किन्तु कालद्रव्य लोकाकाशके प्रदेशोंकी संख्याके बराबर असंख्यात है ॥ २१६ ॥ आगे कहते हैं कि सभी द्रव्योंमें स्वभावसे ही परिणमन करनेकी शक्ति है । **अर्थ–**अपने अपने परिणामोंका उपादान कारण अपना द्रव्य ही होता है । अन्य जो बाह्य द्रव्य है वह तो निमित्त मात्र है ॥ **भावार्थ–**कारण दो प्रकारका होता है एक उपादान

१ म णिमित्त-मत्तं (?)। २ ब वियाणेहि (?)।

सयं सो ण य परिणामेइ यण्णमण्णेहिं । विविहपरिणामियाणं हवदि हु कालो सयं हेदु ॥" स कालः संक्रमविधानेन स्वगुणैर्नान्यद्रव्ये परिणमति, न च परद्रव्यगुणान् स्वस्मिन् परिणामयति, नापि हेतुकर्तृत्वेनान्यद्रव्यमन्यगुणैः सह परिणामयति । किं तर्हि विविधपरिणामिकाना द्रव्याणां परिणमनस्य स्वयमुदासीननिमित्तं भवति । यथा कालद्रव्यं तथा सर्वद्रव्यमपि इति । अण्णं बाहिरदव्वं णिमित्तमित्तं वियाणेह, अन्यदपि बाह्यद्रव्यं बहिरङ्गद्रव्यं निमित्तमात्रं निमित्तहेतुकं जानीहि त्वम्, हे महानुभाव इति । यथा एकमृत्तिकाद्रव्यं घटघटीशरावोदञ्चनादीनां पर्यायाणामुपादानकारणं कुम्भकारचक्रचीवरदण्डदोरकजलादिबहिरङ्गनिमित्तकारणं च भवति । अथवा इन्धनाग्निसहकारिकारणोत्पन्नस्योदन-पर्यायस्य तण्डुलोपादानं कारणं यथा । अथवा नरनारकादिजीवपर्यायस्य जीवोपादानकारणवत् । तथा द्रव्यमपि स्वस्व-पर्यायाणामुत्पादने उपादानकारणम, अन्यद्रव्यक्षेत्रकालादिकं निमित्तकारणं च ज्ञातव्यम् । यथा च लोहधातवः सुवर्ण-शक्तियुक्ताः सन्तो रसोपविद्धाः सन्तः सुवर्णतां यान्ति । तथा सर्वाण्यपि द्रव्याणि स्वकीयपरिणामयुक्तान्यपि कालादि-सहकारिद्रव्यप्रेरितानि स्वस्वपर्यायान् जनयन्ति उत्पादयन्तीत्यर्थः ॥ २१७ ॥ अथ सर्वेषां द्रव्याणां परस्परमुपकारः, सोऽपि सहकारिभावेन कारणभावं लभते इत्यावेदयति–

सव्वाणं दव्वाणं जो उवयारो हवेइ अण्णोण्णं ।
सो चिय कारण-भावो हवदि हु सहयारि-भावेण ॥ २१८ ॥

[छाया–सर्वेषां द्रव्याणां यः उपकारः भवति अन्योन्यम् । स एव कारणभावः भवति खलु सहकारिभावेन ॥] सर्वेषां द्रव्याणां जीवपुद्गलादीनाम् अन्योन्यं परस्परं यः उपकारो भवति । हु इति स्फुटम् । सो चिय स एव उपकारः सहकारिकारणभावेन निमित्तकारणभावेन कारणभावो भवति कारणं जायते इत्यर्थः । यथा गुरुः शिष्यादीनां विद्यादि-पाठनेनोपकारं करोति, शिष्यस्तु गुरोः पादमर्दनादिकमुपकारं करोति स उपकारः शिष्यादीनां शास्त्राद्यध्ययनशक्ति-युक्तानां गुरुकृतविद्याद्यध्यापनाद्युपकरणं सहकारिकारणतां लभते । यथा कुम्भकारचक्रस्याधस्तनशिला सहकारिकारणत्वेन

कारण और एक निमित्तकारण । जो कारण स्वयं ही कार्यरूप परिणमन करता है वह उपादान कारण होता है जैसे संसारी जीव स्वयं ही क्रोध, मान, माया, लोभ या राग द्वेष आदि रूप परिणमन करता है अतः वह उपादान कारण है । और जो उसमें सहायक होता है वह निमित्तकारण होता है । सब द्रव्योंमें परिणमन करनेकी स्वाभाविक शक्ति है । अतः अपनी अपनी पर्यायके उपादान कारण तो स्वयं द्रव्यही हैं । किन्तु काल द्रव्य उसमें सहायक होनेसे निमित्त मात्र होता है । जैसे कुम्हारके चाकमें घूम-नेकी शक्ति स्वयं होती है, किन्तु चाक कीलका आश्रय पाकर ही घूमता है । इसीसे गोमटसार जीव-काण्डमें काल द्रव्यका वर्णन करते हुए कहा है–'वह काल द्रव्य स्वयं अन्य द्रव्यरूप परिणमन नहीं करता और न अन्य द्रव्योंको अपने रूप परिणमाता है । किन्तु जो द्रव्य स्वयं परिणमन करते हैं उनके परिणमनमें वह उदासीन निमित्त होता है' ॥ २१७ ॥ आगे कहते हैं कि सभी द्रव्य परस्परमें जो उपकार करते हैं वह भी सहकारी कारणके रूपमेंही करते हैं । **अर्थ–**सभी द्रव्य परस्परमें जो उपकार करते हैं वह सहकारी कारणके रूपमें ही करते हैं ॥ **भावार्थ–**ऊपर बतलाया है कि सभी द्रव्य परस्परमें एक दूसरेका उपकार करते हैं । सो यह उपकारभी वे निमित्त कारणके रूपमें ही करते हैं । जैसे गुरु शिष्योंको विद्याध्ययन कराता है । यहां विद्याध्ययनकी शक्ति तो शिष्योंमें है । गुरु उसमें केवल निमित्त होता है । इसी तरह शीतकालमें विद्याध्ययन करनेमें अग्नि सहायक होती है, कुम्हारके चाकको घूमनेमें कील सहायक होती है । पुद्गल, शरीर, वचन, मन, श्वासोच्छ्वास, सुख, दुःख, जीवन, मरण, पुत्र, मित्र, स्त्री, मकान, हवेली आदिके रूपमें जीवका उपकार करता है, गमन करते हुए जीव और पुद्गलों-

कारणभाव उपकारो भवति । वा यथा शीतकाले पठतां पुंसाम् अध्ययने अग्निः सहकारिकारणत्वेन उपकारः । तथा च जीवानां पुद्गलः शरीरवचनमनःश्वासोच्छ्वाससुखदुःखजीवितमरणपुत्रमित्रकलत्रादिगृहहट्टादिकसहकारिकारणरूपेण उपकारं करोति । जीवानां पुद्गलानां च गमनवता गतेः निमित्तसहकारिकारणत्वेन उपकारः । स्थितिवता जीवपुद्गलानां स्थितेः बाह्यनिमित्तसहकारिकारणभावेन उपकारः । अवकाशदाने आकाशस्य सर्वेषां द्रव्याणां सहकारिकारणत्वेन उपकारः । जीवपुद्गलाना नवजीर्णतोत्पादने सहकारिकारणत्वेन कालस्योपकारः । यथाकाशद्रव्यम् अशेषद्रव्यम् अशेषद्रव्याणामाधारः स्वस्यापि, तथा कालद्रव्यं परेषां द्रव्याणां परिणतिपर्यायत्वेन सहकारिकारणं स्वस्यापि यथा इन्धनाग्निसहकारिकारणोत्पन्नस्यौदनपर्यायस्य तण्डुलोपादानकारणम्, कुम्भकारचक्रचीवरादिबाह्यकारणोत्पन्नस्य मृत्पिण्डघटपर्यायस्य मृत्पिण्डोपादानकारणवत् ॥ २१८ ॥ अथ द्रव्याणां स्वभावभूतां नानाशक्तिं कोऽपि निषेद्धुं न शक्नोतीत्यावेदयति–

कालाइ-लद्धि-जुत्ता णाणा-सत्तीहिं[1] संजुदा अत्था ।
परिणममाणा हि सयं[2] ण सक्कदे को वि वारेदुं ॥ २१९ ॥

[छाया–कालादिलब्धियुक्ताः नानाशक्तिभिः संयुता अर्थाः । परिणममानाः हि स्वयं न शक्यते कः अपि वारयितुम् ॥] अर्थाः जीवादिपदार्थाः, हीति स्फुटम्, स्वयमेव परिणममाणा परिणमन्तः पर्यायान्तरं गच्छन्तः सन्तः कैरपि इन्द्रधरणेन्द्रचक्रवर्त्यादिभिः वारयितुं न शक्यन्ते । कीदृक्षास्तेऽर्थाः । कालादिलब्धियुक्ताः कालद्रव्यक्षेत्रभवभावादिसामग्रीप्राप्ताः । पुनरपि कीदृक्षास्ते अर्थाः । नानाशक्तिभिः, अनेकसमर्थताभिः नानाप्रकारस्वभावयुक्ताभिः संयुक्ताः । यथा जीवाः भव्यत्वादिशक्तियुक्ताः रत्नत्रयादिकाललब्धिं प्राप्य निर्वान्ति, यथा तण्डुलाः ओदनशक्तियुक्ताः इन्धनाग्निस्थालीजलादिसामग्रीं प्राप्य भक्तपरिणामं लभन्ते । तत्र भक्तपर्यायं तण्डुलानामुभयकारणे सति कोऽपि निषेद्धुं न शक्नोतीति भावः ॥ २१९ ॥ अथ व्यवहारकालं निरूपयति–

जीवाण पुग्गलाणं जे सुहुमा बादरा[3] य पज्जाया ।
तीदाणागद-भूदा सो ववहारो हवे कालो ॥ २२० ॥

की गतिमें सहायक धर्म द्रव्य होता है, और ठहरनेमें सहायक अधर्म द्रव्य होता है। सब द्रव्योंको अवकाशदान देनेमें सहायक आकाश द्रव्य होता है, परिणमनमें सहायक काल द्रव्य होता है । ये सब द्रव्य अपना अपना उपकार सहकारि कारणके रूपमें ही करते हैं । तथा जैसे आकाशद्रव्य सब द्रव्योंका आधार है और अपना भी आधार है वैसेही काल द्रव्य अन्य द्रव्योके परिणमनमें भी सहकारी कारण है और अपने परिणमनमें भी सहकारी कारण हे । तथा जैसे अग्निकी सहायतासे उत्पन्न हुई भात पर्यायका उपादान कारण चावल है और कुम्हारकी सहायतासे उत्पन्न होनेवाली घट पर्यायका उपादान कारण मिट्टी है वैसे ही प्रत्येक द्रव्य अपनी अपनी पर्यायका उपादान कारण होता है ॥ २१८ ॥ आगे कहते हैं कि द्रव्योंकी स्वभावभूत जो नाना शक्तिया हैं उनका निषेध कौन कर सकता है ? **अर्थ–**काल आदि लब्धियोंसे युक्त तथा नाना शक्तियोंवाले पदार्थोंको स्वयं परिणमन करते हुए कौन रोक सकता है ॥ **भावार्थ–**सभी पदार्थोंमें नाना शक्तियां हैं । वे पदार्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, और भवरूप सामग्रीके प्राप्त होनेपर स्वयं परिणमन करते है उन्हें उससे कोई नहीं रोक सकता । जैसे, भव्यत्व आदि शक्तिसे युक्त जीव काललब्धिके प्राप्त होनेपर मुक्त हो जाते है । भातरूप होनेकी शक्तिसे युक्त चावल, ईंधन, आग, बटलोही, जल आदि सामग्रीके मिलनेपर भातरूप होजाते है । ऐसी स्थितिमें जीवको मुक्त होनेसे और चावलोको भातरूप होनेसे कौन रोक सकता है ॥ २१९ ॥ आगे व्यवहार-

---

१ ग सतीहि संयुदा । २ म सया । ३ ब बायरा ।

[छाया– जीवानां पुद्गलानां ये सूक्ष्माः बादराः च पर्यायाः। अतीतानागतभूताः स व्यवहारः भवेत् कालः॥] स व्यवहारकालो भवेत्। व्यवहर्तुं योग्यो व्यवहारः विकल्पः भेदः पर्याय इत्येकार्थः। व्यवहारकालस्वरूपं गोम्मटसारे उक्तमस्ति तदुच्यते। 'आवलिअसंखसमया संखेज्जावलि समूहमुस्सासो। सत्तुस्सासो थोवो सत्तत्थोवो लवो भणिओ॥' जघन्ययुक्तासंख्यातसमयराशिः आवलिः स्यात्। स समयः किंरूपः। 'अवरा पज्जायठिदी खणमेत्तं होदि तं च समओ त्ति। दोण्हमणूणमदिक्कमकालपमाणं हवे सो दु॥' द्रव्याणां जघन्या पर्यायस्थितिः क्षणमात्रं भवति, सा च समय इत्युच्यते। स च समयः द्वयोर्गमनपरिणतपरमाण्वोः परस्परातिक्रमकालप्रमाणं स्यात्। तथा च 'णभएयपएसत्थो परमाणू मंदगइपवट्टंतो। बीयमणंतरखेत्तं जावदियं जादि तं समयकालो॥' आकाशस्यैकप्रदेशस्थितपरमाणुः मन्दगतिपरिणतः सन् द्वितीयमनन्तरक्षेत्रं यावद्याति स समयाख्यः कालो भवति। स च प्रदेशः कियान्। 'जेत्तीवि खेत्तमित्तं अणुणा रुद्धं खु गयणदव्वं च। तं च पदेसं भणियं अवरावरकारणं जस्स॥' इति समयलक्षणं कथितम्। संख्यातावलिसमूह उच्छ्वासः। स च किंरूपः। 'अड्ढस्स अणलसस्स य णिरुवहयस्स य हवेज्ज जीवस्स। उस्सासाणिस्सासो एगो पाणो त्ति आहीदो॥' सुखिनः अनलसस्य निरुपहतस्य जीवस्योच्छ्वासनिःश्वासः स एवैकः प्राणः उक्तो भवेत्। सप्तोच्छ्वासाः स्तोकः। सप्तस्तोकाः लवः। 'अट्ठत्तीसद्धलवा णाली वेणालिया मुहुत्तं तु। एक्कसमएण हीणं भिण्णमुहुत्तं तदो सेसं॥' सार्धाष्टात्रिंशल्लवा नाली घटिका द्वे नाल्यौ मुहूर्तः। स च एकसमयेन हीनो भिन्नमुहूर्तः, उत्कृष्टान्तर्मुहूर्त इत्यर्थः। ततोऽग्रे द्विसमयोनाद्या आवल्यसंख्यातैकभागान्ताः सर्वेऽन्तर्मुहूर्ताः। अत्रोपयोगिगाथासूत्रम्। 'ससमयमावलि अवरं समऊणमुहुत्तयं तु उक्कस्सं। मज्झासंखवियप्पं वियाण अंतोमुहुत्तमिणं॥' ससमयाधिकावलिर्जघन्यान्तर्मुहूर्तः समयोनमुहूर्तः उत्कृष्टान्तर्मुहूर्तः मध्यमाः असंख्यातविकल्पाः मध्यमान्तर्मुहूर्ताः इति जानीहि॥ 'दिवसो पक्खो मासो उडु अयणं वस्समेवमादी हु। संखेज्जासंखेज्जाणंताओ होदि ववहारो॥' दिवसः पक्षो मासः ऋतुः अयनं वर्षं युगं पल्योपमसागरोपमकल्पादयः स्फुटम् आवल्यादिभेदतः संख्यातासंख्यातानन्तपर्यन्तं क्रमशः श्रुतावधिकेवलज्ञानविषयविकल्पाः सर्वे व्यवहारकालो भवति। स व्यवहारकालः कथ्यते। स कः। जीवपुद्गलानां ये जीवानां पुद्गलानां च सूक्ष्मा बादराश्च पर्यायाः, तत्र जीवानां सूक्ष्मपर्यायाः केवलज्ञानदर्शनादिरूपाः, बादरपर्यायाः मतिश्रुतावधिमनःपर्ययक्रोधमानमायालोभाज्ञानादिरूपाः नरनारकादिपर्याया वा। पुद्गलानां सूक्ष्माः पर्यायाः, अणुद्व्यणुकत्र्यणुकादयः सूक्ष्मनिगोदादिशरीररूपाश्च, बादरपर्यायाः पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पतिशरीरादयः घटपटमुकुटशकटगृहावासपर्वतमेरुविमानादिमहास्कन्धवर्गणापर्यन्ताः। पुनः कीदृशास्ते। अतीतानागतभूताः। अतीतकालभविष्यत्कालवर्तमानकालरूपाः ये केचन अतीतकाले पर्यायाः जाताः, भविष्यत्काले भविष्यन्तः पर्यायाः, वर्तमानकाले समस्तिरूपाः

कालका निरूपण करते हैं। **अर्थ**–जीव और पुद्गल द्रव्यकी जो सूक्ष्म और बादर पर्याय अतीत, अनागत और वर्तमानरूप हैं वही व्यवहार काल है॥ **भावार्थ**–गोम्मटसार जीवकाण्डमें द्रव्योंका वर्णन करते हुए लिखा है कि एक द्रव्यकी जितनी अतीत, अनागत और वर्तमान अर्थ पर्याय तथा व्यंजन पर्याय होती हैं उतनी ही द्रव्यकी स्थिति होती है। आशय यह है कि प्रत्येक द्रव्यमें प्रतिसमय परिणमन होता है। वह परिणमन ही पर्याय है। एक पर्याय एक क्षण अथवा एक समय तक रहती है। एक समयके पश्चात् वह पर्याय अतीत हो जाती है और उसका स्थान दूसरी पर्याय ले लेती है। इस तरह पर्यायोंका क्रम अनादिकालसे लेकर अनन्तकाल तक चलता रहता है। अतः प्रत्येक द्रव्य अनादि अनन्त होता है। पर्याय दो प्रकारकी होती हैं। एक अर्थ पर्याय और एक व्यञ्जन पर्याय। गुणोंके विकारको पर्याय कहते हैं। सो प्रदेशवत्व गुणके विकारका नाम व्यंजन पर्याय है और अन्य गुणोंके विकारका नाम अर्थ पर्याय है। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश, और कालमें केवल अर्थ पर्याय ही होती है और जीव तथा पुद्गलमें दोनों प्रकारकी पर्यायें होती हैं। तथा व्यञ्जन पर्याय स्थूल होती है और अर्थ पर्याय सूक्ष्म होती है। एक अर्थ पर्याय एक समयतक ही रहती है। आकाशके एक प्रदे-

पर्यायास्त एव कालस्वरूप इति भावः। तथोक्तं च। 'छद्दव्वावट्ठाणं सरिसं तियकालअत्थपज्जाये। विंजणपज्जाये वा मिलिदे ताणं ठिदित्तादो ॥' षड्द्रव्याणाम् अवस्थानं सदृशमेव भवति। त्रिकालभवेषु सूक्ष्मावाग्गोचराचिरस्थाय्यर्थपर्यायेषु तद्विपरीतस्थूलवाग्गोचरचिरस्थाय्यर्थव्यञ्जनपर्यायेषु वा मिलितेषु तेषां स्थितत्वात्। इदमेव समर्थयति 'एयदवियम्मि जे अत्थपज्जया वंजणपज्जया चावि। तीदाणागदभूदा तावदियं तं हवदि दव्वं ॥' एकस्मिन् द्रव्ये ये अर्थपर्याया व्यञ्जनपर्यायाश्चातीतानागताः अपिशब्दाद्वर्तमानाश्च सन्ति तावद्द्रव्यं भवति। तयोः स्वरूपमाह। 'मूर्तो व्यञ्जनपर्यायो वाग्गम्यो नश्वरः स्थिरः। सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थसंज्ञकः ॥' 'धर्माधर्मनभःकाला अर्थपर्यायगोचराः। व्यञ्जनार्थस्य विज्ञेयौ द्वावन्यौ जीवपुद्गलौ ॥' ॥ २२० ॥ अथ अतीतानागतवर्तमानपर्यायाणां संख्यां व्यवहरति–

तेसु अतीदा णंता[1] अणंत-गुणिदा य भावि-पज्जाया।
एक्को[2] वि वट्टमाणो एत्तिय-मेत्तो[3] वि सो कालो[4] ॥ २२१ ॥

[छाया–तेषु अतीताः अनन्ताः अनन्तगुणिताः च भाविपर्यायाः। एकः अपि वर्तमानः एतावन्मात्रः अपि स कालः ॥] तेषु जीवपुद्गलादीनाम् अतीतानागतवर्तमानपर्यायेषु मध्ये अतीताः पर्यायाः अनन्ताः, संख्यातावलिगुणितसिद्धराशिप्रमाणः ३।२१। तु पुनः, भाविपर्यायाः अनन्तगुणिताः अतीतपर्यायात् अनन्तानन्तगुणाः ३।२१ ख। वर्तमानः पर्यायः एकोऽपि एकसमयमात्रः। तत्कालपर्यायाक्रान्तवस्तुभावोऽभिधीयते इति वचनात्। अपि पुनः, स कालः स वर्तमानकालः एतावन्मात्रः समयमात्र इत्यर्थः। अतीतानागतवर्तमानकालरूपः कथितः। तथा गोम्मटसारोक्तं तदुच्यते 'ववहारो पुण कालो माणुसखेत्तम्हि जाणिदव्वो दु। जोइसियाणं चारे ववहारो खलु समाणो त्ति ॥' व्यवहार-

---

शमें स्थित परमाणु मन्दगतिसे चलकर उस प्रदेशसे लगे हुए दूसरे प्रदेशपर जितनी देरमें पहुंचता है उतने कालका नाम समय है। व्यवहार, विकल्प, भेद और पर्याय ये सब शब्द एकार्थक हैं अतः व्यवहार या पर्यायके ठरहनेको व्यवहार काल कहते हैं। समय, आवली, उच्छ्वास, स्तोक, लव, नाली, मुहूर्त, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, ये सब व्यवहारकाल हैं। असंख्यात समयकी एक आवली होती है। संख्यात आवलीके समूहको उच्छ्वास कहते हैं। सात उच्छ्वासका एक स्तोक होता है और सात स्तोकका एक लव होता है। साढ़े अडतीस लवकी एक नाली होती है। दो नाली अथवा घड़ीका एक मुहूर्त होता है। और एक समय कम मुहूर्तको भिन्न मुहूर्त कहते हैं। यही उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है। तीस मुहूर्तका एक दिनरात होता है। पन्द्रह दिनरातका एक पक्ष होता है। दो पक्षका एक मास होता है और दो मासकी एक ऋतु होती है। तीन ऋतुका एक अयन होता है। दो अयनका एक वर्ष होता है। यह सब व्यवहारकाल है। यह व्यवहारकाल प्रकटरूपसे मनुष्यलोकमें ही व्यवहृत होता है क्योंकि मनुष्यलोकमें ज्योतिषी देवोंके चलनेके कारण दिन रात आदिका व्यवहार पाया जाता है ॥ २२० ॥ आगे, अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायोंकी संख्या कहते हैं। **अर्थ**–द्रव्योंकी उन पर्यायोंमें से अतीत पर्याय अनन्त हैं, अनागत पर्याय उनसे अनन्तगुनी हैं और वर्तमान पर्याय एक ही है। सो जितनी पर्याय हैं उतना ही व्यवहारकाल है ॥ **भावार्थ**–द्रव्योंकी अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायोंकी संख्या इस प्रकार है–अतीत पर्याय अनन्त हैं। अर्थात् सिद्धराशिको संख्यात आवलिसे गुणा करनेपर जो प्रमाण होता है उतनी ही एक द्रव्यकी अतीत पर्याय होती हैं। भावि पर्याय अतीत पर्यायोंसे भी अनन्तगुनी होती हैं और वर्तमान पर्याय एक ही होती है। गोम्मटसार जीवकाण्डमें व्यवहार कालके तीन भेद बतलाये हैं–अतीत, अनागत और वर्तमान।

---

१ ग अतीदाऽणंता। २ म ग एको। ३ ब ग मित्तो। ४ ब द्रव्यचतुष्कनिरूपणं। पुव्व इत्यादि।

कालः पुनः मनुष्यक्षेत्रे स्फुटं ज्ञातव्यः । कुतः । ज्योतिष्काणां चारे स समान इति कारणात् । 'ववहारो पुण तिविहो तीदो वट्टंतगो भविस्सो दु । तीदो संखेज्जावलिहदसिद्धाणं पमाणो दु ॥' व्यवहारकालः पुनस्त्रिविधः । अतीतानागतवर्तमानश्चेति । तु पुनः, तत्रातीतः संख्यातावलिगुणितसिद्धराशिर्भवति ३।२१ । कुतः । अष्टोत्तरषट्शतजीवानां मुक्तिगमनकालोऽष्टसमयाधिकषण्मासाः तदा सर्वजीवराश्यनन्तैकभागमुक्तजीवानां कियानिति त्रैराशिकागतस्य तत्प्रमाणत्वात् । प्र ६०८ फ मा ६ इ ३ लब्धं ३। २१ । 'समयो दु वट्टमाणो जीवादो सव्वपोग्गलादो वि । भावी अणंतगुणिदो इदि ववहारो हवे कालो ॥' वर्तमानकालः खलु एकसमयः, भाविकालः सर्वजीवराशितः १६ सर्वपुद्गलराशितो १६ ख, ऽप्यनन्तगुणः १६ खख इति व्यवहारकालस्त्रिविधो भणितः । इति धर्माधर्माकाशकालद्रव्यचतुष्टयनिरूपणं समाप्तम् ॥ २२१ ॥ अथ द्रव्याणां कार्यकारणपरिणामभावं निरूपयति–

पुव्व-परिणाम-जुत्तं कारण-भावेण वट्टदे दव्वं ।
उत्तर-परिणाम-जुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा ॥ २२२ ॥

[छाया–पूर्वपरिणामयुक्तं कारणभावेन वर्तते द्रव्यम् । उत्तरपरिणामयुक्तं तत् एव कार्यं भवेत् नियमात् ॥] द्रव्यं जीवादिवस्तु पूर्वपरिणामयुक्तं पूर्वपर्यायाविष्टं कारणभावेन उपादानकारणत्वेन वर्तते । तदेव द्रव्यं जीवादिवस्तु उत्तरपरिणामयुक्तम् उत्तरपर्यायाविष्टं तदेव द्रव्यं पूर्वपर्यायाविष्टं कारणभूतं मणिमन्त्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं कारणान्तरावैकल्येन उत्तरक्षणे कार्यं निष्पादयत्येव । यथा आतानवितानात्मकास्तन्तवः अप्रतिबद्धसामर्थ्याः कारणान्तरावैकल्याश्च अन्त्यक्षणं प्राप्ताः पटस्य कारणम्, उत्तरक्षणे पटस्तु कार्यम् । तथा चोक्तमष्टसहस्र्याम् । 'कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमात् लक्षणात् पृथक्' इति ॥ २२२ ॥ अथ त्रिष्वपि कालेषु वस्तुनः कार्यकारणभावं निश्चिनोति–

कारण-कज्ज-विसेसा तीसु[1] वि कालेसु हुंति[2] वत्थूणं ।
एक्केक्कम्मि य समए पुव्वुत्तर-भावमासिज्ज[3] ॥ २२३ ॥

संख्यात आवलीसे सिद्धराशिको गुणा करनेपर जो प्रमाण आये वही अतीतकालका प्रमाण है। इसकी उपपत्ति इस प्रकार है–यदि ६०८ जीवोंके मुक्तिगमन का काल छै माह और आठ समय होता है तो समस्त जीवराशिके अनन्तवें भाग प्रमाण मुक्त जीवोंके मुक्तिगमनका काल कितना है ? इस प्रकार त्रैराशिक करनेपर जो प्रमाण आता है वही अतीतकालका प्रमाण है। वर्तमानकालका प्रमाण एक समय है। और समस्त जीव राशि और समस्त पुद्गल राशिसे अनन्तगुना भाविकाल है। इस प्रकार व्यवहार कालका प्रमाण जानना चाहिये। इस तरह धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्यका वर्णन समाप्त हुआ ॥ २२१ ॥ अब द्रव्योंके कार्यकारण भावका निरूपण करते हैं। **अर्थ**–पूर्व परिणाम सहित द्रव्य कारण रूप है और उत्तर परिणाम सहित द्रव्य नियमसे कार्यरूप है ॥ **भावार्थ**–प्रत्येक द्रव्यमें प्रतिसमय परिणमन होता रहता है, यह पहले कहा है। उसमेंसे पूर्वक्षणवर्ती द्रव्य कारण होता है और उत्तरक्षणवर्ती द्रव्य कार्य होता है। जैसे लकड़ी जलनेपर कोयला होजाती और कोयला जलकर राख होजाता है। यहां लकड़ी कारण है और कोयला कार्य है। तथा कोयला कारण और राख कार्य है क्योंकि आप्तमीमांसामें भगवान समन्तभद्रने कहा है कि कारणका विनाश ही कार्यका उत्पाद है। अतः पहली पर्याय नष्ट होते ही दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है। इसलिये पूर्वपर्याय उत्तर पर्यायका कारण है और उत्तर पर्याय पूर्व पर्यायका कार्य है। इस तरह प्रत्येक द्रव्यमें कार्य कारण भावकी परम्परा समझ लेना चाहिये ॥ २२२ ॥ आगे तीनों कालोंमें वस्तुके कार्य कारण

---

१ ल म स तिसु, ग तसु। २ ल स होंति (?)। ३ म °मासेज्जा।

[छाया-कारणकार्यविशेषाः त्रिषु अपि कालेषु भवन्ति वस्तूनाम् । एकैकस्मिन् च समये पूर्वोत्तरभावमासाद्य ॥] वस्तूनां जीवादिद्रव्याणां, त्रिष्वपि कालेषु अतीतानागतवर्तमानलक्षणेषु कालेषु, एकैकस्मिन् एकस्मिन् एकस्मिन् समये समये क्षणे क्षणे कारणकार्यविशेषाः हेतुफलभावाः द्रव्यपर्यायरूपा भवन्ति । किं कृत्वा । पूर्वोत्तरभावमाश्रित्य, पूर्वपर्यायम् उत्तरपर्यायं च आश्रित्य श्रित्वा, एकैकस्मिन् समये वस्तूत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं भवति । 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' । इति उमास्वातिवचनात्[1] । यथा एकस्मिन् समये मृत्पिण्डस्य विनाश एव घटस्योत्पादः मृद्रव्येण ध्रौव्यम् इत्येकस्मिन्नेव समये पूर्वोत्तरभावेन कारणकार्यरूपेण उत्पादविनाशौ स्तः ॥ २२३ ॥ अथानन्तधर्मात्मकं वस्तु निर्णयति-

संति अणंताणंता तीसु वि कालेसु सव्व-दव्वाणि ।
सव्वं पि अणेयंतं तत्तो भणिदं जिणेंदेहिं[2] ॥ २२४ ॥

[छाया-सन्ति अनन्तानन्ताः त्रिषु अपि कालेषु सर्वद्रव्याणि । सर्वम् अपि अनेकान्तं ततः भणितं जिनेन्द्रैः ॥] तत्तो ततः तस्मात्कारणात् जिनेन्द्रैः सर्वज्ञैः सर्वमपि वस्तु नत्वेकम् अनेकान्तम् अनेकान्तात्मकं नित्यानित्याद्यनेकान्तरूपं, यतः सर्वद्रव्याणि सर्वाणि जीवपुद्गलादीनि वस्तूनि, त्रिष्वपि कालेषु अतीतानागतवर्तमानकालेषु, अनन्तानन्ताः सन्ति अनन्तानन्तपर्यायात्मकानि भवन्ति अनन्तानन्तसदसन्नित्यानित्याद्यनेकधर्मविशिष्टानि भवन्ति । अतः सर्वं जीवपुद्गलादिकं द्रव्यं जिनेन्द्रैः सप्तभङ्ग्या कृत्वा अनेकान्तं भणितम् । तत्कथमिति चेदुच्यते । 'एकस्मिन्नविरोधेन प्रमाणनयवाक्यतः । सदादिकल्पना या च सप्तभङ्गीति सा मता ॥' स्यादस्ति । स्यात्कथंचित् विवक्षितप्रकारेण स्वद्रव्यस्वक्षेत्रस्वकालस्वभावचतु-

भावका निश्चय करते हैं। **अर्थ**-वस्तुके पूर्व और उत्तर परिणामको लेकर तीनोंही कालोंमें प्रत्येक समयमें कारणकार्यभाव होता है ॥ **भावार्थ**-वस्तु प्रति समय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक होती है। तत्त्वार्थसूत्रमें उसे ही सत् कहा है जिसमें प्रतिसमय उत्पाद व्यय और ध्रौव्य होता है। जैसे, मिट्टीका पिण्ड नष्ट होकर घट बनता है। यहां मिट्टीके पिण्डका विनाश और घटका उत्पाद एक ही समयमें होता है तथा उसी समय पिण्डका विनाश और घटका उत्पाद होनेपर भी मिट्टी मौजूद रहती है। इसी तरह एकही समयमें पूर्व पर्यायका विनाश और उत्तर पर्यायका उत्पाद प्रत्येक द्रव्यमें प्रति समय होता है। अतः तीनों कालोंमें प्रत्येक द्रव्यमें कारण कार्यकी परम्परा चालू रहती है। जो पर्याय अपनी पूर्व पर्यायका कार्य होती है वही पर्याय अपनी उत्तर पर्यायका कारण होती है। इस तरह प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपना कारण और स्वयं ही अपना कार्य होता है ॥ २२३ ॥ आगे यह निश्चित करते हैं कि वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। **अर्थ**-सब द्रव्य तीनोंही कालोंमें अनन्तानन्त हैं। अतः जिनेन्द्रदेवने सभीको अनेकान्तात्मक कहा है॥ **भावार्थ**-तीनोंही कालोंमें प्रत्येक द्रव्य अनन्तानन्त है; क्योंकि प्रति समय प्रत्येक द्रव्यमें नवीन नवीन पर्याय उत्पन्न होती है और पुरानी पर्याय नष्ट होजाती है फिर भी द्रव्यकी परम्परा सदा चालू रहती है। अतः पर्यायोंके अनन्तानन्त होनेके कारण द्रव्य भी अनन्तानन्त है। न पर्यायोंका ही अन्त आता है और न द्रव्यका ही अन्त आता है। इसीसे जैनधर्ममें प्रत्येक वस्तुको अनेक धर्मवाली कहा है। इसका खुलासा इस प्रकार है। जैनधर्ममें सत् ही द्रव्यका लक्षण है, असत् या अभाव नामका कोई स्वतंत्र तत्त्व जैन धर्ममें नहीं माना। किन्तु जो सत् है वही दृष्टि बदलनेसे असत् हो जाता है। न कोई वस्तु केवल सत् ही है और न कोई वस्तु केवल असत् ही है। यदि प्रत्येक वस्तुको केवल सत् ही माना जायेगा तो सब वस्तुओंके सर्वथा सत् होनेसे उनके बीचमें जो भेद देखा जाता है उसका लोप हो जायगा। और उसके लोप होनेसे सब वस्तुएँ परस्परमें

१ क्वचित् 'उमास्वामि' इति पाठः। २ छ स ग जिणंदेहि ।

ष्टयापेक्षया द्रव्यमस्तीत्यर्थः ॥ १ ॥ स्यान्नास्ति । स्यात् कथंचित् विवक्षितप्रकारेण परद्रव्यपरक्षेत्रपरकालपरभावचतुष्टयापेक्षया द्रव्यं नास्तीत्यर्थः ॥ २ ॥ स्यादस्तिनास्ति । स्यात्कथंचित् विवक्षितप्रकारेण क्रमेण स्वद्रव्यपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यमस्तिनास्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥ स्यादवक्तव्यम् । स्यात् कथंचित् विवक्षितप्रकारेण युगपद्वक्तुमशक्यत्वात्, क्रमप्रवर्तिनी भारतीति वचनात्, युगपत्स्वद्रव्यपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यमवक्तव्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥ स्यादस्त्यवक्तव्यम् । स्यात् कथंचित् विवक्षितप्रकारेण स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया [युगपत्स्वद्रव्यपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया च स्यादस्त्यवक्तव्यम् इत्यर्थः ॥ ५ ॥ स्यान्नास्त्यवक्तव्यम् । स्यात् कथंचित् विवक्षितप्रकारेण परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया युगपत्स्वद्रव्यपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया च] द्रव्यं नास्त्यवक्तव्यमित्यर्थः ॥ ६ ॥ स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यम् । स्यात् कथंचित् विवक्षितप्रकारेण क्रमेण स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया च द्रव्यमस्ति नास्त्यवक्तव्यमित्यर्थः ॥ ७ ॥ तथा एकस्मिन् समये एकमपि द्रव्यं स्वद्रव्यचतुष्टयापेक्षया कथंचित्सत् परद्रव्यचतुष्टयापेक्षया कथंचित् असत्, तद्द्रव्यापेक्षया

एकमेक हो जायेंगी। उदाहरण के लिये, घट और पट ये दोनों वस्तु हैं। किन्तु जब हम किसीसे घट लानेको कहते हैं तो वह घट ही लाता है। और जब हम पट लानेको कहते हैं तो वह पट ही लाता है। इससे सिद्ध है कि घट घट ही है पट नहीं है, और पट पट ही है घट नहीं है। अतः दोनोंका अस्तित्व अपनी २ मर्यादामें ही सीमित है, उसके बाहर नहीं है। यदि वस्तुएं इस मर्यादाका उल्लंघन कर जायें तो सभी वस्तुएँ सबरूप हो जायेंगी। अतः प्रत्येक वस्तु स्वरूपकी अपेक्षासे ही सत् है और पररूपकी अपेक्षासे असत् है। जब हम किसी वस्तुको सत् कहते हैं तो हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि वह वस्तु स्वरूपकी अपेक्षासे ही सत् कही जाती है, अपनेसे अन्य वस्तुओंके स्वरूपकी अपेक्षा संसारकी प्रत्येक वस्तु असत् है। देवदत्तका पुत्र संसार भरके मनुष्योंका पुत्र नहीं है और न देवदत्त संसार भरके पुत्रोंका पिता है। इससे क्या यह नतीजा नहीं निकलता कि देवदत्तका पुत्र पुत्र है और नहीं भी है। इसी तरह देवदत्त पिता है और नहीं भी है। अतः संसारमें जो कुछ सत् है वह किसी अपेक्षासे असत् भी है। सर्वथा सत् या सर्वथा असत् कोई वस्तु नहीं है। अतः एक ही समयमें प्रत्येक द्रव्य सत् भी है और असत् भी है। स्वरूपकी अपेक्षा सत् है और परद्रव्यकी अपेक्षा असत् है। इसी तरह एक ही समयमें प्रत्येक वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है। द्रव्यकी अपेक्षा नित्य है, क्योंकि द्रव्यका विनाश नहीं होता, और पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है; क्योंकि पर्याय नष्ट होती है। तथा एकही समयमें प्रत्येक वस्तु एक भी है और अनेक भी है। पर्यायकी अपेक्षा अनेक है क्योंकि एक वस्तुकी अनेक पर्यायें होती हैं और द्रव्यकी अपेक्षा एक है। तथा एकही समयमें प्रत्येक वस्तु भिन्न भी है और अभिन्न भी है। गुणी होनेसे अभेदरूप है और गुणोंकी अपेक्षा भेदरूप है; क्योंकि एक वस्तुमें अनेक गुण होते हैं। इस तरह वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। उस अनन्त धर्मात्मक वस्तुको जानना उतना कठिन नहीं है जितना शब्दके द्वारा उसका कहना कठिन है; क्योंकि एक ज्ञान अनेक धर्मोंको एक साथ जान सकता है किन्तु एक शब्द एक समयमें वस्तुके एक ही धर्मको कह सकता है। इसपर भी शब्दकी प्रवृत्ति वक्ताके अधीन है। वक्ता वस्तुके अनेक धर्मोंमेंसे किसी एक धर्मकी मुख्यतासे वचनव्यवहार करता है। जैसे देवदत्तको एक ही समय में उसका पिता भी पुकारता है और उसका पुत्र भी पुकारता है। पिता उसे 'पुत्र' कहकर पुकारता है और उसका पुत्र उसे 'पिता' कहकर पुकारता है। किन्तु देवदत्त न केवल पिता ही है और न केवल पुत्र ही है। किन्तु पिता भी है और पुत्र भी है। इस लिये पिताकी दृष्टिसे देवदत्तका पुत्रत्वधर्म मुख्य है और शेष धर्म गौण हैं

नित्यत्वं पर्यायापेक्षयानित्यत्वम्, द्रव्यापेक्षया एकत्वं पर्यायापेक्षयानेकत्वम्, गुणगुणिभावेन भिन्नत्वं तयोरव्यतिरेकेण कथंचित् अभिन्नत्वम् इत्याद्यनेकधर्मात्मकं वस्तु अनन्तानन्तपर्यायात्मकं द्रव्यं कथ्यते ॥ २२४ ॥ अथ वस्तुनः कार्यकारित्वमिति निगदति–

जं वत्थु अणेयंतं तं चिय कज्जं करेदि[1] णियमेण ।
बहु-धम्म-जुदं अत्थं कज्ज-करं दीसदे[2] लोए ॥ २२५ ॥

और पुत्रकी दृष्टिसे देवदत्तका पितृत्वधर्म मुख्य है और शेष धर्म गौण हैं। क्योंकि अनेक धर्मात्मक वस्तुके जिस धर्मकी विवक्षा होती है वह धर्म मुख्य कहाता है और शेष धर्म गौण। अतः वस्तुके अनेक धर्मात्मक होने और शब्दमें पूरे धर्मोंको एक साथ एक समयमें कह सकनेकी सामर्थ्य न होनेके कारण, समस्त वाक्योंके साथ 'स्यात्' शब्दका व्यवहार आवश्यक समझा गया, जिससे सुनने वालोंको कोई धोखा न हो। यह 'स्यात्' शब्द विवक्षित धर्ममें इतर धर्मोंका द्योतक या सूचक होता है। 'स्यात्' का अर्थ है 'कथंचित्' या 'किसी अपेक्षासे'। यह बतलाता है कि जो सत् है वह किसी अपेक्षासे ही सत् है। अतः प्रत्येक वस्तु 'स्यात् सत्' और 'स्यात् असत्' है। इसीका नाम स्याद्वाद है। वस्तुके प्रत्येक धर्मको लेकर अविरोध पूर्वक विधिप्रतिषेधका कथन सात भङ्गोंके द्वारा किया जाता है। उसे सप्तभंगी कहते हैं। जैसे वस्तुके अस्तित्व धर्मको लेकर यदि कथन किया जाये तो वह इस प्रकार होगा–'स्यात् सत्' अर्थात् वस्तु स्वरूपकी अपेक्षा है १। 'स्यात् असत्'–वस्तु पररूपकी अपेक्षा नहीं है २। 'स्यात् सत् स्यात् असत्'–वस्तु स्वरूपकी अपेक्षा है और पररूपकी अपेक्षा नहीं है ३। इन तीनों वाक्योंमेंसे पहला वाक्य वस्तु का अस्तित्व बतलाता है, दूसरा वाक्य नास्तित्व बतलाता है, और तीसरा वाक्य अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मोंको क्रमसे बतलाता है। इन दोनों धर्मोंको यदि कोई एक साथ कहना चाहे तो नहीं कह सकता, क्योंकि एक शब्द एक समयमें विधि और निषेधमेंसे एकका ही कथन कर सकता है। अतः ऐसी अवस्थामें वस्तु अवक्तव्य ठहरती है, अर्थात् उसे शब्दके द्वारा नहीं कहा जा सकता। अतः 'स्यात् अवक्तव्य' यह चौथा भङ्ग है ४। सप्तभंगीके मूल ये चार ही भंग हैं। इन्हींको मिलानेसे सात भंग होते हैं। अर्थात् चतुर्थ भंग 'स्यात् अवक्तव्य' के साथ क्रमसे पहले, दूसरे और तीसरे भंगको मिलानेसे पांचवां, छठा और सातवा भंग बनता है। यथा, स्यात् सदवक्तव्य ५, स्यादसदवक्तव्य ६, और स्यात् सदसदवक्तव्य ७। यानी वस्तु कथंचित् सत् और अवक्तव्य है ५, कथंचित् असत् और अवक्तव्य है ६, तथा कथंचित् सत्, कथंचित् असत् और अवक्तव्य है ७। इन सात भंगोंमेंसे वस्तुके अस्तित्व धर्मकी विवक्षा होनेसे प्रथम भंग है, नास्तित्व धर्मकी विवक्षा होनेसे दूसरा भंग है। क्रम से 'अस्ति' 'नास्ति' दोनों धर्मोंकी विवक्षा होनेसे तीसरा भंग है। एक साथ दोनों धर्मोंकी विवक्षा होनेसे चौथा भंग है। अस्तित्व धर्मके साथ युगपत् दोनों धर्मोंकी विवक्षा होनेसे पांचवा भंग है। नास्तित्व धर्मके साथ युगपत् दोनों धर्मोंकी विवक्षा होनेसे छठा भंग है। और क्रमसे तथा युगपत् दोनों धर्मोंकी विवक्षा होनेसे सातवां भंग है। इसी तरह एक अनेक, नित्य अनित्य आदि धर्मोंमें भी एककी विधि और दूसरेके निषेधके द्वारा सप्तभंगी लगा लेनी चाहिये ॥ २२४ ॥ आगे बतलाते हैं कि अनेकान्तात्मक वस्तु ही अर्थ-

१ म करेइ (?)। २ ल म स ग दीसए।

[छाया-यत् वस्तु अनेकान्तं तत् एव कार्यं करोति नियमेन । बहुधर्मयुतः अर्थः कार्यकरः दृश्यते लोके ॥] तदेव वस्तु द्रव्यं जीवादिपदार्थं नियमेन अवश्यंभावेन कार्यं करोति । यद्वस्तु अनेकान्तम् अनेकस्वरूपम् अनन्तधर्मात्मकम् अनन्तानन्तगुणपर्यायात्मकम् । तथा चोक्तं जैनेन्द्रे श्रीपूज्यपादेन । 'सिद्धिरनेकान्तात् ।' लोके जगति, अर्थः जीवादिपदार्थः, बहुधर्मयुक्तः सदसन्नित्यानित्यभिन्नाभिन्नास्तिनास्त्याद्यनेकस्वभावयुक्तः, कार्यकरः अर्थक्रियाकारी, दृश्यते अवलोक्यते । [एकमपि द्रव्यं कथं सप्तभङ्गात्मकं भवति । प्रश्नपरिहारमाह ।] यथा एकोऽपि देवदत्तः पुमान् गौणमुख्यविवक्षावशेन बहुप्रकारो भवति । पुत्रापेक्षया पिता भण्यते । सोऽपि स्वकीयपित्रपेक्षया पुत्रो भण्यते । मातुलापेक्षया भागिनेयो भण्यते । स एव भागिनेयापेक्षया मातुलो भण्यते । भार्यापेक्षया भर्ता भण्यते । भगिन्यपेक्षया भ्राता भण्यते । विपक्षापेक्षया शत्रुर्भण्यते । इष्टापेक्षया मित्रं भण्यते, इत्यादि । तथैकमपि द्रव्यम् अनेकात्मकम् इत्याद्यनेकधर्माविष्टः पुरुषः अनेककार्यं कुर्वन् दृष्टः । एवं सर्वं वस्तु अनेकान्तात्मकं सत्त्वात् इत्ययं हेतुः सर्वस्य वस्तुनः अनेकधर्मत्वं साधयत्येव ॥ २२५ ॥ अथ सर्वथैकान्तवस्तुनः कार्यकारित्वं प्रतिरुणद्धि-

एयंतं पुणु[1] दवं कज्जं ण करेदि लेस-मेत्तं[2] पि ।
जं पुणु[3] ण करदि कज्जं तं वुच्चदि केरिसं दवं ॥ २२६ ॥

क्रियाकारी है । **अर्थ**–जो वस्तु अनेकान्तरूप है वही नियमसे कार्यकारी है; क्योंकि लोकमें बहुत धर्मयुक्त पदार्थ ही कार्यकारी देखा जाता है ॥ **भावार्थ**–अनेक धर्मात्मक वस्तु ही कोई कार्य कर सकती है । इसीसे पूज्यपादने अपने जैनेन्द्र व्याकरणका प्रथम सूत्र 'सिद्धिरनेकान्तात्' रखा है । जो बतलाता है किसी भी कार्यकी सिद्धि अनेकान्तसे ही हो सकती है । उदाहरणक लिये जो वादी वस्तुको नित्य अथवा क्षणिक ही मानते हैं उनके मतमें अर्थक्रिया नहीं बनती । कार्य करनेके दो ही प्रकार हैं एक क्रमसे और एक एकसाथ । नित्यवस्तु क्रमसे काम नहीं कर सकती; क्योंकि सब कार्योंको एक साथ उत्पन्न करनेकी उसमें सामर्थ्य है । यदि कहा जाये कि सहायकोंके मिलनेपर नित्य पदार्थ कार्य करता है और सहायकोंके अभावमें कार्य नहीं करता । तो इसका यह मतलब हुआ कि पहले वह नित्यपदार्थ कार्य करनेमें असमर्थ था, पीछे सहकारियोंके मिलनेपर समर्थ हुआ । तो असमर्थ स्वभावको छोड़कर समर्थ स्वभावको ग्रहण करनेके कारण वह सर्वथा नित्य नहीं रहा । सर्वथा नित्य तो वही हो सकता है जिसमें कुछ भी परिवर्तन न हो । यदि वह नित्य पदार्थ एक साथ सब काम कर लेता है तो प्रथम समयमें ही सबकाम करलेनेसे दूसरे समयमें उसके करनेको कुछ भी काम शेष न रहेगा । और ऐसी अवस्थामें वह असत् हो जायेगा; क्यों कि सत् वही है जो सदा कुछ न कुछ किया करता है । अतः क्रमसे और एक साथ काम न कर सकनेसे नित्यवस्तुमें अर्थक्रिया नहीं बनती । इसी तरह जो वस्तुको पर्यायकी तरह सर्वथा क्षणिक मानते हैं उनके मतमें भी अर्थक्रिया नहीं बनती । क्योंकि क्षणिक वस्तु क्रमसे तो कार्य कर नहीं सकती; क्योंकि क्षणिक तो एक क्षणवर्ती होता है, अतः वहां क्रम बन ही कैसे सकता है । क्रमसे तो वही कार्य कर सकता है जो कुछ क्षणों तक ठहर सके । और यदि वह कुछ क्षणों तक ठहरता है तो वह क्षणिक नहीं रहता । इसी तरह क्षणिक वस्तु एक साथ भी काम नहीं कर सकती क्योंकि वैसा होनेसे कारणके रहते हुए ही कार्यकी उत्पत्ति हो जायेगी, तथा उस कार्यके कार्यकी भी उत्पत्ति उसी क्षणमें हो जायेगी । इस तरह सब गड़बड़ हो जायेगी । अतः वस्तुको द्रव्यकी अपेक्षा नित्य और पर्यायकी अपेक्षा अनित्य मानना ही उचित है । तभी वस्तु अर्थक्रियाकारी बन सकती है ॥ २२५ ॥ आगे कहते है कि सर्वथा एकान्त रूप

१ म स पुण । २ म मित्तं (?) । ३ म पुण ।

[छाया-एकान्तं पुनः द्रव्यं कार्यं न करोति लेशमात्रम् अपि । यत् पुनः न करोति कार्यं तत् उच्यते कीदृशं द्रव्यम् ॥] पुनः एकान्तं द्रव्यं जीवादिवस्तु सर्वथा नित्यं सर्वथा सत् सर्वथा भिन्नं सर्वथैकं सर्वथानित्यमित्यादिधर्म-विशिष्टं वस्तु लेशमात्रमपि [एकमपि] कार्यं न करोति, तुच्छमपि प्रयोजनं न विदधाति । कुतः । सदसन्नित्यानित्याद्येकान्तेषु क्रमयौगपद्याभावात् कार्यकारित्वाभावः । यत्पुनः द्रव्यं कार्यं न करोति तत्कीदृशं द्रव्यमुच्यते । यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत् । यद्वस्तु क्रमेण युगपच्च अर्थक्रियां करोति तदेव वस्तु उच्यते । यदर्थक्रियां न करोति खरविषाणवत्, वस्त्वेव न स्यादिति । तथा चोक्तं च । 'दुर्नयैकान्तमारूढा भावा न स्वार्थिका हि ते । स्वार्थिकाश्च विपर्यस्ताः सकलङ्का नया यतः ।' तत्कथम् । तथाहि । सर्वथा एकान्तेन सद्रूपस्य न नियतार्थव्यवस्था संकरादिदोषत्वात् । तथाऽसद्रूपस्य सकलशून्यताप्रसंगात्, नित्यस्यैकरूपत्वात् एकरूपस्यार्थक्रियाकारित्वाभावः । अर्थक्रियाकारित्वाभावे द्रव्यस्याप्यभावः । अनित्यपक्षेऽपि निरन्वयत्वात्, अर्थक्रियाकारित्वाभावः । अर्थक्रियाकारित्वाभावे द्रव्यस्याप्यभावः । एकस्वरूपस्यैकान्तेन विशेषाभावः सर्वथैकरूपत्वात् । विशेषाभावे सामान्यस्याप्यभावः । 'निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत् । सामान्यरहितत्वाच्च विशेषस्तद्वदेव हि ॥' इति ज्ञेयः । अनेकपक्षेऽपि तथा द्रव्याभावो निराधारत्वात् आधाराधेयाभावाच्च । भेदपक्षेऽपि विशेषस्वभावानां निराधारत्वात् अर्थक्रियाकारित्वाभावः । अर्थक्रियाकारित्वाभावे द्रव्यस्याप्यभावः । अभेदपक्षेऽपि सर्वेषामेकत्वम् । सर्वेषामेकत्वे अर्थक्रियाकारित्वाभावः । अर्थक्रियाकारित्वाभावे

वस्तु कार्यकारी नहीं है । **अर्थ**–एकान्त स्वरूप द्रव्य लेशमात्र भी कार्य नहीं करता । और जो कार्य नहीं करता उसे द्रव्य कैसे कहा जा सकता है ॥ **भावार्थ**–यदि जीवादि वस्तु सर्वथा नित्य या सर्वथा सत् या सर्वथा भिन्न, अथवा सर्वथा एक या सर्वथा अनित्य आदि एकान्त रूप हो तो वह कुछ भी कार्य नहीं कर सकती । और जो कुछ भी कार्यकारी नहीं उसे वस्तु या द्रव्य कैसे कहा जा सकता है; क्योंकि जो कुछ न कुछ कार्यकारी है वही वास्तवमें सत् है । सत् का लक्षण ही अर्थक्रिया है । अतः जो कुछ भी काम नहीं करता वह गधेके सींगकी तरह अवस्तु ही है । कहा भी है– 'दुर्नयके विषयभूत एकान्त रूप पदार्थ वास्तविक नहीं हैं' क्योंकि दुर्नय केवल स्वार्थिक हैं, वे अन्य नयोंकी अपेक्षा न करके केवल अपनी पुष्टि करते हैं, और जो स्वार्थिक अत एव विपरीत होते हैं वे नय सदोष होते हैं' । इसका खुलासा इस प्रकार है । यदि वस्तुको सर्वथा एकान्तसे सद्रूप माना जायेगा तो संकर आदि दोषोंके आनेसे नियत अर्थकी व्यवस्था नहीं बनेगी । अर्थात् जब प्रत्येक वस्तु सर्वथा सत् स्वरूप मानी जायेगी तो वह सब रूप होगी । और ऐसी स्थितिमें जीव, पुद्गल आदिके भी परस्परमें एक रूप होनेसे जीव पुद्गलका भेद ही समाप्त हो जायेगा । इसी तरह जीव जीव और पुद्गल पुद्गलका भेद भी समाप्त हो जायेगा । तथा वस्तुको सर्वथा असद्रूप माननेसे समस्त संसार शून्य रूप हो जायेगा । इसी तरह वस्तुको सर्वथा नित्य मानने से वह सदा एकरूप रहेगी । और सदा एक रूप रहनेसे वह अर्थक्रिया नहीं कर सकेगी तथा अर्थक्रिया न करनेसे वस्तुका ही अभाव हो जायेगा । वस्तुको सर्वथा क्षणिक माननेसे दूसरे क्षणमें ही वस्तुका सर्वथा विनाश हो जानेसे वह कोई कार्य कैसे कर सकेगी । और कुछ भी कार्य न कर सकनेसे वस्तुका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकेगा । इसी तरह वस्तुको सर्वथा एक रूप माननेपर उसमें विशेष धर्मका अभाव हो जायेगा क्योंकि वह सर्वथा एकरूप है । और विशेष धर्मका अभाव होनेसे सामान्य धर्मका भी अभाव हो जायेगा क्योंकि विना विशेषका सामान्य गधेके सींगकी तरह असत् है और विना सामान्यका विशेष भी गधेके सींगकी तरह असत् है । अर्थात् न विना सामान्यके

द्रव्यस्याप्यभावः । सर्वथा नित्यः अनित्यः एकः अनेकः भेदः अभेदः कथम् । तथा सर्वथात्मनः अचैतन्यपक्षेऽपि सकल-चैतन्योच्छेदः स्यात् । मूर्तस्यैकान्तेन आत्मनो न मोक्षस्यावाप्तिः स्यात् । सर्वथा अमूर्तस्यापि तथात्मनः संसारविलोपः स्यात् । एकप्रदेशस्यैकान्तेनाखण्डपरिपूर्णस्यात्मनो अनेककार्यकारित्वमेव हानिः स्यात् सर्वथानेकप्रदेशत्वेऽपि तथा तस्यानर्थकार्यकारित्वं स्वस्वभावशून्यताप्रसंगात् । शुद्धस्यैकान्तेन आत्मनो न कर्ममलकलङ्कावलेपः । सर्वथा निरञ्जनत्वात् । इति सर्वथैकान्तं नास्तीति ॥ २२६ ॥ अथ नित्यैकान्तेऽर्थक्रियाकारित्वं निरुणद्धि–

परिणामेण विहीणं णिच्चं दव्वं विणस्सदे णेव[1] ।
णो उप्पज्जेदि सया[2] एवं कज्जं कहं कुणदि ॥ २२७ ॥

[छाया–परिणामेन विहीनं नित्यं द्रव्यं विनश्यति नैव । न उत्पद्यते सदा एवं कार्यं कथं कुरुते ॥] नित्यं द्रव्यं ध्रौव्यं, जीवादिवस्तु सर्वथा अविनश्वरं वस्तु, परिणामेन उत्पादव्ययादिपर्यायेण विहीनं रहितं विमुक्तं वस्तु सत् नैव विनश्यति न विनाशं गच्छति । पूर्वपर्यायरूपेण विनश्यति चेत् तर्हि नित्यत्वं न स्यात्, सदा नोत्पद्यते । उत्तरपर्यायरूपेण नित्यं वस्तु नोत्पद्यते । उत्पद्यते चेत तर्हि नित्यत्वं न स्यात् । यदि नित्यं वस्तु अर्थक्रियां न करोति तदा वस्तुत्वं न

विशेष रह सकता है और विना विशेषके सामान्य रह सकता है । अतः दोनोंका ही अभाव हो जायेगा । तथा वस्तुको सर्वथा अनेकरूप माननेपर द्रव्यका अभाव हो जायेगा; क्योंकि उस अनेक रूपोंका कोई एक आधार आप नही मानते । तथा आधार और आधेयका ही अभाव हो जायेगा । क्योंकि सामान्यके अभावमें विशेष और विशेषके अभावमें सामान्य नहीं रह सकता । सामान्य और विशेषमें सर्वथा भेद मानने पर निराधार होनेसे विशेष कुछ भी क्रिया नहीं कर सकेंगे, और कुछ भी क्रिया न करनेपर द्रव्यका भी अभाव हो जायेगा । सर्वथा अभेद माननेपर सब एक हो जायेंगे, और सबके एक होजाने पर अर्थक्रिया नहीं बन सकती । अर्थक्रियाके अभावमें द्रव्यका भी अभाव हो जायेगा । इस तरह सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य, सर्वथा एक, सर्वथा अनेक, सर्वथा भेद, सर्वथा अभेदरूप एकान्तोंके स्वीकार करनेपर वस्तुमें अर्थक्रिया नहीं बन सकती । तथा आत्माको सर्वथा अचेतन माननेसे चैतन्यका ही अभाव हो जायेगा । सर्वथा मूर्त माननेसे कभी उसे मोक्ष नहीं हो सकेगा । सर्वथा अमूर्त माननेसे संसारका ही लोप हो जायेगा । सर्वथा अनेक प्रदेशी माननेसे आत्मामें अर्थक्रियाकारित्व नहीं बनेगा; क्योंकि उस अवस्थामें घट पटकी तरह आत्माके प्रदेशभी पृथक् पृथक् हो सकेंगे और इस तरह आत्मा स्वभाव शून्य हो जायेगा । तथा आत्माको सर्वथा शुद्ध माननेसे कभी वह कर्ममलसे लिप्त नहीं हो सकेगा क्योंकि वह सर्वथा निर्मल है । इन कारणोंसे सर्वथा एकान्त ठीक नहीं है॥ २२६ ॥ अब सर्वथा नित्यमें अर्थ-क्रियाका अभाव सिद्ध करते हैं । **अर्थ–**परिणामसे रहित नित्य द्रव्य न तो कभी नष्ट हो सकता है और न कभी उत्पन्न हो सकता है । ऐसी अवस्थामें वह कार्य कैसे कर सकता है ॥ **भावार्थ–** यदि वस्तुको सर्वथा ध्रुव माना जायेगा तो उसमें उत्पाद और व्ययरूप पर्याय नहीं हो सकेंगी । और उत्पाद तथा व्ययके न होनेसे वह वस्तु कभी नष्ट नहीं होगी । यदि उसकी पूर्व पर्यायका विनाश माना जायेगा तो वह सर्वथा नित्य नहीं रहेगी । इसी तरह उस वस्तुमें कभी भी नवीन पर्याय उत्पन्न नहीं होगी । यदि होगी तो वह नित्य नहीं ठहरेगी । और पूर्व पर्यायका विनाश तथा

---

१ ल म स ग णेय । २ ब णउ उपज्जेदि सया, ल स ग णो उप्पज्जदि सया, म णो उप्पजेदि सया ।

व्यवतिष्ठते, खरविषाणवत्, वन्ध्यासुतवत्, गगनकुसुमवत्। एवम् अर्थक्रियाकारित्वाभावे नित्यम् आत्मादिवस्तु कथं कार्यं करोति चेत्, यत्कार्यं न करोति तदेव वस्तु न स्यात्॥ २२७॥

पज्जय-मित्तं तच्चं विणस्सरं खणे खणे वि अण्णण्णं।
अण्णइ[1]-दव्व-विहीणं ण य कज्जं किं पि साहेदि॥ २२८॥

[छाया-पर्यायमात्रं तत्त्वं विनश्वरं क्षणे क्षणे अपि अन्यत् अन्यत्। अन्वयिद्रव्यविहीनं न च कार्यं किम् अपि साधयति॥] यदि तत्त्वं जीवादिवस्तु, पर्यायमात्रं मतिज्ञानादिपर्यायरूपं, जीवद्रव्यविहीनं मृद्द्रव्यविहीनं च, शिवकस्थासकोशकुसूलघटकपालादिरूपं, क्षणे क्षणेऽपि समये समयेऽपि, अन्योन्यं परस्परम् अन्वयिद्रव्यविहीनम्, अन्वयाः शिवकस्थासकोशकुसूलादयः ते विद्यन्ते यस्य तत् अन्वयि तच्च तद्द्रव्यं च, तेन विहीनं जीवादिद्रव्यविहीनं विनश्वरं प्रतिसमयं विनाशि अङ्गीक्रियते चेत्, तर्हि तद्द्रव्यं किमपि कार्यं न साधयति। तदुक्तमष्टसहस्याम्। 'संतानः समुदायश्च साधर्म्यं च निरङ्कुशः। प्रेत्यभावश्च तत्सर्वं न स्यादेकत्वनिह्नवे॥' इति॥ २२८॥ अथ नित्यैकान्ते क्षणिकैकान्ते च कार्याभावं विभाव्यानेकान्ते कार्यकारणभावं विभावयति-

[2]णवणव-कज्ज-विसेसा तीसु[3] वि कालेसु होंति वत्थूणं।
एक्केक्कम्मि य समये पुव्वुत्तर-भावमासिज्ज[4]॥ २२९॥

[छाया-नवनवकार्यविशेषाः त्रिषु अपि कालेषु भवन्ति वस्तूनाम्। एकैकस्मिन् च समये पूर्वोत्तरभावमासाद्य॥] वस्तूनां जीवादिद्रव्याणां पदार्थानां त्रिष्वपि कालेषु अतीतानागतवर्तमानसमयेषु नवनवकार्यविशेषाः

उत्तर पर्यायकी उत्पत्ति न होनेसे वह वस्तु कुछ भी कार्य न कर सकेगी; क्योंकि कुछभी कार्य करनेसे वस्तुमें परिणमन अवश्य होगा और परिणमनके होनेसे वस्तु सर्वथा नित्य नहीं रहेगी। अतः नित्य वस्तुमें अर्थक्रिया सम्भव नहीं है॥ २२७॥ आगे सर्वथा क्षणिक वस्तुमें अर्थक्रियाका अभाव बतलाते हैं॥ **अर्थ**-क्षण क्षणमें अन्य अन्य होने वाला पर्यायमात्र विनश्वर तत्त्व, अन्वयी द्रव्यके विना कुछभी कार्य नहीं कर सकता॥ **भावार्थ**-यदि नाना पर्यायोंमें अनुस्यूत एक द्रव्यको न मानकर केवल पर्यायमात्रको ही माना जायेगा। अर्थात् मति ज्ञानादि पर्यायोंको ही माना जाये और जीव द्रव्यको न माना जाये, या मिट्टीको न माना जाये और स्थास, कोश, कुसूल, घट, कपाल आदि पर्यायोंको ही माना जाये तो विना जीव द्रव्यके मत्यादि पर्याय और विना मिट्टीके स्थास आदि पर्याय हो कैसे सकती हैं? इसीसे आप्तमीमांसामें कहा है कि नाना पर्यायोंमें अनुस्यूत एकत्व को न माननेपर सन्तान, समुदाय, साधर्म्य, पुनर्जन्म वगैरह कुछ भी नहीं बन सकता। इसका खुलासा इस प्रकार है-एक वस्तुकी क्रमसे होने वाली पर्यायोंकी परम्पराका नाम सन्तान है। जब एकत्वको नहीं माना जायेगा तो एक सन्तान कैसे बन सकेगी? जैसे एकत्व परिणामको न माननेपर एक स्कन्धके अवयवोंका समुदाय नहीं बन सकता वैसेही सदृश परिणामोंमें एकत्वको न माननेपर उनमें साधर्म्य भी नहीं बन सकता। इसी तरह इस जन्म और परजन्ममें रहने वाली एक आत्माको न माननेपर पुनर्जन्म नहीं बनता तथा देन लेनका व्यवहारभी एकत्वके अभावमें नहीं बन सकता; क्योंकि जिसने दिया और जिसने लिया वे दोनों तो उसी क्षण नष्ट हो गये, तब न कोई देनेवाला रहा और न कोई लेनेवाला रहा। अतः नित्यैकान्तकी तरह क्षणिकैकान्तमें भी अर्थक्रिया नहीं बनती॥ २२८॥ आगे अनेकान्तमें कार्यकारणभावको बतलाते हैं। **अर्थ**-वस्तुओंमें तीनो ही कालोंमें प्रति समय पूर्व

१ ग अणइ-। २ ब-पुस्तके गाथेयं नास्ति। ३ ग तीस्सु। ४ म भावमासज्ज।

नूतननूतनपर्यायलक्षणकार्यविशेषा भवन्ति । किं कृत्वा । एकैकस्मिन् समये एकस्मिन् क्षणे क्षणे पूर्वोत्तरभावम् आश्रित्य पूर्वोत्तरभावं श्रित्वा कारणकार्यभावं समाश्रित्य ॥ २२९ ॥ अथ पूर्वोत्तरपरिणामयोः कारणकार्यभावं द्रढयति–

पुव्व-परिणाम-जुत्तं कारण-भावेण वट्टदे दव्वं ।
उत्तर-परिणाम-जुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा ॥ २३० ॥

[छाया–पूर्वपरिणामयुक्तं कारणभावेन वर्तते द्रव्यम् । उत्तरपरिणामयुतं तत् एव कार्यं भवेत् नियमात् ॥] द्रव्यं जीवपुद्गलादिवस्तु, पूर्वपरिणामयुक्तं पूर्वपर्यायाविष्टं, कारणभावेन उत्तरभावककार्यस्य कारणभावेन उपादानकारणत्वेन वर्तते । यथा मृद्द्रव्यस्य मृत्पिण्डपर्यायः । उत्तरघटपर्यायस्योपादानकारणं तदेव द्रव्यम् उत्तरपरिणामयुक्तम् उत्तरपर्याय-सहितं नियमात् कार्यं भवेत्, साध्यं स्यात् । यथा मृद्द्रव्यस्य मृत्पिण्डः उपादानकारणभूतः घटलक्षणं कार्यं जनयति ॥ २३० ॥ अथ जीवस्यानादिनिधनत्वं सामग्रीविशेषात् कार्यकारित्वं द्रढयति–

जीवो आणाई[1]-णिहणो परिणममाणो हु[2] णव-णवं भावं ।
सामग्गीसु पवट्टदि कज्जाणि समासदे पच्छा ॥ २३१ ॥

[छाया–जीवः अनादिनिधनः परिणममानः खलु नवनवं भावम् । सामग्रीषु प्रवर्तते कार्याणि समाश्रयते पश्चात् ॥] जीवः आत्मा, हु इति स्फुटम्, अनादिनिधनः आद्यन्तरहितः, सामग्रीषु द्रव्यक्षेत्रकालभवभावादिलक्षणासु प्रवर्तते । जीवः कीदृक् सन् । नवं नवं भावं नूतनं नूतनं नरनारकादिपर्यायरूपं परिणममानः सन् परिणतिं पर्यायं गच्छन् सन् वर्तते । पश्चात् कार्याणि उत्तरोत्तरपर्यायान् समस्तात् प्राप्नोति करोतीत्यर्थः । यथा कश्चिज्जीवः नवं नवं देवादिपर्यायं

और उत्तर परिणामकी अपेक्षा नये नये कार्यविशेष होते हैं ॥ **भावार्थ–**वस्तुको सर्वथा क्षणिक अथवा सर्वथा नित्य न मानकर परिणामी नित्य माननेसे कार्यकारणभाव अथवा अर्थक्रिया बनती है; क्योंकि वस्तुत्वरूपसे ध्रुव होते हुए भी वस्तुमें प्रतिसमय एक पर्याय नष्ट होती और एक पर्याय पैदा होती है । इस तरह पूर्व पर्यायका नाश और उत्तर पर्यायका उत्पाद प्रति समय होते रहनेसे नये नये कार्य (पर्याय) होते रहते हैं ॥ २२९ ॥ आगे पूर्व परिणाम और उत्तर परिणामसे युक्त-द्रव्यमें कार्यकारणभावको दृढ करते हैं । **अर्थ–**पूर्व परिणामसे युक्त द्रव्य नियमसे कारण रूप होता है । और वही द्रव्य जब उत्तर परिणामसे युक्त होता है तब नियमसे कार्यरूप होता है ॥ **भावार्थ–** अनेकान्तरूप एक ही द्रव्यमें कार्यकारणभाव नियमसे बनता है । पूर्व परिणामसे युक्त वही द्रव्य कारण होता है । जैसे मिट्टीकी पिण्डपर्याय कारणरूप होती है । और वही द्रव्य जब उत्तर पर्यायसे युक्त होता है तो कार्यरूप होता है । जैसे घटपर्यायसे युक्त वही मिट्टी पूर्व पर्यायका कार्य होनेसे कार्यरूप है क्योंकि मृत्पिण्ड घटकार्यका उपादान कारण होता है । इस तरह अनेकान्तरूप परिणामी नित्य द्रव्यमें कार्य-कारणभाव नियमसे बन जाता है ॥ २३० ॥ आगे अनादिनिधन जीवमें कार्यकारणभावको दृढ करते हैं ॥ **अर्थ–**जीव द्रव्य अनादि निधन है । किन्तु वह नवीन नवीन पर्यायरूप परिणमन करता हुआ प्रथम तो अपनी सामग्रीसे युक्त होता है, पीछे कार्योंको करता है ॥ **भावार्थ–**जीव द्रव्य अनादि और अनन्त है अर्थात् न उसकी आदि है और न अन्त है । परन्तु अनादि अनन्त होते हुए भी वह सर्वथा नित्य नहीं है, किन्तु उसमें प्रति समय नई नई पर्याय उत्पन्न होती रहती हैं । नई नई पर्यायोंको उत्पन्न करनेके लिये प्रथम वह जीव द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव आदि रूप सामग्री से युक्त होता है फिर नई नई

---

१ ब अणाय- । २ ब वि ।

परिणमिष्यमाणः (?) सन् सामग्रीषु जिनाचारसद्व्रतधारणसामायिकधर्मध्यानादिलक्षणासु प्रवर्तमानः पश्चात् देवादिपर्यायान् समाश्रयति, तथा कश्चिज्जीवः नरनारकतिर्यक्पर्यायं परिणमिष्यमाणः सन् पुण्यपापादिसप्तव्यसनबह्वारम्भपरिग्रहादिमायाकूटकपटच्छलच्छद्मादिसामग्रीषु प्रवर्तमानः पश्चात् नरनारकतिर्यक्पर्यायान् प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २३१ ॥ अथ जीवः स्वद्रव्यस्वक्षेत्रस्वकालस्वभावेषु स्थितः एव कार्यं विदधाति इत्यावेदयति–

स-सरूवत्थो जीवो कज्जं साहेदि वट्टमाणं पि ।
खेत्ते[1] एक्कम्मि[2] ठिदो णिय-दव्वे संठिदो चेव ॥ २३२ ॥

[छाया–स्वस्वरूपस्थः जीवः कार्यं साधयति वर्तमानम् अपि । क्षेत्रे एकस्मिन् स्थितः निजद्रव्ये संस्थितः चैव ॥] जीवः इन्द्रियादिद्रव्यप्राणैः सुखसत्ताचैतन्यबोधभावप्राणैश्चाजिजीवत् जीवति जीविष्यतीति जीवः कार्यं नूतननूतननरनारकादिपर्यायं वर्तमानम्, अपिशब्दादतीतानागतं च, कार्यं साधयति निर्मिनोति निर्मापयति निष्पादयतीत्यर्थः । कथंभूतो जीवः । निजे द्रव्ये संस्थितः चेतनाविष्टस्वात्मद्रव्ये स्थितिं प्राप्तः सन् नात्मान्तरद्रव्ये संस्थित एवकारार्थः । एकस्मिन्नेव

पर्यायोंको उत्पन्न करता है । जैसे, कोई जीव देव पर्यायरूप परिणमन करनेके लिये पहले समीचीन व्रतोंका धारण, सामायिक, धर्मध्यान आदि सामग्रीको अपनाता है पीछे वर्तमान पर्यायको छोड़कर देवपर्याय धारण करता है । कोई जीव नारकी अथवा तिर्यञ्च पर्यायरूप परिणमन करनेके लिये पहले सात व्यसन, बहुत आरम्भ, बहुत परिग्रह, मायाचार कपट छल छद्म वगैरह सामग्रीको अपनाता है पीछे नारकी अथवा तिर्यञ्च पर्याय धारण करता है । इस तरह अनादि निधन जीवमें भी कार्यकारणभाव बन जाता है ॥ २३१ ॥ आगे कहते हैं कि जीव स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावमें स्थित रहकर ही कार्यको करता है । **अर्थ**–स्वरूपमें, स्वक्षेत्रमें, स्वद्रव्यमें और स्वकालमें स्थित जीव ही अपने पर्यायरूप कार्यको करता है ॥ **भावार्थ**–जो इन्द्रिय आदि द्रव्यप्राणोंसे या सुख सत्ता चैतन्य और ज्ञानरूप भाव प्राणोंसे जीता है, जिया था अथवा जियेगा उसे जीव कहते हैं । वह जीव नवीन नवीन नर नारक आदि रूप वर्तमान पर्यायका और 'अपि' शब्दसे अतीत और अनागत पर्यायोंका कर्ता है । अर्थात् वह स्वयं ही अपनी पर्यायोंको उत्पन्न करता है । किन्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावमें स्थित होकर ही जीव अपनी पर्यायको उत्पन्न करता है । अर्थात् अपने चैतन्य स्वरूप आत्मद्रव्यमें स्थित जीव ही अपने कार्यको करता है, आत्मान्तरमें स्थित हुआ जीव स्वकार्यको नहीं करता । अपनी आत्मासे अवष्टब्ध क्षेत्रमें स्थित जीवही स्वकार्यको करता है, अन्य क्षेत्रमें स्थित जीव स्वकार्यको नहीं करता । अपने ज्ञान, दर्शन, सुख, सत्ता आदि स्वरूपमें स्थित जीवही अपनी पर्यायको करता है, पुद्गल आदि स्वभावान्तरमें स्थित जीव अपनी पर्यायको नहीं करता । तथा स्वकालमें वर्तमान जीव ही अपनी पर्यायको करता है, परकालमें वर्तमान जीव स्वकार्यको नहीं करता । आशय यह है कि प्रत्येक वस्तुका वस्तुपना दो बातोंपर निर्भर है– एक वह स्वरूपको अपनाये, दूसरे वह पररूपको न अपनाये । इन दोनोंके विना वस्तुका वस्तुत्व कायम नहीं रह सकता । जैसे, स्वरूपकी तरह यदि पररूपसे भी वस्तुको सत् माना जायेगा तो चेतन अचेतन हो जायेगा । तथा पररूपकी तरह यदि स्वरूपसे भी वस्तुको असत् माना जायेगा तो वस्तु सर्वथा शून्य हो जायेगी । स्वद्रव्यकी तरह परद्रव्यसे भी यदि वस्तुको सत् माना

१ लमसग खित्ते । २ ब लसग एक्कम्मि ।

क्षेत्रे स्वात्मावष्टब्धक्षेत्रशरीरे नान्यत्क्षेत्रान्तरे । पुनः कथंभूतः । स्वस्वरूपस्थः स्वस्वरूपे ज्ञानदर्शनसुखसत्तादिस्वस्वरूपे स्थित एव, न परस्वरूपे स्थितः, न पुद्गलादिस्वभावान्तरे स्थितः । अपिशब्दात् स्वकाले वर्तमान एव न तु परकाले । अत एव स्वद्रव्यस्वक्षेत्रस्वकालस्वभावेषु स्थित एवात्मा स्वस्वपर्यायादिलक्षणानि कार्याणि करोतीति तात्पर्यम् ॥ २३२ ॥ ननु यथा स्वस्वरूपस्थो जीवः कार्याणि कुर्यात् तथा परस्वरूपस्थोऽपि किं न कुर्यादिति परोक्तिं दूषयति–

स-सरूवत्थो जीवो अण्ण-सरूवम्मि[1] गच्छदे जदि हि ।
अण्णोण्ण-मेलणादो एक्क[2]-सरूवं हवे सव्वं ॥ २३३ ॥

[छाया–स्वस्वरूपस्थः जीवः अन्यस्वरूपे गच्छेत् यदि हि । अन्योन्यमेलनात् एकस्वरूपं भवेत् सर्वम् ॥] हीति स्फुटम् । जीवः आत्मा स्वस्वरूपस्थः चेतनादिलक्षणे स्वस्वरूपे स्थितः सन्, अन्यस्वरूपे पुद्गलादीनामचेतनस्वभावे गच्छेत्

जायेगा तो द्रव्योंकी निश्चित संख्या नहीं रहेगी । तथा परद्रव्यकी तरह स्वद्रव्यकी अपेक्षाभी यदि वस्तुको असत् माना जायेगा तो सब द्रव्य निराश्रय हो जायेंगे । तथा स्वक्षेत्रकी तरह परक्षेत्रसे भी यदि वस्तुको सत् माना जायेगा तो किसी वस्तुका प्रतिनियत क्षेत्र नहीं रहेगा । और पर क्षेत्रकी तरह स्वक्षेत्रसे भी यदि वस्तुको असत् माना जायेगा तो वस्तु निःक्षेत्र हो जायेगी । तथा स्वकालकी तरह परकालसे भी यदि वस्तुको सत् माना जायेगी तो वस्तुका कोई प्रतिनियत काल नहीं रहेगा । और परकालकी तरह स्वकालसे भी यदि वस्तुको असत् माना जायेगा तो वस्तु किसी भी कालमें नहीं रहेगी । अतः प्रत्येक वस्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावमें स्थित रहकर ही कार्यकारी होती है । सारांश यह है कि प्रत्येक वस्तु चार भागोंमें विभाजित है । वे चार भाग हैं द्रव्य, द्रव्यांश, गुण और गुणांश । [इन चारोंकी विशेष चर्चाके लिये पञ्चाध्यायी पढ़ना चाहिये । अनु० ।] अनन्त गुणोंके अखण्ड पिण्डको तो द्रव्य कहते हैं । उस अखण्ड पिण्डरूप द्रव्यकी प्रदेशोंकी अपेक्षा जो अंश कल्पना की जाती है उसे द्रव्यांश कहते हैं । द्रव्यमें रहनेवाले गुणोंको गुण कहते हैं । और उन गुणोंके अंशोंको गुणांश कहते हैं । प्रत्येक वस्तुमें ये ही चार बातें होती हैं । इनको छोड़कर वस्तु और कुछ भी नहीं है । इन्हीं चारोंकी अपेक्षा एक वस्तु दूसरी वस्तुसे जुदी मानी जाती है । इन्हें ही स्वचतुष्टय कहते हैं । स्वचतुष्टयसे स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव लिये जाते हैं । अनन्त गुणोंका अखण्ड पिण्डरूप जो द्रव्य है वही स्वद्रव्य है । वह द्रव्य अपने जिन प्रदेशोंमें स्थित है वही उसका स्वक्षेत्र है । उसमें रहनेवाले गुणही उसका स्वभाव है । और उन गुणोंकी पर्याय ही स्वकाल है । अर्थात् द्रव्य, द्रव्यांश, गुण और गुणांश ही वस्तुके स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव हैं । वस्तुका स्वद्रव्य उसके अनन्तगुण रूप अखण्ड पिण्डके सिवा दूसरा नहीं है । वस्तुका क्षेत्र उसके प्रदेशही हैं, न कि जहां वह रहती है । उस वस्तुके गुण ही उसका स्वभाव हैं और उन गुणोंकी कालक्रमसे होनेवाली पर्याय ही उसका स्वकाल है । प्रत्येक वस्तुका यह स्वचतुष्टय जुदा जुदा है । इस स्वचतुष्टयमें स्थित द्रव्य ही अपनी अपनी पर्यायोंको करता है ॥ २३२ ॥ जैसे स्वरूपमें स्थित जीव कार्यको करता है वैसे पररूपमें स्थित जीव कार्यको क्यों नहीं करता ? इस शङ्काका समाधान करते हैं । **अर्थ**–यदि स्वरूपमें स्थित जीव परस्वरूपमें चला जावे तो परस्परमें मिलजानेसे सब द्रव्य एक

---

१ ल सरूवम्हि । २ ब स एक, म इक (?) ।

प्राप्नुयात् परद्रव्यक्षेत्रकालभावचतुष्टयस्वरूपं प्राप्नुयादिति यदि चेत्तर्हि सर्वं द्रव्यम् अन्योन्यसंश्लेषात् एकस्वरूपं भवेत्। यदि चेतनद्रव्यम् अचेतनरूपेण परिणमति, अचेतनद्रव्यं चेतनद्रव्येण परिणमति, तदा सर्वं द्रव्यम् एकात्मकम् एकस्वरूपं स्यात्। तथा चोक्तम्। 'सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृते। नोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रो नाभिधावति' ॥ २३३ ॥ अथ ब्रह्माद्वैतवादिनं दूषयति-

अहवा बंभ-सरूवं एक्कं सव्वं पि मण्णदे[1] जदि हि।
चंडाल-बंभणाणं तो ण विसेसो हवे को वि[2] ॥ २३४ ॥

[छाया-अथवा ब्रह्मस्वरूपम् एकं सर्वम् अपि मन्यते यदि हि। चाण्डालब्राह्मणानां ततः न विशेषः भवेत् कः अपि ॥] अथवा सर्वमपि जगत् ब्रह्मस्वरूपम् एकं मन्यते, एकमेव ब्रह्ममयं विश्वं स्वीकुरुते। 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।' 'नेह नानास्ति किंचन।' 'आरामं तस्य पश्यति न तं पश्यति कश्चन।' इति श्रुतेः। इति सर्वं ब्रह्ममयं च यदि चेत् मन्यते तो तर्हि तेषां ब्रह्माद्वैतवादिनां कोऽपि चाण्डालब्राह्मणानां विशेषो न भवेत्। यदि चाण्डालोऽपि ब्रह्ममयः ब्राह्मणोऽपि चाण्डालमयः तर्हि तयोर्भेदः कथमपि न स्यात्। अथ अविद्यापरिकल्पितोऽयं भेद इति चेन्न, साविद्या ब्रह्मणः सकाशात् भिन्नाऽभिन्ना वा, एकानेका, सद्रूपासद्रूपा वा, इत्यादिस्वरूपेण विचार्यमाणा न व्यवतिष्ठते ॥ २३४ ॥ अथातो व्यापकं द्रव्यं मा भवतु, अणुमात्रं तत्त्वं भविष्यतीति वादिनं निराकरोति ॥

अणु-परिमाणं तच्चं अंस-विहीणं च मण्णदे जदि हि।
तो संबंध-अभावो[3] तत्तो वि ण कज्ज-संसिद्धी[4] ॥ २३५ ॥

स्वरूप होजायेंगे ॥ **भावार्थ**-यदि अपने चैतन्य स्वरूपमें स्थित जीव चैतन्य स्वरूपको छोड़कर पुद्गल आदि द्रव्योंके अचेतन स्वरूप हो जाये अर्थात् परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और पर भावको अपनाले तो सब द्रव्योंका कोई निश्चित स्वरूप न होनेसे सब एकरूप होजायेंगे। चेतन द्रव्य अचेतन रूप होजायेगा और अचेतन द्रव्य चेतन रूप होजायेगा और ऐसा होनेसे जब सब वस्तु सब रूप होजायेंगी और किसी वस्तुका कोई विशेष धर्म नहीं रहेगा तो किसी मनुष्यसे यह कहनेपर कि 'दही खाओ' वह ऊंटको भी खानेके लीये दौड़ पड़ेगा। क्यों कि उस अवस्थामें दही और ऊंटमें कोई भेद नहीं रहेगा। अतः स्वरूपमें स्थित वस्तु ही कार्यकारी है ॥ २३३ ॥ आगे ब्रह्माद्वैतवादमें दूषण देते हैं। **अर्थ**-अथवा यदि सभी वस्तुओंको एक ब्रह्म स्वरूप माना जायेगा तो चाण्डाल और ब्राह्मणमें कोई भेद नहीं रहेगा। **भावार्थ**-ब्रह्माद्वैतवादी समस्त जगतको एक ब्रह्मस्वरूप मानते हैं। श्रुतिमें लिखा हैं-'इस जगतमें एक ब्रह्म ही है, नानात्व बिल्कुल नही है। सब उस ब्रह्मकी पर्यायोंको ही देखते हैं। किन्तु उसे कोई नहीं देखता'। इस प्रकार यदि समस्त जगत एक ब्रह्ममय है तो चाण्डाल और ब्राह्मणमें कोई भेद नहीं रहेगा क्योंकि ब्राह्मण भी ब्रह्ममय है और चाण्डाल भी ब्रह्ममय है। शायद कहा जाये कि यह भेद अविद्याके द्वारा कल्पित है, वास्तविक नहीं है। तो वह अविद्या ब्रह्मसे भिन्न है अथवा अभिन्न है, एक है अथवा अनेक है, सद्रूप है अथवा असद्रूप है इत्यादि अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं। यदि अविद्या ब्रह्मसे भिन्न है तो अद्वैतवाद नहीं रहता और यदि अविद्या ब्रह्मसे अभिन्न है तो ब्रह्म भी अविद्याकी तरह काल्पनिकही ठहरेगा। तथा अद्वैतवादमें कर्ता कर्म पुण्य पाप, इहलोक परलोक, बन्ध मोक्ष, विद्या अविद्या आदि भेद नहीं बन सकते। अतः जगत्को सर्वथा एक रूप मानना उचित नहीं है ॥ २३४ ॥ कोई कहता है कि एक व्यापक द्रव्य न

१ ब मण्णिदे, स मण्णइ। २ ल ग कोइ। ३ ल म स ग संबंधाभावो। ४ ल स ग संसिद्धि।

[छाया-अणुपरिमाणं तत्त्वम् अंशविहीनं च मन्यते यदि हि । तत् संबन्धाभावः ततः अपि न कार्यसंसिद्धिः ॥] हीति स्फुटम् । यदि तत्त्वं जीवादिवस्तु । किंभूतम् । अणुपरिमाणं परमाणुमात्रम् । पुनः किंभूतं जीवतत्त्वम् । अंशविहीनं, निरंशं खण्डरहितं मन्यते अङ्गीक्रियते भवद्भिः, तो तर्हि संबन्धाभावः आत्मनः सर्वाङ्गेण सह संबन्धो न स्यात्, अथ संबन्धो मा भवतु, तर्हि सर्वाङ्गे जायमानं सुखं दुःखं वेदनास्पर्शनादिजं ज्ञानं कथमनुभवत्यात्मा, तत्तो ततः संबन्धाभावात् कार्यसंसिद्धिरपि कार्याणां सुखदुःखपुण्यपापेहलोकपरलोकादिलक्षणानां संसिद्धिः प्राप्तिः निष्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा न भवेत् । आत्मनः शरीरात् सर्वथा भिन्नत्वात् । शरीरेण क्रियमाणानां यजनयाजनाध्ययनाध्यापनदानतपश्चरणादीनां अत्यन्तभिन्नत्वात् । ततः क्रियमाणफलं आत्मनः लभते इति सर्वं सुस्थम् ॥ २३५ ॥ अथ द्रव्यस्य एकत्वमनेकत्वं निश्चिनोति-

सवाणं दवाणं दव-सरूवेण होदि एयत्तं ।
णिय-णिय-गुण-भेएण हि सवाणि वि होंति भिण्णाणि ॥ २३६ ॥

[छाया-सर्वेषां द्रव्याणां द्रव्यस्वरूपेण भवति एकत्वम् । निजनिजगुणभेदेन हि सर्वाणि अपि भवन्ति भिन्नानि ॥] निजनिजप्रदेशसमूहैरखण्डवृत्त्या स्वभावविभावपर्यायान् द्रवन्ति द्रोष्यन्ति अदुद्रुवन्निति द्रव्याणि । सर्वेषां द्रव्याणां जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकालानां पदार्थानां वस्तूनां द्रव्यस्वरूपेण द्रव्यत्वेन गुणपर्यायेण सह एकत्वं भवति, कथंचित् अभिन्नत्वं स्यात् । यथा मृद्रव्यस्य घटादिपर्यायः रूपादिगुणः तौ द्वौ घटात् पृथक्कर्तुं न शक्यते । तेषां मृद्रव्यघटरूपादीनां स्यादेकत्वम् । तथा जीवद्रव्यादीनां ज्ञातव्यम् । सर्वाण्यपि द्रव्याणि सत्तापेक्षया द्रव्यत्वसामान्यापेक्षया च एकानि अपि पुनः सर्वाण्यपि द्रव्याणि निजनिजगुणभेदेन कथंचिद्भिन्नानि पृथग्भूतानि भवन्ति । अथवा सर्वाण्यपि द्रव्याणि चेतनाचेतनादिभिर्गुणैः कथंचित्परस्परं भिन्नानि भवन्ति । यथा मृद्रव्यं भिन्नम्, घटपर्यायो भिन्नः, रूपादिगुणो भिन्नः । अन्यथा इदं मृद्रव्यम्, अयं घटः, अयं रूपादिगुणः इति वक्तुं न पार्यते । इति तेषां स्याद्भिन्नत्वम् । तथा च सहभुवो

मानकर यदि तत्त्वको अणुरूप माना जाये तो क्या हानि है ? उसका निराकरण करते हैं । **अर्थ-** यदि अणुपरिमाण निरंश तत्त्व माना जायेगा तो सम्बन्धका अभाव होनेसे उससे भी कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥ **भावार्थ-**यदि आत्माको निरंश और एक परमाणुके बराबर माना जायेगा तो अणु बराबर आत्माका समस्त शरीरके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकेगा । और समस्त शरीरके साथ सम्बन्ध न होनेसे सर्वाङ्गमें होनेवाले सुख दुःख आदिका ज्ञान आत्माको नहीं हो सकेगा । तथा उसके न होनेसे सुख, दुःख, पुण्य, पाप, इहलोक परलोक आदि नहीं बनेंगे । क्योंकि आत्मा शरीरसे किये जाने वाले पूजन पाठ, पठन पाठन, तपश्चरण वगैरहका अनुभव नहीं कर सकता । अतः उनका फल भी उसे नहीं मिल सकता ॥ २३५ ॥ आगे द्रव्यको एक और अनेक सिद्ध करते हैं । **अर्थ-** द्रव्यरूपकी अपेक्षा सभी द्रव्य एक हैं । और अपने अपने गुणोंके भेदसे सभी द्रव्य अनेक हैं ॥ **भावार्थ-**जो अपने गुण पर्यायोंको प्राप्त करता है, प्राप्त करेगा और प्राप्त करता था उसे द्रव्य कहते हैं । वे द्रव्य छै हैं-जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । सभी द्रव्य द्रव्यरूपसे एक एक हैं, जैसे घटादि पर्याय और रूपादि गुणोंका समुदाय रूप मृद्रव्य मिट्टीरूपसे एक है । इसी तरह जीवादि सब द्रव्योंको द्रव्यरूपसे एक जानना चाहिये । तथा सभी द्रव्य अपने २ गुण पर्यायोंके भेदसे नाना हैं क्योंकि प्रत्येक द्रव्यमें अनेक गुण और पर्याय होती हैं । जैसे मृद्रव्य घटादि पर्यायों और रूपादि गुणोंके भेदसे अनेक रूप हैं । यदि द्रव्य गुण और पर्यायमें भेद न होता तो यह मिट्टी है, यह घट है और ये रूपादि गुण हैं' ऐसा भेदव्यवहार नहीं हो सकता था । अतः

गुणाः। गुण्यते पृथक्क्रियते द्रव्यं द्रव्यात् यैस्ते गुणाः। जीवस्य चैतन्यज्ञानादिगुणः, पुद्गलस्य रूपरसगन्धस्पर्शादिगुणः, धर्मस्य गतिलक्षणो गुणः, अधर्मस्य स्थितिलक्षणो गुणः, आकाशस्य अवकाशदानगुणः, कालस्य नवजीर्णतादिगुणः। स्वस्वगुणभेदेन पृथक्त्वेन षड्द्रव्याणि पृथग्भूतानि भवन्तीत्यर्थः॥ २३६॥ अथ द्रव्यस्य गुणपर्यायस्वभावत्वं दर्शयति-

जो अत्थो पडिसमयं उप्पाद-वय-धुवत्त-सब्भावो।
गुण-पज्जय-परिणामो[1] सो संतो[2] भण्णदे समए॥ २३७॥

[छाया-यः अर्थः प्रतिसमयम् उत्पादव्ययध्रुवत्वस्वभावः। गुणपर्यायपरिणामः स सत् भण्यते समये॥] यः अर्थः जीवपुद्गलादिपदार्थः वस्तु द्रव्यं, प्रतिसमयं समयं समयं प्रति, उत्पादव्ययध्रौव्यैः सद्भावः अस्तित्वं स अर्थः पदार्थः वस्तु द्रव्यं समये सिद्धान्ते गुणपर्यायपरिणामः गुणपर्यायात्मकः सन्तो सत् सद्रूपः भण्यते कथ्यते। सद्द्रव्यलक्षणं सीदति स्वकीयान् गुणपर्यायान् व्याप्नोति इति सत्। 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'। तथा सूत्रोक्तं च। चेतनद्रव्यस्य अचेतनद्रव्यस्य वा निजां जातिम् अमुञ्चतः कारणवशात् भवान्तरप्राप्तिः उत्पादनम् उत्पादः। यथा मृत्पिण्डविघटने घटपर्याय उत्पद्यते। पूर्वभावस्य व्ययनं विगमनं विनशनं व्ययः उच्यते। यथा घटपर्यायोत्पत्तौ सत्यां मृत्पिण्डाकारस्य व्ययो भवति। अनादि-पारिणामिकस्वभावेन निश्चयनयेन वस्तु न व्येति न चोदेति किंतु ध्रुवति स्थिरीसंपद्यते यः स ध्रुवः, तस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यमुच्यते। यथा मृत्पिण्डस्य व्ययेऽपि घटपर्यायोत्पत्तावपि मृत्तिका मृत्तिकान्वयं न मुञ्चति, एवं पर्यायस्योत्पादे व्यये च जातेऽपि सति वस्तु ध्रुवत्वं न मुञ्चति। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं गुणपर्यायात्मकं गुणाः ज्ञानादयः पर्यायाः पूर्वभावं मुक्त्वा उत्तरं भावं प्राप्ताः तत्स्वरूपं द्रव्यं कथ्यते। तथा च शुद्धजीवः स्वयमेव द्रव्यं द्रव्यभावकर्मनोकर्मरहितः केवल-ज्ञानदर्शनशुद्धगुणः लोकप्रमाणोऽखण्डप्रदेशशुद्धपर्यायः, उत्पादः अगुरुलघुगुणस्य षड्गुणवृद्ध्या, व्ययः तस्य षड्गुणहान्या च ध्रुवः स्वभावेन शाश्वतः, अशुद्धजीवः संसारी कर्मादियुक्तः स्वयमेव द्रव्यं मतिज्ञानादिगुणः कुमत्यादिअशुद्धगुणः नरनारकादिपर्यायः पूर्वशरीरं मुक्त्वा उत्तरशरीरं गृह्णाति उत्पादः, त्यक्तमनुष्यादिशरीरः व्ययः, द्रव्यत्वे ध्रौव्यं च। सिद्धः निष्कलो द्रव्यं, सम्यक्त्वाद्यष्टगुणः किंचिदूनचरमशरीरप्रमाणपर्यायः, उत्पादः अगुरुलघुगुणस्य षड्गुणवृद्ध्या, व्ययः तस्य षड्गुणहान्या, ध्रौव्यं द्रव्यस्वभावेन शाश्वतः। शुद्धपुद्गलद्रव्यम् अविभागी परमाणुः, स्पर्शरसगन्धवर्णलक्षणो गुणः,

---

द्रव्यमें और गुण पर्यायमें कथंचित भेद और कथंचित् अभेद होता है। इस लिये द्रव्यसे अभिन्न होनेके कारण गुण पर्यायभी एकरूप होते हैं। और गुण पर्यायोंसे अभिन्न होनेके करण द्रव्य अनेक होता है॥ २३६॥ आगे द्रव्यको गुणपर्याय स्वभाववाला बतलाते हैं। **अर्थ**-जो वस्तु प्रतिसमय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव है उसे ही आगममें गुणपर्याय वाली और सत् कहा है॥ **भावार्थ**-तत्त्वार्थ सूत्रमें द्रव्यका लक्षण सत् कहा है। जो सत् है वही द्रव्य है। तथा सत् का लक्षण उत्पाद व्यय और ध्रौव्य बतलाया है यानी जो प्रतिसमय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त होता है वही सत् है। अपनी जातिको न छोड़ते हुए चेतन अथवा अचेतन द्रव्यमें कारणोंकी वजहसे जो नई पर्याय उत्पन्न होती है उसे उत्पाद कहते हैं। जैसे मिट्टीका पिण्ड अपनी जाति मिट्टीपनेको न छोड़ते हुए दण्ड, चक्र और कुम्हारका संयोग मिलनेपर पिण्ड पर्यायको छोड़कर घट पर्यायको अपनाता है। पूर्व पर्यायके नष्ट होनेको व्यय कहते हैं। जैसे मृत्पिण्डमें घट पर्यायके उत्पन्न होनेपर पिण्ड पर्याय नष्ट हो जाती है। और मूल तत्त्वके स्थिर रहनेको ध्रुव कहते हैं और ध्रुवके भावका नाम ध्रौव्य है। जैसे मिट्टीपना पिण्ड अवस्थाकी तरह घट अवस्थामें भी कायम रहता है। ये उत्पाद व्यय और ध्रौव्य प्रत्येक द्रव्यमें प्रति समय होते हैं। तथा द्रव्यका दूसरा लक्षण गुण पर्याय वाला है। जो गुण और पर्याय वाला होता है वही द्रव्य है। ये

---

१ क ग परिणामो संतो भण्णते। २ म सत्तो।

द्यणुकादिस्कन्धः पर्यायः। यत्परमाणूनामेकत्र मिलनं स उत्पादः, यत्परमाणूनां पृथग्भवनं स व्ययः। स्कन्धोत्पत्तिविनाशौ उत्पादव्ययौ इत्यर्थः। पृथक्परमाणुस्वरूपेण ध्रौव्यम्। धर्मः द्रव्यं, स्वयमेव गतिसहायलक्षणो गुणः, लोकप्रमाणपर्यायः, पुद्गलजीवयोः गत्या उत्पादः, तयोः स्थित्या व्ययः, द्रव्यत्वेन ध्रौव्यम्, अथवा अगुरुलघुगुणस्य षड्गुणहान्या वृद्ध्या च उत्पादव्ययाविति। अधर्मः द्रव्यम्, स्थितिसहायलक्षणो गुणः, लोकप्रमाणपर्यायः, पुद्गलजीवयोः स्थित्या उत्पादः, तयोर्जीवपुद्गलयोः गत्या व्ययः, द्रव्यत्वेन ध्रुवत्वम्, अथवा अगुरुलघुगुणस्य षड्गुणहान्या वृद्ध्या च उत्पादव्ययौ। आकाशं द्रव्यम्, स्वयम् अवकाशदानलक्षणो गुणः लोकेऽलोके च व्याप्तित्वपर्यायः, घटाद्याकाशस्य उत्पादः, तदा पटाद्याकाशस्य व्ययः, द्रव्यत्वेन ध्रौव्यम् अथवा अगुरुलघुगुणस्य षड्गुणहानिवृद्ध्या उत्पादव्ययौ। कालः द्रव्यं कालाणुरूपः, नवजीर्णताकरणलक्षणो गुणः, समयमुहूर्तदिनपक्षमासवर्षादिरूपः पर्यायः, एकसमयोत्पत्तौ उत्पादः, उत्पादपूर्वसमये गते व्ययः, द्रव्यत्वेन ध्रौव्यम्, अथवा अगुरुलघुगुणस्य षड्गुणहान्या वृद्ध्या उत्पादव्ययौ इति ॥ २३७ ॥ अथ जीवादिद्रव्यस्य व्ययोत्पादौ कौ इत्युक्ते प्राह–

[1]पडिसमयं परिणामो पुव्वो णस्सेदि जायदे अण्णो।
वत्थु-विणासो पढमो उववादो भण्णदे बिदिओ[2] ॥ २३८ ॥

[छाया–प्रतिसमयं परिणामः पूर्वः नश्यति जायते अन्यः। वस्तुविनाशः प्रथमः उपपादः भण्यते द्वितीयः ॥] प्रतिसमयं समयं समयं प्रति, परिणामः पूर्वः पूर्वपरिणामः प्रथमपर्यायः, यथा मृद्द्रव्यस्य घटलक्षणः नश्यति विनश्यति अन्यः द्वितीयः परिणामः पर्यायः कपालमालादिलक्षणः जायते उत्पद्यते, तत्र तयोर्मध्ये प्रथमः आद्यो वस्तुविनाशः व्यय इत्यर्थः। ननु वस्तुनो विनाशः तर्हि सौगतमतप्रसंगः स्यात् इति चेन्न। वस्तुशब्देन वस्तुपर्यायस्यैव ग्रहणात्, पर्यायपर्यायिणोरभेदोपचारात् उत्पत्तिलक्षणः द्वितीयः उत्पादो भण्यते। पूर्वभावस्य व्ययनं विगमनं विनशनं व्ययः, द्रव्यस्य निजां जातिमजहतः निमित्तवशात् भावान्तरप्राप्तिः उत्पादनम् उत्पादः इति द्वयोर्निरुक्तिः ॥२३८॥ अथ द्रव्यस्य ध्रुवत्वं निश्चिनोति–

दोनों लक्षण वास्तवमें दो नहीं हैं किन्तु दो तरहसे एकही बातको कहते हैं। गुण और पर्यायोंके समुदायका नाम द्रव्य है। यदि प्रत्येक द्रव्यसे उसके गुण और पर्यायोंको किसी रीतिसे अलग किया जा सके तो कुछ भी शेष न रहेगा। अतः गुण और पर्यायोंके अखण्ड पिण्डका नाम ही द्रव्य है। उसमें गुण ध्रुव होते हैं और पर्याय एक जाती और एक आती है। जैसे सोनेके कड़े अंगूठी और हार वगैरह जेवर बनानेपर भी उसका पीतता गुण कायम रहता है और कड़ा पर्याय नष्ट होकर अंगूठी पर्याय उत्पन्न होती है तथा अंगूठी पर्यायको नष्ट करके हार आदि पर्याय उत्पन्न होती है। अतः द्रव्य गुणवाला होता है या द्रव्य ध्रुव होता है ऐसा कहनेमें कोई अन्तर नहीं है। इसी तरह द्रव्य पर्यायवाला होता है अथवा उत्पादव्ययुक्त द्रव्य होता है इस कथनोंमें भी कोई अन्तर नहीं है। इसीसे ग्रन्थकारने यह कहा है कि जो द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव है वही गुणपर्याय स्वभाव है ॥ २३७ ॥ आगे द्रव्योंमें उत्पाद व्ययको बतलाते हैं। **अर्थ–**प्रति समय वस्तुमें पूर्व पर्यायका नाश होता है और अन्य पर्यायकी उत्पत्ति होती है। इनमेंसे पूर्व परिणामरूप वस्तुका नाश तो व्यय है और अन्य परिणामरूप वस्तुका उत्पन्न होना उत्पाद है। **भावार्थ–**वस्तु तो न उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है। किन्तु वस्तुकी पर्याय नष्ट होती और उत्पन्न होती है। तथा पर्याय वस्तुसे अभिन्न है इसलिये पर्यायके नाश और उत्पादको वस्तुका नाश और उत्पाद कहा

---

[1] ब–पुस्तके णउ उप्पज्जदि इत्यादि गाथा प्रथम तदनन्तरं पडिसमयं इत्यादि। [2] ब भण्णइ विदिउ।

णो[1] उप्पज्जदि जीवो दव्व-सरूवेण णेव[2] णस्सेदि।
तं चेव दव्व-मित्तं णिच्चत्तं जाण[3] जीवस्स ॥ २३९ ॥

[छाया-न उत्पद्यते जीवः द्रव्यस्वरूपेण नैव नश्यति। तत् एव द्रव्यमात्रं नित्यत्वं जानीहि जीवस्य ॥] जाण जानीहि, जीवस्य आत्मनः तं चेव तदेव द्रव्यमात्रं सत्तास्वरूपं नित्यत्वं ध्रुवत्वं विद्धि त्वम्। जीवः द्रव्यस्वरूपेण सत्ता-स्वरूपेण ध्रुवत्वेन जीवत्वेन पारिणामिकभावेन वा न उत्पद्यते न च नश्यति। उत्पादव्ययौ जीवस्य भण्येते चेत् तर्हि नूतनतत्त्वोत्पत्तिः स्वाङ्गीकृततत्त्वविनाशश्च जायते इति तात्पर्यम्। अनादिपारिणामिकभावेन निश्चयनयेन वस्तु न व्येति न चोदेति किंतु ध्रुवति स्थिरीसंपद्यते यः स ध्रुवः तस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यम् इति ॥ २३९ ॥ अथ द्रव्यपर्याययोः स्वरूपं व्यनक्ति-

अण्णइ-रूवं दव्वं विसेस-रूवो हवेइ पज्जावो[4]।
दव्वं पि विसेसेण हि उप्पज्जदि णस्सदे सददं ॥ २४० ॥

[छाया-अन्वयिरूपं द्रव्यं विशेषरूपः भवति पर्यायः। द्रव्यम् अपि विशेषेण हि उत्पद्यते नश्यति सततम् ॥] द्रव्यं जीवादिवस्तु अन्वयिरूपम् अन्वयाः नरनारकादिपर्यायाः विद्यन्ते यस्य तत् अन्वयि तदेव रूपं स्वरूपं यस्य तत्। तथोक्तम्। द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवत् स्वगुणपर्यायान् इति द्रव्यम्। स्वभावविभावपर्यायरूपतया परि समन्तात् याति परि· गच्छति परिप्राप्नोति परिणमतीति यः स पर्यायः स्वभावविभावपर्यायरूपतया परिप्राप्तिरित्यर्थः। अथवा पर्येति समये

जाता है ॥ २३८ ॥ आगे द्रव्योंमें ध्रुवत्वको बतलाते हैं। **अर्थ**-द्रव्य रूपसे जीव न तो नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है अतः द्रव्यरूपसे जीवको नित्य जानो ॥ **भावार्थ**-जीव द्रव्य अथवा कोई भी द्रव्य न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। यदि द्रव्यका नाश और द्रव्यका ही उत्पाद माना जाये तो माने गये छै द्रव्योंका नाश हो जायेगा और अनेक नये नये द्रव्य उत्पन्न हो जायेंगे। अतः अपने अनादि पारिणामिक स्वभावसे न तो कोई द्रव्य नष्ट होता है और न कोई नया द्रव्य उत्पन्न होता है। किन्तु सब द्रव्य स्थिर रहते हैं। इसीका नाम ध्रौव्य है। जैसे मृत्पिण्डका नाश और घट पर्यायकी उत्पत्ति होने पर भी मिट्टी ध्रुव रहती है। इसी तरह एक पर्यायका उत्पाद और पूर्व पर्यायका नाश होनेपर भी वस्तु ध्रुव रहती है। यह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ही द्रव्यका स्वरूप है ॥ २३९ ॥ आगे द्रव्य और पर्यायका स्वरूप बतलाते हैं। **अर्थ**-वस्तुके अन्वयीरूपको द्रव्य कहते हैं और विशेषरूपको पर्याय कहते हैं। विशेष रूपकी अपेक्षा द्रव्य भी निरन्तर उत्पन्न होता और विनष्ट होता है ॥ **भावार्थ**-वस्तुकी प्रत्येक दशामें जो रूप बराबर अनुस्यूत रहता है वही अन्वयी रूप है, और जो रूप बदलता रहता है वह विशेष रूप है। जैसे जीवकी नर नारक आदि पर्याय तो आती जाती रहती हैं और जीवत्व उन सबमें बराबर अनुस्यूत रहता है। अतः जीवत्व जीवका अन्वयी रूप है और नर नारक आदि विशेषरूप हैं। जब किसी बालकका जन्म हुआ कहा जाता है तो वह वास्तवमें मनुष्य पर्यायका जन्म होता है, किन्तु वह जन्म जीव ही लेता है इस लिये उसे जीवका जन्म कहा जाता है। वास्तवमें जीव तो अजन्मा है। इसी तरह जब कोई मरता है तो वास्तवमें उसकी वह पर्याय छूट जाती है। इसीका नाम मृत्यु है। किन्तु जीव तो सदा अमर है। अतः पर्यायकी अपेक्षा द्रव्य सदा उत्पन्न होता और विनष्ट होता है किन्तु द्रव्यत्वकी

१ ब णउ। २ ल म स ग णेय। ३ ब जाणि। ४ ल म स ग पज्जाओ (व)।

समये उत्पादं विनाशं च गच्छतीति पर्यायः वा क्रमवर्ती पर्यायः पर्यायस्य व्युत्पत्तिः । पर्यायः विशेषरूपो भवेत् । विशेष्यं द्रव्यं विशेषः पर्यायः । हीति यस्मात्, सततं निरन्तरं द्रव्यमपि विशेषेण पर्यायरूपेण उत्पद्यते विनश्यति च ॥ २४० ॥ अथ गुणस्वरूपं निरूपयति-

सरिसो जो परिणामो[1] अणाइ-णिहणो हवे गुणो सो हि[2] ।
सो सामण्ण-सरूवो उप्पज्जदि णस्सदे णेय ॥ २४१ ॥

[छाया-सदृशः यः परिणामः अनादिनिधनः भवेत् गुणः स हि । स सामान्यस्वरूपः उत्पद्यते नश्यति नैव ॥] हीति निश्चितम् । स गुणो भवेत् यः परिणामः परिणमनस्वरूपमिति यावत्, सदृशः सर्वत्र पर्यायेषु सादृश्यं गतः । कीदृक्षो गुणः । अनादिनिधनः आद्यन्तरहितः, सोऽपि च गुणः सामान्यस्वरूपः परापरविवर्तव्यापी सद्रूपः द्रव्यत्वरूपः जीवत्वादिरूपश्च स गुणः न उत्पद्यते नैव विनश्यति । यथा जीवे ज्ञानादयो गुणाः 'सहभाविनो गुणाः' इति वचनात्, तथा च जीवादिद्रव्याणां सामान्यविशेषगुणाः कथ्यन्ते ॥ अस्तित्वं १ वस्तुत्वं २ द्रव्यत्वं ३ प्रमेयत्वम् ४ अगुरुलघुत्वं ५ चेतनत्वं ६ प्रदेशत्वम् ७ अमूर्तत्वम् ८ एते अष्टौ जीवस्य सामान्यगुणाः । अनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्याणि ४ अमूर्तत्वं ५ चेतनत्वम् ६ एते षट् जीवस्य विशेषगुणाः । धर्माधर्माकाशकालानां प्रत्येकम् अस्तित्वं १ वस्तुत्वं २ द्रव्यत्वं ३ प्रमेयत्वम् ४ अगुरुलघुत्वं ५ प्रदेशत्वम् ६ अचेतनत्वम् ७ अमूर्तत्वम् ८ एते अष्टौ सामान्यगुणाः । पुद्गलानाम् अस्तित्वं १ वस्तुत्वं २ द्रव्यत्वं ३ प्रमेयत्वम् ४ अगुरुलघुत्वं ५ प्रदेशत्वम् ६ अचेतनत्वं ७ मूर्तत्वम् ८ एते अष्टौ सामान्यगुणाः ।

अपेक्षा नहीं । [यहां इतना विशेष वक्तव्य है कि टीकाकारने जो अन्वयका अर्थ नरनारकादि पर्याय किया है वह ठीक नहीं है । अनु-अय=अन्वय का अर्थ होता है वस्तुके पीछे पीछे उसकी हर हालतमें साथ रहना यह बात नारकादि पर्यायमें नहीं है किन्तु गुणोंमें पाई जाती है । इसीसे सिद्धान्तमें गुणोंको अन्वयी और पर्यायोंको व्यतिरेकी कहा है] ॥ २४० ॥ आगे गुणका स्वरूप कहते हैं । **अर्थ**-द्रव्यका जो अनादि निधन सदृश परिणाम होता है वही गुण है । वह सामान्यरूप न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है । **भावार्थ**-द्रव्य परिणमनशील है, परिणमन करना उसका स्वभाव है । किन्तु द्रव्यमें होनेवाला परिणाम दो प्रकारका है-एक सदृश परिणाम दूसरा विसदृश परिणाम । सदृश परिणामका नाम गुण है और विसदृश परिणामका नाम पर्याय है । जैसे जीव द्रव्यका चैतन्यगुण सब पर्यायोंमें पाया जाता है । मनुष्य मरकर देव हो अथवा तिर्यञ्च हो, चैतन्य परिणाम उसमें अवश्य रहता है । चैतन्य परिणामकी अपेक्षा मनुष्य, पशु वगैरह समान हैं क्योंकि चैतन्य गुण सबमें है । यह चैतन्य परिणाम अनादि निधन है, न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है । अर्थात् किसी जीवका चैतन्य परिणाम नष्ट होकर वह अजीव नहीं हो जाता और न किसी पुद्गलमें चैतन्य परिणाम उत्पन्न होनेसे वह चेतन होजाता है । इस तरह सामान्य रूपसे वह अनादि निधन है । किन्तु विशेषरूपसे चैतन्यका भी नाश और उत्पाद होता है; क्योंकि गुणोंमें भी परिणमन होता है । यहां प्रकरणवश जीवादि द्रव्योंके सामान्य और विशेष गुण कहते हैं-अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, प्रदेशत्व, मूर्तत्व और अमूर्तत्व, ये द्रव्योंके दस सामान्य गुण हैं । इनमेंसे प्रत्येक द्रव्यमें आठ आठ सामान्य गुण होते हैं; क्योंकि जीव द्रव्यमें अचेतनत्व और मूर्तत्व ये दो गुण नहीं होते, और पुद्गल द्रव्यमें चेतनत्व और अमूर्तत्व ये दो गुण नहीं होते । तथा धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्यमें चेतनत्व

१ ब सरिसउऽजो प°, स °सो परिणामो जो । २ ब वि ।

स्पर्शरसगन्धवर्णाः ४ अचेतनत्वं ५ मूर्तत्वं ६ पुद्गलस्य विशेषगुणाः। गतिहेतुत्वम् १ अचेतनत्वं २ अमूर्तत्वं ३ धर्मस्य विशेषगुणाः। स्थितिहेतुत्वम् १ अचेतनत्वम् २ अमूर्तत्वम् ३ एते अधर्मस्य विशेषगुणाः। अवगाहनत्वम् १ अचेतनत्वम् २ अमूर्तत्वम् ३ इत्याकाशस्य विशेषगुणाः। वर्तनाहेतुत्वम् १ अचेतनत्वम् २ अमूर्तत्वम् ३ इति कालस्य विशेषगुणाः ॥ २४१ ॥ अथ पर्यायस्वरूपं द्रव्यगुणपर्यायाणामेकत्वमेव द्रव्यं व्याचष्टे-

सो वि विणस्सदि जायदि विसेस-रूवेण सव्व-दव्वेसु।
दव्व-गुण-पज्जयाणं एयत्तं वत्थु[1] परमत्थं ॥ २४२ ॥

[छाया-सः अपि विनश्यति जायते विशेषरूपेण सर्वद्रव्येषु। द्रव्यगुणपर्ययाणाम् एकत्वं वस्तु परमार्थम् ॥] सर्वद्रव्येषु चेतनाचेतनसर्ववस्तुषु सोऽपि सामान्यस्वरूपः द्रव्यत्वसामान्यादिः विशेषरूपेण पर्यायस्वभावेन विनश्यति

और मूर्तत्व गुण नहीं होते। इस तरह दस सामान्य गुणोंमेंसे दो दो गुण न होनेसे प्रत्येक द्रव्यमें आठ आठ गुण होते हैं। तथा ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, स्पर्श, रस गन्ध, वर्ण, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहनहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व ये द्रव्योंके सोलह विशेष गुण हैं। इनमेंसे अन्तके चार गुणोंकी गणना सामान्य गुणोंमें भी की जाती है और विशेष गुणोंमें भी की जाती है। उसका कारण यह है कि ये चारों गुण स्वजातिकी अपेक्षासे सामान्य गुण हैं और विजातिकी अपेक्षासे विशेष गुण हैं। इन सोलह विशेष गुणोंमेंसे जीव द्रव्यमें ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व और अमूर्तत्व ये छै गुण होते हैं। पुद्गल द्रव्यमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, मूर्तत्व, अचेतनत्व ये छै गुण होते हैं। धर्म द्रव्यमें गतिहेतुत्व, अमूर्तत्व, अचेतनत्व ये तीन विशेष गुण होते हैं। अधर्म द्रव्यमें स्थितिहेतुत्व, अमूर्तत्व, अचेतनत्व ये तीन विशेष गुण होते हैं। आकाश द्रव्यमें अवगाहनहेतुत्व, अमूर्तत्व और अचेतनत्व ये तीन विशेष गुण होते हैं। और काल द्रव्यमें वर्तनाहेतुत्व, अमूर्तत्व, अचेतनत्व ये तीन विशेष गुण होते हैं। जो गुण सब द्रव्योंमें पाया जाता है उसे सामान्य गुण कहते हैं और जो गुण सब द्रव्योंमें न पाया जाये उसे विशेष गुण कहते हैं। सामान्यगुणोंमें ६ गुणोंका स्वरूप इस प्रकार है-जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्यका कभी नाश नहीं होता उसे अस्तित्व गुण कहते हैं। जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्यमें अर्थक्रिया हो उसे वस्तुत्व गुण कहते हैं। जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्य सर्वदा एकसा न रहे और उसकी पर्यायें बदलती रहें उसे द्रव्यत्व गुण कहते हैं। जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्य किसी न किसीके ज्ञानका विषय हो उसे प्रमेयत्व गुण कहते हैं। जिस शक्तिके निमित्तसे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणमन न करे और एक गुण दूसरे गुणरूप परिणमन न करे तथा एक द्रव्यके अनेक गुण विखरकर जुदे जुदे न हो जायं उसे अगुरुलघुत्व गुण कहते हैं। जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्यका कुछ न कुछ आकार अवश्य हो उसे प्रदेशवत्व गुण कहते हैं। ये गुण सब द्रव्योंमें पाये जाते हैं ॥ २४१ ॥ आगे कहते हैं कि गुण पर्यायोंका एकपनाही द्रव्य है। **अर्थ**-समस्त द्रव्योंके गुण भी विशेष रूपसे उत्पन्न तथा विनष्ट होते हैं। इस प्रकार द्रव्य गुण और पर्यायोंका एकत्वही परमार्थसे वस्तु है ॥ **भावार्थ**-ऊपर बतलाया था कि सामान्य रूपसे गुण न उत्पन्न होते हैं और न नष्ट होते हैं। यहां कहते हैं कि विशेष रूपसे गुणभी उत्पन्न तथा नष्ट होते हैं। अर्थात् गुणोंमें भी

१ ग वत्थुं।

विनाशं गच्छति, जायते उत्पद्यते च । अत एव द्रव्यगुणपर्यायाणां द्रव्यम् उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं जीवादिकम्, गुणाः द्रव्यत्वादयः सहभाविनः, गुणविकाराः पर्यायाः क्रमभाविनः परिणामाः। द्रव्याणि च गुणाश्च पर्यायाश्च द्रव्यगुणपर्यायाः तेषां द्रव्यगुणपर्यायाणाम् एकत्वं समुदायः परमार्थसत्त्वभूतं निश्चयेन वस्तु, वसन्ति द्रव्यगुणपर्याया अस्मिन्निति वस्तु, द्रव्यम् अर्थः पदार्थः कथ्यते । तथा च षड्द्रव्येषु पर्यायाः कथ्यन्ते । गुणविकाराः पर्यायाः । ते द्वेधा । स्वभाव १ विभाव २ पर्यायभेदात् । अगुरुलघुविकाराः स्वभावपर्यायाः, ते द्वादशधा । षड्वृद्धिहानिरूपाः । अनन्तभागवृद्धिः १ असंख्यातभागवृद्धिः २ संख्यातभागवृद्धिः ३ संख्यातगुणवृद्धिः ४ असंख्यातगुणवृद्धिः ५ अनन्तगुणवृद्धिः ६ इति षड्वृद्धिः । तथा अनन्तभागहानिः १ असंख्यातभागहानिः २ संख्यातभागहानिः ३ संख्यातगुणहानिः ४ असंख्यातगुणहानिः ५ अनन्तगुणहानिः ६ एवं षट् वृद्धिहानिरूपाः स्वभावपर्यायाः ज्ञेयाः । विभावपर्यायाश्चतुर्विधा नरनारकादिपर्यायाः, अथवा चतुरशीतिलक्षाश्च विभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायाः । नरनारकादिकाः विभावगुणव्यञ्जनपर्यायाः, मतिज्ञानादयः स्वभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायाः, चरमशरीराकारात् किंचिन्न्यूनसिद्धपर्यायः स्वभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायः स्वभावगुणव्यञ्जनपर्यायाः अनन्तचतुष्टयरूपाः जीवस्य । पुद्गलस्य तु द्व्यणुकादयो विभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायाः रसरसान्तरगन्धगन्धान्तरादिविभावगुणव्यञ्जनपर्यायाः । अविभागी पुद्गलपरमाणुः स्वभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायः वर्णगन्धरसैकैकाः अविरुद्धस्पर्शद्वयं स्वभावगुणव्यञ्जनपर्यायाः । 'अनाद्यनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम् । उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ॥' 'गुण इदि दव्वविहाणं दव्ववियारोत्थ पज्जवो भणिदो । तेहि अणूणं दव्वं अजुदपसिद्धं हवदि णिच्चं ॥' स्वभावविभावपर्यायरूपतया याति परिणमतीति पर्यायः पर्यायस्य व्युत्पत्तिः । क्रमवर्तिनः पर्यायाः । सहभुवो गुणाः । गुण्यते पृथक्क्रियते द्रव्यं द्रव्यात् यैस्ते गुणा इति ॥ २४२ ॥ ननु पर्याया विद्यमाना जायन्ते अविद्यमाना वा इत्याशङ्कां निराकुर्वन् गाथाद्वयमाह–

उत्पाद व्यय होता है। आशय यह है कि द्रव्य, गुण और पर्याय ये तीन जुदे जुदे नहीं हैं। अर्थात् जैसे सोंठ, मिर्च और पीपलको कूट छानकर गोली बनाली जाती है, वैसे द्रव्य, गुण और पर्यायको मिलाकर वस्तु नहीं बनी है। वस्तु तो एक अनादि अखण्ड पिण्ड है। उसमें गुणोंके सिवा अन्य कुछभी नहीं है। और वे गुण भी कभी अलग नहीं किये जा सकते, हां, उनका अनुभव मात्र अलग अलग किया जा सकता है। ऐसी स्थितिमें जब वस्तु परिणामी है तो गुण अपरिणामी कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि गुणोंके अखण्ड पिण्डका नाम ही तो वस्तु है। अतः गुणोंमें भी परिणमन होता है। किन्तु परिणमन होनेपर भी ज्ञान गुण ज्ञानरूप ही रहता है, दर्शन या सुखरूप नहीं हो जाता। इसीसे सामान्य रूपसे गुणोंको अपरिणामी और विशेष रूपसे परिणामी कहा है। गुणोंके विकारका नाम ही पर्याय है। पर्यायके दो भेद हैं–स्वभाव पर्याय और विभावपर्याय। यहां छै द्रव्योंकी पर्याय कहते हैं। अगुरुलघु गुणके विकारको स्वभाव पर्याय कहते हैं। उसके बारह भेद हैं– छै वृद्धिरूप और छै हानिरूप। अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि ये छै वृद्धिरूप स्वभावपर्याय हैं। और अनन्त भागहानि, असंख्यात भागहानि, संख्यात भागहानि, संख्यात गुणहानि, असंख्यात गुणहानि, अनन्त गुणहानि ये छै हानिरूप स्वभावपर्याय हैं। नर नारक आदि पर्याय अथवा चौरासी लाख योनियां विभाव द्रव्यव्यंजनपर्याय हैं। मति आदि ज्ञान विभाव गुणव्यञ्जनपर्याय हैं। अन्तके शरीरसे कुछ न्यून जो सिद्ध पर्याय है वह स्वभाव द्रव्य व्यञ्जन पर्याय है। जीवका अनन्त चतुष्टयस्वरूप स्वभावगुणव्यञ्जनपर्याय है। ये सब जीवकी पर्याय हैं। पुद्गलकी विभावद्रव्यव्यंजनपर्याय द्व्यणुक आदि स्कन्ध हैं। रससे रसान्तर और गन्धसे गन्धान्तर विभावगुणव्यंजन पर्याय हैं। पुद्गलका अविभागी परमाणु स्वभावद्रव्यव्यंजनपर्याय है। और उस परमाणुमें जो एक

जदि दव्वे पज्जाया वि विज्जमाणा[1] तिरोहिदा संति।
ता उप्पत्ती विहला पडिपिहिदे देवदत्ते व्वं[2] ॥ २४३ ॥

[छाया-यदि द्रव्ये पर्यायाः अपि विद्यमानाः तिरोहिताः सन्ति । तत् उत्पत्तिः विफला प्रतिपिहिते देवदत्ते इव ॥] अथ सांख्यादयः एवं वदन्ति । द्रव्ये जीवादिपदार्थे सर्वे पर्यायाः तिरोहिताः आच्छादिताः विद्यमानाः सन्ति, त एव जायन्ते उत्पद्यन्ते, सर्वं सर्वत्र विद्यते, इति तन्मतं समुत्पाद्य दूषयति । द्रव्ये जीवपुद्गलादिवस्तुनि पर्याया नरनारकादिबुद्ध्यादयः स्कन्धादयः परिणामाः विद्यमानाः सद्रूपाः अस्तिरूपाः तिरोहिताः अन्तर्लीनाः अप्रादुर्भूताः सन्ति विद्यन्ते यदि चेत् तर्हि पर्यायाणामुत्पत्तिः उत्पादः निष्पत्तिः विफला निष्फला निरर्थका भवति । पटपिहिते देवदत्ते इव, यथा वस्त्राच्छादिते देवदत्ते तस्य देवदत्तस्य वस्त्रे उत्पत्तिर्न घटते यथा तथा सर्वे नरनारकबुद्ध्यादयः पदार्थाः प्रकृतौ लीनाः तर्हि अङ्गुल्यग्रे हस्तिशतयूथं कथं न जायते इति दूषणसद्भावात् अविद्यमानाः पर्यायाः जायन्ते ॥ २४३ ॥

सव्वाण[3] पज्जयाणं अविज्जमाणाण होदि उप्पत्ती।
कालाई-लद्धीए अणाइ-णिहणम्मि दव्वम्मि ॥ २४४ ॥

[छाया-सर्वेषां पर्यायाणाम् अविद्यमानानां भवति उत्पत्तिः । कालादिलब्ध्या अनादिनिधने द्रव्ये ॥] सर्वेषां पर्यायाणां नरनारकादिपुद्गलादीनां द्रव्ये जीवादिवस्तुनि । किंभूते । अनादिनिधने अविनश्वरे पदार्थे कालादिलब्ध्या द्रव्यक्षेत्रकालभवभावलाभेन उत्पत्तिर्भवति उत्पादः स्यात् । किंभूतानाम् । अविद्यमानानाम् असतां द्रव्ये पर्यायाणामुत्पत्तिः स्यात् । यथा विद्यमाने मृद्द्रव्ये घटोत्पत्त्युचितकाले कुम्भकारादौ सत्येव घटादयः पर्याया जायन्ते तथा ॥ २४४ ॥ अथ द्रव्यपर्यायाणां कथंचिद्भेदं कथंचिदभेदं दर्शयति-

वर्ण, एक गन्ध, एक रस, और दो स्पर्श गुण रहते हैं पुद्गलकी स्वभावगुणव्यंजनपर्याय है। इस तरह जैसे जलमें लहरे उठा करती हैं वैसे ही अनादि और अनन्त द्रव्यमें प्रति समय पर्याय, उत्पन्न और नष्ट होती रहती हैं ॥ २४२ ॥ यहां यह शङ्का होती है कि द्रव्यमें विद्यमान पर्याय उत्पन्न होती हैं अथवा अविद्यमान पर्याय उत्पन्न होती हैं ? इसका निराकरण दो गाथाओंके द्वारा करते हैं। **अर्थ-**यदि द्रव्यमें पर्याय विद्यमान होते हुएभी ढकी हुई हैं तो वस्त्रसे ढके हुए देवदत्तकी तरह उसकी उत्पत्ति निष्फल है ॥ **भावार्थ-**सांख्यमतावलम्बीका कहना है कि जीवादि पदार्थोंमें सब पर्यायें विद्यमान रहती हैं। किन्तु वे छिपी हुई हैं, इस लिये दिखाई नहीं देतीं। सांख्यके इस मतमें दूषण देते हुए आचार्य कहते हैं कि जैसे देवदत्त पर्देके पीछे बैठा हुआ है। पर्देके हटाते ही देवदत्त प्रकट होगया। उसको यदि कोई यह कहे कि देवदत्त उत्पन्न होगया तो ऐसा कहना व्यर्थ है, क्योंकि देवदत्त तो वहां पहलेसे ही विद्यमान था। इसी तरह यदि द्रव्यमें पर्याय पहलेसे ही विद्यमान हैं और पीछे प्रकट हो जाती है तो उसकी उत्पत्ति कहना गलत है। उत्पत्ति तो अविद्यमानकी ही होती है ॥ २४३ ॥ **अर्थ-**अतः अनादि निधन द्रव्यमें काललब्धि आदिके मिलनेपर अविद्यमान पर्यायोंकी ही उत्पत्ति होती है ॥ **भावार्थ-**द्रव्य तो अविनश्वर होनेके कारण अनादि निधन है। उस अनादि निधन द्रव्यमें अपने योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके मिलनेपर जो पर्याय विद्यमान नहीं होती उसीकी उत्पत्ति होजाती है। जैसे विद्यमान मिट्टीमें घटके उत्पन्न होनेका उचितकाल आनेपर तथा कुम्हार आदिके सद्भावमें घट आदि पर्याय उत्पन्न होती है ॥ २४४ ॥

---

१ ल ग विवज्जमाणा। २ ल म स ग देवदत्तिव्व। ३ स सव्वाणं दव्वाणं पज्जायाणं अविज्जमाणाणं उप्पत्ती। कालाइ...दव्वम्हि।

दव्वाण पज्जयाणं धम्म-विवक्खाएँ[1] कीरएँ[2] भेओ[3] ।
वत्थु-सरूवेण पुणो ण हि भेदो सक्कदे काउं ॥ २४५ ॥

[छाया-द्रव्याणां पर्ययाणां धर्मविवक्षया क्रियते भेदः । वस्तुस्वरूपेण पुनः न हि भेदः शक्यते कर्तुम् ॥] कारणकार्ययोः सर्वथा भेदः इति नैयायिकानां मतम्, तन्निरासार्थमाह । द्रव्याणां मृद्रव्यादीनां कारणभूतानां पर्यायाणां घटादिपरिणतानां कार्यभूतानां भेदः क्रियते । कया । धर्मविवक्षया एव स्वभावं वक्तुमिच्छया एव । इदं मृद्रव्यादि कारणम्, इदं घटादिपर्यायः कार्यमिति धर्मधर्मिणोर्भेदेन भेदः । न तु सर्वथा भेदः । हीति स्फुटम् । पुनः धर्मधर्मिणोर्भेदः कर्तुं न शक्यते । वस्तुस्वरूपेण द्रव्यार्थिकनयप्राधान्येन कार्यकारणयोरैक्यं, तथा च गुणगुणिनोः पर्यायपर्यायिणोः स्वभावस्वभाविनोः कारणकारणिणोः भेदः । द्रव्ये द्रव्योपचारः गुणे गुणोपचारः पर्याये पर्यायोपचारः द्रव्ये गुणोपचारः द्रव्ये पर्यायोपचारः गुणे द्रव्योपचारः गुणे पर्यायोपचारः पर्याये द्रव्योपचारः पर्याये गुणोपचारः इति अभेदः ॥ २४५ ॥ अथ वस्तुतः द्वयोरपि द्रव्यपर्याययोः सर्वथा भेदवादिनं दूषयति-

जदि वत्थुदो विभेदो[4] पज्जय-दव्वाण मण्णसे[5] मूढ ।
तो णिरवेक्खा सिद्धी दोण्हं[6] पि य पावदे णियमा ॥ २४६ ॥

[छाया-यदि वस्तुतः विभेदः पर्ययद्रव्याणां मन्यसे मूढ । ततः निरपेक्षा सिद्धिः द्वयोः अपि च प्राप्नोति नियमात् ॥] रे मूढ हे अज्ञानिन् हे नैयायिकपशो, यदि चेत्पर्यायद्रव्ययोर्वस्तुतः परमार्थतः वस्तुसामान्येन वा भेदः भिन्नत्वं मन्यसे त्वम् अङ्गीक्रियसे तो तर्हि दोण्हं पि द्वयोरपि कार्यकारणयोरपि गुणगुणिनोः पर्यायपर्यायिणोश्च भेदः नियमात् निरपेक्षा परस्परापेक्षारहिता सिद्धिः निष्पत्तिः प्राप्नोति । यथा हि पर्यायिणोर्मृद्रव्यादेः घटादिपर्यायाः सर्वथा भिन्ना तर्हि मृद्रव्यादिना विना घटादिपर्यायाः कथं न लभेरन् ॥ २४६ ॥ अथ ज्ञानाद्वैतवादिनं गाथात्रयेण दूषयति-

आगे द्रव्य और पर्यायमें कथंचित् भेद और कथंचित अभेद बतलाते हैं । **अर्थ**-धर्म और धर्मीकी विवक्षासे द्रव्य और पर्यायमें भेद किया जाता है । किन्तु वस्तु स्वरूपसे उनमें भेद नहीं है ॥ **भावार्थ**-नैयायिक मतावलम्बी कारण और कार्यमें सर्वथा भेद मानता है । उसका निराकरण करते हुए आचार्य कहते हैं कि कारणरूप मिट्टी आदि द्रव्यमें और कार्यरूप घटादि पर्यायमें धर्म और धर्मी भेदकी विवक्षा होनेसे ही भेद है, अर्थात् जब यह कहना होता है कि यह मिट्टी धर्मी है और यह घटादि पर्याय धर्म है, तभी भेदकी प्रतीति होती है, किन्तु वस्तु स्वरूपसे धर्म और धर्मीमें भेद नहीं किया जा सकता । अर्थात् द्रव्यार्थिक नयसे कार्य और कारणमें अभेद है । इसी तरह गुण गुणी, पर्याय पर्यायी, स्वभाव स्वभाववान् आदिमें भी कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद समझना चाहिये ॥ २४५ ॥ आगे द्रव्य और पर्यायमें सर्वथा भेद माननेवाले वादीको दूषण देते हैं । **अर्थ**-हे मूढ, यदि तू द्रव्य और पर्यायमें वस्तुरूपसे भी भेद मानता है तो द्रव्य और पर्याय दोनोंकी नियमसे निरपेक्ष सिद्धि प्राप्त होती है ॥ **भावार्थ**-यदि द्रव्य और पर्यायमें वस्तुरूपसे भी भेद माना जायेगा तो द्रव्य पर्यायसे सर्वथा भिन्न एक जुदी वस्तु ठहरेगा और पर्याय द्रव्यसे सर्वथा भिन्न एक जुदी वस्तु ठहरेगी । ऐसी स्थितिमें विना पर्यायके भी द्रव्य और विना द्रव्यके पर्याय हुआ करेगी । जैसे यदि मिट्टीरूप द्रव्यसे घटादि पर्याय सर्वथा भिन्न हैं तो मिट्टीके विना भी घट पाया जायगा ।

१ ब म विवक्खाय, स ववक्खाए । २ ब कीरइ । ३ ब भेउ, म स भेओ (?) ४ ब विभेओ । ५ म मणस मूढो, स मणये, ग मांणसे । ६ ब दुण्हं ।

जदि सवमेव णाणं णाणा-रूवेहि संठिदं एक्कं।
तो ण वि किं पि विणेयं[1] णेयेण विणा कहं णाणं ॥ २४७ ॥

[छाया-यदि सर्वमेव ज्ञानं नानारूपैः संस्थितम् एकम्। तत् न अपि किम् अपि विज्ञेयं ज्ञेयेन विना कथं ज्ञानम् ॥] अथ सर्वमेव ज्ञानमेकं ज्ञानाद्वैतं ज्ञेयमन्तरेण नानारूपेण घटपटादिपदार्थमन्तरेण घटपटादिज्ञानरूपेण संस्थितं यदि चेत् तो तर्हि किमपि ज्ञेयं ज्ञेयपदार्थवृन्दं घटपटादिलक्षणं नैव नास्त्येव। भवतु नाम ज्ञेयेन पदार्थेन किं भवेदिति चेत् ज्ञेयेन विना ज्ञातुं योग्येन गृहगिरिभूमिजलाग्निवातादिना विना तेषां गृहघटादीनां ज्ञानं कथं सिद्ध्यति। तदो णेयं परमत्थं। ततः ज्ञेयमन्तरेण ज्ञानानुत्पत्तेः परमार्थभूतं ज्ञेयं अङ्गीकर्तव्यम् ॥ २४७ ॥ अथ तदेव ज्ञेयं समर्थयति-

घड-पड-जड-दवाणि हि णेय-सरूवाणि सुप्पसिद्धाणि।
णाणं जाणेदि जदो[2] अप्पादो भिण्णरूवाणि ॥ २४८ ॥

[छाया-घटपटजडद्रव्याणि हि ज्ञेयस्वरूपाणि सुप्रसिद्धानि। ज्ञानं जानाति यतः आत्मनः भिन्नरूपाणि ॥] हि यस्मात् कारणात्, ज्ञेयस्वरूपाणि ज्ञातुं योग्यं ज्ञेयं तदेव स्वरूपं स्वभावं येषां तानि ज्ञेयस्वरूपाणि ज्ञातुं योग्यस्वभावानि। कानि। घटपटजलद्रव्याणि गृहहट्टतडागवापीवनत्रिभुवनगतवस्तूनि। किंभूतानि। सुप्रसिद्धानि लोके प्रसिद्धानि लोके प्रसिद्धिं गतानि। ज्ञानं जानाति यतः यस्मात् आत्मनः सकाशात् ज्ञानस्वरूपाद्वा भिन्नरूपाणि पृथग्भूतानि विद्यन्ते। अत एव ज्ञेयं परमार्थतः सिद्धम् ॥ २४८ ॥ अथ पुनः ज्ञानाद्वैतवादिनं दूषयति-

जं सव-लोय-सिद्धं [3]देहं-गेहादि-बाहिरं अत्थं।
जो तं पि णाणं[4] मण्णदि ण मुणदि सो णाण-णामं पि ॥ २४९ ॥[5]

[छाया-यः सर्वलोकसिद्धः देहगेहादिबाह्यः अर्थः। यः तम् अपि ज्ञानं मन्यते न जानाति स ज्ञाननाम अपि ॥] यः ज्ञानाद्वैतवादी यत् सर्वलोके प्रसिद्धं आबालगोपालजनप्रसिद्धं देहं शरीरं गेहादिबाह्यं गृहघटपटलकुटमुकुटशकट-

अतः द्रव्य और पर्यायमें वस्तुरूपसे भेद नहीं मानना चाहिये ॥ २४६ ॥ आगे तीन गाथाओंके द्वारा ज्ञानाद्वैतवादीके मतमें दूषण देते हैं। **अर्थ**–यदि सब वस्तु ज्ञानरूप ही हैं और एक ज्ञान ही नाना पदार्थोंके रूपमें स्थित है तो ज्ञेय कुछ भी नहीं रहा। ऐसी स्थितिमें विना ज्ञेयके ज्ञान कैसे रह सकता है ॥ **भावार्थ**–ज्ञानाद्वैतवादी बाह्य घट पट आदि पदार्थोंको असत् मानता है और एक ज्ञानको ही सत् मानता है। उसका कहना है कि अनादिवासनाके कारण हमें बाहरमें ये पदार्थ दिखाई देते हैं। किन्तु वे वैसे ही असत्य हैं जैसे स्वप्नमें दिखाई देनेवाली बातें असत्य होती हैं। इसपर आचार्यका कहना है कि यदि सब ज्ञानरूप ही है तो ज्ञेय तो कुछ भी नहीं रहा। और जब ज्ञेय ही नहीं है तो विना ज्ञेयके ज्ञान कैसे रह सकता है, क्यों कि जो जानता है उसे ज्ञान कहते हैं और जो जाना जाता है उसे ज्ञेय कहते हैं। जब जाननेके लिये कोई है ही नहीं, तो ज्ञान कैसे हो सकता है ॥ २४७ ॥ आगे ज्ञेयका समर्थन करते हैं। **अर्थ**–घट पट आदि जड द्रव्य ज्ञेयरूपसे सुप्रसिद्ध हैं। उनको ज्ञान जानता है। अतः ज्ञानसे वे भिन्नरूप हैं ॥ २४८ ॥ आगे पुनः ज्ञानाद्वैतवादिको दूषण देते हैं। **अर्थ**–जो शरीर मकान वगैरह बाह्य पदार्थ समस्त लोकमें प्रसिद्ध हैं उनको भी जो ज्ञानरूप मानता है वह ज्ञानका नाम भी नहीं जानता ॥ **भावार्थ**–आचार्यका कहना है कि जिनका स्वरूप जानने योग्य होता है उन्हें ज्ञेयस्वरूप कहते हैं। अतः ज्ञानसे बाहर जितनेभी पदार्थ हैं वे सब ज्ञेयरूप हैं

१ स किपिवणेय, [किंचि वि णेय]। २ ल स ग यदो, म जदा। ३ स देहे, म देहग्गेहादि। ४ ल स णाणं, ग पिण्णाणं। ५ ब अणच्च।

हट्टादिबाह्यार्थः पदार्थः द्रव्यं वस्तु विद्यते । तदपि देहगेहादि बाह्यं वस्तु ज्ञानं बोधः मन्यते सर्वं ज्ञानमेवेत्यङ्गीकरोति स ज्ञानाद्वैतवादी ज्ञाननामापि ज्ञानस्याभिधानमपि न जानाति न वेत्तीत्यर्थः ॥ २४९ ॥ अन्यच्च । अथ नास्तिकवादिनं दूषणान्तरेण गाथात्रयेण दूषयति–

अच्छीहिं[1] पिच्छमाणो जीवाजीवादि[2]-बहु-विहं अत्थं ।
जो भणदि[3] णत्थि किंचि वि सो झुट्ठाणं महाझुट्ठो[4] ॥ २५० ॥

[छाया–अक्षिभ्यां प्रेक्षमाणः जीवाजीवादि बहुविधम् अर्थम् । यः भणति नास्ति किंचित् अपि स धूर्तानां महाधूर्तः ॥] यः कश्चिन्नास्तिको वादी किंचिदपि वस्तु मातङ्गतुरङ्गगोमहिषमनुष्यगृहहट्टचेतनवस्तु नास्तीति भणति । किं कुर्वन् सन् । अच्छीहिं अक्षिभ्यां चक्षुर्भ्यां बहुविधम् अनेकप्रकारं जीवाजीवादिकम् अर्थं चेतनाचेतनमिश्रादिकं वस्तु पदार्थं प्रेक्षमाणः पश्यन् सन् स नास्तिकवादी जुष्टानां मध्ये महाजुष्टः । असत्यवादीनां मध्ये महासत्यवादी धृष्टानां मध्ये महाधृष्टः महानिर्लज्जः ॥ २५० ॥

जं सव्वं पि य संतं[5] ता सो वि असंतओ[6] कहं होदि ।
णत्थि त्ति किंचि तत्तो अहवा सुण्णं कहं मुणदि ॥ २५१ ॥

[छाया–यत् सर्वम् अपि च सत् तत् सः अपि असत्कः कथं भवति । नास्ति इति किंचित् ततः अथवा शून्यं कथं जानाति ॥] अपि च दूषणान्तरे, यत् सर्वं विद्यमानं गृहगिरिधराजलादिकं विद्यमानमस्ति । *तासो वि तस्यापि असत्त्वम् अविद्यमानत्वं कथं भवति । अथवा तत्तो ततः तस्मात् किंचिन्नास्तीति । इति शून्यं कथं मनुते जानाति स्वयं विद्यमानः सर्वं नास्तीति कथं वेत्तीति स्वयं विद्यमानत्वात् सर्वशून्यभावः ॥ २५१ ॥ पाठान्तरेणेयं गाथा । तस्य व्याख्यानमाह ।

ज्ञानरूप नहीं है । जो उनको ज्ञानरूप कहता है वह ज्ञानके स्वरूपको नहीं जानता, इतना ही नहीं, बल्कि उसने ज्ञानका नाम भी नहीं सुना, ऐसा लगता है, क्यों कि यदि वह ज्ञानसे परिचित होता तो बाह्य पदार्थोंका लोप न करता ॥ २४९ ॥ अब तीन गाथाओंसे शून्यवादमें दूषण देते हैं । **अर्थ**–जो शून्यवादी जीव अजीव आदि अनेक प्रकारके पदार्थोंको आंखोंसे देखते हुए भी यह कहता है कि कुछभी नहीं है, वह झूंठोंका सिरताज है ॥ **अर्थ**–तथा जब सब वस्तु सत्स्वरूप हैं अर्थात् विद्यमान हैं तब वह असत् रूप यानी अविद्यमान कैसे हो सकती हैं । अथवा जब कुछ है ही नहीं और सब शून्य है तो इस शून्य तत्त्वको कैसे जानता है? ॥ इस गाथाका पाठान्तर भी है उसका अर्थ इसप्रकार है– यदि सब वस्तु असत् रूप हैं तो वह शून्यवादी भी असत् रूप हुआ तब वह 'कुछ भी नहीं है' ऐसा कैसे कहता है अथवा वह शून्यको जानता कैसे है ॥ **भावार्थ**–शून्यवादी बौद्धका कहन कि जिस एक या अनेकरूपसे पदार्थोंका कथन किया जाता है । वास्तवमें वह रूप है ही नहीं इस लिये वस्तुमात्र असत् है और जगत् शून्यके सिवा और कुछ भी नहीं है । शून्यवादीके इस मतका निराकरण करते हुए आचार्य कहते हैं कि भाई, संसारमें तरह तरहकी वस्तुएं आंखोंसे साफ दिखाई देती हैं । जो उनको देखते हुए भी कहता है कि जगत् शून्य रूप है वह महाझूंठा है । तथा जब जगत् शून्यरूप है और उसमें कुछ भी सत् नहीं है तो ज्ञान और शब्द भी असत् हुए । और जब ज्ञान और शब्द भी असत् हुए तो वह शून्यवादी कैसे तो स्वयं यह जानता है कि सब कुछ शून्य है और कैसे दूसरोंको यह कहता है कि सब शून्य है क्योंकि ज्ञान और शब्दके अभावमें न

१ ब अच्छाहि, ग अच्छाहिं । २ ब °जीवाइ । ३ ब भणइ, ग भणवि (?) । ४ ग ज्झुठाणं महुझुठो, स झूठाण महीझूठो [धुट्ठाणं महाधुट्ठो] । ५ ब-पुस्तके गाथांशः पत्रान्ते लिखितः । ६ ब ल म स असंतउं (=उं), ग असंतउ ।

जदि[1] सव्वं पि असंतं ता सो वि य संतओ[3] कहं भणदि ।
णत्थि त्ति किं पि[4] तच्चं अहवा सुण्णं कहं मुणदि ॥ २५१* ॥

[छाया-यदि सर्वम् अपि असत् तत् सः अपि च सत्कः कथं भणति । नास्ति इति किम् अपि तत्त्वम् अथवा शून्यं कथं जानाति ॥] अपि पुनः, यदि चेत् सर्वं चेतनादिलक्षणं तत्त्वम् असत् नास्तिरूपं, तो तर्हि सोऽपि नास्तिकवादी अविद्यमानं तत्त्वं भणति । यदि पूर्वं घटपटादिकं जगति नोपलब्धं तर्हि नास्ति इति तेन कथं भण्यते । प्रतिषेधस्य विधिपूर्वकत्वात् । अथवा प्रकारान्तरेण दूषयति किंचित्तत्त्वं नास्तीति चेत् तर्हि सर्वशून्यं कथं जानाति ॥२५१*॥

किं बहुणा उत्तेण य जेत्तियँ-मेत्ताणि[6] संति णामाणि ।
तेत्तिय-मेत्ताँ[7] अत्था संति य णियमेण परमत्था ॥ २५२ ॥[8]

[छाया-किं बहुना उक्तेन च यावन्मात्राणि सन्ति नामानि । तावन्मात्राः अर्थाः सन्ति च नियमेन परमार्थाः ॥] भो नास्तिकवादिन्, बहुना उक्तेन किं बहुप्रलापेन किं भवति । पूर्यतां पूर्यतां बह्वालपेन । यावन्मात्राणि नामानि यावत्प्रमाणानि अभिधानानि वस्त्रशस्त्रप्रस्तरमहीरुहवल्लीफलजलकमलघटपटलकुटशकटसुरासुरनरनारीतिर्यङ्नारकपशु-गोऽश्वगजमहिषमृगपक्षिमत्स्यचेतनाचेतनवस्तूनि सन्ति विद्यन्ते तावन्मात्राः अर्थाः पदार्थाः नियमतः परमार्थभूताः सन्ति च । ननु च यावन्ति नामानि तावन्तः पदार्थाः चेत्तर्हि खरविषाणवत् शशशृङ्गगगनकुसुमवन्ध्यासुतादयः पदार्थाः कथं न भवेयुः । भवताम् इति चेन्न खरादीनां च शृङ्गादीनां बहुलमुपलम्भात । एमेव तच्चं राम्मत्तं । एवं तत्त्वं समाप्तम् एवं पूर्वोक्तप्रकारेण तत्त्वव्याख्यानं समाप्तम् ॥ २५२ ॥ अथ ज्ञानास्तित्वं प्रतिजानीते-

णाणा-धम्मेहिँ जुदं अप्पाणं तह परं पि णिच्छयदो ।
जं जाणेदि सजोगं[9] तं णाणं भण्णदे[10] समएँ[11] ॥ २५३ ॥

कुछ जाना जा सकता है और न कुछ कहा जा सकता है । इसके सिवाय जब सब जगत् शून्यरूप है तो शून्यवादी भी शून्यरूप हुआ । और जब वह स्वयं शून्य है तो वह शून्यको कैसे जानता है और कैसे शून्यवादका कथन करता है ॥ २५०-२५१* ॥ **अर्थ**—अधिक कहनेसे क्या? जितने नाम हैं उतनेही नियमसे परमार्थ रूप पदार्थ हैं ॥ **भावार्थ**—शब्द और अर्थका स्वाभाविक सम्बन्ध है । क्यों कि अर्थको देखते ही उसके वाचक शब्दका स्मरण हो आता है और शब्दके सुनते ही उसके वाच्य अर्थका स्मरण होता है । अतः संसारमें जितने शब्द हैं उतने ही वास्तविक पदार्थ हैं । शायद कहा जाये की गधेके सींग, वन्ध्यापुत्र, आकाशफूल आदि शब्दोंके होते हुए भी न गधेके सींग होते हैं, न बांझको लड़का होता है और न आकाशका फूल होता है । अतः यह कहना कि जितनेही शब्द हैं उतनेही वास्तविक पदार्थ हैं, ठीक नही हैं । किन्तु यह आपत्ति उचित नहीं है, क्यों कि 'गधेके सींग' आदि शब्द एक शब्द नहीं हैं किन्तु दो शब्दोंके जोड़रूप हैं । दो शब्दोंको मिलानेसे तो बहुतसे ऐसे शब्द तैयार किये जा सकते हैं जिनका वाच्य अर्थ वस्तुभूत नहीं है । उक्त कथन समासरहित शब्दके विषयमें है । वैसे संसारमें गधा, सींग, बांझ, पुत्र, आकाश, फूल इत्यादि सभी शब्दोंके वाच्य अर्थ वास्तविक रूपमें पाये जाते हैं । अतः शून्यवाद ठीक नहीं हैं ॥ २५२ ॥ पदार्थोंका अस्तित्व

---

१ ब-पुस्तके गाथांशः पत्रान्ते लिखितः । २ ब ग यदि । ३ ब ल स संतउ (=उ), म (?) ग संतउ । ४ ल किंचि, ग कंपि । ५ ब ल ग म जित्तिय, स जेत्तीय । ६ म मित्ताणि । ७ ब मित्ता । ८ ब एमेव तच्च समत्थं ॥ णाणा इत्यादि । ९ ब सयोगं । १० ल म स ग भण्णए । ११ ल समय, स समये ।

[छाया–नानाधर्मैः युतम् आत्मानं तथा परम् अपि निश्चयतः । यत् जानाति स्वयोग्यं तत् ज्ञानं भण्यते समये ॥] निश्चयतः परमार्थतः, यत् स्वयोग्यं संबन्धं वर्तमानं अभिमुखम् आत्मानम् जीवादिद्रव्यं स्वस्वरूपं वा तथा परमपि परद्रव्यमपि चेतनाचेतनादिकं वस्तु यज्जानाति वेत्ति पश्यति समये जिनसिद्धान्ते तत् ज्ञानं भण्यते । जानातीति ज्ञानम्, स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणमिति मार्तण्डे प्रोक्तत्वात् । कीदृक्षं वस्तु । नानाधर्मैर्युक्तं विविधस्वभावैः सहितं कथंचित अस्तित्वनास्तित्वैकत्वानेकत्वनित्यत्वानित्यत्वभिन्नत्वाभिन्नत्वप्रमुखैराविग्रम् ॥ २५३ ॥ अथ सामान्येन ज्ञानसद्भावं विभाव्य केवलज्ञानास्तित्वं विशदयति–

जं सव्वं पि पयासदि दव्व[2]-पज्जाय-संजुदं लोयं ।
तह य अलोयं सव्वं तं णाणं सव्व-पच्चक्खं ॥ २५४ ॥

[छाया–यत् सर्वम् अपि प्रकाशयति द्रव्यं पर्यायसंयुतं लोकम् । तथा च अलोकं सर्वं तत् ज्ञानं सर्वप्रत्यक्षम् ॥] तत् ज्ञानं सर्वप्रत्यक्षं सर्वं लोकालोकं प्रत्यक्षेण पश्यतीत्यर्थः । तत् किम् । यत्सर्वमपि लोकं त्रिचत्वारिंशदधिकत्रिशतरज्जुप्रमाणं जगत् त्रैलोक्यम् । तथा च सर्वम् अलोकम्, अनन्तानन्तप्रमितम् अलोकाकाशं प्रकाशयति जानाति पश्यतीत्यर्थः । कथंभूतं लोकम् । द्रव्यपर्यायसंयुक्तम् । लोकाकाशे जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि, तेषां नरनारकादिद्व्यणुकादि-

---

बतलाकर ग्रन्थकार ज्ञानका स्वरूप कहते हैं । **अर्थ**–जो नाना धर्मोंसे युक्त अपनेको तथा नाना धर्मोंसे युक्त अपने योग्य पर पदार्थोंको जानता है उसे निश्चयसे ज्ञान कहते हैं ॥ **भावार्थ**–जो जानता है उसे ज्ञान कहते हैं । अब प्रश्न होता है कि वह किसे जानता है? तो जो स्वयं अपनेको और अन्य पदार्थोंको जानता है वह ज्ञान है । इसीसे परीक्षामुखमें कहा है कि स्वयं अपने और पर पदार्थोंके निश्चय करने वाले ज्ञानको प्रमाण कहते हैं । परीक्षामुख सूत्रकी विस्तृत टीका प्रमेयकमलमार्तण्डमें इसका व्याख्यान खूब विस्तारसे किया है । वस्तुमें रहनेवाले धर्मोंके ज्ञानपूर्वक ही वस्तुका ज्ञान होता है, ऐसा नहीं है कि वस्तुके किसी एक भी धर्मका ज्ञान न हो और वस्तुका ज्ञान हो जाये । इसीसे कहा है कि नाना धर्मोंसे युक्त वस्तुको जो जानता है वह ज्ञान है । फिरभी संसारमें जाननेके लिये अनन्त पदार्थ हैं और हम सबको न जानकर जो पदार्थ सामने उपस्थित होता है उसीको जानते हैं । उसमें भी कोई उसे साधारण रीतिसे जान पाता है और कोई विशेष रूपसे जानता है । अर्थात् सब संसारी जीवोंका ज्ञान एकसा नहीं जानता । इसीसे कहा है कि अपने योग्य पदार्थोंको जो जानता है वह ज्ञान है ॥ २५३ ॥ इस प्रकार सामान्यसे ज्ञानका सद्भाव बतलाकर ग्रन्थकार अब केवलज्ञानका अस्तित्व बतलाते हैं । **अर्थ**–जो ज्ञान द्रव्यपर्यायसहित समस्त लोकको और समस्त अलोकको प्रकाशित करता है वह सर्वप्रत्यक्ष केवलज्ञान है ॥ **भावार्थ**–आकाशद्रव्य सर्वव्यापी है और सब तरफ उसका अन्त नहीं है अर्थात् वह अनन्त है । उस अनन्त आकाशके मध्यमें ३४३ राजु प्रमाण लोक है । उस लोकमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल छहों द्रव्य रहते हैं । तथा उन द्रव्योंकी नर, नारक वगैरह और द्वयणुक स्कन्ध वगैरह अनन्त पर्यायें होती हैं । लोकके बाहर सर्वत्र जो आकाश है वह अलोक कहा जाता है । वहां केवल एक आकाशद्रव्य ही है । उसमेंभी अगुरुलघु गुणकृत हानि वृद्धि होनेसे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप पर्याय होती हैं । इन द्रव्यपर्यायसहित लोक और अलोकको जो प्रत्यक्ष जानता है वही केवलज्ञान है । तत्त्वार्थसूत्रमें भी सब द्रव्यों और

---

१ ग वेदयति । २ ल म स ग दव्व, ब दव्वं (?) पजाय ।

स्कन्धादिपर्यायाः । अलोकाकाशे अलोकाकाशं द्रव्यं तस्य पर्याया अगुरुलघ्वादयः उत्पादव्ययध्रौव्यादयश्च तैः संयुक्तं जानाति पश्यति च । 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' इति वचनात् । तथा चोक्तं च । 'क्षायिकमेकमनन्तं त्रिकालसर्वार्थ-युगपदवभासम् । सकलसुखधाम सततं वन्देऽहं केवलज्ञानम् ॥' इति ॥ २५४ ॥ अथ ज्ञानस्य सर्वगतत्वं प्रकाशयति-

सव्वं जाणदि जम्हा सव्व-गयं तं पि वुच्चदे[1] तम्हा ।
ण य पुण विसरदि णाणं जीवं चइऊण अण्णत्थ ॥ २५५ ॥

[छाया-सर्वं जानाति यस्मात् सर्वगतं तत् अपि उच्यते तस्मात् । न च पुनः विसरति ज्ञानं जीवं त्यक्त्वा अन्यत्र ॥] तस्मात्कारणात् तदपि केवलज्ञानं सर्वगतं सर्वलोकालोकव्यापकम् उच्यते । कुतः । यस्मात् सर्वद्रव्यगुण-पर्याययुक्तं लोकालोकं जानाति वेत्ति । अथ च ज्ञानं संयोगसंयुक्तसमवायसंयुक्तसमवेतसमवायसमवायसमवेतसमवाय-संनिकर्षैः ज्ञेयप्रदेशं गत्वा प्रत्यक्षं जानाति इति नैयायिकाः । तेऽपि न नैयायिकाः । कुतः जीवम् आत्मानं गुणिनं त्यक्त्वा अन्यत्र ज्ञेयप्रदेशं ज्ञानं न च पुनः विसरति प्रसरति न यातीत्यर्थः ॥ २५५ ॥ अथ ज्ञानज्ञेययोः स्वप्रदेश-स्थितित्वेऽपि प्रकाशकत्वमिति युक्तिं निर्युक्ते-

णाणं ण जादि[2] णेयं णेयं पि ण जादि णाण-देसम्मि[3] ।
णिय-णिय-देस-ठियाणं ववहारो णाण-णेयाणं ॥ २५६ ॥

[छाया-ज्ञानं न याति ज्ञेयं ज्ञेयम् अपि न याति ज्ञानदेशे । निजनिजदेशस्थितानां व्यवहारः ज्ञानज्ञेययोः ॥] ज्ञानं बोधः प्रमाणं ज्ञेयं प्रमेयं ज्ञातुं योग्यं ज्ञेयं वस्तु चेतनाचेतनादि प्रति न याति न गच्छति । अपि पुनः ज्ञेयं प्रमेयं

सब द्रव्योंकी त्रिकालवर्ती सब पर्यायोंको केवल ज्ञानका विषय बतलाया है । एक दूसरे ग्रन्थमें केवल-ज्ञानको नमस्कार करते हुए कहा है कि केवलज्ञान क्षायिक है; क्योंकि समस्त ज्ञानावरण कर्मका क्षय होनेपर ही केवलज्ञान प्रकट होता है । इसीसे वह अकेला ही रहता है । उसके साथ अन्य मति श्रुत आदि ज्ञान नहीं रहते, क्योंकि ये ज्ञान क्षायोपशमिक होते हैं अर्थात् ज्ञानावरण कर्मके रहते हुए ही होते हैं, और केवलज्ञान उसके चले जानेपर होता है । अतः केवलज्ञान सूर्यकी तरह अकेला ही त्रिकालवर्ती सब पदार्थोंको एक साथ प्रकाशित करता है । क्षायिक होनेसे ही उसका कभी अन्त नहीं होता । अर्थात् एक बार प्रकट होनेपर वह सदा बना रहता है; क्यों कि उसको ढांकनेवाला ज्ञानावरण कर्म नष्ट हो चुका है । अतः वह समस्त सुखोंका भण्डार है ॥ २५४ ॥ आगे ज्ञानको सर्वगत कहते हैं । **अर्थ**-यतः ज्ञान समस्त लोकालोकको जानता है अतः ज्ञानको सर्वगत भी कहते हैं । किन्तु ज्ञान जीवको छोड़कर अन्यत्र नहीं जाता ॥ **भावार्थ**-सर्वगतका मतलब होता है सब जगह जानेवाला । अतः ज्ञानको सर्वगत कहनेसे यह मतलब नहीं लेना चाहिये कि ज्ञान आत्माको छोड़कर पदार्थके पास चला जाता है किन्तु आत्मामें रहते हुए ही वह समस्त लोकालोकको जानता है इसीलिये उसे सर्वगत कहते हैं । प्रवचनसारमें आचार्य कुन्दकुन्दने इस पर अच्छा प्रकाश डाला है । उन्होंने कहा है कि आत्मा ज्ञानके बराबर है और ज्ञान ज्ञेयके बराबर है । तथा ज्ञेय लोकालोक है । अतः ज्ञान सर्वगत है ॥ २५५ ॥ आगे कहते हैं कि ज्ञान अपने देशमें रहता है और ज्ञेय अपने देशमें रहता है, फिरभी ज्ञान ज्ञेयको जानता है । **अर्थ**-ज्ञान ज्ञेयके पास नहीं जाता और न ज्ञेय ज्ञानके पास आता है । फिरभी अपने अपने देशमें स्थित ज्ञान और ज्ञेयमें ज्ञेयज्ञायकव्यवहार होता है ॥

---

१ म अच्चदे । २ ब जाइ । ३ म स ग देसम्हि ।

घटपटादिचेतनाचेतनादिवस्तु पदार्थः ज्ञानप्रदेशे न याति न गच्छति । तर्हि किम् । अस्ति निजनिजप्रदेशस्थितानां ज्ञानज्ञेयानां प्रमाणप्रमेयानां ज्ञानज्ञेयव्यवहारः । यथा दर्पणः स्वप्रदेशस्थित एव स्वप्रदेशस्थं वस्तु प्रकाशयति तथा ज्ञानं ज्ञेयं च । 'सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते ।' इति वचनात् ॥ २५६ ॥ अथ मनःपर्ययज्ञानादीनां देशप्रत्यक्षं परोक्षं च विशदयति–

मण-पज्जय-विण्णाणं ओही-णाणं च देस-पच्चक्खं ।
मदि-सुदि[1]-णाणं कमसो विसदे-परोक्खं परोक्खं च ॥ २५७ ॥

[छाया–मनःपर्ययविज्ञानम् अवधिज्ञानं च देशप्रत्यक्षम् । मतिश्रुतिज्ञानं क्रमशः विशदपरोक्षं परोक्षं च ॥] मनःपर्ययज्ञानं मनसा परमनसि स्थितं पदार्थं पर्येति जानाति इति मनःपर्ययं तच्च तज्ज्ञानं च मनःपर्ययज्ञानं वा परकीयमनसि स्थितोऽर्थः साहचर्यान्मनः इत्युच्यते तस्य मनसः पर्ययणं परिगमनं परिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं क्षायोपशमिकम् ऋजुमतिविपुलमतिभेदभिन्नं च । पुनः अवधिज्ञानम् अवधीयते द्रव्यक्षेत्रकालभावेन मर्यादीक्रियते, अर्वाग्धानं अवधिः अधस्ताद्बहुतरविषयग्रहणात् अवधिः देशावधिपरमावधिसर्वावधिज्ञानं च । देशप्रत्यक्षम् एकदेशविशदम् । मनः-

भावार्थ–आचार्य समन्तभद्रने रत्नकरंड श्रावकाचारके आरम्भमें भगवान महावीरको नमस्कार करते हुए उनके ज्ञानको अलोक सहित तीनों लोकोंके लिये दर्पणकी तरह बतलाया है । अर्थात् जैसे दर्पण अपने स्थानपर रहते हुए ही अपने स्थानपर रखे हुए पदार्थोंको प्रकाशित करता है, वैसे ही ज्ञान भी अपने स्थानपर रहते हुए ही अपने अपने स्थानपर स्थित पदार्थोंको जान लेता है । प्रवचनसारमें भी कहा है कि आत्मा ज्ञानस्वभाव है और पदार्थ ज्ञेयस्वरूप हैं । अर्थात् जानना आत्माका स्वभाव है और ज्ञानके द्वारा विषय किया जाना पदार्थोंका स्वभाव है । अतः जैसे चक्षु रूपी पदार्थोंके पास न जाकर ही उनके स्वरूपको ग्रहण करनेमें समर्थ है, और रूपी पदार्थ भी नेत्रोंके पास न जाकर ही अपना स्वरूप नेत्रोंको जनानेमें समर्थ हैं, वैसे ही आत्मा भी न तो उन पदार्थोंके पास जाता है और न वे पदार्थ आत्माके पास आते हैं । फिरभी दोनोंमें ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध होनेसे आत्मा सबको जानता है और पदार्थ अपने स्वरूपको जनाते हैं । जैसे दूधके बीचमें रखा हुआ नीलम अपनी प्रभासे उस दूधको अपनासा नीला कर लेता है । उसी प्रकार ज्ञान पदार्थोंमें रहता है । अर्थात् दूधमें रहते हुए भी नीलम अपनेमें ही है और दूध अपने रूप है तभी तो नीलमके निकालते ही दूध स्वाभाविक स्वच्छ रूपमें हो जाता है । ठीक यही दशा ज्ञान और ज्ञेयकी है ॥ २५६ ॥ आगे शेष ज्ञानोंको देश प्रत्यक्ष और परोक्ष बतलाते हैं । **अर्थ**–मनःपर्ययज्ञान और अवधिज्ञान देशप्रत्यक्ष हैं । मतिज्ञान प्रत्यक्ष भी है और परोक्ष भी है । और श्रुतज्ञान परोक्ष ही है ॥ **भावार्थ**–जो आत्माके द्वारा दूसरेके मनमें स्थित रूपी पदार्थको प्रत्यक्ष जानता है, उसे मनः पर्यय ज्ञान कहते हैं । अथवा दूसरेके मनमें स्थित रूपी पदार्थको मनमें रहनेके कारण मन कहते हैं । अर्थात् 'मनःपर्यय' में 'मन' शब्दसे मनमें स्थित रूपी पदार्थ लेना चाहिये । उस मनको जो जानता है वह मनःपर्ययज्ञान है । यह मनःपर्ययज्ञान मनःपर्ययज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे प्रकट होता है, अतः क्षायोपशमिक है । उसके दो भेद हैं– ऋजुमति और विपुलमति । तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादाको लिये हुए रूपी पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानने वाले ज्ञानको अवधिज्ञान कहते हैं । अवधिका अर्थ मर्यादा है । अथवा अवाय यानी

१ ब म मइसुइ । २ ब विसय (?) ।

पर्ययावधिज्ञानानाम् एकदेशविशदत्वात् देशप्रत्यक्षं च । पुनः मतिश्रुतज्ञानम् इन्द्रियैर्मनसा च यथायथम् अर्थान् मन्यते मतिः मनुतेऽनया वा मतिः मननं वा मतिः । श्रुतज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमे सति निरूप्यमाणं श्रूयते यत्तत् श्रुतं, शृणोति अनेन तत् श्रुतम्, श्रवणं वा श्रुतं तच्च तद् ज्ञानम् । मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च क्रमशः क्रमेण विशदपरोक्षं परोक्षं च । यत् इन्द्रियानिन्द्रियजं मतिज्ञानं तत् विशदम् एकदेशतः विशदं स्पष्टम् । उक्तं च परीक्षामुखे । इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकमिति सांव्यवहारिकप्रत्यक्षं मतिज्ञानं कथ्यते । यत् श्रुतज्ञानं तत्परोक्षम् अविशदम् अस्पष्टमित्यर्थः । मनःपर्यायज्ञानम् अवधिज्ञानं च देशप्रत्यक्षं स्यात् । मतिज्ञानम् एकदेशपरोक्षं श्रुतज्ञानं परोक्षज्ञानं स्यात् ॥ २५७ ॥ अथेन्द्रियज्ञानस्य योग्यं विषयं विशदयति–

इंदियजं मदि-णाणं जोग्गं[1] जाणेदि पुग्गलं दव्वं ।
माणस-णाणं च पुणो सुय-विसयं अक्ख-विसयं च ॥ २५८ ॥

पुद्गल, उनको जो जाने वह अवधि है । अथवा अपने क्षेत्रसे नीचेकी ओर इस ज्ञानका विषय अधिक होता है इसलिये भी इसे अवधि ज्ञान कहते हैं । अवधि ज्ञानके तीन भेद हैं–देशावधि, परमावधि और सर्वावधि । मनःपर्ययज्ञान और अवधिज्ञान एक देशसे प्रत्यक्ष होनेके कारण देशप्रत्यक्ष हैं । जो ज्ञान-परकी सहायताके विना स्वयं ही पदार्थोंको स्पष्ट जानता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं । ये दोनोंही ज्ञान इन्द्रिय आदिकी सहायताके विना अपने २ विषयको स्पष्ट जानते हैं इसलिये प्रत्यक्ष तो हैं, किन्तु एक तो केवल रूपी पदार्थोंको ही जानते हैं दूसरे उनकी भी सब पर्यायोंको नहीं जानते, अपने २ योग्य रूपी द्रव्यकी कतिपय पर्यायोंको ही स्पष्ट जानते हैं । इसलिये ये देशप्रत्यक्ष हैं । इन्द्रिय और मनकी सहायतासे यथायोग्य पदार्थको जाननेवाले ज्ञानको मतिज्ञान कहते हैं । तथा श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेपर मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थको विशेष रूपसे जाननेवाले ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं । श्रुत शब्द यद्यपि 'श्रु' धातुसे बना है और 'श्रु' का अर्थ 'सुनना' होता है । किन्तु रूढ़िवश ज्ञान विशेषका नाम श्रुतज्ञान है । ये दोनों ज्ञान इन्द्रियों और मनकी यथायोग्य सहायतासे होते हैं इसलिये परोक्ष हैं । क्यों कि 'पर' अर्थात् इन्द्रियां, मन, प्रकाश, उपदेश वगैरह बाह्य निमित्तकी अपेक्षासे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह परोक्ष कहा जाता है । अतः यद्यपि ये दोनों ही ज्ञान परोक्ष हैं किन्तु इनमेंसे मतिज्ञान प्रत्यक्ष भी है और परोक्ष भी है । मतिज्ञानको प्रत्यक्ष कहनेका एक विशेष कारण है । भट्टाकलंक देवसे पहले यह ज्ञान परोक्ष ही माना जाता था । किन्तु इससे अन्य मतावलम्बियोंके साथ शास्त्रार्थ करते हुए एक कठिनाई उपस्थित होती थी । जैनोंके सिवा अन्य सब मतावलम्बी इन्द्रियोंसे होनेवाले ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं । एक जैन धर्म ही उसे परोक्ष मानता था, तथा लोकमें भी इन्द्रिय ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा जाता है । अतः भट्टाकलंक देवने मतिज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम दिया । जो यह बतलाता है कि मतिज्ञान लोकव्यवहारकी दृष्टिसे प्रत्यक्ष है, किन्तु वास्तवमें प्रत्यक्ष नहीं है । इसीसे परीक्षामुखमें प्रत्यक्षके दो भेद किये हैं–एक सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और एक मुख्य प्रत्यक्ष । तथा इन्द्रिय और मनके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले एकदेश स्पष्ट ज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है ॥ २५७ ॥ आगे इन्द्रिय ज्ञानके योग्य विषयको कहते हैं । **अर्थ–**इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला मतिज्ञान अपने योग्य पुद्गल द्रव्यको जानता है । और मानसज्ञान श्रुतज्ञानके विषयको भी जानता है तथा इन्द्रियोंके

१ ल म स ग जुग्गं ।

[छाया-इन्द्रियजं मतिज्ञानं योग्यं जानाति पुद्गलं द्रव्यम् । मानसज्ञानं च पुनः श्रुतविषयम् अक्षविषयं च ॥] यत् इन्द्रियजम् इन्द्रियेभ्यः स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रेभ्यः मनसा च जातम् उत्पन्नम् इन्द्रियानिन्द्रियजम् अवग्रहेहावायधारणाभेदभिन्नं षट्त्रिंशदधिकत्रिशतभेदं मतिज्ञानं योग्यं पुद्गलद्रव्यम्, 'बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ।' इति द्वादशभेदभिन्नं पुद्गलद्रव्यं स्पर्शरसवर्णसंस्थानादिकं पदार्थं जानाति पश्यतीत्यर्थः । पुनः कथंभूतं मतिज्ञानम् । माणसणाणं मनसोत्पन्नं ज्ञानम् अनिन्द्रियजातज्ञानम् । च पुनः किंभूतम् । श्रुतविषयम् अस्फुटज्ञानविषयं 'श्रुतमनिन्द्रियस्य' । अभिधानात् श्रुतज्ञानगृहीतार्थग्राहकम् । च पुनः कीदृक्षम् । अक्षविषयम् इन्द्रियगृहीतार्थग्राहकम् ॥ २५८ ॥ अथ पञ्चेन्द्रियज्ञानानां क्रमेणोपयोगः न युगपदिति बंभणीति-

---

विषयोंको भी जानता है ॥ **भावार्थ**-मतिज्ञान पांचों इन्द्रियोंसे तथा मनसे उत्पन्न होता है । जो मतिज्ञान पांचों इन्द्रियोंसे उत्पन्न होता है वह तो अपने योग्य पुद्गल द्रव्यको ही जानता है क्योंकि पुद्गलमें स्पर्श, रस, गन्ध और रूप ये चार गुण होते हैं । और इनमेंसे स्पर्शन इन्द्रियका विषय केवल स्पर्श है, रसना इन्द्रियका विषय रस ही है, घ्राण इन्द्रियका विषय गन्ध ही है और चक्षु इन्द्रियका विषय केवल रूप है । तथा श्रोत्रेन्द्रियका विषय शब्द है, वह भी पौद्गलिक है । इस तरह इन्द्रियजन्य मतिज्ञान तो अपने अपने योग्य पुद्गल द्रव्यको ही जानता है । किन्तु मनसे मतिज्ञान भी उत्पन्न होता है, और श्रुतज्ञान भी उत्पन्न होता है । अतः मनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान इन्द्रियोंके विषयोंको भी जानता है और श्रुतज्ञानके विषयको भी जानता है । मतिज्ञानके कुल भेद तीनसौ छत्तीस होते हैं जो इस प्रकार हैं- मतिज्ञानके मूलभेद चार हैं-अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा । इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध होते ही जो सामान्य ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं । दर्शनके अनन्तर ही जो पदार्थका ग्रहण होता है वह अवग्रह है । जैसे, चक्षुसे सफेद रूपका जानना अवग्रह ज्ञान है । अवग्रहसे जाने हुए पदार्थको विशेष रूपसे जाननेकी इच्छाका होना ईहा है, जैसे यह सफेद रूपवाली वस्तु क्या है ? यह तो बगुलोंकी पंक्ति मालूम होती है, यह ईहा है । विशेष चिन्होंके द्वारा यथार्थ वस्तुका निर्णय कर लेना अवाय है । जैसे, पंखोंके हिलनेसे तथा ऊपर नीचे होनेसे यह निर्णय करना कि यह बगुलोंकी पंक्ति ही है, यह अवाय है । अवायसे निर्णीत वस्तुको कालान्तरमें नहीं भूलना धारणा है । बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त, ध्रुव तथा अल्प, अल्पविध, अक्षिप्त, निःसृतः, उक्त, अध्रुव, इन बारह प्रकारके पदार्थोंके अवग्रह आदि चारों ज्ञान होते हैं । बहुत वस्तुओंके जाननेको बहुज्ञान कहते हैं । बहुत तरहकी वस्तुओंके जाननेको बहुविधज्ञान कहते हैं । जैसे, सेना या वनको एक समूह रूपमें जानना बहुज्ञान है और हाथी घोडे आदि या आम महुआ आदि भेदोंको जानना बहुविध ज्ञान है । वस्तुके एक भागको देखकर पूरी वस्तुको जान लेना अनिःसृत ज्ञान है । जैसे जलमें डूबे हुए हाथीकी सूंडको देखकर हाथीको जान लेना । शीघ्रतासे जाती हुई वस्तुको जानना क्षिप्रज्ञान है । जैसे तेज चलती हुई रेलगाडीको या उसमें बैठकर बाहरकी वस्तुओंको जानना । विना कहे अभिप्रायसे ही जान लेना अनुक्त ज्ञान है । बहुत काल तक जैसाका तैसा निश्चल ज्ञान होना ध्रुव ज्ञान है । अल्प अथवा एक वस्तुको जानना अल्पज्ञान है । एक प्रकारकी वस्तुओंको जानना एकविध ज्ञान है । धीरे धीरे चलती हुई वस्तुको जानना अक्षिप्रज्ञान है । सामने पूरी विद्यमान वस्तुको जानना निःसृत ज्ञान है । कहने पर जानना उक्त ज्ञान है । चंचल बिजली वगैरहको जानना अध्रुव ज्ञान है । इस तरह बारह प्रकारका अवग्रह, बारह प्रकारका ईहा, बारह

पंचिंदिय[1]-णाणाणं मज्झे एगं च होदि उवजुत्तं ।
मण-णाणे उवजुत्तो इंदिय-णाणं ण जाणेदि[2] ॥ २५९ ॥

[छाया–पञ्चेन्द्रियज्ञानानां मध्ये एकं च भवति उपयुक्तम् । मनोज्ञाने उपयुक्तः इन्द्रियज्ञानं न जानाति ॥] पञ्चेन्द्रियज्ञानानां स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रजज्ञानानां मध्ये एकस्मिन् काले एकं ज्ञानम् उपयुक्तम् उपयोगयुक्तं विषयग्रहणव्यापारयुक्तं भवति । मनोज्ञाने उपयुक्ते नोइन्द्रियज्ञाने उपयुक्ते विषयग्रहणव्यापारोपयुक्ते सति इन्द्रियज्ञानं पञ्चेन्द्रियाणां ज्ञानं न जायते न उत्पद्यते । अथवा मनसो ज्ञानेन उपयुक्तः मनोज्ञानव्यापारसहितो जीवः इन्द्रियज्ञानं न जानाति । यदा जीवः मनसा एकाग्रचेतसा आर्तरौद्रधर्मादिध्यानं धरति, तदा इन्द्रियाणां ज्ञानं न स्फुरतीत्यर्थः । वा इन्द्रियज्ञानं एकैकं जानाति । चक्षुर्ज्ञानं घ्राणं न जानाति इत्यादि ॥ २५९ ॥ ननु यद्भवद्भिरुक्तम् एकस्मिन् काले एकस्यैवेन्द्रियज्ञानस्योपयोगस्तदप्ययुक्तम् । केनचित्पुंसा करगृहीतशष्कुल्यां भक्षमाणायां सत्यां तद्गन्धग्रहणं घ्राणस्य तच्चर्वणशब्दग्रहणं श्रोत्रस्य तद्वर्णग्रहणं चक्षुषोः तत्स्पर्शग्रहणं करस्य तद्रसग्रहणं जिह्वायाश्च जायते । इति पञ्चेन्द्रियाणां ज्ञानस्य [उपयोगः] युगपदुत्पद्यते इति वावदूकं वादिनं प्रतिवदति–

एक्के[3] काले एक्कं[4] णाणं जीवस्स होदि उवजुत्तं ।
णाणा-णाणाणि पुणो लद्धि-सहावेण वुच्चंति ॥ २६० ॥

प्रकारका अवाय और बारह प्रकारका धारणा ज्ञान होता है । ये सब मिलकर ४८ भेद होते हैं । तथा इनमेंसे प्रत्येक ज्ञान पांच इन्द्रियों और मनसे होता है अतः ४८×६=२८८ भेद मतिज्ञानके होते हैं । तथा अस्पष्ट शब्द वगैरहका केवल अवग्रह ही होता है, ईहा आदि नहीं होते । उसे व्यञ्जनावग्रह कहते हैं । और व्यंजनावग्रह चक्षु और मनको छोडकर शेष चार इन्द्रियोंसे ही होता है । अतः बहु आदि विषयोंकी अपेक्षा व्यंजनावग्रहके ४८ भेद होते हैं । २८८ भेदोंमें इन ४८ भेदोंको मिलानेसे मतिज्ञानके ३३६ भेद होते हैं ॥ २५८ ॥ आगे कहते हैं कि पांचों इन्द्रियज्ञानोंका उपयोग क्रमसे होता है, एक साथ नहीं होता । **अर्थ**–पांचों इन्द्रियज्ञानोंमेंसे एक समयमें एक ही ज्ञानका उपयोग होता है । तथा मनोज्ञानका उपयोग होने पर इन्द्रियज्ञान नहीं होता ॥ **भावार्थ**–स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानोंमेंसे एक समयमें एक ज्ञान ही अपने विषयको ग्रहण करता है । इसी तरह जिस समय मनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान अपने विषयको जानता है उस समय इन्द्रिय ज्ञान नहीं होता । सारांश यह है कि इन्द्रिय ज्ञानका उपयोग क्रमसे ही होता है । एक समयमें एकसे अधिक ज्ञान अपने २ विषयको ग्रहण नहीं कर सकते, अर्थात् उपयोग रूप ज्ञान एक समयमें एक ही होता है ॥ २५९ ॥ शङ्का–आपने जो यह कहा है कि एक समयमें एक ही इन्द्रिय ज्ञानका उपयोग होता है यह ठीक नहीं है, क्योंकि हाथकी कचौरी खानेपर घ्राण इन्द्रिय उसकी गन्धको सूंघती है, श्रोत्रेन्द्रिय कचौरीके चबानेके शब्दको ग्रहण करती है, चक्षु कचौरीको देखती है, हाथको उसका स्पर्श ज्ञान होता है और जिह्वा उसका स्वाद लेती है, इस तरह पांचों इन्द्रिय ज्ञान एक साथ होते हैं । इस शङ्काका समाधान करते हैं । **अर्थ**–जीवके एक समयमें एक ही ज्ञानका उपयोग होता है । किन्तु लब्धि रूपसे एक समयमें अनेक ज्ञान कहे हैं ॥ **भावार्थ**–प्रत्येक क्षायोपशमिक ज्ञानकी दो अवस्थाएँ होती हैं–एक लब्धिरूप और एक उपयोगरूप । अर्थको ग्रहण करनेकी शक्तिका नाम लब्धि

१ **ब** पंचिंदिय, **ल म स ग** पंचेंदिय । २ **ब** जाणा(णे?)दि, **ल म स** जाएदि, **ग** जाएहि । ३ **म ग** एक्के । ४ **ल म स ग** एगं ।

[छाया-एकस्मिन् काले एकं ज्ञानं जीवस्य भवति उपयुक्तम् । नानाज्ञानानि पुनः लब्धिस्वभावेन उच्यन्ते ॥] जीवस्यात्मनः एकस्मिन् काले एकस्मिन्नेव समये एकं ज्ञानम् एकस्यैवेन्द्रियस्य ज्ञानं स्पर्शनादिजम् उपयुक्तं विषयग्रहण-व्यापारयुक्तम् अर्थग्रहणे उद्यमनं व्यापारणम् उपयोगी भवति । यदा स्पर्शनेन्द्रियज्ञानेन स्पार्शो विषयो गृह्यते तदा रसनादीन्द्रियज्ञानेन रसादिविषयो न गृह्यत इत्यर्थः । एवं रसनादिषु योज्यम् । तर्हि अपरेन्द्रियाणां ज्ञानानि तत्र दृश्यन्ते तत्कथमिति चेदुच्यते । पुनः नानाज्ञानानि अनेकप्रकारज्ञानानि स्पर्शनाद्यनेकेन्द्रियज्ञानानि लब्धिस्वभावेन, अर्थग्रहणशक्तिर्लब्धिर्लाभः प्राप्तिः तत्स्वभावेन तत्स्वरूपेण, उच्यन्ते कथ्यन्ते ॥ २६० ॥ अथ वस्तुनः अनेकान्तात्मक-मेकान्तात्मकं च दर्शयति-

जं वत्थु अणेयंतं एयंतं तं पि होदि सविपेक्खं ।
सुय-णाणेण णएहि य णिरवेक्खं दीसदे[1] णेव ॥ २६१ ॥[2]

[छाया-यत् वस्तु अनेकान्तम् एकान्तं तत् अपि भवति सव्यपेक्षम् । श्रुतज्ञानेन नयैः च निरपेक्षं दृश्यते नैव ॥] यद्वस्तु जीवादिद्रव्यम् एकान्तम् अस्तित्वाद्येकधर्मविशिष्टम्, जीवोऽस्तीति तदपि जीवादिवस्तु सव्यपेक्षं सापेक्षम् आकाङ्क्षासहितम्, स्वद्रव्यचतुष्टयापेक्षया अस्ति एकान्तविशिष्टं परद्रव्यचतुष्टयापेक्षया नास्तिधर्मविशिष्टम् इति अनेकान्तात्मकं वस्तु । श्रुतज्ञानेन जिनोक्तशास्त्रबोधेन नैगमादिनयैश्च नैगमसंग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभू-ताख्यैः च अनेकान्तात्मकं च वस्तु भवति । तथा चोक्तं च । 'नानास्वभावसंयुक्तं द्रव्यं ज्ञात्वा प्रमाणतः । तच्च सापेक्षसिद्ध्यर्थं स्यान्नयमिश्रितं कुरु ॥' स्वद्रव्यादिग्राहकेण अस्तिस्वभावः । परद्रव्यादिग्राहकेण नास्तिस्वभावः । उत्पाद-व्ययगौणत्वेन सत्ताग्राहकेण नित्यस्वभावः । केनचित्पर्यायार्थिकेन अनित्यस्वभावः । भेदकल्पनानिरपेक्षेणैकस्वभावः । अन्वयद्रव्यार्थिकेनैकस्याप्यनेकद्रव्यस्वभावत्वम् । सद्भूतव्यवहारेण गुणगुण्यादिभिर्भेदस्वभावः । भेदविकल्पनानिरपेक्षेण (गुण) गुण्यादिभिरभेदस्वभावः । परमभावग्राहकेण भव्याभव्यपरिणामिकस्वभावः । शुद्धाशुद्धपरमभावग्राहकेण

है । और अर्थको ग्रहण करनेका नाम उपयोग है । लब्धि रूपमें एक साथ अनेक ज्ञान रह सकते हैं। किन्तु उपयोग रूपमें एक समयमें एक ही ज्ञान होता है । जैसे पांचों इन्द्रियजन्य ज्ञान तथा मनोजन्य ज्ञान लब्धि रूपमें हमारेमें सदा रहते हैं । किन्तु हमारा उपयोग जिस समय जिस वस्तुकी ओर होता है उस समय केवल उसीका ज्ञान हमें होता है । कचौरी खाते समय भी जिस क्षणमें हमें उसकी गन्धका ज्ञान होता है उसी क्षण रसका ज्ञान नहीं होता । जिस क्षण रसका ज्ञान होता है उसी क्षण स्पर्शका ज्ञान नहीं होता । किन्तु उपयोगकी चंचलताके कारण कचौरीके गन्ध, रस वगैरहका ज्ञान इतनी द्रुत गतिसे होता है कि हमें क्षणभेदका भान नहीं होता और हम यह समझ लेते हैं कि पाचों ज्ञान एक साथ हो रहे हैं । किन्तु यथार्थमें पांचों ज्ञान क्रमसे ही होते हैं, अतः उपयोगरूप ज्ञान एक समयमें एक ही होता है ॥ २६० ॥ आगे वस्तुको अनेकान्तात्मक और एकान्तात्मक दिखलाते हैं । **अर्थ**-जो वस्तु अनेकान्तरूप है वही सापेक्ष दृष्टिसे एकान्तरूप भी है । श्रुतज्ञानकी अपेक्षा अनेकान्त-रूप है और नयोंकी अपेक्षा एकान्तरूप है । विना अपेक्षाके वस्तुका रूप नहीं देखा जासकता ॥ **भावार्थ**-पहले वस्तुको अनेकान्तरूप सिद्ध कर आये हैं, क्योंकि प्रमाणके द्वारा वस्तुमें अनेक धर्मोंकी प्रतीति होती है । प्रमाणके दो भेद हैं-स्वार्थ और परार्थ । श्रुतज्ञानके सिवा बाकीके मति आदि चारों ज्ञान स्वार्थ प्रमाण ही हैं । किन्तु श्रुतज्ञान स्वार्थ भी होता है और परार्थ भी होता है । ज्ञानरूप श्रुतज्ञान स्वार्थ है और वचनरूप श्रुतज्ञान परार्थ है । श्रुतज्ञानके भेद नय हैं । प्रमाणसे जानी हुई वस्तुमें

१ ल म स ग णयेहि य णिरविक्खं दीसए । २ अत्र ब पुस्तके 'जो साहेदि विसेसं' इत्यादि गाथा ।

चेतनस्वभावो जीवस्य । असद्भूतव्यवहारेण कर्मनोकर्मणोरपि चेतनस्वभावः । परमभावग्राहकेण कर्मनोकर्मणोः अचेतनस्वभावः । जीवस्याप्यसद्भूतव्यवहारेण अचेतनस्वभावः । परमभावग्राहकेण कर्मनोकर्मणोर्मूर्तस्वभावः । जीवस्याप्यसद्भूतव्यवहारेण मूर्तस्वभावः । परमभावग्राहकेण पुद्गलं विहाय इतरेषां द्रव्याणाम् अमूर्तस्वभावः । पुद्गलस्य तूपचारादपि नास्त्यमूर्तत्वम् । परमभावग्राहकेण कालपुद्गलाणूनाम् एकप्रदेशस्वभावत्वम् । भेदकल्पनानिरपेक्षेण चतुर्णामपि नानाप्रदेशस्वभावत्वम् । पुद्गलाणोरुपचारतः[1] (नानाप्रदेशत्वं न च कालाणोः स्निग्धरूक्षत्वाभावात् । अरूक्षत्वाचाणोरमूर्त-) पुद्गलस्यैकविंशतितमो भावो न स्यात् । परोक्षप्रमाणापेक्षया असद्भूतव्यवहारेणाप्युपचारेणामूर्तत्वम् ॥ पुद्गलस्य

अपेक्षा भेदसे एक धर्मको ग्रहण करनेवाले ज्ञानको नय कहते हैं । जैसे प्रमाणसे वस्तुको अनेक धर्मात्मक जानकर ऐसा जानना कि वस्तु स्वचतुष्टयकी अपेक्षा सत्स्वरूप ही है अथवा पर द्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा असत्स्वरूप ही है, यह नय है । इसीसे प्रमाणको सकलग्राही और नयको विकलग्राही कहा है । किन्तु एक नय दूसरे नयकी अपेक्षा रखकर वस्तुको जाने, तभी वस्तुधर्मकी ठीक प्रतीति होती है । जैसे, यदि कोई यह कहे कि वस्तु सत्स्वरूप ही है असत्स्वरूप नहीं है तो यह नय सुनय न होकर दुर्नय कहा जायेगा । अतः इतर धर्मोंका निषेध न करके एक धर्मकी मुख्यतासे वस्तुको जाननेसे ही वस्तुकी ठीक प्रतीति होती है । इसीसे आलापपद्धतिमें कहा है-'प्रमाणसे नाना धर्मयुक्त द्रव्यको जानकर सापेक्ष सिद्धिके लिये उसमें नयकी योजना करो' । यथा—स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावको ग्रहण करनेवाले नयकी अपेक्षा द्रव्य अस्तिस्वभाव है १ । परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावको ग्रहण करनेवाले नयकी अपेक्षा नास्तिस्वभाव है २ । उत्पाद और व्ययको गौण करके ध्रौव्यकी मुख्यतासे ग्रहण करनेवाले नयकी अपेक्षा द्रव्य नित्य है ३ । किसी पर्यायको ग्रहण करनेवाले नयकी अपेक्षा द्रव्य अनित्यस्वभाव है ४ । भेदकल्पना निरपेक्ष नयकी अपेक्षा द्रव्य एकस्वभाव है ५ । अन्वयग्राही द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा एक होते हुए भी द्रव्य अनेकस्वभाव है ६ । सद्भूत व्यवहार नयसे गुण गुणी आदिकी अपेक्षा द्रव्य भेदस्वभाव है ७ । भेद कल्पना निरपेक्ष नयकी अपेक्षा गुण गुणी आदि रूपसे अभेद स्वभाव है ८ । परमभावके ग्राहक नयकी अपेक्षा जीवद्रव्य भव्य या अभव्यरूप पारिणामिक स्वभाव है ९ । शुद्ध या अशुद्ध परमभाव ग्राहक नयकी अपेक्षा जीवद्रव्य चेतनस्वभाव है १० । असद्भूत व्यवहार नयसे कर्म और नोकर्म भी चेतन स्वभाव हैं ११ । किन्तु परमभाव ग्राहक नयकी अपेक्षा कर्म और नोकर्म अचेतन स्वभाव हैं १२ । असद्भूत व्यवहार नयसे जीव भी अचेतन स्वभाव है १३ । परमभाव ग्राहक नयकी अपेक्षा कर्म और नोकर्म मूर्त स्वभाव हैं १४ । असद्भूत व्यवहार नयसे जीव भी मूर्त स्वभाव है १५ । परमभावग्राही नयकी अपेक्षा पुद्गलको छोडकर शेष सब द्रव्य अमूर्त स्वभाव हैं तथा पुद्गल उपचारसे भी अमूर्तिक नहीं है । परमभावग्राही नयकी अपेक्षा कालाणु तथा पुद्गलका एक परमाणु एक प्रदेशी हैं । भेद कल्पनाकी अपेक्षा न करने पर शेष धर्म, अधर्म, आकाश और जीवद्रव्य भी अखण्ड होनेसे एकप्रदेशी हैं । किन्तु भेद कल्पनाकी अपेक्षासे चारों द्रव्य अनेकप्रदेशी हैं । पुद्गलका परमाणु उपचारसे अनेक प्रदेशी है क्योंकि वह अन्य परमाणुओंके साथ बन्धनेपर बहुप्रदेशी स्कन्धरूप होजाता है । किन्तु कालाणुमें बन्धके कारण स्निग्ध रूक्ष गुण नहीं है, इसलिये कालाणु उपचारसे भी अनेकप्रदेशी नहीं है । इसीसे अमूर्त काल द्रव्यमें बहुप्रदेशत्वके विना शेष १५ स्वभाव ही कहे हैं । शुद्धाशुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे पुद्गल विभाव-

१ आदर्शे तु "°रुपचारतः अणारमूर्तत्वात् भावे पुद्गल°" इति पाठः ।

शुद्धाशुद्धद्रव्यार्थिकेन विभावस्वभावत्वम् । शुद्धद्रव्यार्थिकेन शुद्धस्वभावः । अशुद्धद्रव्यार्थिकेन अशुद्धस्वभावः । असद्भूत-व्यवहारेण उपचरितस्वभावः । श्लोकः । 'द्रव्याणां तु यथारूपं तल्लोकेऽपि व्यवस्थितम् । तथाज्ञानेन संज्ञानं नयोऽपि हि तथाविधः ॥' इति नययोजनिका । सकलवस्तुग्राहकं प्रमाणं, प्रमीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन ज्ञानेन तत्प्रमाणम् । (तद्द्वेधा सविकल्पेतरभेदात् । सविकल्पं मानसम्, तच्चतुर्विधम् । मतिश्रुतावधिमनःपर्यायरूपम् । निर्विकल्पं मनोरहितं केवलज्ञानमिति प्रमाणस्य व्युत्पत्तिः) प्रमाणेन वस्तुसंगृहीतार्थैकांशो नयः, श्रुतविकल्पो वा, ज्ञातुरभिप्रायो वा नयः । नानास्वभावेभ्यो व्यावृत्त्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति प्राप्नोति इति वा नयः । इति श्रुतज्ञानेन नयैश्च वस्तु अनेकान्तं भवति । यद्वस्तु निरपेक्षं प्रतिपक्षधर्मानपेक्षम् एकान्तरूपं तद्वस्तु न दृश्यते, नैव लोक्यत एव । एकान्तात्मकस्य वस्तुनः जगत्यभावात् । 'निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्' इति वचनात् । तथा चोक्तम् । 'य एव नित्यक्षणिकादयो नया मिथोनपेक्षाः स्वपरप्रणाशिनः । त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परेक्षाः स्वपरोपकारिणः ॥' इति ॥ २६१ ॥ अथ श्रुतज्ञानस्य परोक्षेणानेकान्तप्रकाशत्वं दर्शयति–

सव्वं पि अणेयंतं परोक्ख-रूवेण जं पयासेदि ।
तं सुय-णाणं[1] भण्णदि संसय-पहुदीहि परिचत्तं[2] ॥ २६२ ॥

[छाया-सर्वम् अपि अनेकान्तं परोक्षरूपेण यत् प्रकाशयति । तत् श्रुतज्ञानं भण्यते संशयप्रभृतिभिः परित्यक्तम् ॥] यत्परोक्षरूपेण सर्वमपि जीवादिवस्तु अनेकधर्मविशिष्टं प्रकाशयति तत् श्रुतज्ञानं भण्यते, जिनोक्तश्रुतज्ञानं कथ्यते । तत्कीदृशम् । संशयप्रभृतिभिः परित्यक्तं संशयविपर्यासानध्यवसायादिभी रहितम् । स्थाणुर्वा पुरुषो वा इति

स्वभाव है । शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे शुद्ध स्वभाव है और अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे अशुद्ध स्वभाव है । तथा असद्भूत व्यवहार नयसे उपचरित स्वभाव है । सारांश यह है कि द्रव्योंका जैसा स्वरूप है वैसा ही ज्ञानसे जाना गया है, तथा वैसा ही लोकमें माना जाता है । नयभी उसे वैसा ही जानते हैं । अन्तर केवल इतना है कि प्रमाणसे वस्तुके सब धर्मोंको ग्रहण करके ज्ञाता पुरुष अपने अभिप्रायके अनुसार उसमेंसे किसी एक धर्मकी मुख्यतासे वस्तुका कथन करता है । यही नय है । इसीसे ज्ञाताके अभिप्रायको भी नय कहा है । तथा जो नाना स्वभावोंको छोड कर वस्तुके एक स्वभावको कथन करता है वह नय है । नयके भी सुनय और दुर्नय दो भेद हैं । जो वस्तुको प्रतिपक्षी धर्मसे निरपेक्ष एकान्तरूप जानता या कहता है वह दुर्नय है । दुर्नयसे वस्तु स्वरूपकी सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि यह बतला आये हैं कि वस्तु सर्वथा एकरूप ही नहीं है । अतः जो प्रतिपक्षी धर्मोंकी अपेक्षा रखते हुए वस्तुके एक धर्मको कहता या जानता है वही सुनय है । इसीसे निरपेक्ष नयोंको मिथ्या बतलाया है और सापेक्ष नयोंको वस्तुसाधक बतलाया है । स्वामी समन्तभद्रने स्वयंभूस्तोत्रमें विमलनाथ भगवानकी स्तुति करते हुए कहा है–'वस्तु नित्यही है' अथवा 'वस्तु क्षणिकही है' जो ये निरपेक्ष नय स्व और पर के घातक हैं, हे विमलनाथ भगवन् ! वे ही नय परस्पर सापेक्ष होकर आपके मतमें तत्त्वभूत हैं, और स्व और पर के उपकारक हैं ॥ २६१ ॥ आगे कहते हैं कि श्रुतज्ञान परोक्ष रूपसे अनेकान्तका प्रकाशन करता है । **अर्थ–**जो परोक्ष रूपसे सब वस्तुओंको अनेकान्त रूप दर्शाता है, संशय आदिसे रहित उस ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं ॥ **भावार्थ–**तीन मिथ्याज्ञान होते हैं–संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय । यह ठूंठ है अथवा आदमी है ? इस प्रकारके चलित ज्ञानको संशय कहते हैं । सींपको

---

१ म सुअणाणं, ग सुयनाणं भणदि । २ ल स ग परिचित्तं ।

चलिता प्रतिपत्तिः इति संशयः संदेहः । शुक्तिकायां रजतज्ञानमिति विपर्यासः विपरीतः विभ्रमः । गच्छतः पुंसः तृणस्पर्शस्य सर्पो वा शृंखला वा इति ज्ञानमनध्यवसायः मोहः । इत्यादिभिर्विवर्जितं श्रुतज्ञानम् । तथा चोक्तं श्रीसमन्तभद्रैः । 'स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्ववस्तुप्रकाशने । भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥' इति ॥ २६२ ॥ अथ लोकव्यवहारस्य नयात्मकं दर्शयति–

लोयाणं ववहारं धम्म-विवक्खाइं[1] जो पसाहेदि[2] ।
सुय-णाणस्स[3] वियप्पो सो वि णओ लिंग-संभूदो ॥ २६३ ॥

[छाया–लोकानां व्यवहारं धर्मविवक्षया यः प्रसाधयति । श्रुतज्ञानस्य विकल्पः सः अपि नयः लिङ्गसंभूतः ॥] यः वादी प्रतिवादी वा धर्मविवक्षया अस्तिनास्तिनित्यानित्यभेदाभेदैकानेकाद्यनेकस्वभावं वक्तुमिच्छया लोकानां जनानां

चांदी जानना विपर्यय ज्ञान है । मार्गमें चलते हुए किसी वस्तुका पैरमें स्पर्श होने पर 'कुछ होगा' इस प्रकारके ज्ञानको अनध्यवसाय कहते हैं । इन तीनों मिथ्याज्ञानोंसे रहित जो ज्ञान अनेकान्त रूप वस्तुको परोक्ष जानता है वही श्रुतज्ञान है । पहले श्रुतज्ञानको परोक्ष बतलाया है, क्यों कि वह मनसे होता है तथा मतिपूर्वकही होता है । श्रुतज्ञानके दो मूल भेद हैं–एक अनक्षरात्मक और एक अक्षरात्मक । स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु इन चार इन्द्रियोंसे होनेवाले मतिज्ञानपूर्वक जो श्रुतज्ञान होता है वह अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है । तथा शब्दजन्य मतिज्ञानपूर्वक होनेवाले श्रुतज्ञानको अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं । शास्त्रसे तथा उपदेश वगैरहसे जो विशेष ज्ञान होता है वह सब श्रुतज्ञान है । शास्त्रोंमें सभी वस्तुओंके अनेकान्तस्वरूपका वर्णन होता है । अतः श्रुतज्ञान सभी वस्तुओंको शास्त्र वगैरहके द्वारा जानता है, किन्तु शास्त्रके विना अथवा जिनके वचनोंका सार शास्त्रमें हैं उन प्रत्यक्षदर्शी केवलीके विना सब वस्तुओंका ज्ञान नहीं हो सकता । इसीसे समन्तभद्र स्वामीने आप्तमीमांसामें श्रुतज्ञानका महत्त्व बतलाते हुए कहा है–'श्रुतज्ञान और केवलज्ञान, दोनों ही समस्त वस्तुओंको प्रकाशित करते हैं । अन्तर केवल इतना ही है कि श्रुतज्ञान परोक्ष रूपसे जानता है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष रूपसे जानता है' । जो श्रुतज्ञान और केवलज्ञानका विषय नहीं है वह अवस्तु है । अर्थात् ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो इन दोनों ज्ञानोंके द्वारा न जानी जासके ॥ २६२ ॥ श्रुतज्ञानका स्वरूप बतलाकर श्रुतज्ञानके भेद नयका स्वरूप बतलाते हैं । **अर्थ**–जो वस्तुके एक धर्मकी विवक्षासे लोकव्यवहारको साधता है वह नय है । नय श्रुतज्ञानका भेद है तथा लिंगसे उत्पन्न होता है ॥ **भावार्थ**–लोकव्यवहार नयके द्वारा ही चलता है; क्यों कि दुनियाके लोग किसी एक धर्मकी अपेक्षासे ही वस्तुका व्यवहार करते हैं । जैसे, एक राजाके पास सोनेका घडा था । उसकी लडकीको वह बहुत प्यारा था । वह उससे खेला करती थी । किन्तु राजपुत्र उस घडेको तुडवाकर मुकुट बनवानेकी जिद किया करता था । उसे घडा अच्छा नहीं लगता था । एक दिन राजाने घडेको तोड कर मुकुट बनवा दिया । घडेके टूटनेसे लडकी बहुत रोई, और मुकुटके बन जानेसे राजपुत्र बहुत प्रसन्न हुआ । किन्तु राजाको न शोक हुआ और न हर्ष हुआ । इस लौकिक दृष्टान्तमें लडकीकी दृष्टि केवल घडेके नाश पर है, राजपुत्रकी दृष्टि केवल मुकुटकी उत्पत्ति पर है और राजाकी दृष्टि सोने पर है । इसी तरहसे दुनियाके

---

१ ब विवखाइ । २ ब पयासेहि । ३ म ग णाणिस्स ।

व्यवहारं, भेदोपचारतया वस्तु व्यवह्रियते इति व्यवहारं, ग्रहणगमनयाचनवितरणादि वस्तु नित्यानित्यादिकं प्रसाधयति निर्मिनोति निष्पादयति, सोऽपि श्रुतज्ञानस्य स्याद्वादरूपस्य विकल्पः भेदः नयः कथ्यते । कथंभूतो नयः । लिङ्गसंभूतः लिङ्गेन हेतुरूपेण भूयते स्म लिङ्गभूतः परार्थानुमानरूपः नूतनचिह्नो वा । अथवा लिङ्गसंभूतो नयः कथ्यते ॥ २६४ ॥ अथ नानास्वभावयुक्तस्य वस्तुनः एकस्वभावग्रहणं नयापेक्षया कथ्यते इत्याह–

णाणा-धम्म-जुदं पि[1] य एयं धम्मं पि वुच्चदे अत्थं ।
तस्सेयं[2]-विवक्खादो णत्थि विवक्खा[3] हु[4] सेसाणं ॥ २६४ ॥

[छाया–नानाधर्मयुतः अपि च एकः धर्मः अपि उच्यते अर्थः । तस्य एकविवक्षातः नास्ति विवक्षा खलु शेषाणाम् ॥] नानाधर्मयुक्तोऽपि अर्थः अनेकप्रकारस्वभावसहितोऽपि जीवादिपदार्थः स्वद्रव्यादिग्राहकेण अस्तिस्वभावः, परद्रव्यादिग्राहकेण नास्तिस्वभावः, उत्पादव्ययगौणत्वेन सत्ताग्राहकेण नित्यस्वभावः, केनचित्पर्यायार्थिकेन अनित्यस्वभावः । एवमेकानेकभेदाभेदचेतनाचेतनमूर्तामूर्तादिस्वभावयुक्तोऽपि जीवादिपदार्थः । तस्य अर्थस्य एको धर्मः, जीवो नित्य एव, जीवोऽस्त्येव इत्याद्येकस्वभावविशिष्टः उच्यते कथ्यते । कुतः एकधर्मविवक्षातः एकस्वभाववक्तुमिच्छातः, न तु अनेकधर्माणामभावात् । हु स्फुटम् । शेषाणाम् अनित्यत्वनास्तित्वाद्यनेकधर्माणां तत्र वस्तुनि विवक्षा नास्ति ॥ २६४ ॥ अथ धर्मवाचकशब्दतज्ज्ञानानां नयत्वं दर्शयति–

सो चिय[5] एक्को धम्मो वाचय-सद्दो वि तस्स धम्मस्स ।
जं[6] जाणदि तं णाणं ते तिण्णि वि णय-विसेसा य ॥ २६५ ॥

पर्यायबुद्धि लोग पर्यायकी अपेक्षा वस्तुको नष्ट हुआ अथवा उत्पन्न हुआ देखते हैं और द्रव्यदृष्टि लोग उसे ध्रुव मानकर वैसा व्यवहार करते हैं, अतः लोकव्यवहार नयाधीन है । किन्तु सच्चा नय वस्तुके जिस एक धर्मको ग्रहण करता है उसे युक्तिपूर्वक ग्रहण करता है । जैसे वस्तुको यदि सत् रूपसे ग्रहण करता है तो उसमें हेतु देता है कि अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा वस्तु सत्रूप है । इस तरह नय हेतुजन्य है । इसीसे अष्टसहस्रीमें श्रुतज्ञानको अहेतुवाद और नयको हेतुवाद कहा है । जो विना हेतुके वस्तुके किसीभी एक धर्मको स्वेच्छासे ग्रहण करता है वह नय नहीं है ॥ २६३ ॥ आगे, नाना स्वभाववाली वस्तुके एक स्वभावका ग्रहण नयकी अपेक्षासे कैसे किया जाता है, यह बतलाते हैं । **अर्थ**–नाना धर्मोंसे युक्तभी पदार्थके एक धर्मको ही नय कहता है; क्योंकि उस समय उसी धर्मकी विवक्षा है, शेष धर्मोंकी विवक्षा नहीं है ॥ **भावार्थ**–यद्यपि जीवादि पदार्थ अनेक प्रकारके धर्मोंसे युक्त होते हैं–स्वद्रव्य आदिकी अपेक्षा सत्स्वभाव हैं, पर द्रव्य आदिकी अपेक्षा असत्स्वभाव हैं, उत्पाद व्ययको गौण करके ध्रुवत्वकी अपेक्षा नित्य हैं, पर्यायकी अपेक्षा अनित्य हैं । इस तरह एकत्व, अनेकत्व, भेद, अभेद, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व आदि अनेक धर्मयुक्त हैं । किन्तु उन अनेक धर्मोंमेंसे नय एकही धर्मको ग्रहण करता है । जैसे, जीव नित्य ही है या सत्स्वभाव ही है; क्योंकि उस समय वक्ताकी इच्छा उसी एक धर्मको ग्रहण करनेकी अथवा कहनेकी है । किन्तु इसका यह मतलब नही है कि वस्तुमें अनेक धर्म नहीं हैं इसलिये वह एक धर्मको ग्रहण करता है, बल्कि शेष धर्मोंके होते हुए भी उनकी विवक्षा नहीं है इसीसे वह विवक्षित धर्मको ही ग्रहण करता है ॥ २६४ ॥ आगे, वस्तुके धर्म, उसके वाचक शब्द तथा उसके ज्ञानको नय कहते हैं । **अर्थ**–

१ ल ग धम्मं पि, स धम्म पि । २ ल ग तस्सेव म तस्सेयं । ३ ल ग विवक्खो । ४ ल हि । ५ म विय । ६ ल म स ग तं ।

[छाया-स एव एकः धर्मः वाचकशब्दः अपि तस्य धर्मस्य । यत् जानाति तत् ज्ञानं ते त्रयोऽपि नयविशेषाः च ॥] च पुनः, ते त्रयो नयविशेषाः ज्ञातव्याः । ते के । स एव एको धर्मः नित्योऽनित्यो वा, अस्तिरूपः नास्तिरूपो वा, एकरूपः अनेकरूपो वा, इत्याद्येकस्वभावः नयः । नयग्राह्यत्वात् इत्येकनयः । १ । तस्य धर्मस्य नित्यत्वाद्येकस्वभावस्य वाचकशब्दोऽपि तत्प्रतिपादकशब्दोऽपि नयः कथ्यते । ज्ञानस्य करणे कार्ये च शब्दे नयोपचारात् इति द्वितीयो वाचकनयः । २ । तं नित्याद्येकधर्मं जानाति तत् ज्ञानं तृतीयो नयः । ३ । सकलवस्तुग्राहकं ज्ञानं प्रमाणम्, तदेकदेशग्राहको नयः । इति वचनात् ॥ २६५ ॥ ननु नयानामेकधर्मग्राहकत्वे मिथ्यात्वं स्यात् इत्युक्तिं निरस्यति–

ते सावेक्खा[1] सुणया णिरवेक्खा ते वि दुण्णया होंति ।
सयल-ववहार[2]-सिद्धी सु-णयादो होदि णियमेण[3] ॥ २६६ ॥

[*छाया-ते सापेक्षाः सुनयाः निरपेक्षाः ते अपि दुर्णयाः भवन्ति । सकलव्यवहारसिद्धिः सुनयतः भवति नियमेन ॥*] ते त्रयो नयाः धर्मशब्दज्ञानरूपाः सापेक्षाः स्वविपक्षापेक्षासहिताः । यथा अस्त्यनित्यमेदादिग्राहका नयाः नास्तिनित्यमेदादिसापेक्षाः सन्तः सुनया शोभननयाः सत्यरूपाः नया भवन्ति । अपि पुनः, ते त्रयो नया धर्मशब्द-ज्ञानरूपाः निरपेक्षाः स्वविपक्षापेक्षारहिताः । यथा नास्तिनिरपेक्षः सर्वथा अस्तिस्वभावः, अनित्यत्वनिरपेक्षः सर्वथा नित्य-स्वभावः, अभेदत्वनिरपेक्षः सर्वथा भेदस्वभावः । इत्यादिनिरपेक्षा नया दुर्णया भवन्ति । तथा चोक्तम् । 'दुर्णयैकान्तमारूढा

वस्तुका एक धर्म, उस धर्मका वाचक शब्द और उस धर्मको जाननेवाला ज्ञान, ये तीनों ही नयके भेद हैं ॥ **भावार्थ–**नयके तीन रूप हैं–अर्थरूप, शब्दरूप और ज्ञानरूप । वस्तुका एक धर्म अर्थरूप नय है, उस धर्मका वाचक शब्द शब्दरूप नय है, और उस धर्मका ग्राहक ज्ञान ज्ञानरूप नय है । वस्तुका एक धर्म नयके द्वारा ग्राह्य है इसलिये उसे नय कहा जाता है । और उसका वाचक शब्द तथा ग्राहक ज्ञान एक धर्मको ही कहता अथवा जानता है इस लिये वह तो नय है ही ॥ २६५ ॥ यहां यह शङ्का हो सकती है कि जब एकान्तवाद मिथ्या है तो एक धर्मका ग्राहक होनेसे नय मिथ्या क्यों नहीं है ? इसीका आगे समाधान करते हैं । **अर्थ–**ये नय सापेक्ष हों तो सुनय होते हैं और निरपेक्ष हों तो दुर्नय होते हैं । सुनयसे ही नियमपूर्वक समस्त व्यवहारोंकी सिद्धि होती है ॥ **भावार्थ–** ये तीनोंही नय यदि सापेक्ष होते हैं, अर्थात् अपने विपक्षीकी अपेक्षा करते हैं तो सुनय होते हैं । जैसे सत्, अनित्य और अभेदको ग्रहण करनेवाले नय असत्, अनित्य और भेदकी अपेक्षा करनेसे सुनय यानी सच्चे नय होते हैं । और यदि ये नय निरपेक्ष होते हैं अर्थात् यदि अपने विपक्षीकी अपेक्षा नहीं करते, जैसे वस्तु असत् से निरपेक्ष सर्वथा सत्स्वरूप है, अनित्यत्वसे निरपेक्ष सर्वथा नित्यस्वरूप है या अभेदनिरपेक्ष सर्वथा भेदरूप है ऐसा यदि मानते जानते अथवा कहते हैं तो वे दुर्नय हैं । कहा भी है–'दुर्नयके विषयभूत एकान्त रूप पदार्थ वास्तविक नहीं हैं क्योंकि दुर्नय केवल स्वार्थिक है, दूसरे नयोंकी अपेक्षा न करके केवल अपनी पुष्टि करते हैं । और जो स्वार्थिक अत एव विपरीतग्राही होते हैं वे नय सदोष होते हैं ।' इसका खुलासा इस प्रकार है–वस्तुको सर्वथा एकान्तरूपसे सत् मानने पर वस्तुके नियतरूपकी व्यवस्था नहीं बन सकती, क्योंकि जैसे वह स्वरूपसे सत् है वैसेही पर रूपसे भी सत् है । अतः घट पट चेतन अचेतन कोई भेद नहीं रहेगा और इस तरह संकर आदि दोष उपस्थित होंगे । तथा वस्तुको एकान्तरूपसे सर्वथा असत् मानने पर सब संसार शून्यरूप हो जायेगा । सर्वथा नित्यरूप

१ ल म स ग साविक्खा...णिरविक्खा । २ ग विवहार । ३ ब णेयमेण ।

भावानां स्वार्थिका हि ते । स्वार्थिकाश्च विपर्यस्ताः सकलङ्का नया यतः॥' तत्कथम् । तथाहि । सर्वथा एकान्तेन सद्रूपस्य न नियतार्थव्यवस्थासंकरादिदोषत्वात्, तथा सद्रूपस्य सकलशून्यताप्रसंगात्, नित्यस्यैकरूपत्वात् एकरूपस्यार्थक्रियाकारित्वाभावः, अर्थक्रियाकारित्वाभावे द्रव्यस्याप्यभावः । अनित्यपक्षेऽपि निरन्वयत्वात् अर्थक्रियाकारित्वाभावः । अर्थक्रियाकारित्वाभावे द्रव्यस्याप्यभावः । एकस्वरूपस्यैकान्तेन विशेषाभावः, सर्वथैकरूपत्वात् विशेषाभावे सामान्यस्याप्यभावः । 'निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत् । सामान्यरहितत्वाच्च विशेषस्तद्वदेव हि ॥' इत्यादिनिरपेक्षा नया दुर्णयाः असत्यरूपा अनर्थकारिणः सन्ति । नियमेन अवश्यं सुनयात् सुनयेभ्यः सत्यरूपनयेभ्यः सकलव्यवहारसिद्धिः, सकलव्यवहाराणां भेदोपचारेण सकलवस्तुव्यवहारक्रियमाणानां ग्रहणदानगमनागमनयजनयाजनस्थापनादिव्यवहाराणां सिद्धिः निष्पत्तिर्भवति ॥ २६६ ॥ अथ परोक्षज्ञानमनुमानं निर्दिशति–

जं जाणिज्जइ जीवो इंदिय-वावार-काय-चिट्ठाहिं ।
तं अणुमाणं भण्णदि तं पि णयं बहु-विहं जाण ॥ २६७ ॥

[छाया-यत् जानाति जीवः इन्द्रियव्यापारकायचेष्टाभिः । तत् अनुमानं भण्यते तम् अपि नयं बहुविधं जानीहि ॥] इन्द्रियव्यापारकायचेष्टाभिः स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रैः मनसा च व्यापारैः गमनागमनादिलक्षणैः कायचेष्टाभिः शरीराकारविशेषैः जीवः आत्मा यत् जानाति तमपि अनुमाननयं ज्ञानं भणति कथयति । अथवा इन्द्रियाणां स्पर्शनादीनां व्यापाराः विषयाः स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दरूपाः तैः जीवः यत् जानाति तत् अनुमानज्ञानं कथयति । साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्, इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम् । साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः । यथा

वस्तुको मानने पर उसमें अर्थक्रिया नहीं बनेगी और अर्थक्रियाके अभावमें वस्तुका ही अभाव हो जायेगा । सर्वथा अनित्य माननेपर वस्तुका निरन्वय विनाश होजानेसे उसमें भी अर्थक्रिया नहीं बनेगी । और अर्थक्रियाके अभावमें वस्तुका भी अभाव हो जायेगा । वस्तुको सर्वथा एकरूप माननेपर उसमें विशेष धर्मोंका अभाव हो जायेगा, और विशेषके अभावमें सामान्यका भी अभाव हो जायेगा, क्योंकि विना विशेषका सामान्य गधेके सींगकी तरह असंभव है और विना सामान्यके विशेष भी गधेके सींगकी तरह संभव नहीं है । अर्थात् सामान्य विशेषके विना नहीं रहता और विशेष सामान्यके विना नहीं रहता । अतः निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं । इस लिये सापेक्ष सुनयसे ही लोकव्यवहारकी सिद्धि होती है ॥२६६॥ आगे परोक्षज्ञान अनुमानका स्वरूप कहते हैं । **अर्थ**–इन्द्रियोंके व्यापार और कायकी चेष्टाओंसे जो जीवको जानता है वह अनुमान ज्ञान है । यह भी नय है । इसके अनेक भेद हैं ॥ **भावार्थ**–जीवद्रव्य इन्द्रियोंसे दिखाई नहीं देता । किन्तु जिस शरीरमें जीव रहता है वह शरीर हमें दिखाई देता है । उस शरीरमें आंख, नाक, कान वगैरह इन्द्रियां होती हैं । उनके द्वारा वह खाता पीता है, सूंघता है, जानता है, हाथ पैर हिलाता है, चलता फिरता है, बातचीत करता है, बुलानेसे आजाता है । इन सब चेष्टाओंको देखकर हम यह जान लेते हैं कि इस शरीरमें जीव है । यही अनुमान ज्ञान है । साधनसे साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं । तथा जो सिद्ध करनेके लिये इष्ट होता है, जिसमें कोई बाधा नहीं होती तथा जो असिद्ध होता है उसे साध्य कहते हैं । और जो साध्यके होने पर ही होता है उसके अभावमें नहीं होता उसे साधन कहते हैं । जैसे, इस पर्वतपर आग है, क्योंकि धुआं उठ रहा है जैसे रसोईघर । यह अनुमान ज्ञान है । इसमें आग साध्य है और धुआं साधन है; क्योंकि आगके होने पर ही धुआं होता है और आगके अभावमें नहीं होता । अतः धुआंको देखकर आगको जान लेना अनुमान ज्ञान है । इस अनुमानके अनेक भेद परीक्षामुख वगैरहमें बतलाये हैं । अथवा परोक्ष ज्ञानके

पर्वतोऽयमग्निमान् धूमवत्वात् महानसवत्, इत्यादि अनुमानं ज्ञानम्, तदपि नयम्। परोक्षज्ञानं बहुविधमनेकप्रकारं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदं जानीहि ॥ २६७ ॥ अथ नयभेदान् निर्दिशति–

सो संगहेण एक्को[1] दु-विहो वि य दव्व-पज्जएहिंतो।
तेसिं च विसेसादो णइगम[3]-पहुदी हवे णाणं ॥ २६८ ॥

[छाया–स संग्रहेन एकः द्विविधः अपि च द्रव्यपर्ययाभ्याम्। तयोः च विशेषात् नैगमप्रभृति भवेत् ज्ञानम् ॥] स नयः एकम् एकप्रकारं संग्रहेण संग्रहनयेन द्रव्यपर्याययोर्भेदमकृत्वा सामान्येन नयः एको भवति। अपि पुनः, स नयः द्विविधः। काभ्याम्। द्रव्यपर्यायाभ्याम् एको द्रव्यार्थिकनयः द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः द्रव्यग्रहणप्रयोजनत्वाच्च, द्वितीयः पर्यायार्थिकः पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिको नयः, पर्यायग्रहणप्रयोजनत्वाच्च। तेसिं च तयोः द्रव्यपर्याययोश्च द्वयोर्विशेषात् विशेषलक्षणात् ज्ञानं नयलक्षणप्रमाणं ज्ञानैकदेशं वा नैगमप्रभृतिकं भवेत्। नैगमसंग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतप्रमुखज्ञानं नयरूपो बोधः स्यात। नैगमसंग्रहव्यवहारनयास्त्रयो द्रव्यार्थिकाः। ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाश्चत्वारः पर्यायार्थिकाश्च इति ॥ २६८ ॥

जो साहदि सामण्णं अविणा-भूदं विसेस-रूवेहिं।
णाणा-जुत्ति-बलादो दव्वत्थो सो णओ होदि ॥ २६९ ॥

[छाया–यः कथयति सामान्यम् अविनाभूतं विशेषरूपैः। नानायुक्तिबलात् द्रव्यार्थः स नयः भवति ॥] यः नयः साधयति विषयीकरोति गृह्णातीत्यर्थः। किं तत्। सामान्यं निर्विशेषं सत्त्वं द्रव्यत्वात्मत्वादिरूपम्। तत् कीदृशं सामान्यम्। विशेषरूपैः अविनाभूतं जीवास्तित्वपुद्गलास्तित्वधर्मास्तित्वादिस्वभावैः अविनाभूतम् एकैकमन्तरेण न

स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये अनेक भेद बतलाये हैं। यहां ग्रन्थकारने अनुमान ज्ञानको जो नय बतलाया है वह एक नईसी बात प्रतीत होती है। क्योंकि अकलंक देव वगैरहने अनुमान ज्ञानको परोक्ष प्रमाणके भेदोंमें ही गिनाया है। और अन्य किसी भी आचार्यने उसे नय नहीं बतलाया। किन्तु जब नय हेतुवाद है तो अनुमान भी नयरूप ही बैठता है। इसके लिये अष्टसहस्रीकी कारिका १०६ देखना चाहिये ॥ २६७ ॥ आगे नयके भेद कहते हैं। **अर्थ**– संग्रह अर्थात् सामान्यसे नय एक है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके भेदसे दो प्रकारका है। उन्हीं दोनोंके भेद नैगम आदि ज्ञान हैं ॥ **भावार्थ**–द्रव्य और पर्यायका भेद न करके सामान्यसे नय एक है। और द्रव्य तथा पर्यायके भेदसे नयके भी दो भेद हैं–एक द्रव्यार्थिक नय एक पर्यायार्थिक नय। जिस नयका विषय केवल द्रव्य ही है वह द्रव्यार्थिक नय है। और जो नय केवल पर्यायको ही ग्रहण करता है वह पर्यायार्थिक नय है। इन दोनों नयोंके नैगम आदि अनेक भेद हैं। नैगमनय, संग्रहनय और व्यवहारनय ये तीन द्रव्यार्थिक नय हैं। और ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवंभूत ये चार पर्यायार्थिक नय हैं ॥ २६८ ॥ आगे द्रव्यार्थिक नयका स्वरूप कहते हैं। **अर्थ**–जो नय वस्तुके विशेष रूपोंसे अविनाभूत सामान्यरूपको नाना युक्तियोंके बलसे साधता है वह द्रव्यार्थिक नय है ॥ **भावार्थ**–जो नय वस्तुके सामान्य रूपको युक्तिपूर्वक ग्रहण करता है वह द्रव्यार्थिक नय है। किन्तु वह सामान्य विशेष धर्मोंसे निरपेक्ष नहीं होना चाहिये। बल्कि विशेषोंका अविनाभावी, उनके विना न रहनेवाला और उनके सद्भावमें ही रहनेवाला होना चाहिये। अन्यथा वह नय सुनय न होकर दुर्नय होजायेगा। आलाप

१ स इको (?)। २ स वि। ३ स णयगम।

भूयते स्म इत्यविनाभूतं सहभूतमित्यर्थः। कुतः। नानायुक्तिबलात् अनेकतर्कज्ञानादिबलात् स द्रव्यार्थिकः नयो ज्ञातव्यो भवति। तथाहि। कर्मोपाधिनिरपेक्षशुद्धद्रव्यार्थिकः, यथा संसारी जीवः सिद्धसदृग् शुद्धात्मा। १। उत्पादव्ययगौणत्वेन सत्ताग्राहकशुद्धद्रव्यार्थिकः, यथा द्रव्यं नित्यम्। २। भेदकल्पनानिरपेक्षशुद्धद्रव्यार्थिकः, यथा निजगुणपर्यायस्वभावात् द्रव्यमभिन्नम्। ३। कर्मोपाधिसापेक्ष-अशुद्धद्रव्यार्थिकः, यथा क्रोधादिकर्मजभावः आत्मा। ४। उत्पादव्ययसापेक्ष-अशुद्ध-द्रव्यार्थिकः, यथा एकस्मिन् समये द्रव्यम् उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम्। ५। भेदकल्पनासापेक्ष-अशुद्धद्रव्यार्थिकः, यथा आत्मनः दर्शनज्ञानादयो गुणाः। ६। अन्वयद्रव्यार्थिकः, यथा गुणपर्यायस्वभावं द्रव्यम्। ७। स्वद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिकः, यथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यमस्ति। ८। परद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिकः, यथा परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यं नास्ति। ९। परमभावग्राहकद्रव्यार्थिकः, यथा ज्ञानस्वरूपात्मा अत्र अनेकस्वभावानां मध्ये ज्ञानाख्यपरमस्वभावो गृहीतः। १०। इति द्रव्यार्थिकस्य दश भेदाः॥ २६९॥ अथ पर्यायार्थिकनयं साधयति–

जो[1] साहेदि विसेसे[2] बहु-विह-सामण्ण-संजुदे सव्वे।
साहण-लिंग-वसादो पज्जय-[3]विसओ णओ होदि॥ २७०॥

[छाया–यः कथयति विशेषान् बहुविधसामान्यसंयुतान् सर्वान्। साधनलिङ्गवशात् पर्ययविषयः नयः भवति॥] यः पर्यायार्थिको नयः साधयति साध्यसिद्धिं कारयति। कान्। सर्वान् विशेषान् पर्यायान् उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणान्। कीदृशान्। बहुविधसामान्यसंयुक्तान्, बहुविधसामान्यैः संयुक्तान्। अस्तित्वनित्यत्वैकत्वभिन्नत्वादिसामान्यैरविनाभूतान्। कुतः साधयति। साधनलिङ्गवशात् पर्वताग्निवनाग्निसाधनधूमहेतुवशात्, पर्वतोऽयमग्निमान् धूमवत्वात्, वनमिदमग्निमत् धूमत्वात्। सर्वं वस्तु परिणामि सत्त्वान्यथानुपपत्तेः इत्यादिहेतुवशात्। स पर्यायार्थिको नयः पर्यायविशेषविषयो भवति।

पद्धति में द्रव्यार्थिकके दस भेद बतलाये हैं जो इस प्रकार है–कर्मोकी उपाधिसे निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यका विषय करनेवाला नय शुद्ध द्रव्यार्थिक है। जैसे संसारी जीव सिद्धके समान शुद्ध है १। उत्पाद व्ययको गौण करके सत्ता मात्रको ग्रहण करनेवाला शुद्ध द्रव्यार्थिक, जैसे द्रव्य नित्य है २। भेद कल्पनासे निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक, जैसे अपने गुणपर्याय स्वभावसे द्रव्य अभिन्न है ३। कर्मोंकी उपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यको विषय करनेवाला नय अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है, जैसे आत्मा कर्मजन्य क्रोधादि भाववाला है ४। उत्पाद व्यय सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक, जैसे एक समयमें द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक है ५। भेद कल्पना सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक, जैसे आत्माके दर्शन, ज्ञान आदि गुण हैं ६। अन्वय द्रव्यार्थिक, जैसे द्रव्य गुणपर्यायस्वभाव है ७। स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र आदिका ग्राहक द्रव्यार्थिक, जैसे स्वद्रव्य आदि चतुष्टय (चार) की अपेक्षा द्रव्य है ८। परद्रव्य, परक्षेत्र आदिका ग्राहक द्रव्यार्थिक, जैसे परद्रव्य आदि चारकी अपेक्षा द्रव्य नहीं है ९। परमभावका ग्राहक द्रव्यार्थिक, जैसे आत्मा ज्ञान स्वरूप है। यद्यपि आत्मा अनेक स्वभाववाला है किन्तु यहां अनेक स्वभावोंमेंसे ज्ञान नामक परम-स्वभावको ग्रहण किया है १०। इस प्रकार द्रव्यार्थिक नयके दस भेद हैं॥ २६९॥ आगे पर्यायार्थिक नयका स्वरूप कहते है। **अर्थ**–जो नय अनेक प्रकारके सामान्य सहित सब विशेषोंको साधक लिंगके बलसे साधता है वह पर्यायार्थिक नय है॥ **भावार्थ**–जो नय युक्तिके बलसे पर्यायोंको ग्रहण करता है वह पर्यायार्थिक नय है। किन्तु वे पर्याय अथवा विशेष सामान्यनिरपेक्ष नहीं होने चाहिये; अन्यथा वह दुर्नय होजायेगा। अतः अस्तित्व, नित्यत्व, एकत्व, भिन्नत्व आदि सामान्योंसे अविनाभूत उत्पाद,

१ ब–पुस्तके गाथेयं द्विवारमत्रान्यत्र च लिखिता पाठभेदैः। पाठान्तराणि च एवंविधानि–विसेसं संजुदे तच्चे, नवो होदि। २ ग विसेसो। ३ ग विसयो णयो।

तथाहि । अनादिनित्यपर्यायार्थिक यथा पुद्गलपर्यायो नित्यः मेर्वादिः । १ । सादिनित्यपर्यायार्थिकः यथा सिद्धजीवपर्यायो हि सादिनित्यः । २ । सत्तागौणत्वेन उत्पादव्ययग्राहकस्वभावनित्यशुद्धपर्यायार्थिकः । यथा समयं समयं प्रति पर्यायाः विनाशिनः । ३ । सत्तासापेक्षस्वभावनित्यशुद्धपर्यायार्थिकः, यथा एकस्मिन् समये त्रयात्मकः पर्यायः । ४ । कर्मोपाधिनिरपेक्षस्वभावनित्यशुद्धपर्यायार्थिकः, यथा सिद्धपर्यायसदृशाः शुद्धाः संसारिणां पर्यायाः । ५ । कर्मोपाधिसापेक्षस्वभावानित्यअशुद्धपर्यायार्थिकः, यथा संसारिणाम् उत्पत्तिमरणे स्तः । ६ । इति पर्यायार्थिकस्य षड्भेदाः ॥ २७० ॥ अथेदानीं नयानां विशेषलक्षणं कार्त्तिकेयस्वामी कथयन् सभेदं नैगमनयं व्याचष्टे–

जो साहेदि अदीदं वियप्प-रूवं भविस्समट्ठं च ।
संपडि-कालाविट्ठं सो हु [1]णओ [2]णेगमो णेओ ॥ २७१ ॥

[छाया–यः कथयति अतीतं विकल्परूपं भविष्यमर्थं च । संप्रति कालाविष्टं स खलु नयः नैगमः ज्ञेयः ॥ हु स्फुटं, स नैगमो नय ज्ञेयः ज्ञातव्यः । नैकं गच्छतीति निगमो विकल्पः बहुभेदः । निगमे भवो नैगमः यः नैगमनयः । अतीतं भूतम् अतीतार्थं विकल्परूपं वर्तमानारोपणम् अर्थं पदार्थं वस्तु साधयति स भूतनैगमः । यथाद्य दीपोत्सवदिने वर्धमानस्वामी मोक्षं गतः । १ । च पुनः भविष्यन्तम् अर्थम् अतीतवत् कथनं भाविनि भूतवत्कथनं भाविनैगमः, यथा अर्हन् सिद्ध एव । २ । संप्रतिकालाविष्टं वस्तु इदानीं वर्तमानकालाविष्टं पदार्थं साधयति स वर्तमाननैगमः । अथवा कर्तुमारब्धम् ईषन्निष्पन्नम् अनिष्पन्नं वा वस्तु निष्पन्नवत् कथ्यते यत्र स वर्तमाननैगमः, यथा ओदनं पच्यते । इति

व्यय और ध्रौव्य लक्षणरूप पर्यायोंको जो हेतुपूर्वक ग्रहण करता है वह पर्यायार्थिक नय है अर्थात् पर्यायको विषय करनेवाला नय है । इस नयके छै भेद हैं–अनादिनित्य पर्यायार्थिक नय, जैसे मेरु वगैरह पुद्गलकी नित्य पर्याय है । अर्थात् मेरु पुद्गलकी पर्याय होते हुए भी अनादि कालसे अनन्तकाल रहता है १ । सादिनित्य पर्यायार्थिक नय, जैसे सिद्ध पर्याय सादि होते हुए भी नित्य है २ । सत्ताको गौण करके उत्पाद व्ययको ग्रहण करनेवाला नित्यशुद्ध पर्यायार्थिक, जैसे पर्याय प्रतिसमय विनाशीक है ३ । सत्ता सापेक्ष नित्यशुद्ध पर्यायार्थिक, जैसे पर्याय एक समयमें उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है ४ । कर्मकी उपाधिसे निरपेक्ष नित्य शुद्ध पर्यायार्थिक, जैसे संसारी जीवोंकी पर्याय सिद्ध पर्यायके समान शुद्ध है ५ । कर्मोपाधि सापेक्ष अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक, जैसे संसारी जीवोंका जन्म मरण होता है ६ ॥ २७० ॥ आगे नयके भेदोंका लक्षण कहते हुए कार्त्तिकेय स्वामी नैगमनयको कहते हैं । **अर्थ**–जो नय अतीत, भविष्यत् और वर्तमानको विकल्परूपसे साधता है वह नैगमनय है ॥ **भावार्थ**–'निगम' का अर्थ है–संकल्प विकल्प । उससे होनेवाला नैगमनय है । यह नैगमनय द्रव्यार्थिक नयका भेद है । अतः इसका विषय द्रव्य है । और द्रव्य तीनों कालोंकी पर्यायोंमें अनुस्यूत रहता है । अतः जो नय द्रव्यकी अतीत कालकी पर्यायमें भी वर्तमानकी तरह संकल्प करता है, आगामी पर्यायमें भी वर्तमानकी तरह संकल्प करता है और वर्तमानकी अनिष्पन्न अथवा किंचित् निष्पन्न पर्यायमें भी निष्पन्न रूप संकल्प करता है, उस ज्ञानको और वचनको नैगम नय कहते हैं । जो अतीत पर्यायमें वर्तमानका संकल्प करता है वह भूत नैगम नय हैं । जैसे आज दीपावलीके दिन महावीर स्वामी मोक्ष गये । जो भावि पर्यायमें भूतका संकल्प करता है वह भावि नैगमनय है, जैसे अर्हन्त भगवान् सिद्ध ही हैं । जो वस्तु बनाने का संकल्प किया है वह कुछ बनी हो अथवा नहीं बनी हो, उसको बनी हुईकी तरह कहना अथवा

१ ल म स ग णयो णेगमो णेयो । २ ब णइगमो (?) ।

वर्तमाननैगमः । ३ । तथाहि कश्चित्पुमान् करकृतकुठारो वनं गच्छति, तं निरीक्ष्य कोऽपि पृच्छति, त्वं किमर्थं व्रजसि । स प्रोवाच । अहं प्रस्थमानेतुं गच्छामि इत्युक्ते तस्मिन् काले प्रस्थपर्यायः समीपे न वर्तते, प्रस्थो घटयित्वा धृतो न वर्तते । किं तर्हि तदभिनिवृत्तये प्रस्थनिष्पत्तये संकल्पमात्रे काष्ठानयने प्रस्थव्यवहारो भवति । एवम् इन्धनजलानलाद्यानयने कश्चित्पुमान् व्याप्रियमाणो वर्तते । स केनचित्पृष्टः, किं करोषि त्वमिति, तेनोच्यते । अहमोदनं पचामि । न च तस्मिन् प्रस्तावे ओदनपर्यायः, अनिष्पन्नोऽस्ति । किं तर्हि ओदनपचनार्थं व्यापारोऽपि ओदनपचनमुच्यते । एवविधो लोकव्यवहारः अनिष्पन्नार्थः । संकल्पमात्रविषयो वर्तमाननैगमस्य गोचरो भवतीत्यर्थः ॥ २७१ ॥ अथ विशेषसामान्यसंग्रहनयं व्यनक्ति-

जो संगहेदि सव्वं देसं वा विविह-दव्व-पज्जायं ।
अणुगम-लिंग-विसिट्ठं सो वि [1]णओ संगहो होदि ॥ २७२ ॥

[छाया-यः संगृह्णाति सर्वं देशं वा विविधद्रव्यपर्यायम् । अनुगमलिङ्गविशिष्टं सः अपि नयः संग्रहः भवति ॥] यः संग्रहनयः सर्वं स्कन्धं त्रैलोक्यस्कन्धं चतुर्दशरज्जुप्रमाणं संगृह्णाति सम्यक्प्रकारेण स्वविषयीकरोति । कथंभूतं सर्वं स्कन्धम् । विविधद्रव्यपर्यायं विविधा अनेकप्रकारा द्रव्यपर्याया यस्मिन् स तथोक्तस्तं नानाप्रकारषड्द्रव्यपर्यायसंयुक्तं सर्वं गृह्णाति । वा अथवा देशं तदर्धं स्कन्धं प्रदेशं वा तदर्धार्धं स्कन्धम् । कीदृक्षम् एतत्सर्वम् । विविधद्रव्यपर्यायसहितं गृह्णाति । उक्तं च । 'खंधं सयलसमत्थं तस्स य अद्धं भणंति देसो त्ति । अद्धद्धं च पदेसो अविभागी चेव परमाणू ॥' इति वचनात् स्कन्धं सर्वांशसंपूर्णं, तदर्धं देशम्, अर्धस्यार्धं प्रदेशम्, अविभागीभूतं परमाणु ज्ञातव्यम् । पुनः कीदृक्षम् । सर्वं देशं वा । अनुगमलिङ्गविशिष्टं साध्यसाधकाविनाभूतहेतुविशिष्टम् । यथा पर्वते अग्निमत्त्वं साध्यते धूमवत्त्वादिहेतुना । तथा चोक्तम् । 'भेदेनैवमुपानीय स्वजातेरविरोधतः । समस्तं सम्रहं यस्मात् स नयः संग्रहो मतः ॥' स्वजात्यविरोधेन एकत्रोपानीय पर्यायान् आक्रान्तभेदान् विशेषम् अकृत्वा सकलं ग्रहणं संग्रहः उच्यते । यथा सदिति प्रोक्ते वाग्विज्ञानप्रवृत्तिलिङ्गानुमितसत्ताधारभूतानां विश्वेषां पदार्थानां विशेषमकृत्वा सत्संग्रहः । एवं द्रव्यमित्युक्ते द्रवति

जानना वर्तमान नैगम नय है । जैसे कोई पुरुष कुठार लेकर वनको जाता है । उसे देखकर कोई पूछता है कि तुम किस लिये जाते हो । वह उत्तर देता है कि मै प्रस्थ (अन्न मापनेका एक भाण्ड) लेने जाता हूं । किन्तु उस समय वहां प्रस्थ नही है । अभी तो वह प्रस्थ बनानेके लिये जंगलसे लकड़ी लेने जाता है । उस लकड़ीमें प्रस्थका संकल्प होनेसे वह प्रस्थका व्यवहार करता है । इसी तरह एक आदमी पानी, लकड़ी वगैरह रख रहा है । उससे कोई पूछता है कि तुम क्या करते हो तो वह उत्तर देता है कि मैं भात पकाता हूं । किन्तु अभी वहां भात कहां है? परन्तु भात पकानेके लिये वह जो प्रबन्ध कर रहा है उसीको वह भात पकाना कहता है । इस प्रकारके संकल्प मात्रको विषय करनेवाला लोकव्यवहार वर्तमान नैगम नयका विषय है ॥ २७१ ॥ आगे संग्रह नयका स्वरूप कहते हैं । **अर्थ-**जो नय समस्त वस्तुका अथवा उसके एक देश (भेद) का अनेक द्रव्यपर्यायसहित अन्वयलिंगविशिष्ट संग्रह करता है उसे संग्रह नय कहते हैं ॥ **भावार्थ-**अपनी जातिके अविरुद्ध समस्त भेदोंका संग्रह करनेवाले नयको संग्रह नय कहते हैं । जैसे, 'सत्' कहने पर सत्ताके आधार भूत उन सब पदार्थोंका, जिनमें सत् व्यवहार होता है, संग्रह हो जाता है । इसी तरह 'द्रव्य' कहने पर जीवद्रव्य, अजीवद्रव्य तथा उनके भेद-प्रभेदोंका संग्रह हो जाता है । इसी तरह 'घट' कहनेपर जिन पदार्थोंमें घट व्यवहार होता है उन सबका संग्रह हो जाता है । इस तरह अभेदरूपसे वस्तु-

१ ग णयो ।

गच्छति तान् पर्यायान् इति द्रव्यम् । जीवाजीवतद्भेदप्रभेदानां संग्रहो भवति । एवं घट इत्युक्ते घटबुद्ध्यभिधानानुगम-लिङ्गानुमितसकलार्थसंग्रहो भवति । अभेदरूपतया वस्तुसमूहं जातं संगृह्णातीति संग्रहः सामान्यसंग्रहः । यथा सर्वाणि द्रव्याणि परस्परम् अविरोधीनि । विशेषसंग्रहः, यथा सर्वे जीवाः परस्परमविरोधिनः ॥२७२॥ अथ व्यवहारनयं निरूपयति–

[1]जं संगहेण गहिदं[2] विसेस-रहिदं पि भेददे सददं ।
परमाणू-पज्जंतं ववहार-णओ [3]हवे सो हु ॥ २७३ ॥

[छाया–यत् संग्रहेण गृहीतं विशेषरहितम् अपि भेदयति सततम् । परमाणुपर्यन्तं व्यवहारनयः भवेत् स खलु ॥] अपि पुनः स व्यवहारनयो भवति । स कः । यत्संग्रहनयेन गृहीतं वस्तु । किंभूतम् । विशेषसहितम् अपि निर्विशेषं निरपेक्षं सामान्यं महास्कन्धवर्गणात् परमाणुपर्यन्तं परमाणुवर्गणापर्यन्तमवसानं सततं निरन्तरं भेददे भेदयति भिन्नं भिन्नं गृह्णातीत्यर्थः । तथाहि संग्रहेण गृहीतस्यार्थस्य भेदतया वस्तु व्यवह्रियतेऽनेन व्यवहारः क्रियते व्यवहरणं वा व्यवहारः। संग्रहनय-विषयीकृतानां संग्रहनयगृहीतानां पदार्थानां वस्तूनां विधिपूर्वकम् अवहरणं भेदेन प्ररूपणं व्यवहारः । कोऽसौ विधिः । संग्रह-नयेन गृहीतोऽर्थः स विधिः कथ्यते । संग्रहपूर्वेणैव व्यवहारः प्रवर्तते । तथाहि । सर्वसंग्रहेण यद्वस्तु संगृहीतं तद्वस्तु विशेषं नापेक्षते, तेन कारणेन तद्वस्तु व्यवहाराय समर्थं न भवति । इति कारणात् व्यवहारनयः समाश्रीयते । यत् सत् वर्तते तत्किं द्रव्यं गुणो वा, यद्द्रव्यं तज्जीवोऽजीवो वा इति संव्यवहारो न कर्तुं शक्यः । जीवद्रव्यमित्युक्ते अजीवद्रव्यमिति चोक्ते व्यवहारे आश्रिते ते अपि द्वे द्रव्ये संग्रहगृहीते संव्यवहाराय न समर्थे भवतः । तदर्थं देवनारकादिव्यवहार आश्रीयते । घटादिश्च व्यवहारेण आश्रीयते । एवं व्यवहारनयः तावत्पर्यन्तं प्रवर्तते यावत्पुनर्विभागो न भवति । तथाहि । सामान्यसंग्रहभेदव्यवहारः, यथा द्रव्याणि जीवाजीवाः । १ । विशेषसंग्रहभेदकव्यवहारः, यथा जीवाः संसारिणो मुक्ताश्च । २ । इति व्यवहारो द्वेधा ॥ २७३ ॥ अथ ऋजुसूत्रनयं सूत्रयति–

मात्रका संग्रह कहनेवाला नय संग्रहनय है । किन्तु वह संग्रह विरोध रहित होना चाहिये–यानी घट कहनेसे पटका संग्रह नहीं कर लेना चाहिये, किन्तु घटके ही भेद प्रभेदोंका संग्रह होना चाहिये । संग्रहके दो भेद हैं, एक सामान्य संग्रह, जैसे सत् अथवा द्रव्य । और एक विशेष संग्रह, जैसे जीव या अजीव ॥ २७२ ॥ अब व्यवहार नयका स्वरूप कहते हैं । **अर्थ–**जो नय संग्रहनयके द्वारा अभेद-रूपसे गृहीत वस्तुओंका परमाणुपर्यन्त भेद करता है वह व्यवहारनय है ॥ **भावार्थ–**संग्रहनयके द्वारा संग्रहीत वस्तुओंका विधिपूर्वक भेद करके कथन करनेवाले नयको व्यवहारनय कहते हैं । व्यवहार का मतलब ही व्यवहरण–यानी भेद करना है । किन्तु वह भेद विधिपूर्वक होना चाहिये । अर्थात् जिस क्रमसे संग्रह किया गया हो उसी क्रमसे भेद करना चाहिये । आशय यह है कि केवल संग्रह नयसे लोकका व्यवहार नहीं चल सकता । जैसे 'सत्' कहनेसे विवक्षित किसी एक वस्तुका ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि सत् द्रव्य भी है और गुण भी है । इसी तरह केवल द्रव्य कहनेसे भी काम नहीं चल सकता; क्योंकि द्रव्य जीव भी है और अजीव भी है । जीव द्रव्य अथवा अजीव द्रव्य कहनेसे भी व्यवहार नहीं चलता । अतः व्यवहारके लिये जीवद्रव्यके नर नारकादि भेदोंका और अजीवद्रव्यके घट पट आदि भेदोंका आश्रय लेना पड़ता है । इस तरह यह व्यवहारनय तब तक भेद करता चला जाता है जब तक भेद करनेको स्थान रहता है । संग्रह नयकी तरह व्यवहार नयके भी दो भेद हैं– एक सामान्य संग्रहका भेदक व्यवहारनय, जैसे द्रव्यके दो भेद हैं जीव और अजीव । और एक

---

१ ब जो (?) । २ ब गहिदो (?) । ३ ल स म ग भवे सो वि ।

जो वट्टमाण-काले [1]अत्थ-पज्जाय-परिणदं अत्थं ।
संतं साहदि सव्वं [2]तं पि णयं [3]उज्जुयं जाण ॥ २७४ ॥

[छाया-यः वर्तमानकाले अर्थपर्यायपरिणतम् अर्थम् । सन्तं कथयति सर्वं तम् अपि नयम् ऋजुकं जानीहि ॥] तमपि नयम् ऋजुसूत्रनयं जानीहि । ऋजु सरलम् अर्थपर्यायं सूत्रयति साधयति तन्त्रयति निश्चयं करोतीति ऋजुसूत्रः स चासौ नयः तम् ऋजुसूत्रनयं त्वं जानीहि विद्धि । तं कम् । यः ऋजुसूत्रनयः वर्तमानकाले प्रवर्तमानसमये एकस्मिन् समयलक्षणे सन्तं वर्तमानं विद्यमानं वा अर्थं जीवादिपदार्थं वस्तु साधयति सूत्रयति निश्चयीकरोति गृह्णातीति यावत् । कीदृक्षम् अर्थपर्यायपरिणतम् । अर्थपर्यायः सूक्ष्मप्रतिक्षणध्वंसी उत्पादव्ययलक्षणः । 'सूक्ष्मप्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थसंज्ञकः' । इति वचनात् । तत्र परिणतः तत्पर्यायं प्राप्तः, तम् अर्थपर्यायपरिणतं सूक्ष्मप्रतिक्षणपर्यायपरिणतम् अर्थं साधयति । सूक्ष्मऋजुसूत्रनयः, यथा एकसमयावस्थायी पर्यायः । स्थूलऋजुसूत्रः, यथा मनुष्यादिपर्यायास्तदायुःप्रमाणकालं तिष्ठन्तीति ऋजुसूत्रोऽपि द्वेधा । तथाहि । अतीतस्य विनष्टत्वे अनागतस्यासंजातत्वे व्यवहारस्याभावात् वर्तमानसमयमात्रविषयपर्यायमानग्राही ऋजुसूत्रनयः । नन्वेवं सति संव्यवहारलोपः स्यात् सत्यम् । अस्य ऋजुसूत्रस्य नयस्य विषयमात्रप्रदर्शनं विधीयते । लोकसंव्यवहारस्तु सर्वनयसमूहसाध्यो भवति । तेन ऋजुसूत्राश्रयेण संव्यवहारलोपो न भवति । यथा कश्चिन्मृतः, तं दृष्ट्वा संसारोऽयं अनित्य इति कश्चिद्ब्रवीति, न च सर्वसंसारोऽनित्यो वर्तते इति । एते नैगमसंग्रहव्यवहारऋजुसूत्रनयाश्चत्वारः अर्थनयाः, अन्ये वक्ष्यमाणास्त्रयो नयाः शब्दनया इति ॥ २७४ ॥ अथ शब्दनयं समुद्दीकते-

विशेष संग्रहका भेदक व्यवहारनय जैसे जीवके दो भेद हैं-संसारी और मुक्त ॥ २७३ ॥ अब ऋजुसूत्र नयका स्वरूप कहते हैं । **अर्थ-**वर्तमान कालमें अर्थ पर्यायरूप परिणत अर्थको जो सत् रूप साधता है वह ऋजुसूत्र नय है ॥ **भावार्थ-**ऋजुसूत्र नय वर्तमान समयवर्ती पर्यायको ही ग्रहण करता है । इसका कहना है कि वस्तुकी अतीत पर्याय तो नष्ट हो चुकी और अनागत पर्याय अभी है ही नहीं । इसलिये न अतीत पर्यायसे काम चलता है और न भावि पर्यायसे काम चलता है । काम तो वर्तमान पर्यायसे ही चलता है । अतः यह नय वर्तमान पर्याय मात्रको ही ग्रहण करता है । शायद कोई कहे कि इस तरहसे तो सब व्यवहारका लोप होजायेगा; क्योंकि जिसे हमने कर्ज दिया था वह तो अतीत हो चुका । अब हम रुपया किससे लेंगे? किन्तु बात ऐसी नहीं है । लोक व्यवहार सब नयोंसे चलता है एक ही नयको पकड़कर बैठ जानेसे लोक व्यवहार नहीं चल सकता । जैसे कोई मरा, उसे देखकर किसीने कहा कि संसार अनित्य है । तो इसका यह मतलब नहीं है कि सारा संसार कुछ दिनोंमें समाप्त हो जायगा, इसी तरह यहां भी समझना चाहिये । अस्तु, वस्तु प्रतिसमय परिणमन करती है । सो एकसमयवर्ती वर्तमान पर्यायको अर्थपर्याय कहते हैं क्योंकि शास्त्रमें प्रतिसमय नष्ट होनेवाली सूक्ष्म पर्यायको अर्थपर्याय कहा है । उस सूक्ष्म क्षणवर्ती वर्तमान अर्थपर्यायसहित वस्तु सूक्ष्मऋजुसूत्र नयका विषय है । ऋजुसूत्र नयके भी दो भेद हैं-सूक्ष्मऋजुसूत्र और स्थूल ऋजुसूत्र । ग्रन्थकारने उक्त गाथामें सूक्ष्मऋजुसूत्र नयका ही स्वरूप बतलाया है । जो स्थूल पर्यायको विषय करता है वह स्थूल ऋजुसूत्र नय है । जैसे मोटे तौरसे मनुष्य आदि पर्याय आयुपर्यन्त रहती हैं । अतः उसको ग्रहण करनेवाला नय स्थूल ऋजुसूत्र है । ये नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र नय अर्थनय हैं, और आगे कहे जानेवाले शेष तीन नय शब्दनय हैं; क्यों कि वे शब्दकी प्रधानतासे

---

१ [अत्थं पज्जाय] । २ **ल ग** तं वि णयं रुजणयं । ३ **म** रुजुणयं, **स** रिजुणयं (?) ।

सव्वेसिं वत्थूणं संखा-लिंगादि-बहु-पयारेहिं ।
जो साहदि णाणत्तं सद्द-णयं तं [1]वियाणेह ॥ २७५ ॥

[छाया-सर्वेषां वस्तूनां संख्यालिङ्गादिबहुप्रकारैः । यः कथयति नानात्वं शब्दनयं तं विजानीहि ॥] यः शब्दनयः संख्यालिङ्गादिबहुप्रकारैः एकद्विबहुवचनपुंस्त्रीनपुंसकलिङ्गाद्यनेकविधैः कृत्वा सर्वेषां वस्तूनां सकलानां पदार्थानां जीवपुद्गलादीनां णाणत्तं ज्ञानत्वं ज्ञातृत्वं नानात्वम् अनेकप्रकारत्वं वा साधयति साध्यं करोति तं शब्दनयनामानं नयं जानीहि त्वं विद्धि । तद्यथा । शब्दात् व्याकरणात् प्रकृतिप्रत्ययद्वारेण सिद्धशब्दः शब्दनयः, लिङ्गसंख्यासाधनादीनां व्यभिचारस्य निषेधपरः, लिङ्गादीनां व्यभिचारे दोषो नास्तीत्यभिप्रायपरः शब्दनयः उच्यते। लिङ्गव्यभिचारो, यथा पुष्यः नक्षत्रं तारका चेति । संख्याव्यभिचारो, यथा आपः तोयं वर्षाः ऋतुः दाराः कलत्रम् आम्रा वनं वारणा नगरम् । साधनव्यभिचारः कारकव्यभिचारो, यथा सेना पर्वतमधिवसति पर्वते तिष्ठतीत्यर्थः । उत्तमादिपुरुषव्यभिचारः, यथा एहि मन्ये रथेन यास्यसि न यास्यसि यातस्ते पिता इति । अस्यायमर्थः । एहि त्वमागच्छ, त्वमेवं मन्यसे अहं रथेन यास्यामि । एतावता त्वं रथेन न यास्यसि । ते तव पिता अग्रे रथेन यातः, न यात इत्यर्थः । अत्र मध्यमपुरुषस्थाने उत्तमपुरुषः उत्तमपुरुषस्थाने मध्यमपुरुषः । तदर्थं सूत्रमिदम् । 'प्रहासे मन्योपपदे मन्यतेरुत्तमैकवचनं च । उत्तमे मध्यमस्य ।' कालव्यभिचारो, यथा विश्वदृश्वा अस्य पुत्रो जनिता भविष्यत्कार्यमासीदिति । अत्र भविष्यत्काले अतीतकालविभक्तिः ।

अर्थको विषय करते हैं ॥ २७४ ॥ आगे शब्दनयका स्वरूप कहते हैं । **अर्थ**–जो नय सब वस्तुओंको संख्या लिंग आदि भेदोंकी अपेक्षासे भेदरूप ग्रहण करता है वह शब्दनय है ॥ **भावार्थ**–संख्यासे एकवचन, द्विवचन और बहुवचन लेना चाहिये । लिंगसे स्त्री, पुरुष और नपुंसकलिंग लेना चाहिये । और आदि शब्दसे काल, कारक, पुरुष, उपसर्ग वगैरह लेना चाहिये । इनके भेदसे जो सब वस्तुओंको भेद रूप ग्रहण करता है वह शब्दनय है । वैयाकरणोंके मतके अनुसार एकवचनके स्थानमें बहुवचनका, स्त्रीलिंग शब्दके बदलेमें पुल्लिंग शब्दका, एक कारकके स्थानमें दूसरे कारकका, उत्तम पुरुषके स्थानमें मध्यम पुरुषका और मध्यम पुरुषके स्थानमें उत्तम पुरुषका तथा भविष्यकालमें अतीत कालका प्रयोग किया जाता है । ये महाशय शब्दोंमें लिंग वचन आदिका भेद होनेपरभी उनके वाच्य अर्थोंमें कोई भेद नहीं मानते । इसलिये वैयाकरणोंका यह मत व्यभिचार कहलाता है । जैसे, एक ही तारेको पुष्य, नक्षत्र और तारका इन तीन लिंगवाले तीन शब्दोंसे कहना लिंगव्यभिचार है । एक ही वस्तुको भिन्न वचनवाले शब्दोंसे कहना संख्याव्यभिचार है । जैसे पानीको आपः (बहुवचन) कहना और जल (एकवचन) कहना । 'सेना पर्वतपर रहती है' के स्थानमें 'सेना पर्वतको रहती है' कहना कारकव्यभिचार है (संस्कृत व्याकरणके अनुसार यहां सप्तमीके स्थानमें द्वितीया विभक्ति होती है) । संस्कृत व्याकरणके अनुसार हंसी मजाकमें उत्तम पुरुषके स्थानमें मध्यम पुरुषका और मध्यम पुरुषके स्थानमें उत्तम पुरुषका प्रयोग होता है यह पुरुषव्यभिचार है । 'उसके ऐसा पुत्र पैदा होगा जो विश्वको देख चुका है यह काल व्यभिचार है क्यों कि भविष्यत् कालमें अतीतकालकी विभक्तिका प्रयोग है । इसी तरह संस्कृत व्याकरणके अनुसार धातुके पहले उपसर्ग लगनेसे उसका पद बदल जाता है । जैसे ठहरनेके अर्थमें 'स्था' धातु परस्मैपद है किन्तु उसके पहले उपसर्ग लगनेसे वह आत्मनेपद हो जाती है । यह उपग्रहव्यभिचार है । शब्दनय इस

---

१ ब वियाणेहि (?) ।

उपग्रहव्यभिचारो, यथा ष्ठा गतिनिवृत्तौ परस्मैपदोपग्रहः तत्र संतिष्ठते अवतिष्ठते प्रतिष्ठते। एवंविधं व्यवहारनयं व्यभिचारलक्षणं न्यायरहितं कश्चित्पुमान् मन्यते। कस्मादन्यार्थं मन्यते। अन्यार्थस्य अन्यार्थेन वर्तनेन संबन्धाभावात्। तत्र शब्दनयापेक्षया दोषो नास्ति, तर्हि लोकसमये विरोधो भविष्यति, भवतु नाम विरोधः, तत्त्वं परीक्षते, किं तेन विरोधेन भविष्यति। किमौषधं रोगीच्छानुवर्ति वर्तते इति॥ २७५॥ अथ समभिरूढनयं प्रकाशयति-

जो एगेगं अत्थं [1]परिणदि-भेदेण साहदे[2] णाणं।
मुक्खत्थं वा भासदि अहिरूढं तं णयं[3] जाण॥ २७६॥

[छाया-यः एकैकम् अर्थं परिणतिभेदेन कथयति ज्ञानम्। मुख्यार्थं वा भाषते अभिरूढं तं नयं जानीहि॥] तं जगत्प्रसिद्धम् अभिरूढं नयं समभिरूढाख्यं नयं जानीहि विद्धि। परस्परेण अभिरूढः यः समभिरूढः शब्दनयभेदः। अर्थं पदार्थं वस्तु एकैकं परिणतिभेदेन परिणमनगमनोपवेशनशयादिपर्यायभेदेन प्रकारेण साधयति प्रकाशयति गृह्णाति वा, अथवा मुख्यार्थं प्रधानार्थं ज्ञानं बोधं भाषते वक्ति, यथा गच्छतीति गौः, गमनस्वभावः पुरुषादिकेऽप्यस्ति तथापि समभिरूढनयबलेन धेनौ प्रसिद्धः। तथाहि। एकमप्यर्थं शब्दभेदेन भिन्नं जानाति यः समभिरूढो नयः। यथा एकोऽपि पुलोमजाप्राणवल्लभः परमैश्वर्ययुक्तः इन्द्रः उच्यते सः अन्यः, शकनात् शक्रः सोऽप्यन्यः, पुरदारणात् पुरंदरः सोऽप्यन्यः इत्यादिशब्दभेदादेकस्याप्यर्थस्य अनेकत्वं मन्यते तत् समभिरूढस्य लक्षणम्॥ २७६॥ अथ एवंभूतनयं प्ररूपयति-

जेण सहावेण जदा परिणद-रूवम्मि[4] तम्मयत्तादो।
तं परिणामं[5] साहदि जो वि णओ सो हु परमत्थो॥ २७७॥

प्रकारके व्यभिचारको 'अन्याय्य' मानता है। क्यों कि वैयाकरण लोग शब्दमें परिवर्तनके साथ अर्थमें परिवर्तन नहीं मानते। यदि वाचकमें परिवर्तनके साथ उसके वाच्य अर्थमेंभी परिवर्तन मान लिया जाता है तो व्यभिचारका प्रसंग नहीं रहता अतः शब्दनय शब्दमें लिंगकारक आदिका भेद होनेसे उसके वाच्य अर्थमेंभी भेद स्वीकार करता है। शायद कहा जाये कि शब्द नय प्रचलित व्याकरणके नियमोंका विरोधी है इसलिये विरोध उपस्थित होगा। इसका उत्तर यह है कि विरोध उपस्थित होता है तो होओ। तत्त्वकी परीक्षा करते समय इस बातका विचार नहीं किया जाता। क्या चिकित्सक बीमारके रुचिके अनुसार औषधि देता है?॥ २७५॥ आगे समभिरूढ नयका स्वरूप बतलाते हैं- **अर्थ**-जो नय प्रत्येक अर्थको परिणामके भेदसे भेदरूप ग्रहण करता है, अथवा एक शब्दके नाना अर्थोंमेंसे मुख्य अर्थको ही कहता है वह समभिरूढ नय है॥ **भावार्थ**-शब्दनय शब्दभेदसे वस्तुको भेदरूप ग्रहण नहीं करता। किन्तु समभिरूढ नय शब्दभेदसे वस्तुको भेदरूप ग्रहण करता है। जैसे स्वर्ग लोकके स्वामीको इन्द्र, शक्र, पुरन्दर कहते हैं। अतः यह नय स्वर्गके स्वामीको तीन भेदरूप मानता है। अर्थात् वह आनन्द करता है इस लिये इन्द्र है। शक्तिशाली होनेसे शक्र है और नगरोंको उजाड़नेवाला होनेसे पुरन्दर है। इस तरह यह नय शब्दभेदसे अर्थको भेदरूप ग्रहण करता है, अथवा एक शब्दके नाना अर्थोंमेंसे जो रूढ़ अर्थको ग्रहण करता है वह समभिरूढ नय है। जैसे गौ शब्दके बहुतसे अर्थ हैं। किन्तु यह नय उसका रूढ अर्थ गाय ही लेता है, अन्य नहीं॥ २७६॥ अब एवंभूत नयका स्वरूप कहते हैं। **अर्थ**-वस्तु जिस समय जिस स्वभावरूप परिणत होती है उस समय वह उसी स्वभावमय होती है। अतः उसी परिणामरूप वस्तुको ग्रहण करनेवाला नय एवंभूत

---

१ ग परिणद। २ ल म ग भेएण (स भेयेण) साहए। ३ ब आरूढं तं नयं। ४ ल ग परिणदि। ५ ल स ग तप्परिणामं, म तं प्परिणामं।

[छाया-येन स्वभावेन यदा परिणतरूपे तन्मयत्वात् । तं परिणामं कथयति यः अपि नयः स खलु परमार्थः ॥] सोऽपि नयः एवंभूतः परमार्थतः सत्यरूपो ज्ञेयः, यः परमार्थः एवंभूतनयः यदा यस्मिन् क्षणे परिणतरूपे वस्तुनि पदार्थे परिणतवति पर्यायसंयुक्ते अर्थे येन स्वभावेन शक्रनपुरदारणेन्दनादिस्वभावेन तत्परिणामं शक्रपुरंदरेन्द्रादिपर्यायम् एकस्मिन्नेव क्षणे साधयति प्रकाशयति । कुतः तन्मयत्वात्, तत् शक्रपुरंदरेन्द्रादिपर्यायमयत्वात् । अथवा तन्मात्रत्वात् पाठे, पाकशासनस्य जम्बूद्वीपादिपरिवर्तनसामर्थ्यादिपुरदारणपरमैश्वर्यादिपर्यायमात्रत्वात् । तदुक्तं नयचक्रे शब्दभेदे अर्थभेदोऽप्यस्ति । यथा शक्रः पुरंदरः इन्द्रः इति । तथाहि । यस्मिन्नेककाले शक्नोति जम्बूद्वीपपरावर्तने समर्थो भवतीति शक्रः । अन्यदा यस्मिन्नेव काले ऐश्वर्यं प्राप्नोति तदैवेन्द्र उच्यते, न चाभिषेककाले न पूजनकाले इन्द्र उच्यते। यस्मिन्नेव काले गमनपरिणतो भवति तदेव गौरुच्यते न स्थितिकाले न शयनकाले । अथवा इन्द्रज्ञानपरिणतः आत्मा इन्द्र उच्यते। अग्निज्ञानपरिणतः आत्मा अग्निश्चेति, एवंभूतनयलक्षणम् ॥ २७७ ॥ अथ नयानाम् उपसंहारं व्यनक्ति-

एवं विविह-णएहिं जो वत्थुं ववहरेदि लोयम्मि[1] ।
दंसण-णाण-चरित्तं सो साहदि सग्ग-मोक्खं च ॥ २७८ ॥

[छाया-एवं विविधनयैः यः वस्तु व्यवहरति लोके । दर्शनज्ञानचरित्रं स साधयति स्वर्गमोक्षं च ॥] एवं पूर्वोक्तप्रकारेण लोके जगति यः पुमान वस्तु जीवपुद्गलधर्मादिपदार्थं व्यवहरति व्यवहारविषयीकरोति । भेदोपचारतया वस्तु व्यवह्रियते भेदेन व्यवहरणं करोति । कैः । विविधनयैः नानाप्रकारनयैः, नैगमसंग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतनयैः द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्यां निश्चयव्यवहारनयाभ्याम् उपनयैश्च जीवादिवस्तु व्यवहरति यः स पुमान् दर्शनज्ञानचारित्रं दर्शनं सम्यग्दर्शनं सम्यक्त्वं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानं बोधः चारित्रं त्रयोदशधा, सामायिकच्छेदोपस्थापनादिरूपं पञ्चधा वा, समाहारद्वन्द्वसमासः व्यवहारनिश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रं रत्नत्रयं साधयति स्वविषयीकरोति यः, च पुनः, स्वर्गमोक्षौ स्वर्गः सौधर्मादिकल्पः मोक्षः अष्टकर्मविप्रमुक्तः सिद्धपर्यायः तौ द्वौ स साधयति प्राप्नोति ॥ २७८ ॥ अथ तत्त्वश्रवणमननभावनाधारणादिकर्तारः नराः दुर्लभा इत्यावेदयति-

है । यह एवंभूत नय परमार्थरूप है ॥ **भावार्थ**-जो वस्तु जिस समय जिस पर्याय रूप परिणत हो उस समय उसी रूपसे उसे ग्रहण करनेवाला नय एवंभूत है । जैसे स्वर्गका स्वामी जिस समय आनन्द करता हो उसी समय इन्द्र है, जिस समय वह सामर्थ्यशाली है उसी समय शक्र है और जिस समय वह नगरोंका उजाड़ रहा है उसी समय पुरन्दर है, यदि वह भगवानका अभिषेक या पूजन कर रहा है तो उसे इन्द्र वगैरह नहीं कह सकते । इसी तरह 'गौ' का अर्थ है जो चलनेवाली हो । तो जब गाय चलती हो तभी वह 'गौ' है, बैठी हुई हो या सोती हो तो उसे गौ नहीं कहना चाहिये । अथवा जिस समय जो आत्मा जिस ज्ञान रूप परिणत है उस समय उसे उसी रूपसे ग्रहण करना एवंभूत नय है । जैसे, इन्द्रको जाननेवाला आत्मा इन्द्र है और अग्निको जाननेवाला आत्मा अग्नि है । इसीसे इस नयको परमार्थ नय कहा है; क्यों कि यह यथार्थ वस्तु स्वरूपका ग्राहक है ॥ २७७ ॥ अब नयोंका उपसंहार करते हैं । **अर्थ**-इस प्रकार जो पुरुष नयोंके द्वारा लोकमें वस्तुका व्यवहार करता है वह पुरुष सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्रको और स्वर्ग मोक्षको साधता है ॥ **भावार्थ**-उक्त प्रकारसे द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक और उनके भेद नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवंभूत नयोंसे तथा निश्चयनय और व्यवहार नयसे वस्तुतत्त्वको जानकर जो वस्तुका व्यवहार करता है, उसे ठीक रूपसे जानता तथा कहता है वही रत्नत्रयको तथा स्वर्ग मोक्षको प्राप्त करता है

१ ल ग लोयम्हि ।

विरला णिसुणहि[1] तच्चं विरला जाणंति तच्चदो तच्चं ।
विरला भावहि तच्चं विरलाणं धारणा[2] होदि ॥ २७९ ॥

[छाया–विरलाः निशृण्वन्ति तत्त्वं विरलाः जानन्ति तत्त्वतः तत्त्वम् । विरलाः भावयन्ति तत्त्वं विरलानां धारणा भवति ॥] विरलाः स्वल्पाः केचन तत्त्ववेत्तारः सावधानाः सन्तः पुरुषाः तत्त्वं जीवादितत्त्वस्वरूपम् अतिशयेन शृण्वन्ति समाकर्णयन्ति । पुनः तत्त्वतः परमार्थतः परमार्थबुध्या कर्मक्षयबुध्या वा विरलाः स्वल्पतराः सम्यग्बोधमयान्तः-करणाः केचन नराः तत्त्वं जीवादिपदार्थस्वरूपं जानन्ति विदन्ति । पूर्वं तत्त्वस्वरूपं श्रुत्वा पश्चात् तज्जानन्तीत्यर्थः । पुनः विरलाः स्वल्पतराणां मध्ये स्वल्पतराः तुच्छाः पञ्चषाः सम्यग्दृष्टयः तत्त्वं जीवादिस्वरूपं भावयन्ति भावनाविष-यीकुर्वन्ति स्वतत्त्वपरतत्त्वं श्रुत्वा ज्ञात्वा च पुद्गलादिकं त्यक्त्वा स्वस्वरूपं शुद्धस्वरूपं स्वतत्त्वम् अर्हदादिपरतत्त्वं वा ध्यायन्ति चिन्तयन्तीत्यर्थः । उक्तं च । श्लो० ॥ 'विद्यन्ते कति नात्मबोधविमुखाः संदेहिनो देहिनः, प्राप्यन्ते कतिचित् कदाचन पुनर्जिज्ञासमानाः क्वचित् । आत्मज्ञाः परमप्रमोदसुखिनः प्रोन्मीलदन्तर्दृशो, द्वित्राः स्युर्बहवो यदि त्रिचतुरास्ते पञ्चषा दुर्लभाः ॥' इति विरलानां सम्यग्भावितचित्तानां केषांचित्पुंसां धारणा जीवादितत्त्वधारणा कालान्तरेणाविस्मरणं भवति ॥ २७९ ॥ अथ तत्त्वानां कथनेन ग्रहणादिना च तत्त्वज्ञातृत्वं ज्ञापयति–

तच्चं कहिज्जमाणं णिच्चल-भावेण गिण्हदे जो हि ।
तं चिय भावेदि[3] सया सो वि य तच्चं वियाणेई[4] ॥ २८० ॥

॥ २७८ ॥ आगे कहते हैं कि तत्त्वोंको सुनने, जानने, अवधारण करने और मनन करनेवाले मनुष्य दुर्लभ हैं । **अर्थ**–जगतमें विरले मनुष्य ही तत्त्वको सुनते हैं । सुननेवालोंमेंसे भी विरले मनुष्य ही तत्त्वको ठीक ठीक जानते हैं । जाननेवालोंमेंसे भी विरले मनुष्य ही तत्त्वकी भावना–सतत अभ्यास करते हैं । और सतत अभ्यास करनेवालोंमेंसे भी तत्त्वकी धारणा विरले मनुष्योंको ही होती है ॥ **भावार्थ**–संसारमें राग रंग और काम भोगकी बातें सुननेवाले बहुत हैं, किन्तु तत्त्वकी बात सुननेवाले बहुत कम हैं । राग रंगकी बातें सुननेके लिये मनुष्य पैसा खर्च करता है किन्तु तत्त्वकी बात मुफ्त भी सुनना पसन्द नहीं करता । यदि कुछ लोग भूले भटके या पुराने संस्कारवश तत्त्वचर्चा सुनने आ भी जाते हैं तो उनमेंसे अधिकांशको नींद आने लगती है, कुछ समझते नहीं हैं । अतः सुननेवालोंमेंसे भी कुछ ही लोग तत्त्वको समझ पाते हैं । जो समझते हैं वे भी अपनी गृहस्थीके मोहजालके कारण दिनभर दुनियादारीमें फंसे रहते हैं । अतः उनमेंसे भी कुछ ही लोग तत्त्वचर्चासे उठकर उसका चिन्तन-मनन करते हैं । चिन्तन मनन करनेवालोंमेंसे भी तत्त्वकी धारणा कुछको ही होती है । अतः तत्त्वको सुननेवाले, सुनकर समझनेवाले, समझकर अभ्यास करनेवाले और अभ्यास करके भी उसे स्मरण रखनेवाले मनुष्य उत्तरोत्तर दुर्लभ होते हैं । कहा भी है–'आत्म ज्ञानसे विमुख और सन्देहमें पडे हुए प्राणी बहुत हैं । जिनको आत्माके विषयमें जिज्ञासा है ऐसे प्राणी क्वचित् कदाचित् ही मिलते हैं, किन्तु जो आत्मिक प्रमोदसे सुखी हैं तथा जिनकी अन्तर्दृष्टि खुली है ऐसे आत्मज्ञानी पुरुष दो तीन अथवा बहुत हुए तो तीन चार ही होते हैं, किन्तु पांचका होना दुर्लभ है ।' ॥ २७९ ॥ आगे कहते हैं कि तत्त्वको कौन जानता है । **अर्थ**–जो पुरुष गुरुओंके द्वारा

१ ल ग णिसुणदि । २ स धारणं । ३ ग तं चे भावेइ । ४ ब वियाणेइ (= दि ?) ।

[छाया-तत्त्वं कथ्यमानं निश्चलभावेन गृह्णाति यः हि। तत् एव भावयति सदा सः अपि च तत्त्वं विजानाति ॥] हि यस्मात् कारणात् स्फुटं वा। यो भव्यजीवः निश्चलभावेन दृढपरिणामेन कथ्यमानं गुर्वादिना प्रकाश्यमानं तत्त्वं जीवादिवस्तुस्वरूपं गृह्णाति श्रद्धाविषयीकरोति तदेव तत्त्वं सदा सर्वकालं भावयति अनुभवविषयीकरोति स्वतत्त्वं शुद्धबोधैकस्वरूपं परमानन्दैकरूपम् अर्हदादिस्वरूपं वा अनुभवति चिन्तयति ध्यायतीत्यर्थः। अपि च, विशेषतः ग्राहकः भावुकश्च पुमान् तत्त्वं जीवादिस्वरूपं जानाति सम्यग्ज्ञानविषयीकरोति ॥ २८० ॥ अथ युवत्यादीनां कः को वशो नास्तीत्यावेदयति-

को ण[1] वसो इत्थि-जणे कस्स[2] ण मयणेण खंडियं माणं।
को इंदिएहिँ ण जिओ को ण कसाएहि संतत्तो ॥ २८१ ॥

[छाया-कः न वशः स्त्रीजने कस्य न मदनेन खण्डितः मानः। कः इन्द्रियैः न जितः कः न कषायैः संतप्तः ॥] कः संसारी जीवः स्त्रीजने वशो न स्त्रीजनस्य वशवर्ती न जायते इति न। 'कान्ताकनकचक्रेण भ्रामितं भुवनत्रयम्' इति वचनात्। तथा च। 'संसारम्मि हि विहिणा महिलारूवेण मंडियं पासं। वज्जंति जाणमाणा अयाणमाणा विवज्जंति ॥' इति वचनात् सर्वजनः स्त्रीणां वशवर्ती भवतीत्यर्थः। कस्यापि संसारिणः जीवस्य मानः मदनेन कन्दर्पेण न खण्डितः न दलितः न चूर्णीकृतः, अपि तु खण्डित एव। उक्तं च। 'मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः, केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः। किंतु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य, कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः ॥' कः पुनः संसारी जीवः इन्द्रियैः स्पर्शरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रैः न जितः न पराभूतः अपि तु जित एव, मातङ्गमीनमधुकरपतङ्गकुरङ्गादयः स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रेण एकैकेन्द्रियेण पराभूताः दुःखीकृताः। तथा। 'कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्गमीना हता पञ्चभिरेव पञ्च।' इति। कः पुनः संसारी जीवः कषायैः क्रोधमानमायालोभैः न संतप्तः नरकादिदुःखतापं न नीतः, अपि तु संतप्त एव।

कहे हुए तत्त्वको निश्चल भावसे ग्रहण करता है और सदा उसीको भाता है, वही तत्त्वको जानता है ॥ **भावार्थ**-गुरु वगैरहने जीवादि वस्तुका जो स्वरूप कहा है, जो भव्य जीव उसपर दृढ श्रद्धा रखकर सदा उसीका चिन्तन मनन करता रहता है वही अपने शुद्ध, बुद्ध, परमानन्दस्वरूपको जानता है। विना दृढ श्रद्धा और सतत भावनाके सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ २८० ॥ आगे प्रश्न करते हैं कि स्त्री के वशमें कौन नहीं है। **अर्थ**-इस लोकमें स्त्रीजनके वशमें कौन नहीं है? कामने किसका मान खण्डित नहीं किया? इन्द्रियोंने किसे नहीं जीता और कषायोंसे कौन संतप्त नहीं हुआ ॥ **भावार्थ**-संसारमें सर्वत्र कामिनी और कंचनका साम्राज्य है। इसीसे एक कविने कहा है कि कान्ता और कंचनके चक्रने तीनों लोकोंको घुमा डाला है। अच्छे अच्छे ऋषियों और तपस्वियोंका मान मदन महाराजने चूर्ण कर डाला। तभी तो भर्तृहरिने कहा है-'संसारमें मदोन्मत्त हाथियोंका गण्डस्थल विदीर्ण करनेवाले शूरवीर पाये जाते हैं। कुछ भयंकर सिंहको मारनेमें भी दक्ष हैं। किन्तु मैं बलवानोंके सामने जोर देकर कहता हूँ कि कामदेवका दर्प चूर्ण करनेवाले मनुष्य विरले हैं'। बेचारा हिरन एक कर्णेन्द्रियके वश होकर मारा जाता है, हाथी एक स्पर्शन इन्द्रियके कारण पकड़ा जाता है। पतङ्ग एक चक्षु इन्द्रियके कारण दीपक पर जल मरता है। भौंरा कमलकी सुगन्धसे आकृष्ट होकर उसीमें बन्द हो जाता है। और मछली स्वादके लोभसे वंसीमें फस जाती है। ये बेचारे एक एक इन्द्रियके वश होकर अपनी जान खोते हैं। तब पांचों इन्द्रियोंके चक्करमें पड़े हुए मनुष्यकी दुर्दशाका तो कहना ही क्या है? फिर इन्द्रियोंके साथ साथ कषायोंकी प्रबलता भी

१ ब न। २ ग कस्से।

क्रोधेन द्वीपायनवसिष्ठादयः, मानेन कौरवादयः, मायया मस्करीपूर्णादयः, लोभेन लोभदत्तश्रेष्ठ्यादयश्च दुःखीकृताः ॥ २८१ ॥ अथाभ्यन्तरबाह्यपरिग्रहस्य परित्यागमाहात्म्यं विशदयति–

सो ण वसो इत्थि-जणे[1] सो ण जिओ इंदिएहि मोहेण[2][3] ।
जो ण य गिण्हदि गंथं अब्भंतर-बाहिरं सव्वं[4] ॥ २८२ ॥

[छाया–स न वशः स्त्रीजने स न जितः इन्द्रियैः मोहेन । यः न च गृह्णाति ग्रन्थम् आभ्यन्तरबाह्यं सर्वम् ॥] यः ज्ञानी निःस्पृही पुमान् ग्रन्थं, ग्रथ्नाति बध्नाति कर्म वा संसारमिति ग्रन्थः तं ग्रन्थं, परिग्रहं सर्वं चतुर्विंशतिभेदभिन्नम्, आभ्यन्तरः, 'मिथ्यात्ववेदहास्यादिषट्कषायचतुष्टयम् । रागद्वेषौ च संगाः स्युरन्तरङ्गाश्चतुर्दश ॥' बाह्यः दशधा, 'क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदम् । यानं शय्यासनं कुप्यं भाण्डं चेति बहिर्दश ॥' तं सर्वं संगं ग्रन्थं परिग्रहं न गृह्णाति नाङ्गीकरोति न स्वीकरोति स योगी स्त्रीजने स्त्रीजनस्य वश्यो वशवर्ती न स्यात् । च पुनः, इन्द्रियैः स्पर्शनादीन्द्रियैः तद्विषयैश्च न जितः न पराभूतः न दुःखीकृतः । च पुनः, मोहेन मोहनीयकर्मणा मिथ्यात्वादिकषायाद्यष्टाविंशतिभेदभिन्नेन शरीरादौ ममत्वभावेन च न जितः न पराभूतः ॥ २८२ ॥ अथ लोकानुप्रेक्षामाहात्म्यमुद्भावयति–

एवं लोय-सहावं जो झायदि उवसमेक्क[5]-सब्भावो ।
सो खविय कम्म-पुंजं तिलोय[6]-सिहामणी होदि ॥ २८३ ॥[7]

[छाया–एवं लोकस्वभावं यः ध्यायति उपशमैकसद्भावः । स क्षपयित्वा कर्मपुञ्जं त्रिलोकशिखामणिः भवति ॥] एवं स्वामिकार्त्तिकेयोक्तद्वादशानुप्रेक्षासु मध्ये एवं पूर्वोक्तप्रकारेण यः भव्यवरपुण्डरीकः पुमान् लोकस्वभावं लोकानुप्रेक्षां ध्यायति चिन्तयति, स भव्यपुमान् उपशमैकस्वभावः उपशमैकपरिणामपरिणतः सन् शाम्यस्वस्वरूपपरमानन्दशुद्धबुद्धैकस्वरूपपरिणतः एकत्वं गतः सन् स पुमान् क्षपितकर्मपुञ्जं द्रव्यकर्मभावकर्मनोकर्मसमूहं यथा भवति तथा मूलोत्तरोत्तर-

कोढमें खाजका काम करती है । क्रोधसे द्वीपायन मुनिकी, मानसे कौरवोंकी, मायासे मक्खलिकी और लोभसे लोभी सेठकी जो दुर्दशा हुई वह पुराणोंमें वर्णित है । इस तरह सभी मनुष्य विषय–कषायोंमें सिरसे पैर तक डूबे हुए हैं । अतः ग्रन्थकार यह प्रश्न करते हैं कि आखिर इसका कारण क्या है ? क्यों ज्ञानीसे ज्ञानी और बलीसे बली मनुष्य भी इस फन्देमें पड़े हैं ? क्या कोई ऐसा भी है जो इस नागपाशसे बचा है ? ॥ २८१ ॥ आगे ग्रन्थकार उक्त प्रश्नका समाधान करते हैं । **अर्थ**–जो मनुष्य बाह्य और अभ्यन्तर, समस्त परिग्रहको ग्रहण नहीं करता, वह मनुष्य न तो स्त्रीजनके वशमें होता है और न मोह तथा इन्द्रियोंके द्वारा जीता जा सकता है ॥ **भावार्थ**–परिग्रहको ग्रन्थ कहते हैं क्योंकि वह प्राणीको संसारसे बांधती है । उसके दो भेद हैं–अन्तरंग और बाह्य । अन्तरंग परिग्रहके चौदह भेद हैं–मिथ्यात्व, वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, चार कषाय, राग और द्वेष । तथा बाह्य परिग्रहके दस भेद हैं–खेत, मकान, पशु, धन, धान्य, सोना, चांदी, दास, दासी, वस्त्र, बरतन वगैरह । जो मनुष्य इन परिग्रहोंके चक्करमें नहीं पडा, अर्थात जो अन्दर और बाहरसे निर्ग्रन्थ है वह स्त्री, मोह, और इन्द्रियोंके वशमें नहीं होता ॥२८२॥ आगे लोकानुप्रेक्षाका माहात्म्य बतलाते हैं । **अर्थ**–जो पुरुष उपशम परिणामरूप परिणत होकर इस प्रकार लोकके स्वरूपका ध्यान करता है वह कर्मपुंजको नष्ट करके उसी लोकका शिखामणि होता है ॥ **भावार्थ**–स्वामिकार्तिकेय मुनिके द्वारा कही गई बारह

१ ब न । २ ब एत्थ-जणे, स एछि जणे, ग एत्थ जण । ३ ब मोहेहि । ४ ग गिण्णादि गंथं अब्भितर । ५ ब उवसमेक, म उवसमिक । ६ ल म स ग तस्सेव । ७ ब इति लोकानुप्रेक्षा समाप्तः ॥ १० ॥ जीवो इत्यादि ।

कर्मराशिं क्षपित्वा तस्यैव लोकस्य शिखामणिः शिरोरत्नं चूडामणिः सिद्धपर्यायो भवति । त्रैलोक्यशिखरे तनुवातोऽस्ति तन्मध्ये सम्यक्त्वाद्यष्टगुणविराजमानः सिद्धस्वरूपो भवतीत्यर्थः ॥ २८३ ॥

ख्यातः श्रीसकलादिकीर्तिमुनिपः श्रीमूलसंघेऽग्रणीः, तत्पट्टे भुवनादिकीर्तिगुणभृत् श्रीज्ञानभूषस्ततः ।
तत्पट्टे विजयादिकीर्तिरभवत् श्रीमच्छुभेन्दुस्ततः, तेनाकारि वराग्रहात् सुमतिसत्कीर्तेः सुटीकेयमां ॥ १ ॥

कार्त्तिकेयमुखाज्जाताऽनुप्रेक्षा क्षिप्तकिल्बिषा । सल्लोकभावनाटीका तत्र जीयाच्चिरं शुभा ॥ २ ॥

सुशुभचन्द्रकृता समभिग्रहात् सुमतिकीर्तियतेर्वरयोगिनः ।
जयतु वै वरवृत्तिरियं सदा त्रिभुवनस्य सुभावनभाविता ॥ ३ ॥

इति षड्भाषाकविचक्रवर्तित्रैविद्यविद्येश्वरभट्टारकश्रीशुभचन्द्रदेवविरचितायां लोकानुप्रेक्षाटीकायां लोकानुप्रेक्षाप्रतिपादको दशमोऽधिकारः समाप्तः ॥ १० ॥

[११. बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा]

बोधेन दुर्लभत्वं यो व्यनक्ति विशदो जनान् । तं सुबोधं सदा नौमि जिनं निर्जितकिल्बिषम् ॥

अथ बोधिदुर्लभां स्वामिश्रीकार्त्तिकेयः वक्तुकामः जीवानामनन्तकालं निगोदवासित्वमाचष्टे-

जीवो अणंत-कालं वसइ णिगोएसु आइ-परिहीणो[1] ।
तत्तो णिस्सरिदूणं पुढवी-कायादिओ[2] होदि ॥ २८४ ॥

[छाया-जीवः अनन्तकालं वसति निगोदेषु आदिपरिहीनः । ततः निःसृत्य पृथ्वीकायादिकः भवति ॥] वसति तत् तत् निगोदपर्यायेण तिष्ठति । कः । जीवः संसारी आत्मा । क्व । निगोदेषु नि नियतां गामनन्तसंख्याविच्छिन्नानां जीवानां गां क्षेत्रं ददातीति निगोदम् । निगोदं शरीरं येषां ते निगोदाः । निकोता वा साधारणजीवाः । उक्तं च । "साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च । साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं एवं ॥ १ ॥ गूढसिरसंधिपव्वं समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं । साहारणं सरीरं तव्विवरीयं च पत्तेयं ॥ २ ॥ कंदे मूले छल्लीपवालसालदलकुसुमफलबीए । समभंगे तदणंता विसमे सदि होंति

अनुप्रेक्षाओंमेंसे लोकानुप्रेक्षाका कथन करते हुए जो लोकका स्वभाव बतलाया है, जो पुरुष साम्य भाव रखकर उसका चिन्तन करता रहता है, वह मनुष्य क्रमशः सब कर्मोंको नष्ट करके लोकके शिखरपर स्थित सिद्धस्थानमें जाकर विराजमान हो जाता है, यानी उसे सिद्धपर्याय प्राप्त हो जाती है ॥ २८३ ॥ इति लोकानुप्रेक्षा ॥ १० ॥

अब स्वामी कार्तिकेय बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षाको कहते हुए, जीवोंका अनन्त कालतक निगोदमें वास बतलाते हैं । **अर्थ**—यह जीव अनादिकालसे लेकर अनन्तकालतक तो निगोदमें रहता है । वहांसे निकलकर पृथिवीकाय आदिमें जन्म लेता है ॥ **भावार्थ**—अंगुलके असंख्यातवें भाग क्षेत्रमें जो अनन्त-जीवोंको स्थान देता है उसे निगोद कहते हैं । निगोदिया जीवोंको साधारण जीव भी कहते हैं; क्यों कि एक निगोदिया शरीरमें वसनेवाले अनन्त जीवोंका आहार, श्वासोच्छ्वास वगैरह साधारण होता है । अर्थात् उन सब जीवोंका एक शरीर होता है, एक साथ सब आहार ग्रहण करते हैं, एक साथ सब श्वास लेते हैं । और एक साथही मरते और जन्म लेते हैं । सनिगोदके दो भेद हैं—नित्यनिगोद

---

१ प-प्रतौ 'आ इति कोमलालापे अतिशयेन वा' इति पत्रान्ते लिखितम् । २ ल म स ग णीसरिऊणं पुढवी कायापियो ।

पत्तेया ॥ ३ ॥" इति । तेषु निगोदेषु साधारणजीवेषु अनन्तकायिकेषु जीवो वसति । कियत्कालम् । अनन्तकालम् । नित्य-निगोदापेक्षयानन्तानन्तातीतकालपर्यन्तं चतुर्गतिनिगोदापेक्षया अर्धतृतीयपुद्गलपरिवर्तनकालपर्यन्तम् । ननु निगोदेषु एतावत्कालपर्यन्तं स्थितिमान् जीवः एतावत्कालपरिमाणायुः किं वा अन्यदायुः इत्युक्ते प्राह । 'आँउपरिहीणो' इति आयुःपरिहीनः उच्छ्वासाष्टादशैकभागलक्षणान्तर्मुहूर्तः स्वल्पायुर्विशिष्टः प्राणी । अथवा आदिपरिहीण इति पाठे आदिपरिहीनः सदैव नित्य-निगोदवासित्वादादिरहितः । तथा चोक्तम् । "अत्थि अणंता जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो । भावकलंकसुपउरा णिगोदवासं ण मुंचंति ॥" इति । ततः निगोदेभ्यः निःसृत्य निर्गत्य पृथ्वीकायिको जीवो भवति । आदिशब्दात् अप्कायिक-तेजस्कायिकवनस्पतिकायिका गृह्यन्ते ॥ २८४ ॥ अथ तत्र पृथ्व्यादिषु स्थितिकालं त्रसत्वं च दुर्लभमित्यावेदयति–

तत्थ वि असंख-कालं बायर-सुहुमेसु कुणइं[1] परियत्तं ।
चिंतामणि व्व दुलहं तसत्तणं लहदि[2] कट्ठेण ॥ २८५ ॥

[छाया–तत्र अपि असंख्यकालं बादरसूक्ष्मेषु करोति परिवर्तम् । चिन्तामणिवत् दुर्लभं त्रसत्वं लभते कष्टेन ॥] तत्रापि पृथिवीकायिकाप्कायिकतेजस्कायिकवायुकायिकवनस्पतिकायिकेषु । कथंभूतेषु । बादरेषु स्थूलेषु सूक्ष्मेषु पृथ्वीकायादिना स्खलनादिरहितेषु च । असंख्यकालम् असंख्यातकालं परिवर्तनं परिभ्रमणं जीवः करोति । तथा चोक्तम् । कष्टेन अतिबहुतरकालेन ततः पृथ्वीकायादिपञ्चस्थावरेभ्यः निर्गत्य त्रसत्वं द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियलक्षणं लभते प्राप्नोति । कीदृशं तत् । दुर्लभं दुःप्राप्यं त्रसत्वं भावकोटिभिर्न प्राप्यते त्रसत्वमित्यर्थः । कमिव । चिन्तामणिवत् यथा चिन्तामणिरत्नं दुःप्राप्यं तथा त्रसत्वं जीवस्य दुर्लभं भवति ॥ २८५ ॥ अथ त्रसेषु स्थितिकालं पञ्चेन्द्रियत्वं दुर्लभमित्यावेदयति–

वियलिंदिएसु जायदि तत्थ वि अच्छेदि पुव्व-कोडीओ ।
तत्तो णिस्सरिदूणं[3] कहमवि[4] पंचिंदिओ[5] होदि ॥ २८६ ॥

और चतुर्गतिनिगोद । जो जीव अनादिकालसे निगोदमें पडे हुए है वे नित्यनिगोदिया कहे जाते हैं । और जो त्रस पर्याय प्राप्त करके निगोदमें जाते हैं उन्हें चतुर्गति निगोदिया कहते हैं । नित्यनिगोदमें तो जीव अनादिकालसे अनन्तकालतक रहता है । गोम्मटसारमें कहा है–'ऐसे अनन्त जीव हैं जिन्होने त्रस पर्याय प्राप्त नहीं की । उनके भावकर्म बहुत निबिड होते हैं इसलिये वे निगोदको नहीं छोडते' । नित्य निगोदसे निकलनेके विषयमें दो मत पाये जाते हैं । एक मतके अनुसार तो नित्य निगोदिया जीव सदा निगोदमें ही रहता है और वहांसे नहीं निकलता । दूसरे मतके अनुसार जबतक उसके भावकर्म निबिड रहते हैं तबतक नहीं निकलता । भावकर्मके कुछ शिथिल होते ही निकल आता है । स्वामीकार्त्तिकेयका मतभी यही जान पडता है । अतः वे कहते हैं कि प्रथम तो जीवका अनन्तकाल निगोदमें बीतता है । वहांसे निकलकर वह पृथिवीकाय वगैरहमें जन्म लेता है । अतः अज्ञानीका अज्ञानीही बना रहता है ॥ २८४ ॥ आगे त्रस पर्यायकी दुर्लभता बतलाते हैं । **अर्थ**–वहां भी असंख्य कालतक बादर और सूक्ष्म कायमें परिभ्रमण करता है । फिर चिन्तामणि रत्नकी तरह दुर्लभ त्रस पर्यायको बड़ी कठिनतासे प्राप्त करता है ॥ **भावार्थ**–निगोदसे पृथिवी काय वगैरहमें जन्म लेनेपरभी त्रस पर्याय आसानीसे नहीं मिलती । असंख्यात कालतक बादर और सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवोंमें ही भटकता है । फिर कहीं बडी कठिनाईसे त्रस पर्याय मिलती है ॥ २८५ ॥ आगे कहते हैं कि त्रस पर्याय पाकर भी पञ्चेन्द्रिय होना दुर्लभ है । **अर्थ**–एकेन्द्रिय पर्यायसे निकलकर विकलेन्द्रियोंमें जन्म

---

१ ल कुणय (कुणिय?) । २ ब लहइ । ३ ब णिसरि°, ल म स ग णीसरिऊणं । ४ ब कहमिवि । ५ ब पंचिंदियो, ल म पंचेदिओ, ग पंचंदिओ ।

[छाया-विकलेन्द्रियेषु जायते तत्र अपि आस्ते पूर्वकोटयः । ततः निःसृत्य कथमपि पञ्चेन्द्रियः भवति ॥] विकलेन्द्रियेषु द्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु जायते उत्पद्यते तत्रापि द्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु पूर्वकोटयः जीवः आस्ते तिष्ठतीत्यर्थः । तथा चोक्तं च (?) । तत्तो तेभ्यः विकलत्रयेभ्यः निःसृत्य निर्गत्य कथमपि महता कष्टेन पञ्चेन्द्रियो जीवो भवति ॥ २८६ ॥ अथामनस्कसमनस्कपञ्चेन्द्रियत्वं दुर्लभं दर्शयति-

सो वि मणेण विहीणो ण य अप्पाणं परं पि[1] जाणेदि ।
अह मण-सहिदो[2] होदि हु तह वि तिरिक्खो[3] हवे रुद्दो ॥ २८७ ॥

[छाया-सः अपि मनसा विहीनः न च आत्मानं परम् अपि जानाति । अथ मनःसहितः भवति खलु तथापि तिर्यक् भवेत् रुद्रः ॥] सोऽपि पञ्चेन्द्रियो जीवः मनसा विहीनः द्रव्यभावमनसा चित्तेन विहीनः रहितः शिक्षालापादिग्रहणरहितः असंज्ञी जीवः सन् आत्मानं शुद्धबोधमयं अपिशब्दात् परमपि अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुप्रवचनदशलाक्षणिकधर्मादिकवचनं न जानाति न वेत्तीत्यर्थः । अह अथवा, हु इति वितर्के, कदाचित् महता कष्टेन मनःसहितः मनसा चेतसा युक्तः संज्ञी पञ्चेन्द्रियो जीवो भवति । तथापि संज्ञिपञ्चेन्द्रिये सत्यपि तिर्यङ् रुद्रः क्रूरः मार्जारमूषकवकगृध्रसर्पनकुलव्याघ्रसिंहमत्स्यादिरूपो भवेत् ॥ २८७ ॥ अथ तस्य नरकपातादिकं दर्शयति-

सो तिव्व-असुह-लेसो णरये[4] णिवडेइ[5] दुक्खदे भीमे ।
तत्थ वि दुक्खं भुंजदि सारीरं माणसं पउरं ॥ २८८ ॥

[छाया-स तीव्र अशुभलेश्यः नरके निपतति दुःखदे भीमे । तत्रापि दुःखं भुङ्क्ते शारीरं मानसं प्रचुरम् ॥] सो स तिर्यङ् क्रूरजीवः नरकं रत्नप्रभादिकं प्रति निपतति तत्रावतरतीत्यर्थः । कीदृक् सन् । तीव्राशुभलेश्यः, कषायपरिणता

लेता है । वहांभी अनेक पूर्वकोटि काल तक रहता है । वहांसे निकलकर जिस किसी तरह पञ्चेन्द्रिय होता है ॥ **भावार्थ**-एकेन्द्रियसे दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चौइन्द्रिय होकर पञ्चेन्द्रिय होना दुर्लभ है । यदि विकलेन्द्रियसे पुनः एकेन्द्रिय पर्यायमें चला गया तो फिर बहुत काल तक वहांसे निकलना कठिन है । अतः त्रस होकरभी पञ्चेन्द्रिय होना दुर्लभ है ॥ २८६ ॥ आगे कहते हैं कि पञ्चेन्द्रियोंमेंभी सैनी पञ्चेन्द्रिय आदि होना दुर्लभ है। **अर्थ**-विकलत्रयसे निकलकर पञ्चेन्द्रिय भी होता है तो मनरहित असैनी होता है । अतः आपको और परको नहीं जानता । और जो कदाचित् मनसहित सैनी भी होता है तो रौद्र परिणामी तिर्यञ्च होता है ॥ **भावार्थ**-यदि पञ्चेन्द्रिय पर्याय भी प्राप्त कर लेता है तो असंज्ञी होनेके कारण बातचीत, उपदेश वगैरह नहीं समझ सकता । अतः न तो स्वयं अपनेको जानता है और न अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, आगम, धर्म वगैरहको ही जानता है । कदाचित् जिस किसी तरह संज्ञी पञ्चेन्द्रिय भी होता है तो विलाव, चूहा, भेडिया, गृद्ध, सर्प, नेवला, व्याघ्र, सिंह, मगर, मच्छ आदि क्रूर तिर्यञ्च हो जाता है । अतः सदा पापरूप परिणाम रहते हैं ॥२८७॥ आगे कहते हैं कि वह नरकमें चला जाता है । **अर्थ**-सो तीव्र अशुभ लेश्यासे मरकर वह क्रूर तिर्यञ्च दुःखदायी भयानक नरकमें चला जाता है । वहां प्रचुर शारीरिक तथा मानसिक दुःख भोगता है ॥ **भावार्थ**-कषायके उदयसें रंगी हुई मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं । तथा क्रोध, मान, माया और लोभको कषाय कहते हैं । प्रत्येक कषाय चार प्रकारकी होती है । उसमेंसे पत्थरकी

१ स वि । २ ब सहिदो (?), ल म ग सहिओ । ३ ल म ग तिरक्खो । ४ ब ल म ग णरयं, स णरये (?), [णरयम्मि पडेइ] । ५ म णिवडेदि ।

योगप्रवृत्तिर्लेश्या, तीव्राः पाषाणभेदस्तम्भवेणुमूललाक्षारङ्गोपमादिभागाविष्टाः अशुभाः कृष्णनीलकपोतलक्षणाः लेश्याः । कषायपरिणतयोगपरिणामा यस्य स तथोक्तः । तत्थ वि तत्रापि रत्नप्रभादिनरके भुनक्ति भुङ्क्ते । किं तत् । दुःखम् । कीदृक्षम् । शारीरं शरीरोद्भवं शीतोष्णक्षुत्तृषापञ्चकोट्यष्टषष्टिलक्षनवनवतिसहस्रपञ्चशतचतुरशीतिव्याध्यादिजं, मानसं मनसोद्भवं दुष्टकषायकलुषीकृतचित्तपरिणामजातम् । च पुनः, प्रचुरं छेदनभेदनक्रकचनविदारणपीलनकुम्भीपाकपचनशूलारोपणखड्गधारासूचिसदृशभूमिस्पर्शवैतरणीस्नानपरस्परकृतघातासुरोदीरितादिदुःखम् । कथंभूते नरके । दुःखदे दुःखदायिनि । पुनः कीदृक्षे । भीमे रौद्रे घोरतरे दुःखदे नरके ॥ २८८ ॥ अथ ततो निस्सरणं तिर्यग्गतिप्राप्तिं च विवृणोति–

तत्तो णिस्सरिदूणं[1] पुणरवि तिरिएसु जायदे पावो[2] ।
तत्थ वि दुक्खमणंतं विसहदि जीवो अणेयविहं ॥ २८९ ॥

[छाया–ततः निःसृत्य पुनरपि तिर्यक्षु जायते पापः । तत्र अपि दुःखमनन्तं विषहते जीवः अनेकविधम् ॥] ततः रत्नप्रभादिनरकात् निःसृत्य पुनरपि नरकगतेः पूर्वं तिर्यङ् ततो निर्गतोऽपि तिर्यक्षु जायते मृगपशुपक्षिजलचरादिषु उत्पद्यते । पापम् अधर्मं यथा भवति तथा । तत्थ वि तत्रापि तिर्यग्गतावपि विषहते विशेषेण सहते क्षमते । कः । जीवः संसारी प्राणी तिर्यक् । किं तत् । दुःखं अशर्म । कियन्मात्रम् । अनन्तं क्षुधातृषाभारारोपणदोहनशीतोष्णाद्यन्तरहितम् । पुनः कियत्प्रकारम् । अनेकविधं छेदनभेदनताडनतापनमरणादिपरस्परगलनाद्यनेकप्रकारम् ॥ २८९ ॥ अथ मनुष्यत्वं दुर्लभं सदृष्टान्तं दर्शयति–

रयणं चउप्पहे[3] पिव मणुयत्तं सुट्ठु दुलहं लहिय[4] ।
मिच्छो हवेइ जीवो तत्थ वि पावं समज्जेदि ॥ २९० ॥

लकीरके समान क्रोध, स्तम्भकी तरह कभी न नमनेवाला मान, बांसकी जड़की तरह माया और लाखके रंगकी तरह कभी न मिटनेवाला लोभ अति अशुभ होता है । अतः ऐसी कषायके उदयमें कृष्ण, नील और कापोत नामकी तीन अशुभ लेश्याएं ही होती हैं । इन अशुभ लेश्याओंसे मरकर वह क्रूर तिर्यञ्च रत्नप्रभा आदि नरकोंमें जन्म लेता है । वहां भूख, प्यास, शीत, उष्णके कष्टके साथही साथ, छेदना, भेदना, चीरना, फाडने आदिका कष्ट भोगता है; क्योंकि नारकी जीव परस्परमें एक दूसरेको अनेक प्रकारसे कष्ट देते हैं । कोल्हूमें पेलना, भाडमें भूजना, पकाना, शूलोंपर फेंक देना, तलवारके धारके समान नुकीले पत्तेवाले वृक्षोंके नीचे डाल देना, सुईकी नोकके समान नुकीली घासवाली जमीनपर डालकर खींचना, वैतरणी नदीमें डालना तथा अपनी विक्रियासे निर्मित अस्त्रशस्त्रोंसे परस्परमें मारना आदिके द्वारा बडा कष्ट पाते हैं । इसके सिवा तीसरे नरक तक असुर कुमार जातिके देव भी कष्ट पहुंचाते हैं । इस तरह नरकमें जाकर वह जीव बडा कष्ट भोगता है ॥ २८८ ॥ आगे कहते हैं कि नरकसे निकलकर पुनः तिर्यञ्च होता है । **अर्थ–**नरकसे निकलकर फिरभी तिर्यञ्च गतिमें जन्म लेता है और पापपूर्वक वहां भी अनेक प्रकारका अत्यन्त दुःख सहता है ॥ **भावार्थ–**रत्नप्रभा आदि भूमिसे निकलकर यह जीव फिर भी तिर्यञ्च गतिमें जन्म लेता है । अर्थात् तिर्यञ्चगतिसे ही नरकमें गया था और नरकसे निकलकर भी तिर्यञ्चही होता है । तिर्यञ्च गतिमेंभी भूख, प्यास, शीत, उष्ण, भारवहन, छेदन, भेदन, ताडन, मारण आदिका महा दुःख सहना पडता है ॥ २८९ ॥ आगे मनुष्यपर्यायकी दुर्लभता दृष्टान्तपूर्वक बतलाते हैं । **अर्थ–**जैसे चौराहेपर गिरे हुए रत्नका हाथ आना

१ **ल म स ग** णीसरिऊणं । २ **ब** पावो (?), **ल स ग** पावं, म पाउं । ३ **ब** चउप्पहवो । ४ **ब** लहिवि ।

[छाया-रत्नं चतुष्पथे इव मनुजत्वं सुष्ठु दुर्लभं लब्ध्वा । म्लेच्छः भवति जीवः तत्र अपि पापं समर्जयति ॥] जीवः आत्मा मिथ्यादृष्टिम्लेच्छः म्लेच्छखण्डोद्भवः पञ्चाशदधिकाष्टशतम्लेच्छखण्डोद्भवः अनार्यदेशोत्पन्नो वा भवेत् । किं कृत्वा । पूर्वं लहिय लब्ध्वा प्राप्य । किं तत् । मनुष्यत्वं नरत्वम् । कीदृशम् । सुष्ठु अतिशयेन दुर्लभं दुःप्राप्यं चुल्लकपाशकादि दशदृष्टान्तेन दुरवापम् । क्व किमिव । चतुःपथे रत्नमिव यथा चतुष्पथे रत्नं दुर्लभं दुःप्राप्यं तथा मनुष्यत्वं दुर्लभम् । तत्रापि म्लेच्छजन्मनि समर्जयति समुपार्जयति । किं तत् । पापं दुरितं व्यसनादिकेन पापाचरणं चरति ॥ २९० ॥ अथार्यखण्डादिषु उत्तरोत्तरदुर्लभत्वं गाथाषट्केनाह-

अह लहदि[1] अज्जवत्तं[2] तह ण वि पावेइ उत्तमं गोत्तं ।
उत्तम-कुले वि पत्ते धण-हीणो जायदे जीवो ॥ २९१ ॥

[छाया-अथ लभते आर्यावर्तं तथा न अपि प्राप्नोति उत्तमं गोत्रम् । उत्तमकुले अपि प्राप्ते धनहीनः जायते जीवः ॥] अथ अथवा लभते प्राप्नोति । किं तत् । आर्यखण्डम्, अर्यते[3] गम्यते सेव्यते गुणैर्गुणवद्भिर्वासौ आर्यः उत्तमपुरुषस्तीर्थकरचक्रवर्त्यादिलक्षणः तद्वत् क्षेत्रम् आर्यखण्डमित्यर्थः । तत्रार्यखण्डे नापि प्राप्नोति न लभते । किं तत् । उत्तमं गोत्रं महाव्रतप्राप्तियोग्यं मोक्षसाधनयोग्यं च क्षत्रियादिकुलम् । तथा कदाचित् उत्तमकुले प्रशस्तकुले ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यकुले प्राप्ते संपन्ने जायते उत्पद्यते । कः । जीवः । कीदृक्षः । धनहीनः धनधान्यसुवर्णगृहरत्नमुक्ताफलगजाश्वगोमहिषीवस्त्राभरणादिरहितः दरिद्रो जीवः ॥ २९१ ॥

अह धण-सहिदो[4] होदि हु इंदिय-परिपुण्णदा तदो दुलहा ।
अह इंदिय-संपुण्णो तह वि सरोओ हवे देहो ॥ २९२ ॥

[छाया-अथ धनसहितः भवति खलु इन्द्रियपरिपूर्णता ततः दुर्लभा । अथ इन्द्रियसंपूर्णः तथापि सरोगः भवेत् देहः ॥] अथ अथवा, हु इति स्फुटं, कदाचित् धनसहितः धनाढ्यो महर्द्धिको भवति । ततः धनयुक्तत्वेऽपि इन्द्रियपरि-

दुर्लभ है वैसे ही मनुष्यभव भी अत्यन्त दुर्लभ है । तिर्यञ्च पर्यायसे निकलकर और अत्यन्त दुर्लभ मनुष्यभवको पाकर भी यह जीव मिथ्यादृष्टि म्लेच्छ होकर पापका उपार्जन करता है ॥ **भावार्थ**-मनुष्यभव पाकरभी यदि मिथ्यादृष्टि हुआ और म्लेच्छ खण्डोंमें जन्म लिया तो पापही करता है ॥ २९० ॥ आगे आर्य खण्ड वगैरहकी उत्तरोत्तर दुर्लभता बतलाते हैं । **अर्थ**-यदि कदाचित् आर्यखण्डमें जन्म लेता है तो उत्तम कुल पाना दुर्लभ है । कदाचित् उत्तम कुल भी मिला तो धनहीन दरिद्री होता है ॥ **भावार्थ**-जो गुणोंसे अथवा गुणवानोंसे सेवित होते है अर्थात् जो स्वयं गुणी होते हैं तथा गुणवानोंकी संगतिमें रहते हैं उन्हें आर्य कहते हैं । आर्य अर्थात् तीर्थङ्कर चक्रवर्ती आदि उत्तम पुरुष जिस भूमिमें जन्म लेते हैं वह भूमि आर्यखण्ड कही जाती है । यदि मनुष्यभव पाकर वह जीव आर्यखण्डका मनुष्य हुआ और महाव्रतकी प्राप्तिके योग्य अथवा मोक्ष साधनके योग्य उत्तम क्षत्रिय आदिका कुल नहीं पाया तोभी मनुष्यभव पाना व्यर्थ हुआ । तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यका प्रशस्त कुल पाकर भी यदि धनधान्यसे रहित दरिद्री हुआ तौ भी जीवन कष्टमेंही बीतता है ॥ २९१ ॥ **अर्थ**-अथवा धनसम्पन्न भी हुआ तो इन्द्रियोंकी पूर्णताका पाना दुर्लभ है । कदाचित् इन्द्रियां भी पूर्ण हुईं और शरीर रोगी हुआ तौ भी सब व्यर्थ है ॥ **भावार्थ**-कदाचित् धनाढ्य भी हुआ तो हाथ पैरसे ठीक होना, अर्थात् अपंग, अन्धा वगैरह न होना कठिन है । कदाचित् शरीर अविकल हुआ और आंख नाक कान वगैरह

---

१ **ल म ग** लहइ, **स** लहई । २ **ब** अज्जवंत्तं, **ल म ग** अज्जवंत्तं, **स** अज्जेवंत्तं, [अज्जवत्तं]। ३ **ग** आर्यते । ४ **ल म** सहिओ, **ग** सहिउ ।

पूर्णता चक्षुर्घ्राणश्रोत्रहस्तपादादिना हीनाङ्गतारहितता इन्द्रियाणां पटुत्वं दुर्लभा दुःप्राप्या। अथ अथवा इन्द्रियसंपूर्णः स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रहस्तपादाङ्गुल्याद्यवयवसंपूर्णः। तह वि तथापि इन्द्रियपटुत्वे सति देहः शरीरं सरोगः ज्वरभगन्धरकुठोदर[1]कुक्षिशिरोरोगकुष्ठसंनिपातप्लीहपाठादिव्याधिसंयुक्तो भवेत्॥ २९२॥

अह णीरोओ होदि हु तह वि ण पावेदि[2] जीवियं सुइरं[3]।
अह चिर-कालं जीवदि तो सीलं[4] णेव पावेदि[5]॥ २९३॥

[छाया–अथ नीरोगः भवति खलु तथापि न प्राप्नोति जीवितं सुचिरम्। अथ चिरकालं जीवति तत् शीलं नैव प्राप्नोति॥] अथ अथवा, हु इति कदाचित्, अव्ययानामनेकार्थत्वात्, नीरोगो जातः रोगरहितो भवति। तथापि सुचिरं जीवितव्यमायुर्न प्राप्नोति। अथ अथवा चेत् चिरकालं कोटिपूर्वादिपर्यन्तं जीवति प्राणधारणं विदधाति तो तर्हि शीलं ब्रह्मचर्यलक्षणं व्रतपतिपालनस्वभावं च नैव प्राप्नोति॥ २९३॥

अह होदि सील-जुत्तो[6] तो[7] वि ण पावेइ साहु-संसग्गं।
अह तं पि कह वि पावदि सम्मत्तं तह वि अइदुलहं॥ २९४॥

[छाया–अथ भवति शीलयुक्तः ततः अपि न प्राप्नोति साधुसंसर्गम्। अथ तम् अपि कथमपि प्राप्नोति सम्यक्त्वं तथापि अतिदुर्लभम्॥] अथ अथवा कथमपि यदि शीलयुक्तः ब्रह्मचर्यविशिष्टो वा उत्तमस्वभावसंयुक्तो वा गुणव्रतत्रयशिक्षाव्रतचतुष्कशीलसप्तकसंयुक्तो भवति। तथापि तर्ह्यपि साधुसंसर्गं साधूनां रत्नत्रयसाधकानां योगिनां संसर्गः संयोगः गोष्ठिः तं न प्राप्नोति न लभते। अथ यदि तमपि साधुसंसर्गं कथमपि प्राप्नोति तथापि सम्यक्त्वं तत्त्वश्रद्धानलक्षणं व्यवहारसम्यक्त्वं निश्चयसम्यक्त्वं च अतिदुर्लभं दुःप्राप्यं भवति॥ २९४॥

सम्मत्ते वि य लद्धे चारित्तं णेव गिण्हदे[8] जीवो[9]।
अह कह वि तं पि गिण्हदि तो पालेदुं ण सक्केदि॥ २९५॥

[छाया–सम्यक्त्वे अपि च लब्धे चारित्रं नैव गृह्णाति जीवः। अथ कथमपि तत् अपि गृह्णाति तत् पालयितुं न शक्नोति॥] अपि च विशेषे। कदाचिद्दैवतः इति पदं सर्वत्र योज्यम्। सम्यक्त्वे लब्धे सम्यग्दर्शने प्राप्ते सति जीवः आत्मा चारित्रं त्रयोदशप्रकारं सर्वसावद्यविरतिलक्षणं सामायिकादिपञ्चप्रकारं वा निश्चयव्यवहारात्मकं च नैव गृह्णाति। अथ यदि कथमपि महता कष्टेन तदपि चारित्रं कदाचिद्दैवयोगतः गृह्णाति, तो तर्हि तत् चारित्रं पालयितुं रक्षितुं न शक्नोति न समर्थो भवति। रुद्रवरत्रादिमुनिवत्॥ २९५॥

[10]रयणत्तये वि लद्धे तिव्व-कसायं करेदि जइ जीवो।
तो दुग्गईसु गच्छदि पणट्ठ-रयणत्तओ होउं[11]॥ २९६॥

भी ठीक हुए तो नीरोग शरीर मिलना दुर्लभ है क्योंकि मनुष्यशरीर ज्वर, भगंदर, कुष्ट, जलोदर, प्लीहा, सन्निपात, आदि व्याधियोंका घर है॥ २९२॥ **अर्थ**–अथवा कदाचित् नीरोग भी हुआ तो लम्बी आयु नहीं पाता, अर्थात् जल्दी ही मर जाता है। अथवा कदाचित् लम्बी आयु भी पाई तो उत्तम स्वभावरूप शीलको नहीं पाता॥ २९३॥ **अर्थ**–कदाचित् उत्तम स्वभावरूप शीलको पाता भी है तो रत्नत्रयके साधक साधुजनोंकी संगति नहीं मिलती। यदि किसी प्रकार साधु संगतिका लाभ भी हो जाता है तो तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्वका पाना अति दुर्लभ है॥ २९४॥ **अर्थ**–दैववश कदाचित् सम्यक्त्वको प्राप्त भी करले तो चारित्रको ग्रहण नहीं करता। और कदाचित् दैवयोगसे चारित्र ग्रहण भी करले तो उसे पालनेमें असमर्थ होता है॥ २९५॥ **अर्थ**–कदाचित् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और

१ प कुठंदर। २ ल स ग पावेइ। ३ ब स मयर। ४ ब ग सीलं। ५ ल स ग पावेइ। ६ ग शीलयुत्तो। ७ ल म स ग तह वि। ८ ब गिन्हदे, गिन्हदि। ९ ग जीओ। १० प रयणत्तए। ११ ब होउ (?)।

[छाया-रत्नत्रये अपि लब्धे तीव्रकषायं करोति यदि जीवः । तर्हि दुर्गतिषु गच्छति प्रणष्टरत्नत्रयः भूत्वा ॥] यदि कथमपि दैवयोगात् रत्नत्रये लब्धेऽपि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मके प्राप्तेऽपि जीवः आत्मा तीव्रकषायं करोति अनन्तानुबन्धिलक्षणक्रोधमानमायालोभादिकं रागद्वेषादिकं विदधाति, तो तर्हि दुर्गतिषु गच्छति नरकतिर्यग्दुर्मनुष्यभवनव्यन्तरज्योतिष्केषु गतिषु याति । कीदृग्भूत्वा । प्रणष्टरत्नत्रयो भूत्वा त्यक्तसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रो भूत्वा रत्नत्रयं मुक्त्वा इत्यर्थः ॥ २९६ ॥ अथ मनुष्यत्वस्य दुर्लभत्वं व्यनक्ति-

रयणु[1] व्व जलहि-पडियं मणुयत्तं तं पि[2] होदि[3] अइदुलहं ।
एवं सुणिच्छइत्ता[4] मिच्छ-कसाए य वज्जेह[5] ॥ २९७ ॥

[छाया-रत्नमिव जलधिपतितं मनुजत्वं तत् अपि भवति अतिदुर्लभम् । एवं सुनिश्चित्य मिथ्यात्वकषायान् च वर्जयत ॥] एवं पूर्वोक्तप्रकारेण मनुष्यत्वस्य दुर्लभत्वं दुःप्राप्यत्वं, पुण्यैर्विना मनुष्यत्वं न प्राप्यते इत्यर्थः । सुनिश्चित्य निश्चयं कृत्वा पवजह यूयं प्रवर्जयत यूयं त्यजत । कान् । मिथ्यात्वकषायान् । मिथ्यात्वान्येकान्तादीनि पञ्च । तत्कम् । "एयंत बुद्धदरसी विवरीओ बंभ तावसो विणओ । इंदो विय संसइदो मक्कडिओ चेव अण्णाणी ॥" तथा द्रव्यक्षेत्रकालभावाच्चतुर्विधं मिथ्यात्वम् । कषायाः अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनक्रोधमानमायालोभाख्या हास्यादयश्च तान् यूयं त्यजत । एवं किम् । यन्मनुष्यत्वं नरजन्मत्वं तदपि अतिदुर्लभम् अतिदुःप्रापम् अत्यन्तदुःखेन महता कष्टेन प्राप्यम् । किमिव । जलधिपतितरत्नमिव यथा समुद्रे पतितं रत्नम् अतिदुःखेन प्राप्यते तथा मनुष्यत्वं नरजन्मसंसारसमुद्रे भ्रमता प्राणिना अतिदुःखेन प्राप्यते, बहुलपुण्यं विना न ॥ २९७ ॥ अथ देवत्वे यत् दुर्लभं तन्निगदति-

अहवा देवो होदि हु तत्थ वि पावेदि कह व सम्मत्तं ।
तो तव-चरणं ण लहदि देस-जमं[6] सील-लेसं पि ॥ २९८ ॥

[छाया-अथवा देवः भवति खलु तत्र अपि प्राप्नोति कथमिव सम्यक्त्वम् । ततः तपश्चरणं न लभते देशयमं शीललेशम् अपि ॥] अथवा, हु इति कदाचिद्दैवयोगतः, "सराग(-संयम-)संयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ।"

सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयको प्राप्त करके भी यदि यह जीव अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ रूप तीव्र कषायको करता है तो रत्नत्रयको नष्ट करके दुर्गतियोंमें गमन करता है अर्थात् मरकर या तो नरकमें चला जाता है, या तिर्यञ्च योनिमें जन्म लेता है, या दीन दुखी दरिद्री मनुष्य होता है, अथवा देव भी होता है तो भवनवासी, व्यन्तर या ज्योतिष्क जातिका देव होता है ॥ २९६ ॥ आगे मनुष्य पर्यायकी दुर्लभता बतलाते हैं । **अर्थ-**अतः जैसे समुद्रमें गिरा हुआ रत्न पाना अत्यन्त दुर्लभ है, वैसे ही संसारसमुद्रमें भटकते हुए मनुष्यजन्मका पाना अत्यन्त दुर्लभ है, ऐसा निश्चय करके तुम मिथ्यात्व और कषायोंको छोड़ दो ॥ २९७ ॥ आगे, देवपर्यायमें चारित्रकी दुर्लभता बतलाते हैं । **अर्थ-**यदि कदाचित् यह जीव मर कर देव भी होता है और वहां किसी तरह सम्यक्त्वको भी प्राप्त कर लेता है तो तप और चारित्रको नहीं पाल सकता । और तो क्या, देशसंयम और शीलका लेश भी नहीं होता ॥ **भावार्थ-**कदाचित् मनुष्य पर्यायमें इस जीवने रागसहित संयमका अथवा देशसंयमका पालन किया, अथवा अकाम निर्जरा और खोटा तप किया और मरकर पुण्ययोगसे देव हुआ । तथा देव होकर क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि, और करणलब्धिके मिल जानेसे सम्यग्दर्शन भी प्राप्त कर लिया किन्तु बारह प्रकारका तप और पांच प्रकारका

१ [रयणं व] । २ ब तो मणुयत्तं पि । ३ ब होइ । ४ ब सुणिच्छयंतो । ५ ब वज्जय (?), स ग वज्जह । ६ म देसवयं ।

इति पुण्ययोगात् देवः अमरो भवति । तत्रापि देवत्वे कथमपि महता कष्टेन काललब्ध्या, तथा 'खओवसमविसोहीदेसण-पाउग्गकरणलद्धीए' इति पञ्चलब्ध्या सम्यक्त्वं सुदर्शनं लभते प्राप्नोति । तो तर्हि सम्यक्त्वे लब्धेऽपि न लभते न प्राप्नोति । किं तत् । तपश्चरणं तपोऽनशनावमोदर्यादि द्वादशधा । चरणं सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपरायात्मकं पञ्चभेदम् । अपि पुनः देशसंयमं देशचारित्रं श्रावकव्रतं पुनः शीललेशं ब्रह्मचर्याणुमात्रम् अथवा शीलसप्तकं न प्राप्नोति ॥ २९८ ॥ अथ मनुष्यगतावेव तपश्चरणादिकं द्रढयति–

मणुव-गईए[1] वि तओ मणवु-गईए[2] महव्वदं[3] सयलं ।
मणुव-गदीए[4] झाणं[5] मणुव-गदीए वि णिव्वाणं ॥ २९९ ॥

[छाया–मनुजगतौ अपि तपः मनुजगतौ महाव्रतं सकलम् । मनुजगतौ ध्यानं मनुजगतौ अपि निर्वाणम् ॥] मनुष्यगतावेव, अपिशब्द एवकारार्थे, तपः 'अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः' षोढा । प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्यभ्यन्तरं च षोढा, इति द्वादशधा । इच्छानिरोधस्तपो वा । एकावली द्विकावली रत्नावली सर्वतोभद्रप्रमुखं वा भवति । पुनः मनुष्यगतावेव उत्तमक्षत्रियादिवंशे सर्वसावद्यनिवृत्ति-लक्षणं महाव्रतं सकलं संपूर्णं महाव्रत हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहनिवृत्तिलक्षणं भवति । मनुष्यगत्यामेव सकलं संपूर्णम् उत्कृष्टतां प्राप्तं धर्मध्यानं शुक्लध्यानं च स्यात् । काकाक्षगोलकन्यायेन सकलशब्द उभयत्र व्रतध्यानयोर्योज्यम् । मनुष्यगतावेव निर्वाणः सकलकर्मविप्रमुक्तिलक्षणः सम्यक्त्वाद्यष्टगुणोपेतः मोक्षो भवति ॥ २९९ ॥ अथ मनुष्यत्वे प्राप्ते सति विषयविवर्जनम् अकुर्वतः सदृष्टान्तं दोषं विवृणोति–

इय दुलहं[6] मणुयत्तं लहिऊणं जे रमंति विसएसु ।
ते लहिय[7] दिव्व-रयणं भूई[8]-णिमित्तं पजालंति[9] ॥ ३०० ॥

[छाया–इति दुर्लभं मनुजत्वं लब्ध्वा ये रमन्ते विषयेषु । ते लब्ध्वा दिव्यरत्नं भूतिनिमित्तं प्रज्वालयन्ति ॥] रमन्ते क्रीडन्ति ये नराः । क्व । विषयेषु पञ्चेन्द्रियाणां स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दभोगव्यापारलक्षणेषु । किं कृत्वा । लब्ध्वा प्राप्य । कि तत् । मनुष्यत्वं नरजन्मत्वम् । इति पूर्वोक्तप्रकारेण लब्ध्यपर्याप्तनिगोदतः प्रारभ्य मनुष्यजन्मपर्यन्तं दुलहं दुःप्रापम् । ते पुरुषा दृष्टान्तद्वारेण किं कुर्वते इति कथयति । ते पुरुषा दिव्यरत्नम् अनर्घ्यरत्नं प्राप्य प्रज्वालयन्ति भस्मीकुर्वन्ति । किमर्थम् । भूतिनिमित्तं भूतिर्भस्म तदर्थम् ॥ ३०० ॥ इति सर्वेषां दुर्लभत्वं प्रकाश्य रत्नत्रये आदरं निगदति–

चारित्र तो वहां किसी भी तरह प्राप्त नहीं हो सकता । और तो क्या, श्रावकके व्रत तथा शीलका लेश भी पाल सकना वहां शक्य नहीं है । क्योंकि देवगतिमें संयम संभव नहीं है ॥ २९८ ॥ आगे कहते हैं कि मनुष्यगतिमें ही तपश्चरण आदि होता है । **अर्थ**–मनुष्यगतिमें ही तप होता है । मनुष्यगतिमें ही समस्त महाव्रत होते हैं । मनुष्यगतिमें ही ध्यान होता है और मनुष्यगतिमें ही मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ **भावार्थ**–अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, और काय-क्लेश ये छै बाह्य तप और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान ये छै अभ्यन्तर तप मनुष्यगतिमें ही होते हैं । हिंसा, झूंठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन समस्त पापोंका पूर्ण त्यागरूप महाव्रत मनुष्य ही धारण कर सकते हैं । मनुष्यगतिमें ही उत्कृष्ट धर्मध्यान और शुक्लध्यान होते हैं । तथा समस्त कर्मबन्धनसे मुक्ति भी मनुष्यगतिमें ही मिलती है ॥ २९९ ॥ आगे, जो मनुष्यभव प्राप्त होनेपर विषयोंमें फंस जाते हैं उनकी निन्दा करते हैं । **अर्थ**–पूर्वोक्त प्रकारसे दुर्लभ मनुष्य पर्यायको प्राप्त

१ ब गयए । २ म गदीए । ३ ब महव्वयं । ४ ब गदीये । ५ ग ज्झाणं । ६ ग दुलहं । ७ स लहइ । ८ ल ग भूय । ९ स पजालेदि ।

इय सव-दुलह-दुलहं दंसण-णाणं तहा चरित्तं च ।
मुणिऊण य संसारे महायरं कुणह तिण्हं पि[1] ॥ ३०१ ॥[2]

[छाया-इति सर्वदुर्लभदुर्लभं दर्शनज्ञानं तथा चारित्रं च । ज्ञात्वा च संसारे महादरं कुरुत त्रयाणाम् अपि ॥] इति पूर्वोक्तप्रकारेण मत्वा ज्ञात्वा । किं तत् । सर्वं पूर्वोक्तम् एकेन्द्रियप्रभृति रत्नत्रयप्राप्तिपर्यन्तं दुलहदुलहं दुर्लभात् दुःप्रापात् दुर्लभं दुःप्राप्यं तथा तेनैव दुर्लभप्रकारेण दर्शनज्ञानचारित्रं च, दर्शनम् अष्टाङ्गसम्यक्त्वं स्वात्मश्रद्धानरूपं निश्चयसम्यक्त्वं च, ज्ञानं द्वादशाङ्गपरिज्ञानं स्वात्मस्वरूपवेदनं निश्चयज्ञानं च, तथा चारित्रं सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणं सामायिकादिपञ्चभेदं पुनः स्वात्मानुभूतिलक्षणं निश्चयचारित्रं च । एतत् त्रयं दुर्लभात् दुर्लभं ज्ञात्वा । क । संसारे द्रव्यक्षेत्रकालभवभावप्रभृते । कुणह कुरुष्व त्वं विधेहि । किं तत् । महादरं महोद्यमम् । केषाम् । त्रयाणां दर्शनज्ञानचारित्राणाम्, अपिशब्दात् तपोध्यानादीनां च । महादरं भो भव्यवर पुण्डरीक त्वं कुरुष्व इत्यर्थः ॥ ३०१ ॥

योऽनुप्रेक्षां क्षितौ ख्यातां समाख्याय सुखं बभौ । तट्टीकां विदधद्विद्वान् शुभचन्द्रो जयत्यलम् ॥

इति षड्भाषाकविचक्रवर्तित्रैविद्यविद्येश्वरभट्टारकश्रीशुभचन्द्रदेवविरचितायां स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षाटीकायां बोधिदुर्लभानुप्रेक्षाप्रतिपादकः एकादशोऽधिकारः ॥ ११ ॥

[१२. धर्मानुप्रेक्षा]

धर्मं सद्धर्मदातारं सकलं गुणभेदकम् । नत्वा सुमतिकीर्तेश्च स्वाग्रहाद्वच्मि तं पुनः ॥

अथ धर्मानुप्रेक्षां व्याचक्षाणः श्रीस्वामिकार्त्तिकेयः धर्ममूलं सर्वज्ञं देवं प्रकाशयति-

जो जाणदि पच्चक्खं तियाल-गुण-पज्जएहिं संजुत्तं ।
लोयालोयं सयलं सो सव्वण्हू[3] हवे देवो ॥ ३०२ ॥

करके जो पाखो इन्द्रियोंके विषयोंमें रमते हैं वे मूढ दिव्य रत्नको पाकर उसे भस्मके लिये जलाकर राख कर डालते हैं ॥ ३०० ॥ आगे दुर्लभ रत्नत्रयको पाकर उसका आदर करनेका उपदेश देते हैं । **अर्थ-**इस तरह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको संसारकी सब दुर्लभ वस्तुओंमें भी दुर्लभ जानकर इन तीनोंका अत्यन्त आदर करो ॥ ३०१ ॥ इति बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा ॥ ११ ॥

अब धर्मानुप्रेक्षाका कथन करते हुए स्वामी कार्त्तिकेय धर्मके मूल सर्वज्ञ देवका स्वरूप कहते हैं । **अर्थ-**जो त्रिकालवर्ती गुणपर्यायोंसे संयुक्त समस्त लोक और अलोकको प्रत्यक्ष जानता है वह सर्वज्ञ देव है ॥ **भावार्थ-**जो सर्वज्ञका अर्थ है सबको जाननेवाला । और सबसे मतलब है-भूत, भावी और वर्तमान कालीन गुण और पर्याय सहित समस्त लोक और अलोक । अतः जो समस्त लोक और अलोकमें वर्तमान सब द्रव्योंको और उनकी सब पर्यायोंको जानता है वही सर्वज्ञ है । और वही वास्तवमें देव है क्योंकि वह अनन्त चतुष्टय स्वरूप परमानन्दमें क्रीडा करता है । कहा भी है-'जो अनेक प्रकारके समस्त चराचर द्रव्योंको तथा उनके सब गुणोंको और उनकी भूत,

१ ब ग तिन्हं । २ ब दुलहानुबोहि अनुप्रेक्षा ॥ ११ ॥ ३ म सव्वण्हु, ग सव्वण्ह ।

[छाया-यः जानाति प्रत्यक्षं त्रिकालगुणपर्ययैः संयुक्तम् । लोकालोकं सकलं स सर्वज्ञः भवेत् देवः ॥] स जगत्प्रसिद्धः सर्वज्ञः सर्व लोकालोकं जानातीति वेत्तीति सर्वज्ञः । उक्तं च । 'यः सर्वाणि चराचराणि विविधद्रव्याणि तेषां गुणान्, पर्यायानपि भूतभाविभवतः सर्वान् यदा सर्वथा । जानीते युगपत्प्रतिक्षणमतः सर्वज्ञ इत्युच्यते, सर्वज्ञाय जिनेश्वराय महते वीराय तस्मै नमः ॥' इति सर्वज्ञः । देवः दीव्यति क्रीडति परमानन्दपदे अनन्तचतुष्टयात्मके परमात्मनि वा देव इति सर्वज्ञदेवो भवेत । अन्यो ब्रह्मा विष्णुर्महेशादिको न । स को देवः । यो जानाति वेत्ति पश्यति । किं तत् । लोकालोकं लोकः त्रिभुवनम् अलोकः ततो बहिर्लोकः तत् लोकालोकं सकलं संपूर्णम्, प्रत्यक्षं यथा भवति तथा प्रत्यक्षीभूतं व्यक्तरूपं करतलगतमणिवत जानाति पश्यति । पुनः कीदृक्षम् । त्रिकालगुणपर्यायैः संयुक्तं, गुणाः केवलज्ञानादयः, पर्यायाः अगुरुलघ्वादयः, गुणाश्च पर्यायाश्च गुणपर्यायाः, तैः त्रिकालगुणपर्यायैः सहितं लोकालोकं जानाति । ननु लोकालोकज्ञानिनां सर्वज्ञत्वं चेत् तर्हि श्रुतज्ञानिनामपि सर्वज्ञत्वं भविष्यति स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने इत्याशङ्कामपनुदन् प्रत्यक्षं विशेषणं समर्थयति । श्रुतज्ञानिनः सर्वं परोक्षं पश्यन्ति श्रुतेन, केवलज्ञानिनः सर्वं लोकालोकं वितिमिरं सगुणपर्यायं प्रत्यक्षं जानन्ति पश्यन्ति इत्यर्थः ॥ ३०२ ॥ अथ सर्वज्ञाभाववादिनः भट्टप्रभाकरचार्वाकादीन् प्रतिक्षिपन्नाह-

जदि ण हवदि सव्वण्हू ता को जाणदि अदिंदियं[1] अत्थं ।
इंदिय-णाणं ण मुणदि थूलं पि[2] असेस-पज्जायं ॥ ३०३ ॥

[छाया-यदि न भवति सर्वज्ञः तत. कः जानाति अतीन्द्रियम् अर्थम् । इन्द्रियज्ञानं न जानाति स्थूलम् अपि अशेषपर्यायम् ॥] ननु नास्ति सर्वज्ञोऽनुपलब्धेः इति चार्वाकाः, नास्ति सर्वज्ञः प्रमाणपञ्चकाविषयत्वात् इति मीमांसकाश्च वदन्ति, तान् प्रत्याह । सर्वज्ञो न भवति यदि चेत तो* तर्हि अतीन्द्रियम् अर्थम् इन्द्रियाणामगम्यं वस्तु सूक्ष्मान्तरितदूरार्थं को वेत्ति । सूक्ष्मार्था हि परमाण्वादयः, अन्तरितार्थाः स्वभावान्तरिताः जीवपुण्यपापादयः, कालान्तरिता

भावी और वर्तमान सब पर्यायोंको एक साथ प्रतिसमय पूरी तरहसे जानता है उसे सर्वज्ञ कहते हैं । उस सर्वज्ञ जिनेश्वर महावीरको नमस्कार हो ।' किन्तु इस तरहसे तो श्रुतज्ञानीको भी सर्वज्ञ कहा जा सकेगा; क्योंकि वह भी आगमके द्वारा सब पदार्थोंको जानता है । इसीसे श्रुतज्ञानीको केवलज्ञानीके तुल्य बतलाया है । इस आपत्तिको दूर करनेके लिये ही जाननेके पहले प्रत्यक्ष विशेषण रखा गया है । श्रुतज्ञानी सबको परोक्षरूपसे जानता है इसलिये उसे सर्वज्ञ नहीं कहा जा सकता । जो समस्त लोकालोकको हथेलीपर रखी हुई मणिकी तरह प्रत्यक्ष जानते हैं वही सर्वज्ञ भगवान हैं ॥ ३०२ ॥ आगे सर्वज्ञको न माननेवाले मीमांसकोंका खण्डन करते है । **अर्थ**-यदि सर्वज्ञ न होता तो अतीन्द्रिय पदार्थको कौन जानता ? इन्द्रियज्ञान तो सब स्थूल पर्यायोंको भी नहीं जानता ॥ **भावार्थ**-चार्वाक और मीमांसक सर्वज्ञको नहीं मानते । चार्वाक तो एक इन्द्रियप्रत्यक्षको ही प्रमाण मानता है । जो इन्द्रियोंका विषय नहीं है वह कोई वस्तु ही नहीं, ऐसा उसका मत है । सर्वज्ञ भी किसी इन्द्रियसे गोचर नहीं होता अतः वह नहीं है, यह चार्वाकका कहना है । मीमांसक छै प्रमाण मानता है-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अभाव । इनमेंसे शुरुके पाच प्रमाण वस्तुके सद्भावको विषय करते हैं । जो इन पांच प्रमाणोंका विषय नहीं है वह कोई वस्तु नहीं है । सर्वज्ञ भी पांचों प्रमाणोंका विषय नहीं है अतः सर्वज्ञ नहीं है ऐसा मीमांसकका मत है । आचार्य कहते हैं कि जगतमें ऐसे बहुतसे पदार्थ हैं जो इन्द्रियगम्य नहीं हैं । जैसे सूक्ष्म पदार्थ परमाणु, अन्तरित पदार्थ पूर्वकालमें होगये राम रावण वगैरह और दूरवर्ती पदार्थ सुमेरु वगैरह । ये पदार्थ इन्द्रियोंके द्वारा नहीं देखे जा सकते । यदि कोई सर्वज्ञ न होता तो इन अतीन्द्रिय पदार्थोंका अस्तित्व हमें कैसे ज्ञात होता । इसीसे

---

१ ग अदंदिय । २ स बि ।

रामरावणादयः, दूरार्थाः मन्दरनरकस्वर्गादयः तान् पदार्थान् सर्वज्ञाभावे को वेत्ति को जानाति । अपि तु न सर्वज्ञ एव जानाति । अस्ति कश्चित्तेषां प्रत्यक्षं वेत्ता तदावेदकमनुमानं, सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः अनुमेयत्वादग्न्यादिवदिति । अथ इन्द्रियप्रत्यक्षं तदावेदकं भविष्यतीति चेन्न । इन्द्रियज्ञानं स्पर्शनादीन्द्रियप्रत्यक्षज्ञानं न जानाति । कं तम् । स्थूलमपि केवलम् । अपिशब्दात् सूक्ष्मं स्थूलसूक्ष्ममपि पदार्थम् । कीदृक्षं तम् । अशेषपर्यायं अशेषाः समग्राः अतीतानागतवर्तमानकालविषयाः पर्यायाः परिणामाः विद्यन्ते यस्य स तथोक्तः । तं स्थूलमर्थं समग्रपर्यायसहितं पदार्थम् इन्द्रियज्ञानं न जानाति ॥ ३०३ ॥ अथ सर्वज्ञास्तित्वे सिद्धे तदुपदिष्टो धर्म एवाङ्गीकर्तव्य इत्यावेदयति–

तेणुवइट्ठो[1] धम्मो संगासत्ताण तह असंगाणं ।
पढमो बारह-भेओ दह-भेओ[2] भासिओ बिदिओ ॥ ३०४ ॥

[छाया-तेन उपदिष्टः धर्मः संगासक्तानां तथा असंगानाम् । प्रथमः द्वादशभेदः दशभेदः भाषितः द्वितीयः ॥] तेन सर्वज्ञेन सर्वदर्शिना वीतरागदेवेन धर्मः वृषः उपदिष्टः कथितः । आत्मानमिष्टे नरेन्द्रसुरेन्द्रमुनीन्द्रवन्द्ये मुक्तिस्थाने धत्त इति धर्मः । अथवा संसारस्थान् प्राणिनो धरति धारयतीति वा धर्मः । वा संसारे पतन्तं जीवमुद्धृत्य नागेन्द्रनरेन्द्रदेवेन्द्रादिवन्द्येऽव्याबाधानन्तसुखाद्यनन्तगुणलक्षणे मोक्षपदे धरतीति धर्मः । तस्य भेदौ द्वौ । कौ इति चेत् । केषां संगासक्तानां संगेषु परिग्रहेषु आसक्ता ये संगासक्तास्तेषां परिग्रहरतानां श्रावकाणां धर्मः । तह तथा असंगानां न विद्यन्ते संगाः बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहाः येषां ते असंगास्तेषाम् असंगानां बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहपरित्यक्तानां निर्ग्रन्थानां मुनीनां धर्मः । तयोर्धर्मयोर्मध्ये प्रथमः श्रावकगोचरो धर्मः द्वादशभेदः सम्यग्दर्शनशुद्धादिद्वादशप्रकारो भाषितः, द्वितीयः मुनीश्वरगोचरो धर्मः दशभेदः उत्तमक्षमादिदशप्रकारो वृषो भाषितः प्रकाशितः ॥ ३०४ ॥ अथ तान्प्रथमोद्दिष्टान् द्वादशभेदान् गाथाद्वयेन प्ररूपयति–

सम्मद्दंसण-सुद्धो रहिओ मज्जाइ-थूल-दोसेहिं ।
वय-धारी सामाइउ[3] पव्व-वई पासुयाहारी[4] ॥ ३०५ ॥

समन्तभद्र स्वामीने आप्तमीमांसामें सर्वज्ञकी सिद्धि करते हुए कहा है- सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसीके प्रत्यक्ष हैं क्योंकि उन्हें हम अनुमानसे जान सकते है । जो वस्तु अनुमानसे जानी जा सकती है वह किसीके प्रत्यक्ष भी होती है जैसे आग । शायद कोई कहे कि इन पदार्थोंका ज्ञान तो इन्द्रियसे हो सकता है, किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्यों कि इन्द्रियां तो सम्बद्ध वर्तमान और स्थूल पदार्थोंको ही जाननेमें समर्थ हैं । अतः वे स्थूल पदार्थोंकी भी भूत भविष्यत सब पर्यायोंको नहीं जानती हैं । तब अतीन्द्रिय पदार्थोंको कैसे जान सकती हैं ॥ ३०३ ॥ सर्वज्ञका अस्तित्व सिद्ध करके आचार्य सर्वज्ञके द्वारा उपदिष्ट धर्मका वर्णन करते हैं । **अर्थ–**सर्वज्ञके द्वारा कहा हुआ धर्म दो प्रकारका है–एक तो संगासक्त अर्थात् गृहस्थका धर्म और एक असंग अर्थात् निर्ग्रन्थ मुनिका धर्म । प्रथमके बारह भेद कहे हैं और दूसरेके दस भेद कहे हैं ॥ **भावार्थ–**जो आत्माको नरेन्द्र, सुरेन्द्र और मुनीन्द्रसे वन्दनीय मुक्तिस्थानमें धरता है उसे धर्म कहते हैं । अथवा जो संसारी प्राणियोंको धरता है यानी उनका उद्धार करता है वह धर्म है । अथवा जो संसार समुद्रमें गिरते हुए जीवोंको उठाकर नरेंद्र, देवेंद्र वगैरहसे पूजित अनन्त सुख आदि अनन्तगुणोंसे युक्त मोक्षपदमें धरता है उसे धर्म कहते हैं । सर्वज्ञ भगवानने उस धर्मके दो भेद किये हैं–एक परिग्रहसे घिरे हुए गृहस्थोंके लिये और एक परिग्रह रहित मुनियोंके लिये । श्रावक धर्म बारह प्रकारका कहा है और मुनि धर्म दस प्रकारका कहा है ॥ ३०४ ॥ आगे दो गाथाओंके द्वारा श्रावक धर्मके बारह भेदोंको कहते हैं–

---

१ ग तेणवइट्ठो । २ ल म स ग दसभेओ । ३ म स वयधारी सामइओ, ग वयधरी सामाईओ (ल सामाईउ) । ४ ल स ग पासुआहारी, म फासुआहारी ।

राई-भोयण-विरओ मेहुण-सारंभ-संग-चत्तो य ।
कज्जाणुमोय-विरओ उद्दिट्ठाहार-विरदो य ॥ ३०६ ॥

[छाया–सम्यग्दर्शनशुद्धः रहितः मद्यादिस्थूलदोषैः । व्रतधारी सामायिकः पर्वव्रती प्रासुकाहारी ॥ रात्रिभोजनविरतः मैथुनसारम्भसंगत्यक्तः च । कार्यानुमोदविरतः उद्दिष्टाहारविरतः च ॥] प्रथमः सम्यग्दर्शनशुद्धः सम्यग्दर्शनेन सम्यक्त्वेन शुद्धः निर्मलः पञ्चविंशतिमलरहितः सम्यग्दर्शनशुद्धः । 'मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट् । अष्टौ शङ्कादयश्चैते दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ॥' इति पञ्चविंशतिमलरहितोऽविरतसम्यग्दृष्टिः । १ । द्वितीयः मद्यादिस्थूलदोषैः रहितः मद्यादयः मद्यमांसमधूनि पञ्चोदुम्बरादिसजंतुफलानि । 'द्यूतं मांसं सुरा वेश्या पापर्द्धिः परदारता । स्तेयेन सह सप्तेति व्यसनानि विदूरयेत् ॥' कन्दमूलपत्रशाकाशनचर्मपात्रगतघृततैलजलहिंग्वादीनि च तैः रहितः । २ । तृतीयः व्रतधारी पञ्चाणुव्रतगुणव्रतत्रयचतुःशिक्षाव्रतानीति द्वादशव्रतधारी । ३ । चतुर्थः सामायिकव्रतोपेतः । ४ । पञ्चमः चतुःपर्वप्रोषधोपवासी । ५ । षष्ठः प्रासुकाहारी जलफलधान्यादिसचित्तविरतव्रतधारी । ६ । सप्तमः रात्रिभोजनविरतः दिवामैथुनरहितश्च । ७ । अष्टमो मैथुनत्यक्तः चतुर्विधस्त्रीविरक्तो ब्रह्मचारी । ८ । आरम्भेण सह वर्तमानः सारम्भः स चासौ संगश्च सारंभसंगः तेन त्यक्तः नवमः सारम्भत्यक्तः, कृषिवाणिज्यादिगृहस्थयोग्यव्यापारवर्जितः । ९ । दशमः संगत्यक्तः गृहस्थयोग्यक्षेत्रवास्तुधनधान्यादिदशविधपरिग्रहपरिवर्जितः । १० । एकादशः कार्यानुमोदविरतः कार्येषु गमनागमनगृहादिनिष्पादनविवाहद्रव्योपार्जन व्यापारेषु आहारादिप्रारम्भेषु अनुमोदः अनुमतम् अनुमतिः तेन रहितः अनुमतिविनिवृत्तः । ११ । द्वादशः उद्दिष्टाहारविरतः स्वनिमित्तनिर्मिताहारग्रहणरहितः स्वोद्दिष्टपिण्डोपधिशयनवरासनादेर्विरतः उद्दिष्टविनिवृत्तः । १२ ॥ ३०५-३०६ ॥ अथ सम्यक्त्वोत्पत्तियोग्यतां गमयति–

चदु-गदि[1]-भव्वो सण्णी सुविसुद्धो जग्गमाण-पज्जत्तो[2] ।
संसार-तडे णियडो[3] णाणी पावेइ सम्मत्तं ॥ ३०७ ॥

अर्थ–शुद्ध सम्यग्दृष्टि, मद्य आदि स्थूल दोषोंसे रहित सम्यग्दृष्टि, व्रतधारी, सामायिकव्रती, पर्वव्रती, प्रासुकाहारी, रात्रिभोजनत्यागी, मैथुनत्यागी, आरम्भत्यागी, परिग्रहत्यागी, कार्यानुमोदविरत और उद्दिष्ट आहारविरत, ये श्रावक धर्मके बारह भेद हैं ॥ **भावार्थ**–सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष बतलाये हैं–तीन मूढता, आठ मद, छै अनायतन और आठ शंका आदि दोष। इन पच्चीस मलोंसे रहित अविरत सम्यग्दृष्टि प्रथम भेद है। मद्य, मांस, मधु, पांच उदुम्बर फल, और जुआ, मांस, मदिरा, वेश्या, शिकार, परस्त्री और चोरी इन सात व्यसनोंका त्यागी शुद्ध सम्यग्दृष्टि दूसरा भेद है। पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंका पालक श्रावक तीसरा भेद है। सामायिक व्रतका पालक चौथा भेद है। चारों पर्वोंमें प्रोषधोपवास व्रत करनेवाला पांचवा भेद है। सचित्त जल, फल, धान्य वगैरहका त्यागी छठा भेद है। रात्रिभोजन त्याग सातवां भेद है। कोई आचार्य इसके स्थानमें दिवा मैथुन त्याग कहते हैं। चार प्रकारकी स्त्रीका त्यागी अर्थात् ब्रह्मचारी आठवां भेद है। गृहस्थके योग्य खेती व्यापार आदि आरम्भका त्याग नौवां भेद है। खेत, मकान, धन, धान्य आदि दस प्रकारकी परिग्रहका त्याग दसवां भेद है। आना, जाना, घर वगैरह बनवाना, विवाह करना, धन कमाना आदि, आरम्भोंमें अनुमति न देना, ग्याहरवां भेद है। अपने उद्देशसे बनाये गये आहार आदिका त्याग, बारहवां भेद है। ये श्रावक धर्मके बारह भेद हैं ॥ ३०५-३०६ ॥ प्रथमही सम्यक्त्वकी उत्पत्तिकी योग्यता बतलाते हैं। **अर्थ**–चारों गतिका भव्य, संज्ञी, विशुद्ध परिणामी, जागता हुआ,

१ ब चउगद, म ग चउगदि । २ ग पज्जंत्तो । ३ ब ग णियडो ।

[छाया-चतुर्गतिभव्यः संज्ञी सुविशुद्धः जाग्रत्पर्याप्तः । संसारतटे निकटः ज्ञानी प्राप्नोति सम्यक्त्वम् ॥] प्राप्नोति लभते । किं तत् । सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनम् । कोऽसौ । ज्ञानी भेदज्ञानविशिष्टः । कीदृग्योग्यताविशिष्टः सन् सम्यक्त्वं लभते । चतुर्गतिभव्यः नरकतिर्यग्मनुष्यदेवगतिषु भव्यः जीवः चातुर्गतिको भव्यजीवो न त्वभव्यः । पुनः कीदृक्षः । संज्ञी पञ्चेन्द्रियः न त्वसंज्ञी । पुनरपि कीदृशः । विशुद्ध आकारेण भेदग्रहणेन सहितो वा, अनन्तगुणविशुद्ध्या वर्धमानः, विशुद्धिपञ्चलब्धिपरिणतः, भावपीतपद्मशुक्लैकतरलेश्यो वा । जग्गमाण जाग्रत निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिनिद्रात्रयरहितः । पर्याप्तः षट्पर्याप्तिसंपूर्णतां प्राप्तः । पुनः कीदृक्षः । संसारतटे निकटः सम्यक्त्वोत्पत्तितः उत्कृष्टेन अर्धपुद्गलपरिवर्तनकालपर्यन्तं संसारस्थायीत्यर्थः ॥ ३०७ ॥ अथोपशमसम्यक्त्वक्षायिकसम्यक्त्वलक्षणं लक्षयति-

सत्तण्हं[1] पयडीणं उवसमदो होदि उवसमं सम्मं ।
खयदो[2] य होदि खइयं केवलि-मूले मणूसस्स[3] ॥ ३०८ ॥

[छाया-सप्तानां प्रकृतीनाम् उपशमतः भवति उपशमं सम्यक्त्वम् । क्षयतः च भवति क्षायिकं केवलिमूले मनुष्यस्य ॥] सप्तानां प्रकृतीनां मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वानन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभानाम् उपशमात् कतकफलयोगात् जलकर्दमोपशमवत् उपशमं सम्यक्त्वं भवति । च पुनः, तासां सप्तप्रकृतीनां क्षयात् निरवशेषनाशात् क्षायिकं सम्यक्त्वं भवति । क्व तत्क्षायिकं जायते । केवलज्ञानिनः पादमूले चरणाग्रे । कस्य । मनुष्यस्य कर्मभूमिजपर्याप्तभव्यनरस्य । तथाहि । अतत्त्वश्रद्धानकारणं मिथ्यात्वम् । १ । तत्त्वातत्त्वश्रद्धानकारणं सम्यग्मिथ्यात्वं मिश्रम् । २ । तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनम् । ३ । चलमलिनमगाढं करोति यत्सा सम्यक्त्वप्रकृतिः, चलम् आप्तागमपदार्थश्रद्धानविकल्पेषु नानारूपेण चलतीति चलम् । यथा स्वकारितेऽर्हच्चैत्यादौ देवोऽयं मेऽन्यकारिते अन्यस्यायमिति तथा सम्यक्त्वप्रकृतेरुदयात् चलम् । 'मलिनं मलसंगेन शुद्धं स्वर्णमिवोद्भवेत् ।' 'स्थान एव स्थितं कंप्रमगाढमिति कीर्त्यते । वृद्धयष्टिरिवात्यक्तस्थाना करतले स्थिता ॥' यथा सर्वेषाम् अर्हत्परमेष्ठिनाम् अनन्तशक्तित्वे समाने स्थिते अस्मै शान्तिकर्मणे शान्तिनाथः, अस्मै विघ्नविनाशनार्थं पार्श्वनाथः इत्यास्थागाढम् । तथा यदुदयात् सर्वज्ञवीतरागप्रणीतसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणोपलक्षितमोक्षसन्मार्गपराङ्मुखः सन् आत्मा तत्त्वार्थश्रद्धाननिरुत्सुकः तत्त्वार्थश्रद्धानपराङ्मुखः अशुद्धतत्त्वपरिणामः सन् दर्शनमोहनीयमिथ्यात्वोदयात् हिताहितविवेकविकलः जडादिरूपतयाऽवतिष्ठते तन्मिथ्यात्वं नाम । १ । मिथ्यात्वमेव नामिशुद्धस्वरसम्[4] ईषन्निराकृतफलदानसामर्थ्यं सम्यङ्मिथ्यात्वम् उभयात्मकं मिश्रम् । २ । प्रशमसंवेगादिशुभपरिणामनिराकृतफलदानसामर्थ्यं मिथ्यात्वमेवोदासीनत्वेन स्थितम् आत्मनः श्रद्धानं नैव निरुणद्धि । मिथ्यात्वं च वेदयमानमात्मस्वरूपं लोकमध्ये आत्मानं सम्यग्दृष्टिं ख्यापयन् सम्यक्त्वाभिधेयमिथ्यात्वम् । ३ । अनन्तभवभ्रमणहेतुत्वात् अनन्तं मिथ्यात्वं अनुबध्नन्ति संबन्धयन्ति इत्येवंशीलाः ये क्रोधमानमायालोभास्ते अनन्तानुबन्धिनः सम्यक्त्वघातकाः । अनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाः । यथाक्रमं शिलाभेदशिलास्तम्भवेणुमूलकृमिरागकंबलसदृशास्तीव्रतमशक्तयः नारकगत्युत्पादनहेतवो भवन्ति । अनन्तानुबन्धिक्रोधमान-

पर्याप्त, ज्ञानी जीव संसारतटके निकट आनेपर सम्यक्त्वको प्राप्त करता है । **भावार्थ**-नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति चारों गतियोंके जीवोंको सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो सकती है, किन्तु प्रथम तो वह जीव भव्य होना चाहिये; क्यों कि अभव्यके सम्यक्त्व नहीं होता । दूसरे, वह संज्ञी पञ्चेन्द्रिय होना चाहिये, क्यों कि असंज्ञी जीवके सम्यक्त्व नहीं होता । तीसरे, प्रति समय अनन्तगुणी विशुद्धिवाला होना चाहिये और पीत, पद्म तथा शुक्ल लेश्याओंमें से कोई एक लेश्या होनी चाहिये । चौथे जागता हुआ हो, अर्थात् निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि इन तीन निद्राओंसे रहित हो । पांचवे, उसकी छहों पर्याप्तियां पूर्ण हो चुकी हो, क्यों कि अपर्याप्त अवस्थामें सम्यक्त्व नहीं होता । छठे, ज्ञानी हो अर्थात् साकार उपयोगसे युक्त हो क्योंकि निराकार दर्शनोपयोगमें सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता । सातवें, उसके संसार भ्रमणका अधिकसे अधिक अर्धपुद्गल परावर्तनकाल

१ ब सत्तण्ण । २ ग खयदो इ होइ खईयं (ब क्खइयं) । ३ ल ग मणुसस्स, म स मणुस्सस्स । ४ प-टिप्पणी 'अर्धशुद्धात्मरसम् ।'

मायालोभमिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वसम्यक्त्वप्रकृतीनाम् उपशमात् अनुदयरूपात् प्रथमसम्यक्त्वमुत्पद्यते। अनादिकालमिथ्यादृष्टि-भव्यजीवस्य कर्मोदयोत्पादितकलुषतायां सत्यां कस्मादुपशमो भवतीति चेत्, काललब्ध्यादिकारणादिति ब्रूमः । कासौ काललब्धिः । कर्मवेष्टितो भव्यजीवः अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाले उद्वरिते सति औपशमिकसम्यक्त्वग्रहणयोग्यो भवति। अर्ध-पुद्गलपरिवर्तनादधिके काले सति प्रथमसम्यक्त्वस्वीकारयोग्यो न स्यादित्यर्थः । एका काललब्धिरियमुच्यते । द्वितीया काललब्धिः यदा कर्मणामुत्कृष्टा स्थितिरात्मनि भवति, जघन्या वा कर्मणां स्थितिरात्मनि भवति तदा औपशमिकसम्यक्त्वं नोत्पद्यते। तर्हि औपशमिकं कदा उत्पद्यते। यदा अन्तःकोटाकोटिसागरोपमस्थितिकानि कर्माणि बन्धं प्राप्नुवन्ति, भवन्ति निर्मलपरिणामकारणात् सत्कर्माणि, तेभ्यः कर्मभ्यः संख्येयसागरोपमसहस्रहीनानि अन्तःकोटाकोटिसागरोपमस्थितिकानि भवन्ति। तदा औपशमिकसम्यक्त्वग्रहणयोग्य आत्मा भवति। इयं द्वितीयकाललब्धिः । अधःकरणम् अपूर्वकरणं च विधाय अनिवृत्तिकरणस्य चरमसमये भव्यश्चातुर्गतिको मिथ्यादृष्टिः संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तो गर्भजो विशुद्धिवर्धमानः शुभलेश्यो

अवशेष रहा हो। ऐसे जीवको ही सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है ॥ ३०७ ॥ आगे सम्यक्त्वके तीन भेदोंमेंसे उपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्वका लक्षण कहते हैं। **अर्थ**–सात प्रकृतियोंके उपशमसे उपशम सम्यक्त्व होता है। और इन्हीं सात प्रकृतियोंके क्षयसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है। किन्तु क्षायिक सम्यक्त्व केवली अथवा श्रुतकेवलीके निकट कर्मभूमिया मनुष्यके ही होता है॥ **भावार्थ**–मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे जैसे निर्मलीके डालनेसे पानीकी गाद नीचे बैठ जाती है, उस तरह उपशम सम्यक्त्व होता है। जिसका उदय होनेपर, तत्त्वोंका श्रद्धान नहीं होता अथवा मिथ्यातत्त्वोंका श्रद्धान होता है उसे मिथ्यात्वमोहनीयकर्म कहते हैं। मिथ्यात्वकर्मका उदय होनेपर आत्मा सर्वज्ञ वीतरागके द्वारा कहे हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मोक्ष मार्गसे विमुख और तत्त्वार्थ श्रद्धानसे रहित तथा हित अहितके विवेकसे शून्य मिथ्यादृष्टि होता है। जब शुभ परिणामके द्वारा उस मिथ्यात्वकी शक्तिको घटा दिया जाता है और वह आत्माके श्रद्धानको रोकनेमें असमर्थ हो जाता है तो उसे सम्यक्त्वमोहनीय कहते हैं। और जब उसी मिथ्यात्वकी शक्ति आधी शुद्ध हो पाती है तो उसे सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय कहते हैं, उसके उदयसे तत्त्वोंके श्रद्धान और अश्रद्धानरूप मिले हुए भाव होते हैं। मिथ्यात्वका उदय रहते हुए संसार भ्रमणका अन्त नहीं होता इस लिये मिथ्यात्वको अनन्त कहा है। जो क्रोध मान माया लोभ अनन्त (मिथ्यात्व) से सम्बद्ध होते हैं उन्हें अनन्तानुबन्धी कहते हैं। इनकी शक्ति बडी तीव्र होती है। इसीसे ये नरकगतिमें उत्पन्न करानेमें कारण हैं। इन अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व-मोहनीयके उपशमसे (उदय न होनेसे) प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। अब प्रश्न यह होता है कि जो भव्य जीव अनादिकालसे मिथ्यात्वमें पडा हुआ है और कर्मोंके उदयसे जिसकी आत्मा कलुषित है उसके इन सात प्रकृतियोंका उपशम कैसे होता है? इसका उत्तर यह है कि काललब्धि आदि निमित्त कारणोंके उपस्थित होनेपर सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। काललब्धि आदिका स्वरूप इस प्रकार है–कर्मोंसे घिरे हुए भव्य जीवके संसार भ्रमणका काल अधिकसे अधिक अर्ध पुद्गल परावर्तन प्रमाण बाकी रहनेपर वह प्रथमोपशम सम्यक्त्वको ग्रहण करनेका पात्र होता है। यदि उसके परिभ्रमणका काल अर्ध पुद्गल परावर्तनसे अधिक शेष होता है तो प्रथम सम्यक्त्वको ग्रहण करनेके

जाग्रदवस्थितः ज्ञानोपयोगवान् जीवः अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभान् मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वसम्यक्त्वप्रकृतीश्चोपशमय्य प्रथमोपशमसम्यक्त्वं गृह्णातीत्यर्थः। तथा चोक्तम्। "दंसणमोहुवसमदो उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं। उवसमसम्मत्तमिणं पसण्णमलपंकतोयसमं॥" अनन्तानुबन्धिचतुष्कस्य दर्शनमोहत्रयस्य च उदयाभावलक्षणप्रशस्तोपशमेन प्रसन्नमलपङ्कतोयसमानं यत्पदार्थश्रद्धानमुत्पद्यते तदिदमुपशमसम्यक्त्वं नाम। तस्य स्थितिकालः जघन्योत्कृष्टतः अन्तर्मुहूर्तकालः। अथ मिथ्यात्वोदयगो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टात् पुद्गलपरिवर्तार्धस्तिष्ठति। तद्विविधपरिणामैः उत्कृष्टतः अर्धपुद्गलावर्तकालं संसारे स्थित्वा पश्चात् मुक्तिं गच्छतीत्यर्थः। तथा च। "पढमे पढमं णियमा पढमं बिदियं च सव्वकालम्हि। जं पुण खाइयसम्मं जम्हि जिणा तम्हि कालम्हि॥" इति। तथा अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभसम्यक्त्वमिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वसप्तप्रकृतीनां क्षयात् क्षायिकम्। गाथात्रयेण तदुक्तं च। "खीणे दंसणमोहे जं सद्दहणं सुणिम्मलं होइ। तं खाइयसम्मत्तं णिच्चं कम्मक्खवणहेदू॥ १॥" मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वसम्यक्प्रकृतित्रयेऽनन्तानुबन्धिचतुष्टये च करणलब्धिपरिणामसामर्थ्यात् क्षीणे सति यच्छ्रद्धानं सुनिर्मलं भवति तत्क्षायिकसम्यक्त्वम्। नित्यं स्यात् प्रतिपक्षप्रक्षयोत्पन्नात्मगुणत्वात्। पुनः प्रतिसमयं गुणश्रेणि-

---

योग्य नहीं होता। एक काललब्धि तो यह है। दूसरी काललब्धि यह है कि जब जीवके कर्मोंकी उत्कृष्ट अथवा जघन्य स्थिति होती है तब औपशमिक सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता। किन्तु जब कर्म अन्तःकोटीकोटी सागरकी स्थितिके साथ बंधते हैं, और फिर निर्मल परिणामोंके द्वारा उनकी स्थिति घटकर संख्यात हजार सागर हीन अन्तःकोटीकोटी सागर प्रमाण शेष रहती है तब यह जीव प्रथम सम्यक्त्वके ग्रहणके योग्य होता है। यह दूसरी काललब्धि है। इन काललब्धियोंके होनेपर जीवके करणलब्धि होती है। उसमें पहले अधःकरण फिर अपूर्वकरण और फिर अनिवृत्तिकरणको करता है। इन करणोंका मतलब एक विशेष प्रकारके परिणामोंसे है जिनके होनेपर सम्यक्त्वकी प्राप्ति नियमसे होती है। अनिवृत्तिकरणके अन्तिम समयमें चारों गतियोंमेंसे किसी भी गतिका संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक जीव उक्त सात प्रकृतियोंका उपशम करके प्रथमोपशम सम्यक्त्वको ग्रहण करता है। कहा भी है– अनन्तानुबन्धी चतुष्क और दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियोंके उदयाभाव रूप प्रशस्त उपशमसे, जिसके नीचे मल बैठा हुआ है, उस निर्मल जलकी तरह जो पदार्थोंका श्रद्धान होता है उसे उपशम सम्यक्त्व कहते हैं। उपशम सम्यक्त्वकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है। उसके बाद यदि मिथ्यात्वका उदय आजाता है तो अधिकसे अधिक अर्ध पुद्गल परावर्तन काल तक संसारमें रहकर पीछे वह जीव मुक्त हो जाता है। यह तो उपशम सम्यक्त्वका कथन हुआ। उक्त सात प्रकृतियोंके, अर्थात् अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्वके क्षयसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है। कहा भी है–दर्शनमोहनीय कर्मके क्षीण हो जानेपर जो निर्मल सम्यग्दर्शन होता है वह क्षायिक सम्यक्त्व है। यह सम्यक्त्व सदा कर्मोंके विनाशका कारण है। अर्थात् प्रतिपक्षी कर्मोंके नष्ट हो जानेसे आत्माका सम्यक्त्व गुण प्रकट हो जाता है, और उसके प्रकट होनेसे प्रतिसमय गुणश्रेणिनिर्जरा होती है॥ दर्शन मोहनीयका क्षय होनेपर जीव या तो उसी भवमें मुक्त हो जाता है या तीसरे भवमें मुक्त हो जाता है। यदि तीसरेमें भी मुक्त न हुआ तो चौथेमें तो अवश्य ही मुक्त हो जाता है। क्षायिक सम्यक्त्व अन्य सम्यक्त्वोंकी तरह उत्पन्न होकर छूटता नहीं है। अतः यह सादिअनन्त होता है अर्थात् इसकी आदि तो है किन्तु अन्त नहीं है, मुक्तावस्थामें भी रहता है॥ तथा दर्शनमोहके क्षयका आरम्भ कर्मभूमिया मनुष्य ही केवलि भगवान्के पादमूलमें करता

निर्जराकारणं भवति। "दंसणमोहे खविदे सिज्झदि एक्केव तदियतुरियभवे। णादिक्कमदि तुरियभवं ण विणस्सदि सेससम्मं व ॥२॥" दर्शनमोहे क्षपिते सति तस्मिन्नेव भवे वा तृतीयभवे वा चतुर्थभवे कर्मक्षयं करोति, चतुर्थभवं नातिक्रामति। शेषसम्यक्त्ववन्न विनश्यति। तेन नित्यं सायक्षयानन्तमित्यर्थः। "दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो हु। मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ ॥ ३ ॥" दर्शनमोहक्षपणाप्रारम्भकः कर्मभूमिज एव सोऽपि मनुष्य एव तथापि केवलिपादमूले एव भवति। निष्ठापकस्तु सर्वत्र चतुर्गतिषु भवति इति ॥ ३०८ ॥ अथ वेदकसम्यक्त्वं निरूपयति-

अणउदयादो छण्हं सजाइ-रूवेण उदयमाणाणं।
सम्मत्त-कम्म-उदये[2] खयउवसमियं[3] हवे सम्मं ॥ ३०९ ॥

[छाया-अनुदयात् षण्णां स्वजातिरूपेण उदयमानानाम्। सम्यक्त्वकर्म उदये क्षायोपशमिकं भवेत् सम्यक्त्वम् ॥] भवेत्। किं तत्। क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वं सर्वघातिस्पर्धकानामुदयाभावलक्षणः क्षयः तेषां सदवस्थालक्षणः उपशमः देशघातिस्पर्धकानाम् उदयश्च अनुक्तोऽपि गृह्यते, क्षयश्चासावुपशमश्च क्षयोपशमः, तत्र भवं क्षायोपशमिकम्। वेदकसम्यक्त्वमपरं नाम स्यात्। क्व सति। छण्हं षण्णाम् अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतीनाम् अनुदयात् उदयाभावात् सद्रूपोपशमात् अप्रशस्तरूपेण विषहालाहलादिरूपेण अथ दारुबहुभागशिलास्थिरूपेणोदयाभावात्। कीदृक्षाणां प्रकृतीनाम्। स्वजातिरूपेण उदयमानानाम् अनन्तानुबन्धीनां विसंयोजनेन अप्रत्याख्यनादिरूपविधानेन मिथ्यात्वस्य च सम्यक्त्वरूपेण च उदयमानानाम् उदीयमानानाम् उदयं प्राप्तानाम्। क्व सति। सम्यक्त्वकर्मोदये सम्यक्त्वप्रकृते-

है। यदि कदाचित् पूर्ण क्षय होनेसे पहले ही मरण हो जाता है तो उसकी समाप्ति चारों गतियोंमेंसे किसी भी गतिमें हो सकती है॥ इन दोनों सम्यक्त्वोंके विषयमें इतना विशेष ज्ञातव्य है कि निर्मलता की अपेक्षा उपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्वमें कोई अन्तर नहीं है; क्यों कि प्रतिपक्षी कर्मोंका उदय दोनोंहीमें नहीं है। किन्तु फिरभी विशेषता यह है कि क्षायिक सम्यक्त्वमें प्रतिपक्षी कर्मोंका सर्वथा अभाव हो जाता है और उपशम सम्यक्त्वमें प्रतिपक्षी कर्मोंकी सत्ता रहती है। जैसे निर्मली आदि डालनेसे गदला जल ऊपरसे निर्मल हो जाता है किन्तु उसके नीचे कीचड़ जमी रहती है। और किसी जलके नीचे कीचड़ रहती ही नहीं। ये दोनों जल निर्मलताकी अपेक्षा समान हैं। किन्तु एकके नीचे कीचड़ है इससे वह पुनः गदला हो सकता है, किन्तु दूसरेके पुनः गदला होनेकी कोई संभावना नहीं है॥ ३०८॥ अब वेदक सम्यक्त्वका स्वरूप कहते हैं। **अर्थ**-पूर्वोक्त सात प्रकृतियोंमेंसे छै प्रकृतियोंका उदय न होने तथा समानजातीय प्रकृतियोंके रूपमें उदय होनेपर और सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयमें क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है॥ **भावार्थ**-सर्वघाति स्पर्द्धकोंका उदयाभावरूप क्षय और उन्हींका सदवस्थारूप उपशम होनेपर तथा देशघाति स्पर्द्धकोंका उदय होनेपर क्षायोपशमिक भाव होता है। क्षय और उपशमको क्षयोपशम कहते हैं और क्षयोपशमसे जो हो वह क्षायोपशमिक है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वको ही वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व, इन छै प्रकृतियोंके उदयका अभाव होनेसे तथा सदवस्थारूप अप्रशस्त उपशम होनेसे और सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय होनेपर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। इसमें अनन्तानुबधी कषायका विसंयोजन होता है अर्थात् उसके निषेकोंको सजातीय अप्रत्याख्यानावरण आदि कषायरूप कर दिया जाता है। अतः अनन्तानुबन्धी कषाय अपने रूपसे उदयमें न आकर सजातीय अप्रत्याख्यानावरण आदि रूपसे उदयमें आती हैं। इसी तरह मिथ्यात्व कर्म सम्यक्त्व

१ ब म अणु०। २ ब सम्मत्त पयडि उदये। ३ ब ग खयउ।

स्दये सति चलमलिनमगाढं वेदकसम्यक्त्वं भवति । उक्तं च तथा । "दंसणमोहुदयादो उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं । चलमलिणमगाढं तं वेदयसम्मत्तमिदि जाणे ॥" अनन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वानां षण्णाम् उदयक्षयात् सद्रूपोपशमात् दर्शनमोहस्य सम्यक्त्वस्य देशघातिनः उदयात् यत् तत्त्वार्थश्रद्धानं चलं मलिनमगाढं चोत्पद्यते तद्वेदकसम्यक्त्वमिति जानीहि। तस्य जघन्योत्कृष्टस्थितिः कियतीति चेत्, उक्तं च अन्तर्मुहूर्तकालं जघन्यतस्तत्प्रायोग्यगुणयुक्तः षट्षष्टिसागरोपमकालं चोत्कर्षतो विधिना। उक्तं च । "लांतवकप्पे तेरस अच्चुदकप्पे य होंति बावीसा । उवरिम एक्कत्तीसं एवं सव्वाणि छासट्ठी ॥" सम्यक्त्वत्रयवन्तः संसारे कियत्कालं स्थित्वा मुक्तिं यान्ति ते तदुच्यते । "पुद्गलपरिवर्तार्धं परतो व्यालीढवेदकोपशमौ। वसतः संसाराब्धौ क्षायिकदृष्टिर्भवचतुष्कं ॥" इति ॥ ३०९ ॥ अथोपशमवेदकसम्यक्त्वानन्तानुबन्धिविसंयोजनदेशव्रतप्राप्तिमुत्कृष्टेन निगदति—

गिण्हदि मुंचदि[1] जीवो वे सम्मत्ते असंख-वाराओ ।
पढम-कसाय-विणासं देस-वयं कुणदि उक्कस्सं ॥ ३१० ॥

प्रकृतिके रूपसे उदयमें आता है । सम्यक्त्व प्रकृति देशघाती है अतः वह सम्यक्त्वका घात तो नहीं करती किन्तु उसके उदयसे सम्यक्त्वमें चल, मलिन और अगाढ दोष होते हैं । जैसे एक ही जल अनेक तरंगरूप हो जाता है वैसेही जो सम्यग्दर्शन सम्पूर्ण तीर्थङ्करोंमें समान अनन्त शक्ति होनेपर भी 'शान्तिके लिये शान्तिनाथ समर्थ हैं और विघ्न नष्ट करनेमें पार्श्वनाथ समर्थ हैं' इस तरह भेद करता है उसको चल सम्यग्दर्शन कहते हैं । जैसे शुद्ध स्वर्ण मलके संसर्गसे मलिन होजाता है वैसेही सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे जिसमें पूर्ण निर्मलता नहीं होती उसे मलिन सम्यग्दर्शन कहते हैं । और जैसे वृद्ध पुरुषके हाथमें स्थित लाठी कांपती है वैसेही जिस सम्यग्दर्शनके होते हुए भी अपने बनवाये हुए मन्दिर वगैरहमें 'यह मेरा मन्दिर है' और दूसरेके बनवाये हुए मन्दिर वगैरहमें 'यह दूसरेका है' ऐसा भाव होता है वह अगाढ सम्यग्दर्शन है । इस तरह सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय होनेसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व चल, मलिन और अगाढ होता है । इसीसे इसका नाम वेदक सम्यक्त्व भी है; क्यों कि उसमें सम्यक्त्व प्रकृतिका वेदन-(अनुभवन) होता रहता है । कहा भी है—"दर्शनमोहनीयके उदयसे अर्थात् सर्वघाति अनन्तानुबन्धी चतुष्क, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतियोंके आगामी निषेकोंका सदवस्थारूप उपशम और वर्तमान निषेकोंकी विना फल दिये ही निर्जरा होनेपर तथा सम्यक्त्व प्रकृतिके उदय होनेपर वेदक सम्यक्त्व होता है । वह सम्यक्त्व चल, मलिन और अगाढ होते हुए भी नित्य ही कर्मोंकी निर्जराका कारण है ।" क्षायोपशमिक सम्यक्त्वकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट स्थिति छियासठ सागर है । सो लान्तव स्वर्गमें तेरह सागर, अच्युतकल्पमें बाईस सागर और उपरिम ग्रैवेयकमें इकतीस सागरकी आयुको मिलानेसे छियासठ सागरकी उत्कृष्ट स्थिति होती है । तीनों सम्यग्दृष्टि जीव संसारमें कितने दिनोंतक रहकर मुक्त होते हैं इस प्रश्नका उत्तर पहले दिया है । अर्थात् जो जीव वेदक सम्यक्त्वी अथवा उपशम सम्यक्त्वी होकर पुनः मिथ्यादृष्टि होजाता है वह नियमसे अर्ध पुद्गल परावर्तन कालके समाप्त होनेपर संसारमें नहीं रहता, किन्तु मुक्त हो जाता है । तथा क्षायिक सम्यग्दृष्टि अधिकसे अधिक चार भव तक संसारमें रहता है ॥ ३०९ ॥ आगे औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन और देशव्रतको प्राप्त

[1] ब मुचदि ।

[छाया-गृह्णाति मुञ्चति जीवः द्वे सम्यक्त्वे असंख्यवारान् । प्रथमकषायविनाशं देशव्रतं करोति उत्कृष्टम् ॥] जीवः भव्यात्मा उत्कृष्टम् उत्कृष्टेन असंख्यातवारान पल्यासंख्यातैकभागवारमात्रान् ँ द्वे सम्यक्त्वे प्रथमोपशमसम्यक्त्वं वेदकसम्यक्त्वं च ते द्वे गृह्णाति अङ्गीकरोति मुञ्चति च मिथ्यात्वाद्युदयात् विनाशयति । च पुनः, प्रथमकषायविनाशम् अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभकषायविनाशनं विसंयोजनं परप्रकृत्योपादानं प्रत्याख्यानादिकषायसद्दशविधानम् उत्कृष्टेन असंख्यवारान् पल्यासंख्यातैकभागमात्रवारान् ँ करोति विदधाति । देशव्रतं संयमासंयमम् असंख्यातवारान् पल्यासंख्यातैकभागमात्रवारान् ँ उत्कृष्टेन गृह्णाति मुञ्चति । पश्चादुपरि नियमेन सिध्यत्येवेति तात्पर्यार्थः । तदुक्तं च । "सम्मत्तं देसजमं अणसंजोजणविहिं च उक्कस्सं । पल्लासंखेज्जदिमं वारं पडिवज्जदे जीवो ॥" प्रथमोपशमसम्यक्त्वं वेदकसम्यक्त्वं देशसंयममनन्तानुबन्धिविसंयोजनविधिं च उत्कृष्टेन पल्यासंख्यातैकभागवारान् ँ प्रतिपद्यते जीवः उपरि नियमेन सिध्यत्येव ॥ ३१० ॥ अथ सम्यग्दृष्टेः तत्त्वश्रद्धानं गाथानवकेन व्याचष्टे-

जो तच्चमणेयंतं णियमा सद्दहदि सत्तभंगेहिं ।
लोयाण पण्ह-वसदो[1] ववहार-पवत्तणट्ठं च ॥ ३११ ॥

[छाया-यः तत्त्वमनेकान्तं नियमात् श्रद्दधाति सप्तभङ्गैः । लोकानां प्रश्नवशात् व्यवहारप्रवर्तनार्थं च ॥] यः भव्यवरपुण्डरीकः सद्दहदि श्रद्दधाति निश्चयीकरोति रुचिं विश्वासं धत्ते । किं तत् । तत्त्वानि जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षा इति सप्ततत्त्वं वस्तुपदार्थम्, नियमात् निश्चयतः । कीदृक्षं तत् तत्त्वम् । अनेकान्तम् अस्तिनास्तिनित्यानित्यभेदाभेदाद्यनेकधर्मविशिष्टम् । कैरनेकान्तं तत्त्वं श्रद्दधाति । सप्तभङ्गैः कृत्वा । स्यादस्ति, स्यात् कथंचित् विवक्षितप्रकारेण स्वद्रव्यादि-

करने और छोडनेकी संख्या बतलाते हैं । **अर्थ**–उत्कृष्टसे यह जीव औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन और देशव्रत, इनको असंख्यात बार ग्रहण करता और छोड़ता है ॥ **भावार्थ**–भव्यजीव उक्त चारोंको अधिकसे अधिक पल्यके असंख्यातवें भाग वार ग्रहण करता और छोड़ता है । अर्थात् पल्यके असंख्यातवें भाग वार उपशम सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वको ग्रहण करता है । पल्यके असंख्यातवें भाग वार अनन्तानुबन्धी कषायको अप्रत्याख्यानावरण आदि रूप करता है । और अधिकसे अधिक पल्यके असंख्यातवें भाग वार देशव्रत धारण करता है । इसके बाद मुक्त हो जाता है ॥३१०॥ आगे सम्यग्दृष्टिके तत्त्व श्रद्धानका निरूपण नौ गाथाओंसे करते हैं । **अर्थ**–जो लोगोंके प्रश्नोंके वशसे तथा व्यवहारको चलानेके लिये सप्तभंगीके द्वारा नियमसे अनेकान्त तत्त्वका श्रद्धान करता है ॥ तथा जीव अजीव आदि नौ प्रकारके पदार्थोंको श्रुतज्ञान और श्रुतज्ञानके भेद नयोंके द्वारा आदर पूर्वक मानता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है ॥ **भावार्थ**–जो भव्य श्रेष्ठ, कथंचित् अस्ति, कथंचित् नास्ति, कथंचित् नित्य, कथंचित् अनित्य, कथंचित् भेदरूप, कथंचित् अभेदरूप इत्यादि अनेक धर्मोंसे विशिष्ट जीव अजीव आदि सात तत्त्वोंका सात भंगोके द्वारा निश्चयपूर्वक श्रद्धान करता है वह सम्यग्दृष्टि होता है । अर्थात् स्यात् अस्ति–स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावकी अपेक्षा तत्त्व सत्स्वरूप है १ । स्यात् नास्ति–परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी अपेक्षा तत्त्व असत् स्वरूप है २ । स्यात् अस्ति नास्ति–स्वद्रव्य आदि चतुष्टयकी अपेक्षा तत्त्व सत् है और परद्रव्य आदि चतुष्टय की अपेक्षा असत् है, इस प्रकार क्रमसे दोनों धर्मोकी विवक्षा होनेपर तीसरा भङ्ग होता है ३ । स्यात् अवक्तव्य–एक साथ दोनों धर्मोंकी विवक्षा होनेपर तत्त्व कथंचित् अवक्तव्य है; क्योंकि वचन व्यवहार क्रमसे ही होता है अतः दोनों धर्मोको एक साथ कहना अशक्य है ४ । स्यात् अस्ति

१ स ग वसादो ।

चतुष्टयापेक्षया द्रव्यं तत्त्वमस्तीत्यर्थः । १ । स्यान्नास्ति, स्यात् कथंचित विवक्षितप्रकारेणापरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यं नास्तीत्यर्थः । २ । स्यादस्तिनास्ति, स्यात् कथंचित् विवक्षितप्रकारेण क्रमेण स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यमस्ति नास्तीत्यर्थः । ३ । स्यादवक्तव्यम्, स्यात् कथंचित् विवक्षितप्रकारेण युगपद्वक्तुमशक्यत्वात् 'क्रमप्रवर्तिनी भारती' इति वचनात् युगपत् स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यमवक्तव्यमित्यर्थः । ४ । स्यादस्त्यवक्तव्यम्, स्यात् कथंचित् विवक्षितप्रकारेण स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया च द्रव्यम् अस्त्यवक्तव्यमित्यर्थः । ५ । स्यान्नास्त्यवक्तव्यम्, स्यात् कथंचित् विवक्षितप्रकारेण परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया युगपत् स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया च द्रव्यं नास्त्यवक्तव्यमित्यर्थः । ६ । स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यम्, स्यात् कथंचित् विवक्षितप्रकारेण क्रमेण स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया च द्रव्यमस्तिनास्त्यवक्तव्यमित्यर्थः । ७ । "एकस्मिन्नविरोधेन प्रमाणनयवाक्यतः । सदादिकल्पना या च सप्तभङ्गीति सा मता ॥" इति सप्तभङ्गाः । सप्तैव भङ्गाः प्रकाराः नाधिका न न्यूनाः । सप्तैव कुतः । लोकानां व्यावहारिकजनानां पारमार्थिकजनानां च प्रश्नवशात । जीवो अस्ति । कुतः । स्वद्रव्यचतुष्टयापेक्षातः । जीवो नास्ति । कुतः । परद्रव्यचतुष्टयापेक्षातः । एवं शेषभङ्गेषु योज्यम् । च पुनः । किमर्थम् । व्यवहारप्रवर्तनार्थं, प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिलक्षणो व्यवहारः, तस्य प्रवर्तनार्थम् । लोकव्यवहारस्तु अस्तिनास्त्यादिरूपः तत्प्रवृत्त्यर्थम् ॥ ३११ ॥

जो आयरेण मण्णदि[1] जीवाजीवादि[2] णव-विहं अत्थं ।
सुद[3]-णाणेण णएहि य सो सद्दिट्ठी हवे सुद्धो ॥ ३१२ ॥

[छाया-यः आदरेण मन्यते जीवाजीवादि नवविधं अर्थम् । श्रुतज्ञानेन नयैः च स सदृष्टिः भवेत् शुद्धः ॥] स पुमान् भव्यः शुद्धः पञ्चविंशतिसम्यक्त्वमलरहितः सदृष्टिः, सती समीचीना दृष्टिः दर्शनं यस्य स सदृष्टिः, सम्यग्दृष्टिः सम्यक्त्ववान् भवेत् स्यात् । स कः । यः पुमान् आदरेण निश्चयेन उद्यमेन च मन्यते निश्चिनोति निश्चयं करोति । कं तम् । अर्थं पदार्थम् । कतिभेदम् । जीवाजीवादिनवविधं, जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षपुण्यपापरूपं नवप्रकारम् । केन श्रद्दधाति । श्रुतज्ञानेन प्रमाणेन तर्कागमशास्त्रेण द्रव्यश्रुतभावश्रुतज्ञानबलाधानात , च पुनः । कैः । नयैः नैगमसंग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतनयैः द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयैश्च ॥ ३१२ ॥ सम्यग्दृष्टेर्लक्षणं लक्षयति–

अवक्तव्य–स्वद्रव्य आदि चतुष्टयकी अपेक्षा सत् तथा एक साथ दोनों धर्मोंकी विवक्षा होनेसे अवक्तव्य रूप तत्त्व है ५ । स्यात् नास्ति अवक्तव्य–परद्रव्यआदि चतुष्टयकी अपेक्षा असत् तथा एक साथ दोनों धर्मोंकी विवक्षा होनेसे अवक्तव्यरूप तत्त्व है ६ । स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्य–स्वद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा सत्, पर द्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा असत्, तथा एक साथ दोनों धर्मोंकी विवक्षा होनेसे अवक्तव्य रूप तत्त्व है ७ । इस तरह सातही भङ्ग होते हैं, न अधिक होते हैं और न सातसे कम होते हैं; क्योंकि व्यावहारिक जनोंके प्रश्न सातही प्रकारके होते हैं । तथा सात प्रकारके ही प्रश्न इस लिये होते हैं कि जिज्ञासा (जाननेकी इच्छा) सातही प्रकारकी होती है । और सातही प्रकारकी जिज्ञासा होनेका कारण यह है कि सात प्रकारके ही संशय होते हैं । और सात प्रकारके संशय होनेका कारण यह है कि वस्तुधर्म सात प्रकारका है । अतः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप व्यवहारके चलानेके लिये सप्तभंगीके द्वारा अनेकान्त रूप तत्त्वका श्रद्धान करनेवाला सम्यग्दृष्टि होता है । तथा जो श्रुतज्ञान और द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक नयोंके द्वारा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप इन नौ तत्त्वोंको आदरके साथ मानता है वह भव्य पच्चीस दोष रहित शुद्ध सम्यग्दृष्टि है ॥ ३११–३१२ ॥ सम्यग्दृष्टिका और भी लक्षण कहते हैं । **अर्थ–**वह सम्यग्दृष्टि पुत्र, स्त्री आदि समस्त पदार्थोंमें गर्व नहीं करता, उपशमभावको भाता है और

१ म मुणदि, ग मन्नदि । २ ब °जीवाइ । ३ ब म सुअ ।

जो ण य कुव्वदि गव्वं पुत्त-कलत्ताइ-सव्व-अत्थेसु ।
उवसम-भावे भावदि अप्पाणं मुणदि तिण-मेत्तं[1] ॥ ३१३ ॥

[छाया-यः न च कुर्वते गर्वं पुत्रकलत्रादिसर्वार्थेषु । उपशमभावे भावयति आत्मानं जानाति तृणमात्रम् ॥] यो भव्यः गर्वम् अहंकारं ज्ञानकुलजातिबलऋद्धिपूजातपोवपुरात्मकमष्टप्रकारं न करोति न विदधाति । क्व गर्वं न करोति । पुत्रकलत्रादिसर्वार्थेषु, पुत्रः सुतः कलत्रं युवतिः आदिशब्दात् धनधान्यगृहहट्टद्विपदचतुष्पदकुलजातिरूपादिपदार्थेषु । यः उपशमभावान् उपशमपरिणामान् शत्रुमित्रस्वर्णतृणादिषु समानपरिणामान् शाम्यरूपान् रत्नत्रयषोडशभावनादिभावान्, उपलक्षणात् क्षायिकपरिणामांश्च भावयति अनुभवति, आत्मानं तृणमात्रं मन्यते मनुते मानयति जानाति । अहं अकिंचनोऽस्मि इति भावयतीत्यर्थः ॥ ३१३ ॥

विसयासत्तो वि सया सव्वारंभेसु वट्टमाणो वि ।
मोह-विलासो एसो इदि सव्वं मण्णदे हेयं ॥ ३१४ ॥

[छाया-विषयासक्तोऽपि सदा सर्वारम्भेषु वर्तमानः अपि । मोहविलासः एष इति सर्वं मन्यते हेयम् ॥] इत्यमुना प्रकारेण सर्वं विषयादिकं हेयं त्याज्यं मन्यते जानाति इति, एषः प्रत्यक्षीभूतो मोहविलासः मोहनीयकर्मविलासविलसनं चेष्टा । कीदृक् सन् सर्वं हेयं पुत्रकलत्रशरीरधनधान्यसुवर्णरूप्यगृहादिपरद्रव्यं सर्ववस्तु त्याज्यं मन्यते जानाति मनुते । सदा निरन्तरं विषयासक्तोऽपि, इन्द्रियाणां विषयेषु आसक्तिं प्रीतिं गतोऽपि, अपिशब्दात् विरक्तः सन् सर्वं हेयं परवस्तु त्याज्यं मनुते । पुनः सर्वारम्भेषु असिमषिकृषिवाणिज्यपशुपालनादिव्यापारेषु वर्तमानोऽपि सर्वव्यापारान् कुर्वन्नपि सर्वं हेयं भरतचक्रीवत् मन्यते । अपिशब्दात् सर्वारम्भेषु विरक्तः सर्वं हेयं मन्यते । उक्तं च । "धात्री बाला सती नाथ पद्मिनीजलबिन्दुवत् । दग्धरज्जुवदाभासं भुञ्जन् राज्यं न पापभाक् ॥" इति ॥ ३१४ ॥

अपनेको तृण समान मानता है ॥ **भावार्थ**–शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानी होकर भी ज्ञानका मद नहीं करता, उच्च कुल और उच्च जाति पाकर भी कुल और जातिका मद नहीं करता, बलवान होकर भी अपनी शक्तिके नशेमें चूर नहीं होता, पुत्र स्त्री धन धान्य हाट हवेली नौकर चाकर आदि विभूति पाकर भी मदान्ध नहीं होता, जगतमें आदर सत्कार होते हुए भी अपनी प्रतिष्ठापर गर्व नहीं करता, न सुन्दर सुरूप शरीरका ही अभिमान करता है । और यदि तपस्वी हो जाता है तो तपका अभिमान नहीं करता । शत्रु मित्र और कंचन काचको समान समझता है । रत्नत्रय और सोलह कारण भावनाओंको ही सदा भाता है । तथा अपनेको सबसे तुच्छ मानता है ॥ ३१३ ॥ **अर्थ**–विषयोंमें आसक्त होता हुआ भी तथा समस्त आरम्भोंको करता हुआ भी यह मोहका विलास है ऐसा मानकर सबको हेय समझता है ॥ **भावार्थ**–अविरत सम्यग्दृष्टि यद्यपि इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त रहता है और त्रस स्थावर जीवोंका जिसमें घात होता है ऐसे आरम्भोंको भी करता है फिर भी वह यह जानता है कि यह सब मोहकर्मका विलास है, मेरा स्वभाव नहीं है, एक उपाधि है, त्यागने योग्य है । किन्तु यह जानते हुए भी कर्मके उदयसे बलात् प्रेरित होकर उसे विषयभोगमें लगना पड़ता है । उसकी दशा उस चोरके समान है जो कोतवाल के द्वारा पकड़ा जाकर फांसीके तख्ते पर लटकाया जाने वाला है । पकड़े जानेपर चोरको कोतवाल जो जो कष्ट देता है उसे वह चुपचाप सहता है और अपनी निन्दा करता है । इसी तरह कर्मोंके वश हुआ सम्यग्दृष्टि जीव भी असमर्थ होकर विषय सेवन

---

१ म तणमित्तं ।

उत्तम-गुण-गहण-रओ उत्तम-साहूण विणय-संजुत्तो[1] ।
साहम्मिय[2]-अणुराई सो सद्दिट्ठी हवे परमो ॥ ३१५ ॥

[छाया–उत्तमगुणग्रहणरतः उत्तमसाधूनां विनयसंयुक्तः । साधर्मिकानुरागी स सदृष्टिः भवेत् परमः ॥] स सदृष्टिः सम्यग्दृष्टिरुत्कृष्टो भवेत् । स कीदृक् । उत्तमगुणग्रहणरतः, उत्तमानां सम्यग्दृष्टीनां मुनीनां श्रावकाणां च गुणाः सम्यक्त्वज्ञान-चारित्रतपोव्रतादिगुणाः मूलोत्तरगुणा वा तेषां ग्रहणे मनसा रुचिरूपे जिह्वया ग्रहणरूपे च रतः रक्तः । पुनः कीदृक्षः । उत्तमसाधूनाम् आचार्योपाध्यायसर्वसाधूनां विनयसंयुक्तः वैयावृत्त्यनमस्कारतदागमने उर्द्धीभवनासननिवेशनपादप्रक्षालनादि-विनयपरिणतः दर्शनज्ञानचारित्राणां तद्वतां विनयो वा । पुनः कीदृक् । साधर्मिकानुरागी साधर्मिके जैनधर्माराधके जने अनुरागः प्रीतिरकृत्रिमस्नेहः विद्यते यस्य स तथोक्तः ॥ ३१५ ॥

देह-मिलियं पि जीवं णिय-णाण-गुणेण मुणदि जो भिण्णं ।
जीव-मिलियं पि देहं कंचुव[3]-सरिसं वियाणेइ ॥ ३१६ ॥

[छाया–देहमिलितम् अपि जीवं निजज्ञानगुणेन जानाति यः भिन्नम् । जीवमिलितम् अपि देहं कञ्चुकसदृशं विजानाति ॥] यो भव्यः मनुते जानाति । कम् । जीवं स्वात्मानं देहमिलितमपि औदारिकादिशरीरसंयुक्तमात्मानमपि निजज्ञानगुणेन स्वकीयज्ञानदर्शनगुणेन भेदज्ञानेन स्वपरविवेचनज्ञानगुणेन भिन्नं पृथग्रूपं जानाति । अपि पुनः, सम्यग्दृष्टिः देहं शरीरं जीवमिलितमपि आत्मना सहितमपि कञ्चुकसदृशं विजानाति । यथा शरीराश्रितं श्वेतपीतहरितारुणकृष्णवर्णकञ्चक-वस्त्रं भिन्नं पृथक् तथा जीवाश्रितम् औदारिकादिनामकर्मोत्पादितश्वेतपीतादिवर्णोपेतशरीरं भिन्नं पृथग्रूपं जानातीत्यर्थः ॥ ३१६ ॥

णिज्जिय-दोसं देवं सव्व[4]-जिवाणं[5] दयावरं[6] धम्मं ।
वज्जिय-गंथं च गुरुं जो मण्णदि सो हु सद्दिट्ठी ॥ ३१७ ॥

[छाया–निर्जितदोषं देवं सर्वजीवानां दयापरं धर्मम् । वर्जितग्रन्थं च गुरुं यः मन्यते स खलु सदृष्टिः ॥] हु इति स्फुटं निश्चयो वा । स शास्त्रप्रसिद्धः सदृष्टिः सम्यग्दृष्टिः भवेदित्यध्याहार्यम् । स कः । यो भव्यः देवं परमाराध्यं भगवन्तं

करता है और पश्चात्ताप करता है ॥ ३१४ ॥ **अर्थ**–जो उत्तम गुणोंको ग्रहण करनेमें तत्पर रहता है, उत्तम साधुओंकी विनय करता है तथा साधर्मी जनोंसे अनुराग करता है वह उत्कृष्ट सम्यग्दृष्टि है ॥ **भावार्थ**–उत्तम सम्यग्दृष्टियों, श्रावकों और मुनियोंके जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्र तप, व्रत आदि उत्तमोत्तम गुण हैं उनको अपनानेमें उसकी मानसिक रुचि होती है, वह उत्तम साधुओंकी वैयावृत्य करता है, उन्हें नमस्कार करता है, उनके पधारने पर खड़ा हो जाता है, उन्हें उच्चासनपर बैठाता है, उनके पैर धोता है। साधर्मी भाइयोंसे स्वाभाविक स्नेह करता है। जिसमें ऊपर कही हुई सब बातें होती हैं वह जीव शुद्ध सम्यग्दृष्टि है ॥ ३१५ ॥ **अर्थ**–वह देहमें रमे हुए भी जीवको अपने ज्ञान गुणसे भिन्न जानता है। तथा जीवसे मिले हुए भी शरीरको वस्त्रकी तरह भिन्न जानता है ॥ **भावार्थ**–जीव और शरीर परस्परमें ऐसे मिले हुए हैं जैसे दूधमें घी। इसीसे मूढ़ पुरुष शरीरको ही जीव समझते हैं। किन्तु सम्यग्दृष्टि जानता है कि जीव ज्ञानगुणवाला है और शरीर पौद्गलिक है। अतः वह शरीरको जीवसे वैसा ही भिन्न मानता है जैसा ऊपरसे पहना हुआ वस्त्र शरीरसे जुदा है ॥ ३१६ ॥ **अर्थ**–जो वीतराग अर्हन्तको देव मानता है, सब जीवों पर दयाको उत्कृष्ट धर्म मानता है और परिग्रहके त्यागीको गुरु मानता है वही सम्यग्दृष्टि है ॥ **भावार्थ**–सम्यग्दृष्टि जीव भूख, प्यास,

---

१ ब संजुत्तो। २ ब साहिम्मिय। ३ ल म स ग कंचुउ। ४ म सव्वे। ५ ब ल म (?) स ग जीवाण,। ६ म दयावहं।

सर्वज्ञं वीतरागमर्हन्तं मनुते मानयति जानाति श्रद्दधाति निश्चयीकरोति । कथंभूतं देवम् । निर्जितदोषं निर्जिताः स्फेटिताः दूरीकृताः दोषाः क्षुधादयोऽष्टादश येन स निर्जितदोषस्तं निर्जितदोषम् । के दोषा इति चेदुच्यते । "क्षुधा १ तृषा २ भयं ३ द्वेषो ४ रागो ५ मोहश्च ६ चिन्तनं ७ । जरा ८ रुजा ९ च मृत्युश्च १० स्वेदः ११ खेदो १२ मदो १३ रतिः १४ ॥ विस्मयो १५ जननं १६ निद्रा १७ विषादो १८ ऽष्टादश ध्रुवाः । एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः ॥" इत्यष्टादशदोषविवर्जितम् आप्तं श्रद्दधाति मनुते । च पुनः, धर्मं वृषं श्रेयः मन्यते श्रद्दधाति । कथंभूतं धर्मम् । सर्वजीवानां दयापरं सर्वेषां जीवानां प्राणिनां पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायिकानां शरीरिणां मनोवचनकायकृतकारितानुमतप्रकारेण दयापरं कृपोत्कृष्टं धर्मं श्रद्दधाति यः । तथा च । "धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो । रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥" इति धर्मं मनुते । च पुनः, यो गुरुं मनुते । कीदृक्षं गुरुम् । वर्जितग्रन्थं परित्यक्तबाह्याभ्यन्तरचतुर्विंशतिसंख्योपेतपरिग्रहम् । के ते बाह्याभ्यन्तरग्रन्था इति चेदुच्यते । "क्षेत्रं १ वास्तु २ धनं ३ धान्यं ४ द्विपदं ५ च चतुष्पदम् ६ । यानं ७ शय्यासनं ८ भाण्डं ९ कुप्यं चेति १० बहिर्दश ॥ मिथ्यात्व १ वेद २ हास्यादि षट् ६ कषायचतुष्टयम् ४ । रागद्वेषौ २ च संगाः स्युरन्तरङ्गाश्चतुर्दश ॥" इति ॥ ३१७ ॥ कोऽसौ मिथ्यादृष्टिरिति चेदाह–

दोस-सहियं पि देवं जीव-हिंसाई[1]-संजुदं धम्मं ।
गंथासत्तं च गुरुं जो मण्णदि[2] सो हु कुदिट्ठी ॥ ३१८ ॥

[छाया–दोषसहितम् अपि देवं जीवहिंसादिसंयुतं धर्मम् । ग्रन्थासक्तं च गुरुं यः मन्यते स खलु कुदृष्टिः ॥] हु इति निश्चयेन । स प्रसिद्धः कुदृष्टिः कुत्सिता दृष्टिर्दर्शनं यस्यासौ कुदृष्टिः मिथ्यादृष्टिर्भवेत् । स कः । यः दोषसहितमपि देवं मन्यते, दोषैः क्षुधातृषारागद्वेषभयमोहादिलक्षणैः सहितं संयुक्तं देवं केवलिनां क्षुधादिकं शंखचक्रगदालक्ष्म्या संयुक्तं हरिं

भय, द्वेष, राग, मोह, चिन्ता, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, पसीना, खेद, मद, रति, आश्चर्य, जन्म, निद्रा और विषाद, इन अठारह दोषोंसे रहित भगवान् अर्हन्त देवको ही अपना परम आराध्य मानता है। तथा स्थावर और त्रसजीवोंकी मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे हिंसा न करनेको परम धर्म मानता है। कहा भी है–"वस्तुके स्वभावको धर्म कहते हैं, उत्तम क्षमा आदिको धर्म कहते हैं, रत्नत्रयको धर्म कहते हैं और जीवोंकी रक्षा करनेको धर्म कहते हैं। तथा १४ प्रकारकी अंतरंग परिग्रह और दस प्रकारकी बहिरंग परिग्रहके त्यागीको सच्चा गुरु मानता है ॥ ३१७ ॥ आगे मिथ्यादृष्टिका स्वरूप कहते हैं। **अर्थ**–जो दोषसहित देवको, जीवहिंसा आदिसे युक्त धर्मको और परिग्रहमें फंसे हुए गुरुको मानता है वह मिथ्यादृष्टि है ॥ **भावार्थ**–जिसकी दृष्टि कुत्सित होती है उसे कुदृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि कहते हैं। वह कुदृष्टि राग, द्वेष, मोह वगैरहसे युक्त पुरुषोंको देव मानता है अर्थात् शंख, चक्र, गदा, लक्ष्मी वगैरहसे संयुक्त विष्णुको, त्रिशूल पार्वती आदिसे संयुक्त शिवको और सावित्री गायत्री आदिसे मण्डित ब्रह्माको देव मानता है, उन्हें अपना उद्धारक समझकर पूजता है। अजामेध, अश्वमेध, आदिमें होनेवाली याज्ञिकी हिंसाको धर्म मानता है, देवी देवता और पितरोंके लिये जीवोंके घात करनेको धर्म मानता है। इस तरह जिस धर्ममें जीवहिंसा, झूठ, चोरी ब्रह्मचर्यका खण्डन और परिग्रहका पोषण बतलाया गया है उसे धर्म मानता है। जैसा कि मनुस्मृति में कहा है कि 'न मांस भक्षणमें कोई दोष है, न शराब पीनेमें कोई दोष है और न मैथुन सेवनमें कोई दोष है ये तो प्राणियोंकी प्रवृत्ति है।' तथा जो अपनेको साधु कहते हैं किन्तु जिनके पास हाथी,

---

१ ल ग हिंसादि, [जीवं-हिंसाइ]। २ ब मण्णइ।

त्रिशूलादिपार्वतीगङ्गादिमण्डितं हरं सावित्रीगायत्र्यादिमण्डितं ब्रह्माणम् इत्यादिकं देवं यः मनुते श्रद्दधाति स मिथ्यादृष्टिः स्यात्। च पुनः, यः जीवहिंसादिसंयुतं धर्मं मन्यते मनुते। अजाश्वगोगजतुरगमेधादियाज्ञिकीहिंसाधर्मं देवदेवीपितराद्यर्थं चेतनाचेतनानां जीवानां विराधनाधर्मं देवगुरुधर्माद्यर्थं सैन्यादिचूरणं धर्मम् इति जीवहिंसानृतस्तेयब्रह्मचर्यखण्डनपरिग्रहादिमेलनादिसहितं धर्मं मन्यते श्रद्दधाति स मिथ्यादृष्टिः। च पुनः, ग्रन्थासक्तं गुरुं क्षेत्रवास्तुधनधान्यद्विपदस्त्रीप्रमुखपरिग्रहसहितं गुरुं दिगम्बरगुरुं विना अन्यगुरुं मन्यते अङ्गीकरोति यः स मिथ्यादृष्टिर्भवेत्॥ ३१८॥ अथ केऽप्येवं वदन्ति हरिहरादयो देवा लक्ष्मीं ददति उपकारं च कुर्वते तदप्यसत् इति निगदति-

ण य को वि देदि[1] लच्छी ण को वि[2] जीवस्स कुणदि उवयारं।
उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि॥ ३१९॥

[छाया-न च कः अपि ददाति लक्ष्मीं न कः अपि जीवस्य करोति उपकारम्। उपकारम् अपकारं कर्म अपि शुभाशुभं करोति॥] कोऽपि देवः हरिहरहिरण्यगर्भगजतुण्डमूषकवाहनसिद्धिबुद्धिकलत्रलक्षलाभपुत्रादिमण्डितगणपत्यादिलक्षणो देवः, व्यन्तरचण्डिकाशाक्तिकालीयक्षीयक्षक्षेत्रपालादिको वा, ज्योतिष्कसूर्यचन्द्रग्रहादिको वा, लक्ष्मीं स्वर्णरत्नधनधान्यपुत्रकलत्रमित्रगजतुरंगरथादिसंपदां ददाति प्रयच्छति वितरति। च पुनः, कोऽपि हरिहरहिरण्यगर्भगणेशकपिलसौगतव्यन्तरचण्डिकादेवदेवीलक्षणः जीवस्यात्मनः उवयारं सुखदुःखसहिताहितेष्टानिष्टारोग्यरोगप्राप्तिपरिहाररूपमुपग्रहं करोति। नन्वहो सुखदुःखादिकं लक्ष्मीप्राप्तिकरणं कोऽपि देवो न करोति तर्हि कः कुरुते। परिहारमाह। शुभाशुभकर्मापि पूर्वोपार्जितप्रशस्ताप्रशस्तं कर्म पुण्यकर्म पापकर्म जीवस्य उपकारं लक्ष्मीसंपदादिकं सुखहितवाञ्छितवस्तुप्रदानम् अपकारम् अशुभमसमीचीनं दुःखदारिद्र्यरोगाहितलक्षणं च कुरुते विदधाति। शुभाशुभकर्म जीवस्य सुखदुःखादिकं करोतीत्यर्थः॥ ३१९॥ अथ व्यन्तरदेवादयो लक्ष्म्यादिकं वितरन्ति, तर्हि धर्मकरणं व्यर्थमिति स्पष्टयति-

भत्तीएँ पुज्जमाणो विंतर-देवो वि देदि जदि[3] लच्छी।
तो किं धम्मेँ[4] कीरदि[5] एवं चिंतेइ सद्दिट्ठी॥ ३२०॥

घोडे, जमीन, जायदाद और नौकर चाकर वगैरह विभूतिका ठाट राजा महाराजाओंसे कम नहीं होता। ऐसे परिग्रही महन्तोको धर्मगुरु मानता है। वह नियमसे मिथ्यादृष्टि है॥ ३१८॥ किन्हींका कहना है कि हरिहर आदि देवता लक्ष्मी देते हैं, उपकार करते हैं किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नही है। **अर्थ-**न तो कोई जीवको लक्ष्मी देता है और न कोई उसका उपकार करता है। शुभाशुभ कर्म ही जीवका उपकार और अपकार करते हैं॥ **भावार्थ-**शिव, विष्णु, ब्रह्मा, गणपति, चण्डी, काली, यक्षी, यक्ष, क्षेत्रपाल वगैरह अथवा सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह वगैरह सोना, रत्न, स्त्री, पुत्र, हाथी, घोडे आदि सम्पदा देनेमें असमर्थ हैं। इसी तरह ये सब देवता सुख, दुःख, रोग, नीरोगता आदि देकर या हरकर जीवका अच्छा या बुरा भी नहीं कर सकते हैं। जीव जो अच्छा या बुरा कर्म करता है उसका उदय ही जीवको सुख, दुःख, आरोग्य अथवा रोग आदि करता है। इसीसे आचार्य अमितगतिने सामायिक पाठमें कहा है-'इस आत्माने पूर्व जन्ममें जो कर्म किये हैं उनका शुभाशुभ फल उसे इस जन्ममें मिलता है। यदि कोई देवी देवता शुभाशुभ कर सकता तो स्वयं किये हुए कर्म निरर्थक होजाते हैं। अतः अपने किये हुए कर्मोंके सिवा प्राणीको कोई भी कुछ नहीं देता, ऐसा विचारकर कोई देवी देवता कुछ देता है इस बुद्धिको छोड़ दो॥ ३१९॥ आगे कहते हैं कि यदि व्यन्तर देवी देवता वगैरह

---

१ ब देइ। २ स ग कोइ, ब ण य को वि। ३ ब देइ जइ। ४ ल म स ग धम्मं। ५ ब कीरइ।

[छाया-भक्त्या पूज्यमानः व्यन्तरदेवः अपि ददाति यदि लक्ष्मीम्। तत् किं धर्मेण क्रियते एवं चिन्तयति सदृष्टिः ॥] व्यन्तरदेवोऽपि क्षेत्रपालकालीचण्डिकायक्षादिलक्षणः भक्त्या विनयोत्सवादिना पूज्यमानः आर्चितः सन् लक्ष्मीं संपदां ददाति यदि चेत्, तो तर्हि धर्मः कथं क्रियते विधीयते। तथा चोक्तम्। "तावचन्द्रबलं ततो ग्रहबलं ताराबलं भूबलं, तावत्सिध्यति वाञ्छितार्थमखिलं तावज्जनः सज्जनः। मुद्रामण्डलमन्त्रतन्त्रमहिमा तावत्कृतं पौरुषं, यावत्पुण्यमिदं सदा विजयते पुण्यक्षये क्षीयते ॥" तथा 'धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो धर्मं बुधाश्चिन्वते' इत्यादिकम् एवं पूर्वोक्तप्रकारं च सम्यग्दृष्टिः चिन्तयति ध्यायति ॥ ३२० ॥ अथ सम्यग्दृष्टिः एवं वक्ष्यमाणलक्षणं विचारयतीति गाथात्रयेणाह–

जं जस्स जम्मि[1] देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा ॥ ३२१ ॥

[छाया-यत् यस्य यस्मिन् देशे येन विधानेन यस्मिन् काले। ज्ञातं जिनेन नियतं जन्म वा अथवा मरणं वा ॥] यस्य पुंसः जीवस्य यस्मिन् देशे अङ्गवङ्गकलिङ्गमरुमालवमलयाटगुर्जरसौराष्ट्रविषये पुरनगरकर्वटखेटग्रामवनादिके वा येन विधानेन शस्त्रेण विषेण वैश्वानरेण जलेन शीतेन श्वासोच्छ्वासरुन्धनेनान्नादिविकारेण कुष्टभगंधरकुद्दंदर[2]पिचण्डपीडाप्रमुखरोगेण वा यस्मिन् काले समयमुहूर्तप्रहरपूर्वाह्णमध्याह्नापराह्णसंध्यादिवसपक्षमासवर्षादिके नियतं निश्चितं यत् जन्म अवतरणम् उत्पत्तिर्वा अथवा मरणं वा शब्दः समुच्चयार्थः सुखं दुःखं लाभालाभमिष्टानिष्टादिकं गृह्यते। तत् सर्वं कीदृक्षम्। देशविधानकालादिकं जिनेन ज्ञात केवलज्ञानिनावगतम् ॥ ३२१ ॥

तं तस्स तम्मि[3] देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि[4]।
को सक्कदि[5] वारेदुं इंदो वा तह[6] जिणिंदो वा ॥ ३२२ ॥

लक्ष्मी आदिक देते हैं तो फिर धर्माचरण करना व्यर्थ है। **अर्थ**–सम्यग्दृष्टि विचारता है कि यदि भक्तिपूर्वक पूजा करनेसे व्यन्तर देवी देवता भी लक्ष्मी दे सकते हैं तो फिर धर्म करनेकी क्या आवश्यकता है ॥ **भावार्थ**–लोग अर्थाकांक्षी हैं। चाहते हैं कि किसी भी तरह उन्हें धनकी प्राप्ति हो। इसके लिये वे उचित अनुचित, न्याय और अन्यायका विचार नहीं करते। और चाहते हैं, कि उनके इस अन्यायमें देवता भी मदद करें। बस वे देवताकी पूजा करते हैं बोल कबूल चढ़ाते हैं। उनके धर्मका अंग केवल किसी न किसी देवताका पूजना है। जैसे लोकमें वे धनके लिये सरकारी कर्मचारियोंको घूस देते हैं वैसे ही वे देवी देवताओंको भी पूजाके बहाने एक प्रकारकी घूंस देकर उनसे अपना काम बनाना चाहते हैं। किन्तु सम्यग्दृष्टि जानता है कि कोई देवता न कुछ दे सकता है और न कुछ ले सकता है, तथा धन सम्पत्तिकी क्षणभंगुरता भी वह जानता है। वह जानता है कि लक्ष्मी चंचल है, आज है तो कल नहीं है। तथा जब मनुष्य मरता है तो उसकी लक्ष्मी यहीं पड़ी रह जाती है। अतः वह लक्ष्मीके लालचमें पड़कर देवी देवताओंके चक्करमें नहीं पड़ता। और केवल आत्महितकी भावनासे प्रेरित होकर वीतराग देवका ही आश्रय लेता है और उन्हें ही अपना आदर्श मानकर उनके बतलाये हुए मार्गपर चलता है। यही उनकी सच्ची पूजा है अतः किसीने ठीक कहा है–तभी तक चन्द्रमाका बल है, तभी तक ग्रहोंका, तारोंका और भूमिका बल है, तभी तक समस्त वांछित अर्थ सिद्ध होते हैं, तभी तक जन सज्जन हैं, तभी तक मुद्रा, और मंत्र तंत्रकी महिमा हैं और तभी तक पौरुष भी काम देता है जबतक यह पुण्य है। पुण्यका क्षय होने पर सब बल क्षीण हो जाते हैं ॥ ३२० ॥ सम्यग्दृष्टि और भी विचारता है। **अर्थ**–जिस जीवके जिस देशमें, जिस कालमें, जिस विधानसे जो जन्म

१ स जम्हि। २ प कुडंदर। ३ ल ग तम्हि। ४ स कालम्हि। ५ ल ग सक्कइ चालेदुं। ६ ल ग अह जिणंदो।

[छाया-तत् तस्य तस्मिन् देशे तेन विधानेन तस्मिन् काले । कः शक्नोति वारयितुम् इन्द्रः वा तथा जिनेन्द्रः वा ॥] तस्य पुंसः जीवस्य तस्मिन् देशे अङ्गवङ्गकलिङ्गगुर्जरादिके नगरग्रामवनादिके तेन विधानेन शस्त्रविषादियोगेन तस्मिन् काले समयपलघटिकाप्रहरदिनपक्षादिके तत् जन्ममरणसुखदुःखादिकं कः इन्द्रः शक्रः अथवा जिनेन्द्रः सर्वज्ञः, वाशब्दोऽत्र समुच्चयार्थः, राजा गुरुर्वा पितृमात्रादिर्वा चालयितुं निवारयितुं शक्नोति समर्थो भवति कोऽपि, अपि तु न ॥ ३२२ ॥ अथ सम्यग्दृष्टिलक्षणं लक्षयति-

एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्व-पज्जाए ।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुदिट्ठी ॥ ३२३ ॥

अथवा मरण जिन देवने नियत रूपसे जाना है, उस जीवके उसी देशमें, उसी कालमें, उसी विधानसे वह अवश्य होता है, उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कौन टालसकनेमें समर्थ है ? ॥ **भावार्थ**-सम्यग्दृष्टि यह जानता है कि प्रत्येक पर्यायका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नियत है । जिस समय जिस क्षेत्रमें जिस वस्तुकी जो पर्याय होने वाली है वही होती है उसे कोई नहीं टाल सकता । सर्वज्ञ देव सब द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अवस्थाओंको जानते हैं । किन्तु उनके जानलेनेसे प्रत्येक पर्यायका द्रव्य क्षेत्र काल और भाव नियत नहीं हुआ बल्कि नियत होनेसे ही उन्होने उन्हें उस रूपमें जाना है । जैसे, सर्वज्ञ देवने हमें बतलाया है कि प्रत्येक द्रव्यमें प्रति समय पूर्व पर्याय नष्ट होती है और उत्तर पर्याय उत्पन्न होती है । अतः पूर्व पर्याय उत्तर पर्यायका उपादान कारण है और उत्तर पर्याय पूर्व पर्यायका कार्य है । इसलिये पूर्व पर्यायसे जो चाहे उत्तर पर्याय उत्पन्न नहीं हो सकती, किन्तु नियत उत्तर पर्याय ही उत्पन्न होती है । यदि ऐसा न माना जायेगा तो मिट्टीके पिण्डमें स्थास कोस पर्यायके विना भी घट पर्याय बन जायेगी । अतः यह मानना पड़ता है कि प्रत्येक पर्यायका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नियत है । कुछ लोग इसे नियतिवाद समझकर उसके भयसे प्रत्येक पर्यायका द्रव्य, क्षेत्र और भाव तो नियत मानते हैं किन्तु कालको नियत नहीं मानते । उनका कहना है कि पर्यायका द्रव्य, क्षेत्र और भाव तो नियत है किन्तु काल नियत नहीं है; कालको नियत माननेसे पौरुष व्यर्थ होजायेगा । किन्तु उनका उक्त कथन सिद्धान्तविरुद्ध है; क्योंकि द्रव्य क्षेत्र और भाव नियत होते हुए काल अनियत नहीं हो सकता । यदि कालको अनियत माना जायेगा तो काललब्धि कोई चीजही नहीं रहेगी । फिर तो संसार परिभ्रमणका काल अर्धपुद्गल परावर्तनसे अधिक शेष रहने भी सम्यक्त्व प्राप्त हो जायेगा और विना उस कालको पूरा किये ही मुक्ति होजायेगी । किन्तु यह सब बातें आगम विरुद्ध हैं । अतः कालको भी मानना ही पड़ता है । रही पौरुषकी व्यर्थता की आशङ्का, सो समयसे पहले किसी कामको पूरा करलेनेसे ही पौरुषकी सार्थकता नहीं होती । किन्तु समयपर कामका होजाना ही पौरुषकी सार्थकताका सूचक है । उदाहरणके लिये, किसान योग्य समयपर गेहूं बोता है और खूब श्रमपूर्वक खेती करता है । तभी समयपर पककर गेहूं तैयार होता है । तो क्या किसानका पौरुष व्यर्थ कहलायेगा । यदि वह पौरुष न करता तो समयपर उसकी खेती पककर तैयार न होती, अतः कालकी नियततामें पौरुषके व्यर्थ होनेकी आशंका निर्मूल है । अतः जिस समय जिस द्रव्यकी जो पर्याय होनी है वह अवश्य होगी । ऐसा जानकर सम्यग्दृष्टि सम्पत्तिमें हर्ष और विपत्तिमें विषाद नहीं करता, और न सम्पत्तिकी प्राप्ति तथा विपत्तिको दूर करनेके लिये देवी देवताओंके आगे गिड़-गिड़ाता फिरता है ॥ ३२१-३२२ ॥ आगे सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिका भेद बतलाते हैं । **अर्थ**-इस

[छाया-एवं यः निश्चयतः जानाति द्रव्याणि सर्वपर्यायान् । स सदृष्टिः शुद्धः यः शङ्कते स खलु कुदृष्टिः ॥] स भव्यात्मा सम्यग्दृष्टिः शुद्धः निर्मलः मूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलरहितः । स कः । य एवं पूर्वोक्तप्रकारेण निश्चयतः परमार्थतः द्रव्याणि जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकालाख्यानि, सर्वपर्यायांश्च अर्थपर्यायान् व्यञ्जनपर्यायांश्च, जानाति वेत्ति श्रद्दधाति स्पृशति निश्चिनोति स सम्यग्दृष्टिर्भवति । उक्तं च तथा शक्रेण । "त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं नवपदसहितं जीवषट्कायलेश्याः, पञ्चान्ये वास्तिकाया व्रतसमितिगतिज्ञानचारित्रभेदाः । इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितैः प्रोक्तमर्हद्भिरीशैः, प्रत्येति श्रद्दधाति स्पृशति च मतिमान् यः स वै शुद्धदृष्टिः ॥" इति । हु इति स्फुटं, स पुमान् कुदृष्टिः मिथ्यादृष्टिः । स कः । शङ्कते यः जिनवचने देवगुरौ धर्मे तत्त्वादिके शङ्कां संशयं संदेहं करोति स मिथ्यादृष्टिर्भवेत् ॥ ३२३ ॥

जो ण विजाणदि[1] तच्चं सो जिणवयणे करेदि सद्दहणं[2] ।
जं जिणवरेहि[3] भणियं तं सबमहं समिच्छामि ॥ ३२४ ॥

[छाया-यः न अपि जानाति तत्त्वं स जिनवचने करोति श्रद्धानम् । यत् जिनवरैः भणितं तत् सर्वमहं समिच्छामि ॥] यः पुमान् तत्त्वं जिनोदितं जीवादिवस्तु ज्ञानावरणादिकर्मप्रबलोदयात् न विजानाति न च वेत्ति स पुमान् जिनवचने सर्वज्ञप्रतिपादितागमे इति अग्रे वक्ष्यमाणं तत्त्वं श्रद्धानं निश्चयं रुचिं विश्वासं करोति विदधाति इति । किं तत् । सर्वं जीवाजीवादितत्त्वं वस्तु अहं समिच्छामि वाञ्छामि चेतसि निश्चयं करोमि श्रद्दधामीत्यर्थः । तत् किम् । यद् भणितं कथितं प्रतिपादितम् । कैः । जिनवरतीर्थंकरपरमदेवैः । कथितं तत्त्वं वाञ्छामि । उक्तं च । "सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते । आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः ॥" इति ॥ ३२४ ॥ अथ सम्यक्त्वमाहात्म्यं गाथात्रयेणाह-

रयणाण महा-रयणं सवं[4]-जोयाण उत्तमं जोयं ।
रिद्धीणं[5] महा-रिद्धी सम्मत्तं सव-सिद्धियरं ॥ ३२५ ॥

प्रकार जो निश्चयसे सब द्रव्योंको और सब पर्यायोंको जानता है वह सम्यग्दृष्टि है और जो उनके अस्तित्वमें शंका करता है वह मिथ्यादृष्टि है ॥ **भावार्थ-**पूर्वोक्त प्रकारसे जो जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्यको तथा उनकी सब पर्यायोंको परमार्थ रूपमें जानता तथा श्रद्धान करता है वह सम्यग्दृष्टि है । कहा भी है-"तीन काल, छै द्रव्य, नौ पदार्थ, छै काय के जीव, छै लेश्या, पांच अस्तिकाय, व्रत, समिति, गति, ज्ञान और चारित्रके भेद, इन सबको तीनों लोकोंसे पूजित अर्हन्त भगवानने मोक्षका मूल कहा है, जो बुद्धिमान ऐसा जानता है, श्रद्धान करता है और अनुभव करता है वह निश्चयसे सम्यग्दृष्टि है" । और जो सच्चे देव, सच्चे गुरु, सच्चे धर्म और जिनवचनमें सन्देह करता है वह मिथ्यादृष्टि है ॥ ३२३ ॥ **अर्थ-**जो तत्त्वोंको नहीं जानता किन्तु जिनवचनमें श्रद्धान करता है कि जिनवर भगवानने जो कुछ कहा है उस सबको मैं पसन्द करता हूं । वह भी श्रद्धावान है ॥ **भावार्थ-**जो जीव ज्ञानावरणकर्मका प्रबल उदय होनेसे जिनभगवानके द्वारा कहे हुए जीवादि तत्त्वोंको जानता तो नहीं है किन्तु उनपर श्रद्धान करता है कि जिन भगवानके द्वारा कहा हुआ तत्त्व बहुत सूक्ष्म है, युक्तियोंसे उसका खण्डन नहीं किया जा सकता । अतः जिनभगवानकी आज्ञारूप होनेसे वह ग्रहण करने योग्य है क्यों कि वीतरागी जिन भगवान अन्यथा नहीं कहते, ऐसा मनुष्य भी आज्ञासम्यक्त्वी होता है ॥ ३२४ ॥ आगे, तीन गाथाओंके द्वारा सम्यक्त्वका माहात्म्य बतलाते हैं ॥ **अर्थ-**सम्यक्त्व सब रत्नोंमें महारत्न है, सब योगोंमें उत्तम योग है, सब ऋद्धियोंमें

१ **ल म स ग** विजाणइ । २ **म** जीवाइ नव पयत्थे जो ण वियाणेइ करेदि सद्दहणं । ३ **ब** जिणवरेण । ४ **ब** सव्वं (?) **ल स ग** सव्व, **म** सव्वे । ५ **ब** रिद्धिण ।

[छाया-रत्नानां महारत्नं सर्वयोगानाम् उत्तमः योगः । ऋद्धीनां महर्द्धिः सम्यक्त्वं सर्वसिद्धिकरम् ॥] सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनं भवतीत्यध्याहार्यम् । कीदृशम् । रत्नानां मणीनां पुष्परागवैडूर्यकर्केतनादिमणीनां मध्ये महद्रत्नं महामणिः अनर्घ्यत्वेन, महेन्द्राहमिन्द्रसिद्धपददायकत्वात् अनर्घ्यं रत्नं सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनं भवतीत्यध्याहार्यम् । कीदृशं च पुनः । सर्वयोगानां मध्ये धर्मादिध्यानानां मध्ये उत्तमं ध्यानं परमप्रकर्षप्राप्तं योग्यं ध्यानम् । अथवा सर्वयोगानां सर्वरसानां कनकादिनिष्पादनरसानां मध्ये उत्तमरसं सम्यक्त्वम् ऋद्धीनाम् अणिमामहिमालघिमागरिमाप्राप्तिप्राकाम्येशित्ववशित्वर्द्धीना-मष्टानां मध्ये, बुद्धितपोविक्रियाक्षीणरसबलौषधर्द्धीनां सप्तानां मध्ये, अष्टचत्वारिंशत् ऋद्धीनां मध्ये, चतुःषष्टेः ऋद्धीनां मध्ये वा महर्द्धिः, महती चासौ ऋद्धिश्च महर्द्धिः । कुतः । यत् सम्यक्त्वं सर्वसिद्धिः प्राप्तिः तां करोति इति सर्वसिद्धिकरम् ॥ ३२५ ॥

सम्मत्त-गुण-पहाणो देविंद-णरिंद-वंदिओ होदि ।
चत्त-वओ[1] वि य पावदि सग्ग-सुहं उत्तमं विविहं ॥ ३२६ ॥

[छाया-सम्यक्त्वगुणप्रधानः देवेन्द्रनरेन्द्रवन्दितः भवति । त्यक्तव्रतः अपि च प्राप्नोति स्वर्गसुखम् उत्तमं विविधम् ॥] सम्यक्त्वगुणप्रधानः, सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनं तदेव गुणः अथवा सम्यक्त्वस्य गुणाः मूलोत्तरगुणाः त्रिषष्टिसंख्योपेताः ६३ । ते के । 'मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट् । अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पंचविंशतिः ॥' एतद्दोषनिराकरणाः सन्तो गुणा भवन्ति । 'सूर्यार्घ्यो ग्रहणस्नानं संक्रांतौ द्रविणव्ययः । संध्यासेवाग्निसत्कारो देहगेहार्चनाविधिः ॥ गोपृष्ठान्त-नमस्कारस्तन्मूत्रस्य निषेवणम् । रत्नवाहनभूवृक्षशस्त्रशैलादिसेवनम् ॥ आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम् । गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥' इति लोकमूढस्य परित्यागः सम्यक्त्वगुणः । रागद्वेषमलीमसदेवानां सेवा [देवमूढम् ।] देव-मूढस्य परित्यागः सम्यक्त्वगुणः । बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहवतां पाषण्डिनां कुगुरूणां नमस्कारादिकरणं [पाषण्डिमूढम् ।]

महाऋद्धि है, अधिक क्या, सम्यक्त्व सब सिद्धियोंका करनेवाला है ॥ **भावार्थ**-पुष्पराग, वैडूर्य, आदि रत्नोंमें सम्यक्दर्शन महारत्न है, क्योंकि वह इन्द्र, अहमिन्द्र और सिद्धिपदका दाता है । इसलिये सम्यग्दर्शन एक अमूल्य रत्न है । तथा धर्मध्यान आदि सब ध्यानोंमें उत्तम ध्यान है । और अणिमा महिमा आदि ऋद्धियोंमें अथवा बुद्धि तप विक्रिया आदि ऋद्धियोंमें सर्वोत्कृष्ट ऋद्धि है, क्योंकि विना सम्यक्त्वके न उत्तम ध्यान होता है और उत्तम ऋद्धियोंकी प्राप्ति ही होती है ॥ ३२५ ॥ **अर्थ**-सम्यक्त्वगुणसे विशिष्ट अथवा सम्यक्त्वके गुणोसे विशिष्ट जीव देवोंके इन्द्रोंसे तथा मनुष्योंके स्वामी चक्रवर्ती आदिसे वन्दनीय होता है । और व्रतरहित होते हुए भी नाना प्रकारके उत्तम स्वर्गसुखको पाता है ॥ **भावार्थ**-सम्यक्त्वके पच्चीस गुण बतलाये हैं । तीन मूढ़ता, आठ मद, छै अनायतन, और आठ शङ्का आदि इन पच्चीस दोषोंको टालनेसे सम्यक्त्वके पच्चीस गुण होते हैं । सूर्यको अर्घ्य देना, चन्द्रग्रहण सूर्यग्रहणमें गंगास्नान करना, मकरसंक्रान्ति वगैरहके समय दान देना, सन्ध्या करना, अग्निको पूजना, शरीरकी पूजा करना, मकानकी पूजा करना, गौके पृष्ठभागमें देवताओंका निवास मानकर उसके पृष्ठभागको नमस्कार करना, गोमूत्र सेवन करना, रत्न सवारी पृथ्वी वृक्ष शस्त्र पहाड़ आदिको पूजना, धर्म समझकर नदियोंमें और समुद्र (सेतुबन्ध रामेश्वर वगैरह) में स्नान करना, बालू और पत्थरका ढेर लगाकर पूजना, पहाड़से गिरकर मरना, आगमें जलकर मरना, ये सब लोकमूढ़ता है । लोकमें प्रचलित इन मूर्खताओंका त्याग करना सम्यक्त्वका प्रथम गुण है । रागी द्वेषी देवोंकी सेवा करना देवमूढ़ता है । इस देवविषयक मूर्खताको छोड़ना दूसरा गुण है ।

---

१ ल म स ग वयो ।

पाषण्डिमूढस्य परित्यागः सम्यक्त्वस्य गुणः सम्यक्त्वगुणः। 'ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः। अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः॥' ज्ञानादीनां मदपरित्यागे गर्वाहंकारपरिवर्जने अष्टौ सम्यक्त्वस्य गुणाः भवन्ति। 'कुदेवस्तस्य भक्तश्च कुज्ञानं तस्य पाठकः। कुलिङ्गी सेवकस्तस्य लोकेऽनायतनानि षट्॥' कुदेवकुज्ञानकुलिङ्गिनां त्रयाणां तद्भक्तानां च परित्यागे वर्जने सम्यक्त्वस्य षड्गुणाः ६ भवन्ति॥ अर्हदुपदिष्टद्वादशाङ्गप्रवचनगहने एकाक्षरं पदं वा किमिदं स्यादुवाच वेति शङ्कानिरासः जिनवचनं जैनदर्शनं च सत्यमिति सम्यक्त्वस्य निःशङ्कितत्वनामा गुणः। १। ऐहलौकिकपारलौकिकेन्द्रियविषयभोगोपभोगाकाङ्क्षानिवृत्तिः कुदृष्ट्याचाराकांक्षानिरासो वा निःकांक्षितत्वनामा सम्यक्त्वस्य गुणः। २। शरीराद्यशुचिस्वभावमवगम्य शुचीति मिथ्यासंकल्पनिरासः, अथवा अर्हत्प्रवचने इदं मलधारणमयुक्तं घोरं कष्टं न चेदिदं सर्वमुपपन्नम् इत्यशुभभावनानिरासः, सम्यक्त्वस्य निर्विचिकित्सतानामा तृतीयो गुणः। ३। बहुविधेषु दुर्णयमार्गेषु तत्त्ववदाभासमानेषु युक्त्याभावमाश्रित्य परीक्षाचक्षुषा विरहितमोहत्वं मिथ्यातत्त्वेषु मोहरहितत्वं सम्यक्त्वस्यामूढदृष्टितागुणः। ४। उत्तमक्षमादिभावनया आत्मनः चतुर्विधसंघस्य च धर्मपरिवृद्धिकरणं चतुर्विधसंघस्य दोषझंपनं सम्यक्त्वस्य उपबृंहणम् उपगूहननाम गुणः। ५। क्रोधमानमायालोभादिषु धर्मविध्वंसकारणेषु विद्यमानेष्वपि धर्मादप्रच्यवनं स्वपरयोर्धर्मप्रच्यवनपरिपालनं सम्यक्त्वस्य स्थितिकरणं गुणः। ६। जिनप्रणीतधर्मामृते नित्यानुरागता जिनशासने सदानुरागित्वम्, अथवा सद्यः प्रसूता यथा गौर्वत्से स्निह्यति तथा चातुर्वर्ण्ये संघे अकृत्रिमस्नेहकरणं सम्यक्त्वस्य वात्सल्यनामा गुणः। ७। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपोभिः आत्मप्रकाशनं सुतपसा स्वसमयप्रकटनं महापूजामहादानादिभिर्धर्मप्रकाशनं च जिनशासनुद्द्योतकरणं सम्यक्त्वस्य प्रभावनागुणः। ८। इति पञ्चविंशतिगुणाः २५॥ 'संवेगो १ निर्वेदो २ निन्दा ३ गर्हा ४ तथोपशमो ५ भक्तिः ६। अनुकम्पा ७ वात्सल्यं ८ गुणास्तु सम्यक्त्वयुक्तस्य॥' धर्मे धर्मफले च परमा प्रीतिः संवेगः १। संसारशरीरभोगेषु विरक्तता निर्वेदः २। आत्मसाक्षिका निन्दा ३। गुरुसाक्षिका गर्हा ४। उपशमः क्षमापरिणामः ५। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु तद्वत्सु च भक्तिः ६। सर्वप्राणिषु दया अनुकम्पा ७। सार्धर्मेषु वात्सल्यम् ८। इति सम्यक्त्वस्याष्टौ गुणाः। ८। शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः। शंकनं शङ्का, यथा निर्ग्रन्थानां मुक्तिरुक्ता तथा सग्रन्थानामपि गृहस्थादीनां किं मुक्तिर्भवतीति शङ्का वा भयप्रकृतिः शङ्का इति शङ्का न कर्तव्या। सम्यक्त्वस्य शङ्कातिचारपरिहारः गुणः। १। इहलोकपरलोकभोगकाङ्क्षा इति आकाङ्क्षातिचारपरित्यागः सम्यक्त्वस्य गुणः। २।

बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से घिरे हुए कुगुरुओं को नमस्कार आदि करना गुरुमूढ़ता है। इस गुरुविषयक मूर्खताको छोड़ना तीसरा गुण है। आठों मदोंको छोड़नेसे सम्यक्त्वके आठ गुण होते हैं। इस तरह ये ग्यारह गुण हैं। कुदेव, कुदेवोंके भक्त मनुष्य, कुज्ञान, कुज्ञानके धारी, कुलिङ्गि (कुगुरु) और उसकी सेवा करनेवाले ये छै अनायतन है। इन छै अनायतनोंको त्याग देनेसे सम्यक्त्वके छै गुण होते हैं। इस तरह सतरह गुण हुए। अर्हन्त देवके द्वारा उपदिष्ट द्वादशाङ्ग वाणीमें से एकभी अक्षर अथवा पदके विषयमें ऐसी शङ्का न होना कि यह ठीक है अथवा नहीं, और जिनवचन तथा जैनदर्शनको सत्य मानना निःशंकित नामका गुण है। इस लोक अथवा परलोकमें इन्द्रियसम्बन्धी विषय भोगोंकी इच्छा न करना अथवा मिथ्या आचार की चाह न करना निःकांक्षित नामका गुण है। शरीर वगैरहको स्वभावसे ही अपवित्र जानकर उसमें 'यह पवित्र है' इस प्रकारका मिथ्या संकल्प न करना अथवा 'जैन शास्त्रोंमें या जैन मार्गमें जो मुनियोंके लिये स्नान न करना वगैरह बतलाया है वह ठीक नहीं है, इससे घोर कष्ट होता है, यह न होता तो शेष सब ठीक है' इस प्रकारकी दुर्भावनाका न होना तीसरा निर्विचिकित्सा गुण है। संसारमें प्रचलित अनेक मिथ्या मार्गोंको, जो सच्चे से प्रतीत होते हैं, परीक्षारूपी चक्षुके द्वारा युक्तिशून्य जानकर उनके विषयमें मोह न करना अर्थात् मिथ्या तत्त्वोंके भ्रममें न पड़ना अमूढदृष्टि नामक गुण है। उत्तम क्षमा आदि भावनाओंके द्वारा अपने और चतुर्विध संघके धर्मको बढ़ाना तथा चतुर्विध संघके दोषोंको

रत्नत्रयमण्डितशरीराणां जुगुप्सनं स्नानाद्यभावे दोषोद्भावनं विचिकित्सा इति तस्या अकरणं सम्यक्त्वस्य विचिकित्सातिचारवर्जनो गुणः । ३ । मिथ्यादृष्टीनां मनसा ज्ञानचारित्रोद्भावनं प्रशंसा तदकरणं प्रशंसातिचारपरित्यागः सम्यक्त्वगुणः । ४। विद्यमानानाम् अविद्यमानानां मिथ्यादृष्टिगुणानां वचनेन प्रकटनं संस्तवः तस्य निरासः संस्तवातिचारपरित्यागः सम्यक्त्वस्य गुणः । ५ । इति । 'इहपरलोयत्ताणं अगुत्ति मरणवेयणाकस्मा । सत्तविहं भयमेदं णिद्दिट्ठं जिणवरेंदेहिं ॥' इहलोकभयपरित्यागः १, परलोकभयवर्जनम् २, पुरुषाद्यरक्षणात्राणभयत्यागः ३, आत्मरक्षोपायदुर्गाद्यभावागुप्तिभयत्यागः ४, मरणभयपरित्यागः ५, वेदनाभयत्यागः ६, विद्युत्पाताद्याकस्मिकभयपरित्यागः ७ । मायाशल्यं माया परवञ्चनं तत्परिहारः सम्यक्त्वस्य गुणः १, मिथ्यादर्शनशल्यं तत्त्वार्थश्रद्धानाभावः तत्त्यागः सम्यक्त्वस्य गुणः २, निदानशल्यं विषयसुखाभिलाषः तस्य परित्यागः सम्यक्त्वस्य गुणः ३, एवं एकत्रीकृताः अष्टचत्वारिंशन्मूलगुणाः जघन्यपात्रस्य सम्यग्दृष्टेः भवन्ति । सम्यक्त्वस्य

दूर करना उपबृंहण अथवा उपगूहन नामका गुण है । धर्मके विध्वंस करनेवाले क्रोध, मान, माया, लोभ वगैरह कारणोंके होते हुए भी धर्मसे च्युत न होना और दूसरें यदि धर्मसे च्युत होते हों तो उनको धर्ममें स्थिर करना स्थितिकरण गुण है । जिन भगवानके द्वारा उपदिष्ट धर्मरूपी अमृतमें नित्य अनुराग रखना, जिनशासनका सदा अनुरागी होना, अथवा जैसे तुरन्तकी ब्याही हुई गाय अपने बच्चेसे स्नेह करती है वैसे ही चतुर्विध संघमें अकृत्रिम स्नेह करना वात्सल्य गुण है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और तप के द्वारा आत्माका प्रकाश करना और महापूजा महादान वगैरह के द्वारा जैन धर्मका प्रकाश करना अर्थात् ऐसे कार्य करना जिनसे जिनशासनका लोकमें उद्योत हो, आठवां प्रभावना गुण है । ये सम्यक्त्वके पचीस गुण है । टीकाकारने अपनी संस्कृत टीकामें सम्यक्त्वके ६३ गुण बतलाये हैं । और उसमेसे ४८ को मूलगुण और १५ को उत्तर गुण कहा है। सम्यक्त्वके गुणोंके मूल और उत्तर भेद हमारे देखनेमें अन्यत्र नहीं आये । तथा इन त्रेसठ गुणोंमें से कुछ गुण पुनरुक्त पड़जाते हैं । फिरभी पाठकोंकी जानकारी लिये उन शेषगुणोंका परिचय टीकाकारके अनुसार कराया जाता है । सम्यक्त्वके आठ गुण और हैं–संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, अनुकम्पा और वात्सल्य । धर्म और धर्मफलमें अत्यन्त अनुराग होना संवेग है। संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त होना निर्वेद है । निन्दा स्वयं की जाती है और गर्हा गुरु वगैरहकी साक्षीपूर्वक होती है । क्षमाभावको उपशम कहते हैं । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी तथा सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी, और चारित्रवानोंकी भक्ति करना भक्ति है । सब प्राणियोंपर दया करना अनुकम्पा है । साधर्मी जनोंमें वात्सल्य होता है । ये सम्यक्त्व के आठ गुण हैं । तथा शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा, अन्यदृष्टिसंस्तव, ये सम्यग्दृष्टिके अतिचार हैं । जैसे निर्ग्रन्थोंकी मुक्ति कही है वैसेही सग्रन्थ गृहस्थोंकी भी मुक्ति होसकती है क्या ? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये । यह सम्यक्त्वका शंका अतिचारसे बचने रूप प्रथम गुण है । इस लोक और पर लोकके भोगोंकी चाहको कांक्षा कहते हैं । इस कांक्षा अतिचारसे बचना सम्यक्त्वका दूसरा गुण है । रत्नत्रयसे मण्डित निर्ग्रन्थ साधुओंके मलिन शरीरको देखकर ग्लानि करना विचिकित्सा है, और उसका न करना सम्यक्त्वका तीसरा गुण है । मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान और चारित्रकी मनसे तारीफ करना प्रशंसा है । और उसका न करना सम्यक्त्वका चौथा गुण है । मिथ्यादृष्टिमें गुण हों अथवा न हों, उनका वचनसे बखान करना संस्तव है । और उसका न करना सम्यक्त्वका पांचवा गुण है । इस तरह पांच अतिचारोंको

मूलगुणाः अष्टचत्वारिंशत्संख्योपेताः कथिताः तर्हि उत्तरगुणा के इति चेदुच्यते। 'मद्य १ मांस २ मधु ३ त्यागः पञ्चोदुम्बरवर्जनम्' ८, तथा 'द्यूतं १ मांसं २ सुरा ३ वेश्या ४ पापर्द्धिः ५ परदारता ६। स्तेयेन ७ सह सप्तेति व्यसनानि व्यदूरयेत्॥' इत्यष्टौ मूलगुणाः सप्त व्यसनानि च इति पञ्चविंशतिसंख्योपेताः (?) जघन्यपात्रस्य सम्यग्दृष्टेरुत्तरगुणा भवन्ति १५। एवं त्रिषष्टिः सम्यक्त्वस्य गुणाः ६३। प्रधाना मुख्या यस्य स सम्यक्त्वगुणप्रधानः स पुमान् देवेन्द्रनरेन्द्रवन्दितो भवति, देवेन्द्राः सौधर्मेन्द्रादयः नरेन्द्राः चक्रवर्त्यादयः तैः सम्यग्दृष्टिर्नरः वन्दितः नमस्करणीयः पूजनीयो भवति। त्यक्तव्रतोऽपि व्रतरहितोऽपि द्वादशव्रतरहितोऽपि, अपिशब्दात् व्रतसम्यक्त्वसहितोऽपि, सम्यक्त्ववान् स्वर्गसुखं सौधर्मादिदेवलोकसुखं शर्म प्राप्नोति लभते। सम्यग्दृष्टिः सम्यक्त्वेन कल्पवासिदेवानामायुर्बध्यते 'सम्यक्त्वं च' इति वचनात्। कीदृक्षं स्वर्गसुखम्। उत्तमं सर्वश्रेष्ठं प्रशस्यं सुखम्। पुनः कीदृक्षम्। विविधम् अनेकप्रकारं सौधर्माद्यच्युतस्वर्गपर्यन्तं विमानदेवाङ्गनाविक्रियाद्युद्भवम्॥ ३२६॥

सम्माइट्ठी जीवो दुग्गदि-हेदुं ण बंधदे कम्मं।
जं बहु-भवेसु बद्धं दुक्कम्मं तं पि णासेदि[3]॥ ३२७[4]॥

[छाया-सम्यग्दृष्टिः जीवः दुर्गतिहेतु न बध्नाति कर्म। यत् बहुभवेषु बद्धं दुष्कर्म तत् अपि नाशयति॥] सम्यग्दृष्टिः जीवः कर्म अशुभायुर्नामनीचगोत्रादिकं न बध्नाति प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धैः बन्धनं न करोति। किंभूतं कर्म।

छोड़ने से सम्यक्त्वके पांच गुण होते हैं। तथा सात प्रकारके भयको त्यागनेसे सात गुण होते हैं, जो इस प्रकार हैं–इस लोकसम्बन्धी भयका त्याग, परलोकसम्बन्धी भयका त्याग, कोई पुरुष वगैरह मेरा रक्षक नहीं है इस प्रकारके अरक्षाभयका त्याग, आत्मरक्षाके उपाय दुर्ग आदिके अभावमें होनेवाले अगुप्ति भयका त्याग, मरण भयका त्याग, वेदना भयका त्याग और बिजली गिरने आदि रूप आकस्मिक भयका त्याग। तीन शल्योंके त्यागसे तीन गुण होते हैं। मायाशल्य अर्थात् दूसरों को ठगने आदिका त्याग, तत्त्वार्थ श्रद्धानके अभावरूप मिथ्यादर्शन शल्यका त्याग, विषयसुखकी अभिलाषारूप निदान शल्यका त्याग। इस तरह इन सबको मिलानेपर सम्यग्दृष्टिके (२५+८+५+७+३=४८) अड़तालीस मूल गुण होते हैं। तथा मद्य, मांस, मधु और पांच उदुम्बर फलोंका त्याग और जुआ मांस मदिरा वेश्या शिकार परस्त्री और चोरी इन सात व्यसनोंका त्याग, इस तरह आठ मूल गुणों और सातों व्यसनोंके त्यागको मिलानेसे सम्यक्त्वके १५ उत्तर गुण होते हैं। सम्यक्त्वके इन ६३ गुणोंसे विशिष्ट व्यक्ति सबसे पूजित होता है। तथा व्रत न होनेपर भी वह देवलोकका सुख भोगता है क्योंकि सम्यक्त्वको कल्पवासी देवोंकी आयुके बन्धका कारण बतलाया है। अतः सम्यग्दृष्टि जीव मरकर सौधर्म आदि स्वर्गोंमें जन्म लेता है और वहां तरह तरहके सुख भोगता है॥ ३२६॥ **अर्थ–**सम्यग्दृष्टि जीव ऐसे कर्मोंका बन्ध नहीं करता जो दुर्गतिके कारण हैं। बल्कि पहले अनेक भवोंमें जो अशुभ कर्म बांधे हैं उनका भी नाश कर देता है॥ **भावार्थ–**सम्यग्दृष्टिजीव दूसरे आदि नरकोंमें लेजाने वाले अशुभ कर्मोंका बन्ध नहीं करता। आचार्योंका कहना है–'नीचे के छै नरकोंमें, ज्योतिष्क, व्यन्तर और भवनवासी देवोंमें तथा सब प्रकारकी स्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि जन्म नहीं लेता। तथा पांच स्थावर कायोंमें, असंज्ञी पञ्चेन्द्रियोंमें, निगोदियाजीवोंमें और कुभोगभूमियोंमें सम्यग्दृष्टि नियमसे उत्पन्न नहीं होता।' रविचन्द्राचार्यने भी कहा है कि नीचेकी छै

---

१ प व्रतसमस्तसहितोऽपि। २ ब दुग्गइ। ३ ग तं पणासेति। ४ ब अविरइसम्माइट्ठी बहुतस इत्यादि।

दुर्गतिहेतुर्दुर्गतिकारणं द्वितीयादिनरकगमनहेतुः ज्योतिष्कव्यन्तरभवनवासिसर्वस्त्रीद्वादशमिथ्यावादेषु उत्पत्तिकारणं कर्म न बध्नातीत्यर्थः । तदपि प्रसिद्धं दुःकर्म अशुभकर्म नाशयति स्फेटयति समयं समयं प्रति गुणश्रेणिमात्रनिर्जरणं करोति निर्जरामुखेन विनाशयतीत्यर्थः । तत् किम् । यत् बहुभवेषु नरनारकाद्यनेकभवेषु बद्धं कर्मबन्धनविषयं नीतं सम्यग्दृष्टि-र्दुर्गतिकारणं कर्म न बध्नाति । किं नाम दुर्गतिरिति चेत् आचार्या ब्रुवन्ति । "छसु हेट्ठिमासु पुढवी जोइसवणभवणसव्व-इत्थीसु । बारसमिच्छावादे सम्माइट्ठिस्स णत्थि उववादो ॥" "पंचसु थावरवियले असणिणिगोदेसु मेच्छकुभूभोगे । सम्मा-इट्ठी जीवा णो उववज्जंति णियमेण ॥" तथा रविचन्द्राचार्येणोक्तं च । "षट्स्वधःपृथ्वीषु ज्योतिर्वनभवनजेषु च स्त्रीषु । विकलैकेन्द्रियजातिषु सम्यग्दृष्टेर्न चोत्पत्तिः ॥" तथा समन्तभद्रस्वामिनोक्तं च । "सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्री-त्वानि । दुःकुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥" "दुर्गतावायुषो बन्धे सम्यक्त्वं यस्य जायते । गतिच्छेदो न तस्यास्ति तथाप्यल्पतरा स्थितिः ॥" "न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि । श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत् तनूभृताम् ॥" इत्यविरतसम्यग्दृष्टेर्जघन्यपात्रस्य सागारिणः केवलसम्यक्त्वमेव धर्मभेदः प्रथमं निरूपितः ॥ ३२७ ॥ अथ द्वितीयदर्शनिकश्रावकलक्षणं लक्षयति गाथाद्वयेन–

बहु-तस-समण्णिदं जं मज्जं मंसादि णिंदिदं दव्वं ।
जो ण य सेवदि णियदं सो दंसण-सावओ होदि ॥ ३२८ ॥

[छाया–बहुत्रससमन्वितं यत् मद्यं मांसादि निन्दितं द्रव्यम् । यः न च सेवते नियतं स दर्शनश्रावकः भवति ॥] स प्रसिद्धः दर्शनश्रावकः सम्यक्त्वपूर्वकश्रावकः दर्शनिकप्रतिमापरिणतः श्राद्धो भवति । स कः । यः दर्शनिकश्रावकः यत् मद्यं सुराम् आसवं न सेवते न भक्षयति नात्ति न पिबति। च पुनः, मांसादि निन्दितं द्रव्यं मांसं पलं पिशितं द्विधातुजम् आदि-

---

पृथिवियोंमें, ज्योतिष्क व्यन्तर और भवनवासी देवोंमें, स्त्रियोंमें, विकलेन्द्रियों और एकेन्द्रियोंमें सम्यग्दृष्टि की उत्पत्ति नहीं होती । समन्तभद्र स्वामीने भी कहा है–'सम्यग्दर्शनसे शुद्ध व्रतरहित जीव भी मर-कर नारकी, तिर्यञ्च, नपुंसक, और स्त्री नहीं होते, तथा नीचकुलवाले, विकलाङ्ग, अल्पायु और दरिद्र नहीं होते ।' किन्तु यदि किसी जीवने पहले आयुबन्ध कर लिया हो और पीछे उसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हुई हो तो गतिका छेद तो हो नहीं सकता, परन्तु आयु छिदकर बहुत थोड़ी रह जाती है । जैसे राजा श्रेणिकने सातवें नरककी आयुका बन्ध किया था । पीछे उन्हें क्षायिक सम्यक्त्व हुआ तो नरक गतिमें तो उनको अवश्य जाना पड़ा परन्तु सातवें नरककी आयु छिदकर प्रथम नरककी जघन्य आयु शेष रह गई । अर्थात् ३३ सागरसे घटकर केवल चौरासी हजार वर्षकी आयु शेष रह गई । अतः सम्यग्दृष्टि जीव दुर्गतिमें लेजानेवाले अशुभ कर्मका बन्ध नहीं करता । इतना ही नहीं बल्कि पहले अनेक भवोंमें बांधे हुए अशुभ कर्मोंकी प्रतिसमय गुणश्रेणि निर्जरा करता है । इसीसे सम्यक्त्वका माहात्म्य बतलाते हुए स्वामी समन्तभद्रने कहा है कि 'तीनों लोकों और तीनों कालोंमें सम्यक्त्वके बराबर कल्याणकारी वस्तु नहीं है और मिथ्यात्वके समान अकल्याणकारी वस्तु नहीं है ।' इस प्रकार गृहस्थ धर्मके बारह भेदोंमेंसे प्रथम भेद अविरतसम्यग्दृष्टिका निरूपण समाप्त हुआ ॥ ३२७ ॥ आगे दो गाथाओंसे दूसरे भेद दर्शनिकका लक्षण कहते हैं । **अर्थ**–बहुत त्रसजीवोंसे युक्त मद्य, मांस आदि निन्दनीय वस्तुओंका जो नियमसे सेवन नहीं करता वह दर्शनिक श्रावक है ॥ **भावार्थ**–दर्शनिक श्रावक, दो इन्द्रिय, ते इन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीव जिसमें पाये जाते हैं ऐसा शराब और मांस तथा आदि शब्दसे चमड़ेके पात्रमें रखे हुए हींग, तेल, घी और जल वगैरह, तथा मधु, मक्खन, रात्रिभोजन, पञ्च उदुम्बर फल, अचार, मुरब्बे, घुना हुआ अनाज नहीं खाता और न सात

शब्दात् चर्मगतहिङ्गुतैलघृतजलादिमधुनवनीतं कांजिकं रात्रिभोजनं सजन्तुफलपञ्चकं संधानकं द्विधान्यादिकं द्यूतादिसप्तव्यसनं च न सेवते न भजते, नियमात् निश्चयपूर्वकम्, नाश्नाति न सेवते च। कीदृक्षम्। मद्यमांसमधुचर्मपात्रगतजलघृततैलमध्वादिकं[1] बहुत्रससमन्वितं द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियजीवसहितम् ॥ ३२८ ॥

जो दिढ-चित्तो कीरदि[2] एवं पि वयं णियाण-परिहीणो।
वेरग्ग-भाविय-मणो सो वि य दंसण-गुणो होदि ॥ ३२९[3] ॥

[छाया-यः दृढचित्तः करोति एवम् अपि व्रतं निदानपरिहीनः। वैराग्यभावितमनाः सः अपि च दर्शनगुणः भवति ॥] च पुनः, सोऽपि न पूर्वः पूर्वोक्तः इत्यपिशब्दार्थः। दर्शनगुणः दार्शनिकः श्रावको भवति। स कः। यः एवं पूर्वोक्तं मद्यादिवर्जनलक्षणं व्रतं नियमं प्रतिज्ञां प्रत्याख्यानं करोति विदधाति। कीदृक्षः। दृढचित्तः निश्चलमनाः, मायाकपटपाषण्डरहित इत्यर्थः। पुनः किंलक्षणः। निदानपरिहीणः, निदानम् इहलोकपरलोकसुखाभिलाषलक्षणं तेन रहितः निदानरहितः। पुनः कथंभूतः। वैराग्यभावितमनाः, वैराग्येण भवाङ्गभोगविरतिलक्षणेन भावितं मनः चित्तं यस्य स

व्यसनोंका ही सेवन करता है। ये सभी वस्तुएं निन्दनीय हैं। शराब पीनेसे मनुष्य बदहोश हो जाता है, उसे कार्य और अकार्यका ज्ञान नहीं रहता। मांस त्रस जीवोंका घात किये विना बनता नहीं, तथा उसे खाकर भी मनुष्य निर्दयी और हिंसक बनजाता है। शहद तो मधुमक्खियोंके घातसे बनता है तथा उनका उगाल है। पीपल, बड़, गूलर वगैरहके फलोंमें त्रसजीव प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। चमड़ेमें रखी हुई वस्तुओंके खानेसे मांस खानेका दोष लगता है। रात्रिभोजन तो अनेक रोगोंका घर है। अतः इन चीजोंका सेवन करना उचित नहीं है। तथा सप्त व्यसन भी विपत्तिके घर हैं। जुआ खेलनेसे पाण्डवोंने अपनी द्रौपदीतकको दावपर लगा दिया और फिर महाकष्ट भोगा। मांस खानेका व्यसनी होनेसे राजा बकको उसकी प्रजाने मार डाला। शराब पीनेके कारण यादववंश द्वीपायन मुनिके क्रोधसे नष्ट होगया। वेश्या सेवन करनेसे चारुदत्तकी बड़ी दुर्गति हुई। चोरी करनेसे शिवदत्तको कष्ट उठाना पड़ा। शिकार खेलनेसे ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती मरकर नरकमें गया। और परस्त्रीगामी होनेसे रावणकी दुर्गति हुई। अतः व्यसन भी बुराईयोंकी जड़ हैं। फिर सम्यग्दृष्टि तो धर्मकी मूर्ति है। वह भी यदि अभक्ष्य वस्तुओंको खाता है और अन्याय करता है तो अपनेको और अपने धर्मको मलिन करने और लजानेके सिवा और क्या करता है। अतः इनका त्यागीही दर्शनप्रतिमाका धारी होता है ॥ ३२८ ॥ **अर्थ**–वैराग्यसे जिसका मन भीगा हुआ है ऐसा जो श्रावक अपने चित्तको दृढ़ करके तथा निदानको छोड़कर उक्त व्रतोंको पालता है वही दर्शनिक श्रावक है॥ **भावार्थ**–जो श्रावक संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त होकर तथा इस लोक और परलोकके विषय सुखकी अभिलाषाको छोड़कर निश्चल चित्तसे पूर्वोक्त व्रतोंका पालन करता है वही दर्शनिक श्रावक कहा जाता है। टीकाकारने गाथाके 'वि' शब्दका 'भी' अर्थ करके यह अर्थ किया है कि केवल पूर्वोक्तही दर्शनिक श्रावक नहीं होता किन्तु इस गाथामें बतलाया हुआ भी दर्शनिक श्रावक है किन्तु यहां हमें 'वि' शब्दका अर्थ 'ही' ठीक प्रतीत होता है; क्यों कि पहली गाथामें जो दर्शनिक श्रावकका स्वरूप बतलाया है उसीके ये तीन विशेषण और हैं। प्रथम तो उसे अपने मनमें दृढ़ निश्चय करके ही व्रतोंको स्वीकार करना चाहिये; नहीं तो परीषह आदिसे कष्ट पानेपर व्रतकी प्रतिज्ञासे चिग सकता है। दूसरे,

---

१ आदर्शे तु 'तैलरामठादिकं' इति पाठः। २ **ब म स ग** दढचित्तो जो कुव्वदि। ३ **ब** दंसणप्रतिमा पंचा इत्यादि।

वैराग्यभावितमनाः, भवाङ्गभोगेषु विरक्तचित्त इत्यर्थः । तथा वसुनन्दिसिद्धान्तिना गाथात्रयेण दर्शनिकस्य लक्षणमुक्तं च । "पंचुबरसहिदाइं सत्त वि वसणाइ जो विवज्जेइ । सम्मत्तविसुद्धमई सो दंसणसावओ भणिओ ॥ उंबरवडपिंपलपिपरीयसंधाणतरुपसूणाइं । णिच्चं तससंसिद्धाइं ताइं परिवज्जिदव्वाइं ॥ जूवं मज्जं मंसं वेसा पारद्धि चोरपरदारं । दुग्गइगमणस्सेदाणि हेदुभूदाणि पावाणि ॥" इति दर्शनिकश्रावकस्य द्वितीयो धर्मः प्ररूपितः ॥ ३२९ ॥ अथ व्रतिकश्रावकं प्रकाशयति-

पंचाणुव्वय-धारी गुण-वय-सिक्खा-वएहिं[1] संजुत्तो ।
दिढ-चित्तो सम-जुत्तो णाणी वय-सावओ होदि ॥ ३३० ॥

[छाया-पञ्चाणुव्रतधारी गुणव्रतशिक्षाव्रतैः संयुक्तः । दृढचित्तः शमयुक्तः ज्ञानी व्रतश्रावकः भवति ॥] भवति अस्ति । कोऽसौ । व्रतश्रावकः । शृणोति जिनोदितं तत्त्वमिति श्रावकः, व्रतेन नियमेन अहिंसादिलक्षणेनोपलक्षितः श्रावकः व्रतश्रावकः । कथंभूतः । पञ्चाणुव्रतधारी, अणुव्रतानि स्थूलहिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहविरतिलक्षणानि पञ्च च तानि अणुव्रतानि पञ्चाणुव्रतानि धरतीत्येवंशीलः पञ्चाणुव्रतधारी, पञ्चस्थूलअहिंसादिव्रतधारी । पुनः कीदृक् । गुणव्रतशिक्षाव्रतैः संयुक्तः, गुणव्रतैः दिग्व्रत १ देशव्रत २ अनर्थदण्डविरतिव्रतैस्त्रिभिः, शिक्षाव्रतैः सामायिक १ प्रोषधोपवास २ भोगोपभोगवस्तुसंख्या ३ अतिथिसंविभाग ४ व्रतैश्चतुर्भिश्च संयुक्तः सहितः । पुनः कथंभूतः । दृढचित्तः निश्चलमनाः उपसर्गपरीषहादिभिरखण्डितव्रतः । पुनः किंलक्षणः । शमयुक्तः उपशमसाम्यसंवेगादिपरिणामः । पुनः कीदृक् । ज्ञानी आत्मशरीरयोर्भेदविज्ञानसंयुक्तः शुभाशुभपुण्यपापहेयोपादेयज्ञानविज्ञानवान् ॥ ३३० ॥ अथ प्रथमाणुव्रतं गाथाद्वयेनाह-

जो वावरेइ[2] सदओ अप्पाण-समं परं पि मण्णंतो ।
णिंदण-गरहण-जुत्तो परिहरमाणो महारंभे[3] ॥ ३३१ ॥

इस लोक और परलोकमें विषयभोगकी प्राप्तिकी भावनासे व्रतोंका पालन नहीं करना चाहिये, क्यों कि जैन व्रताचरण भोगोंसे निवृत्तिके लिये हैं, भोगोंमें प्रवृत्तिके लिये नहीं । तीसरे, उसका मन संसार के भोगोंसे उदासीन होना चाहिये । मनमें वैराग्य न होते हुए भी जो लोग त्यागी बन जाते हैं वे त्यागी बनकर भी विषयकषायका पोषण करते हुए पाये जाते हैं । इसीसे शास्त्रोंमें शल्यरहितको ही व्रती कहा है । अतः इन तीन बातोंके साथ जो पूर्वोक्त व्रतोंको पालता है वही दर्शनिक श्रावक है । किन्तु जो मनमें राग होते हुए भी किसी लौकिक इच्छासे त्यागी बन जाता है वह व्रती नहीं है । आचार्य वसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्तीने तीन गाथाओंके द्वारा दर्शनिकका लक्षण इस प्रकार कहा है-'जो सम्यग्दृष्टि जीव पांच उदुम्बर फलोंका और सात व्यसनोंका सेवन नहीं करता वह दर्शनिक श्रावक है । १ । गूलर, वड़, पीपल, पिलखन और पाकर ये पांच उदुम्बर फल, अचार तथा वृक्षोंके फूल इन सबमें सदा त्रस जीवोंका वास रहता है, अतः इन्हें छोड़ना चाहिये । २ । जुआ, मद्य, मांस वेश्या, शिकार, चोरी, परस्त्री ये सात पाप दुर्गतिमें गमनके कारण हैं, अतः इन्हें भी छोड़ना चाहिये । ३ । इस प्रकार द्वितीय दर्शनिक श्रावकका स्वरूप बतलाया ॥ ३२९ ॥ अब व्रती श्रावकका स्वरूप बतलाते हैं । **अर्थ**-जो पांच अणुव्रतोंका धारी हो, गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंसे युक्त हो, दृढचित्त समभावी और ज्ञानी हो वह व्रती श्रावक है ॥ **भावार्थ**-जो जिन भगवानके द्वारा कहे हुए तत्त्वोंको सुनता है उसे श्रावक कहते हैं, और जो श्रावक पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंका धारी होता है उसे व्रती श्रावक कहते है [वह उपसर्ग परीषह आदि आनेपर भी व्रतोंसे विचलित नहीं होता तथा साम्यभावी और हेय उपादेयका जानकार होता है] ॥ ३३० ॥ आगे दो गाथाओंसे प्रथम अणुव्रत

१ स वयेहिं । २ ग वावरइ (वावारइ ?) ३ ग महारंभो ।

[छाया-यः व्यापारयति सदयः आत्मसमं परम् अपि मन्यमानः । निन्दनगर्हणयुक्तः परिहरमाणः महारम्भान् ॥] यः श्रावकः सदयः मनोवाक्कायकृतकारितानुमतप्रकारेण द्वीन्द्रियादित्रसजीवरक्षणपरः कृपापरः व्यापृणोति गृहहट्टादिव्यापारं करोति । कीदृक् सन् । परं पि परमपि प्राणिनं जीवम् आत्मना समं स्वात्मना सदृशं परजीवं मन्यमानः श्रद्दधानः जानन् पश्यन्नपि । पुनः कीदृक् । निन्दनगर्हणयुक्तः आत्मना आत्मसाक्षिकं स्वदोषप्रकाशनं निन्दनं गुरुसाक्षिकं दोषप्रकाशनं गर्हणं, निन्दनं स्वगर्हणं च निन्दनगर्हे ताभ्यां निन्दनगर्हाभ्यां युक्तः सहितः । पुनः कथंभूतः । महारम्भान् परिहरमाणः कृषिभूमिविदारणाग्निदाहागालितजलसेकशकटनौवाहनादिवनस्पतिच्छेदनाद्यनेकप्रकारान् महारम्भान् पापव्यापारान् परिहरमाणः त्यजन् परिहरन् निवृत्तिं कुर्वाणः इत्यर्थः ॥ ३३१ ॥

तस-घादं जो ण करदि मण-वय-काएहि णेव कारयदि[१] ।
कुव्वंतं पि ण इच्छदि पढम-वयं जायदे तस्स ॥ ३३२ ॥

[छाया-त्रसघातं यः न करोति मनोवचःकायैः नैव कारयति । कुर्वन्तम् अपि न इच्छति प्रथमव्रतं जायते तस्य ॥] तस्य सम्यग्दृष्टेः श्रावकस्य प्रथमव्रतं हिंसाविरतिव्रतं जायते उत्पद्यते । तस्य कस्य । यः श्रावकः त्रसघातं न करोति त्रसानां द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाणां शंखशुक्तिभूलताजलौकाकृमिकीटकादिकुन्थुदेहिकामत्कुणकीटिकायूकावृश्चिकादिपतङ्गभ्रमरदंशमशकमक्षिकादिपशुमृगमनुष्यादिजीवाना जङ्गमानां घातः तत्र संघातं त्रसहिंसनं प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं न करोति न विदधाति । कैः कृत्वा । मनोवचःकायैः मनसा वचनेन शरीरेण च तैरेव कारयति कुर्वन्तं नैव प्रेरयति । अपि पुनः कुर्वन्तं हिंसादिकर्म कुर्वाणं नैव इच्छति न अनुमनुते अनुमोदनां न करोति मनोवचनकायैः । तथाहि । स्वयमात्मना मनसा कृत्वा त्रसवधं त्रसानां घातं हिंसनं प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं न करोति इत्येको भङ्गः । १ । मनसा परपुरुषं संप्रेर्य त्रसजीवघातं नैव कारयति । मनसि मध्ये एवं चिन्तयति । एनं पुरुषं कथयित्वा त्रसजीवघातं कारयिष्यामि इति चिन्तनं न विदधातीत्यर्थः । इति द्वितीयो भङ्गः । २ । मनसा त्रसघातं कुर्वन्तं पुरुषं नानुमोदयति, त्रसघातं कुर्वन्तं नरं दृष्ट्वा अनुमोदनां हर्षं प्रमोदं न करोतीत्यर्थः । इति तृतीयो भङ्गः । ३ । स्वयं स्वकीयवचनेन कृत्वा त्रसकायिकजीववधं हिंसनं बाधां प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं न करोति । मया हिंसा कृता हिंसां करोमि करिष्यामीति वचनं न वदति । इति चतुर्थो भङ्गः । ४ । वचनेन परजनं प्रेरयित्वा त्रसकायिकानां हिंसां घातं बाधां प्राणव्यपरोपणं न कारयति । इति पञ्चमो भङ्गः । ५ । वचनेन

को कहते हैं । **अर्थ**-जो श्रावक दयापूर्वक व्यापार करता है, अपने ही समान दूसरोंको भी मानता है, अपनी निन्दा और गर्हा करता हुआ महाआरम्भको नहीं करता ॥ **भावार्थ**-जो श्रावक दूसरे जीवोंको भी अपनेही समान मानकर अपना सब काम दयाभावसे करता है जिससे किसीको किसीभी तरहका कष्ट न पहुंचे । यदि उससे कोई गल्ती होजाती है तो स्वयं अपनी निन्दा करता है और अपने गुरु वगैरहसे अपने दोषका निवेदन करते हुए नहीं सकुचाता । तथा जिनमें त्रस हिंसा अधिक होती है ऐसे कामोंको नहीं करता । जैसे भट्टा लगाना, जंगल फुकवाना, तालाव सुखाना, जंगल काटना आदि और उतना ही व्यापार करता है जितना वह स्वयं कर सकता है ॥ ३३१ ॥ **अर्थ**-तथा जो मन वचन और कायसे त्रसजीवोंका घात न स्वयं करता है, न दूसरोंसे कराता है और कोई स्वयं करता हो तो उसे अच्छा नहीं मानता, उस श्रावकके प्रथम अहिंसाणुव्रत होता है ॥ **भावार्थ**-शंख, सीप, केंचुआ जौंक, कीड़े, चींटी, खटमल, जूं, बिच्छू, पतिंगे, भौरा, डांस, मच्छर, मक्खी, पशु, मृग और मनुष्य वगैरह जंगम प्राणियोंकी मनसे, बचनसे, कायसे स्वयं हिंसा न करना, दूसरोंसे हिंसा न कराना और कोई करता हो तो उसको प्रोत्साहित न करना अहिंसाणुव्रत है । मन वचन काय और कृत, कारित अनुमोदनाको मिलानेसे नौ भंग होते हैं जो इस प्रकार हैं-अपने मनमें त्रसजीवोंको मारनेका विचार नहीं करता १ । दूसरे पुरुषके द्वारा त्रसजीवोंका घात करनेका विचार मनमें नहीं लाना, अर्थात् ऐसा नहीं

१ ग कायेहिं णेय करयदि ।

त्रसजीवानां घातं नानुमोदयति । मया हिंसादिकर्मेदं समीचीनं कृतं तथा करोमि करिष्यामीति वचनानुमोदनं वचनेन हर्षोद्भवनं न करोति । इति षष्ठो भङ्गः । ६ । स्वयं स्वात्मना कायेन कृत्वा त्रसकायिकानां जीवानां घातं प्राणव्यपरोपणं न करोति । मया हिंसा कृता हिंसां करोमि करिष्यामीति कायेन इति न करोति । इति सप्तमो भङ्गः । ७ । कायेन परजनं प्रेर्य त्रसकायिकानां प्राणिनां हिंसां पीडां बाधां प्राणव्यपरोपणं त्रसघातं न कारयति । इति अष्टमो भङ्गः । ८ । स्वयं शरीरेण त्रसघातं प्राणव्यपरोपणं नानुमोदयति । तत्कथम् । हिंसाकर्मणि शरीरे सोद्यमबलभवनं यष्टिमुष्टिपादप्रहारादिदर्शनं, हिंसादिकं दृष्ट्वा श्रुत्वा च हर्षं प्राप्य मस्तकादिदोलनं, चौरादिकपीडाकाष्ठभक्षणभृगुपातमल्लयुद्धग्रामादिषु सत्सु उत्साहपूर्वकं लोचनाभ्यामवलोकनं कर्णे तद्वार्ताश्रवणेऽपि उत्साहः चेलादिककायादिचेष्टनं शरीरानुमोदनादिकं न कर्तव्यम् । इति नवमो भङ्गः । ९ । एवं नव भङ्गाः । तथा मनोवाक्काययोगैः कृतकारितानुमतविकल्पैः त्रसजीवानां रक्षानुकम्पा दया कर्तव्या अनृतविरत्याद्यणुव्रतेषु ज्ञातव्याः । तथा गृहादिकार्यं विना वनस्पत्यादिपञ्चस्थावरजीवबाधा न कर्तव्या । तथा अहिंसाव्रतस्य

विचारता कि अमुक पुरुषसे कहकर त्रसजीवोंका घात कराऊंगा २ । किसीको त्रस घात करता हुआ देखकर मनमें ऐसा नहीं विचारता कि यह ठीक कर रहा है ३ । वचनसे स्वयं हिंसा नहीं करता अर्थात् कठोर अप्रिय वचन बोलकर किसीका दिल नहीं दुखाता, न कभी गुस्सेमें आकर यही कहता है कि तेरी जान लूंगा, तुझे काट डालूंगा आदि ४ । वचनसे दूसरोंको हिंसा करनेके लिये प्रेरित नहीं करता कि अमुकको मार डालो ५ । वचनसे त्रस घातकी अनुमोदना नहीं करता कि अमुक मनुष्यने अमुकको अच्छा मारा है ६ । स्वयं हाथ वगैरह से हिंसा नहीं करता ७ । हाथ वगैरहके संकेतसे दूसरोंको हिंसा करनेकी प्रेरणा नहीं करता ८ । और न हाथ वगैरह के संकेतसे किसी हिंसकके कार्यकी सराहना ही करत है अर्थात् लकड़ी, मुष्टी और पैर वगैरहसे प्रहार करनेका संकेत नहीं करना और न हिंसाको देखकर अथवा सुनकर खुशीसे सिर हिलाता है, यदि कोई अपराधीकी भी जान लेता हो, या मल्लयुद्ध होता हो तो उसे उत्साह पूर्वक देखता नहीं रहता और न कानोंसे सुनकर ही प्रसन्न होता है ९ । इसप्रकार नौ विकल्पों से त्रस जीवोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिये । तथा विना आवश्यकताके जमीन खोदना, पानी बहाना, आग जलाना, हवा करना और वनस्पति काटना आदि कार्यभी नहीं करने चाहिये । अर्थात् बिना जरूरतके स्थावर जीवोंको भी पीड़ा नहीं देना चाहिये । यह अहिंसाणुव्रत है । इसके पांच अतिचार (दोष) भी छोड़ने चाहियें । वे अतिचार इस प्रकार हैं–बन्ध, बध, छेद, अतिभारारोपण और अन्नपाननिरोध । प्राणीको रस्सी सांकल वगैरहसे ऐसा बांध देना, जिससे वह यथेच्छ चल फिर न सके यह बन्ध नामका अतिचार है । पालतु जानवारोंको भी जहां तक संभव हो खुला ही रखना चाहिये और यदि बांधना आवश्यक हो तो निर्दयतापूर्वक नहीं बांधना चाहिये । लकड़ी, दण्डे, वेंत वगैरहसे निर्दयतापूर्वक पीटना वध नामक अतिचार है । कान, नाक, अंगुलि, लिंग, आंख वगैरह अवयवोंको छेदना भेदना छेदनामका अतिचार है । किसी अवयवके विषाक्त होजानेपर दयाबुद्धिसे डाक्टरका उसे काट डालना इसमें सम्मिलित नहीं है । लोभमें आकर घोड़े वगैरहपर उचित भारसे अधिक भार लादना या मनुष्योंसे उनकी शक्तिके बाहर काम लेना अतिभारारोपण नामका अतिचार है । गाय, भैंस, बैल, घोड़ा, हाथी, मनुष्य पक्षी वगैरह को भूख प्यास वगैरहकी पीड़ा देना अन्नपाननिरोध नामका अतिचार है । ये और इस प्रकारके अतिचार अहिंसाणुव्रतीको छोड़ने चाहिये । इस व्रतमें यमपाल नामका चाण्डाल प्रसिद्ध हुआ है । उसकी कथा इस प्रकार है–पोदनापुर नगरमें राजा महाबल राज्य करता था । राजाने अष्टाह्निकाकी अष्टमीके दिनसे आठ दिन तक जीववध न करनेकी घोषणा कर रखी थी । राजपुत्र बलकुमार

पञ्चातिचारा वर्जनीयाः। तत्कथमिति चेत्। 'बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः।' निजेष्टदेशगमनप्रतिबन्धकरणं रज्जुशृंखलादिभिः बन्धनं बन्धः। १। यष्टितर्जनवेत्रदण्डादिभिः प्राणिनां ताडनं हननं वधः। २। कर्णकंबलनासिकाङ्गुलिलिङ्गप्रजनचक्षुरादीनाम् अवयवानां विनाशनं छेदः। ३। न्यायाद्भारादधिकभारवाहनं राजदानादिलोभादतिभारारोपणं बहुभारधारणम्। ४। गोमहिषीबलीवर्दवाजिगजमहिषमानवशकुन्तादीनां क्षुधातृषादिपीडोत्पादनम् अन्नपाननिरोधः। ५। प्रथमाणुव्रतधारिणां पञ्चातिचारा वर्जनीयाः। अथ प्रथमव्रते यमपालमातङ्गबलकुमारयोः कथा ज्ञातव्या ॥ ३३२ ॥ अथ द्वितीयव्रतं गाथाद्वयेन व्यनक्ति–

हिंसा-वयणं ण वयदि कक्कस-वयणं पि जो ण भासेदि।
णिट्ठुर-वयणं पि तहा ण भासदे गुज्झ-वयणं पि ॥ ३३३ ॥
हिद-मिद-वयणं भासदि संतोस-करं तु सव्व-जीवाणं।
धम्म-पयासण-वयणं अणुव्वदी होदि[1] सो विदिओ ॥ ३३४ ॥

अत्यन्त मांसप्रेमी था। उसने राजाके उद्यानमें एकान्त देखकर राजाके मेढ़ेको मार डाला और उसे खा गया। मेढ़ेके मारनेका समाचार सुनकर राजा बड़ा क्रुद्ध हुआ और उसने उसके मारनेवालेकी खोज की। उद्यानके मालीने, जो उस समय वृक्षपर चढ़ा हुआ था, मेढ़ेको मारते हुए राजपुत्रको देख लिया था। रात्रिके समय उसने यह बात अपनी स्त्रीसे कही। राजाके गुप्तचरने सुनकर राजाको उसकी सूचना दे दी। सुबह होनेपर माली बुलाया गया। उसने सच सच कह दिया। 'मेरी आज्ञाको मेरा पुत्र ही तोड़ता है' यह जानकर राजा बड़ा रुष्ट हुआ और कोतवालको आज्ञा दी कि राजपुत्रके नौ टुकड़े कर डालो। कोतवाल कुमारको वधस्थान पर ले गया और चाण्डालको बुलानेके लिये आदमी गया। आदमीको आता हुआ देखकर चाण्डालने अपनी स्त्री से कहा–'प्रिये, उससे कह देना कि चाण्डाल दूसरे गांव गया है'। और इतना कह कर घरके कोनेमें छिप गया। कोतवालके आदमीके आवाज देनेपर चाण्डालनीने उससे कह दिया कि वह तो दूसरे गांव गया है। यह सुनकर वह आदमी बोला–'वह बड़ा अभागा है' आज राजपुत्रका वध होगा। उसके मारनेसे उसे बहुतसे वस्त्राभूषण मिलते।' यह सुनकर धनके लोभसे चण्डालनीने हाथके संकेतसे चण्डालको बता दिया, किन्तु मुखसे यही कहती रही कि वह तो गांव गया है। आदमीने घरमें घुसकर चण्डालको पकड़ लिया और वधस्थानपर लेजाकर उससे कुमारको मारनेके लिये कहा। चाण्डालने उत्तर दिया–आज चतुर्दशीके दिन मैं जीवघात नहीं करता। तब कोतवाल उसे राजाके पास लेगया और राजासे कहा–'देव, यह राजकुमारको नहीं मारता। चाण्डाल बोला–'स्वामिन्! मुझे एक वार सांपने डस लिया और मैं मर गया। लोगोंने मुझे स्मशानमें ले जाकर रख दिया। वहां सर्वौषधि ऋद्धिके धारी मुनिके शरीरसे लगकर बहनेवाली वायुसे मैं पुनः जीवित होगया। मैंने उनके पास चतुर्दशीके दिन जीवहिंसा न करनेका व्रत ले लिया। अतः आज मैं राजकुमारको नहीं मारूंगा। देव जो उचित समझें करें। अस्पृश्य चाण्डालके व्रतकी बात सोचकर राजा बहुत रुष्ट हुआ। और उसने दोनोंको बन्धवाकर तालाबमें फिंकवा दिया। प्राण जानेपर भी अहिंसा व्रतको न छोड़नेवाले चाण्डालपर प्रसन्न होकर जलदेवताने उसकी पूजा की। जब राजा महाबलने यह सुना तो देवताके भयसे उसने भी चाण्डालकी पूजा की और उसे अपने सिंहासनपर बैठाकर अस्पृश्यसे स्पृश्य बना दिया ॥ ३३२ ॥ आगे दो

१ म हयदि, ग हविदि, ल हवदि।

[छाया-हिंसावचनं न वदति कर्कशवचनम् अपि यः न भाषते । निष्ठुरवचनम् अपि तथा न भाषते गुह्यवचनम् अपि ॥ हितमितवचनं भाषते संतोषकरं तु सर्वजीवानाम् । धर्मप्रकाशनवचनम् अणुव्रती भवति स द्वितीयः ॥] स द्वितीयः अणुव्रती, अणूनि अल्पानि व्रतानि यस्य स अणुव्रती भवति स्यात् । स कः । यः द्वितीयाणुव्रतधारी न वदति न वक्ति न भाषते । किं तत् । हिंसावचनं हिंसाकरं जीवहिंसाप्रतिपादकं च वचनं वाक्यं न वक्ति । अपि पुनः यः द्वितीयाणुव्रती कर्कशवचनं न भाषते । मूर्खस्त्वं बलीवर्दस्त्वं न किंचिज्जानासीति कर्कशवचनं कर्णकटुकप्रायं न वदति । परेषामुद्वेगजननीं, कुजातिस्त्वम्, मर्म च कटुका मर्मचालिनी त्वम्, अनेकदोषैर्दुष्टः मद्यपायी अभक्ष्यभक्षकस्त्वम् । परुषां भाषां न भाषते, तव मारयामि तव हस्तपादनासिकादिकं छेदयामि, परस्परविरोधकारिणी भाषेत्यादिवचनं निष्ठुरवाक्यं काठिन्यं वाक्यं न भाषते । अपि पुनः गुह्यवचनं न भाषते प्रच्छन्नवचनं स्त्रीपुरुषकृतं गुह्यं च गोप्यं वाक्यं न वक्ति । तर्हि किं भाषते । हितमितवचनं भाषते । हितं हितकारिवचनं स्वर्गमुक्तिसुखप्राप्तिकरं पथ्यप्रायं हितवाक्यं वदति, मितं स्वल्पं मर्यादावचनं भाषते । सर्वजीवानां सर्वेषां प्राणिनां संतोषकरणं प्रमोदोत्पादकं भाषते । तु पुनः, धर्मप्रकाशवचनं धर्मस्य वस्तुस्वरूपस्य उत्तमक्षमादिदशविधधर्मस्य श्रावकधर्मस्य यतिधर्मस्य वा प्रतिपादकं वाक्यं धर्मोपदेशं वदति । तथा चोक्तं च । 'लाभलोभभयद्वेषैर्व्यलीकं वचनं पुनः । सर्वथा तन्न वक्तव्यं द्वितीयं तदणुव्रतम् ॥" "स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे । यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणम् ॥" अनृतवचनोपायचिन्तनमपि प्रमत्तयोगादनृतमुच्यते ।

गाथाओंसे दूसरे अणुव्रतका स्वरूप कहते हैं । **अर्थ**-जो हिंसाका वचन नहीं कहता, कठोर वचन नहीं कहता, निष्ठुर वचन नहीं कहता और न दूसरेकी गुप्त बातको प्रकट करता है । तथा हित मित वचन बोलता है, सब जीवोंको सन्तोषकारक वचन बोलता है, और धर्मका प्रकाश करनेवाला वचन बोलता है, वह दूसरे सत्याणुव्रतका धारी है ॥ **भावार्थ**-जिस वचनसे अन्य जीवोंका घात हो ऐसे वचन सत्याणुव्रती नहीं बोलता । जो वचन दूसरेको कडुआ लगे, जिसके सुनते ही क्रोध आजाये ऐसे कठोर वचन भी नहीं बोलता, जैसे, 'तू मूर्ख है, तू बैल है, कुछ भी नहीं समझता' इस प्रकारके कर्णकटु शब्द नहीं बोलता । जिसको सुनकर दूसरेको उद्वेग हो, जैसे तू कुजात है, शराबी है, कामी है, तुझमें अनेक दोष हैं, मै तुझे मार डालूंगा, तेरे हाथ पैर काट डालूंगा' इस प्रकारके निष्ठुर वचन नहीं बोलता । किन्तु हितकारी वचन बोलता है, और ज्यादा बक बक नहीं करता, ऐसे वचन बोलता है जिससे सब जीवोंको सन्तोष हो तथा धर्मका प्रकाश हो । कहा भी है-'लोभसे, डरसे, द्वेषसे असत्य वचन नहीं बोलना दूसरा अणुव्रत है ।' स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरंड श्रावकाचारमें सत्याणुव्रतका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है-'जो स्थूल झूंठ न तो स्वयं बोलता है और न दूसरोंसे बुलवाता है, तथा सत्य बोलनेसे यदि किसीके जीवनपर संकट आता हो तो ऐसे समयमें सत्यवचन भी नहीं बोलता उसे सत्याणुव्रती कहते हैं' । बात यह है कि मूल व्रत अहिंसा है, शेष चारों व्रत तो उसीकी रक्षाके लिये हैं । अतः यदि सत्य बोलनेसे अहिंसाका घात हो तो ऐसे समय अणुव्रती श्रावक सत्य नहीं बोलता । असत्य बोलनेके उपायोंका विचार करना भी असत्यमें ही सम्मिलित है । इस व्रतके भी पांच अतिचार होते हैं-मिथ्योपदेश, रहोआख्यान, कूट लेख क्रिया, न्यासापहार और साकार मंत्र भेद । मूर्ख लोगोंके सामने स्वर्ग और मोक्षकी कारणरूप क्रियाका वर्णन अन्यथा करना और उन्हें सुमार्गसे कुमार्गमें डाल देना मिथ्योपदेश नामका अतिचार है । दूसरोंकी गुप्त क्रियाको गुप्तरूपसे जानकर दूसरोंपर प्रकट कर देना रहोआख्यान नामका अतिचार है । किसी पुरुषने जो काम नहीं किया, न किसीको करते सुना, द्वेषवश उसे पीड़ा पहुंचानेके लिये ऐसा लिख देना कि इसने ऐसा किया है या कहा है,

तथा पञ्चातिचारा वर्जनीयाः । 'मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः' । अभ्युदयनिःश्रेयसयोरिन्द्राहमिन्द्रतीर्थकरादिसुखस्य परमनिर्वाणपदस्य च निमित्तं या क्रिया सत्यरूपा वर्तते तस्याः क्रियायाः मुग्धलोकस्य अन्यथाकथनम् अन्यथाप्रवर्तनं धनादिनिमित्तं परवञ्चनं च मिथ्योपदेशः । १ । स्त्रीपुरुषाभ्यां रहसि एकान्ते यः क्रियाविशेषोऽनुष्ठितः कृतः उक्तो वा स क्रियाविशेषो गुप्तवृत्त्या गृहीत्वा अन्येषां प्रकाश्यते तद्रहोभ्याख्यानम् । २ । केनचित्पुंसा अकथितम् अश्रुतं किंचित्कार्यं द्वेषवशात्परपीडार्थम् एवमनेनोक्तमेवमनेन कृतम् इति परवञ्चनार्थं यत् लिख्यते राजादौ दर्श्यते सा कूटलेखक्रिया पैशुन्यमित्यर्थः । ३ । केनचित्पुरुषेण निजमन्दिरे किं द्रव्यं न्यासीकृतं निक्षिप्तं तस्य द्रव्यस्य ग्रहणकाले संख्या विस्मृता विस्मरणात् अल्पं द्रव्यं गृह्णाति, न्यासवान् पुमान् अनुज्ञावचनं ददाति । हे देवदत्त यावन्मात्रं द्रव्यं तव वर्तते तावन्मात्रं त्वं गृहाण, किमत्र प्रष्टव्यम् । जानन्नपि परिपूर्णं तस्य न ददाति न्यासापहारः । ४ । कार्यकरणमङ्गविकारं भ्रूक्षेपादिकं परेषां दृष्ट्वा पराभिप्रायमुपलभ्य ज्ञात्वा असूयादिकारणेन तस्य पराभिप्रायस्य अन्येषां प्रकटनं यत् क्रियते स साकारमन्त्रभेदः । ५ । एते द्वितीयाणुव्रतस्य पञ्चातिचाराः वर्जनीयाः । असत्यवचने दृष्टान्तकथाः वसुनृपधनदेवजिनदेवसत्यघोषादीनां ज्ञातव्याः ॥ ३३३-३४ ॥ अथ तृतीयाचौर्यव्रतं गाथाद्वयेनाह-

जो बहु-मुल्लं[1] वत्थुं अप्पय-मुल्लेण णेव गिण्हेदि ।
वीसरियं पि ण गिण्हदि लाहे थोवे[3] वि तूसेदि ॥ ३३५ ॥
जो परदव्वं ण हरदि माया-लोहेण कोह-माणेण ।
दिढ-चित्तो सुद्ध-मई अणुबई[4] सो हवे तिदिओ ॥ ३३६ ॥

[छाया-यः बहुमूल्यं वस्तु अल्पकमूल्येन नैव गृह्णाति । विस्मृतम् अपि न गृह्णाति लाभे स्तोके अपि तुष्यति ॥ यः

कूट लेख क्रिया नामका अतिचार है । किसी पुरुषने किसीके पास कुछ द्रव्य धरोहर रूपसे रखा । लेते समय वह उसकी संख्या भूल गया और जितना द्रव्य रख गया था उससे कम उससे मांगा तो जिसके पास धरोहर रख गया था वह उसे उतना द्रव्य दे देता है जितना वह मांगता है, और जानते हुए भी उससे यह नहीं कहता कि तेरी धरोहर अधिक है, तू कम क्यों मांगता है । यह न्यासापहार नामका अतिचार है । मुखकी आकृति वगैरहसे दूसरोंके मनका अभिप्राय जानकर उसको दूसरोंपर प्रकट कर देना, जिससे उनकी निन्दा हो, यह साकार मंत्रभेद नामका अतिचार है । इस प्रकारके जिन कामोंसे व्रतमें दूषण लगता हो उन्हें नहीं करना चाहिये । सत्याणुव्रतमें धनदेवका नाम प्रसिद्ध है । उसकी कथा इस प्रकार है । पुण्डरीकिणी नगरीमें जिनदेव और धनदेव नामके दो गरीब व्यापारी रहते थे । धनदेव सत्यवादी था । दोनोंने विना किसी तीसरे साक्षीके आपसमें यह तय किया कि व्यापारसे जो लाभ होगा उसमें दोनोंका आधा आधा भाग होगा । और वे व्यापारके लिये विदेश चले गये तथा बहुतसा द्रव्य कमाकर लौट आये । जिनदेवने धनदेवको लाभका आधा भाग न देकर कुछ भाग देना चाहा । इसपर दोनोंमें झगड़ा हुआ और दोनों न्यायालयमें उपस्थित हुए । साक्षी कोई था नहीं, अतः जिनदेवने यही कहा कि मैंने धनदेवको उचित द्रव्य देनेका वादा किया था, आधा भाग देनेका वादा नहीं किया था । धनदेवका कहना था कि आधा भाग देना तय हुआ था । राजाने धनदेवको सब द्रव्य देना चाहा, किन्तु वह बोला कि मैं तो आधेका हकदार हूं, सबका नहीं । इसपरसे उसे सच्चा और जिन देवको झूंठा जानकर राजाने सब द्रव्य धनदेवको ही दिला दिया, तथा उसकी प्रशंसा की ॥ ३३३-३३४ ॥ आगे दो गाथाओंसे तीसरे अचौर्याणुव्रतका स्वरूप कहते हैं ।

१ ब मोल्लं । २ अप्पय इति पाठः पुस्तकान्तरे दृष्टः, ब ल म स ग अप्पमुल्लेण । ३ स ग थूवे । ४ स अणुव्वदी ।

परद्रव्यं न हरति मायालोभेन क्रोधमानेन । दृढचित्तः शुद्धमतिः अणुव्रती स भवेत् तृतीयः ॥] स पुमान् तृतीयः अणुव्रती तृतीयाचौर्यव्रतधारी भवेत् स्यात् । स कः । यः पुमान् नैव गृह्णाति न च आदत्ते । किं तत् । अल्पमूल्येन स्तोकद्रव्येण बहुमूल्यं बहुद्रव्यमूल्यं वस्तु अनर्घ्यं रत्नमणिमाणिक्यमुक्ताफलस्वर्णकर्पूरकस्तूरिकापट्टदुकूलसुवर्णरूप्यनाणकादिवस्तु कूटरत्नमणिमाणिक्यमुक्ताफलपित्तललवणमषिस्थूलवस्त्रकूटसुवर्णरूप्यनाणकादिना तुच्छमूल्येन न गृह्णातीत्यर्थः । विस्मृतमपि वस्तु अपिशब्दात् अविस्मृतं वस्तु केनापि विस्मृतम् अविस्मृतं वस्तु नादत्ते न गृह्णाति । अपिशब्दात् पतितम् अस्वामिकं भूम्यादौ लब्धं वस्तु न च गृह्णाति । हि स्फुटं निश्चयेन वा । स्तोकेऽपि स्वल्पेऽपि लाभे व्यापारसमये स्तोकेन स्वल्पेन लाभेन तुष्यति संतोषं प्राप्नोति । यः संतोषव्रतधारी परद्रव्यं परेषाम् अन्येषां द्रव्यं रत्नसुवर्णमाणिक्यपट्टदुकूलादिवस्त्रम् अदत्तं सत् न हरते न आदत्ते न गृह्णाति न लाति । केन । मायालोभेन मायया कापट्येन धूर्तविद्यया पापण्डप्रपञ्चेन, लोभेन तृष्णया अत्याकांक्षया, क्रोधमानेन कोपं कृत्वा अदत्तं वस्तु न गृह्णातीत्यर्थः, मानेन अहंकारेण अहं सर्वमान्यः वृद्ध इति कृत्वा परद्रव्यमदत्तं न गृह्णातीत्यर्थः । कीदृक्षः । तृतीयाणुव्रतधारी दृढचित्तः स्वव्रते निश्चलमनाः । पुनः कीदृक्षः । शुद्धमतिः स्वातिचारपञ्चकनिवृत्त्या निर्मलमतिः । 'स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः' । कश्चित्पुमान् चोरी करोति, अन्यस्तु कश्चित् तं चोरपुरुषं चोरयन्तं स्वयं प्रेरयति मनसा वाचा कायेन, अन्येन वा केनचित् पुंसा तं चोरपुरुषं चोरयन्तं स्वयं प्रेरयति मनसा वाचा कायेन, अन्येन वा केनचित्पुंसा तं चोरयन्तं प्रेर्यते मनसा वाचा कायेन, स्वयमन्येन वा प्रेर्यमाणं चोरी कुर्वन्तं अनुमन्यते मनसा वाचा कायेन । इति नवप्रकारेण स्तेनप्रयोगः । १ । चोरेण

अर्थ–जो बहुमूल्य वस्तुको अल्प मूल्यमें नहीं लेता, दूसरे की भूली हुई वस्तुको भी नहीं उठाता, थोड़े लाभसे ही सन्तुष्ट रहता है, तथा कपट, लोभ, माया या क्रोधसे पराये द्रव्यका हरण नहीं करता, वह शुद्धमति दृढनिश्चयी श्रावक अचौर्याणुव्रती है ॥ **भावार्थ**–सात व्यसनोंके त्यागसे चोरीके व्यसनका त्याग तो हो ही जाता है । अतः अचौर्याणुव्रती बहुमूल्य मणि मुक्ता स्वर्ण वगैरहको तुच्छ मूल्यमें नहीं खरीदता, यानी जिस वस्तुकी जो कीमत उचित होती है उसी उचित कीमतसे खरीदता है क्योंकि प्रायः चोरीका माल सस्ती कीमतमें बिकता है । अतः अचौर्याणुव्रती होनेसे वह चोरीका माल नहीं खरीद सकता, क्यो कि इससेभी व्रतमें दूषण लगता है । तथा भूली हुई, या गिरी हुई, या जमीनमें गढ़ी हुई पराई वस्तुको भी नहीं लेता । व्यापारमें थोड़ा लाभ होनेसे ही सन्तुष्ट हो जाता है, चोरबाजारी वगैरहके द्वारा अधिक द्रव्य कमानेकी भावना नहीं रखता । कपट धूर्तता वगैरहसे, धनकी तृष्णासे, क्रोधसे अथवा घमण्डमें आकर परद्रव्यको झटकनेका प्रयत्न भी नहीं करता । अपने व्रतमें दृढ़ रहता है और व्रतमें अतिचार नहीं लगाता । इस व्रतके भी पांच अतिचार है–स्तेन प्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्ध राज्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मान, प्रतिरूपक व्यवहार । कोई पुरुष चोरी करता है, दूसरा कोई पुरुष उस चोरको मन वचन कायसे चोरी करनेकी प्रेरणा करता है, या दूसरेसे प्रेरणा कराता है, अथवा प्रेरणा करनेवालेकी अनुमोदना करता है । इस तरह नौ प्रकारसे चोरी करनेकी प्रेरणा करनेको स्तेनप्रयोग कहते हैं । चोरीका माल मोल लेना तदाहृतादान नामका अतिचार है । राजनियमोंके विरुद्ध व्यापार आदि करना विरुद्ध राज्यातिक्रम नामक अतिचार है । तराजुको उन्मान कहते हैं, बांटोको मान कहते हैं । खरीदनेके बांट अधिक और बेचनेके बांट कम रखना हीनाधिक मानोन्मान नामका अतिचार है । जाली सिक्कोंसे लेनदेन करना प्रतिरूपक व्यवहार नामका अतिचार है । ये और इस तरहके अतिचार अचौर्याणुव्रतीको छोड़ देने चाहिये । अचौर्याणुव्रतमें वारिषेणका नाम प्रसिद्ध है उसकी कथा इस प्रकार है । मगधदेशके राजगृह नगरमें राजा श्रेणिक राज्य करता था । उसकी रानी चेलना थी । उन दोनोंके

चोराभ्यां चोरैर्वा यद्वस्तु चोरयित्वा आनीतं तद्वस्तु यत् मूल्यादिना गृह्णाति तत् तदाहृतादानम् । २ । बहुमूल्यानि वस्तूनि अल्पमूल्येन नैव गृहीतव्यानि । अल्पमूल्यानि वस्तूनि बहुमूल्येन नैव दातव्यानि । राज्ञः आज्ञादिकरणं यदविरुद्धं कर्म तत् राज्यमुच्यते । उचितमूल्यात् अनुचितदानम् अनुचितग्रहणं च अतिक्रमः । विरुद्धराज्ये अतिक्रमः यस्मात्कारणात् राज्ञा घोषणा अन्यथा दापिता दानमादानं च अन्यथा करोति स विरुद्धराज्यातिक्रमः । अथवा राजघोषणां विनापि यद्वणिजो व्यापारं कुर्वन्ति । व्यापारं यदि राजा तथैव मन्यते तदा तु न विरुद्धराज्यातिक्रमः । ३ । प्रस्थः चतुःसेरमानं तत्काष्ठादिना घटितं मानमुच्यते । उन्मानं तुलामानं, मानं चोन्मानं च मानोन्मानम्, एताभ्यां हीनाभ्यां ददाति अधिकाभ्यां गृह्णाति हीनाधिकमानोन्मानमुच्यते । ४ । ताम्रेण घटिता रूप्येण च सुवर्णेन च घटितास्ताम्ररूप्याभ्यां च घटिता ये द्रम्माः तत् हिरण्यमुच्यते, तत्सदृशाः केनचित् लोकवञ्चनार्थं घटिता द्रम्माः प्रतिरूपकाः उच्यन्ते, तैः प्रतिरूपकैः असत्यनाणकैः व्यवहारः क्रयविक्रयः प्रतिरूपकव्यवहारः । ५ । एते पञ्चातिचारा अचौर्याणुव्रतधारिणा वर्जनीयाः । अत्र दृष्टान्ताः शिवभूतितापसवारिषेणाद्यो ज्ञातव्याः ॥ ३३५-३३६ ॥ अथ ब्रह्मचर्यव्रतं व्याकरोति गाथाद्वयेन-

असुइ-मयं[1] दुग्गंधं महिला-देहं विरच्चमाणो जो ।
रूवं लावण्णं पि य मण-मोहण-कारणं मुणइ ॥ ३३७ ॥
जो मण्णदि पर-महिलं[2] जणणी-बहिणी-सुआइ-सारिच्छं ।
मण-वयणे काएण[3] वि बंभ-वई सो हवे थूलो[4] ॥ ३३८ ॥

[छाया-अशुचिमयं दुर्गन्धं महिलादेहं विरज्यमानः यः । रूपं लावण्यम् अपि च मनोमोहनकारणं जानाति ॥ यः मन्यते परमहिला जननीभगिनीसुतादिसदृशाम् । मनोवचनाभ्यां कायेन अपि ब्रह्मव्रती स भवेत् स्थूलः ॥] स भव्यात्मा

वारिषेण नामका पुत्र था । वारिषेण बड़ा धर्मात्मा तथा उत्तम श्रावक था । एक दिन चतुर्दशीकी रात्रिमें वह उपवासपूर्वक श्मशानमें कायोत्सर्गसे स्थित था । उसी दिन नगरकी वेश्या मगधसुन्दरी उद्यानोत्सवमें गई थी, वहां उसने सेठानीको एक हार पहने हुए देखा । उसे देखकर उसने सोचा कि इस हारके विना जीवन व्यर्थ है । ऐसा सोचकर वह शय्यापर जा पड़ी । रात्रिमें जब उसका प्रेमी एक चोर आया तो उसने उसे इस तरहसे पड़ी हुई देखकर पूछा-'प्रिये, इस तरहसे क्यों पड़ी हो' ? वेश्या बोली-'यदि सेठानीके गलेका हार लाकर मुझे दोगे तो मै जीवित रहूंगी, अन्यथा मर जाऊंगी । यह सुनते ही चोर हार चुराने गया और अपने कौशलसे हार चुराकर निकला । हारकी चमक देखकर घररक्षकोंने तथा कोतवालने उसका पीछा किया । चोरने पकड़े जानेके भयसे वह हार वारिषेण कुमारके आगे रख दिया और स्वयं छिप गया । कोतवालने वारिषेणके पास हार देखकर उसे ही चोर समझा और राजा श्रेणिकसे जाकर कहा । राजाने उसका मस्तक काट डालनेकी आज्ञा दे दी । चाण्डालने सिर काटनेके लिये जैसे ही तलवारका वार किया वह तलवार वारिषेणके गलेमें फूलमाला बन गई । यह अतिशय सुनकर राजा श्रेणिकभी वहां पहुंचा और कुमारसे क्षमा मांगी । चोरने अभयदान मिलनेपर अपना सब वृत्तान्त कहा । सुनकर राजा वारिषेणसे घर चलनेका आग्रह करने लगा । किन्तु वारिषेणने घर न जाकर जिनदीक्षा ले ली ॥ ३३५-३३६ ॥ अब दो गाथाओंसे ब्रह्मचर्यव्रतका स्वरूप कहते हैं । **अर्थ-**जो स्त्रीके शरीरको अशुचिमय और दुर्गन्धित जानकर उसके रूप लावण्यको भी मनमें मोहको पैदा करनेवाला मानता है । तथा मन वचन और कायसे पराई स्त्रीको माता, बहिन

---

१ ग मुयं । २ ब परिमहिला...सारिच्छा । ३ ल म स ग कायेण । ४ स ग थूओ ।

स्थूलो ब्रह्मव्रती भवेत, स्थूलब्रह्मव्रती चतुर्थब्रह्मचर्याणुव्रतधारी स्यात् । स कः । यः मणवयणे कायेण वि मनसा चित्तेन वचनेन वचसा कायेन शरीरेणापि । अपिशब्दः चकारार्थे । परमहिलां परेषां स्त्रियम् अन्येषां युवतीं स्वकलत्रं विहाय अन्यां तां जानाति । कीदृशीं परमहिलाम् । जननीभगिनीसुतादिसदृशीम् । जननी माता भगिनी स्वसा सुता पुत्री, आदिशब्दात् मातामही पितामही श्वश्रूः इत्यादिसमानां मन्यते । यः चतुर्थव्रतधारी मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतविकल्पैः नवप्रकारैः परस्त्रियं मातृस्वसृपुत्रीमातामहीपितामहीश्वश्र्वादिसदृशीं समानां मन्यते जानाति चिन्तयति । यः चतुर्थाणुव्रतधारी महिलादेहं वनिताशरीरम् अशुचिमयं रुधिरमांसास्थिचर्ममलमूत्रादिनिर्वृत्तं निष्पन्नं भृतम् अपवित्रम् अस्पृश्यं पुनः मन्यते जानाति । पुनः दुर्गन्धं महापूतिगन्धं मलमूत्रप्रस्वेदनाद्युद्भवदुर्गन्धतायुक्तं देहं मन्यते । विरज्यमानः विचारयन् सन् स्त्रीशरीरस्य विचारं कुर्वन् सन्, विरज्यमानो वा विरक्तिं गच्छन् सन् वैराग्यं गतवान् । तथा चोक्तं च । "दुर्गन्धे चर्मगर्ते व्रणमुखशिखरे मूत्ररेतःप्रवाहे मांसासृक्कर्दमार्द्रे कृमिकुलकलिते दुर्गमे दुर्निरीक्षे । विष्ठाद्वारोपकण्ठे गुदविवरगलद्वायुधूमार्तधूपे कामान्धः कामिनीनां कटितटनिकटे गर्दभत्युत्थमोहात् ॥" इति । तासां महिलानां रूपं सौरूप्यं शोभनरूपं लावण्यं

और पुत्रीके समान समझता है, वह श्रावक स्थूल ब्रह्मचर्यका धारी है॥ **भावार्थ**—चतुर्थ ब्रह्मचर्याणुव्रतका धारी श्रावक मनसे, वचनसे और कायसे अपनी पत्नीके सिवाय शेष सब स्त्रियोंको, जो बड़ी हो उसे माताके समान, जो बराबरकी हो उसे बहिनके समान और जो छोटी हो उसे पुत्रीके समान जानता है, तथा रुधिर, मांस, हड्डी, चमड़ा, मल मूत्र वगैरहसे बने हुए स्त्रीशरीरको अस्पृश्य समझता है, और मल मूत्र पसीने वगैरहकी दुर्गन्धसे भरा हुआ विचारता है। इस तरह स्त्रीके शरीरका विचार करके वह कामसे विरक्त होनेका प्रयत्न करता है। कहाभी है–'स्त्रीका अवयव दुर्गन्धसे भरा हुआ है, उससे मूत्र बहता है, मांस और लोहूरूपी कीचड़से सदा गीला बना रहता है, कृमियोंका घर है, देखनेमें घिनावना है, किन्तु कामान्ध मनुष्य उसे देखते ही मोहसे अन्धा बन जाता है।' अतः ब्रह्मचर्याणुव्रती स्त्रियों के रूप, लावण्य, प्रियवचन, प्रिय गमन, कटाक्ष और स्तन आदिको देखकर यही सोचता है कि ये सब मनुष्योंको मूर्ख बनानेके साधन हैं। इस प्रकार ब्रह्मचर्याणुव्रती परस्त्रियोंसे तो सदा विरक्त रहता ही है, किन्तु अष्टमी और चतुर्दशीको अपनी स्त्रीके साथ भी कामभोग नहीं करता। कहा भी है–'जो पर्वके दिनोंमें स्त्रीसेवन नहीं करता तथा सदा अनंगक्रीडा नहीं करता उसे जिनेन्द्र भगवानने स्थूल ब्रह्मचारी कहा है।' आचार्य समन्तभद्रने कहा है। 'जो पापके भयसे न तो परस्त्रीके साथ स्वयं रमण करता है और न दूसरोंसे रमण कराता है उसे परदारनिवृत्ति अथवा स्वदारसन्तोष नामक व्रत कहते हैं'। इस व्रतकेभी पांच अतिचार हैं–अन्य विवाह करण, अनङ्गक्रीडा, विटत्व, विपुल तृषा, इत्वरिका गमन। अपने पुत्र पुत्रियोंके सिवाय दूसरोंके विवाह रचाना अन्य विवाहकरण नामक अतिचार है। कामसेवनके अंगोंको छोड़कर अन्य अंगोंमें क्रीड़ा करना अनंगक्रीडा नामक अतिचार है। अश्लील वचन बोलना विटत्व अतिचार है। कामसेवनकी अत्यन्त लालसा होना विपुल तृषा नामक अतिचार है। दुराचारिणी स्त्री वेश्या वगैरहके अंगोंकी ओर ताकना, उनसे संभाषण वगैरह करना इत्वरिकागमन नामका अतिचार है। ये और इसप्रकारके अन्य अतिचार ब्रह्मचर्याणुव्रतीको छोड़ने चाहिये। इस व्रतमें नीली अत्यन्त प्रसिद्ध है। उसकी कथा इस प्रकार है–लाट देशके भृगुकच्छ नगरमें राजा वसुपाल राज्य करता था। वहां जिनदत्त नामका एक सेठ रहता था। उसकी पत्नीका नाम जिनदत्ता था। उन दोनोंके नीली नामकी एक अत्यन्त रूपवती पुत्री थी। उसी नगरमें समुद्रदत्त नामका एक दूसरा सेठ रहता था। उसकी पत्नीका नाम सागरदत्ता था। उन दोनोंके सागरदत्त नामका पुत्र था।

लवणिमा शरीरस्य सौभाग्यं प्रियवचनं प्रियगमनं कटाक्षस्तनादिदर्शनं च मनोमोहनकारणं मनसः चेतसः मोहस्य व्यामोहस्याज्ञानस्य मौढ्यस्य कारणं हेतुः कुणइ करोति। मुणइ वा पाठे मनुते जानाति। स्त्रीणां रूपं लावण्यं च पुरुषस्य मनोमोहनकारणं करोति विदधातीत्यर्थः। तथा चतुर्थव्रतधारी अष्टम्यां चतुर्दश्यां च स्वस्त्रियः कामक्रीडां सदा सर्वकालं च त्यजति। तदुक्तं च। "पव्वेसु इत्थिसेवा अणंगकीडा सया विवज्जंतो। थूलयडबम्हचारी जिणेहिं भणिदो पवयणम्हि॥" इति। तथा च। "न च परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्। सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसंतोषनामापि॥" इति। तथा च चतुर्थव्रतधारी पञ्चातिचारान् वर्जयति। "अन्यविवाहाकरणानङ्गक्रीडाविटत्वविपुलतृषाः। इत्वरिकागमनं चास्मरस्य पञ्च व्यतीचाराः॥" स्वपुत्रपुत्र्यादीन् वर्जयित्वा अन्येषां गोत्रिणां मित्रस्वजनपरिजनानां विवाहकरणातिचारः। १। अङ्गं योनिलिङ्गं च ताभ्यां योनिलिङ्गाभ्यां विना करकुक्षकुचादिप्रदेशेषु क्रीडनं अनङ्गक्रीडातिचारः। २। विटत्वं भण्डवचनादिकम् अयोग्यवचनम्। ३। विपुलतृषाः कामसेवायां प्रचुरतृष्णा बहुलाकांक्षा। यस्मिन् काले स्त्रियां प्रवृत्तिरुक्ता तस्मिन् काले कामतीव्राभिनिवेशः। व्रतयुक्ताबालातिरश्चीप्रभृतीनां गमनं रागपरिणामं विपुलतृषाः। ४। इत्वरिकागमनं पुंश्चलीवेश्यादासीनां गमनं जघनस्तनवदनादिनिरीक्षणसंभाषणहस्तभ्रूकटाक्षादिसंज्ञाविधानम् इत्येवमादिकं निखिलं रागित्वेन दुश्चेष्टितं गमनमित्युच्यते। ५। एते पञ्चातिचाराः चतुर्थव्रतधारिणा वर्जनीयाः। अत्र दृष्टान्ताः सुदर्शनश्रेष्ठिनीलीचन्दनादयः कोट्टपालकडारपिंगामृतमत्यादयश्च॥ ३३७-३८॥ अथ परिग्रहविरतिपञ्चमाणुव्रतं गाथाद्वयेनाह–

एकबार वसन्तऋतुमें महापूजाके अवसर पर समस्त अलंकारसे भूषित नीलीको कायोत्सर्गसे स्थित देखकर सागरदत्त बोला–क्या यह कोई देवी है? यह सुनकर उसके मित्र प्रियदत्तने कहा–'यह जिनदत्त सेठकी पुत्री नीली है। सागरदत्त उसे देखते ही उसपर आसक्त होगया और उसकी प्राप्तिकी चिंतासे दिन दिन दुर्बल हो चला। जब यह बात समुद्रदत्तने सुनी तो वह बोला–'पुत्र, जैनीके सिवाय दूसरेको जिनदत्त अपनी कन्या नहीं देगा। अतः बाप बेटे कपटी श्रावक बन गये और नीलीको विवाह लाये। उसके बाद पुनः बौद्ध होगये। बेचारी नीलीको अपने पिताके घर जानेकी भी मनाई होगई। नीली श्वसुर गृहमें रहकर जैनधर्मका पालन करती रही। यह देखकर उसके श्वसुरने सोचा कि संसर्गसे और उपदेशसे समय बीतनेपर यह बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेगी। अतः उसने एक दिन नीलीसे कहा–'पुत्रि, हमारे कहनेसे एक दिन बौद्ध साधुओंको आहार दान दो।' उसने उन्हें आमंत्रित किया और उनकी एक एक पादुकाका चूर्ण कराकर भोजनके साथ उन्हें खिला दिया। जब वे साधु भोजन करके जाने लगे तो उन्होने पूछा–हमारी एक एक पादुका कहां गई? नीली बोली–'आप ज्ञानी हैं, क्या इतना भी नहीं जान सकते? यदि नहीं जानते तो वमन करके देखें, आपके उदरसे ही आपकी पादुका निकलेगी।' वमन करते ही पादुकाके टुकड़े निकले, यह देख श्वसुरपक्ष बहुत रुष्ट हुआ। तब सागरदत्तकी बहनने गुस्सेमें आकर नीलीको पर पुरुषसे रमण करनेका झूठा दोष लगाया। इस झूठे अपवादके फैलनेपर नीलीने खानपान छोड़ दिया और प्रतिज्ञा ले ली कि यह अपवाद दूर होनेपर ही भोजन ग्रहण करूंगी। दूसरे दिन नगरके रक्षक देवताने नगरके द्वार कीलित कर दिये और राजाको स्वप्न दिया कि सतीके पैरके छूनेसे ही द्वार खुलेगा। प्रातः होनेपर राजाने सुना कि नगरका द्वार नहीं खुलता। तब उसे रात्रिके स्वप्नका स्मरण हुआ। तुरन्त ही नगरकी स्त्रियोंको आज्ञा दी गई कि वे अपने चरणसे द्वारका स्पर्श करें। किन्तु अनेक स्त्रियोंके वैसा करनेपर भी द्वार नहीं खुला। तब अन्तमें नीलीको ले जाया गया। उसके चरणके स्पर्शसे ही नगरके सब द्वार खुलगये। सबने नीलीको निर्दोष समझकर उसकी पूजा की॥ ३३७–३३८॥

जो लोहं णिहणित्ता संतोस-रसायणेण संतुट्ठो ।
णिहणदि तिण्हा दुट्ठा मण्णंतो[1] विणस्सरं सव्वं ॥ ३३९ ॥
जो परिमाणं[3] कुव्वदि धण-धण्णं[4]-सुवण्ण-खित्तमाईणं ।
उवओगं जाणित्ता अणुव्वदं[5] पंचमं तस्स ॥ ३४० ॥[6]

[छाया-यः लोभं निहत्य संतोषरसायनेन संतुष्टः । निहन्ति तृष्णा दुष्टा मन्यमानः विनश्वरं सर्वम् ॥ यः परिमाणं कुर्वते धनधान्यसुवर्णक्षेत्रादीनाम् । उपयोगं ज्ञात्वा अणुव्रतं पञ्चमं तस्य ॥] यः परिग्रहनिवृत्त्यणुव्रतधारी संतोषरसायनेन संतोषामृतरसेन संतुष्टिर्लोभनिवृत्तिः स चामृतरसेन संतुष्टः सन् संतोषवान् । किं कृत्वा । लोभं तृष्णां निहत्य मुक्त्वा इत्यर्थः । पुनः किं करोति । दुष्टाः तृष्णाः निहन्ति अनिष्टाः पापरूपाः दुष्टाः तृष्णाः परस्त्रीपरधनादिवाञ्छादिरूपाः हिनस्ति स्फेटयति । किं कुर्वन् सन् । मन्यमानः जानन् विचारयन् । किं तत् । सर्वं देहगेहादिसमस्तं विनश्वरं भङ्गुरं विनाशशीलम् ॥ तस्य पुंसः अणुव्रतं पञ्चमं परिग्रहपरिमाणलक्षणं भवति यः पञ्चमाणुव्रतधारी धनधान्यसुवर्णक्षेत्रादीनां परिमाणम् आदिशब्दात् गृहहट्टा-

आगे दो गाथाओंसे पांचवे परिग्रहविरति अणुव्रतका स्वरूप कहते हैं । **अर्थ**-जो लोभ कषायको कम करके, सन्तोषरूप रसायनसे सन्तुष्ट होता हुआ, सबको विनश्वर जानकर दुष्ट तृष्णाका घात करता है । और अपनी आवश्यकताको जानकर धन धान्य सुवर्ण और क्षेत्र वगैरहका परिमाण करता है उसके पांचवां अणुव्रत होता है ॥ **भावार्थ**-परिग्रहत्याग अणुव्रतका धारी सबसे प्रथम तो लोभ कषायको घटाता है, लोभकषायको घटाये विना परिग्रहको त्यागना केवल ढोंग है, क्यों कि परिग्रहका मूल लोभ है । लोभसे असन्तोष बढ़ता है, और असन्तोष बढ़कर तृष्णाका रूप ले लेता है । अतः पहले वह लोभको मारता है । लोभके कम होजानेसे सन्तोष पैदा होता है । बस, सन्तोष रूपी अमृतको पीकर वह यह समझने लगता है कि जितनी भी परिग्रह है सब विनश्वर है, यह सदा ठहरने वाली नहीं है, और इस ज्ञानके होते ही परस्त्री तथा परधनकी वांछारूपी तृष्णा शान्त हो जाती है । तृष्णाके शान्त होजानेपर वह यह विचार करता है कि उसे अपने और अपने कुटुम्बके लिये किस किस परिग्रहकी कितनी कितनी आवश्यकता है । यह विचारकर वह आवश्यक मकान, दुकान, जमीन, जायदाद, गाय, बैल, नोकर चाकर, सोना चांदी आदि परिग्रहकी एक मर्यादा बांध लेता है । कहा भी है-'धन धान्य आदि परिग्रहका परिमाण करके उससे अधिककी इच्छा न करना परिग्रह परिमाण व्रत है । इसका दूसरा नाम इच्छा परिमाण भी है ।' इस व्रतके भी पांच अतिचार छोड़ देने चाहियें-क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम, हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम, धनधान्यप्रमाणातिक्रम, दासीदास-प्रमाणातिक्रम और कुप्यप्रमाणातिक्रम । जिसमें अनाज पैदा होता है उसे क्षेत्र (खेत) कहते हैं । घर, हवेली वगैरहको वास्तु कहते हैं । चांदी ताम्बे वगैरहके बनाये हुए सिक्कोंको, जिनसे देनलेन होता है, हिरण्य कहते हैं । सुवर्ण (सोना) तो प्रसिद्ध ही है । गाय, भैस, हाथी, घोड़ा, ऊंट वगैरहको धन कहते है । धान्य अनाजको कहते हैं । धान्य अट्ठारह प्रकारका होता है-गेहूं, धान, जौं, सरसों, उड़द, मूंग, श्यामाक चावल, कंगनी, तिल, कोंदो, मसूर, चना, कुलथा, अतसी, अरहर, समाई, राजमाप और नाल । दासी दाससे मतलब नौकर नौकरानीसे है । सूती तथा सिल्कके वस्त्र

१ ब णिहिणित्ता । २ ब मुण्णंति विणरसुरं (?) । ३ ब परमाणं । ४ ग धाण्ण । ५ ल म स ग अणुव्वयं । ६ ब इदि अणुव्वदाणि पंचादि ॥ जह इत्यादि ।

अपवरकादिवास्तुद्विपदचतुष्पदशयनासनवस्त्रभाण्डादीनां बाह्यदशसंगानां परिमाणं मर्यादां संख्यां करोति विदधाति । किं कृत्वा । पूर्वं तेषां संगानाम् उपयोगं ज्ञात्वा कार्यकारित्वं परिज्ञाय परिग्रहाणां संख्यां करोति यः स पञ्चमाणुव्रतधारी स्यात्। तथा चोक्तं च। 'धनधान्यादिग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता । परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि॥' इति। तथा पञ्चातिचारान् वर्जयति पञ्चमाणुव्रतधारी । 'क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ।' क्षेत्रं धान्योत्पत्तिस्थानम्, वास्तु गृहहट्टापवरादिकम् । १ । हिरण्यं रूप्यताम्रादिघटितद्रम्मव्यवहारप्रवर्तनम्, सुवर्णं कनकम् । २ । धनं गोमहिषीगजवाजिवडवोष्ट्राजादिकम्, धान्यं व्रीह्यादि अष्टादशभेदसुसस्यम् । उक्तं च । "गोधूम १ शालि २ यव ३ सर्षप ४ माष ५ मुद्गाः, ६ श्यामाक ७ कङ्गु ८ तिल ९ कोद्रव १० राजमाषाः ११ । कीनाश १२ नाल १३ मथ वैणव १४ माढकी च १५, सिंबा १६ कुलत्थ १७ चणकादिसुबीजधान्यम् १८ ॥" ३ । दासी चेटी दासः चेटः । ४ । कुप्यं क्षौमकौशेयककर्पासचन्दनादिकम् । ५ । चत्वारि द्वे द्वे मिलित्वा पञ्चमं केवलं ज्ञातव्यम् । तेषां क्षेत्रादीनां पञ्चानां प्रमाणानि, तेषां प्रमाणानाम् अतिक्रमाः अतिरेकाः अतीवलोभवशात् प्रमाणातिलङ्घनानि । एते पञ्चातिचाराः परिग्रहपरिमाणव्रतस्य वेदितव्याः । अन्यच्च तदुक्तं च । "अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि । परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपाः पञ्च लक्ष्यन्ते ॥" इति । अत्र दृष्टान्तकथाः जयकुमारश्मश्रुनवनीतपिन्नाकश्रेष्ठ्यादीनां ज्ञातव्याः । तथा चोक्तं च । "मातङ्गो धनदेवश्च वारिषेणस्ततः परः । नीली जयश्च संप्राप्ताः पूजातिशयमुत्तमम् ॥ धनश्रीसत्यघोषौ च तापसारक्षकावपि । उपाख्ये॰

वगैरहको कुप्य कहते हैं । इनमेंसे शुरुके दो दो को लेकर चार तथा शेष एक लेनेसे पांच होते हैं । अत्यन्त लोभके आवेशमें आकर इनके प्रमाणको बढ़ा लेनेसे परिग्रह परिमाण व्रतके पांच अतिचार होते हैं । आचार्य समन्तभद्रने रत्नकरंड श्रावकाचारमें परिग्रह परिमाण व्रतके पांच अतिचार दूसरे बतलाये हैं जो इस प्रकार हैं–अतिवाहन, अतिसंग्रह, विस्मय, लोभ और अतिभारवाहन । जितनी दूरतक बैल वगैरह सुखपूर्वक जा सकते हैं, लोभमें आकर उससे भी अधिक दूर तक उन्हें जोतना अतिवाहन है । यह अनाज वगैरह आगे जाकर बहुत लाभ देगा इस लोभमें आकर बहुत अधिक संग्रह करना अतिसंग्रह नामका अतिचार है । प्रभूतलाभके साथ माल बेच देने पर भी यदि उसके खरीदारको और भी अधिक लाभ हो जाये तो खूब खेद करना अतिलोभ नामका अतिचार है । दूसरों की सम्पत्तिको देखकर आश्चर्य करना–आंखें फाड़ देना, विस्मय नामका अतिचार है । लोभमें आकर अधिक भार लाद देना अतिभार वाहन नामका अतिचार है । इस व्रतमें जयकुमार बहुत प्रसिद्ध हुए हैं । उनकी कथा इस प्रकार है–हस्तिनागपुरमें राजा सोमप्रभ राज्य करता था । उसके पुत्रका नाम जयकुमार था । जयकुमार परिग्रह परिमाण व्रतका धारी था, और अपनी पत्नी सुलोचनामें ही अनुरक्त रहता था । एक बार जयकुमार और सुलोचना कैलास पर्वतपर भरतचक्रवर्तीके द्वारा स्थापित चौवीस जिनालयोंकी वन्दना करनेके लिये गये । उधर एक दिन स्वर्गमें सौधर्म इन्द्रने जयकुमारके परिग्रह परिमाण व्रतकी प्रशंसा की । उसे सुनकर रतिप्रभ नामका देव जयकुमारकी परीक्षा लेने आया । उसने स्त्रीका रूप बनाया और अन्य चार स्त्रियोंके साथ जयकुमारके समीप जाकर कहा–सुलोचनाके स्वयम्वरके समय जिसने तुम्हारे साथ संग्राम किया था उस विद्याधरोंके स्वामी नमिकी रानी बहुत सुन्दर और नवयुवती है । वह तुम्हें चाहती है । यदि उसका राज्य और जीवन चाहते हो तो उसे स्वीकार करो । यह सुनकर जयकुमार बोला–'सुन्दरि, मैं परिग्रहपरिमाणका व्रती हूं । परवस्तु मेरे लिये तुच्छ है । अतः मै राज्य और स्त्री स्वीकार नहीं कर सकता' । इसके पश्चात् उस देवने अपनी बात स्वीकार करानेके लिये जयकुमार पर बहुत उपसर्ग किया । किन्तु वह अपने व्रतसे विचलित

यास्तथा श्मश्रुनवनीतो यथाक्रमम् ॥" ३३९-४० ॥ इति स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षायां पञ्चाणुव्रताधिकारः समाप्तः ॥ अथ पञ्चाणुव्रतानि व्याख्याय गुणव्रतानि व्याचक्षाणः प्रथमगुणव्रतं गाथाद्वयेन प्रथयति-

जह लोह-णासणट्ठं संग-पमाणं हवेइ जीवस्स ।
सव्व-दिसाण[1] पमाणं तह लोहं णासए[2] णियमा ॥ ३४१ ॥
जं परिमाणं कीरदि दिसाण सव्वाण सुप्पसिद्धाणं ।
उवओगं जाणित्ता गुणव्वदं जाण तं पढमं ॥ ३४२ ॥

[छाया-यथा लोभनाशनार्थं संगप्रमाणं भवति जीवस्य । सर्वदिशानां प्रमाणं तथा लोभं नाशयति नियमात् ॥ यत् परिमाणं क्रियते दिशानां सर्वासां सुप्रसिद्धानाम् । उपयोगं ज्ञात्वा गुणव्रतं जानीहि तत् प्रथमम् ॥] तत् प्रथमम् आद्यं दिग्व्रताख्यं गुणव्रतं व्रतानां गुणकारकं जानीहि त्वं विद्धि, भो भव्य । तत् किम् । यत्क्रियते विधीयते । किं तत् । सुप्रसिद्धानां जगद्विख्यातानां दशदिशानाम् आशानां पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरदिशानां चतसृणाम् अग्निनैर्ऋत्यवायवीशानविदिशानां चतसृणाम् ऊर्ध्वदिशः अधोदिशश्चेति दशदिशां परिमाणं मर्यादा योजनाद्यैः संख्या, अतः परम् अहं न गच्छामि इति नियमेन मर्यादा क्रियते । अथवा दशसु दिक्षु हिमाचलविन्ध्यपर्वतादिकम् अभिज्ञानपूर्वकं मर्यादां कृत्वा परतो नियमग्रहणं दिग्विरतिव्रतमुच्यते । किं कृत्वा । उपयोगं कार्यकारित्वं ज्ञात्वा परिज्ञाय । जह यथा येनैव प्रकारेण जीवस्यात्मनः लोभनाशनार्थं तृष्णाविनाशाय

नहीं हुआ । तब देवने अपनी मायाको समेटकर जयकुमारकी प्रशंसा की और आदर करके स्वर्गको चला गया । इन पांच अणुव्रतोंसे उल्टे पांच पापोंमें अर्थात् हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील और परिग्रहमें क्रमसे धनश्री, सत्यघोष, तापस, कोतवाल और श्मश्रुनवनीत प्रसिद्ध हुए हैं । इस प्रकार पांच अणुव्रतों का व्याख्यान समाप्त हुआ ॥ ३३९-३४० ॥ पांच अणुव्रतोंका व्याख्यान करके आगे गुणव्रतोंका व्याख्यान करते हैं । प्रथमही दो गाथाओंसे प्रथम गुणव्रतको कहते हैं । **अर्थ**-जैसे लोभका नाश करनेके लिये जीव परिग्रहका परिमाण करता है वैसे ही समस्त दिशाओंका परिमाण भी नियमसे लोभका नाश करता है । अतः अपनी आवश्यकताको समझकर सुप्रसिद्ध सब दिशाओंका जो परिमाण किया जाता है वह पहला गुणव्रत है ॥ **भावार्थ**-पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशाओंमें तथा आग्नेय, नैर्ऋत्य, वायव्य और ईशान नामक विदिशाओंमें और नीचे व ऊपर, इन दस दिशाओंमें हिमाचल, विन्ध्य आदि प्रसिद्ध प्रसिद्ध स्थानोंकी अथवा योजनोंकी मर्यादा बांधकर 'इनसे बाहर मैं नहीं जाऊंगा' ऐसा नियम लेलेनाका नाम दिग्विरति व्रत है । किन्तु दिशाओंकी मर्यादा करते समय यह देख लेना चाहिये कि मुझे कहां तक जाना बहुत आवश्यक है, तथा इतनेमें मेरा काम चल जावेगा । विना आवश्यकताके इतनी लम्बी मर्यादा बांध लेना जो कभी उपयोगमें न आये, अनुचित है । अतः उपयोगको जानकर ही मर्यादा करनी चाहिये । जैसे परिग्रहका परिमाण करनेसे लोभ घटता है वैसे ही दिशाओंकी मर्यादा करलेनेसे भी लोभ घटता है, क्योंकि मर्यादासे बाहरके क्षेत्रमें प्रभूत लाभ होनेपर भी मन उधर नहीं जाता । इसके सिवाय दिग्विरतिव्रत लेनेसे, मर्यादासे बाहर रहनेवाले स्थावर और जंगम प्राणियोंकी सर्वथा हिंसा न करनेके कारण गृहस्थ महाव्रतीके तुल्य होजाता है । आचार्य वसुनन्दिने भी कहा है-'पूरब, उत्तर, दक्षिण और पश्चिम दिशामें योजनका प्रमाण करके उससे बाहर जानेका त्याग करना प्रथम गुणव्रत है ।' आचार्य समन्तभद्रने कहा है-"मृत्युपर्यन्त सूक्ष्मपापकी निवृत्तिके लिये दिशाओंकी मर्यादा करके 'इसके बाहिर मैं नहीं जाऊंगा' इस प्रकारका संकल्प करना दिग्व्रत है ।"

---

१ ल म स ग दिसिसु । २ ब णासये ।

छेदनार्थं संगप्रमाणं परिग्रहप्रमाणं भवेत् जायेत, तह तथा नियमात् निश्चयात् सर्वासु दिक्षु दशसु दिशासु सुप्रमाणं मर्यादा-संख्यां लोभं तृष्णां नाशयेत्। तेन च दिग्विरतिव्रतेन बहिःस्थितस्थावरजङ्गमप्राणिसर्वथाविराधनाभावात् गृहस्थस्यापि महाव्रतमायाति। तस्माद्बहिःक्षेत्रे मुक्तदिग्बाह्यप्रदेशे धनादिलाभे सत्यपि मनोव्यापारनिषेधात् लोभनिषेधश्चागारिणो भवति। तथा वसुनन्दिना चोक्तम्। "पुव्वुत्तरदक्खिणपच्छिमासु काऊण जोयणपमाणं। परदो गमणणियत्ती दिसि विदिसि गुणव्वदं पढमं॥" तथा समन्तभद्रेण "दिग्वलयं परिगणितं कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि। इति संकल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपाप-विनिवृत्त्यै॥" तथातिचाराः पञ्च वर्जनीयाः। ते के इति चेदुच्यते। "ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि।" वृक्षपर्वताद्यारोहणम् ऊर्ध्वव्यतिक्रमः ऊर्ध्वदिशः अतिलंघनम् अतिचारः। १। वापीकूपभूमिगृहाद्यवतरणम् अधोव्यतिक्रमः अधोदिशः अतिलंघनम् अतिचारः। २। सुरङ्गादिप्रवेशस्तिर्यग्व्यतिक्रमः तिर्यग्दिशः अतिलंघनम् अतिचारः। ३। व्यासंगमोहप्रमादादिवशेन लोभावेशात् योजनादिपरिच्छिन्नदिक्संख्याया अधिकांक्षणं क्षेत्रवृद्धिरुच्यते। यथा मान्या-खेटावस्थितेन केनचित् श्रावकेण क्षेत्रपरिमाणं यत् धारापुरीलंघनं मया न कर्तव्यम् इति, पश्चात् उज्जयिन्याम् अनेन भाण्डेन महान् लाभो भवतीति तत्र गमनाकांक्षा गमनं च क्षेत्रवृद्धिः। दक्षिणापथागतस्य धाराया उज्जयिनी पंचविंशति-गव्यूतिभिः किंचिन्न्यूनाधिकाभिः परतो वर्तते। ४। स्मृतेरन्तरं विच्छित्तिः विस्मरणं स्मृत्यन्तरं तस्य आधानं विधानं स्मृतिराधानम् अननुस्मरणं योजनादिकृतावधेर्विस्मरणमित्यर्थः। ५। तथा समन्तभद्रैः प्रोक्तं च। 'ऊर्ध्वाधस्तात् तिर्यग्व्यतिपाताः क्षेत्रवृद्धिरवधीनाम्। विस्मरणं दिग्विरतेरत्याशाः पञ्च मन्यन्ते॥' इति॥ ३४१-३४२॥ अथ द्वितीय-मनर्थविरतिगुणव्रतं गाथाषट्केनाह-

कज्जं किं पि ण साहदि णिच्चं पावं करेदि जो अत्थो।
सो खलु हवदि[1] अणत्थो पंच-पयारो वि सो विविहो॥ ३४३॥

[छाया-कार्यं किम् अपि न साधयति नित्यं पापं करोति यः अर्थः। स खलु भवति अनर्थः पञ्चप्रकारः अपि स विविधः॥] अनर्थदण्डाख्यं व्रतं व्याचक्षाणः अनर्थशब्दस्य अर्थं तद्भेदांश्च निगदति। खलु इति निश्चितम्। असौ अर्थः

इस व्रतकेभी पांच अतिचार छोड़ने चाहियें। वे इस प्रकार हैं-ऊर्ध्व अतिक्रम, अधोऽतिक्रम, तिर्यग्व्य-तिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान। वृक्ष पर्वत वगैरहपर चढ़कर ऊर्ध्व दिशाकी मर्यादाका उलंघन करना ऊर्ध्वातिक्रम अतिचार है। बावड़ी, कुआ, तलघरा वगैरहमें उतरकर अधो दिशाकी मर्यादाका उल्लंघन करना अधोऽतिक्रम अतिचार है। सुरंग वगैरहमें प्रवेश करके तिर्यग्दिशाका उल्लंघन करना तिर्यगतिक्रम अतिचार है। दिशाका यह उल्लंघन प्रमाद, अज्ञान अथवा अन्य तरफ ध्यान होनेसे होता है। यदि जान बूझकर उल्लंघन किया जायेगा तो व्रतभंग हो जायेगा। लोभमें आकर दिशाओंकी मर्यादाको बढ़ालेनेका भाव होना अथवा बढ़ालेना क्षेत्रवृद्धि नामका अतिचार है। जैसे, मान्यखेट नगरके किसी श्रावकने क्षेत्रका परिमाण किया कि मैं धारानगरीसे आगे नहीं जाऊंगा। पीछे उसे मालूम हुआ कि उज्जयनीमें लेजाकर अमुक चीज बेचनेसे महान् लाभ होता है। अतः उज्जयनी जानेकी इच्छा होना और उज्जयनी चले जाना क्षेत्रवृद्धि नामका अतिचार है। क्योंकि मान्यखेट दक्षिणापथमें है, और दक्षिणापथसे आनेवालेके लिये धाराकी अपेक्षा उज्जयनी पचीस कोसके लगभग अधिक दूर है। अतः ऐसा करना सदोष है। की हुई मर्यादाको भूलजाना स्मृत्यन्तराधान नामका अतिचार है। समन्तभद्रस्वामीने भी कहा है-"ऊर्ध्वव्यतिपात, अधोव्यतिपात, तिर्यग्व्यतिपात, क्षेत्रवृद्धि और मर्यादाका भूल जाना, ये पांच दिग्विरति व्रतके अतिचार हैं॥ ३४१-३४२॥ आगे छै गाथाओंसे अनर्थदण्डविरति नामक

[1] ल स ग हवे।

अनर्थः निरर्थकः, न विद्यते अर्थः प्रयोजनं यत्र स अनर्थः अनर्थक्रियाकारी यावत् तथानर्थकं पर्यटनविषयोपसेवनम् । अनर्थदण्डः स कः । यः अर्थः किमपि कार्यम् इष्टानिष्टधनधान्यशत्रुनाशादिकं न साधयति न निर्मापयति, पुनः यः अर्थः शस्त्राग्निविषप्रमुखः नित्यं सदा पापं दुरितं करोति स अनर्थः पञ्चप्रकारः पञ्चभेदः पञ्चविधः । अपि पुनः स पञ्चप्रकारः विविधः विविधप्रकारः अनेकविधः, एकस्मिन्नेकस्मिन्ननर्थदण्डे बहवः अनर्थाः सन्तीत्यभिप्रायः । अनर्थदण्डः पञ्चप्रकारः । अपध्यान १ पापोपदेश २ प्रमादचरित ३ हिंसाप्रदान ४ दुःश्रुति ५ भेदात् ॥ ३४३ ॥ तत्रापध्यानलक्षणं कथ्यते–

पर-दोसाण वि गहणं[1] पर-लच्छीणं समीहणं जं च ।
परइत्थी-अवलोओ[2] पर-कलहालोयणं पढमं ॥ ३४४ ॥

[छाया–परदोषाणाम् अपि ग्रहणं परलक्ष्मीनां समीहनं यत् च । परस्त्र्यवलोकः परकलहालोकनं प्रथमम् ॥] पञ्चप्रकारेष्वनर्थदण्डेषु प्रथमम् अनर्थदण्डं प्रथयते । तं प्रथमम् अपध्यानाख्यम् अनर्थदण्डं जानीहि । तं कम् । यच्च परदोषाणां ग्रहणं परेषाम् अन्येषां पुंसां दोषाः अविनयादिलक्षणाः तेषां ग्रहणम् अङ्गीकारः स्वीकारः परजनानां दोषस्वीकारः, उपलक्षणत्वात् स्वकीयगुणप्रकाशनं च । च पुनः परलक्ष्मीनां परेषां लक्ष्मीनां गजवाजिरथस्वर्णरत्नमणिमाणिक्यवस्त्राभरणादीनां संपदानां समीहनं वाञ्छा ईहाभिलाषः परधनापहरणेच्छा च, परस्त्रीणाम् आलोकः परयुवतीनां जघनस्तनवदनादिकं रागबुद्ध्यावलोकनं तद्वाञ्छा च, परकलहालोकनं परैः अन्यैः कृतः कलहः झकटकः तस्यावलोकनं दर्शनं च वाञ्छा च, परप्राणिनां जयपराजयहननबन्धनकर्णाद्यवयवच्छेदनादिकं कथं भवेदिति मनःपरिणामप्रवर्तनम् अपध्यानं प्रथमं भवति । १ ॥ ३४४ ॥ अथ पापोपदेशाख्यं द्वितीयानर्थदण्डं व्याचष्टे–

दूसरे गुणव्रतको कहते हैं । **अर्थ**–जिससे अपना कुछ प्रयोजन तो साधता नहीं, और केवल पाप ही बंधता है उसे अनर्थ कहते हैं। उसके पांच भेद हैं तथा अनेक भेदभी हैं ॥ **भावार्थ**–अनर्थदण्ड विरति व्रतका स्वरूप बतलाते हुये ग्रंथकारने पहले अनर्थ शब्दका अर्थ और उसके भेद बतलाये हैं । जिससे कुछ अर्थ यानी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता वह अनर्थ है । अर्थात् जो इष्ट धनधान्यकी प्राप्ति या अनिष्ट शत्रु वगैरहका नाश आदि किसीभी कार्यको सिद्ध नहीं करता, बल्कि उल्टे पापका संचय करता है वह अनर्थ है । उसके पांच भेद हैं–अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादाचरित, हिंसाप्रदान और दुश्रुति । इस एक एक अनर्थ दण्डके भी अनेक भेद हैं, क्यों कि एक एक अनर्थमें बहुतसे अनर्थ गर्भित होते हैं ॥ ३४३ ॥ आगे उनमेंसे अपध्यानका लक्षण कहते हैं । **अर्थ**–परके दोषोंको ग्रहण करना, परकी लक्ष्मीको चाहना, पराई स्त्रीको ताकना तथा पराई कलहको देखना प्रथम अनर्थ दण्ड है ॥ **भावार्थ**–पांच अनर्थदण्डोंमेंसे प्रथम अनर्थदण्डका स्वरूप बतलाते हैं । दूसरे मनुष्योंमें जो दुर्गुण हैं उन्हें अपनाना, दूसरेके धनको छीननेके उपाय सोचना, रागभावसे पराई युवतियोंके जघन, स्तन, मुख वगैरहकी ओर घूरना और उनसे मिलनेके उपाय सोचना, कोई लड़ता हो या मेढों की, तीतरोंकी वटेरोंकी लड़ाई होती हो तो उसमें आनन्द लेना, ये सब अपध्यान नामका अनर्थदण्ड है । अपध्यानका मतलब होता है–खोटा विचार करना । अतः अमुककी जय या पराजय कैसे हो, अमुकको किसी तरह फांसी हो जाये, अमुकको जेलखाना होजाये, अमुकके हाथ पैर आदि काट डाले जाये, इस प्रकार मनमें विचारना अपध्यान है । ऐसे व्यर्थके विचारोंसे

---

१ ल म दोसाणं गहणं, (स गहण, ग ग्गहणं)। २ ल म स ग आलोओ ।

जो उवएसो दिज्जदि किसि-पसु-पालण-वणिज्ज-पमुहेसु ।
पुरसित्थी[1]-संजोए अणत्थ-दंडो हवे बिदिओ ॥ ३४५ ॥

[छाया-यः उपदेशः दीयते कृषिपशुपालनवाणिज्यप्रमुखेषु । पुरुषस्त्रीसंयोगे अनर्थदण्डः भवेत् द्वितीयः ॥] स द्वितीयः पापोपदेशनामानर्थदण्डो भवेत् । स कः । यः उपदेशः दीयते । क्व । कृषिपशुपालनवाणिज्यप्रमुखेषु, कृषिः कर्षणं भूमिखेटनं पामरादीनाम् अग्रे कथयति भूमिरेवं कृष्यते, उदकमेवं निःकाश्यते, वनदाह एवं क्रियते, क्षुद्रपादपतृणादयः एवमुत्पाट्यन्ते इत्याद्यारम्भः अनेनोपायेन क्रियते इत्यादिकथनम् आरम्भोपदेशः पापोपदेशः । तथा पशूनां पालनं रक्षणं गोमहिषीतुरगगजोष्ट्राजखरादीनां रक्षणं क्रियते, अनेनोपायेन वृद्धिर्जायते, इत्यादिकथनं पापोपदेशो भवति । वाणिज्ये व्यापारे क्रयविक्रयकरणे उपदेशः, अस्माद्देशात् गोमहिषीबलीवर्दोष्ट्रगजतुरङ्गादीन् यदि अन्यत्र देशे विक्रीणीते तदा महान् धनलाभो भवतीति तिर्यग्वणिज्यानामकः पापोपदेशो भवति । अस्मात् पूर्वादिदेशात् दासीदासान् अल्पमूल्यसुलाभात् गृहीत्वा अन्यस्मिन् गुर्जरादिदेशे तद्विक्रयो यदि क्रियते तदा धनलाभो भवेदिति क्लेशवणिज्या कथ्यते । अथवा वाणिज्यं धनधान्यादिलाक्षामधुशस्त्रसाबुककर्कोटिकादिवस्तुव्यापारः । तानि प्रमुखानि नौचालनशकटादिखेटनादीनि तेषु उपदेशः । तथा शाकुनिकाः पक्षिमारकाः वागुरिकाः मृगवराहादिमारकाः धीवरा मत्स्यमारकाः इत्यादीनां पापकर्मोपजीविनाम् ईदृशीं वार्ता कथयति । अस्मिन् प्रदेशे वनजलाद्युपलक्षिते मृगवराहतित्तिरमत्स्यादयो बहवः सन्ति इति कथनं वधकोपदेशनामानर्थदण्डो भवति । पुरुसित्थीसजोए पुरुषस्त्रीणां नरनारीणां संयोगे विवाहमेलने मैथुनादिसंयोजने उपदेशः इत्यादिपापोपदेशनामा अनर्थदण्डोऽनेकविधो भवति ॥ ३४५ ॥ अथ तृतीयं प्रमादचर्याख्यमनर्थदण्डं दर्शयति–

विहलो जो वावारो पुढवी-तोयाण अग्गि-वाऊणं[2] ।
तह वि वणप्फदि-छेदो[3] अणत्थ-दंडो हवे तिदिओ ॥ ३४६ ॥

[छाया-विफलः यः व्यापारः पृथ्वीतोयानाम् अग्निवायूनाम् । तथा अपि वनस्पतिच्छेदः अनर्थदण्डः भवेत् तृतीयः ॥] स तृतीयः प्रमादचर्याख्यः अनर्थदण्डो भवेत् । स कः । यः पृथिवीतोयानां भूमिजलानां व्यापारः विफलः कार्यं विना

लाभ तो कुछ नहीं होता, उल्टे पापका बन्ध होता है ॥३४४॥ आगे, पापोपदेश नामके दूसरे अनर्थ दण्डको कहते हैं । **अर्थ**–कृषि, पशुपालन, व्यापार वगैरहका तथा स्त्रीपुरुषके समागमका जो उपदेश दिया जाता है वह दूसरा अनर्थदण्ड है ॥ **भावार्थ**–खेतिहरोंके सामने भूमि ऐसी जोसी जाती है, पानी ऐसे निकला जाता है, जंगल इसतरह जलाया जाता है, छोटे छोटे वृक्ष छाल वगैरह ऐसे उखाड़े जाते हैं इस प्रकारके आरम्भका उपदेश देना पापोपदेश है । तथा गाय, भैंस, हाथी, घोडा, ऊंट वगैरह ऐसे पाले जाते हैं, ऐसा करनेसे उनकी वृद्धि होती है, ऐसा कहना पापोपदेश है, अमुक देशसे गाय, भैंस, बैल, ऊंट, हाथी, घोड़ा वगैरहको लेजाकर यदि अमुक देशमें बेचा जाये तो बडा लाभ होता है इस प्रकारका उपदेश देना तिर्यग्वाणिज्य नामका पापोपदेश है । अमुक देशमें दासी दास सस्ते हैं उन्हे वहांसे लेजाकर यदि गुजरात आदिमें बेचा जाये तो बहुत लाभ होता है । यह भी पापोपदेश है । अथवा धन, धान्य, लाख, शहद, शस्त्र, आदि वस्तुओंके व्यापारका उपदेश देना तथा पक्षीमार, शिकारी, धीवर वगैरहसे कहना कि अमुक प्रदेशमें हिरन, सुअर, तीतर या मछलिया बहुत है यह वधकोपदेश नामका अनर्थदण्ड है । स्त्री-पुरुषोंको मैथुन आदिका उपदेश देना भी पापोपदेश है । इस तरह पापोपदेश नामका अनर्थदण्ड अनेक प्रकारका है ॥ ३४५ ॥ आगे तीसरे प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्डको कहते हैं । **अर्थ**–पृथ्वी, जल, अग्नि और पवनके व्यापारमें निष्प्रयोजन प्रवृत्ति करना, तथा निष्प्रयोजन वनस्पतिको काटना तीसरा अनर्थदण्ड है ॥ **भावार्थ**–विना प्रयोजनके

१ स पुरसत्थी । २ ल म स ग अग्गिपवणाणं । ३ ल म स ग छेउ (छेओ?) ।

व्यापारः, प्रयोजनं विना पृथ्व्याः खननं भूमिकुट्टनं पाषाणचूर्णनम् इष्टिकानिष्पादनम्, जलानां व्यापारं कार्यं विना जलनिक्षेपः जलसेचनं जलसारिणीकूपसरउपकूपवापीप्रमुखेषु जलारम्भः। तथाग्निपवनानाम् अग्नीनां व्यापारः अग्नीनां विध्यापनं दवप्रदानम् अन्येषां रन्धनादिनिमित्तमग्निदीपाद्यर्पणम्, वायूनां व्यापारः व्यजनवस्त्रादिना निक्षेपणम्। अपि पुनः, वनस्पतीनां छेदनं तृणवृक्षवल्लीपुष्पफलकन्दमूलशाखापत्रादीनां छेदः विनाशनं निःफलः। इति प्रमादचर्यानर्थदण्डः। ३ ॥ ३४६ ॥ अथ चतुर्थं हिंसादानाख्यमनर्थदण्डं समाचष्टे–

मज्जार-पहुदि-धरणं आउहं[1]-लोहादि-विक्कणं जं च।
लक्खा[2]-खलादि-गहणं अणत्थ-दण्डो हवे तुरिओ ॥ ३४७ ॥

[छाया–मार्जारप्रभृतिधरणम् आयुधलोहादिविक्रयः यः च। लाक्षाखलादिग्रहणम् अनर्थदण्डः भवेत् तुरीयः ॥] स चतुर्थः हिंसादानाख्यः अनर्थदण्डो भवेत्। स कः। यत् मार्जारप्रभृतिधरणं, मार्जारः आखुभुक् प्रभृतिशब्दात् परप्राणिघातहेतूनां मार्जारकुक्कुरकुक्कुटशुकपारापतश्येनसर्पव्याघ्रनकुलादीनां हिंसकजीवानां धरणं रक्षणं पालनं पोषणं च। च पुनः, आयुधलोहादिविक्रयः, आयुधानां खड्गकुन्तच्छुरिकाधनुर्बाणमुद्गरदण्डयष्टितोमरशक्तित्रिशूलपरशुप्रमुखानां शस्त्राणां, लोहानां कुठारदात्रखनित्रशृंखलाशाकखण्डनककचलोहगोलकादीनां च विक्रयः क्रयविक्रयः व्यापारेण ग्रहणं दानं च। लाक्षाखलादिग्रहणं, लाक्षा जतुका खलः पिण्याकः कर्कोटिकोषा वा तयोर्लाक्षाखलयोः आदिशब्दात् अहिफेनवत्सनागविषपाशजालकशाधातुकीपुष्पसौराष्ट्रिकामधुपुष्पशिक्षुफशाकमधुप्रमुखानां ग्रहणम् आदानम् अर्पणं च हिंसादाननामानर्थदण्डश्चतुर्थो भवति ॥ ३४७ ॥ अथ पञ्चमं दुःश्रुत्याख्यमनर्थदण्डं दीपयति–

जं सवणं सत्थाणं भंडण-वसियरण-काम-सत्थाणं।
पर-दोसाणं च तहा अणत्थ-दण्डो हवे चरिमो[3] ॥ ३४८ ॥

[छाया–यत् श्रवणं शास्त्राणां भण्डणवशीकरणकामशास्त्रानाम्। परदोषाणां च तथा अनर्थदण्डः भवेत् चरमः ॥] स चरमः पञ्चमः दुःश्रुत्याख्यः अनर्थदण्डो भवेत्। स कः। यत् शास्त्राणां कुनयप्रतिपादकानां भारतभागवतमार्कण्ड-

पृथ्वी खोदना, भूमि कूटना, पत्थर तोडना, ईंटे बनाना, पानी बिखराना, नल खुला छोड देना, आग जलाना, जंगल जलाना, दूसरोंको आग देना, हवा करना, तृण वृक्ष लता फूल फल पत्ते कन्दमूल टहनी वगैरहको व्यर्थ छेदना भेदना वगैरह प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्ड है। ऐसे कामोंसे वस्तुओंका व्यर्थ दुरुपयोग होता है, और लाभ कुछ नहीं होता। जरूरतसे ज्यादा खाकर बीमार होना, अन्नको खराब करना, झूंठन छोडना आदि भी प्रमादाचरितमें ही संमिलित है ॥ ३४६ ॥ आगे चौथे हिंसादान नामक अनर्थदण्डको कहते हैं। **अर्थ**–बिलाव आदि हिंसक जन्तुओंका पालना, लोहे तथा अस्त्र शस्त्रोंका देना लेना और लाख विष वगैरहका देना लेना चौथा अनर्थदण्ड है ॥ **भावार्थ**–बिल्ली, कुत्ता, मुर्गा, बाज, सांप, व्याघ्र, नेवला आदि जो जन्तु दूसरोंके घातक हैं, उनका पालन पोषण करना, जिनसे दूसरोंका घात किया जा सकता है अथवा दूसरोंको बांधा जा सकता है ऐसे तलवार, भाला, छुरी, धनुषबाण, लाठी, त्रिसूल, फासा आदि अस्त्र शस्त्रोंका तथा फावड़ा, कुल्हाड़ी, सांकल, दराती आरा आदि लोहेके उपकरणोंका देन लेन करना–दूसरों को देना और दूसरोंसे लेना, लाखका व्यापार करना, अफीम, गांजा, चरस, धतूरा, सांखिया, आदि जहरीली और नशीली वस्तुओंको लेना देना, यह हिंसा दान (हिंसाके साधनोंका देन लेन करना) नामका अनर्थदण्ड है ॥ ३४७ ॥ आगे पांचवे दुश्रुति नामक अनर्थदण्डको कहते हैं। **अर्थ**–जिन शास्त्रों या पुस्तकोंमें गन्दे, मजाख,

१ ल स ग आउध। २ ब लक्ख। ३ ब चरमो।

विष्णुपुराणलिङ्गपुराणाथर्वणयजुःसामऋग्वेदस्मृतीनां श्रवणम् आकर्णनम्। च पुनः भण्डक्रियाप्रतिपादकशास्त्रं प्रहसनकुशलवशीकरणशास्त्रं नृपसचिवकोट्टपालप्रमुखनरनारीव्याघ्रगजादिवशीकरणशास्त्रं कुमन्त्रयन्त्रचूर्णौषधिमण्यादिप्रतिपादकशास्त्रं स्तम्भनमोहनशास्त्रं कामशास्त्रं कामोत्पत्तिप्रतिपादकरागशास्त्रं कुक्कोकनामादिशास्त्रं च तेषां भण्डनवशीकरणकामशास्त्राणां श्रवणं व्याख्यानं कथनं च। तथा परदोषाणां परेषां दोषाणाम् अपवादानां श्रवणं कथनं च, राजस्त्रीचौरद्रव्यादिपञ्चविंशतिविकथानां श्रवणं प्रतिपादनं च, तथा रणप्रतिपादकम् इन्द्रजालादिशास्त्रं गृह्यते इति दुःश्रुतिनामानर्थदण्डः पञ्चमः।५ ॥ ३४८ ॥ अथानर्थदण्डव्याख्यामुपसंहरन्नाह–

एवं पंच-पयारं अणत्थ-दण्डं दुहावहं णिच्चं।
जो परिहरेदि[1] णाणी गुणवदी[2] सो हवे बिदिओ ॥ ३४९ ॥

[छाया–एवं पञ्चप्रकारम् अनर्थदण्डं दुःखावहं नित्यम्। यः परिहरति ज्ञानी गुणव्रती स भवेत् द्वितीयः ॥] स पुमान् द्वितीयः अनर्थदण्डपरित्यागी गुणव्रती, पञ्चानामणुव्रतानां गुणस्य कारकत्वादनुवर्धनत्वात् गुणव्रतानि विद्यन्ते यस्य स गुणव्रती, भवेत् स्यात्। कथंभूतः सन्। ज्ञानी आत्मशरीरभेदज्ञानवान्। स कः। यः परिहरति त्यजति। कम्। अनर्थदण्डम्। कियत्प्रकारम्। एवं पूर्वोक्तप्रकारेण अपध्यानपापोपदेशप्रमादचर्याहिंसादानदुःश्रुतिपञ्चप्रकारं पञ्चभेदं परिहरति। कीदृक्षम्। नित्यं सदा निरन्तरं दुःखावहम् अनेकसंसारदुःखोत्पादकम्। तथानर्थदण्डस्य विरतेः पञ्चातिचारान्

वशीकरण, काम भोग वगैरहका वर्णन हो उनका सुनना और परके दोषोंकी चर्चावार्ता सुनना पांचवा अनर्थदण्ड है॥ **भावार्थ**–दुश्रुतिका मतलब है बुरी बातोंका सुनना। अतः जिन शास्त्रोंमें मिथ्या-बातोंकी चर्चा हो, अश्लीलता हो, कामभोगका वर्णन हो, स्त्री-पुरुषोंके नग्न चित्र हों, जिनके सुनने और देखनेसे मनमें विकार पैदा हो, कुरुचि उत्पन्न हो, विषयकषायकी पुष्टि होती हो, ऐसे तंत्रशास्त्र, मंत्रशास्त्र, स्तम्भन शास्त्र, मोहनशास्त्र, कामशास्त्र आदिका सुनना, सुनाना, वांचना वगैरह, तथा राजकथा, स्त्रीकथा, चोरकथा, भोजनकथा आदि खोटी कथाओंको सुनना, सुनाना, दुश्रुति नामक पांचवा अनर्थदण्ड है। आजकल अखबारोंमें तरह तरहकी दवाओंके, कोकशास्त्रोंके, स्त्री पुरुषके नग्न चित्रोंके विज्ञापन निकलते हैं और अनजान युवक उन्हें पढ़कर चरित्रभ्रष्ट होते हैं। सिनेमाओंमें गन्दे गन्दे चित्र दिखलाये जाते और गन्दे गाने सुनाये जाते हैं जिनसे बालक बालिकाएँ और युवक युवतियां पथभ्रष्ट होते जाते हैं। अतः आजीविकाके लिये ऐसे साधनोंको अपनाना भी गृहस्थके योग्य नहीं है। धनसंचयके लिये भी योग्य साधन ही ठीक है। समाजको भ्रष्टकरके पैसा कमाना श्रावकका कर्तव्य नहीं है॥३४८॥ आगे, अनर्थदण्डके कथनका उपसंहार करते हैं। **अर्थ**–इसप्रकार सदा दुःखदायी पांच प्रकारके अनर्थदण्डोंको जो ज्ञानी श्रावक छोड देता है वह दूसरे गुणव्रतका धारी होता है॥ **भावार्थ**–जिनके पालनसे पांचों अणुव्रतोंमें गुणोंकी वृद्धि हो उन्हें गुणव्रत कहते हैं। दिग्विरति अनर्थदण्डविरति आदि गुणव्रतोंके पालनसे अहिंसा आदि व्रत पुष्ट और निर्मल होते हैं, इसीसे इन्हें गुणव्रत कहते हैं। ऊपर जो पांच अनर्थदण्ड बतलाये हैं वे सभी दुःखदायी हैं, व्यर्थ पापसंचयके कारण हैं, बुरी आदतें डालनेमें सहायक हैं। अतः जो ज्ञानी पुरुष उनका त्याग कर देता है। वह दूसरे गुणव्रतका पालन करता है। इस व्रतके भी पांच अतिचार छोड़ने चाहियें। जो इस प्रकार हैं– कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, अतिप्रसाधन और असमीक्षिताधिकरण। रागकी उत्कटताके कारण हास्य

---

१ ल म स ग परिहरेइ। २ ग गुणव्वई, स गुणव्वदं, ब गुणव्वदं होदि।

वर्जयति । तानाह । "कन्दर्पं १ कौत्कुच्यं २ मौखर्यं ३ मतिप्रसाधनं ४ पञ्च । असमीक्षिताधिकरणं ५ व्यतीतयोऽनर्थदण्डकृद्विरतेः ॥" ३४९ ॥ अथ भोगोपभोगपरिमाणाख्यं तृतीयं गुणव्रतं विवृणोति-

जाणित्ता संपत्ती भोयण-तंबोल-वत्थमादीणं[1] ।
जं परिमाणं कीरदि भोउवभोयं वयं तस्स ॥ ३५० ॥

[छाया-ज्ञात्वा संपत्तीः भोजनताम्बूलवस्त्रादीनाम् । यत् परिमाणं क्रियते भोगोपभोगं व्रतं तस्य ॥] तस्य पुंसः भोगोपभोगपरिमाणाख्यं तृतीयं व्रतं भवेत्, यः संपत्तीः गोगजतुरगमहिषीधनधान्यसुवर्णरूप्यादिसंपदाः लक्ष्मीः ज्ञात्वा परिज्ञाय स्ववित्तानुसारेण स्वशक्त्यनुसारेण च यत् भोजनताम्बूलवस्त्रादीनां परिमाणं मर्यादां संख्यां करोति विदधाति । भोजनम् अशनं खाद्यं स्वाद्यं लेह्यं पानम्, ताम्बूलं नागवल्लीदलपूगलवङ्गकर्पूरैलादिकम्, वस्त्रं पट्टकूलादिवस्त्रम्, आदिशब्दात् शयनभाजनवाहनगृहहट्टयुवतिधनधान्यगोमहिषीदासदासीप्रमुखानां परिमाणं मर्यादां संख्यां करोति विदधाति । तस्य भोगोपभोगव्रतं भवेत् । अशनपानचन्दनलेपपुष्पताम्बूलादिकं वस्तु सकृत् एकवारं भुज्यते इति भोगः परिभोगो वा, शय्यासनवस्त्राभरणभाजनभार्यादिकं वस्तु उपभुज्यते पुनः पुनः वारंवारं भुज्यते उपभोगः, तयोर्भोगोपभोगयोर्वस्तुनोः व्रतं नियमः भोगोपभोगव्रतं स्यात् ॥ ३५० ॥ अथ विद्यमानं वस्तु त्यजन् स्तवनार्हः इति स्तौति-

जो परिहरेइ संतं तस्स वयं थुवदे सुरिंदो[3] वि ।
जो मण-लड्डु[4] व भक्खदि तस्स वयं अप्प-सिद्धियरं[5] ॥ ३५१[6] ॥

[छाया-यः परिहरति सन्तं तस्य व्रतं स्तौति सुरेन्द्रः अपि । यः मनोलड्डुकम् इव भक्षयति तस्य व्रतम् अल्पसिद्धिकरम् ॥] यः पुमान् परिहरति त्यजति । कम् । सन्तं विद्यमानम् अर्थं वस्तु धनधान्ययुवतीपुत्रादिकं तस्य पुंसः व्रतं संयमः नियमः स्तूयते प्रशस्यते । कैः । सुरेन्द्रैः देवस्वामिभिः इन्द्रादिकैः । तस्य पुंसः व्रतम् अल्पसिद्धिकरं स्वल्पसंपदा-

---

सहित भण्डवचन बोलना कन्दर्प है। हास्य और भण्डवचनके साथ शरीरसे कुचेष्टा भी करना कौत्कुच्य है। धृष्टताको लिये हुए बहुत बकवाद करना मौखर्य है। आवश्यक उपभोग परिभोगसे अधिक इकट्ठा करलेना अति प्रसाधन है। बिना बिचारे काम करना असमीक्ष्याधिकरण नामका अतिचार है। इस प्रकार ये पांच अतिचार अनर्थदण्डव्रतीको छोड़ने चाहियें ॥३४९॥ आगे भोगोपभोगपरिमाण नामक तीसरे गुणव्रतका वर्णन करते हैं। **अर्थ-**जो अपनी सामर्थ्य जानकर भोजन, ताम्बूल, वस्त्र आदिका परिमाण करता है उसके भोगोपभोगपरिमाण नामका गुणव्रत होता है ॥ **भावार्थ-**जो वस्तु एक बार भोगनेमें आती है उसे भोग कहते हैं। जैसे भोजन पेय, चन्दनका लेप, फूल, पान वगैरह। और जो वस्तु बार बार भोगनेमें आती है उसे उपभोग कहते हैं। जैसे शय्या, बैठनेका आसन, वस्त्र, आभरण, बरतन स्त्री वगैरह। अपनी शारीरिक और आर्थिक शक्तिको देखकर भोग और उपभोगका जन्म पर्यन्तके लिये अथवा कुछ समयके लिये नियम कर लेना कि मैं अमुक अमुक वस्तु इतने परिमाणमें इतने समय तक भोगूंगा, यह भोगोपभोगपरिमाण नामका तीसरा गुणव्रत है ॥ ३५० ॥ आगे, भोगोपभोगपरिमाण व्रतीकी प्रशंसा करते है। **अर्थ-**जो पुरुष विद्यमान वस्तुओंको भी छोड़ देता है उसके व्रतकी सुरेन्द्र भी प्रशंसा करते हैं। और जो मनके लड्डु खाता है उसका व्रत अल्प सिद्धिकारक होता है ॥ **भावार्थ-**जो घरमें भोगोपभोगकी विपुल सामग्री होते हुए भी उसका व्रत लेता है, उसका व्रत अत्यन्त प्रशंसनीय है। किन्तु

---

१ **ल स ग** वत्थमाईणं। २ **ब** भोउवभोउं (यं?) तं तिदिओ (**म** तदियं)। ३ **ल म स ग** सुरिंदेहिं। ४ **क** मणुलड्डु, **म स** मणलड्डुव, **ग** मणलट्टु। ५ **स** सिद्धिकरं। ६ **ब** गुणव्रतनिरूपणं सामाइयस्स इत्यादि।

निष्पादकम्। यः पुमान् अविद्यमानं च बुभुक्षति खादति व्रतयति च तस्य स्वल्पसिद्धिकरं व्रतं स्यात्। किंवत्। मनोमोदकवत्, यथा मनोमोदकः बुभुक्षाक्षुधादिवारणं न करोति तथा अविद्यमानवस्तुनि त्यागे श्रेयो न भवति। अथवा मनोमोदकभक्षणप्रायम् अविद्यमानं वस्तु व्रतयति। तथा भोगोपभोगातिचारान् त्यजति। तान् कान्। 'सचित्त १ संबन्ध २ सन्मिश्रा-३ भिषव ४ दुःपक्काहाराः ५।' जलकणादिसचित्तवस्त्वाहारः १, सचित्तसंबद्धमात्रेण दूषित आहारः संबन्धाहारः २, सचित्तेन संमिलितः सचित्तद्रव्यसूक्ष्मप्राण्यतिमिश्रोऽशक्यभेदकरणः आहारः सन्मिश्राहारः ३, अभिषवस्य रात्रिचतुःप्रहरैः क्लिन्न ओदनो द्रवः इन्द्रियबलवर्धनो मापादिविकारादिः वृष्यः द्रववृष्यस्याहारः अभिषवाहारः ४, अर्धपक्वः चीक्कणतया दुष्टः पक्वः दग्धपक्वः दुःपक्वः तस्य आहारः दुःपक्काहारः ५। वृष्यदुःपक्वयोः सेवने सति इन्द्रियमदवृद्धिः। सचित्तोपयोगः वातादिप्रकोपोदरपीडादिप्रतीकारे अग्न्यादिप्रज्वालने महान् असंयमः स्यादिति तत्परिहार एव श्रेयान्॥ ३५१॥ इति स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाव्याख्याने गुणव्रतत्रयव्याख्यानं समाप्तम्॥ अथ शिक्षाव्रतानि व्याचक्षाणः सामायिकसामग्रीं प्रतिपादयति–

जो मनुष्य अपने पासमें अविद्यमान वस्तुका व्रत लेता है, उसका व्रत मनके लड्डुओंकी तरह है। अर्थात् जैसें मनमें लड्डुओंकी कल्पना करलेनेसे भूख नहीं बुझती, वैसेही अनहोती वस्तुके त्यागसे कल्याण नहीं होता। परन्तु अनहोती वस्तुका नियम भी व्रत तो है ही, इसलिये उसका थोड़ासा फल तो होना ही है। जैसे एक भीलने मुनिराजके कहनेसे कौएका मांस छोड़ दिया था। उसने तो यह जानकर छोड़ा था कि कौएके मांसको खानेका कोई प्रसंग ही नहीं आता। किन्तु एक बार वह बीमार हुआ और वैद्यने उसे कौएका मांस ही खानेको बतलाया। परन्तु व्रतका ध्यान करके उसने नहीं खाया और मर गया। इस दृढ़ताके कारण उसका जीवन सुधर गया। अतः अनहोती वस्तुका त्याग भी समय आनेपर अपना काम करता ही है, किन्तु विद्यमान वस्तुका त्याग ही प्रशंसनीय है। अस्तु, भोगोपभोग परिमाण व्रतकेभी पांच अतिचार छोड़ने योग्य हैं–सचित्त आहार, सचित्त सम्बन्धाहार, सचित्त सम्मिश्राहार, अभिषवाहार और दुष्पक्वाहार। अर्थात् सचित्त (सजीव) वस्तुको खाना, सचित्तसे सम्बन्धित वस्तुको खाना, सचित्तसे मिली हुई, जिसे अलग करसकना शक्य न हो, वस्तुको खाना, इन्द्रिय बलकारक पौष्टिक वस्तुओको खाना, और जली हुई अथवा अधपकी वस्तुको खाना। इसप्रकारका आहार करनेसे इन्द्रियोंमें मदकी वृद्धि होती है, तथा वायुका प्रकोप, उदरमें पीडा आदि रोग हो सकते हैं। उनके होनेसे उनकी चिकित्सा करनेमें असंयम होना अनिवार्य है। अतः भोगोपभोग परिमाण व्रतीको ऐसे आहारसे बचना ही हितकर है। इस प्रकार गुणव्रतोंका वर्णन समाप्त हुआ। यहां एक बात विशेष वक्तव्य है। यहां भोगोपभोग परिमाण व्रतको गुणव्रतोंमें और देशावकाशिक व्रतको शिक्षाव्रतोंमें गिनाया है, ऐसा ही आचार्य समन्तभद्रने रत्नकरंड श्रावकाचारमें कहा है। किन्तु तत्त्वार्थसूत्रमें देशावकाशिक व्रतको गुणव्रतोंमें गिनाया है और भोगोपभोग परिमाण व्रतको शिक्षाव्रतोंमें गिनाया है। यह आचार्योंकी विवक्षाका वैचित्र्य है। इसीसे गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंके इस अन्तरको लेकर दो प्रकारकी परम्परायें प्रचलित हैं। एक परम्पराके पुरस्कर्ता तत्त्वार्थसूत्रकार हैं और दूसरीके समन्तभद्राचार्य। किन्तु दोनोंमें कोई सैद्धान्तिक मतभेद नहीं है, केवल दृष्टिभेद है। जिससे अणुव्रतोंका उपकार हो वह गुणव्रत है, और जिससे मुनिव्रतकी शिक्षा मिले वह शिक्षाव्रत है। इस ग्रन्थमें भोगोपभोग परिमाण व्रतको अणुव्रतोंका उपकारी समझकर गुणव्रतोंमें गिनाया है। और तत्त्वार्थसूत्रमें उससे मुनिव्रतकी शिक्षा मिलती है, इसलिये शिक्षाव्रतोंमें गिनाया है, क्योंकि भोगोपभोगपरिमाण व्रतमें

सामाइयस्स करणे खेत्तं[1] कालं च आसणं विलओ[2] ।
मण-वयण-काय-सुद्धी णायव्वा हुंति सत्तेव ॥ ३५२ ॥

[छाया-सामायिकस्य करणे क्षेत्रं कालं च आसनं विलयः । मनवचनकायशुद्धिः ज्ञातव्या भवन्ति सप्तैव ॥] समये आत्मनि भवं सामायिकम् । अथवा सम्यक् एकत्वेन अयनं गमनं समयः, स्वविषयेभ्यो विनिवृत्त्य कायवाङ्मनःकर्मणामात्मना सह वर्तनात् । द्रव्यार्थेन आत्मन एकत्वगमनमित्यर्थः । समये एव सामायिकं समयः प्रयोजनमस्येति वा सामायिकम् । अथवा संशब्दः एकत्वे एकीभावे वर्तते, अयनम् अयः सम् एकत्वेन एकीभावेन गमनं परिणमनं समयः । समय एव सामायिकं वा, समयः प्रयोजनमस्येति सामायिकम् । देववन्दनायां निःसंक्लेशं सर्वप्राणिसमताचिन्तनं सामायिकमित्यर्थः । सामायिकस्य करणे कर्तव्ये सति सप्तैव सामग्र्यो ज्ञातव्या ज्ञेया भवन्ति । ताः काः । क्षेत्रं प्रदेशलक्षणा १, कालं पूर्वाह्णमध्याह्नापराह्णकाललक्षणा २, आसनं पद्मासनादिलक्षणा ३, विलयः ध्यानं तन्मयतालक्षणा ४, मनोवचनकायशुद्ध्या आर्तरौद्रध्यानरहिता धर्मध्यानसहिता मनसः शुद्धिः निर्मलतालक्षणा ५, अन्तर्बाह्यजल्पनरहिता वचनस्य शुद्धिः निर्मलता ६, कायस्य शरीरस्य शुद्धिः निर्मलता ७ ॥ ३५२ ॥ अथ ता गाथापञ्चकेन प्रतिपादयति-

जत्थ ण कलयल-सद्दो[3] बहु-जण-संघट्टणं ण जत्थत्थि ।
जत्थ ण दंसादीया एस पसत्थो हवे देसो ॥ ३५३ ॥

[छाया-यत्र न कलकलशब्दः बहुजनसंघट्टनं न यत्रास्ति । यत्र न दंशादिकाः एष प्रशस्तः भवेत् देशः ॥] सामायिकस्य करणे सति एष प्रत्यक्षीभूतः देशः प्रदेशः स्थानकं क्षेत्रम् । एष कः । यत्र प्रदेशे कलकलशब्दः नास्ति, जनानां वाद्यानां पश्वादीनां च कोलाहलशब्दो न विद्यते । च पुनः, यत्र प्रदेशे बहुजनसंघट्टनं बहुजनानां संघट्टनं संघातः परस्परमिलनं वा नास्ति, यत्र स्थाने दंशादिकाः दंशमशकवृश्चिककीटकमत्कुणचञ्चुपुटसर्पव्याघ्रविटपुरुषस्त्रीनपुंसकपशुमांसरक्तपूयचर्मास्थिमलमूत्रमृतककलेवरादयो न विद्यन्ते स एव प्रदेशः सामायिककरणस्थानं प्रशस्यम् ॥ ३५३ ॥

अतिचार रूपसे सचित्त आदि भक्षणका त्याग करना होता है ॥ ३५१ ॥ आगे शिक्षाव्रतका व्याख्यान करते हुए सामायिक व्रतकी सामग्री बतलाते हैं । **अर्थ**—सामायिक करनेके लिये क्षेत्र, काल, आसन, विलय, मनःशुद्धि, वचनशुद्धि और कायशुद्धि, ये सात बातें जानने योग्य हैं ॥ **भावार्थ**—समय नाम आत्माका है । आत्मामें जो होती है उसे सामायिक कहते हैं । अथवा भलेप्रकार एक रूपसे गमन करनेको समय कहते हैं । अर्थात् काय वचन और मनके व्यापारसे निवृत्त होकर आत्माका एक रूपसे गमन करना समय है, और समयको ही यानी आत्माकी एक रूपताको सामायिक कहते है, अथवा आत्माको एक रूप करना ही जिसका प्रयोजन है वह सामायिक है । अथवा देववन्दना करते समय संक्लेश रहित चित्तसे सब प्राणियोंमें समताभाव रखना सामायिक है । सामायिक करनेके लिये सात बातें जान लेना जरूरी हैं । एक तो जहां सामायिक की जाये वह स्थान कैसा होना चाहिये । दूसरे सामायिक किस किस समय करनी चाहिये । तीसरे कैसे बैठना चाहिये । चौथे सामायिकमें तन्मय कैसे हुआ जाता है, पांचवे मनकी निर्मलता, वचनकी निर्मलता और शरीरकी निर्मलता को भी समझ लेना जरूरी है ॥ ३५२ ॥ आगे पांच गाथाओंसे उक्त सामग्रीको बताते हुए प्रथम ही क्षेत्रको कहते है । **अर्थ**—जहां कलकल शब्द न हो, बहुत लोगोंकी भीड़भाड़ न हो और डांस मच्छर वगैरह न हों वह क्षेत्र सामायिक करनेके योग्य है ॥ **भावार्थ**—जहां मनुष्योंका, बाजोंका और पशुओंका कोलाहल न हो, तथा शरीरको कष्ट देनेवाले डांस, मच्छर, विच्छु, सांप, खटमल, शेर, आदि जन्तु न हों, सारांश यह कि चित्तको क्षोभ पैदा करनेके कारण जहां न हों वहां सामायिक करनी चाहिये ॥३५३॥

---

१ ब खित्तं । २ म विनउ । ३ छ म स ग सद्दं ।

पुव्वण्हे मज्झण्हे अवरण्हे तिहि[1] वि णालिया-छक्को ।
सामाइयस्स कालो सविणय-णिस्सेस-णिद्दिट्ठो ॥ ३५४ ॥

[छाया-पूर्वाह्णे मध्याह्ने अपराह्णे त्रिषु अपि नालिकाषट्कम् । सामायिकस्य कालः सविनयनिःस्वेशनिर्दिष्टः ॥] सामायिकस्य सं सम्यक् आत्मनि अयति एकत्वम् एकीभावं गच्छति समय एव सामायिकः तस्य सामायिकस्य कालः । कथंभूतः कालः । स्वेभ्यः धनेभ्यः निष्क्रान्ताः निःस्वाः निर्ग्रन्थास्तेषामीशाः स्वामिनः गणधरदेवादयः सविनयेन दर्शन-ज्ञानचारित्रोपचारलक्षणेन सहिताः सविनयाः ते च ते निःस्वेशाश्च तैर्निर्दिष्टः कथितः विनयसंयुक्तगणधरदेवादिभिः कथितः कालः । स कियन्मात्रः कालः । पूर्वाह्णे पूर्वाह्णकाले सूर्योदयात् प्राक् रात्रेः घटिकात्रयम् एवं रात्रिपाश्चात्य-घटिकात्रयं सूर्योदयादारभ्य च घटिकात्रयं पूर्वाह्णिकस्य सामायिकस्य योग्यकालः षट्घटिकाप्रमाणम् इत्यर्थः । मध्याह्ने मध्यदिवसे दिवसस्य मध्ये द्वितीयप्रहरस्य पाश्चात्यनाडीत्रयं तृतीयप्रहरस्य चाद्यनाडीत्रयं मध्याह्नसमयस्य योग्यकालः षड्घटिकावधिः । अपराह्णे संध्यायां चतुर्थप्रहरस्य पाश्चात्यघटीत्रयं रात्रिप्रथमप्रहरस्य घटीत्रयं चेति अपराह्णसामायिकस्य योग्यकालः घटिकाषट्कम् । तिहि वि त्रिविधं प्रत्येकं षट् षट् घटिकाकालः, अथवा त्रिष्वपि पूर्वाह्णमध्याह्नापराह्णकालेष्वपि नाडिकाषट्कं प्रत्येकं घटिकाद्वयं स्यात् । केचित् घटीचतुष्टयमित्याहुः । एवं प्रतिक्रमणादौ कालः ज्ञातव्यः । तथा चोक्तं च । "योग्यकालासनस्थानमुद्रावर्तशिरोनतिः । विनयेन यथाजातः कृतिकर्मामलं भजेत् ॥" इति योग्यकालः कथितः । तथा योग्यमासनम् उद्भासनं पर्यङ्कासनं चेति । अथवा दण्डकस्यादौ अन्ते चोपवेशनं योग्यासनम् । योग्यं स्थानं प्रदेशः स्त्रीपशुनपुंसकरहितमेकान्तस्थानम् । चित्तस्याक्षेपस्यानुत्पादकं वनं वेश्म वा स्थानं देवालयादिकं वा योग्यस्थानम् । योग्या मुद्रा नमस्कारमुद्रा । योग्यावर्ता भक्ति भक्ति प्रति द्वादशावर्ता भवन्ति । योग्याः शिरोनतयश्चत्वारः भवन्तीति ॥ ३५४ ॥

बंधित्ता पज्जंकं अहवा उड्ढेण उब्भओ ठिच्चा[2] ।
काल-पमाणं किच्चा इंदिय-वावार-वज्जिदो होउं[3] ॥ ३५५ ॥

आगे सामायिकका काल बतलाते है । **अर्थ**–विनय संयुक्त गणधर देव आदिने पूर्वाह्ण, मध्याह्न और अपराह्ण इन तीन कालोंमें छै छै घड़ी सामायिकका काल कहा है ॥ **भावार्थ**–सूर्योदय होनेसे पहले तीन घड़ी और सूर्योदयसे लेकर तीन घड़ी इसतरह छै घड़ी तक तो प्रभात समयमें सामायिक करनी चाहिये । मध्याह्न अर्थात् दिनके मध्यमें दूसरे पहरकी अन्तिमतीन घड़ी और तीसरे पहरकी शुरूकी तीन घड़ी इस तरह छै घड़ी सामायिकका काल है । अपराह्ण अर्थात् सन्ध्याके समय दिनके चतुर्थ पहरकी अन्तिम तीन घड़ी और रातके पहले पहरकी शुरूकी तीन घड़ी इस तरह छै घड़ी सामायिकका काल है । अर्थात् सामायिक प्रतिदिन तीनवार करनी चाहिये और प्रत्येक वार छै छै घड़ी करनी चाहिये । किन्तु यह उत्कृष्ट काल है इसलिये ऐसाभी अर्थ किया जा सकता है कि तीनों कालोंमें छै घड़ीतक सामायिकका काल है । अर्थात् प्रत्येक समय दो दो घड़ीतक सामायिक करनी चाहिये । किन्हींके मतसे चार घड़ी है । इसी प्रकार प्रतिक्रमण वगैरहके लियेभी कालका जानना जरूरी है । कहा भी है–'योग्य काल, योग्य आसन, योग्य स्थान, योग्य मुद्रा, योग्य आवर्त, योग्य नमस्कार आदिको जान-कर विनयपूर्वक निर्दोष कृतिकर्म करना चाहिये ।' इसमेंसे योग्य स्थान और योग्य काल बतला दिया ॥ ३५४ ॥ आगे सामायिककी शेष सामग्रीको बतलाते हैं । **अर्थ**–पर्यंक आसनको बांधकर अथवा सीधा खड़ा होकर, कालका प्रमाण करके, इन्द्रियोंके व्यापारको छोड़नेके लिये जिनवचनमें मनको एकाग्र करके, कायको संकोचकर, हाथकी अंजलि करके, अपने स्वरूपमें लीन हुआ अथवा

१ ब तिहि छक्के (?) । २ छ ग उभउ ठिचा, म उभउ ट्ठिचा, स उढेण ऊभवो । ३ छ होउ ।

जिण-वयणेयग्ग-मणो संवुडे-काओ य अंजलिं किच्चा[1]।
स-सरूवे संलीणो वंदण-अत्थं विचिंतंतो ॥ ३५६ ॥
किच्चा देस-पमाणं सव्वं-सावज्ज-वज्जिदो होउं[3]।
जो कुव्वदि सामइयं सो मुणि-सरिसो हवे[4] ताव ॥ ३५७ ॥[5]

वन्दनापाठके अर्थका चिन्तन करता हुआ, क्षेत्रका प्रमाण करके और समस्त सावद्य योगको छोडकर जो श्रावक सामायिक करता है वह मुनिके समान है ॥ **भावार्थ**–सामायिक करनेसे पहले प्रथम तो समस्त सावद्यका यानी पापपूर्ण व्यापारका त्याग करना चाहिये। फिर किसी एकान्त चैत्यालयमें, बनमें, पर्वतकी गुफामें, खाली मकानमें अथवा स्मशानमें जहां मनमें क्षोभ उत्पन्न करनेके कारण न हों, जाकर क्षेत्रकी मर्यादा करे कि मैं इतने क्षेत्रमें ठहरूंगा। इसके बाद या तो पर्यङ्कासन लगाये अर्थात् बाँए पैर पर दाहिना पैर रखकर बैठे या कायोत्सर्गसे खड़ा हो जाये, और कालकी मर्यादा करले कि मैं एक घड़ी, या एक मुहूर्त, या एक पहर अथवा एक दिन रात तक पर्यङ्कासनसे बैठकर अथवा कायोत्सर्गसे खड़ा होकर सर्व सावद्य योगका त्याग करता हूं। इसके बाद इन्द्रियव्यापारको रोक दे अर्थात् स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियां अपने अपने विषय स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्दमें प्रवृत्ति न करें। और जिनदेवके द्वारा कहे हुए जीवादितत्त्वोंमेंसे किसी एक तत्त्वके स्वरूपका चिन्तन करते हुए मनको एकाग्र करे। अपने अङ्गोपाङ्गको निश्चल रखे। फिर दोनों हाथोंको मिला मोती भरी सीपके आकारकी तरह अंजुलि बनाकर अपने शुद्ध बुद्ध चिदानन्द स्वरूपमें लीन होकर अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु, जिनवाणी जिनप्रतिमा और जिनालयकी वन्दना करनेके लिये दो शिरोनति, बारह आवर्त, चार प्रणाम और त्रिशुद्धिको करे। अर्थात् सामायिक करनेसे पूर्व देववन्दना करते हुए चारों दिशाओंमें एक एक कायोत्सर्ग करते समय तीन तीन आवर्त और एक एक बार प्रणाम किया जाता है, अतः चार प्रणाम और बारह आवर्त होते हैं। देववन्दना करते हुए प्रारम्भ और समाप्तिमें जमीनमें मस्तक टेककर प्रणाम किया जाता है अतः दो शिरोनति होती हैं। और मन वचन और काय समस्त सावद्य व्यापारसे रहित शुद्ध होते हैं। इस प्रकार जो श्रावक शीत उष्ण आदिकी परीषहको सहता हुआ, विषय कषायसे मनको हटाकर मौनपूर्वक सामायिक करता है वह महाव्रतीके तुल्य होता है; क्यों कि उस समय उसका चित्त हिंसा आदि सब पापोंमें अनासक्त रहता है। यद्यपि उसके अन्तरंगमें संयमको घातनेवाले प्रत्याख्यानावरण कर्मके उदयसे मन्द अविरति परिणाम रहते हैं फिरभी वह उपचारसे महाव्रती कहा जाता है। ऐसा होनेसे ही निर्ग्रन्थलिंगका धारी और ग्यारह अंगका पाठी अभव्य भी महाव्रतका पालन करनेसे अन्तरंगमें असंयम भावके होते हुए भी उपरिम ग्रैवेयक तक उत्पन्न हो सकता है। इस तरह जब निर्ग्रन्थरूपका धारी अभव्य भी सामायिकके कारण अहमिन्द्र हो सकता है तब सम्यग्दृष्टि यदि सामायिक करे तो कहना ही क्या है। सामायिक व्रतके भी पांच अतिचार हैं–योग दुःप्रणिधान,

---

१ ब वयणे पयग्ग। २ ब ग संपुड, [संवुड?]। ३ ब वज्जिओ होऊ, ग वजिदो होउ। ४ क हवे सावउ, म स हवे साउ, ग हवे सावउं। ५ ब सिक्खावयं पढमं। ण्हाण इत्यादि।

[छाया-बद्ध्वा पर्यङ्कम् अथवा ऊर्ध्वेन ऊर्ध्वतः स्थित्वा । कालप्रमाणं कृत्वा इन्द्रियव्यापारवर्जितः भूत्वा ॥ जिनवचनैकाग्रमनाः संवृतकायः च अञ्जलिं कृत्वा । स्वस्वरूपे संलीनः वन्दनार्थं विचिन्तयन् ॥ कृत्वा देशप्रमाणं सर्वसावद्यवर्जितः भूत्वा । यः कुर्वते सामायिकं स मुनिसदृशः भवेत् तावत् ॥] यः सामायिकं संपन्नः प्रतिपन्नः सावउ श्रावकः श्राद्धः संयमोपपन्नमुनिसदृशो भवति । यः श्रावकः श्राद्धः सामायिकं समताम् 'समता सर्वभूतेषु संयमे शुभभावना । आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम् ॥' वा अर्हदादिनवप्रकारदेववन्दनाम् इत्यादिलक्षणोपेतं सामायिक करोति विदधाति । किं कृत्वा पूर्वम् । सर्वसावद्यवर्जितो भूत्वा सर्वपापव्यापारं परित्यज्य सर्वपापोपयोगं मुक्त्वा । पुनः किं कृत्वा । देशप्रमाणं कृत्वा निर्व्याक्षेपमेकान्तभवनं वनं चैत्यालयादिकं च देशं मर्यादीकृत्य, चैत्यालयगिरिगुहाशून्यगृहश्मशानप्रमुखस्थाने एतावति क्षेत्रे स्थाने अहं स्थास्यामीति प्रमाणं कृत्वा विधायेत्यर्थः । पुनः किं कृत्वा । पर्यङ्कं पर्यङ्कासनं वामपादमधः कृत्वा दक्षिणपादमुपरि कृत्वा उपवेशनं पद्मासनं बंधित्ता विबन्ध्य, अथवा ऊर्ध्वेन ऊर्ध्वीभूतेन उड्ढ स्थित्वा उद्धीभूय, द्वात्रिंशद्दोषवर्जितः सन्, कायोत्सर्गेण स्थित्वा मकरमुखाद्यासनं कृत्वा वा । पुनः किं कृत्वा । कालप्रमाणं कृत्वा कालमवधिं कृत्वा, एतावत्कालं पर्यङ्कासनेन कायोत्सर्गेण च तिष्ठामि, तथा एतावत्कालं सर्वं सावद्ययोगं त्यजामि, इति एकघटिकामुहूर्तप्रहररात्रिदिवसादिकालपर्यन्तं कालमर्यादां कृत्वा । पुनः किं कृत्वा । इन्द्रियव्यापारवर्जितो भूत्वा, इन्द्रियाणां स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणां व्यापाराः स्वस्वस्पर्श ८ रस ५ गन्ध २ वर्ण ५ शब्द ७ विषयेषु प्रवृत्तयः, तैर्वर्जितः भूत्वा, अथवा व्यापाराः क्रयविक्रयलक्षणाः तैर्वर्जितः रहितो भूत्वा । केशबन्धं मुष्टिबन्धं वस्त्रबन्धं च कृत्वा इत्यासनं तृतीयम् ३ । कीदृक् सन् श्रावकः सामायिकं करोति । जिनवचनैकाग्रमनाः, सर्वज्ञवचने एकाग्रं चिन्तानिरोधः तत्र मनो यस्य स जिनवचनैकाग्रमनाः, सर्वज्ञवचनैकत्वगतचित्तः जीवादितत्त्वस्वरूपे एकलोलीचित्तः । च पुनः, संपुटकायः संकुचितशरीरः निश्चलीकृताङ्गोपाङ्गः । पुनः किं कृत्वा । अञ्जलिं कृत्वा हस्तौ द्वौ मुकुलीकृत्य मुक्ताशुक्तिकमुद्रावन्दनमुद्रां कृत्वा । पुनः कथंभूतः सन् । स्वस्वरूपे शुद्धबुद्धैकचिद्रूपे चिदानन्दे स्वपरमात्मनि संलीनः लयं प्राप्तः । पुनः कीदृक् सन् । वन्दनार्थं वन्दनायाः अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुजिनवचनजिनप्रतिमाजिनालयलक्षणायाः अर्थः रहस्यं प्रति दण्डकं द्वे नती द्वादशावर्तान् चतुःशिरांसि त्रिशुद्धिं च चिन्तयन् ध्यायन्, एवंभूतः श्रावकः शीतोष्णादिपरीषहविजयी उपसर्गसहिष्णुः मौनी हिंसादिभ्यो विषयकषायेभ्यश्च विनिवृत्त्य सामायिके वर्तमानो महाव्रती भवति । हिंसादिषु सर्वेषु अनासक्तचित्तः अभ्यन्तरप्रत्याख्यानसंयमघातिकर्मोदयजनितमन्दाविरतिपरिणामे सत्यपि महाव्रत इत्युपचर्यते । एवं च कृत्वा अभव्यस्यापि निर्ग्रन्थलिङ्गधारिणः एकादशाङ्गधारिणो[1] महाव्रतपरिपालनादसंयमभावस्यापि उपरिमग्रैवेयकविमानवासिनाम् उपपन्नो भवति । एवमभव्योऽपि निर्ग्रन्थरूपधारी सामायिकवशादहमिन्द्रस्थाने श्रीमान् भवति चेत् किं पुनः सम्यग्दर्शनः पूतात्मा सामायिकमापन्नः । सामायिकव्रतस्य पञ्चातिचारा भवन्ति, ते के इति चेदुच्यते । 'योगदुःप्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।' योगस्य कायवाङ्मनसां कर्मणः दुष्टानि प्रणिधानानि दुष्टप्रवृत्तयः, योगस्य अन्यथा वा प्रणिधानानि प्रवृत्तयः, सामायिकावसरे क्रोधमानमायालोभसहिताः कायवाङ्मनसां प्रवृत्तयः, क्रोधादिपरिणामवशाद्दुष्टं प्रणिधानं भवति । शरीरावयवानां हस्तपादादीनाम् अस्थिरत्वं चालनं कायस्यान्यथाप्रवृत्तिः कायदुष्टप्रणिधानम् १ । संस्काररहितार्थागमकवर्णपदप्रयोगो वाचान्यथाप्रवृत्तिः वर्णसंस्कारे भावार्थे च अगमकत्वं चपलादिवचनं च वाग्दुःप्रणिधानम् २ । मनसोऽनर्पितत्वं मनसः

अनादर और स्मृत्यनुपस्थान । सामायिकके समय योग अर्थात् मन वचन और कायकी दुष्ट प्रवृत्ति करना, यानी परिणामोंमें कषायके आजानेसे मनको दूषित करना सामायिकमें नहीं लगाना मनोदुष्प्रणिधान है । हाथ पैर वगैरहको स्थिर नहीं रखना कायदुष्प्रणिधान है । मंत्रको जल्दी जल्दी बोलना, जिससे मंत्रका उच्चारण अस्पष्ट और अर्थशून्य प्रतीत हो वचनदुष्प्रणिधान है । इस तरह सामायिकके ये तीन अतिचार हैं । सामायिक करते हुए भी सामायिकमें उत्साहित न होना अथवा अनादर का भाव रखना अनादर नामका चौथा अतिचार है । विस्मरण होना अर्थात् यह भूलजाना कि मैंने अमुकतक पढ़ा या नहीं ? यह स्मृत्यनुस्थापन नामका पांचवा अतिचार है । रत्नकरंड श्रावकाचारमें भी कहा है–

---

१ 'एकादशाङ्गध्यायिनो' इत्यपि पाठः ।

अन्यथाप्रवृत्तिः मनोदुःप्रणिधानम् ३ । त्रयोऽतिचारा भवन्ति । चतुर्थोऽतिचारः अनादरः अनुत्साहः अनुद्यमः ४ । पञ्चमोऽतिचारः स्मृत्यनुपस्थापनं स्मृतेरनुपस्थापनं विस्मृतिः, न ज्ञायते मया पठितं किं वा न पठितम्, एकाग्रतारहितत्वमित्यर्थः ५ । तथा चोक्तं च । "वाक्कायमानसानां दुःप्रणिधानान्यनादरास्मरणे । सामयिकस्यातिगमा व्यज्यन्ते पञ्च भावेन ॥" इति ॥ ३५५–५७ ॥ इति स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाव्याख्याने प्रथमं सामायिकशिक्षाव्रतं व्याख्यातम् १ । अथ द्वितीयशिक्षाव्रतं प्रोषधोपवासाख्यं गाथाद्वयेन व्याकरोति–

ण्हाण-विलेवण-भूसण-इत्थी-संसग्ग-गंध-धूवादी[1] ।
जो परिहरेदि[2] णाणी वेरग्गाभूसणं किच्चा[3] ॥ ३५८ ॥
दोसु वि पव्वेसु सया उववासं एय-भत्त-णिव्वियडी ।
जो कुणदि एवमाई तस्स वयं पोसहं बिदियं ॥ ३५९ ॥

[छाया–स्नानविलेपनभूषणस्त्रीसंसर्गगन्धधूपादीन् । यः परिहरति ज्ञानी वैराग्याभूषणं कृत्वा ॥ द्वयोः अपि पर्वणोः सदा उपवासम् एकभक्तनिर्विकृती । यः करोति एवमादीन् तस्य व्रतं प्रोषधं द्वितीयम् ॥] तस्य द्वितीयं शिक्षाव्रतं

"वचनका दुष्प्रणिधान, कायका दुष्प्रणिधान, मनका दुष्प्रणिधान, अनादर और अस्मरण ये पांच सामायिकके अतिचार हैं।" इस प्रकार सामायिक नामक प्रथम शिक्षाव्रतका व्याख्यान समाप्त हुवा॥ ३५५–३५७॥ आगे दो गाथाओंसे प्रोषधोपवास नामक दूसरे शिक्षाव्रतको कहते हैं। **अर्थ**–जो ज्ञानी श्रावक सदा दोनों पर्वोंमें स्नान, विलेपन भूषण, स्त्रीका संसर्ग, गंध, धूप, दीप आदिका त्याग करता है और वैराग्यरूपी आभरणसे भूषित होकर उपवास या एकवार भोजन अथवा निर्विकार भोजन आदि करता है उसके प्रोषधोपवास नामक दूसरा शिक्षाव्रत होता है ॥ **भावार्थ**–प्रोषधोपवासव्रतका पालक श्रावक प्रत्येक पक्षके दो पर्वोंमें अर्थात् प्रत्येक अष्टमी और प्रत्येक चतुर्दशीके दिन उपवास करता है अर्थात् खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय चारोंप्रकार आहारको नहीं करता। वैसे तो केवल पेटको भूखा रखनेका ही नाम उपवास नहीं है, बल्कि पांचों इन्द्रियां अपने स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द इन पाचों विषयोंमें निरुत्सुक होकर रहें, यानी अपने अपने विषयके प्रति उदासीन हों, उसका नाम उपवास है। उपवासका लक्षण इस प्रकार बतलाया है–जिसमें कषाय और विषयरूपी आहारका त्याग किया जाता है वही उपवास है। बाकी तो लंघन है।' अर्थात् खाना पीना छोड़ देना तो लंघन है जो ज्वर वगैरह हो जानेपर किया जाता है। उपवास तो वही है जिसमें खानपानके साथ विषय और कषायको भी छोड़ा जाता है। किन्तु जो उपवास करनेमें असमर्थ हों वे एकवार भोजन कर सकते हैं। अथवा दूध आदि रसोंको छोडकर शुद्ध मट्ठेके साथ किसी एक शुद्ध अन्नका निर्विकार भोजन कर सकते हैं उसे निर्विकृति कहते हैं। निर्विकृतिका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है–"इन्द्रियरूपी शत्रुओंके दमनके लिये जो दूध आदि पांच रसोंसे रहित भोजन किया जाता है उसे निर्विकृति कहते हैं।" गाथाके आदि शब्दसे उसदिन आचाम्ल या कांजी आदिका भोजन भी किया जा सकता है। गर्म कांजीके साथ केवल भात खानेको आचाम्ल कहते हैं और चावलके माण्डसे जो माण्डिया बनाया जाता है उसे कांजी कहते है। अस्तु। उपवासके दिन श्रावकको स्नान नहीं करना चाहिये, तैलमर्दन नहीं करना चाहिये, चन्दन कपूर केसर अगरु कस्तूरी आदिका लेपन नहीं

१ ल स ग गंधधूवदीवादि, म धूवादि । २ ब परिहरेइ । ३ ल म वेरग्गा (ग चेरग्गा, स वेगा) भरणभूसणं किच्चा ।

प्रोषधाख्यं भवेत् । तस्य कस्य । यः द्वयोः पर्वणोः पर्वण्योः अष्टम्यां चतुर्दश्यां च सदा पक्षं पक्षं प्रति उपवासं स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दलक्षणेषु पञ्चसु विषयेषु परिहृतौत्सुक्यानि पञ्चापि इन्द्रियाणि उपेत्य आगत्य तस्मिन् उपवासे वसन्ति इत्युपवासः, अशनपानखाद्यलेह्यलक्षणश्चतुर्विधाहारपरिहार इत्यर्थः । उक्तं च उपवासस्य लक्षणम् । "कषायविषयाहारत्यागो यत्र विधीयते । उपवासः स विज्ञेयः शेषं लङ्घनकं विदुः ॥" इति तम् उपवासं क्षपणाम् अनशनं करोति विदधाति । तच्छक्त्यभावे एकभक्तम् एकवारभोजनं करोति । तथा निर्विकृतिं शुद्धतक्रैः शुद्धैकान्नभोजनं करोति, वा दुग्धादिपञ्चरसादिरहितम् आहारं भुङ्क्ते । उक्तं च । "आहारो भुज्यते दुग्धादिकपञ्चरसातिगः । दमनायाक्षशत्रूणां यः सा निर्विकृतिर्मता ॥" इति एवमुक्तप्रकारेणादिशब्दात् आचाम्लकाञ्जिकाहाररूक्षाहारं मनर्धिन्त्यप्रमुखं करोति । "सदुष्णे काञ्जिके शुद्धमाप्लाव्य भुज्यतेऽशनम् । जितेन्द्रियैस्तपोऽर्थं यदाचाम्ल उच्यतेऽत्र सः ॥" शुद्धोदनं जलेन सह भोजनं कांजिकाहारम् । तस्य कस्य । यः प्रोषधोपवासव्रती परिहरति निषेधयति त्यजति । कान् । स्नानविलेपनभूषणस्त्रीसंसर्गगन्धधूपप्रदीपादीन्, स्नानं शीतोष्णजलेन मज्जनं तैलादिमर्दनं कर्कोटिकादिकेन स्फेटनम्, विलेपनं चन्दनकर्पूरकुङ्कुमागरुकस्तूरिकादिभिर्विलेपनं शरीरविलेपनम्, भूषणं हारमुकुटकुण्डलकेयूरकटकमुद्रिकाद्याभरणम्, स्त्रीसंसर्गः स्त्रीणां युवतीनां मैथुनस्पर्शनपादसंवाहननिरीक्षणशयनोपवेशनवार्तादिभिः संसर्गः संयोगः स्पर्शनम्, गन्धः सुगन्धः पुष्पसुगन्धचूर्णागरुरसप्रमुखः, धूपः शरीरधूपनं केशवस्त्रादिधूपनं च दीपस्य ज्वलनं ज्वालनकरणं च द्वन्द्वसमासः त एवादिर्येषां ते तथोक्तास्तान् । आदिशब्दात् सचित्तजलकणलवणभूम्यग्निवातकरणवनस्पतितत्फलपुष्पकुड्मलच्छेदादिव्यापारान् परिहरति । कीदृक्षः । ज्ञानी भेदज्ञानी स्वपरविवेचनविज्ञानी । किं कृत्वा । वैराग्याभरणभूषणं कृत्वा भवाङ्गभोगविरक्त्याभरणेनात्मानं भूषयित्वा निरारम्भः

करना चाहिये, हार मुकुट कुण्डल, केयूर, कड़े, अगूंठी आदि आभूषण नहीं पहनने चाहिये, स्त्रियोंके साथ मैथुन नहीं करना चाहिये और न उनका आलिंगन करना चाहिये, न उनसे पैर वगैरह दबवाना चाहिये, न उन्हें ताकना चाहिये, न उनके साथ सोना या उठना बैठना चाहिये, सुगन्धित पुष्प चूर्ण वगैरहका सेवन नहीं करना चाहिये, न शरीर वस्त्र वगैरहको सुवासित धूपसे सुवासित करना चाहिये और न दीपक वगैरह जलाना चाहिये । भूमि, जल अग्नि वगैरहको खोदना, जलाना बुझाना आदि कार्य नही करना चाहिये और न वनस्पति वगैरहका छेदन भेदन आदि करना चाहिये । संसार शरीर और भोगसे विरक्तिको ही अपना आभूषण बनाकर साधुओंके निवासस्थानपर, चैत्यालयमें अथवा अपने उपवासगृहमें जाकर धर्मकथाके सुनने सुनानेमें मनको लगाना चाहिये । ऐसे श्रावकको प्रोषधोपवासव्रती कहते हैं । आचार्य समन्तभद्रने भी लिखा है–'चतुर्दशी और अष्टमीके दिन सदा स्वेच्छापूर्वक चारों प्रकारके आहारका त्याग करना प्रोषधोपवास है । उपवासके दिन पांचों पापोंका, अलंकार, आरम्भ, गन्ध, पुष्प, स्नान, अंजन और नास लेनेका त्याग करना चाहिये । कानोंसे बड़ी चाहके साथ धर्मरूपी अमृतका स्वयं पान करना चाहिये और दूसरोंको पान कराना चाहिये । तथा आलस्य छोड़कर ज्ञान और ध्यानमें तत्पर रहना चाहिये । चारों प्रकारके आहारके छोड़नेको उपवास कहते हैं, और एक बार भोजन करनेको प्रोषध कहते हैं । अष्टमी और चतुर्दशीको उपवास करके नौमी और पंद्रसको एक बार भोजन करना प्रोषधोपवास है । इस प्रोषधोपवास व्रतके पांच अतिचार हैं–भूखसे पीड़ित होनेके कारण 'जन्तु हैं या नहीं' यह देखे विना और मृदु उपकरणसे साफ किये विना पूजाके उपकरण तथा अपने पहिरने के वस्त्र आदिको उठाना, विना देखी विना साफ की हुई जमीनमें मलमूत्र करना, विना देखी विना साफ की हुई भूमिमें चटाई वगैरह बिछाना, भूखसे पीड़ित होनेके कारण आवश्यक छै कर्मोंमें अनादर

श्रावकः शुद्धावकाशे साधुनिवासे चैत्यालये च प्रोषधोपवासगृहे वा धर्मकथाश्रवणश्रावणचिन्तनावहितान्तःकरणः सन् उपवसन् एकाग्रमनाः सन् उपवासं कुर्यात्। स श्रावकः प्रोषधोपवासव्रती भवति। तथा समन्तभद्रस्वामिना प्रोक्तं च। "पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु। चतुरभ्यवहाराणां प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः॥ पञ्चानां पापानामलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम्। स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात्॥ धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वाऽन्यान्। ज्ञानध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालुः॥ चतुराहारविवर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः। स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति॥ ग्रहणविसर्गास्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे। यत्प्रोषधोपवासे व्यतिलंघनपञ्चकं तदिदम्॥" इति द्वितीयशिक्षाव्रतं प्रोषधोपवासाख्यं कथितम् २॥ ३५८-५९॥ अथ तृतीयं शिक्षाव्रतमतिथिसंविभागाख्यं गाथापञ्चकेनाह-

तिविहे पत्तम्हि[1] सया सद्धाइ-गुणेहि[2] संजुदो णाणी।
दाणं जो देदि सयं णव-दाण-विहीहि संजुत्तो॥ ३६०॥
सिक्खा-वयं च तिदिय[3] तस्स हवे सव्व-सिद्धि-सोक्खयरं।[4]
दाणं चउविहं पि य सव्वे दाणाणं[5] सारयरं॥ ३६१॥

[छाया-त्रिविधे पात्रे सदा श्रद्धादिगुणैः संयुतः ज्ञानी। दानं यः ददाति स्वकं नवदानविधिभिः संयुक्तः॥ शिक्षाव्रतं च तृतीयं तस्य भवेत् सर्वसिद्धिसौख्यकरम्। दानं चतुर्विधम् अपि च सर्वदानानां सारतरम्॥] तस्य श्रावकस्य शिक्षाव्रतं दानम् अतिथिसंविभागाख्यं तृतीयं भवेत् स्यात्। कीदृशं तत्। दानं चतुर्विधमपि चतुःप्रकारम्।

रखना तथा आवश्यक कर्तव्यको भी भूल जाना, ये पांच अतिचार हैं। इन्हें छोड़ना चाहिये। आगे प्रोषध प्रतिमामें १६ पहरका उपवास करना बतलाया है। अर्थात् सप्तमी और तेरसके दिन दोपहरसे लेकर नौमी और पन्द्रसके दोपहर तक समस्त भोगोपभोगको छोड़ कर एकान्त स्थानमें जो धर्मध्यानपूर्वक रहना है उसके प्रोषधोपवास प्रतिमा होती है। परन्तु यहां सोलह पहरका नियम नहीं है इसीसे जिसमें उपवास करनेकी सामर्थ्य न हो उसके लिये एक बार भोजन करनाभी बतलाया है, क्यों कि यह व्रत शिक्षारूप है। इस तरह प्रोषधोपवास नामक दूसरे शिक्षाव्रतका व्याख्यान समाप्त हुआ॥ ३५८-३५९॥ आगे पांच गाथाओंके द्वारा अतिथिसंविभाग नामक तीसरे शिक्षाव्रतका स्वरूप कहते हैं। **अर्थ**-श्रद्धा आदि गुणोंसे युक्त जो ज्ञानी श्रावक सदा तीन प्रकारके पात्रोंको दानकी नौविधियोंके साथ स्वयं दान देता है उसके तीसरा शिक्षाव्रत होता है। यह चार प्रकारका दान सब दानोंमें श्रेष्ठ है, और सब सुखोंका तथा सिद्धियोंका करनेवाला है॥ **भावार्थ**-पात्र तीन प्रकारके होते हैं-उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। जो महाव्रत और सम्यक्त्वसे सुशोभित हो वह उत्तम पात्र है, जो देशव्रत और सम्यक्त्वसे शोभित हो वह मध्यम पात्र है और जो केवल सम्यग्दृष्टि हो वह जघन्य पात्र है। पात्र बुद्धिसे दान देनेके योग्य ये तीनही प्रकार के पात्र होते हैं। इन तीन प्रकारके पात्रोंको दान देने वाला दाता भी श्रद्धाआदि सात गुणोंसे युक्त होना चाहिये। वे सात गुण हैं-श्रद्धा, भक्ति, अलुब्धता, दया, शक्ति, क्षमा और ज्ञान। 'मैं बड़ा पुण्यवान् हूं, आज मैंने दान देनेके लिये एक वीतराग पात्र पाया है', ऐसा जिसका भाव होता है वह दाता श्रद्धावान् है। पात्रके समीपमें बैठकर जो उनके पैर दबाता है, वह भक्तिवान् है। 'मुझे इससे काम है इसलिये मैं इसे दान देता हूं' ऐसा भाव जिसके

---

१ ल पत्तम्हि, ब म पत्तम्मि। २ ब सद्धाई। ३ लु म स तइयं, ग तईयं। ४ ब सव्वसोख(=क्ख) सिद्धियरं। ५ ब सव्वे दाणाणि [सव्वंदाणाण ।

आहाराभयभैषज्यशास्त्रदानप्रकारं दानम्। अतिथिसंविभागं पुनः कथंभूतम्। सर्वसिद्धिसौख्यकरं, सिद्धेः मुक्तेः निर्वाणस्य सौख्यानि सर्वाणि च तानि सौख्यानि च तानि सर्वसौख्यानि करोतीति सर्वसिद्धिसौख्यकरम्। च पुनः, सर्वदानाना "गोहेमं गजवाजिभूमिमहिलादासीतिलस्यन्दनं सद्गेहप्रतिबद्धमत्र दशधा दानं शठैः कीर्तितम्। तद्दाता कुगतिं व्रजेच्च पुरतो हिंसादिसंवर्धनात् तन्नेतापि च तत्सदा त्यज बुधैर्निन्द्यं कलंकास्पदम्॥" इति दशविधदानानां मध्ये सारतरं दानम् उत्कृष्टम् अतिशयेनोत्कृष्टम् तस्य कस्य। यः श्रावकः स्वयमात्मना स्वहस्तेन वा दानम् आहारौषधाभयज्ञानप्रदानम्। तत्किम्। 'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्।' आत्मनः परस्य च उपकारः अनुग्रह उच्यते, सोऽर्थः प्रयोजनं यस्मिन् दानकर्मणि तत् अनुग्रहार्थं स्वोपकाराय विशिष्टपुण्यसंचयलक्षणाय परोपकाराय सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रवृद्धये स्वस्य धनस्य अतिसर्गोऽतिसर्जनं दानमुच्यते। ददाति प्रयच्छति। क केभ्यो वा। त्रिविधे पात्रे त्रिविधेषु पात्रेषु महाव्रतसम्यक्त्वविराजितमुत्तमं पात्रम्, श्रावकव्रतसम्यक्त्वपवित्रं मध्यमपात्रम्, सम्यक्त्वैकेन निर्मलीकृतं जघन्यपात्रम्, इति त्रिविधपात्रेभ्यः दानं ददाति। कीदृक्षः। श्राद्धो दाता सदा नित्यं निरन्तरं श्रद्धादिगुणैः संयुक्तः। श्रद्धा १ तुष्टि २ भक्ति ३ विज्ञानम् ४ अलुब्धता ५ क्षमा ६ शक्तिः ७। यत्रैते सप्त गुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति। तथा प्रकारान्तरेण। "श्रद्धा १ भक्ति २ रलोलत्वं ३ दया ४ शक्तिः ५ क्षमा परा ६। विज्ञानं ७ चेति सप्तैते गुणा दातुः प्रकीर्तिताः॥" "चित्तरागो[1] भवेद्यस्य पात्रं लब्धं मयाधुना। पुण्यवानहमेवेति स श्रद्धावानिहोच्यते॥ १॥ आभुक्तेर्वरपात्रस्य संनिधौ व्यवतिष्ठते। तदङ्घ्रिसेवनं कुर्वन् सा भक्तिः परिकीर्तिता॥ २॥ अमुष्मादस्ति मे कार्यमस्मै दानं ददाम्यहम्। ईदृक्मनो न यस्यास्ति स दाता नैव लोभवान्॥ ३॥ कार्यं प्रति प्रयातीति कीटादीनवलोकयन्। गृहमध्ये प्रयत्नेन स दाता स्याद्दयापरः॥ ४॥ सर्वमाहारमश्नाति ग्राहको बहुभोजकः। इत्येतन्नास्ति यच्चित्ते सा शक्तिः परिकल्प्यते॥ ५॥ पुत्रदारादिभिर्दोषे कृतेऽपि च न कुप्यति। यः पुनर्दानकालेऽसौ क्षमावानिति भण्यते॥ ६॥ पात्रापात्रे समायाते गुणदोषविशेषवित्। ज्ञानवान् स भवेद्दाता गुणैरेभिः समन्वितः॥ ७॥" इति सप्तगुणैः सहितो दाता भवति। पुनः कीदृक्। दाता ज्ञानी पात्रापात्रदेयादेयधर्माधर्मतत्त्वातत्त्वादिविचारज्ञः। पुनः कीदृग्विधः। नवदानविधिभिः संयुक्तः, नवप्रकारपुण्योपार्जनविधिभिः सहितः। तद्यथा– "पडिगहं १ मुच्चट्ठाणं २ पादोदय ३ मच्चणं ४ च पणमं च ५। मण ६ वयण ७ कायसुद्धी ८ एसणसुद्धी य ९ णवविहं पुण्णं॥ १॥ पत्तं णियघरदारे दट्ठूणण्णत्थ वा विमग्गित्ता। पडिगहणं कायव्वं णमोत्थु ठाहु त्ति भणिदूण॥ २॥ णेदूणं णियगेहं णिरवज्जाणुवहउच्चठाणम्हि। ठविदूण तदो चलणाण धोवणं होदि कायव्वं॥ ३॥ पादोदयं पवित्तं सिरम्मि कादूण अच्चणं कुज्जा। गंधक्खयकुसुमणिवेज्जदीवधूवेहिँ फलेहिं॥ ४॥ पुप्फंजलिं खिवित्ता पयपुरदो वंदणं तदो कुज्जा। चइऊण अट्टरुद्दं मणसुद्धी होदि कायव्वा॥ ५॥ णिट्ठुरकक्कसवयणाइवज्जणं सा वियाण वचिसुद्धी। सव्वत्थ

मनमें नहीं है वह दाता निर्लोभ है। जो दाता घरमें चीटी वगैरह जन्तुओंको देख कर सावधानता पूर्वक सब काम करता है वह दयालु है। 'यह पात्र बहुत खाऊ है, सारा भोजन खाये जाता है' ऐसा जिसके चित्तमें भाव नहीं है वह दाता शक्तिमान है। जो स्त्री पुत्र वगैरहके अपराध करनेपर भी दानके समय उनपर क्रुद्ध नहीं होता वह दाता क्षमावान् है। जिसे पात्र और अपात्र की समझ है वह दाता ज्ञानी है। इन सात गुणोंसे सहित दाता श्रेष्ठ होता है। ऐसा जो दाता उक्त तीन प्रकारके पात्रोंको यथायोग्य नवधाभक्ति पूर्वक आहार दान, अभय दान, औषध दान और शास्त्र दान देता है वह अतिथिसंविभाग व्रतका धारी होता है। परिग्रह, उच्चस्थान, पादोदक, अर्चन, प्रणाम, मनःशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और भोजनशुद्धि ये दानकी नौ विधियां हैं। प्रथम ही पात्रको अपने घरके द्वारपर देखकर अथवा अन्यत्रसे खोज लाकर 'नमोऽस्तु नमोऽस्तु' और 'तिष्ठ तिष्ठ' कह कर ग्रहण करना चाहिये। फिर अपने घरमें लेजाकर उसे ऊंचे आसनपर बैठाना चाहिये। फिर उसके पैर धोने चाहिये। फिर उस पैर धोवनके पवित्र जलको सिर पर लगाना चाहिये। फिर गन्ध, अक्षत, फूल, नैवेद्य, दीप, धूप और फलसे उसकी पूजा करनी चाहिये। फिर चरणोंके समीप नम-

[1] 'वीतरागो' इत्यपि पाठः।

संवुडंगस्स होदि तह कायसुद्धी वि ॥ ६ ॥ चोद्दसमलपरिसुद्धं जं दाणं सोहिदूण जयणाए । संजदजणस्स दिज्जदि सा णेया एसणासुद्धी ॥ ७ ॥ इति सप्तदातृगुणैर्नवविधपुण्योपार्जनविधिभिश्च कृत्वा त्रिविधपात्रेभ्यः अशनपानखाद्यस्वाद्यं चतुर्विधं दानं दातव्यमित्यर्थः ॥ ३६०-१ ॥ अथाहारादिदानमाहात्म्यं गाथात्रयेण व्यनक्ति-

भोयण-दाणं[1] सोक्खं ओसह-दाणेण[2] सत्थ-दाणं च ।
जीवाण अभय-दाणं सुदुलहं सव्व-दाणेसु[3] ॥ ३६२ ॥

[छाया-भोजनदानं सौख्यम् औषधदानेन शास्त्रदानं च । जीवानाम् अभयदानं सुदुर्लभं सर्वदानेषु ॥] भोजनदानेन अशनपानखाद्यस्वाद्यचतुर्विधाहारप्रदानेन सौख्यं भोगभूम्यादिजं सुखं भवति । कीदृशं तद्भोजनं न देयम् । उक्तं च । "विवर्ण विरसं विद्धमसात्म्यं प्रसृतं च यत् । मुनिभ्योऽन्नं न तद्देयं यच्च भुक्तं गदावहम् ॥ १ ॥ उच्छिष्टं नीचलोकार्हमन्योद्दिष्टं विगर्हितम् । न देयं दुर्जनस्पृष्टं देवयक्षादिकल्पितम् ॥ २ ॥ ग्रामान्तरात्समानीतं मन्त्रानीतमुपायनम् । न देयमापणक्रीतं विरुद्धं वायथर्तुकम् ॥ ३ ॥" इति । औषधदानेन सह शास्त्रदानं ज्ञानदानं स्यात् । च पुनः, सर्वजीवानाम् अभयदानं सर्वप्राणिनां रक्षणमभयदानम् । किंभूतम् । सर्वदानानां मध्ये सुदुर्लभं अतिदुःप्रापम्, तस्याभयदानस्य शास्त्रौषधाहारमयत्वात् ॥ ३६२ ॥ अथाहारदानस्य माहात्म्यं गाथाद्वयेनाह-

भोयण-दाणे दिण्णे तिण्णि वि दाणाणि होंति दिण्णाणि[4] ।
भुक्ख-तिसाए वाही दिणे दिणे होंति देहीणं[5] ॥ ३६३ ॥

स्कार करना चाहिये तथा आर्त और रौद्र ध्यानको छोड़ कर मनको शुद्ध करे, निष्ठुर कर्कश आदि वचनोंको छोड़कर वचनकी शुद्धि करे और सब ओरसे अपनी कायाको संकोच कर कायशुद्धि करे। नख, जीवजन्तु, केश, हड्डी, दुर्गन्ध, मांस, रुधिर, चर्म, कन्द, फल, मूल, बीज आदि चौदह मलों से रहित तथा यत्न पूर्वक शोधा हुआ भोजन संयमी मुनिको देना एषणा शुद्धि है। इस तरह दाताको सात गुणोंके साथ पुण्यका उपार्जन करनेवाली नौ विधिपूर्वक चार प्रकारका दान तीन प्रकारके पात्रोंको देना चाहिये ॥ ३६०-३६१ ॥ आगे तीन गाथाओंसे आहार दान आदि का माहात्म्य कहते हैं। **अर्थ**-भोजन दान से सुख होता है। औषध दानके साथ शास्त्रदान और जीवोंको अभयदान सब दानोंमें दुर्लभ है ॥ **भावार्थ**-खाद्य (दाल रोटी पूरी वगैरह), स्वाद्य (बर्फी लाडू वगैरह) लेह्य (रबड़ी वगैरह) और पेय (दूध पानी वगैरह) के भेदसे चार प्रकारका आहारदान सत्पात्रको देनेसे दाताको भोगभूमि आदिका सुख मिलता है। किन्तु मुनिको ऐसा भोजन नहीं देना चाहिये जो विरूप और विरस होगया हो अर्थात् जिसका रूप और स्वाद बिगड़ गया हो, अथवा जो मुनिकी प्रकृतिके प्रतिकूल हो या जिसके खानेसे रोग उत्पन्न हो सकता हो, या जो किसीका जूठा हो, या नीच लोगोंके योग्य हो, या किसी अन्यके उद्देशसे बनाया हो, निन्दनीय हो, दुर्जनके द्वारा छू गया हो, देव यक्ष वगैरहके द्वारा कल्पित हो, दूसरे गांवसे लाया हुआ हो, मंत्रके द्वारा बुलाया गया हो, भेटसे आया हो अथवा बाजारसे खरीदा हुआ हो, ऋतुके अननुकूल तथा विरुद्ध हो । औषधदान शास्त्रदान और अभयदानमें अभयदान सबसे श्रेष्ठ है, क्यों कि सब प्राणियोंकी रक्षा करनेका नाम अभयदान है अतः उसमें शास्त्रदान, औषधदान और आहारदान आ ही जाते हैं ॥ ३६२ ॥ आगे दो गाथाओंसे आहार दानका माहात्म्य कहते हैं। **अर्थ**-भोजनदान देने पर तीनों ही दान दिये

---

१ ब दाणं [दाणें], ल म स ग दाणेण । २ ब दाणेण सत्यदाणाणं, ल दाणेण ससत्थदाणं च । ३ ल म स ग दाणाणं । ४ ब दाणाइ (इं ?) हुंति दिण्णाइ । ५ ब दिणिदिणि हुंति जीवाणं ।

भोयण-बलेण साहू सत्थं [1]सेवेदि रत्ति-दिवसं पि ।
भोयण-दाणे दिण्णे पाणा वि य रक्खिया होंति [2] ॥ ३६४ ॥

[छाया-भोजनदाने दत्ते त्रीणि अपि दानानि भवन्ति दत्तानि । बुभुक्षातृषाभ्यां व्याधयः दिने दिने भवन्ति देहिनाम् ॥ भोजनबलेन साधुः शास्त्रं सेवते रात्रिदिवसमपि । भोजनदाने दत्ते प्राणाः अपि च रक्षिताः भवन्ति ॥] भोजनदानेन अशनपानादिचतुर्विधाहारदाने दत्ते सति त्रीण्यपि दानानि औषधज्ञानाभयवितरणानि दत्तानि भवन्ति । अथाहारदाने दत्ते सति औषधदानं दत्तं कथं स्यादित्यत्र युक्तिं नियुङ्क्ते । देहिनां प्राणिनां दिने दिने दिवसे दिवसे क्षुधातृषा-व्याधयो भवन्ति, क्षुत्तृड्रोगाः सन्ति तत् क्षुधातृषाव्याधिनिवारणार्थम् आहारदानं दत्तं सत् औषधदानं दत्तं भवेत् । "मरणसमं णत्थि भयं खुहासमा वेयणा णत्थि । वंछसमं णत्थि जरो दारिद्दसमो वइरिओ णत्थि ॥" इति वचनात् । ननु तद्दानं ज्ञानदानं कथमिति चेदुच्यते । भोजनबलेन आहारस्य शक्त्या माहात्म्याच्च साधुः मुनिः रात्रौ दिवसेऽपि च शास्त्रं सेवते अध्येति शिष्यान् अध्यापयति सदा निरन्तरं ध्यानाध्ययनं करोति कुरुते कारयति च इति हेतोः आहारदानं ज्ञानदानं स्यात् । ननु तद्दानमभयदानं कथमिति चेदुच्यते । भोजनदाने दत्ते सति पात्रस्य प्राणाः "पंच वि इंदियपाणा मणवचिकायेण तिण्णि बलपाणा । आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दह पाणा ॥" इति दशविधप्राणा रक्षिता भवन्ति। पात्राणां प्राणा जीवितव्यं रक्षिताः सन्तीति हेतोरभयदानं दत्तं भवति । तथा चोक्तं च । "देहो पाणा रूवं विज्जा धम्मं तवो सुहं मोक्खं । सव्वं दिण्णं णियमा हवेइ आहारदाणेणं ॥ १ ॥ भुक्खसमा ण हु वाही अण्णसमाणं च ओसहं णत्थि । तम्हा तद्दाणेण य आरोयत्तं हवे दिण्णं ॥ २ ॥ आहारमओ देहो आहारेण विणा पडेइ णियमेण । तम्हा जेणाहारो दिण्णो देहो हवे तेण ॥ ३ ॥ ता देहो ता पाणा ता रूवं ताम जाग विण्णाणं । जामाहारो पविसइ देहे जीवाण

होते हैं । क्यों कि प्राणियों को भूख और प्यास रूपी व्याधि प्रतिदिन होती है । भोजनके बलसे ही साधु रात दिन शास्त्रका अभ्यास करता है और भोजन दान देने पर प्राणोंकी भी रक्षा होती है ॥ **भावार्थ**–चार प्रकारका आहारदान देने पर औषधदान, ज्ञानदान और अभयदान भी दिये हुए ही समझने चाहिये । अर्थात् आहारदानमें ये तीनों ही दान गर्भित हैं । इसका खुलासा इस प्रकार है । आहार दान देने पर औषध दान दिया हुआ समझना चाहिये । इसमें युक्ति यह है कि प्राणियोंको प्रतिदिन भूख और प्यास रूपी रोग सताते हैं । अतः भूख और प्यास रूपी रोगको दूर करनेके लिये जो आहार दान दिया जाता है वह एक तरहसे औषध दान ही है । कहा भी है–"मृत्युके समान कोई भय नहीं । भूखके समान कोई कष्ट नहीं । वांछा समान ज्वर नहीं । और दारिद्यके समान कोई वैरी नहीं ।" अब प्रश्न यह है कि आहार दान ज्ञान दान कैसे है ? इसका उत्तर यह है कि भोजन खानेसे शरीरमें जो शक्ति आती है उसकी वजहसे ही मुनि दिन रात शास्त्रकी स्वाध्याय करता है, शिष्योंको पढ़ाता है तथा निरन्तर ध्यान वगैरहमें लगा रहता है । अतः आहार दान ज्ञान-दान भी है । अब प्रश्न होता है कि आहारदान अभयदान कैसे है ? इसका समाधान यह है कि भोजनदान देनेसे पात्रके प्राणोंकी रक्षा होती है इसलिये आहारदान अभयदान भी है । कहा भी है–'आहारदान देनेसे विद्या, धर्म, तप, ज्ञान, मोक्ष सभी नियमसे दिया हुआ समझना चाहिये । भूख के समान व्याधि नहीं और अन्नके समान औषधी नहीं । अतः अन्नदानसे औषधदान ही दिया हुआ होता है । यह शरीर आहारमय है । आहार न मिलनेसे यह नियमसे टिक नहीं सकता । अतः जिसने आहार दिया उसने शरीर ही दे दिया ।' शरीर, प्राण,

१ क म स ग सेवदि रत्तिदिवहं (स सेवंदि ?) । २ ब हुंति ।

सुक्खयरो ॥ ४ ॥ आहारणेण देहो देहेण तवो तवेण रयसडणं । रयणासे वरणाणं णाणे मोक्खो जिणो भणइ ॥ ५ ॥" ३६३-६४ ॥ अथ दानस्य माहात्म्यं गाथाद्वयेन विशदयति-

इह-पर-लोय-णिरीहो दाणं जो देदि[1] परम-भत्तीए ।
रयणत्तए[2] सुठविदो[3] संघो सयलो हवे तेण ॥ ३६५ ॥
उत्तम-पत्त-विसेसे[4] उत्तम-भत्तीएँ उत्तमं दाणं ।
एय-दिणे वि य दिण्णं[5] इंद-सुहं उत्तमं देदि[6] ॥ ३६६ ॥[7]

[छाया-इह परलोकनिरीहः दानं यः ददाति परमभक्त्या । रत्नत्रये सुस्थापितः संघः सकलः भवेत् तेन ॥ उत्तमपात्रविशेषे उत्तमभक्त्या उत्तमं दानम् । एकदिने अपि च दत्तम् इन्द्रसुखम् उत्तमं ददाति ॥] यः अतिथिसंविभागशिक्षाव्रती श्रावको दाता दानं ददाति आहारादिकं प्रयच्छति । कया । परमभक्त्या उत्कृष्टानुरागेण परमप्रीत्या परमश्रद्धया रुच्या भावेन स्वयमेवात्मना स्वहस्तेन पात्राय दानं ददाति न तु परहस्तेन । उक्तं च । "धर्मेषु स्वामिसेवायां सुतोत्पत्तौ च कः सुधीः । अन्यत्र कार्यदैवाभ्यां प्रतिहस्तं समादिशेत् ॥" कीदृक् दाता सन् । इहपरलोकनिरीहः य इहलोके यशःकीर्तिख्यातिमहिमाधनसुवर्णरत्नमाणिक्यगोमहिषीबलीवर्दधान्यादिप्राप्तिः पुत्रकलत्रमित्रसुखाद्याप्तिः मन्त्रतन्त्रयन्त्रविद्याविभवादिप्राप्तिः परलोके स्वर्गाप्सरोराज्यरूपविमाननरेन्द्रदेवेन्द्रधरणेन्द्रसंपदाधनधान्यादिप्राप्तिश्च तत्र तेषु निरीहः वाञ्छारहितः कर्मक्षयार्थी तेन श्राद्धेन दात्रा सकलसंघः ऋषिमुनियत्यनगारः अथवा यत्यार्यिकाश्रावकश्राविकालक्षणः चतुर्विधसंघः स्थापितः स्थिरीकृतो भवति । केषु । रत्नत्रयेषु व्यवहारनिश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु सर्वसंघः स्थिरीकृतः । कथं रत्नत्रयेषु स्थापितो भवति संघ इति चेत्, सरसाहारेण संघस्य वपुषि शक्तिर्भवति, आरोग्यादिकं च स्यात्, तेन तु ज्ञानध्यानाभ्यासतत्त्वचिन्तनश्रद्धारुचिपर्वोपवासादितीर्थयात्राधर्मोपदेशश्रवणश्रावणादिकं सुखेन प्रवर्तते इति । उत्तमपात्रविशेषे ध्यानाध्ययनविशिष्टनिर्ग्रन्थमुनये उत्तमदानं धात्र्यादिषट्चत्वारिंशद्दोषविरहितं चतुर्दशमलरहितं च दानं वितरणं प्रदानं दत्तं सत् । क्व । एकस्मिन्नपि

रूप, ज्ञान वगैरह तभी तक हैं जब तक शरीरमें सुख दायक आहार पहुंचता है । आहारसे शरीर रहता है । शरीरसे तपश्चरण होता है । तपसे कर्मरूपी रजका नाश होता है । कर्मरूपी रजका नाश होने पर उत्तम ज्ञानकी प्राप्ति होती है और उत्तम ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ।" ॥ ३६३-३६४ ॥ आगे दो गाथाओंसे दानका माहात्म्य स्पष्ट करते है । **अर्थ**-जो पुरुष इस लोक और परलोकके फलकी इच्छासे रहित होकर परम भक्तिपूर्वक दान देता है वह समस्त संघको रत्नत्रयमें स्थापित करता है । उत्तम पात्रविशेषको उत्तम भक्तिके द्वारा एक दिन भी दिया हुआ उत्तम दान इन्द्रपदके सुखको देता है ॥ **भावार्थ**-अतिथिसंविभागव्रतका पालक जो श्रावक इस लोकमें यश, ख्याति, पूजा, धन, सोना, रत्न, स्त्री, पुत्र, यंत्र, मंत्र, तंत्र आदिकी चाह न करके और परलोकमें देवांगना, राज्य, नरेन्द्र, देवेन्द्र और धरणेन्द्रकी सम्पत्ति तथा धनधान्यकी प्राप्तिकी चाह न करके अत्यन्त श्रद्धाके साथ स्वयं अपने हाथसे सत्पात्रको दान देता है, दूसरेसे नहीं दिलाता, क्यों कि कहा है-"यदि कोई बहुत जरूरी काम न हो या दैवही ऐसा न हो तो धर्मसेवा, स्वामीकी सेवा और संतान उत्पन्न करना, इन कामोंको कौन बुद्धिमान पुरुष दूसरेके हाथ सौंप सकता है ।" वह पुरुष ऋषि, यति, मुनि और अनगारके भेदसे अथवा मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविकाके भेदसे चार प्रकारके संघको सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रयमें स्थापित करता है । क्योंकि सरस आहार करनेसे

१ ब देइ । २ ल स ग रयणत्तये । ३ ब सुट्ठविदो (?) । ४ म विसेसो । ५ ग दिणे । ६ ब होदि । ७ ब दाणं । पुव्व इत्यादि ।

दिने दिवसे, अपिशब्दात् सर्वस्मिन् दिने दत्तं दानं किं करोतीत्याह । उत्तमं सर्वोत्कृष्टम् इन्द्रसुखं कल्पवासिनां देवेन्द्राणां सौधर्मेन्द्रादीनां सुखं शर्म ददाति वितरति । उक्तं च तथा । "सम्मादिट्ठी पुरिसो उत्तमपत्तस्स दिण्णदाणेण । उप्पज्जइ दिवलोए हवेइ स महड्ढिओ देवो ॥ १ ॥ मिच्छादिट्ठी पुरिसो दाणं जो देदि उत्तमे पत्ते । सो पावइ वरभोए फुडु उत्तमभोयभूमीसु ॥ २ ॥ मज्झिमपत्ते मज्झिमभोयब्भूमीसु पावए भोए । पावइ जहण्णभोए जहण्णपत्तस्स दाणेण ॥ ३ ॥ उत्तमखेत्ते बीयं फलइ जहा कोडिलक्खगुणेहिं । दाणं उत्तमपत्ते फलइ तहा किमित्थ भणिएण ॥ ४ ॥" इति । तथा च सूत्रे 'विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात् तद्विशेषः' । सुपात्रप्रतिग्रहादिनवप्रकारपुण्योपार्जनं विधिरुच्यते । तस्य विधेः विशेषः आदरोऽनादरश्च । आदरेण विशिष्टं पुण्यं भवति । अनादरेण अविशिष्टं पुण्यमिति १ । द्रव्यं मकारत्रयरहितं तन्दुलगोधूमविकृतिघृतादिकं शुद्धं चर्मपात्रास्पृष्टं तस्य विशेषः ग्रहीतुर्मुनेस्तपःस्वाध्यायशुद्धपरिणामादिवृद्धिहेतुः विशिष्टपुण्यकारणम् अन्यथा अन्यादृशकारणम् । 'जो पुण हुंतइ कणधणइं मुणिहिं कुभोयणु देइ । जम्मि जम्मि दालिद्दडउ पुट्ठि ण तहु छंडेइ ॥' २ । दाता द्विजनृपवाणिजवर्णवर्णनीयस्तस्य विशेषः पात्रेऽनसूयः त्यागे विषादरहितः दातुमिच्छुः दाता ददद्दत्तवत्प्रीतियोगः शुभपरिणामः दृष्टफलानपेक्षकः सप्तगुणसमेतः दाता ३ । पात्रमुत्तममध्यमजघन्यभेदम्, तत्रोत्तमं पात्रं महाव्रतविराजितं मध्यमपात्रं श्रावकव्रतपवित्रं जघन्यपात्रं सम्यक्त्वेन निर्मलीकृतम्, तस्य विशेषः सम्यग्दर्शनादिशुद्धा शुद्धिः तद्विशेषः तस्य दानस्य फलविशेषस्तद्विशेषः । तथा अतिथिसंविभागस्य पञ्चातिचारा वर्जनीयाः । ते के । 'सचित्तनिक्षेपपिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ।' सचित्ते

संघके शरीरमें शक्ति आती है। नीरोगता वगैरह रहती है और उनके होनेसे ज्ञान ध्यानका अभ्यास, तत्त्वचिन्तन, श्रद्धा, रुचि, पर्वमें उपवास, तीर्थयात्रा, धर्मका उपदेश सुनना सुनाना आदि कार्य सुखपूर्वक होते हैं। तथा ध्यानी ज्ञानी निर्ग्रन्थ मुनिको छियालिस दोषों और १४ मलोंसे रहित दान एक दिन भी देनेसे कल्पवासी देवोंके सौधर्मेन्द्र आदि पदोंका सुख प्राप्त होता है। कहा भी है–"जो सम्यग्दृष्टि पुरुष उत्तम पात्रको दान देता है वह उत्तम भोगभूमिमें जन्म लेता है। जो मध्यम पात्रको दान देता है वह मध्यम भोगभूमिमें जन्म लेता है। और जो जघन्य पात्रको दान देता है वह जघन्य भोग भूमिमें जन्म लेता है। जैसे उत्तम जमीनमें बोया हुआ बीज लाख करोड़ गुना फलता है वैसे ही उत्तम पात्रको दिया हुआ दान भी फलता है।" तत्त्वार्थ सूत्रमें भी कहा है–'विधि विशेष, द्रव्य, विशेष, दाता विशेष और पात्र विशेषसे दानमें विशेषता होती है।' आदरपूर्वक दान देना विधिकी विशेषता है क्यों कि आदर पूर्वक दान देनेसे विशेष पुण्य होता है और अनादर पूर्वक दान देनेसे सामान्य पुण्य होता है। मुनिको जो द्रव्य दिया जाये उसमें मद्य मांस मधुका दोष न हो, चावल गेहूं घी वगैरह सब शुद्ध हो, चमड़ेके पात्रमें रक्खे हुए न हो। जो द्रव्य मुनिके तप, स्वाध्याय और शुद्ध परिणामों आदिकी वृद्धिमें कारण होता है वह द्रव्य विशेष है। ऐसे द्रव्यके देनेसे विशिष्ट पुण्य बन्ध होता है, और जो द्रव्य आलस्य रोग आदि पैदा करता है उससे उल्टा पापबन्ध या साधारण पुण्यबन्ध होता है। कहा भी है–'जो पुरुष घरमें धन होते हुए भी मुनिको कुभोजन देता है अनेक जन्मोंमें भी दारिद्र्य उसका पीछा नहीं छोड़ता।' दाता ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्यवर्णका होना चाहिये। पात्रकी निन्दा न करना, दान देते हुए खेदका न होना, जो दान देते हैं उनसे प्रेम करना, शुभ परिणामसे देना, किसी दृष्टफलकी इच्छासे न देना और सात गुण सहित होना, ये दाताकी विशेषता है। पात्र तीन प्रकारका बतलाया है–उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। सम्यग्दर्शन, व्रत वगैरहका निर्मल होना पात्रकी विशेषता है। इन सब विशेषताओंके होने से दानके फलमें भी विशेषता होती है। अतिथिसंविभाग व्रतके भी पांच अतिचार कहे हैं–सचित्त केले

कदलीपत्रोत्पलकपत्रपद्मपत्रादौ आहारस्य निक्षेपः मोचनम् १। सचित्तेन कदल्यादिपत्रादिना आहारस्य अपिधानम् आवरणम् आच्छादनम् २। अपरदातुर्देयस्यार्पणं मम कार्यं वर्तते त्वं देहीति परव्यपदेशः, परस्य व्यपदेशः कथनं वा, अत्र परे अन्ये दातारो वर्तन्ते नाहमत्र दायको वर्ते इति परव्यपदेशः ३। यद्दानं ददत् पुमान् आदरं न कुरुते अपरदातृगुणान् न क्षमते वा तन्मात्सर्यम् ४। अकाले भोजनं अनगारायोग्यकाले दानं क्षुधितेऽनगारे विमर्दकरणं च कालातिक्रमः ५। इत्यतिथिसंविभागाख्यं तृतीयशिक्षाव्रतं समाप्तम् ॥ ३६५-६ ॥ अथ देशावकाशिकशिक्षाव्रतं गाथाद्वयेन व्याचष्टे-

पुव्व-पमाण-कदाणं[1] सव्व-दिसीणं पुणो वि संवरणं ।
इंदिय-विसयाण तहा[2] पुणो वि जो कुणदि संवरणं ॥ ३६७ ॥
वासादि-कय-पमाणं दिणे दिणे[3] लोह-काम-समणट्ठं[4] ।
सावज्ज-वज्जणट्ठं तस्स चउत्थं वयं होदि ॥ ३६८ ॥

[छाया-पूर्वप्रमाणकृतानां सर्वदिशानां पुनः अपि संवरणम् । इन्द्रियविषयाणां तथा पुनः अपि यः करोति संवरणम् ॥ वर्षादिकृतप्रमाणं दिने दिने लोभकामशमनार्थम् । सावद्यवर्जनार्थं तस्य चतुर्थं व्रतं भवति ॥] तस्य पुंसः चतुर्थं शिक्षाव्रतं देशावकाशिकाख्यं भवति । तस्य कस्य । यः श्रावकः पुनरपि पूर्वप्रमाणकृतानां पूर्वस्मिन् दिग्गुणव्रते प्रमाणविषयकृतानां सर्वदिशानां पूर्वोत्तरपश्चिमदक्षिणदिग्विदिगधोर्ध्वदिगिति दशदिशां दिशानां काष्ठानां संवरणं संकोचनं करोति शालिप्रतोलिखातिकामार्गगृहहट्टनदीसरोवरकूपसमुद्रग्रामयोजनवनोपवनादिपरिमाणं मर्यादा प्रतिदिनं करोतीत्यर्थः। तथा इन्द्रियविषयाणाम् इन्द्रियाणां सेव्या ये विषया गोचराः गम्याः तेषाम् इन्द्रियविषयाणां स्पर्श ८ रस ५ गन्ध २ वर्ण ५ शब्दानां ७ पदार्थानां पुनरपि पूर्वं निषिद्धानामपि पुनः संवरणं संकोचनं निवृत्तिं प्रतिदिनं करोति । दिने दिने दिनं

के पत्ते, कमलके पत्ते वगैरहमें आहारका रखना १, केले के सचित्त पत्ते वगैरहसे आहारको ढांकना २, दूसरे दाताने जो द्रव्य देनेको रखा है उसे स्वयं दे देना अथवा दूसरेपर दान देनेका भार सौंप देना कि मुझे काम है तुम दे देना, अथवा और बहुतसे देनेवाले हैं, अतः मैं देकर क्या करूंगा, इस प्रकार दूसरोंके बहानेसे स्वयं दान न देना, दान देनेवाले अन्य दातासे ईर्षा करना, मुनियोंके भोजनके समयको टालकर अकालमें भोजन करना, अतिथिसंविभाग व्रतके ये पांच अतिचार छोड़ने चाहिये । अतिथिसंविभाग नामके तीसरे शिक्षाव्रतका कथन समाप्त हुआ ॥ ३६५-३६६ ॥ अब दो गाथाओंसे देशावकाशिक नामके शिक्षाव्रतको कहते हैं । **अर्थ**-जो श्रावक लोभ और कामको घटानेके लिये तथा पापको छोड़नेके लिये वर्ष आदिकी अथवा प्रति दिनकी मर्यादा करके, पहले दिग्विरतिव्रतमें किये हुए दिशाओंके परिमाणको तथा भोगोपभोगपरिमाणमें किये हुए इन्द्रियोंके विषयोंके परिमाणको और भी कम करता है उसके चौथा देशावकाशिक नामका शिक्षाव्रत होता है ॥ **भावार्थ**-दिग्विरति नामक गुणव्रतमें दसों दिशाओंकी मर्यादा जीवनपर्यन्तके लिये की जाती है, तथा भोगोपभोग परिमाण व्रतमें इन्द्रियोंके विषयोंकी मर्यादा की जाती है । किन्तु देशावकाशिक नामके शिक्षाव्रतमें कालकी मर्यादा बांध कर उक्त दोनों मर्यादाओंको और भी कम किया जाता है । अर्थात् जिस नगर या ग्राममें देशावकाशिक व्रती रहता हो उस नगरकी चार दीवारी, खाई, या अमुक मार्ग अथवा अमुक घर, बाजार, नदी, सरोवर, कुआ, समुद्र, गांव, वन, उपवन वगैरहकी मर्यादा बांध कर

१ ब कयाणं । २ ब तह (?) । ३ ब दिणि दिणि (?) । ४ ल म स ग समणत्थं ।

दिनं प्रति वासादिकयपमाणं वर्षादिकृतप्रमाणं वर्षायनर्तुमासपक्षदिवसादिपर्यन्तकृतमर्यादं कृतसंवरणम् अथवा वासादिकयपमाणं वस्त्रादिचतुर्दशवस्तूनां सप्तदशवस्तूनां प्रतिदिनं नियमः परिमाणं वा मर्यादासंख्यां कर्तव्यम् । उक्तं च 'तंबूल १ गंध २ पुप्फा ३ दिससंखा ४ वत्थ ५ वाहणं ६ जाण ७ । सच्चित्तवत्थुसंखा ८ रसवाओ ९ आसणं सेजा १० ॥ णियगाममग्गसंखा ११ उड्ढा १२ अहो १३ तिरयगमणपरिमाणं १४ । एदे चउदसणियमा पडिदिवसं होंति सावयाणं च ॥' 'भोजने १ षड्रसे २ पाने ३ कुङ्कुमादिविलेपने ४ । पुष्प ५ ताम्बूल ६ गीतेषु ७ नृत्यादौ ८ ब्रह्मचर्यके ९ ॥ स्नान १० भूषण ११ वस्त्रादौ १२ वाहने १३ शयना १४ सने १५ । सचित्त १६ वस्तुसंख्यादौ १७ प्रमाणं भज प्रत्यहम् ॥' इति । किमर्थं संवरणम् । लोभकामशमनार्थम्, लोभः तृष्णा परवस्तुवाञ्छा कामः कन्दर्पसुखं तयोर्लोभकामयोः शमनार्थं निरासार्थम् । पुनः किमर्थम् । सावद्यवर्जनार्थम्, सावद्यं हिंसादिकृतपापं तस्य पापकर्मणः वर्जनं निवृत्तिः तदर्थं पापव्यापारशमनाय पडिसंवरणं पूर्वकृतं संवरणमपि पुनः संवरणं प्रतिसंवरणम् । चतुर्थदेशावकाशिकशिक्षाव्रतस्याति-

---

और वर्ष, अयन, ऋतु, मास, पक्ष या दिनका परिमाण करके वह उतने समय तक उस मर्यादाके बाहर नहीं आता जाता । तथा इसी प्रकार इन्द्रियोंके विषयोंको भोगनेके परिमाणको भी घटाता है । अथवा गाथामें आये 'वासादिक पमाणं' पदका अर्थ 'वर्ष आदिका प्रमाण' न करके 'वस्त्र आदिका प्रमाण' अर्थ भी किया जा सकता है क्यों कि प्राकृतमें 'वास' का अर्थ वस्त्र भी होता है । अतः तब अर्थ ऐसा होगा कि देशावकाशिक व्रतीको वस्त्र आदि चौदह वस्तुओंका अथवा सतरह वस्तुओं का प्रति-दिन परिमाण करना चाहिये । वे चौदह वस्तुएँ इस प्रकार कही हैं–ताम्बूल, गन्ध, पुष्प वगैरह, वस्त्र, सवारी, सचित्तवस्तु, रस, वाद्य, आसन, शय्या, अपने गांवके मार्ग, ऊर्ध्वगमन, अधोगमन और तिर्यग्गमन । इन चौदह बातोंका नियम श्रावकको प्रति दिन करना चाहिये । सतरह वस्तुएं इस प्रकार हैं–भोजन, षट् रस, पेय, कुंकुम आदिका लेपन, पुष्प, ताम्बूल, गीत, नृत्य, मैथुन, स्नान, भूषण, वस्त्र, सवारी, शय्या, आसन, सचित्त और वस्तु संख्या । इन सतरह वस्तुओंका प्रमाण प्रति दिन करना चाहिये कि मैं आज इतनी बार इतना भोजन करूंगा, या न करूंगा, आदि । यह प्रमाण लोभ कषाय और कामकी शान्तिके लिये तथा पापकर्मसे बचनेके लिये किया जाता है । इसीका नाम देशावकाशिक व्रत है । यह हम पहले लिख आये हैं कि किन्हीं आचार्योंने देशावकाशिक व्रतको गुणव्रतोंमें गिनाया है और किन्हींने शिक्षाव्रतोंमें गिनाया है । जिन आचार्योंने देशावकाशिकको शिक्षाव्रतोंमें गिनाया है उन्होने उसे प्रथम शिक्षाव्रत रखा है तथा दिग्विरतिव्रतके अन्दर प्रतिदिन कालकी मर्यादा करके देशकी मर्यादाके सीमित करनेको देशावकाशिक कहा है । यही बात 'देशावकाशिक' नामसे भी स्पष्ट होती है । किन्तु इस ग्रन्थमें ग्रन्थकारने देशावकाशिकको चौथा शिक्षाव्रत रखा है तथा उसमें दिशाओंके परिमाणके संकोचके साथ भोगोपभोगके परिमाणको भी संकोचनेका नियम रखा है । ये बातें अन्यत्र हमारे देखनेमें नहीं आई । अस्तु, इस व्रतके भी पांच अतिचार कहे हैं–काम पड़नेपर मर्यादित देशके बाहरसे किसी वस्तुको लानेकी आज्ञा देना आनयन नामक अतिचार है । मर्यादित देशसे बाहर किसीको भेजकर काम कराना प्रेष्यप्रयोग नामका अतिचार है । मर्यादित देशसे बाहर काम करनेवाले मनुष्योंको लक्ष्य करके खखारना वगैरह शब्दानुपात नामका अतिचार है । मर्यादित देशसे बाहर काम करनेवाले नौकरोंको अपना रूप दिखाना जिससे वे मालिकको देखता देखकर जल्दी २ काम करें, रूपानुपात नामका अतिचार है ।

चाराः पञ्च । 'आनयन १ प्रेष्यप्रयोगः २ शब्द ३ रूपानुपात ४ पुद्गलक्षेपाः ५।' एते वर्जनीया इति शिक्षाव्रतं चतुर्थं संपूर्णम् । एतानि चत्वारि शिक्षाव्रतानि भवन्ति । मातृपित्रादिवचनवदपत्यानाम् अणुव्रतानम् शिक्षाप्रदायकानि अविनाशकारकाणीत्यर्थः ॥ ३६७-६८ ॥ अथ संक्षेपेण सल्लेखनामुल्लिखन्ति-

बारस-वएहिं[1] जुत्तो सल्लिहणं जो कुणेदि[2] उवसंतो ।
सो सुर-सोक्खं[3] पाविय कमेण सोक्खं[4] परं लहदि ॥ ३६९ ॥

[छाया-द्वादशव्रतैः युक्तः सल्लेखनां यः करोति उपशान्तः । स सुरसौख्यं प्राप्य क्रमेण सौख्यं परं लभते ॥] स पूर्वोक्तद्वादशव्रतधारी श्रावकः सुरसौख्यं सुराणामिन्द्रादीन सौख्यं सौधर्माद्यच्युतस्वर्गपर्यन्तइन्द्रसामानिकादीनां सुखम् अप्सरोविमानज्ञानविक्रियादिसंभवं सातं शर्म प्राप्य भुक्त्वा क्रमेण अनुक्रमेण जघन्येन द्वित्रिभवग्रहणेनोत्कृष्टेन सप्ताष्टभवग्रहणेन वा 'जहण्णेण दोतिण्णिभवगहणेण उक्कट्ठेण सत्तट्ठभवगहणेण' इति वचनात् परं सौख्यं निर्वाणसौख्यं स्वात्मोपलब्धिभवं सम्यक्त्वाद्यष्टगुणोपेतं शाश्वतम् अनुपमम् इन्द्रियातीतं सातं लभते प्राप्नोति । स कः । यः श्रावकः सल्लेखनां मारणान्तिकीं मरणकाले करोति । सत् सम्यग्लेखना कायस्य कषायाणां च कृशीकरणं तनूकरणं तुच्छकरणं सल्लेखना । कायस्य सल्लेखना बाह्यसल्लेखना, कषायाणां सल्लेखना आभ्यन्तरा सल्लेखना क्रमेण कायकारणान्नपानत्यजनं कषायाणां च त्यजनम् । शरीरसल्लेखनां कषायाणां सल्लेखनां च सं सम्यक् यथोक्तं भगवत्याद्युक्तप्रकारेण लेखनं कृशीकरणं करोति । कीदृक्षः सन् ।

उन्हींको लक्ष्य करके उनका ध्यान आकृष्ट करनेके लिये पत्थर वगैरह फेंकना पुद्गलक्षेप नामका अतिचार है। ये अतिचार देशावकाशिक व्रतीको छोड़ने चाहिये । जैसे माता पिताके वचन बच्चोंको शिक्षादायक होते हैं वैसे ही ये चार शिक्षाव्रत भी अणुव्रतोंका संरक्षण करते हैं ॥ ३६७-३६८ ॥ आगे संक्षेपसे संलेखनाको कहते हैं। **अर्थ**-जो श्रावक बारहव्रतों को पालता हुआ अन्त समय उपशम भावसे सल्लेखना करता है, वह स्वर्गके सुख प्राप्त करके क्रमसे उत्कृष्ट सुख प्राप्त करता है ॥ **भावार्थ**-शरीर और कषायोंके क्षीण करनेको सल्लेखना कहते हैं । शरीरको क्षीण करना बाह्य सल्लेखना है और कषायोंको क्षीण करना अभ्यन्तर सल्लेखना है। यह सल्लेखना मरणकाल आनेपर की जाती है। जब पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंका पालक श्रावक यह देखता है कि किसी उपसर्गसे या दुर्भिक्ष पड़नेसे, या बुढ़ापेके कारण अथवा रोगके कारण मृत्यु सुनिश्चित है और उससे बचनेका कोई उपाय नहीं है तब वह अपने जीवन भर पाले हुए धर्मकी रक्षाके लिये तत्पर हो जाता है। और राग, द्वेष, मोह, परिग्रह वगैरहको छोड़कर, शुद्ध मनसे अपने कुटुम्बियों और नौकर चाकरोंसे क्षमा मांगता है तथा उनके अपराधोंके लिये उन्हें क्षमा कर देता है। उसके बाद स्वयं किये हुए, दूसरोंसे कराये हुए और अनुमोदनासे किये हुए अपने जीवन भर के पापोंकी आलोचना बिना छल छिद्रके करता है। उसके बाद मरणपर्यन्तके लिये पूर्ण महाव्रत धारण कर लेता है अर्थात् मुनि हो जाता है और शोक, भय, खेद, स्नेह वगैरह दुर्भावोंको छोड़कर अच्छे अच्छे शास्त्रोंकी चर्चा श्रवणसे अपने मनको प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करता है। इस तरह कषायोंको क्षीण करके भोजन छोड़ देता है और दूध वगैरह परही रहता है। फिर क्रमसे दूध वगैरहको भी छोड़कर गर्मजल रख लेता है। और जब देखता है कि मृत्यु अत्यन्त निकट है तब गर्म जलको भी छोड़कर उपवास धारण कर लेता है। और मनमें पञ्चनमस्कार मंत्रका चिन्तन

---

१ छ म ग वयेहि । २ छ म ग जो सल्लेहणं (स सल्लेहण) करेदि, ब सल्लेहणं (?)। ३ ब सुक्खं। ४ ब मोक्खं (?)

पूर्वोक्तैः पञ्चाणुव्रतत्रिगुणव्रतचतुःशिक्षाव्रतैर्द्वादशैर्युक्तः संयुक्तः सन् । पुनः किंभूतः । उपशान्तः अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान-क्रोधमानमायालोभानामुपशामकः क्रोधादिरहितः रागद्वेषपरिणामविनिर्मुक्त इत्यर्थः । तस्याः अतिचाराः पञ्च । के ते इति चेदुच्यते । 'जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ।' जीवितस्याशंसा वाञ्छा अभिलाषः मरणस्याशंसा वाञ्छाभिलाषः । कथम् । निश्चितम् अध्रुवं हेयं चेदं शरीरं तस्य स्थितौ आदरः जीविताशंसाभिलाषः १ । रोगादिभीते-र्जीवस्यासंक्लेशेन मरणे मनोरथो मरणाशंसाभिलाषः २ । चिरन्तनं मित्रेण सह क्रीडानुस्मरणं कथमनेन ममाभीष्टेन मित्रेण मया सह पांशुक्रीडनादिकं कृतम्, कथमनेन ममाभीष्टेन व्यसनसहायत्वम् आचरितं, कथमनेन ममाभीष्टेन मदुत्सवे संभ्रमो विहितः इत्याद्यनुस्मरणं मित्रानुरागः ३ । एवं मया शयनवस्त्रादिकं भुक्तम्, एवं मया हंसतूलोपरि दुकूलाच्छा-दितायां शय्यायां वरवनिताया आलिङ्गितेन सुखं शयितम् इत्य दिसुखानि मम संपन्नानि अनुभूतप्रीतिप्रकारस्मृतिः वारं वारं स्मरणं सुखानुबन्धः पूर्वभुक्तसुखानुस्मरणमित्यर्थः ४ । भोगाकांक्षणेन निश्चितं दीयते मनो यस्मिन् येन वा तन्निदानम् ५ । ॥ ३६९ ॥ इति सल्लेखनानामकं व्रतं समाप्तम् । पुनः व्रतमाहात्म्यं संटीकते–

एक्कं पि वयं विमलं सद्दिट्ठी जइ[1] कुणेदि दिढ-चित्तो ।
तो विविह-रिद्धि-जुत्तं इंदत्तं पावए[2] णियमा ॥ ३७० ॥[3]

[छाया–एकम् अपि व्रतं विमलं सद्दृष्टिः यदि करोति दृढचित्तः । तत् विविधऋद्धियुक्तम् इन्द्रत्वं प्राप्नोति नियमात् ॥] यदि चेत् सद्दृष्टिः सम्यग्दृष्टिः सम्यक्त्वसहितः श्रावकः । किंभूतः । दृढचित्तः स्वकीयव्रतरक्षणे निश्चलचित्तः स्थिरमनाः एकमपि व्रतं द्वादशव्रतानां मध्ये एकमपि व्रतम् अपिशब्दात् सकलान्यपि व्रतानि करोति संधत्ते धरति । कीदृशं व्रतम् । विमलं विगताभिचारमलम्, मलाः एकैकस्मिन् व्रते पञ्चातिचाराः तै रहितं निरतिचारं व्रतम्, तो तर्हि, नियमात् निश्चयतः, इन्द्रत्वं सुरस्वामित्वं कल्पवासिदेवानामीशत्वं प्राप्नोति लभते । कीदृक्षं तत् । विविधर्द्धियुक्तम्, सामा-निकादिसुरविमानदेवाङ्गनादिसुखैः संयुक्तम् । अथवा अणिमा विशच्छिद्रेऽपि चक्रवर्तिपरिवारविभूतिं सृजेत् १, महिमा

करते हुए शरीर को छोड़ देता है । इसी को सल्लेखना या समाधिमरण कहते हैं । इस समाधिमरणसे श्रावक मरकर नियमसे स्वर्गमें जन्म लेकर वहांके सुखोंको भोगता है और फिर क्रमसे कम दो तीन भव और अधिकसे अधिक सात आठ भव धारण करके स्वात्मोपलब्धिरूप अनु-पम मोक्षसुखको प्राप्त करता है । इस सल्लेखना व्रतके भी पांच अतिचार छोडने चाहिये । जो इस प्रकार हैं–समाधि मरण करते समय जीने की इच्छा करना पहला अतिचार है । रोग, कष्ट वगैरहके भयसे जल्दी मरण होनेकी इच्छा करना दूसरा अतिचार है । मित्रोंको याद करना कि अमुक मित्रके साथ मैं बचपनमें कैसा खेला करता था, कैसे मेरे मित्रने कष्टमें मेरा साथ दिया, यह सब याद करना तीसरा अतिचार है । 'मै युवावस्थामें कितनी मौजसे खाता पीता था, गुलगुले गद्दोंपर स्त्रीके साथ सोता था' इस प्रकार पहले भोगे हुए भोगोंका स्मरण करना चौथा अतिचार है । 'मैं मरकर स्वर्गमें देव हूंगा वहां तरह तरहके सुख भोगूंगा' इस प्रकार आगामी सुखोंकी चाह करना पांचवा अतिचार है । इस प्रकार सल्लेखना व्रतका वर्णन समाप्त हुआ ॥ ३६९ ॥ आगे व्रतका माहात्म्य कहते हैं । **अर्थ–**यदि सम्यग्दृष्टि जीव अपने चित्तको दृढ करके एक भी निर्दोष व्रतका पालन करता है तो नियमसे अनेक प्रकारकी ऋद्धियोंसे युक्त इन्द्रपदको पाता है ॥ **भावार्थ–**एक भी व्रतका ठीक ठीक पालन करनेके लिये जीवको सम्यग्दृष्टि अवश्य होना चाहिये । विना सम्यक्त्वके व्रतोंका पालन करना विना बीजके वृक्ष उगानेके समान ही है । अतः सम्यग्दृष्टि श्रावक यदि दिलको मजबूत करके

---

१ ब जो करदि, ल ग जइ कुणदि, म कुणेदि, स विजइ कुणदि । २ ल ग पावइ । ३ ब वयट्ठाणं । जो इत्यादि ।

मेरोरपि महच्छरीरं कुरुते २, लघिमा वायोरपि लघुता ३, गरिमा वज्रशैलादपि गुरुनरा ४, भूमौ स्थित्वा करेण शिखरादिस्पर्शनं प्राप्तिः ५, जले भूमाविव गमनं भूमौ जले इव मज्जनोन्मज्जनं प्राकाम्यं जातिक्रियागुणद्रव्यसैन्यादिकरणं वा प्राकाम्यम् ६, त्रिभुवनप्रभुत्वम् ईशत्वम् ७, अद्रिमध्ये वियतीव गमनम् अप्रतीघातं अदृश्यरूपता अन्तर्धानम् अनेकरूपकरणं मूर्तामूर्ताकारकरणं वा कामिरूपत्वम् ८। अणिमा १ महिमा २ लघिमा ३ गरिमा ४ न्तर्धानं ५ कामरूपित्वं ६ प्राप्तिप्राकाम्यवशित्वेशित्वाप्रतिहतत्वमिति विक्रियिकाः, इत्याद्यनेकर्द्धिसंयुक्तम् ॥ इति श्रीस्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षायां भ० श्रीशुभचन्द्रकृतायां टीकायां द्वादशव्रतव्याख्या समाप्ता ॥ ३७० ॥ अथ सामायिकप्रतिमां गाथाद्वयेन व्यनक्ति–

जो कुणदि काउसग्गं बारस-आवत्त-संजदो धीरो ।
णमण-दुगं पि कुणंतो[1] चदु-प्पणामो पसण्णप्पा ॥ ३७१ ॥
चिंतंतो ससरूवं जिण-बिंबं अहव अक्खरं परमं ।
झायदि कम्म-विवायं तस्स वयं होदि सामइयं ॥ ३७२ ॥[4]

[छाया–यः करोति कायोत्सर्गं द्वादशआवर्तसंयतः धीरः । नमनद्विकम् अपि कुर्वन् चतुःप्रणामः प्रसन्नात्मा ॥ चिन्तयन् स्वस्वरूपं जिनबिम्बम् अथवा अक्षरं परमम् । ध्यायति कर्मविपाकं तस्य व्रतं भवति सामायिकम् ॥] तस्य

एकभी व्रतका निरतिचार पालन करे तो उसे इन्द्रपद मिलना कोई दुर्लभ नहीं । अर्थात् वह मरकर कल्पवासी देवोंका स्वामी होता है जो आणिमा आदि अनेक ऋद्धियोंका धारी होता है । ऋद्धियां इस प्रकार हैं–इतना छोटा शरीर बना सकना कि मृणालके एक छिद्रमें चक्रवर्तिकी विभूति रच डाले इसे अणिमा ऋद्धि कहते हैं । सुमेरुसे भी बड़ा शरीर बना लेना महिमा ऋद्धि है । वायुसे भी हल्का शरीर बना लेना लघिमा ऋद्धि है । पहाड़से भी भारी शरीर बना लेना गरिमा ऋद्धि है । भूमिपर बैठकर अंगुलिसे सूर्य चंद्रमा वगैरहको छू लेना प्राप्ति ऋद्धि है । जलमें भूमिकी तरह गमन करना और भूमिमें जलकी तरह डुबकी लगाना प्राकाम्य ऋद्धि है । तीनों लोकोंका स्वामीपना ईशित्व ऋद्धि है । आकाशकी तरह विना रुके पहाड़मेंसे गमनागमन करना, अदृश्य हो जाना अथवा अनेक प्रकारका रूप बनाना कामरूपित्व ऋद्धि है । इस तरह व्रत प्रतिमाका वर्णन करते हुए बारह व्रतोंका वर्णन पूर्ण हुआ ॥ ३७० ॥ अब दो गाथाओंसे सामायिक प्रतिमाको कहते हैं । **अर्थ**–जो धीर श्रावक बारह आवर्तसहित चार प्रणाम और दो नमस्कारोंको करता हुआ प्रसन्नतापूर्वक कायोत्सर्ग करता है । और अपने स्वरूपका, अथवा जिनबिम्बका, अथवा परमेष्ठीके वाचक अक्षरोंका, अथवा कर्मविपाकका चिन्तन करते हुए ध्यान करता है उसके सामायिक प्रतिमा होती है ॥ **भावार्थ**–सामायिक शिक्षाव्रतका वर्णन करते हुए सामायिकका वर्णन किया गया है । सामायिक प्रतिमामें उसका विशेष स्वरूप बतलाया है । सामायिक करनेवाला धीर वीर होना चाहिये अर्थात् सामायिक करते समय यदि कोई परीषह अथवा उपसर्ग आजाये तो उसे सहनेमें समर्थ होना चाहिये तथा उस समय मी परिणाम निर्मल रखने चाहिये । क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष और परिग्रह वगैरहकी चिन्ता नहीं होनी चाहिये । प्रथम ही सामायिक दण्डक किया जाता है । उसकी विधि इस प्रकार है–श्रावक पूर्वदिशाकी ओर मुंह करके दोनों हाथ मस्तकसे लगाकर भूमिमें नमस्कार करे । फिर खड़ा होकर दोनों हाथ नीचे लटकाकर शरीरसे ममत्व छोड़ कायोत्सर्ग करे ।

---

१ ल म स ग कुणइ । २ म स आउत्त । ३ ल म स ग करतो । ४ ब सामार (इ ?) यं । सत्तम इत्यादि ।

श्रावकस्य सामायिकाख्यं व्रतं सर्वसावद्ययोगविरतोऽस्मि लक्षणं भवति। तस्य कस्य। यः श्रावकः करोति विदधाति। कं तम्। कायोत्सर्गः कायस्य शरीरादेः उत्सर्गः ममतापरित्यागः तं कायोत्सर्गं शरीरादेर्ममत्वपरित्यागं करोति। दण्डके पञ्चनमस्कारवेलायां कायोत्सर्गं शरीरममत्वपरिहारम्। कथंभूतः सन् श्रावकः। द्वादशावर्तसंयुक्तः, करयोः आवर्तनं परिभ्रमणं आवर्तः, द्वादश चैते आवर्ताश्च हस्तपरिभ्रमणाः। दण्डकस्य प्रारम्भे त्रयः आवर्ताः पञ्चनमस्कारोच्चारेणादौ मनोवचनकायानां संयमनानि शुभयोगवृत्तयः त्रयः आवर्ताः ३, तथा पञ्चनमस्कारसमाप्तौ 'दुच्चरियं वोस्सरामि' अत्र आवर्तात्रयः मनोवचनकायानां शुभवृत्तयः त्रयः आवर्ताः ३, चतुर्विंशतिस्तवनादौ 'थोस्सामि हं जिणवरे' अत्र मनोवचनकायानां शुभवृत्तयः त्रीण्यपरावर्तनानि ३, तथा चतुर्विंशतिस्तवनसमाप्तौ 'सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु' अत्र शुभमनोवचनकायावृत्तयस्त्रीण्यावर्तनानि ३, एवं द्वादशधा मनोवचनकायवृत्तयो द्वादशावर्ता भवन्ति १२। एवं द्वादशावर्तेन समेतः, अथवा चतुर्दिक्षु चत्वारः प्रणामाः एकस्मिन् भ्रमणे, एवं त्रिषु भ्रमणेषु द्वादशावर्ताः तैर्युक्तः। पुनः कीदृक्षः। धीरः धियं बुद्धिं राति गृह्णातीति धीरः भेदज्ञानी वा परीषहोपसर्गसहनसमर्थः। पुनः कीदृक्षः। नतिद्वयं कुर्वन् द्वे अवनती विदधानः, दण्डकस्यादौ अन्ते च नतिद्वयम्, हस्तद्वयं मस्तके कृत्वा भूमौ नमनं पञ्चनमस्कारादौ एकावनतिर्भूमिं संस्पृश्य तथा चतुर्विंशतिस्तवनान्ते द्वितीयावनतिः शरीरनमनम्, द्वे अवनती कुर्वन्। पुनरपि कीदृक्। चतुःप्रणामः चत्वारः प्रणामाः शिरोनतयः यस्य स तथोक्तः। दण्डकस्यादौ एकः प्रणामः १, मध्ये द्वौ प्रणामौ २, अन्ते एकः प्रणामः १। तथाहि पञ्चनमस्कारस्यादौ अन्ते च करमुकुलाङ्कितशिरःकरणं २, तथा चतुर्विंशतिस्तवादौ अन्ते च करमुकुलाङ्कितशिरःकरणमेवं २ चत्वारि शिरांसि चतुःशिरोनतयः चतुःप्रणामः। स पुनः कीदृक्। प्रसन्नात्मा प्रसन्नः कषायादिदुःपरिणामरहितः आत्मा स्वरूपं यस्य स प्रसन्नात्मा क्रोधमानमायालोभरागद्वेषसंगादिपरिणामरहितः निर्मलपरिणाम इत्यर्थः। पुनः कीदृक्षः। चिन्तयन् ध्यायन् अनुभवन्। किम्। स्वस्वरूपं स्वशुद्धचिद्रूपं स्वशुद्धबुद्धैकपरमानन्दस्वरूपपरमात्मानं चिन्तयन्, अथवा जिनबिम्बं जिनप्रतिमां ध्यायति, अथवा परमाक्षरं ध्यायति चिन्तयति॥ उक्तं च। 'पणतीस ३५ सोल १६ छ ६ प्पण ५ चदु ४ दुग २ मेगं १ च जवह झाएह। परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवदेसेण॥' इति। तथा

कायोत्सर्गके अन्तमें दोनों हाथोंको मुकुलित करके मन वचन कायकी शुद्धताके सूचक तीन आवर्त करे, अर्थात् दोनों मुकुलित करोंको तीन वार घुमाये। और फिर दोनों हाथ मस्तकसे लगाकर प्रणाम करे। इस तरह चारों दिशाओंमें कायोत्सर्ग समाप्त करके पुनः दोनों हाथ मस्तकसे लगाकर भूमिमें नमस्कार करे। ऐसा करनेसे प्रत्येक दिशामें तीन तीन आवर्त और एक एक प्रणाम करनेसे बारह आवर्त और चार प्रणाम होते हैं, तथा दण्डकके आदि और अन्तमें दो नमस्कार होते हैं। इस तरह दण्डक कर चुकनेके पश्चात् ध्यान किया जाता है। ध्यान करते समय या तो शुद्ध बुद्ध परमानन्द स्वरूप परमात्माका चिन्तन करना चाहिये। या जिनबिम्बका चिन्तन करना चाहिये, या परमेष्ठीके वाचक मंत्रोंका चिन्तन करना चाहिये। कहा भी है–'परमेष्ठीके वाचक ३५, १६, ६, ५, ४, २, और एक अक्षरके मंत्रका जप करो और ध्यान करो। तथा गुरूके उपदेशसे अन्य भी मंत्रोंको जपो और ध्यान करो।' सो पैंतीस अक्षरका मंत्र तो नमस्कार मंत्र है। 'अर्हन्त–सिद्ध–आचार्य–उपाध्याय–सर्वसाधुः' यह मंत्र १६ अक्षर का है। 'अरिहन्त सिद्ध' यह मंत्र छै अक्षरका है। 'अ सि आ उ सा' यह मंत्र पांच अक्षरका है। 'अरिहन्त' यह मंत्र चार अक्षरका है। 'सिद्ध' यह मंत्र दो अक्षरका है और 'ओं' यह मंत्र एक अक्षरका है। इन मंत्रोंका ध्यान करना चाहिये। और यदि सामायिकके समय कोई परीषह या उपसर्ग आजाये और मन विचलित होने लगे तो कर्मोंके उदयका विचार करना चाहिये। या वैसे भी ज्ञानावरण आदि कर्मोंके विपाकका चिन्तन करना चाहिये कि शुभ प्रकृतियोंका उदय गुड खाण्ड शर्करा और अमृतके समान

कर्मविपाकं ध्यायति, कर्मणां ज्ञानावरणादीनां विपाकः उदयः, शुभप्रकृतीनां विपाकः उदयः गुडखण्डशर्करामृतरूपः अशुभप्रकृतीनाम् उदयः निम्बकाञ्जीरविषहालाहलरूपः, तं ध्यायति चिन्तयति। श्रीवसुनन्दिसिद्धान्तिना तथा चोक्तं च। "होऊण सुई चेइयगिहम्मि सगिहे व चेड्याहिमुहो। अण्णत्थ सुइपएसे पुव्वमुहो उत्तरमुहो वा ॥ १ ॥ जिणवयण १ धम्म २ चेइय ३ परमेट्ठि ४ जिणालयाग ५ णिच्चं पि। जं वंदणं तियालं कीरइ सामाइयं तं खु ॥ २ ॥ काउसग्गम्हि ठिदो लाहालाहं च सत्तुमित्त च। सजोगविप्पजोगं तिणकंचण चंदणं वासं ॥ ३ ॥ जो पस्सइ समभावं मणम्हि सरिदूण पंचणवकारं। वरअट्ठपाडिहेरेहिं संजुदं जिणसरूवं वा ॥ ४ ॥ सिद्धसरूवं झायदि अहवा झाणुत्तमं ससंवेयं। खणमेक्कमवि- चलंगो उत्तमसामाइयं तस्स ॥ ५ ॥" तथा "तिविहं तियरणसुद्धं मयरहियं दुविहठाणपुणरुत्तं। विणएण कमविसुद्धं किदियम्मं होदि कायव्वं ॥ किदिकम्मं पि करंतो ण होदि किदिकम्मणिज्जराभागी। बत्तीसाणण्णदरं साहू ठाणं विराहंतो ॥ २ ॥" इति सामायिकप्रतिमा, चतुर्थो धर्मः ४ ॥ ३७१-२ ॥ अथ प्रोषधप्रतिमाधर्मं गाथाषट्केनाह–

> सत्तमि[1]-तेरसि-दिवसे अवरण्हे जाइऊणं[2] जिण-भवणे।
> किच्चा किरिया-कम्मं[3] उववासं चउविहं[4] गहियं[5] ॥ ३७३ ॥
> गिह-वावारं चत्ता रत्तिं गमिऊण धम्म-चिंताए[6]।
> पच्चूसे उट्ठित्ता किरिया-कम्मं च कादूणं[7] ॥ ३७४ ॥
> सत्थब्भासेण पुणो दिवसं गमिऊण वंदणं किच्चा।
> रत्तिं णेदूणं[8] तहा पच्चूसे वंदणं किच्चा ॥ ३७५ ॥
> पुज्जण[9]-विहिं च किच्चा पत्तं गहिऊण णवरि ति-विहं पि।
> भुंजाविऊण[10] पत्तं भुंजंतो पोसहो होदि ॥ ३७६ ॥

होता है और अशुभ प्रकृतियोका उदय नीम, कांजीर, विष और हलाहल विषकी तरह होता है। इसे ही विपाक विचय धर्मध्यान कहते हैं। आचार्य वसुनन्दि सैद्धान्तिकने भी कहा है–"जो शुद्ध होकर जिन मन्दिरमें अथवा अपने घरमें, अथवा किसी अन्य पवित्र स्थानमें जिनबिम्बके सन्मुख या पूर्वदिशा अथवा उत्तर दिशाकी ओर मुख करके सदा त्रिकाल जिनवचन, जिनधर्म, जिनबिम्ब, पर- मेष्ठी और जिनालयकी वन्दना करता है वह निश्चयसे सामायिकको करता है ॥ तथा जो कायोत्सर्गसे स्थित होकर लाभ अलाभ, शत्रु मित्र, संयोग वियोग, तृण कांचन, चन्दन और विसौलाको समभावसे देखता है। तथा मनमें पंच नमस्कारको धारण करके आठ उत्तम प्रातिहार्योंसे युक्त जिन भगवान्के स्वरूपका अथवा सिद्धस्वरूपका ध्यान करता है, अथवा एक क्षणके लिये भी निश्चल अंग होकर आत्मस्वरूपका ध्यान करता है वह उत्तम सामायिकका धारी है ॥" और भी कहा है–"मन वचन और कायको शुद्ध करके, मद रहित होकर विनय पूर्वक क्रमानुसार कृतिकर्म करना चाहिये। वह कृति- कर्म दो नमस्कार, बारह आवर्त तथा चार प्रणामके भेदसे तीन प्रकारका है और पर्यङ्कासन अथवा खड्गासन ये दो उसके आसन हैं ॥ किन्तु यदि साधु बत्तीस दोषोंका निवारण करके कृतिकर्म नहीं करता तो कृतिकर्म करते हुए भी वह कृतिकर्मसे होनेवाली निर्जराका भागी नहीं होता ॥" इस प्रकार सामायिक प्रतिमाका वर्णन समाप्त हुआ ॥ ३७१–७२ ॥ आगे छै गाथाओंसे प्रोषध प्रतिमाको कहते

---

१ ब सत्तम। २ स जायऊण। ३ छ म स ग किरिया कम्मं काऊ (उं?), ब किच्चा किरिया। ४ सर्वत्र तु चउव्विहं। ५ ब ग गहियं। ६ ब चिंताइ। ७ ब काऊणं। ८ ब णेइण। ९ ब पूजण। म तह य। १० ग भुञ्जाविऊण।

[छाया–सप्तमीत्रयोदशीदिवसे अपराह्ले गत्वा जिनभवने । कृत्वा क्रियाकर्म उपवासं चतुर्विधं गृहीत्वा ॥ गृहव्यापारं त्यक्त्वा रात्रिं गमयित्वा धर्मचिन्तया । प्रत्यूषे उत्थाय क्रियाकर्म च कृत्वा ॥ शास्त्राभ्यासेन पुनः दिवसं गमयित्वा वन्दनां कृत्वा । रात्रिं नीत्वा तथा प्रत्यूषे वन्दनां कृत्वा ॥ पूजनविधिं च कृत्वा पात्रं गृहीत्वा सविशेषं त्रिविधम् अपि । भोजयित्वा पात्रं भुञ्जानः प्रोषधः भवति ॥] स प्रोषधः प्रोषधव्रतधारी भवति । स कः । यः सप्तम्यास्त्रयोदश्याश्च दिवसे अतिथिजनाय पात्राय भोजनं दत्त्वा पश्चात् स्वयं भुक्त्वा ततः अपराह्ले जिनभवने गत्वा श्रीजिनेन्द्रचैत्यालयं गत्वा, वसतिकायां वा गत्वा, ततः क्रियाकर्म कृतिकर्म देववन्दनां कृत्वा, अथवा सिद्धयोगभक्ती कृत्वा, दत्त्वा वा, उपवासं गृह्णातीत्यर्थः । ततः किं कृत्वा । उपवासं चतुर्विधं गृहीत्वा अङ्गीकृत्य श्रीगुरुमुखेन अशनपानखाद्यस्वाद्यादीनां प्रत्याख्यानं चतुर्विधम् उपोषणशोषकक्षपणं गृहीत्वा अङ्गीकृत्य, ततः गृहव्यापारं त्यक्त्वा वस्तूनां क्रयविक्रयस्नानभोजनकृषिमषिवाणिज्य-पशुपालनपुत्रमित्रकलत्रादिपालनप्रमुखं सर्वव्यापारं गृहस्थकर्म परित्यज्य, ततः रात्रिं धर्मचिन्तया गमयित्वा सप्तम्या रात्रिं रजनीं त्रयोदश्या रात्रिं रजनीं वा निर्गम्य नीत्वा । कया । धर्मचिन्तया धर्मध्यानचिन्तनेन 'आज्ञापायविपाकसंस्थान-विचयाय धर्म्यम्,' तथा पिण्डस्थपदस्थरूपस्थरूपातीतधर्मध्यानचिन्तनेन सप्तम्यास्त्रयोदश्या वा रात्रिं गमयति इत्यर्थः । ततः पच्चूसे उट्ठित्ता अष्टम्यां चतुर्दश्यां वा प्रत्यूषे प्रभातकाले उत्थाय उद्भूय निद्रादिकं विहाय, ततः च पुनः कृतिकर्म क्रियाकर्म सामायिकचैत्यभक्त्यादिकं कादूण कृत्वा विधाय, ततः पुनः शास्त्राभ्यासेन दिवसं गमयित्वा अष्टम्या दिवसं चतुर्दश्या दिवसं गमयित्वा नीत्वा । केन । शास्त्राभ्यासेन श्रुतेन वा पठनपाठनश्रवणेन कृत्वा अष्टम्यां चतुर्दश्यां वा उपवासदिवसं निर्गमयतीत्यर्थः । ततः पुनः वन्दनां कृत्वा मध्याह्नकाले अपराह्नकाले मध्याह्नकापराह्निकवन्दनां चैत्यवन्दनां सामायिकादिस्तवनस्तोत्रादिकृतिकर्म कृत्वा विधाय ततः पुनः तथा धर्मध्यानप्रकारेण रात्रिं नीत्वा अष्टम्याः चतुर्दश्या वा रजनीं निर्गम्य धर्मध्यानेन निर्गमयतीत्यर्थः । ततः पुनः तथा प्रत्यूषे वन्दनां कृत्वा तथा पूर्वोक्तप्रकारेण नवम्याः प्रभाते पूर्णिमाया अमावास्यायाः वा प्रभाते प्रातःकाले वन्दनां चैत्यवन्दनां सामायिकस्तवनादिकं कृत्वा विधाय, ततः

हैं । **अर्थ**–सप्तमी और तेरसके दिन दोपहरके समय जिनालयमें जाकर, सामायिक आदि क्रियाकर्म करके चार प्रकारके आहारको त्याग कर उपवास ग्रहण करे । और घरका सब कामधाम छोड़कर धर्मध्यान पूर्वक रात बितावे । फिर प्रातःकाल उठकर सामायिक आदि क्रियाकर्म करे । और शास्त्र स्वाध्याय पूर्वक दिन बिताकर सामायिक करे । फिर उसी तरह धर्म ध्यानपूर्वक रात बितावे और प्रातःकाल होनेपर सामायिक और पूजन वगैरह करके तीनों प्रकारके पात्रोंको पड़गाह कर भोजन करावे फिर स्वयं भोजन करे, उसके प्रोषध प्रतिमा होती है ॥ **भावार्थ**–प्रोषध प्रतिमाका धारी सप्तमी और तेरसके दिन पात्रको भोजन कराकर फिर स्वयं भोजन करके दोपहरके समय जिनालय अथवा किसी अन्य शान्त स्थानमें जाकर पहले सामायिक करता है । उसके बाद चारों प्रकारके भोजनको त्याग कर उपवासकी प्रतिज्ञा ले लेता है । और वस्तुओंका खरीदना बेचना, स्नान, भोजन, खेती, नौकरी, व्यापार, पशुपालन पुत्र मित्र स्त्री वगैरहका पालन पोषण आदि सब घरेलु धन्धोंको छोड़कर आज्ञाविचय, अपायविचय, संस्थानविचय और विपाकविचय नामक धर्मध्यान पूर्वक अथवा पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत नामक धर्मध्यान पूर्वक रात्रि बिताता है । फिर अष्टमी और चतुर्दशीके सबेरे उठकर सामायिक चैत्यभक्ति आदि क्रियाकर्म करता है । और अष्टमी तथा चतुर्दशीका पूरा दिन शास्त्रोंके पठन पाठनमें या सुनने सुनानेमें बिताता है । मध्याह्नके समय तथा सन्ध्याके समय सामायिक आदि करके अष्टमी और चतु-र्दशीकी रात भी धर्मध्यान पूर्वक बिताता है । फिर नवमी और पूर्णमासी अथवा अमावस्याके प्रभातमें उठकर पहले सामायिक आदि करता है उसके बाद जिन भगवानके अभिषेकपूर्वक अष्ट द्रव्यसे पूजन करता है । फिर अपने घरपर आये हुए जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट पात्रको पड़गाह कर यथायोग्य नवधा

पुनः पूजनविधिं कृत्वा जिनस्नपनाष्टधार्चनविधिं कृत्वा विधाय, ततः पुनः णवरि विशेषेण त्रिविधपात्रं गृहीत्वा जघन्य-मध्यमोत्कृष्टपात्रं सम्यग्दृष्टिश्रावकमुनीश्वरलक्षणं नवरि सप्तदातृगुणनवविधपुण्योपार्जनविशेषेण गृहीत्वा गृहागतं पात्रं प्रतिगृह्य भोजयित्वा भोजनं कारयित्वा, त्रिविधपात्रेभ्य आहारदानं दत्त्वा इत्यर्थः । ततः पश्चात् भोजनपारणां कुर्वन् प्रोषधो भवति प्रोषधव्रतधारी स्यात् । सप्तम्यास्त्रयोदश्याश्च दिवसे मध्याह्ने भुक्त्वा उत्कृष्टप्रोषधव्रती चैत्यालये गत्वा प्रोषधं गृह्णाति, मध्यमप्रोषधव्रती तत्संध्यायां प्रोषधं गृह्णाति, जघन्यप्रोषधव्रती अष्टमीचतुर्दशीप्रभाते प्रोषधं गृह्णाति ॥ ३७३-७६ ॥ अथ प्रोषधमाहात्म्यं गाथाद्वयेनाह-

एक्कं पि णिरारंभं उववासं जो करेदि उवसंतो ।
बहु-भव-संचिय-कम्मं सो णाणी खवदि[1] लीलाए ॥ ३७७ ॥

[छाया-एकम् अपि निरारम्भं उपवासं यः करोति उपशान्तः । बहुभवसंचितकर्म स ज्ञानी क्षपति लीलया ॥] स ज्ञानी भेदज्ञानी विवेकवान् प्रोषधव्रती पुमान् बहुभवसंचितकर्म क्षपयति बहुभवेषु अनेकभवेषु बहुजन्मसु संचितमुपार्जितं यत्कर्म ज्ञानावरणादिकं क्षयं नयति । कया । लीलया क्रीडया सुखेन प्रयासं विना । स कः । यः करोति विदधाति । कम् । एकमपि अद्वितीयमपि, अपिशब्दात् अनेकमपि, उपवासं प्रोषधं प्रोषधोपवासं करोति । कीदृक्षम् । निरारम्भं गृहव्यापारक्रयविक्रयादिमावद्यरहितम् । उक्तं च । 'कषायविषयाहारत्यागो यत्र विधीयते । उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः ॥' ३७७ ॥

उववासं कुव्वंतो आरंभं[2] जो करेदि मोहादो ।
सो णिय-देहं सोसदि ण झाडए[3] कम्म-लेसं पि ॥ ३७८ ॥[4]

[छाया-उपवासं कुर्वन् आरम्भं यः करोति मोहात् । स निजदेहं शोषयति न शातयति कर्मलेशम् अपि ॥] स प्रोषधोपवासं कुर्वन् शुष्यति कृशतां नयति । कम् । निजदेहं स्वशरीरं कृशीकरोति, न झाडए नोज्झति न जीर्यते न

भक्ति पूर्वक उन्हें भोजन कराता है । उसके बाद स्वयं भोजन करता है । यह प्रोषध प्रतिमाके धारक श्रावककी विधि है । इसमें इतना विशेष है कि उत्कृष्ट प्रोषधव्रती सप्तमी और तेरसके दिन मध्याह्नमें भोजन करके चैत्यालयमें जाकर प्रोषधको स्वीकार करता है । मध्यम प्रोषधव्रती सप्तमी और तेरसकी सन्ध्याके समय प्रोषध ग्रहण करता है और जघन्य प्रोषधव्रती अष्टमी और चतुर्दशीके प्रभातमें प्रोषध ग्रहण करता है ॥ ३७३-३७६ ॥ आगे दो गाथाओंसे प्रोषधका माहात्म्य बतलाते हैं । **अर्थ**-जो ज्ञानी आरम्भको त्यागकर उपशमभावपूर्वक एकभी उपवास करता है वह बहुत भवोंमें संचित किये हुए कर्मको लीलामात्रमें क्षय कर देता है ॥ **भावार्थ**-कषाय और विषय रूपी आहारको त्यागकर तथा इसलोक और परलोकके भोगोंकी आशा छोड़कर जो एक भी उपवास करता है वह भेदज्ञानी विवेकी पुरुष भव भवमें संचित कर्मोंको अनायास ही क्षय करदेता है, क्यों कि वही उपवास सच्चा उपवास है जिसमें कषाय और विषयरूपी आहारका त्याग किया जाता है । भोजन मात्रका छोड़ देना तो उपवास नहीं है, लंघन है । ऐसे एक उपवाससे भी जब भव भवमें संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं तब जो प्रोषध प्रतिमा लेकर प्रत्येक पक्षमें दो उपवास करता हे, उसका तो कहना ही क्या है ? ॥ ३७७ ॥ **अर्थ**-जो उपवास करते हुए मोहवश आरम्भ करता है वह अपने शरीरको सुखाता है उसके लेशमात्र भी कर्मोंकी निर्जरा नहीं होती ॥ **भावार्थ**-जो प्रोषध प्रतिमाधारी अष्टमी और चतुर्दशीको उपवास ग्रहण करके भी मोहमें पड़कर घर

१ ब खवदि, ग खविद । २ ग आरंभो । ३ ब झाडइ ४ ब पोसह । सचित्तं इत्यादि ।

निर्जरायति। कम्। कर्मलेशम् अपि एकदेशेन कर्मनिर्जराम् अपिशब्दात् साकल्येन न कर्मनिर्जरां करोति, लेशमात्रकर्म न निर्जरतीत्यर्थः। स कः। य आरम्भं करोति, आरम्भं गृहहट्टव्यापारक्रयविक्रयकृषिमषिवाणिज्याद्युत्थम् आरम्भं करोति यः स लवलेशमात्रकर्म न निर्जरति। कुतः। मोहात् मोहनीयकर्मोद्रेकात्, ममत्वपरिणामाद्वा रागद्वेषपरिणामाद्वा। किं कुर्वन्। उपवासं प्रोषधं कुर्वन् विदधानः। प्रोषधप्रतिमाधारी अष्टम्यां चतुर्दश्यां च प्रोषधोपवासमङ्गीकरोतीत्यर्थः। व्रते तु प्रोषधोपवासस्य नियमो नास्तीति। तथा वसुनन्दिसिद्धान्तिना प्रोक्तं च। "उत्तममज्झमजहणं तिविहं पोसहविहाणमुद्दिट्ठं। सगसत्तीए मासम्मि चउसु पव्वेसु कायव्वं १॥ सत्तमितेरसिदिवसम्मि अतिहिजणभोयगावसाणम्मि। भोत्तूण भुंजणिज्जं तत्थ वि काऊण मुहसुद्धिं॥ २॥ पक्खालिदूण वयणं करचलणे णियमिदूण तत्थेव। पच्छा जिणिंदभवणं गंतूण जिणं णमंसित्ता॥ ३॥ गुरुपुरदो किरियम्मं वंदणपुव्वं कमेण कादूण। गुरुसक्खियमुववासं गहिऊण चउव्विहं विहिणा॥ ४॥ वायणकहाणुपेहणसिक्खावणचिन्तणोवओगेहिं। णेदूण दिवससेसं अवरण्हियवंदणं किच्चा॥ ५॥ रयणिसमयम्हि ठिच्चा काउस्सग्गेण णिययसत्तीए। पडिलेहिदूण भूमिं अप्पपमाणेण संथारं॥ ६॥ णेदूण किंचि रत्तिं सुइदूण जिणालए णियघरे वा। अहवा सयलं रत्तिं काउस्सग्गेण णेदूण॥ ७॥ पच्चूसे उट्ठित्ता वंदणविहिणा जिणं णमंसित्ता। तह दव्वभावपुज्जं जिणसुदसाहूण काऊण॥ ८॥ पुव्वुत्तविहाणेणं दियहं रत्तिं पुणो वि गमिदूण। पारणदियहम्मि पुणो पूयं काऊण पुव्वं व॥ ९॥ गंतूण णिययगेहं अतिहिविभागं च तत्थ काऊणं। जो भुंजइ तस्स फुडं पोसहविहिमुत्तमं होदि॥१०॥ जह उक्कट्ठं तह मज्झिमं पि पोसहविहाणमुद्दिट्ठं। णवर विसेसो सलिलं छंडित्ता वज्जए सेसं॥११॥ मुणिऊण गुरुवकज्जं सावज्जविवज्जियं णियारंभं। जदि कुणदि तं पि कुज्जा सेसं पुव्वं व णायव्वं॥ १२॥ आयंबिलणिव्वियडी एयट्ठाणं च एयभत्तं च। जं कीरदि तं णेयं जहण्णयं पोसहविहाणं॥१३॥ सिण्हाणुवट्टणगंधधम्मिलकेसादिदेहसंकप्पं। अण्णं पि रागहेदुं विवज्जए पोसहदिणम्मि॥ १४॥" इत्यनुप्रेक्षायां प्रोषधप्रतिमा, पञ्चमो धर्मः ५॥ ३७८॥ अथ सचित्तविरतिप्रतिमां गाथाद्वयेन बंभणीति–

दुकानका काम धाम नहीं छोडता अर्थात् विषय कषायको छोड़े बिना केवल आहार मात्र ही छोडता है वह उपवास करके केवल अपने शरीरको सुखाता है, कर्मोंकी निर्जरा उसके लवमात्र भी नहीं होती। यहां इतना विशेष जानना कि व्रत प्रतिमामें जो प्रोषधोपवास व्रत बतलाया है उसमें प्रोषधोपवासका नियम नहीं है। आचार्य वसुनन्दि सैद्धान्तिकने प्रोषधोपवासका वर्णन इस प्रकार किया है–"उत्तम मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन प्रकारका प्रोषधोपवास कहा है जो एक महिनेके चार पर्वोंमें अपनी शक्तिके अनुसार करना चाहिये॥ सप्तमी और तेरसके दिन अतिथिको भोजन देकर स्वयं भोजन करे और भोजन करके अपना मुंह शुद्ध करले॥ फिर अपने शरीरको धोकर और हाथ पैरको नियमित करके जिनालयमें जाकर जिन भगवानको नमस्कार करे॥ फिर वन्दनापूर्वक सामायिक आदि कृतिकर्म करके गुरुकी साक्षीपूर्वक चार प्रकारके आहारको त्यागकर उपवासको स्वीकार करे। शास्त्र वांचना, धर्मकथा करना, अनुप्रेक्षाओंका चिन्तना, दूसरोंको सिखाना आदि उपयोगोंके द्वारा शेष दिन बिताकर संध्याके समय सामायिक आदि करे॥ रात्रिके समय भूमिको साफ करके उसपर अपने शरीरके बराबर संथरा लगाकर अपनी शक्तिके अनुसार कायोत्सर्ग करे॥ कुछ रात कायोत्सर्गपूर्वक बिताकर जिनालयमें या अपने घर शयन करे। अथवा सारी रात कायोत्सर्गपूर्वक बितावे॥ प्रातःकाल उठकर विधिपूर्वक जिनवन्दना करके देव शास्त्र और गुरुकी द्रव्यपूजा और भावपूजा करे॥ फिर शास्त्रोक्त विधिके अनुसार वह दिन और रात बिताकर पारणाके दिन पहलेकी ही तरह पूजा करे॥ फिर अपने घर जाकर अतिथियोंको भोजन कराके स्वयं भोजन करे। इस प्रकार जो करता है उसके उत्तम प्रोषधोपवास होता है॥ उत्कृष्ट प्रोषधोपवासकी जो विधि है वही मध्यम प्रोषधोपवासकी है। केवल इतना अन्तर है कि मध्यम उपवासमे पानीके सिवाय अन्य सब वस्तुओंका त्याग होता है॥ अत्यन्त आवश्यकता जानकर यदि कोई ऐसा कार्य करना चाहे जिसमें सावद्यका योग न हो और न आरम्भ करना पड़ता हो तो कर सकता है। शेष बातें उत्कृष्ट प्रोषधोपवासकी तरह जाननी चाहिये॥ चावल या

सच्चित्तं पत्त[1]-फलं छल्ली मूलं च किसलयं बीयं[2] ।
जो ण य[3] भक्खदि णाणी सचित्त-विरदो हवे सो दु[4] ॥ ३७९ ॥

[छाया–सचित्तं पत्रफलं त्वक् मूलं च किसलयं बीजम् । यः न च भक्षयति ज्ञानी सचित्तविरतः भवेत् स तु ॥] सोऽपि प्रसिद्धः, अपि शब्दात् न केवलमग्रेसरः, श्रावकः सचित्तविरतः सचित्तेभ्यः जलफलादिभ्यो विरतः विगतरागः निवृत्तः भवेत् यः ज्ञानी भेदविज्ञानविवेकगुणसंपन्नः श्रावकः न भक्षते न अश्नाति । किं तत् । सचित्तं चित्तेन चैतन्येन आत्मना जीवेन सह वर्तमानं सचित्तम् । किं तत् । पत्रफलं सचित्तनागवल्लीदललिम्बपत्रसर्षपचणकादिपत्रधत्तूरादिदलपत्रशाकादिकं नाश्नाति, फलं सचित्तचिर्भटकर्कटिकादिकूष्माण्डनीबूफलदाडिमबीजपूरापक्वाम्रकदलीफलादिकम्, छल्ली वृक्षवल्ल्यादिसचित्तत्वक् नात्ति, मूलम् आर्द्रकादिलिम्बादिवृक्षवल्लीवनस्पतीनां मूलं न खादति, किसलयं पल्लवं लघुपल्लवं कुंब्झलं नात्ति, बीजं सचित्तचणकमुद्गतिलवर्जरिकामाषाढकीजीरककुवेरराजगोधूमव्रीह्यादिकं न भक्षते । उक्तं च । 'मूलफलशाकशाखाकरीरकन्दप्रसूनबीजानि । नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः ॥' प्रासुकं कतिधेत्युच्यते । 'तत्तं पक्कं सुक्कं अंबिललवणेहिं मीसियं दव्वं । जं जंतेण य छिण्णं तं सव्वं पासुयं भणियं ॥' इति ॥ ३७९ ॥

जो ण य भक्खेदि सयं तस्स ण अण्णस्स जुज्जदे दाउं ।
भुत्तस्स भोजिदस्स हि णत्थि विसेसो जंदो[7] को वि ॥ ३८० ॥

[छाया–यः न च भक्षयति स्वयं तस्य न अन्यस्मै युज्यते दातुम् । भुक्तस्य भोजितस्य खलु नास्ति विशेषः यतः कः अपि ॥] च पुनः, स्वयम् आत्मना यः सचित्तं जलफलदलमूलकिसलयबीजादिकं न भक्षयति न अत्ति तस्य सचित्तविरतश्रावकस्य अन्यस्मै पुरुषाय सचित्तं वस्तु भोक्तुं दातुं न युज्यते, दातुं युक्तं न भवति । यतः यस्मात् कारणात् स्वयं भुक्तस्य स्वयं सचित्तादिकं भोजनं कुर्वतः सचित्तादिकं भोजयिष्यतः परान् भोजनं कारयिष्यतः सतः अन्यान्, हि स्फुटम्, कोऽपि विशेषो न, उभयत्र सदोषत्वात् ॥ ३८० ॥

चावलका माण्ड लेना, या गोरस, इक्षुरस, फलरस और धान्यरससे रहित कोई ऐसी वस्तु लेना जो विकार पैदा न करे, या एक वस्तु खाना अथवा एक बार भोजन करना जघन्य प्रोषध है ॥ प्रोषधके दिन स्नान, उबटन, इत्र, फुलेल, केशोंका संस्कार, शरीरका संस्कार तथा अन्य भी जो रागके कारण हैं, उन्हें छोड़ देना चाहिये ॥" इस प्रकार पांचवी प्रोषध प्रतिमाका वर्णन समाप्त हुआ ॥३७८॥ अब दो गाथाओंसे सचित्त विरत प्रतिमाको कहते हैं । **अर्थ**–जो ज्ञानी श्रावक सचित्त पत्र, सचित्त फल, सचित्त छाल, सचित्त मूल, सचित्त कोंपल और सचित्त बीजको नहीं खाता वह सचित्तविरत है ॥ **भावार्थ**–जो ज्ञानी श्रावक सचित्त अर्थात् जिसमें जीव मौजूद हैं ऐसे नागवल्लीके पत्तोंको, नीबूके पत्तोंको, सरसों और चनेके पत्तोंको, धतूरेके पत्तोंको और पत्तोंकी शाक वगैरहको नहीं खाता । सचित्त खरबूजे, ककड़ी, पेठा, नीम्बु, अनार, बिजौरा, आम, केला आदि फलोंको नहीं खाता । वृक्षकी सचित्त छालको नहीं खाता, सचित्त अदरक वगैरह मूलोंको नहीं खाता, या वनस्पतियोंका मूल यदि सचित्त हो तो नहीं खाता, छोटी छोटी ताजी नई कोंपलोंको नहीं खाता, तथा सचित्त चने, मूंग, तिल, उड़द, अरहर, जीरा, गेहूं, जौ वगैरह बीजोंको नहीं खाता, वह सचित्त त्यागी कहा जाता है । कहा भी है–"जो दयालु श्रावक मूल, फल, शाक, शाखा, कोंपल, वनस्पतिका मूल, फूल और बीजोंको अपक्व दशामें नहीं खाता वह सचित्तविरत है ।" ॥ ३७९ ॥ **अर्थ**–तथा जो वस्तु वह स्वयं नहीं खाता उसे दूसरोंको देना भी उचित नहीं है । क्यों कि खानेवाले और खिलानेवालेमें कोई अन्तर नहीं है ॥ **भावार्थ**–सचित्त विरत श्रावकको चाहिये कि जिस सचित्त जल, फल, पत्र, मूल, कोंपल बीज वगैरहको वह स्वयं नहीं खाता उसे अन्य पुरुषकोभी खानेके लिये नहीं देना चाहिये । तभी सचित्त त्यागव्रत पूर्ण रूपसे पलता है । क्यों कि स्वयं खाना और अन्यको खिलाना एक ही है । दोनों ही सदोष हैं ॥ ३८० ॥

---

१ **ग** सचित्तं पत्ति- । २ **ल स ग** बीज, **म** बीअं । ३ **ब** जो य ण य । ४ **ल म स ग** सच्चित्तविरओ (उ ?) हवे सो वि । ५ 'निंब' इत्यपि पाठः । ६ 'कुंपलं' इत्यपि पाठः । ७ **ल म स ग** तदो ।

जो वज्जेदि सचित्तं दुज्जय-जीहा विणिज्जिया तेण।
दय-भावो होदि किओ[1] जिण-वयणं पालियं तेण ॥ ३८१ ॥[2]

[छाया-यः वर्जयति सचित्तं दुर्जयजिह्वा विनिर्जिता तेन। दयाभावः भवति कृतः जिनवचनं पालितं तेन ॥] तेन पुंसा दुर्जयजिह्वापि दुःखेन जीयते इति दुर्जया सा चासौ जिह्वा च दुर्जयजिह्वा दुःखेन जेतुमशक्या रसना, अपिशब्दात् शेषेन्द्रियाणि, निर्जिता जयं नीना वशं नीना इत्यर्थः। तेन दयाभावः कृपापरिणामः कृतः निष्पादितो भवति। तथा तेन पुंसा जिनवचनं पालितं सर्वज्ञवाक्यं पालितं रक्षितं भवति। तेन केन। यः सचित्तं जलफलदलकन्दबीजादिकं वर्जयति निषेधयति। इत्यनुप्रेक्षाया सचित्तविरतिप्रतिमा, षष्ठो धर्मो व्याख्यातः ६ ॥ ३८१॥ अथ रात्रिभोजनविरतिप्रतिमां गाथाद्वयेनाह-

जो चउ-विहं पि भोज्जं रयणीएँ[4] णेव भुंजदे[5] णाणी।
ण य भुंजावदि[6] अण्णं णिसि-विरओ सो हवे भोज्जो[7] ॥ ३८२ ॥

[छाया-यः चतुर्विधम् अपि भोज्यं रजन्या नैव भुङ्क्ते ज्ञानी। न च भोजयति अन्यं निशि विरतः स भवेत् भोज्यः ॥] स भोज्यः भक्तः श्राद्धः भवेत् जायते। अथवा निशि रात्रौ भोज्यात् भुक्तेः आहारात् विरतः निवृत्तः रात्रिभुक्तिविरत इत्यर्थः। स कः। यः ज्ञानी सन् ज्ञानवान् बुद्धिमान् रजन्यां निशायां चतुर्विधमपि भोज्यम् अशनपानखाद्यस्वाद्यादिकं भोजनम् आहारं नैव भुङ्क्ते नैवात्ति, च पुनः, अन्यं परपुरुषं न भोजयति भोजनं नैव कारयति ॥ ३८२ ॥

जो णिसि-भुत्तिं वज्जदि सो उववासं करेदि छम्मासं।
संवच्छरस्स मज्झे आरंभं चयदि रयणीए ॥ ३८३ ॥[9]

अर्थ-जिस श्रावकने सचित्तका त्याग किया उसने दुर्जय जिह्वाको भी जीत लिया, तथा दयाभाव प्रकट किया और जिनेश्वरके वचनोंका पालन किया ॥ **भावार्थ**-जिह्वा इन्द्रियका जीतना बड़ा कठिन है। जो लोग विषयसुखसे विरक्त होजाते हैं उन्हें भी जिह्वाका लम्पटी पाया जाता है। किन्तु सचित्तका त्यागी जिह्वा इन्द्रियको भी जीत लेता है। वैसे सचित्तके त्यागनेसे सभी इन्द्रियां वशमें होती हैं, क्यों कि सचित्त वस्तुका भक्षण मादक और पुष्टिकारक होता है। इसीसे यद्यपि सचित्तको अचित्त करके खानेमें प्राणिसंयम नहीं पलता किन्तु इन्द्रिय संयमको पालनेकी दृष्टिसे सचित्त त्याग आवश्यक है। सुखाने, पकाने, खटाई, नमक वगैरहके मिलाने तथा चाकू वगैरहसे काट देनेपर सचित्त वस्तु अचित्त हो जाती है। ऐसी वस्तुके खानेसे पहला लाभ तो यह है कि इन्द्रियां काबूमें होती हैं। दूसरे इससे दयाभाव प्रकट होता है, तीसरे भगवानकी आज्ञाका पालन होता है, क्योंकि हरितकाय वनस्पतिमें भगवानने जीवका अस्तित्व बतलाया है। यहां इतना विशेष जानना कि भोगोपभोग परिमाण व्रतमें सचित्त भोजनको अतिचार मान कर छुडाया गया है, और यहां उसका व्रत रूपसे निरतिचार त्याग होता है ॥ इस प्रकार छठी सचित्त त्याग प्रतिमाका वर्णन समाप्त हुआ ॥ ३८१ ॥ अब रात्रिभोजन त्याग प्रतिमाको दो गाथाओंसे कहते हैं। **अर्थ**-जो ज्ञानी श्रावक रात्रिमें चारों प्रकारके भोजनको नहीं करता और न दूसरेको रात्रिमें भोजन कराता है वह रात्रि भोजनका त्यागी होता है ॥ **भावार्थ**-रात्रिमें खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय चारोंही प्रकारके भोजनको न स्वयं खाना और न दूसरेको खिलाना रात्रि भोजन त्याग प्रतिमा है। वैसे रात्रि भोजनका त्याग तो पहली और दूसरी प्रतिमामें ही हो जाता है क्योंकि रातमें भोजन करनेसे मांस खानेका दोष लगता है, रातमें जीवजन्तुओंका बाहुल्य रहता है और तेजसे तेज रोशनी होने परभी उनमें धोखा होजाता है। अतः त्र[illegible]जीवोंका घातभी होता है। परन्तु यहां कृत और कारित रूपसे चारोंही प्रकारके भोजनका त्याग निरतिचार रूपसे होता है ॥ ३८२ ॥ **अर्थ**-जो पुरुष रात्रिभोजनको छोड देता है वह एक वर्षमें छै महीना उपवास करता

---

१ स विणिज्जिदा। २ ब दयभावो वि य अज्जिउ (?)। ३ ब सचित्त विरदी। जो चउविहं इत्यादि। ४ ल म स ग रयणीये। ५ ब भुंजदि। ६ लमसग भुंजावइ (स?)। ७ ब भुज्जो। ८ ल म स ग भुयादि। ९ ब रायभत्तीए ॥ सव्वेसिं इत्यादि।

[छाया-यः निशिभुक्तिं वर्जयति स उपवासं करोति षण्मासम् । संवत्सरस्य मध्ये आरम्भं त्यजति रजन्याम् ॥] यः पुमान् निशि भुक्तिं चतुर्धा रात्रिभोजनं वर्जयति नियमेन निषेधयति स पुमान् संवत्सरस्य मध्ये वर्षस्य मध्ये षण्मासमुपवासं करोति, तस्य षण्मासकृतोपवासफलं भवतीत्यर्थः । च पुनः, रजन्यां रात्रौ स रात्रिभोजनविरक्तः पुमान् आरम्भं गृहव्यापारं क्रयविक्रयवाणिज्यादिकं खण्डनीपीसनीचुल्लीउदकुम्भप्रमार्जनीपञ्चसूनादिकं त्यजति स रात्रिभोजनविरतः रात्रौ सावद्यपापव्यापारादिकं त्यजति । तथा चोक्तं च । 'अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम् । स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः. ॥ यो निशि भुक्तिं मुञ्चति तेनानशनं कृतं च षण्मासम् । संवत्सरस्य मध्ये निर्दिष्टं मुनिवरेणेति ॥' तथा च चारित्रसारे 'रात्रिभक्तव्रतः रात्रौ स्त्रीणां भजनं रात्रिभक्तं तत् व्रतयति सेवते इति रात्रिभक्तव्रतः दिवा ब्रह्मचारीत्यर्थः' । तथा वसुनन्दिना चोक्तं । 'मणवयणकायकदकारिदाणुमोदेहिं मेहुणं णवधा । दिवसम्मि जो विवज्जइ गुणम्मि सो सावओ छट्ठो ॥' इति रात्रिभुक्तिव्रतप्रतिमा, सप्तमो धर्मः ७ ॥ ३८३ ॥ अथ ब्रह्मचर्यप्रतिमां बंभणीति-

सव्वेसिं इत्थीणं जो अहिलासं ण कुव्वदे णाणी ।
मण-वाया-कायेण[1] य बंभ-वई सो हवे सदओ ॥ ३८४ ॥
जो[2] कय-कारिय-मोयणं[3]-मण-वय-काएण मेहुणं चयदि ।
बंभ-पवज्जारूढो बंभ-वई सो[4] हवे सदओ ॥ ३८४*१ ॥[5]

[छाया-सर्वासां स्त्रीणां यः अभिलाषं न कुर्वते ज्ञानी । मनोवाक्कायेन च ब्रह्मव्रती स भवेत् सदयः ॥ यः कृतकारितमोदनमनोवाक्कायेन मैथुनं त्यजति । ब्रह्मप्रव्रज्यारूढः ब्रह्मव्रती स भवेत् सदयः ॥] स श्रावकः ब्रह्मचर्यव्रतधारी भवेत् । कीदृक्षः सदयः । स्त्रीशरीरोत्थजीवदयापरिणतः । उक्तं च । 'लिंगम्मि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु । भणिओ सुहुमो काओ तासिं कह होइ पव्वज्जा ॥'' श्लोकः । 'मैथुनाचरणे मूढा म्रियन्ते जन्तु-

है । और रात्रिमें आरम्भका त्याग करता है ॥ **भावार्थ**-जो श्रावक रातमें चारोंही प्रकारके भोजनको ग्रहण नहीं करता । वह प्रतिदिन रातभर उपवासा रहता है, क्यों कि चारों प्रकारके आहारको त्यागनेका नाम उपवास है । अतः वह एक वर्षमें छै महीना भोजन करता है और छै महीना उपवासा रहता है, इससे उसे प्रतिवर्ष छै महीनेके उपवासका फल अनायास मिल जाता है । तथा रातमें कूटना, पीसना, पानी भरना, झाडू लगाना, चूल्हा जलाना आदि आरम्भ करनेसेभी वह बच जाता है । कहाभी है- 'जो रात्रिमें अन्न (अनाज) पान (पीने योग्य जल वगैरह) खाद्य (लड्डू वगैरह), लेह्य (रबडी वगैरह) को नहीं खाता वह प्राणियोंपर दया करनेवाला श्रावक रात्रिभोजनका त्यागी है ।' और भी कहा है-'जो रात्रिमें भोजनका त्याग करता है वह वर्षमें छै महीना उपवास करता है ऐसा मुनिवरने कहा है ।' चारित्रसार नामक ग्रन्थमें रात्रिमेंही स्त्री सेवन करनेका व्रत लेनेवालेको रात्रिभुक्तव्रत कहा है, अर्थात् जो दिनमें मैथुनका त्याग करता है उसके यह प्रतिमा होती है । आचार्य वसुनन्दिका भी यही कहना है यथा-'जो मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना इन नौ प्रकारोंसे दिनमें मैथुनका त्याग कर देता है वह छठी प्रतिमाका धारी श्रावक है ।" इस प्रकार रात्रिभुक्तव्रतका कथन हुआ ॥ ३८३ ॥ अब ब्रह्मचर्य प्रतिमाको कहते हैं । **अर्थ**-जो ज्ञानी मन, वचन और कायसे सब स्त्रियोंकी अभिलाषा नहीं करता वह दयालु ब्रह्मचर्यव्रतका धारी है ॥ **भावार्थ**-स्त्रियां चार प्रकारकी होती हैं-एक तो देवांगना, एक मानुषी, एक गाय, कुतिया वगैरह तिर्यञ्चनी और एक लकडी पत्थर

१ ब गणवयण कायेण (?) । २ एषा गाथा ब म पुस्तकयोरेव । ३ म पुस्तके 'मोयण' इति पदं नास्ति । ४ ब सो हुओ' इति मूलपाठः । ५ बंभवई ॥ जो इत्यादि।

कोटयः । योनिरन्ध्रसमुत्पन्ना लिङ्गसंघट्टपीडिताः ॥' 'घाए घाइ असंखेज्जा' इति । स कः । यः ज्ञानवान् अभिलाषं वाञ्छां न कुरुते न विदधाति । कासाम् । सर्वासां स्त्रीणां, देवी मानुषी तिरश्ची काष्ठपाषाणादिघटिता चेतना स्त्री इति चतुर्विधानां युवतीनाम्, अभिलाषं न कुरुते । केन । मनसा चित्तेन वाचा वचनेन कायेन शरीरेण, च शब्दात् कृतकारितानुमोदनेन च । मनःकृतकारितानुमोदनेन स्त्रीणां वाञ्छां न करोति न कारयति नानुमोदयति ३, [वाचा कृतकारितानुमोदनेन] स्त्रीणां वाञ्छां न करोति न कारयति नानुमोदयति ३, कायकृतकारितानुमोदनेन स्त्रीणां वाञ्छां न करोति न कारयति नानुमोदयति ३ । तथाष्टादशशीलसहस्रप्रकारेण शीलव्रतं पालयति । अट्ठारससीलसहस्सेसु 'जोगे ३ करणे ३ सण्णा ४ इंदिय ५ णिद्दा १० य समणधम्मो य । अण्णोण्णं हय अट्ठारससीलसहस्सा य ॥' देवी मानुषी तिरश्ची अचेतना चतस्रः स्त्रीजातयः ४, मनोवचनकायैस्ताडिताः भेदाः १२, ते कृतकारितानुमतैस्त्रिभिः करणैः ३ गुणिताः भेदाः ३६, ते पञ्चेन्द्रियैर्हताः भेदाः १८०, ते दशसंस्कारैर्गुणिताः १८०० । तथाहि, शरीरसंस्कारः १, शृङ्गाररसरागसेवा २, हास्यक्रीडा ३, संसर्गवाञ्छा ४, विषयसंकल्पः ५, शरीरनिरीक्षणं ६, शरीरमण्डनं ७, दानं ८, पूर्वरतस्मरणं ९, मनश्चिन्ता १०, ते दशसंस्कारैर्गुणिताः १८०० । ते दशकामचेष्टाभिर्गुणिताः भेदाः १८००० । तथाहि, चिन्ता १, दर्शनेच्छा २, दीर्घोच्छ्वासः ३ शरीरे आर्तिः ४, शरीरदाहः ५, मन्दाग्निः ६, मूर्च्छा ७, मदोन्मत्तः ८, प्राणसंदेहः ९, शुक्रमोचनम् १०, इति । तथा

वगैरहसे बनाई गई अचेतन स्त्री आकृति । जो इन सभी प्रकारकी स्त्रियोंको मन वचन कायसे और कृत, कारित, अनुमोदनासे नहीं चाहता, अर्थात् स्वयं अपने मनमें स्त्रीकी अभिलाषा नहीं करता, न दूसरेको वैसा करनेके लिये कहता है और न जो किसी स्त्रीको चाहता है उसकी मनसे सराहना करता है । न स्वयं स्त्रियोंके विषयमें रागपूर्वक बात चीत करता है, न वैसा करनेके लिये किसीको कहता है और न जो वैसा करता है उसकी सराहना वचनसे करता है । स्वयं शरीरसे स्त्रीविषयक वांछा नहीं करता, न दूसरेको वैसा करनेका संकेत करता है और न जो ऐसा करता हो उसकी कायसे अनुमोदना करता है । वह ब्रह्मचारी है । ब्रह्मचर्य अथवा शीलव्रतके अठारह हजार भेद बतलाये हैं जो इस प्रकार हैं–देवी, मानुषी, तिरश्ची और अचेतन ये स्त्रियोंकी चार जातियां हैं । इनको मन वचन और कायसे गुणा करने पर १२ भेद होते हैं । इन बारहको कृत, कारित और अनुमोदनासे गुणा करने पर ३६ भेद होते हैं । इनको पांचो इन्द्रियोंसे गुणा करने पर १८० भेद होते हैं । इनको दस संस्कारोंसे गुणा करने पर १८०० अट्ठारहसौ भेद होते हैं । दस संस्कार इस प्रकार हैं–शरीरका संस्कार करना, शृङ्गाररसका रागसहित सेवन करना, हंसी क्रीडा करना, संसर्गकी चाह करना, विषयका संकल्प करना, शरीरकी ओर ताकना, शरीरको सजाना, देना, पहले किये हुए संभोगका स्मरण करना और मनमें भोगकी चिन्ता करना । इन १८०० भेदोंको कामकी दस चेष्टाओंसे गुणा करने पर १८००० अट्ठारह हजार भेद होते हैं । कामकी दस चेष्टायें इस प्रकार हैं–चिन्ता, दर्शनकी इच्छा, आहें भरना, शरीरमें पीडा, शरीरमें जलन, खाना पीना छोड देना, मूर्छित हो जाना, उन्मत्त होजाना, जीवनमें सन्देह और वीर्यपात । इन अट्ठारह हजार दोषोंको टालनेसे शीलके अट्ठारह हजार भेद होते हैं । पूर्ण ब्रह्मचारी इन भेदोंका पालन करता है । जो ब्रह्मचय पालता है वह बडाही दयालु होता है; क्यों कि स्त्रियोंके गुह्यांगमें, स्तन देशमें, नाभिमें और कांखमें सूक्ष्म जीव रहते हैं । अतः जब पुरुष मैथुन करता है तो उससे उन जीवोंका घात होता है । आचार्य समन्तभद्रने ब्रह्मचर्य प्रतिमाका स्वरूप इस प्रकार कहा है–"स्त्रीके गुप्त अंगका मूल मल है, वह मलको उत्पन्न करनेवाला है, उससे सदा मल

'मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतगन्धि बीभत्सम् । पश्यन्नङ्गमनङ्गाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः ॥' 'यो न च याति विकारं युवतिजनकटाक्षबाणविद्धोऽपि । स त्वेव शूरशूरो रणशूरो नो भवेच्छूरः ॥' इति ब्रह्मचर्यप्रतिमा, अष्टमो धर्मः ॥ ३८४ ॥ अथारम्भविरतिप्रतिमां वक्तुमारभते–

जो आरंभं ण कुणदि अण्णं कारयदि णेव अणुमण्णे[1] ।
हिंसा-संतट्ठ-मणो चत्तारंभो हवे सो हु[2] ॥ ३८५ ॥[3]

[छाया– यः आरम्भं न करोति अन्यं कारयति नैव अनुमन्यते । हिंसासंत्रस्तमनाः त्यक्तारम्भः भवेत् स खलु ॥] हि निश्चितं, स त्यक्तारम्भः असिमषिकृषिवाणिज्याद्यारम्भनिवृत्तिप्रतिमापरिणतः श्रावको भवेत् । स कः । यः आरम्भम् असिमषिकृषिवाणिज्यादिगृहव्यापारजं प्रारम्भं स्वयम् आत्मना न करोति न विदधाति, च पुनः अन्यं परपुरुषं प्रेर्य आरम्भं नैव कारयति आरम्भं कुर्वन्तं नरं नानुमोदयति । परपुरुषम् आरम्भं पापकर्म सावद्यादिकं कुर्वन्तं दृष्ट्वा अनुमोदनामनः हर्षादिकं न प्राप्नोतीत्यर्थः । कीदृक्षः सन् । हिंसासंत्रस्तमनाः हिंसायाः संत्रस्तं त्रासं भयं प्राप्तं मनो यस्य स हिंसासंत्रस्तमनाः हिंसायाः प्राणातिपातात् भयभीतचित्तः । तथा चोक्तं च । 'सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखादारम्भतो व्युपरतमतिः । प्राणातिपातहेतोर्योसावारम्भविनिवृत्तः ॥' इत्यारम्भविरतिप्रतिमा, नवमः श्रावकधर्मः ९ ॥ ३८५ ॥ अथ परिग्रहविरतिप्रतिमां गाथाद्वयेन विवृणोति–

जो परिवज्जइ[4] गंथं अब्भंतर-बाहिरं च साणंदो ।
पावं ति मण्णमाणो णिग्गंथो सो हवे णाणी ॥ ३८६ ॥

[छाया–यः परिवर्जयति ग्रन्थम् अभ्यन्तरबाह्यं च सानन्दः । पापम् इति मन्यमानः निर्ग्रन्थः स भवेत् ज्ञानी ॥] स ज्ञानी भेदज्ञानी विवेकसंपन्नः निर्ग्रन्थः ग्रन्थेभ्यः बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहेभ्यः निःक्रान्तो निर्गतः निर्ग्रन्थः । निरादयो निर्ग-

करता रहता है, दुर्गन्धयुक्त है, देखनेमें बीभत्स है । ऐसे अंगको देखकर जो कामसे विरक्त होता है वह ब्रह्मचारी है ।" और भी कहा है–'जो युवतियोंके कटाक्षरूपी बाणोंसे घायल होनेपरभी विकारको प्राप्त नहीं होता वही पुरुष शूरवीरोंमें शूरवीर है । जो रणके मैदानमें शूर है वह सच्चा शूर नहीं है ।' इस प्रकार आठवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमाका स्वरूप कहा ॥ ३८४ ॥ आगे आरम्भ त्याग प्रतिमाको कहते हैं । **अर्थ**–जो श्रावक आरम्भ नहीं करता, न दूसरेसे कराता है और जो आरम्भ करता है उसकी अनुमोदना नहीं करता, हिंसासे भयभीत मनवाले उस श्रावकको आरम्भ त्यागी कहते हैं ॥ **भावार्थ**–हिंसाके भयसे जो श्रावक तलवार चलाना, मुनीमी करना, खेती, व्यापार करना इत्यादि आरम्भोंको न तो स्वयं करता है, न दूसरे पुरुषोंको आरम्भ करनेकी प्रेरणा करता है और न आरम्भ करते हुए मनुष्यको देखकर मनमें हर्षित होता है वह आरम्भत्यागी है । कहा भी है–"जो हिंसाका कारण होनेसे खेती, नौकरी व्यापार आदि आरम्भसे विरक्त होजाता है वह आरम्भत्यागी है ।" इससे यह प्रकट होता है कि आरम्भत्यागी श्रावक जीविका उपार्जनके लिये कोई आरम्भ नहीं करता । किन्तु गृह सम्बन्धी आरम्भका त्याग उसके नहीं होता । अतः वह स्वयं भोजन बनाकर खा सकता है । इस प्रकार आरम्भत्याग प्रतिमाका स्वरूप कहा ॥ ३८५ ॥ आगे दो गाथाओंसे परिग्रहत्याग प्रतिमाको कहते हैं । **अर्थ**–जो ज्ञानी पुरुष पाप मानकर अभ्यन्तर और बाह्य परिग्रहको आनन्दपूर्वक छोड़

---

१ ब अणुमण्णे (॰मण्णो ?) म अणुमण्णो, ल स अणुमण्णे (ग ॰मणो) । २ ल म स ग हि । ३ ब अणारंभा ॥ जो परिवज्जइ इत्यादि । ४ म पडिवज्जइ, स परिवज्जदि ।

मार्थ्ये पञ्चम्याः इति पञ्चमीतत्पुरुषः । स कः । यः अभ्यन्तरं ग्रन्थम्, 'मिथ्यात्ववेदहास्यादिषट्कषायचतुष्टयम् । रागद्वेषौ च संगाः स्युरन्तरङ्गाश्चतुर्दश ॥' इति चतुर्दशप्रकारपरिग्रहं परिवर्जयति । च पुनः, बाह्यं ग्रन्थम्, 'क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुःपदम् । यानं शय्यासनं कुप्यं भांडं चेति बहिर्दश ॥' इति दशभेदभिन्नपरिग्रहं परिवर्जयति त्यजति ग्रन्थं ग्रथ्नाति अनुबध्नाति संसारमिति ग्रन्थः परिग्रहः तं परिवर्जयति त्यजति । यः श्रावकः । कीदृक्षः । सानन्दः आनन्देन शुद्धचिद्रूपोत्थानानन्देन सुखेन वर्तमानः सानन्दः । पुनः कीदृक् । परिग्रह पापमिति दुरितमिति मन्यमानः जानन् । तथा चोक्तं च । 'मोत्तूण वत्थमेत्तं परिग्गहं जो विवज्जए सेसं । तत्थ वि मुच्छं ण करेदि जाण सो सावओ णवमो ॥' तथा च । 'बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः । स्वस्थः संतोषपरः परिचितपरिग्रहाद्विरतः ॥' 'बाह्यग्रन्थविहीना दरिद्रमनुजाः स्वपापतः सन्ति । पुनरभ्यन्तरसंगत्यागी लोकेऽतिदुर्लभो जीवः ॥' क्रोधादिकषायाणामार्तरौद्रयोः हिंसादिपञ्चपापानां भवस्य च जन्मभूमिः दूरोत्सारितधर्मशुक्लः परिग्रह इति मत्वा दशविधबाह्यपरिग्रहाद्विनिवृत्तः स्वस्थः संतोषपरो भवतीति ॥ ३८६ ॥

बाहिर-गंथ-विहीणा दलिद्द-मणुवा[1] सहावदो होंति[2] ।
अब्भंतर-गंथं पुण ण सक्कदे को[3] वि छंडेदुं ॥ ३८७ ॥[4]

[छाया-बाह्यग्रन्थविहीनाः दरिद्रमनुजाः स्वभावतः भवन्ति । अभ्यन्तरग्रन्थं पुनः न शक्नोति कः अपि त्यक्तुम् ॥] स्वभावतः निसर्गतः पापाद्वा दरिद्रमनुष्याः निर्द्रव्यपुरुषाः दरिद्रिणः नरा भवन्ति । कथंभूताः । बाह्यग्रन्थविहीनाः क्षेत्र-

देता है उसे निर्ग्रन्थ(परिग्रहत्यागी) कहते हैं ॥ **भावार्थ**-जो संसारसे बांधती है उसे ग्रन्थ अथवा परिग्रह कहते हैं । परिग्रहके दो भेद हैं-अन्तरंग और बाह्य । मिथ्यात्व एक, वेद एक, हास्य आदि छै नोकषाय, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष ये चौदह प्रकारकी तो अन्तरंग परिग्रह है, और खेत, मकान, धन, धान्य, सोना, चांदी, दासी, दास, भाण्ड, सवारी ये दस प्रकारकी बाह्य परिग्रह है । जो इन दोनोंही प्रकारकी परिग्रहको पापका मूल मानकर त्याग देता है तथा त्याग करके मनमें सुखी होता है वही निग्रन्थ अथवा परिग्रहका त्यागी है । वसुनन्दि श्रावकाचारमें भी कहा है-'जो वस्त्र मात्र परिग्रहको रखकर बाकी परिग्रहका त्याग कर देता है और उस वस्त्र मात्र परिग्रहमें भी ममत्व नहीं रखता वह नवमी प्रतिमाका धारी श्रावक है ।' रत्नकरंडश्रावकाचारमें कहा है-"बाह्य दस प्रकारकी वस्तुओंमें ममत्व छोडकर जो निर्ममत्वसे प्रेम करता है वह स्वस्थ सन्तोषी श्रावक परिग्रहका त्यागी है ॥" आशय यह है कि आरम्भका त्याग कर देनेके पश्चात् श्रावक परिग्रहका त्याग करता है । वह अपने पुत्र या अन्य उत्तराधिकारीको बुलाकर उससे कहता है कि 'पुत्र, आज तक हमने इस गृहस्थाश्रमका पालन किया । अब हम इससे विरक्त होकर इसे छोडना चाहते हैं अतः अब तुम इस भारको सम्हालो और यह धन, धर्मस्थान और कुटुम्बीजनोंको अपना कर हमें इस भारसे मुक्त करो । इस तरह पुत्रको सब भार सौंपकर वह गृहस्थ बडा हल्कापन अनुभव करता है और मनमें सुख और सन्तोष मानता है क्यों कि वह जानता है कि यह परिग्रह हिंसा आदि पापोंका मूल है, क्रोध अदि कषायोंका घर है और दुर्ध्यानका कारण है । अतः इसके रहते हुए धर्मध्यान और शुक्लध्यान नहीं हो सकते ॥ ३८६ ॥ **अर्थ**-बाह्य परिग्रहसे रहित दरिद्री मनुष्य तो स्वभावसे ही होते हैं । किन्तु अन्तरंग परिग्रहको छोडनेमें कोईभी समर्थ नहीं होता ॥ **भावार्थ**-वास्तवमें परिग्रह तो ममत्व परिणाम ही है । धन धान्य वगैरहको तो इस

१ छ म ग दलिद्दमणुआ (स मणुवा)। २ ब हुंति । ३ ब को वि । ४ ब निर्ग्रंथः । जो अणु इत्यादि ।

वास्तुधनधान्यादिबाह्यपरिग्रहरहिताः । पुनः अनूचः कोऽपि कश्चित्पुमान् न शक्नोति न समर्थो भवति । किं कर्तुम् । छण्डयितुं त्यक्तुं मोक्तुं । कं तम् । अभ्यन्तरं ग्रन्थं मिथ्यात्वादिपरिग्रहम्, इन्द्रियाभिलाषलक्षणं परिग्रहं वा मनोऽभिलाषरूपं त्यक्तुं कः समर्थः, अपि तु न । इति परिग्रहविरतिप्रतिमा, श्रावकस्य दशमो धर्मः १० ॥ ३८७ ॥ अथानुमोदनविरतिं गाथाद्वयेन विवृणोति-

जो अणुमणणं ण कुणदि गिहत्थ-कज्जेसु पाव-मूलेसु[1] ।
भवियव्वं भावंतो अणुमण-विरओ हवे सो दु ॥ ३८८ ॥

[छाया-यः अनुमनन न करोति गृहस्थकार्येषु पापमूलेषु । भवितव्यं भावयन् अनुमनविरतः भवेत स तु ॥] स तु श्रावकः अनुमननविरतः अनुमोदनारहितः अनुमतरहितः श्राद्धो भवेत् । स कः । यः गृहस्थकार्येषु गृहस्थानां पुत्र-पौत्रादिपरिवाराणां कार्याणि विवाहधनोपार्जनगृहहट्टनिर्मापणप्रमुखानि तेषु गृहस्थकार्येषु अनुमननम्, अनुमोदनां मनसा वचसा श्रद्धानं रुचिरूपां न करोति न विदधाति । कथंभूतेषु गृहस्थकार्येषु । पापमूलेषु पापकारणेषु पापानाम् अशुभकर्मणां मूलेषु कारणभूतेषु । कीदृक् सः । भवितव्यं किंचित् भवितव्यं तत् भविष्यत्येव इति भावयन् चिन्तयन् । स श्रावकः आहारादीनाम् आरम्भाणामनुमननादिनिवृत्तो भवति ॥ ३८८ ॥

जो पुणु[2] चिंतदि कज्जं सुहासुहं राय-दोस-संजुत्तो ।
उवओगेण[3] विहीणं स कुणदि पावं विणा कज्जं ॥ ३८९ ॥[4]

लिये परिग्रह कहा है कि वह ममत्व परिणामका कारण है । उनके होतेही मनुष्य उन्हें अपना मानकर उनकी रक्षा वगैरहकी चिन्ता करता है । किन्तु यदि भाग्यवश बाह्य परिग्रह नष्ट होजाये या मनुष्य जन्मसे ही दरिद्री हो तो भी उसके मनमें परिग्रहकी भावना तो बनी ही रहती है तथा बाह्य परिग्रहके न होने या नष्ट होजाने पर भी काम क्रोध, आदि अन्तरंग परिग्रह बनी ही रहती है । इसीसे आचार्य कहते हैं कि बाह्य परिग्रहके छोडनेमें तारीफ नहीं है, किन्तु अन्तरंग परिग्रहके छोडनेमें तारीफ है । सच्चा अपरिग्रही वही है जिसके अन्तरंगमें परिग्रहकी भावना नहीं है । इस प्रकार परिग्रहत्याग प्रतिमाका कथन सम्पूर्ण हुआ ॥ ३८७ ॥ आगे, दो गाथाओंसे अनुमोदनाविरतिको कहते हैं । **अर्थ**-'जो होना है वह होगा ही' ऐसा विचार कर जो श्रावक पापके मूल गार्हस्थिक कार्योंकी अनुमोदना नहीं करता वह अनुमोदनाविरति प्रतिमाका धारी है ॥ **भावार्थ**-परिग्रहत्याग प्रतिमाका धारी श्रावक आरम्भ और परिग्रहको छोडने पर भी अपने पुत्र पौत्रोंके विवाह आदि कार्योंकी, वणिज व्यापारकी, मकान आदि बनवानेकी मन और वचनसे अनुमोदना करता था, क्यों कि अभी उसका मोह अपने घरसे हटा नहीं था तथा वह घरमें ही रहता था । किन्तु अनुमोदना विरत श्रावक यह सोचकर कि 'जिसका जो कुछ भला बुरा होना है वह होओ' अपने घरकी ओरसे उदासीन होजाता है । उसके पुत्र वगैरह कोई भी गार्हस्थिक काम करें उससे उसे कोई प्रयोजन नहीं रहता । अब वह घरमें रहता है तो उदासीन बनकर रहता है, नहीं तो घर छोडकर चैत्यालय वगैरहमें रहने लगता है । भोजनके लिये अपने घरका या पराये घरका जो कोई बुलाकर लेजाता है उसके घर भोजन कर लेता है । तथा ऐसा भी नहीं कहता कि हमारे लिये भोजनमें अमुक वस्तु बनवाना । जो कुछ गृहस्थ जिमाता है, जीम आता है । हां, भोजन शुद्ध होना चाहिये ॥ ३८८ ॥ **अर्थ**-जो विना प्रयोजन राग द्वेषसे

१ म पावलेसेसु । २ ब पुणु । ३ म ग उवजग्गेण । ४ ब अणुमयविरओ । जो नव इत्यादि ।

[छाया:-यः पुनः चिन्तयति कार्यं शुभाशुभं रागदोषसंयुक्तः । उपयोगेन विहीनं स करोति पापं विना कार्यम्] स प्रसिद्धः करोति विदधाति । किं तत् । कार्यं विना पापं साध्यमन्तरेण फलं विना दुरितं करोति । स कः । यः पुनः चिन्तयति ध्यायति । किं तत् । शुभाशुभकार्यं पुत्रजन्माशनचूडाकरणाध्यापनविवाहादिकं शुभं कर्म परपीडनमारणबन्धादिकक्षितिखननादिकं चाशुभकार्यं चिन्तयति । कीदृशं तत् । उपयोगेन साध्यसाधकत्वेन विहीनं रहितं निरर्थकमित्यर्थः । कीदृक्षः सन् । रागद्वेषसंयुक्तः शुभेषु कार्येषु रागः प्रीतिः अशुभेषु कार्येषु द्वेषः अप्रीतिः ताभ्यां संयुक्तः रागद्वेषमय इत्यर्थः । एवंभूतस्य पुंसः अनुमननविनिवृत्ति कथं भवतीति । तथा वसुनन्दिना चोक्तं च । 'पुट्ठो वापुट्ठो वा णियपरेहिं च सगिहकज्जेसु । अणुमणणं जो ण कुणदि वियाण सो सावओ दहमो ॥' तथा च । 'अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे वैहिकेषु कर्मसु वा । नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः ॥' इति । इत्यनुमतविरतिप्रतिमा, एकादशो धर्मः ११ ॥ ३८९ ॥ अथ गाथाद्वयेनोद्दिष्टविरतिप्रतिमां प्रपञ्चयति-

जो णव-कोडि-विसुद्धं भिक्खायरणेण भुंजदे भोज्जं ।
जायण-रहियं जोग्गं उद्दिट्ठाहार-विरदो सो ॥ ३९० ॥

[छाया-यः नवकोटिविशुद्धं भिक्षाचरणेन भुङ्क्ते भोज्यम् । याचनरहितं योग्यम् उद्दिष्टाहारविरतः सः ॥] स श्रावकः उद्दिष्टाहारविरतः उद्दिष्टः पात्रं उद्देश्य निर्मापितः उद्दिष्टः स चासौ आहारश्च उद्दिष्टाहारः तस्मात् उद्दिष्टाहारात् विरतः निवृत्तः उद्दिष्टाहारविरतः स्वोद्दिष्टपिण्डोपधिशयनवरासनवसत्यादेर्विरतः भवेत् । स कः । यः भुंक्ते अश्नाति भक्षयति । किं तत् । भोज्यं भोजनमाहारम् अशनपानखाद्यस्वाद्यादिकं चतुर्विधम् । केन । भिक्षाचरणेन आहारार्थं परगृहगमनेन परिभ्रमणेन । कीदृक्षं तत् भोज्यम् । नवकोटिविशुद्धं मनोवचनकायैः प्रत्येकं कृतकारितानुमोदनैः नवकोटिभिः नवोत्कृष्टप्रकारैः विशुद्धं दोषरहितं निर्मलं भोज्यं निर्दोषम् । मनःकृतं भोज्यं १, मनःकारितं भोज्यं २, मनोऽनुमतं भोज्यं ३, वचनकृतं भोज्यं ४, वचनकारितं भोज्यं ५, वचनानुमोदितं भोज्यं ६, कायकृतं भोज्यं ७, कायकारित भोज्यं ८, काया-

संयुक्त होकर शुभ और अशुभ कार्योंका चिन्तन करता है वह व्यर्थ पापका उपार्जन करता है ॥ **भावार्थ**-मनुष्योंमें प्रायः यह आदत होती है कि वे जिनसे उनका राग होता है उनका तो वे भला विचारा करते हैं और जिनसे उनका द्वेष होता है उनका बुरा चाहते हैं । किन्तु किसीके चाहने मात्रसे किसीका भला बुरा नहीं होता । अतः ऐसे आदमी व्यर्थमें ही पापका संचय किया करते हैं । किन्तु अनुमोदना विरत श्रावक तो आरम्भ और परिग्रहको छोड चुका है । घरसे भी उसका वास्ता नहीं रहा । ऐसी स्थितिमें भी यदि वह राग और द्वेषके वशीभूत होकर पुत्रजन्म विवाह आदि शुभ कार्योंकी और दूसरोंको पीडा देना मारना पीटना आदि अशुभ कार्योंकी अनुमोदना करता है तो वह व्यर्थही पाप बन्ध करता है । ऐसे श्रावकके अनुमतित्याग प्रतिमा नहीं हो सकती ॥ वसुनन्दिनेभी कहा है-"अपने या दूसरे लोगोंके द्वारा घरेलु कामोके बारेमें पूछनेपर या विना पूछे जो सलाह नहीं देता वह दसवीं प्रतिमाका धारी श्रावक है ।" रत्नकरंडश्रावकाचारमें भी कहा है-"खेती आदि आरम्भके विषयमें, धन धान्य आदि परिग्रहके विषयमें और इस लोक सम्बन्धी विवाह आदि कार्योंमें जो अपनी अनुमति नहीं देता वह समबुद्धि श्रावक अनुमतिविरत है ।" इस प्रकार अनुमतिविरत श्रावकका कथन समाप्त हुआ ॥ ३८९ ॥ आगे दो गाथाओंसे उद्दिष्ट विरति प्रतिमाका स्वरूप कहते हैं । **अर्थ**-जो श्रावक भिक्षाचरणके द्वारा विना याचना किये, नव कोटिसे शुद्ध योग्य आहारको ग्रहण करता है वह उद्दिष्ट आहारका त्यागी है ॥ **भावार्थ**-अपने उद्देश्यसे बनाये हुए आहारको ग्रहण न करने-

१ ब नव । २ ब स ग विसुद्ध । ३ म भोग्गं । ४ छ म स ग विरओ (उ?) ।

वास्तुधनधान्यादिबाह्यपरिग्रहरहिताः । पुनः अनूवः कोऽपि कश्चित्पुमान् न शक्नोति न समर्थो भवति । किं कर्तुम् । छण्डयितुं त्यक्तुं मोक्तुं । कं तम् । अभ्यन्तरं ग्रन्थं मिथ्यात्वादिपरिग्रहम्, इन्द्रियाभिलाषलक्षणं परिग्रहं वा मनोऽभिलाषरूपं त्यक्तुं कः समर्थः, अपि तु न । इति परिग्रहविरतिप्रतिमा, श्रावकस्य दशमो धर्मः १० ॥ ३८७ ॥ अथानुमोदनविरतिं गाथाद्वयेन विवृणोति-

जो अणुमणणं ण कुणदि गिहत्थ-कज्जेसु पाव-मूलेसु[1] ।
भवियव्वं भावंतो अणुमण-विरओ हवे सो दु ॥ ३८८ ॥

[छाया-यः अनुमनन न करोति गृहस्थकार्येषु पापमूलेषु । भवितव्यं भावयन् अनुमनविरतः भवेत् स तु ॥] स तु श्रावकः अनुमननविरतः अनुमोदनारहितः अनुमतरहितः श्राद्धो भवेत् । स कः । यः गृहस्थकार्येषु गृहस्थानां पुत्र-पौत्रादिपरिवाराणां कार्याणि विवाहधनोपार्जनगृहहट्टनिर्मापणप्रमुखानि तेषु गृहस्थकार्येषु अनुमननम्, अनुमोदनां मनसा वचसा श्रद्धानं रुचिरूपां न करोति न विदधाति । कथंभूतेषु गृहस्थकार्येषु । पापमूलेषु पापकारणेषु पापानाम् अशुभकर्मणां मूलेषु कारणभूतेषु । कीदृक् सः । भवितव्यं किंचित् भवितव्यं तत् भविष्यत्येव इति भावयन् चिन्तयन् । स श्रावकः आहारादीनाम् आरम्भाणामनुमननाद्विनिवृत्तो भवति ॥ ३८८ ॥

जो पुण[2] चिंतदि कज्जं सुहासुहं राय-दोस-संजुत्तो ।
उवओगेण[3] विहीणं स कुणदि पावं विणा कज्जं ॥ ३८९ ॥[4]

लिये परिग्रह कहा है कि वह ममत्व परिणामका कारण है । उनके होतेही मनुष्य उन्हें अपना मानकर उनकी रक्षा वगैरहकी चिन्ता करता है । किन्तु यदि भाग्यवश बाह्य परिग्रह नष्ट होजाये या मनुष्य जन्मसे ही दरिद्री हो तो भी उसके मनमें परिग्रहकी भावना तो बनी ही रहती है तथा बाह्य परिग्रहके न होने या नष्ट होजाने पर भी काम क्रोध, आदि अन्तरंग परिग्रह बनी ही रहती है । इसीसे आचार्य कहते हैं कि बाह्य परिग्रहके छोडनेमें तारीफ नहीं है, किन्तु अन्तरंग परिग्रहके छोडनेमें तारीफ है । सच्चा अपरिग्रही वही है जिसके अन्तरंगमें परिग्रहकी भावना नहीं है । इस प्रकार परिग्रहत्याग प्रतिमाका कथन सम्पूर्ण हुआ ॥ ३८७ ॥ आगे, दो गाथाओंसे अनुमोदनाविरतिको कहते हैं । **अर्थ**-'जो होना है वह होगा ही' ऐसा विचार कर जो श्रावक पापके मूल गार्हस्थिक कार्योंकी अनुमोदना नहीं करता वह अनुमोदनाविरति प्रतिमाका धारी है ॥ **भावार्थ**-परिग्रहत्याग प्रतिमाका धारी श्रावक आरम्भ और परिग्रहको छोडने पर भी अपने पुत्र पौत्रोंके विवाह आदि कार्योंकी, वणिज व्यापारकी, मकान आदि बनवानेकी मन और वचनसे अनुमोदना करता था, क्यों कि अभी उसका मोह अपने घरसे हटा नहीं था तथा वह घरमें ही रहता था । किन्तु अनुमोदना विरत श्रावक यह सोचकर कि 'जिसका जो कुछ भला बुरा होना है वह होओ' अपने घरकी ओरसे उदासीन होजाता है । उसके पुत्र वगैरह कोई भी गार्हस्थिक काम करें उससे उसे कोई प्रयोजन नहीं रहता । अब वह घरमें रहता है तो उदासीन बनकर रहता है, नहीं तो घर छोडकर चैत्यालय वगैरहमें रहने लगता है । भोजनके लिये अपने घरका या पराये घरका जो कोई बुलाकर लेजाता है उसके घर भोजन कर लेता है । तथा ऐसा भी नहीं कहता कि हमारे लिये भोजनमें अमुक वस्तु बनवाना । जो कुछ गृहस्थ जिमाता है, जीम आता है । हां, भोजन शुद्ध होना चाहिये ॥ ३८८ ॥ **अर्थ**-जो विना प्रयोजन राग द्वेषसे

---

१ म पावलेसेसु । २ ब पुणु । ३ म ग उवजगेण । ४ ब अणुमयविरओ । जो नव इत्यादि ।

[छायाः–यः पुनः चिन्तयति कार्यं शुभाशुभं रागदोषसंयुक्तः । उपयोगेन विहीनं स करोति पापं विना कार्यम्] स प्रसिद्धः करोति विदधाति । किं तत् । कार्यं विना पापं साध्यमन्तरेण फलं विना दुरितं करोति । स कः । यः पुनः चिन्तयति ध्यायति । किं तत् । शुभाशुभकार्यं पुत्रजन्माशनचूडाकरणाध्यापनविवाहादिकं शुभं कर्म परपीडनमारणबन्धादिकक्षितिखननादिकं चाशुभकार्यं चिन्तयति । कीदृशं तत् । उपयोगेन साध्यसाधकत्वेन विहीनं रहितं निरर्थकमित्यर्थः । कीदृक्षः सन् । रागद्वेषसंयुक्तः शुभेषु कार्येषु रागः प्रीतिः अशुभेषु कार्येषु द्वेषः अप्रीतिः ताभ्यां संयुक्तः रागद्वेषमय इत्यर्थः । एवंभूतस्य पुंसः अनुमननविनिवृत्तिः कथं भवतीति । तथा वसुनन्दिना चोक्तं च । 'पुट्ठो वापुट्ठो वा णियगपरेहिं च सगिहकज्जेसु । अणुमणणं जो ण कुणदि वियाण सो सावओ दहमो ॥' तथा च । 'अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे वैहिकेषु कर्मसु वा । नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः ॥' इति । इत्यनुमतविरतिप्रतिमा, एकादशो धर्मः ११ ॥ ३८९ ॥ अथ गाथाद्वयेनोद्दिष्टविरतिप्रतिमां प्रपञ्चयति–

जो णव-कोडि-विसुद्धं भिक्खायरणेण भुंजदे भोज्जं[1] ।
जायण-रहियं जोग्गं उद्दिट्ठाहार-विरदो सो ॥ ३९० ॥

[छाया–यः नवकोटिविशुद्धं भिक्षाचरणेन भुङ्क्ते भोज्यम् । याचनरहितं योग्यम् उद्दिष्टाहारविरतः सः ॥] स श्रावकः उद्दिष्टाहारविरतः उद्दिष्टः पात्रं उद्देश्य निर्मापितः उद्दिष्टः स चासौ आहारश्च उद्दिष्टाहारः तस्मात् उद्दिष्टाहारात् विरतः निवृत्तः उद्दिष्टाहारविरतः स्वोद्दिष्टपिण्डोपधिशयनवरासनवसत्यादेर्विरतः भवेत् । स कः । यः भुंक्ते अश्नाति भक्षयति । किं तत् । भोज्यं भोजनमाहारम् अशनपानखाद्यस्वाद्यादिकं चतुर्विधम् । केन । भिक्षाचरणेन आहारार्थं परगृहगमनेन परिभ्रमणेन । कीदृक्षं तत् भोज्यम् । नवकोटिविशुद्धं मनोवचनकायैः प्रत्येकं कृतकारितानुमोदनैः नवकोटिभिः नवोत्कृष्टप्रकारैः विशुद्धं दोषरहितं निर्मलं भोज्यं निर्दोषम् । मनःकृतं भोज्यं १, मनःकारितं भोज्यं २, मनोऽनुमतं भोज्यं ३, वचनकृतं भोज्यं ४, वचनकारितं भोज्यं ५, वचनानुमोदितं भोज्यं ६, कायकृतं भोज्यं ७, कायकारित भोज्यं ८, काया-

संयुक्त होकर शुभ और अशुभ कार्योंका चिन्तन करता है वह व्यर्थ पापका उपार्जन करता है ॥ **भावार्थ–**मनुष्योंमें प्रायः यह आदत होती है कि वे जिनसे उनका राग होता है उनका तो वे भला विचारा करते हैं और जिनसे उनका द्वेष होता है उनका बुरा चाहते हैं । किन्तु किसीके चाहने मात्रसे किसीका भला बुरा नहीं होता । अतः ऐसे आदमी व्यर्थमें ही पापका संचय किया करते हैं । किन्तु अनुमोदना विरत श्रावक तो आरम्भ और परिग्रहको छोड चुका है । घरसे भी उसका वास्ता नहीं रहा । ऐसी स्थितिमें भी यदि वह राग और द्वेषके वशीभूत होकर पुत्रजन्म विवाह आदि शुभ कार्योंकी और दूसरोंको पीडा देना मारना पीटना आदि अशुभ कार्योंकी अनुमोदना करता है तो वह व्यर्थही पाप बन्ध करता है । ऐसे श्रावकके अनुमतित्याग प्रतिमा नहीं हो सकती ॥ वसुनन्दिनेभी कहा है–"अपने या दूसरे लोगोंके द्वारा घरेलु कामोंके बारेमें पूछनेपर या विना पूछे जो सलाह नहीं देता वह दसवीं प्रतिमाका धारी श्रावक है ।" रत्नकरंडश्रावकाचारमें भी कहा है–"खेती आदि आरम्भके विषयमें, धन धान्य आदि परिग्रहके विषयमें और इस लोक सम्बन्धी विवाह आदि कार्योंमें जो अपनी अनुमति नहीं देता वह समबुद्धि श्रावक अनुमतिविरत है ।" इस प्रकार अनुमतिविरत श्रावकका कथन समाप्त हुआ ॥ ३८९ ॥ आगे दो गाथाओंसे उद्दिष्ट विरति प्रतिमाका स्वरूप कहते हैं । **अर्थ–** जो श्रावक भिक्षाचरणके द्वारा विना याचना किये, नव कोटिसे शुद्ध योग्य आहारको ग्रहण करता है वह उद्दिष्ट आहारका त्यागी है ॥ **भावार्थ–**अपने उद्देश्यसे बनाये हुए आहारको ग्रहण न करने-

१ ब नव । २ ब ल स ग विशुद्धं । ३ म भोग्गं । ४ ल म स ग विरओ (उ?) ।

नुमोदितं भोज्यं ९ इति नवोत्कर्षप्रकारैः विशुद्धं दोषरहितमित्यर्थः । मनसाऽकृतभोजनमित्यादयः नवप्रकाराः ज्ञातव्याः । अथवा अन्नं पवित्रं सत् १ दातारं २ पात्रं च ३ पवित्रं करोति । दाता शुद्धः सन् १ अन्नं २ पात्रं च ३ शुद्धं करोति । पात्रं शुद्धं सत् १ दातारम् २ अन्नं च ३ शुद्धं करोति इति नवा नूतना कोटिः प्रकर्षः तया विशुद्धम् । पुनः कीदृक्षम् । याच्ञारहितं मह्यम् अन्नं देहीति, आहारप्रार्थनार्थं द्वारोद्घाटनशब्दज्ञापनम् इत्यादियाच्ञया प्रार्थनया रहितम् । पुनः कीदृक्षम् । योग्यं मकारत्रयरहितं चर्मजलघृततैलरामठादिभिरस्पृष्टं रात्रावकृतं चाण्डालनीचलोकमार्जारशुनकादिस्पर्शरहितं यतियोग्यं भोज्यम् ॥ ३९० ॥

जो सावय-वय-सुद्धो अंते आराहणं परं कुणदि ।
सो अच्चुदम्हि[1] सग्गे इंदो सुर-सेविदो[2] होदि ॥ ३९१ ॥[3]

[छाया-यः श्रावकव्रतशुद्धः अन्ते आराधनं परं करोति । सः अच्युते स्वर्गे इन्द्रः सुरसेवितः भवति ॥] यः श्रावकव्रतशुद्धः श्रावकस्य श्राद्धस्य व्रतैः सम्यग्दृष्टिदर्शनिकव्रतसामायिकप्रोषधोपवाससचित्तविरतरात्रिभुक्तिविरताब्रह्म-

वाला श्रावक उद्दिष्ट आहारका त्यागी होता है। आहारकी ही तरह अपने उद्देश्यसे बनाई गई वसतिका, आसन, चटाई वगैरहको भी वह स्वीकार नहीं करता न वह निमंत्रण स्वीकार करता है। किन्तु मुनिकी तरह श्रावकोंके घर जाकर भिक्षा भोजन करता है। श्रावकोंके घर जाकर भी वह मांगता नहीं कि मुझे भोजन दो, और न आहारके लिये श्रावकोंका दरवाजा खटखटाता है। तथा मुनिके योग्य नव कोटिसे शुद्ध आहारको ही ग्रहण करता है। मन वचन कायके साथ कृत, कारित और अनुमोदनाको मिलानेसे नौ कोटियां अर्थात् नौ प्रकार होते हैं। अर्थात् उद्दिष्ट त्यागी जो भोजन ग्रहण करे वह उसके मनसे कृत न हो, मनसे कारित न हो, मनसे अनुमत न हो, वचनसे कृत न हो, वचनसे कारित न हो, वचनसे अनुमोदित न हो, कायसे कृत न हो, कायसे कारित न हो, कायसे अनुमोदित न हो। इन उत्कृष्ट नौ प्रकारोंसे युक्त विशुद्ध भोजनको ही उद्दिष्ट विरत श्रावक ग्रहण करता है ॥३९०॥ **अर्थ**–जो श्रावक व्रतोंसे शुद्ध होकर अन्तमें उत्कृष्ट आराधनाको करता है वह अच्युत स्वर्गमें देवोंसे सेवित इन्द्र होता है ॥ **भावार्थ**–जो श्रावक सम्यग्दृष्टि, दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्त विरत, रात्रिभुक्ति विरत, अब्रह्म विरत, आरम्भ विरत, परिग्रह विरत, अनुमति विरत, और उद्दिष्ट विरत इन बारह व्रतोंसे निर्मल होकर मरणकाल उपस्थित होनेपर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और तप इन चार आराधनाओंको करता है वह मरकर अच्युत नामके सोलहवें स्वर्गमें जाता है, उससे आगे नवग्रैवेयक वगैरहमें नहीं जाता, ऐसा नियम है। तथा वहां देवोंसे सेवित इन्द्र होता है। श्रीवसुनन्दि सैद्धान्तिकने उद्दिष्टाहार विरत प्रतिमाका लक्षण इस प्रकार कहा है–"ग्यारहवीं प्रतिमाका धारी उत्कृष्ट श्रावक दो प्रकारका होता है। एक तो एक वस्त्र रखनेवाला और दूसरा लंगोटी मात्र रखनेवाला ॥ प्रथम उत्कृष्ट श्रावक अपने बाल उस्तरेसे बनवाता है अथवा कैंचीसे कतरवाता है। और सावधानी पूर्वक कोमल उपकरणसे स्थान आदिको साफ करके बैठता है ॥ बैठकर स्वयं अपने हाथरूपी पात्रमें अथवा बरतनमें भोजन करता है। और चारों पर्वोंमें नियमसे उपवास करता है। उसके भोजनकी विधि इस प्रकार है–पात्रको धोकर वह चर्याके लिये श्रावकके घर जाता है और आंगनमें खड़ा होकर 'धर्मलाभ' कहकर स्वयं भिक्षा मांगता है ॥ तथा भोजनके मिलने और न मिलनेमें सम-

१ ब अच्चुयम्मि । २ छ म स ग सेविओ (उ?) । ३ ब उद्दिट्ठ-विरदो । एवं सावयधम्मो समायत्तोः ॥ जो रयणत्तय इत्यादि ।

विरतारम्भविरतपरिग्रहविरतानुमतविरतोद्दिष्टाहारविरतव्रतैर्द्वादशप्रमितैः शुद्धः निर्मलः षष्टिदोषरहितः श्राद्धः अन्ते अवसाने जीवितान्ते मरणकाले वा । तथा चोक्तम् । "उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे । धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥" आराधनं करोति विदधाति सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपसां व्यवहारनियमतः आराधनं करोति विदधाति । कथंभूतम् । परम् उत्कृष्टम् । स श्रावकधर्मशुद्धः पुमान् अच्युतस्वर्गे इन्द्रो मघवा भवति अच्युतनाम्नि षोडशनाके षोडशस्वर्गे गच्छति । ततः परं नवग्रैवेयकादिषु न याति इति नियमो ज्ञातव्यः । कीदृक् इन्द्रः । सुरसेवितः सुरैः सामानिकादिदेववृन्दैः सेवितः सेव्यः स्यात् । तथा वसुनन्दिसिद्धान्तिनोद्दिष्टाहारविरतिप्रतिमालक्षणं प्रोक्तं च । 'एयारसम्मि ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविहो । वत्थेयधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो बिदिओ ॥ १ ॥ धम्मिल्लाणवणयणं कारदि कत्तरिछुरेण वा पढमो । ठाणादिसु पडिलेहदि मिदोवकरणेण पयडप्पा ॥ २ ॥ भुंजेदि पाणिपत्तम्मि भायणे वा सयं समुवविट्ठो । उववासं पुण णियमा चउव्विहं कुणदि पव्वेसु ॥ ३ ॥ पक्खालिऊण पत्तं पविसदि चरियाए पंगणे ठिच्चा । भणिदूण धम्मलाभं जायदि भिक्खं सयं चेव ॥ ४ ॥ सिग्घं लाहालाहो अदीणवयणो णियत्तिदूण तदो । अण्णम्हि गिहे वच्चदि दरिसदि मोणेण कायं वा ॥ ५ ॥ जदि अद्धवहे कोइ वि भणइ एत्थेव भोयणं कुणह । भोत्तूण णियभिक्खं तत्थिलं भुंजए सेसं ॥ ६ ॥ अह ण लहइ तो भिक्खं भमिज्ज णियपोट्टपूरणपमाणं । पच्छा एयम्हि गिहे जायज्जो पासुगं सलिलं ॥ ७ ॥ जं किं पि पडिदभिक्खं भुंजिज्जो सोहिदूण जत्तेण । पक्खालिदूण पत्तं गच्छेज्जो गुरुसयासम्मि ॥ ८ ॥ जदि एवं ण चएज्जो कादुं रिसिगेहणम्मि चरियाए । पविसित्तु एयभिक्खं पवित्तिणियमेण ता कुज्जा ॥ ९ ॥ गंतूण गुरुसमीवं

बुद्धि रखकर, भोजन न मिलनेपर दीनमुख न करके वहांसे शीघ्र निकल आता है, और दूसरे घर जाता है, तथा मौनपूर्वक अपना आशय प्रकट करता है ॥ यदि कोई भोजन करनेकी प्रार्थना करता है तो पहले ली हुई भिक्षाको खाकर शेष भिक्षा उससे लेकर खाता है ॥ यदि कोई मार्गमें भोजन करनेकी प्रार्थना नहीं करता तो अपने पेट भरने लायक भिक्षाकी प्रार्थना करता है और फिर किसी घरसे प्रासुक पानी मांगकर जो कुछ भिक्षामें मिला है उसे सावधानी पूर्वक शोधकर खा लेता है और पात्रको धोकर गुरुके पास चला जाता है ॥ किन्तु यदि किसी भी घरसे आहार नहीं मिलता तो उपवास ग्रहण कर लेता है ॥ यदि किसीको उक्त विधिसे गोचरी करना न रुचे तो वह मुनियोंके गोचरीका जानेके पश्चात् श्रावकके घरमें जावे, और यदि इस प्रकार भिक्षा न मिले तो उपवासका नियम लेलेना चाहिये ॥ गुरूके समीप जाकर विधि पूर्वक चार प्रकारके आहारका त्याग करता है । और यत्नपूर्वक गुरूके सामने अपने दोषोंकी आलोचना करता है ॥ दूसरे उत्कृष्ट श्रावककी भी यही क्रिया है । इतना विशेष है कि वह नियमसे केशलोंच करता है, पीछी रखता है और हाथमें भोजन करता है ॥ दिनमें प्रतिमायोग, स्वयं मुनिकी तरह भ्रामरीवृत्तिसे भोजनके लिये चर्या करना, त्रिकाल योग अर्थात् गर्मीमें पर्वतके शिखरपर, बरसातमें वृक्षके नीचे, और शीत ऋतुमें नदीके किनारे ध्यान करना, सूत्ररूप परमागमका और प्रायश्चित शास्त्रका अध्ययन, इन बातोंका अधिकार देश विरत श्रावकोंको नहीं है ॥ इस प्रकार ग्यारहवें उद्दिष्टविरत श्रावकके दो भेदोंका कथन संक्षेपसे शास्त्रानुसार किया ॥" समन्तभद्रस्वामीने भी कहा है–"घर छोड़कर, जिस वनमें मुनि रहते हैं वहां जाकर, जो गुरुके समीप व्रतोंको ग्रहण करता है, और भिक्षा भोजन करता है, तपस्या करता है तथा खण्ड वस्त्र रखता है वह उत्कृष्ट श्रावक है ।" चारित्रसार नामक ग्रन्थमें लिखा है–'उद्दिष्ट त्यागी अपने उद्देशसे बनाये हुए भोजन, उपधि, शय्या, वसतिका आदिका त्यागी होता है । वह एक धोती रखता है, भिक्षा भोजन करता है और बैठकर अपने हाथमें ही भोजन करता है । रातमें प्रतिमायोग वगैरह तप करता है किन्तु आतापनयोग वगैरह नहीं करता । अणुव्रती और महाव्रती यदि समितियोंका

पच्चक्खाणं चउव्विहं विहिगा। गहिदूण तदो सव्वं आलोचेज्जो पयत्तेण ॥ १० ॥ एमेव होदि बिदिओ णवरि विसेसो कुणे

पालन करते हैं तो वे संयमी कहे जाते हैं। और विना समितियोंके वे केवल विरत हैं। जैसा कि वर्गणाखण्डके बन्धाधिकारमें लिखा है–'संयम और विरतिमें क्या भेद है? समिति सहित महाव्रतों और अणुव्रतोंको संयम कहते हैं और संयमके विना महाव्रत और अणुव्रत विरति कहे जाते हैं।' उक्त ग्यारह प्रतिमाओंमेंसे (सब श्रावकाचारोंमें दार्शनिकसे लेकर उद्दिष्टत्याग तक ग्यारह प्रतिमाएं ही बतलाई है) दर्शनिकसे लेकर शुरु की छै प्रतिमावाले श्रावक जघन्य होते हैं, उसके बाद सातवीं, आठवीं और नौवीं प्रतिमावाले श्रावक मध्यम होते हैं। और अन्तिम दो प्रतिमाधारी श्रावक उत्कृष्ट होते हैं।' चारित्रसारमें श्रावक धर्मका विस्तारसे वर्णन किया है जिसे संस्कृत टीकाकारने उद्धृत किया है। "अतः वह संक्षेपमें दिया जाता है–गृहस्थलोग तलवार चलाकर, लेखनीसे लिखकर, खेती या व्यापार आदि करके अपनी आजीविका चलाते हैं, और इन कार्योंमें हिंसा होना संभव है अतः वे पक्ष, चर्या और साधनके द्वारा उस हिंसाको दूर करते हैं। अहिंसारूप परिणामोंका होना पक्ष है। गृहस्थ धर्मके लिये, देवताके लिये, मंत्र सिद्ध करनेके लिये, औषधके लिये, आहारके लिये और अपने ऐशआरामके लिये हिंसा नहीं करूंगा। यही उसका अहिंसारूप परिणाम है। तथा जब वह गार्हस्थिक कार्योंमें हुई हिंसाका प्रायश्चित्त लेकर सब परिग्रहको छोड़नेके लिये उद्यत होता है और अपना सब घरद्वार पुत्रको सौंपकर घर तक छोड़ देता है उसे चर्या कहते हैं। और मरणकाल उपस्थित होनेपर धर्मध्यानपूर्वक शरीरको छोड़नेका नाम साधन है। इन पक्ष, चर्या और साधनके द्वारा हिंसा आदिसे संचित हुआ पाप दूर हो जाता है। जैनागममें चार आश्रम अथवा अवस्थायें कही है–ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक। ब्रह्मचारी पांच प्रकारके होते हैं–उपनय ब्रह्मचारी, अवलम्ब ब्रह्मचारी, दीक्षा ब्रह्मचारी, गूढ ब्रह्मचारी, और नैष्ठिक ब्रह्मचारी। जो ब्रह्मचर्यपूर्वक समस्त विद्याओंका अभ्यास करके गृहस्थाश्रम स्वीकार करते हैं वे उपनय ब्रह्मचारी हैं। क्षुल्लक रूपसे रहकर आगमका अभ्यास करके जो गृहस्थाश्रम स्वीकार करते हैं वे अवलम्ब ब्रह्मचारी हैं। विना किसी वेशके आगमका अभ्यास करके जो गृहस्थाश्रम स्वीकार करते हैं वे अदीक्षा ब्रह्मचारी हैं। जो कुमारश्रमण विद्याभ्यास करके बन्धुजन अथवा राजा आदिके कारण अथवा स्वयं ही गृहस्थधर्म स्वीकार करते हैं वे गूढ ब्रह्मचारी हैं। जो चोटी रखते हैं, भिक्षा भोजन करते हैं और कमरमें रक्त अथवा सफेद लंगौटी लगाते हैं वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। इज्या, वार्ता, दान, स्वाध्याय, संयम और तप ये गृहस्थके षट्र कर्म हैं। अर्हन्त देवकी पूजाको इज्या कहते हैं। उसके पांच भेद हैं–नित्यपूजा, चतुर्मुखपूजा, कल्पवृक्षपूजा, अष्टान्हिकपूजा और इन्द्रध्वजपूजा। प्रति दिन शक्तिके अनुसार अपने घरसे अष्ट द्रव्य लेजाकर जिनालयमें जिनेन्द्र देवकी पूजा करना, चैत्य और चैत्यालय बनवाकर उनकी पूजाके लिये गांव जमीन जायदाद देना तथा मुनिजनोंकी पूजा करना नित्यपूजा है। मुकुटबद्ध राजाओंके द्वारा जो जिनपूजा की जाती है उसे चतुर्मुख पूजा कहते हैं, क्यों कि चतुर्मुख बिम्ब विराजमान करके चारोंही दिशामें की जाती है। बड़ी होनेसे इसे महापूजा भी कहते हैं। ये सब जीवोंके कल्याणके लिये की जाती है इसलिये सेइ सर्वतोभद्र भी कहते हैं। याचकोंको उनकी इच्छानुसार दान देनेके पश्चात् चक्रवर्ती अर्हन्त भगवानकी

य णियमेण । लोचं धरिज पेच्छं भुंजिज्जो पाणिपत्तम्हि ॥ ११ ॥ दिणपडिमवीरचरियातियालजोगेसु णत्थि अहियारो । सिद्धंत-रहस्साणं अज्झयणे देसविरदाणं ॥ १२ ॥ उद्दिट्ठपिंडविरदो दुवियप्पो सावओ समासेण । एयारसम्मि ठाणे भणिओ सुत्ताणुसारेण ॥ १३ ॥" तथा समन्तभद्रेणोक्तं च । 'गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य । भैक्ष्याशनस्तपस्य-न्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ॥' 'एकादशके स्थाने ह्युत्कृष्टः श्रावको भवेद्द्विविधः । वस्त्रैकधरः प्रथमः कौपीनपरिग्रहोऽन्यस्तु ॥ २ ॥ कौपीनोऽसौ रात्रिप्रतिमायोगं करोति नियमेन । लोचं पिच्छं धृत्वा भुङ्क्ते ह्युपविश्य पाणिपुटे ॥३॥ वीरचर्या च सूर्यप्रतिमात्रै-काल्ययोगनियमश्च । सिद्धान्तरहस्यादिष्वध्ययनं नास्ति देशविरतानाम् ॥ ४ ॥ आद्यास्तु षड् जघन्याः स्युर्मध्यमास्तदनु त्रयम् । शेषौ द्वावुत्तमावुक्तौ जैनेषु जिनशासने ॥ ५ ॥' चारित्रसारे "स्वोद्दिष्टपिण्डोपधिशयनवरासनादेर्विरतः एकशाटकधरो भिक्षाशनः पाणिपात्रपुटेन उपविश्य भोजी रात्रिप्रतिमादितपःसमुद्यतः आतपनादियोगरहितो भवति । अणुव्रतिमहाव्रतिनौ समितियुक्तौ संयमिनौ भवतः समितिं विना विरतौ[1] । तथा चोक्तं वर्गणाखण्डस्य बन्धनाधिकारे । 'संजमविरईणं को भेदो । ससमिदिमहव्वयाणुव्वयाइं संजमो, समिदीहिं विणा महव्वयाणुव्वयाइं विरदी[2]' इति । असिमषिकृषिवाणिज्यादिभिः गृहस्थानां हिंसासंभवे पक्षचर्यासाधकत्वैर्हिंसाऽभावः क्रियते । तत्राहिंसापरिणामत्वं पक्षः १ । धर्मार्थं देवतार्थं मन्त्रसिद्ध्यर्थम् औष-धार्थम् आहारार्थं स्वभोगार्थं च गृहमेधिनो हिंसां न कुर्वन्ति । हिंसासंभवे प्रायश्चित्तविधिना विशुद्धः सन् परिग्रहपरित्याग-करणे सति स्वगृहधर्मं च वंश्याय समर्प्य यावद्गृहं परित्यजति तावदस्य चर्या भवति २ । सकलगुणसंपूर्णस्य शरीरकम्प-नोच्छ्वासनोन्मीलनविधिं परिहरमाणस्य निहितलोकाग्रमनसः शरीरपरित्यागः साधकत्वम् ३ । एवं पक्षादिभिस्त्रिभिर्हिंसाद्युप-चितं पापमपगतं भवति । जैनागमे आश्रमाश्चत्वारः । उक्तं चोपासकाध्ययने । 'ब्रह्मचारी १ गृहस्थश्च २ वानप्रस्थश्च ३ भिक्षुकः ४ । इत्याश्रमास्तु जैनानां सप्तमाङ्गाद्विनिःसृताः ॥' तत्र ब्रह्मचारिणः पञ्चविधाः । उपनयावलम्बादीक्षागूढ-नैष्ठिकभेदेन । तत्र उपनयब्रह्मचारिणो गणधरसूत्रधारिणः समभ्यस्तागमा [गृहधर्मानुष्ठायिनो भवन्ति १ । अवलम्बब्रह्म-चारिणः क्षुल्लकरूपेणागममभ्यस्य परिगृहीतगृहावासा भवन्ति २ । अदीक्षाब्रह्मचारिणः वेषमन्तरेणाभ्यस्तागमा] गृहधर्म-निरता भवन्ति ३ । गूढब्रह्मचारिणः कुमारश्रमणाः सन्तः स्वीकृतागमाभ्यासा बन्धुभिः दुस्सहपरीषहैरात्मना नृपादिभिर्वा निरस्तपरमेश्वररूपा गृहवासरता भवन्ति ४ । नैष्ठिकब्रह्मचारिणः समाधिगतशिखालक्षितशिरोलिङ्गा गणधरसूत्रोपलक्षितो-रोलिङ्गाः शुक्लरक्तवसनखण्डकौपीनलक्षितकटीलिङ्गाः स्नातका भिक्षावृत्तयो भवन्ति देवतार्चनपरा भवन्ति ५ । गृहस्थस्य इज्या १ वार्ता २ दत्तिः ३ स्वाध्यायः ४ संयमः ५ तपः ६ इत्यार्यषट्कर्माणि भवन्ति । तत्र अर्हत्पूजा इज्या, सा च नित्यमहः १ चतुर्मुखं २ कल्पवृक्षः ३ आष्टाह्निकं ४ ऐन्द्रध्वजः ५ इति । तत्र नित्यमहः नित्यं यथाशक्ति जिनगृहेभ्यो निजगृहाद्गन्धपुष्पाक्षतादिनिवेदनं चैत्यचैत्यालयं कृत्वा ग्रामक्षेत्रादीनां शासनदानं मुनिजनपूजनं च भवति १ । चतुर्मुखं मुकुटबद्धैः क्रियमाणा पूजा सैव महामहः सर्वतोभद्र इति २ । कल्पवृक्षः अर्थिनः प्रार्थितार्थैः संतर्प्य चक्रवर्तिभिः क्रिय-माणो महः ३ । आष्टाह्निकं प्रतीतम् ४ । ऐन्द्रध्वजः इन्द्रादिभिः क्रियमाणः बलिस्नपनं संध्यात्रयेऽपि जगत्त्रयस्वामिनः पूजा-

जो पूजन करता है उसे कल्पवृक्ष पूजा कहते हैं। अष्टाह्निकापर्वमें जो जिनपूजा की जाती है वह आष्टान्हिक पूजा है। इन्द्रादिकके द्वारा जो जिनपूजा की जाती है वह इन्द्रध्वज है। असि (तलवार) मषि (लेखनी) कृषि (खेती) वाणिज्य (व्यापार) और शिल्प (दस्तकारी) के द्वारा न्यायपूर्वक धन कमानेको वार्ता कहते हैं। दानके चार भेद हैं–दयादान, पात्रदान, समदान और सकलदान। दयाके पात्र प्राणियोंपर दया करके दान देना दयादान है। महातपस्वी साधुओंको नवधा भक्तिपूर्वक निर्दोष आहार देना, शास्त्र तथा पीछी कमंडलु देना पात्रदान है। गृहस्थोंमें श्रेष्ठ साधर्मी भाईको कन्या, भूमि, सोना, हाथी, घोड़ा, रथ वगैरह देना समदान है। अपने पुत्र अथवा दत्तकको घरकापूरा भार सौंपकर गृहस्थीके त्याग करनेको सकलदान कहते हैं, और इसीका नाम अन्वयदान भी है। ये दानके भेद हैं। तत्त्वज्ञानके अध्ययन अध्यापनको स्वाध्याय कहते हैं। पांच अणुव्रतोंके पालन करनेका नाम संयम है। और बारह प्रकारका तप होता है। इन षट्कर्मोंका पालन करनेवाले गृहस्थ दो

[1] मूलप्रतौ 'अविरतौ' इति पाठः। [2] मूलप्रतौ 'अविरदी' इति पाठः।

भिषेककरणं ५। पुनरप्येषां विकल्पाः अन्येऽपि पूजाविशेषाः सन्तीति । वार्ता असिमषिकृषिवाणिज्यादिशिल्पकर्मभिर्विशुद्धवृत्त्या अर्थोपार्जनमिति । दत्तिः दया १ पात्र २ सम ३ सकलभेदा ४ चतुर्विधा । तत्र दयादत्तिः अनुकम्पया अनुग्राह्येभ्यः प्राणिभ्यस्त्रिशुद्धिभिरभयदानम् १। पात्रदत्तिः महातपोधनेभ्यः प्रतिग्रहार्चनादिपूर्वकं निरवद्याहारदानं ज्ञानसंयमोपकरणादिदानं च २। समदत्तिः स्वसमक्रियाय मित्राय निस्तारकोत्तमाय कन्याभूमिसुवर्णहस्त्यश्वरथरत्नादिदानं, स्वसमानाभावे मध्यमपात्रस्यापि दानम् ३। सकलदत्तिः आत्मीयस्वसंततिस्थापनार्थं पुत्राय गोत्रजाय वा धर्मं धनं च समर्प्य प्रदानमन्वयदत्तिश्च सैव ४। तथा चोक्तं। "जं उप्पज्जइ दव्वं तं कायव्वं च बुद्धिवंतेण। छब्भायगयं सव्वं पढमो भागो हु धम्मस्स ॥ १ ॥ बीओ भागो गेहे दायव्वो कुडुंबपोसणत्थेण। तइओ भागो भोगे चउत्थओ सयणवग्गम्हि ॥ २ ॥ सेसा जे बे भागा ठायव्वा होंति ते वि पुरिसेण। पुज्जामहिमाकज्जे अहवा कालावकालस्स ॥३॥" इति । स्वाध्यायः तत्त्वज्ञानस्य अध्ययनमध्यापनं स्मरणं च । संयमः पञ्चाणुव्रतप्रवर्तनम्। तपः अनशनादिद्वादशविधानुष्ठानम्। इति आर्यषट्कर्मनिरता गृहस्था द्विविधा भवन्ति। जातिक्षत्रियास्तीर्थक्षत्रियाश्चेति। तत्र जातिक्षत्रियाः क्षत्रिय १ ब्राह्मण २ वैश्य ३ शूद्र ४ भेदाच्चतुर्विधाः १ । तीर्थक्षत्रियाः स्वजीवनविकल्पादनेकधा विद्यन्ते २। वानप्रस्थाः अपरिगृहीतजिनरूपा वस्त्रखण्डधारिणो निरतिशयतपःसमुद्यता भवन्ति। भिक्षवो जिनरूपधारिणस्ते बहुधा भवन्ति। अनगारा यतयो मुनय ऋषयश्चेति। तत्र अनगाराः सामान्यसाधव उच्यन्ते। यतयः उपशमक्षपकश्रेण्यारूढा भण्यन्ते। मुनयः अवधिमनःपर्ययज्ञानिनः केवलिनश्च कथ्यन्ते। ऋषयः ऋद्धिं प्राप्तास्ते चतुर्विधाः, राजब्रह्मदेवपरमऋषिभेदात्। तत्र राजर्षयः विक्रियाक्षीणर्द्धिप्राप्ता भवन्ति १, ब्रह्मर्षयः बुद्ध्यौषध्यर्द्धियुक्ताः कीर्त्यन्ते २, देवर्षयः गगनगमनर्द्धिसंपन्नाः पठ्यन्ते ३, परमर्षयः केवलज्ञानिनो निगद्यन्ते ४। अपि च वृत्तम्। 'देशप्रत्यक्षवित्केवलभृदिह मुनिः स्यादृषिः प्रोद्गतर्द्धिरारूढश्रेणियुग्मोऽजनि यतिरनगारोऽपरः साधुरुक्तः। राजा ब्रह्मा च देवः परम इति ऋषिर्विक्रियाक्षीणशक्ति-प्राप्तो बुद्ध्यौषधीशो वियदयनपटुर्विश्ववेदी क्रमेण ॥ ३९१ ॥ इति श्रीस्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षायां शुभचन्द्रदेवविरचितटीकायां श्रावकधर्मव्याख्यानं समाप्तम् ॥ अथ यतिधर्मं व्याचष्टे-

जो रयण-त्तय-जुत्तो खमादि-भावेहिँ[1] परिणदो णिच्चं ।
सव्वत्थ वि मज्झत्थो सो साहू भण्णदे धम्मो ॥ ३९२ ॥

[छाया-यः रत्नत्रययुक्तः क्षमादिभावैः परिणतः नित्यम्। सर्वत्र अपि मध्यस्थः स साधुः भण्यते धर्मः ॥] स साधुः, साधयति रत्नत्रयमिति साधुः, धर्मः भण्यते कथ्यते, कारणे कार्योपचारात्। स कः। यः नित्यं सदा निरन्तरं रत्नत्रययुक्तः व्यवहारनिश्चयभेदाभेदसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैः सहितः। पुनः कीदृक्षः। क्षमादिभावैः परिणतः उत्तमक्षमादि-

प्रकारके होते हैं -जातिक्षत्रिय और तीर्थक्षत्रिय। जातिक्षत्रिय क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रके भेदसे चार प्रकारके होते हैं। और तीर्थक्षत्रिय अपनी जीविकाके भेदसे अनेक प्रकारके होते हैं। जो खंडवस्त्र धारण करते हैं और तपस्यामें लगे रहते हैं वे वानप्रस्थ कहे जाते हैं। जिनरूपके धारकोंको भिक्षु कहते हैं। ये भिक्षु अनेक प्रकारके होते हैं। सामान्य साधुओंको अनगार कहते हैं। जो साधु उपशम अथवा क्षपक श्रेणिपर आरूढ होते हैं उन्हें यति कहते हैं। अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानियोंको मुनि कहते हैं। ऋद्धिधारी साधुओंको ऋषि कहते हैं। ऋषिके चार भेद हैं-राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि और परमर्षि। विक्रिया ऋद्धि और अक्षीण ऋद्धिके धारी साधुओंको राजर्षि कहते हैं। बुद्धि ऋद्धि और औषध ऋद्धि धारिओंको ब्रह्मर्षि कहते हैं। आकाशगामिनी ऋद्धिके धारकोंको देवर्षि कहते हैं, और केवलज्ञानियोंको परमर्षि कहते हैं। इस प्रकार श्रावक धर्मका निरूपण समाप्त हुआ ॥ ३९१ ॥ अब मुनिधर्मको कहते हैं। **अर्थ**-जो रत्नत्रयसे युक्त होता है, सदा उत्तम क्षमा आदि भावोंसे सहित होता है और सबमें मध्यस्थ रहता है वह साधु है और वही धर्म है॥ **भावार्थ**-जो व्यवहार और निश्चयरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान

१ ब भावेण।

दशप्रकारैः परिणतिं प्राप्तः । पुनः किंभूतः । सर्वत्र मध्यस्थः, सर्वेषु सुखे दुःखे तृणे रत्ने लाभालाभे शत्रौ मित्रे च मध्यस्थः उदासीनः समचित्तः । रागद्वेषरहितः असौ साधुः यतीश्वरः धर्मो भण्यते ॥ ३९२ ॥ अथ दशप्रकारं धर्मं विवृणोति-

सो चेव दह-पयारो खमादि-भावेहिँ सुप्पसिद्धेहिं[1] ।
ते पुणु भणिज्जमाणा मुणियव्वा परम-भत्तीए ॥ ३९३ ॥

[छाया-स चैव दशप्रकारः क्षमादिभावैः सुप्रसिद्धैः । ते पुनर्भण्यमानाः ज्ञातव्याः परमभक्त्या ॥] स एव यतिधर्मः दशप्रकारः दशभेदः । कैः । क्षमादिभावैः, उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याख्यैः परिणामैः परिणतैः । कथंभूतैस्तैः । सौख्यसारैः सौख्यं शर्म सारं श्रेष्ठं येषां येषु येभ्यो वा ते सौख्यसारास्तैः सौख्यसारैः सौख्येन शर्मणा स्वर्गमुक्त्यादिजेन सारैः श्रेष्ठैः । अथोत्तरार्धेन दशधर्मस्य दशगाथासूत्रेण व्याख्यायमानस्य पातनिकां प्रतनोति । ते पुनः दश धर्माः दशविधधर्माः भणिज्जमाणा कथ्यमानाः मन्तव्याः ज्ञातव्याः । कया । परमभक्त्या परमधर्मानुरागेण श्रेष्ठभजनेन ॥ ३९३ ॥ अथोत्तमक्षमाधर्ममाचष्टे-

कोहेण जो ण तप्पदि सुर-णर-तिरिएहि कीरमाणे वि ।
उवसग्गे वि रउद्दे तस्स खमा णिम्मला होदि[2] ॥ ३९४ ॥

[छाया-क्रोधेन यः न तप्यते सुरनरतिर्यग्भिः क्रियमाणे अपि । उपसर्गे अपि रौद्रे तस्य क्षमा निर्मला भवति ॥] तस्य मुनेः क्षमा क्षान्तिर्निर्मला भवति, उत्तमक्षमा धर्मः स्यात् । उत्तमग्रहणं ख्यातिपूजालाभादिनिवृत्त्यर्थं तत्प्रत्येकमभिसंबध्यते । उत्तमक्षमा उत्तममार्दवादिष्विति । तस्य कस्य । यो मुनिः क्रोधेन कोपेन कृत्वा न तप्यति तापं संतापं न गच्छति न ज्वलते इत्यर्थः । क्व सति । रौद्रे घोरे उपसर्गेऽपि चतुर्विधोपसर्गे अपिशब्दात् न केवलं अनुपसर्गे । कीदृक्षे । क्रियमाणे निष्पाद्यमाने अपिशब्दात् अचेतनेनानध्यवसायेन च । कैः क्रियमाणे उपसर्गे । सुरनरतिर्यग्भिः सुराश्च नराश्च तिर्यञ्चश्च सुरनरतिर्यञ्चः तैः ॥ यथा श्रीदत्तमुनिः व्यन्तरकृतोपसर्गं प्राप्य शुद्धबुद्धैकशुद्धचिद्रूपस्वरूपं साम्यस्वस्वरूपं वीतरागनिर्विकल्पसमाधिना समाराध्य घातिचतुष्टयं हत्वा केवलज्ञानं लब्ध्वा मोक्षं स्वात्मोपलब्धिं प्राप ॥ तथा विद्युच्चरमुनिः

और सम्यक् चारित्रका धारक होता है । उत्तम क्षमा आदि दस धर्मोंको सदा अपनाये रहता है और सुख दुःख, तृण रत्न, लाभ अलाभ और शत्रु मित्रमें समभाव रखता है, न किसीसे द्वेष करता है और न किसीसे राग करता है, वह साधु है । और वही धर्म है । क्योंकि जिसमें धर्म है वही तो धर्मकी मूर्ति है, विना धार्मिकोंके धर्म नहीं होता ॥३९२॥ अब धर्म के दस भेदोंका वर्णन करते हैं । **अर्थ**-वह मुनिधर्म उत्तम क्षमा आदि भावोंके भेदसे दस प्रकारका है, उन भावोंका सार ही सुख है । आगे उसका वर्णन करेंगे । उसे परमभक्तिसे जानना उचित है ॥ **भावार्थ**-उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, अकिंचन्य और ब्रह्मचर्यके भेदसे मुनिधर्म दस प्रकारका है । इन दस धर्मोंका सार सुख ही है । क्योंकि इनका पालन करनेसे स्वर्ग और मोक्षका सुख प्राप्त होता है । आगे इनमेंसे प्रत्येकका अलग अलग व्याख्यान करेंगे ॥ ३९३ ॥ अब उत्तम क्षमा धर्मको कहते हैं । **अर्थ**-देव, मनुष्य और तिर्यञ्चोंके द्वारा घोर उपसर्ग किये जाने पर भी जो मुनि क्रोधसे संतप्त नहीं होता, उसके निर्मल क्षमा होती है ॥ **भावार्थ**-उपसर्गके चार भेद हैं-देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यञ्चकृत और अचेतनकृत । जो मुनि इन चारों ही प्रकारके भयानक उपसर्गोंसे विचलित होकर अपने मनमें भी क्रोधका भाव नहीं लाता, वही मुनि उत्तम क्षमाका धारी होता है । शास्त्रोंमें ऐसे क्षमा-

---

१ छ म स ग सुक्खसारेहिं । २ स होदि (ही ?)।

चामुण्डाव्यन्तर्या कृतोपसर्गं सोढ्वा उत्तमक्षमाधर्मं भजन् वीतरागनिर्विकल्पसमाधिं प्राप्य केवलज्ञानमुत्पाद्य मोक्षं गतः ॥ श्रेणिकराजस्य पुत्रः चिलातीपुत्रः नाम्ना व्यन्तरीकृतोपसर्गं प्राप्य शरीरे निःस्पृहो भूत्वा परमक्षान्तिं प्राप्य उत्कृष्टधर्मध्यानबलेन समाधिना कालं कृत्वा सर्वार्थसिद्धिं गतः ॥ स्वामिकार्त्तिकेयमुनिः क्रौञ्चराजकृतोपसर्गं सोढ्वा साम्यपरिणामेन समाधिमरणेन देवलोकं प्राप्तः ॥ गुरुदत्तमुनिः कपिलब्राह्मणकृतोपसर्गं सोढ्वा परमक्षमाधर्मं प्राप्य कर्मक्षयं शुक्लध्यानेन कृत्वा मोक्षं गतः ॥ पञ्चशतमुनयः दण्डकराजेन यन्त्रमध्ये पीडिताः समाधिना मरणं कृत्वा सिद्धिं गताः ॥ गजकुमारमुनिः पांशुलश्रेष्ठिनरकृतोपसर्गं सोढ्वा समाधिमरणं कृत्वा सिद्धिं गतः ॥ चाणक्यादिपञ्चशतमुनयः मन्त्रिकृतोपसर्गं सोढ्वा शुक्लध्यानेन कर्मक्षयं कृत्वा सिद्धिं गताः ॥ सुकुमालस्वामी मुनिः शृगालीकृतोपसर्गं सोढ्वा शुभध्यानेन अच्युतस्वर्गे देवो जातः ॥ सुकोशलमुनिः मातृचरीव्याघ्रीकृतोपसर्गं सोढ्वा सर्वार्थसिद्धिं गतः ॥ श्रीपणिकमुनिः जलोपसर्गं सोढ्वा मुक्तिं गतः ॥ द्वात्रिंशत् श्रेष्ठिपुत्रा नदीप्रवाहे पतिताः सन्तः शुभध्यानेन मरणं प्राप्य स्वर्गे देवा जाताः ॥ इति देवमनुष्यपशुविचेतनकृतोपसर्गं सोढ्वा उत्तमक्षमां प्राप्य सद्गतिं गताः । चतुर्विधोपसर्गे क्रियमाणे क्रोधेन संतापं न गच्छन्ति तेषाम् उत्तमक्षमाधर्मो भवति । तथा हि । तपोबृंहणकारणशरीरस्थितिनिमित्तं निरवद्याहारान्वेषणार्थं परगृहाणि गच्छतो भिक्षोः भ्रमतः दुष्टमिथ्यादृग्जनाक्रोशनात् प्रहसनावज्ञानुताडनयष्टिमुष्टिप्रहारशरीरव्यापादनादीनां क्रोधोत्पत्तिनिमित्तानां संनिधाने कालुष्याभावः क्षमा प्रोच्यते । उत्तमक्षमाया व्रतशीलपरिरक्षणमिहामुत्र च दुःखानभिष्वङ्गः सर्वस्य जगतः सन्मानसत्कारलाभप्रसिध्यादिश्च गुणः, तत्प्रतिपक्षक्रोधस्य धर्मार्थकाममोक्षप्रणाशनं दोषः, इति विचिन्त्य क्षन्तव्यम् । किंच क्रोधनिमित्तस्यात्मनि भावानुचिन्तना । तावत् विद्यन्ते मयि विषये एते दोषाः, किमत्र असौ मिथ्या ब्रवीतीति क्षमितव्यम् । अभावचिन्तनादपि नैते मयि विषये विद्यन्ते दोषाः, अज्ञानादसौ ब्रवीतीति क्षमा कार्या । अपि च बालस्वभावचिन्तनं परोक्षप्रत्यक्षाक्रोशनताडनमारणधर्मभ्रंशनानामुत्तरोत्तररक्षार्थम् । परोक्षमाक्रोशति बाले मूर्खे मिथ्यादृष्टौ क्षमितव्यम् । एवंस्वभावा हि बाला भवन्ति, दिष्ट्या च स मां परोक्षमाक्रोशति, न च प्रत्यक्षम्, एतदपि बालेष्विति लाभ एव मन्तव्यः । प्रत्यक्षमाक्रोशति सोढव्यम्, विद्यते एतद्बालेषु, दिष्ट्या च मां प्रत्यक्षमाक्रोशति, न च ताडयति, एतदपि विद्यते बालेष्विति लाभ एव मन्तव्यः । ताडयत्यपि मर्षितव्यम्, दिष्ट्या च मा ताडयति, न प्राणैर्वियोजयति, एतदपि विद्यते बालेष्विति[1] लाभ एव मन्तव्यः ।

शील मुनियोंके अनेक कथानक पाये जाते हैं। श्रीदत्त मुनि व्यन्तर देवके द्वारा किये गये उपसर्गको जीतकर वीतराग निर्विकल्प ध्यानके द्वारा चार घातिया कर्मोंको नष्ट करके केवल ज्ञानको प्राप्त हुए और फिर मुक्त होगये। विद्युच्चर मुनि चामुण्डा नामकी व्यन्तरीके द्वारा किये हुए घोर उपसर्गको सहनकर वीतराग निर्विकल्प समाधिके द्वारा सर्वार्थ सिद्धि गये। राजा श्रेणिकका पुत्र चिलातीपुत्र व्यन्तरीके द्वारा किये गये उपसर्गको सहनकर उत्कृष्ट ध्यानके बलसे मरकर सर्वार्थ सिद्धि गया। स्वामी कार्तिकेयमुनिने क्रौंच राजाके द्वारा किये गये उपसर्गको साम्यभावसे सहनकर देवलोक प्राप्त किया। गुरुदत्तमुनि कपिल ब्राह्मणके द्वारा किये गये घोर उपसर्गको क्षमा भावसे सहनकर शुक्ल ध्यानके द्वारा कर्मोंका क्षय करके मोक्ष गये। दण्डक राजाने पांच सौ मुनियोंको कोल्हूमें पेल दिया। वे सभी समाधि मरण करके मुक्त हुए। गजकुमार मुनिने पांसुल सेठके द्वारा किये गये घोर उपसर्गको सहनकर मुक्ति प्राप्त की। चाणक्य आदि पांच सौ मुनि मंत्रीके द्वारा किये गये उपसर्गको सहकर शुक्ल ध्यानके द्वारा मुक्त हुए। सुकुमाल मुनि शृगालीके द्वारा खाये जानेपर शुभ ध्यानसे मर कर देव हुए। सुकोशल मुनि सिंहनीके द्वारा, जो पूर्व भवमें उनकी माता थी, खाये जानेपर शान्त भावोंसे प्राण त्यागकर सर्वार्थ सिद्धि गये। श्री पणिक मुनि जलका उपसर्ग सहकर मुक्त हुए। बत्तीस श्रेष्ठिपुत्र नदीमें बहनेपर शुभ ध्यानसे मरकर स्वर्गमें देव हुए। इस प्रकार घोर

---

१ क्वचिदादर्शेषु 'बालेष्वतिलाभः'।

प्राणैर्वियोजयत्यपि तितिक्षा कर्तव्या, दिष्ट्या च मां प्राणैर्वियोजयति, मदधीनाद्धर्मान्न भ्रंशयतीति। किंचान्यन्ममैवापराधोऽयं पुराचरितं तन्महद्दुःकर्म तत्फलमिदमाक्रोशवचनादि निमित्तमात्रं परोऽयमत्रेति सहितव्यमिति । उक्तं च । 'आकुष्टोऽहं हतो नैव हतो नैव द्विधाकृतः । द्विधाकृतो न हतो धर्मः प्रतीदं शत्रुमित्रतः' ॥ इत्युत्तमः क्षमाधर्मः ॥ ३९४ ॥ अथ उत्तममार्दवमाह–

उत्तम-णाण-पहाणो उत्तम-तवयरण-करण-सीलो वि ।
अप्पाणं जो हीलदि मद्दव-रयणं भवे[1] तस्स ॥ ३९५ ॥

[छाया–उत्तमज्ञानप्रधानः उत्तमतपश्चरणकरणशीलः अपि । आत्मानं यः हेलयति मार्दवरत्नं भवेत् तस्य ॥] तस्य मुनेः मार्दवरत्नं मार्दवाख्यमुत्तमनिर्मलधर्मरत्नं भवेत् । तस्य कस्य । यः साधुः आत्मानं स्वयं हीलति हेलनाम्

उपसर्ग आनेपर भी जो क्षमा भावसे विचलित नहीं होते वही उत्तम क्षमाके धारी होते हैं। आशय यह है कि मुनि जन शरीरको बनाये रखनेके लिये आहारकी खोजमें गृहस्थोंके घर जाते हैं। उस समय दुष्ट मनुष्य उन्हें देखकर हंसते हैं, गाली बकते हैं, अपमान करते हैं, मार पीट करते हैं। किन्तु क्रोध उत्पन्न होनेके इन सब कारणोंके होते हुए भी मनमें जरा भी कलुषताका न आना उत्तम क्षमा है। ऐसे समयमें मुनिको उत्तम क्षमा धर्मकी अच्छाई और क्रोधकी बुराइयोंका विचार करना चाहिये। उत्तम क्षमा व्रत और शीलकी रक्षा करने वाली है, इस लोक और परलोकमें दुःखोंसे बचाती है, उत्तम क्षमाशील मनुष्यका सब लोक सन्मान करते हैं। इसके विपरीत क्रोध धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका नाशक है। ऐसा सोचकर मुनिको क्षमा धारण करना चाहिये। तथा यदि कोई मनुष्य अपशब्द कहता है तो उस समय यह विचारना चाहिये कि ये मनुष्य मुझमें जो दोष बतलाता है वे दोष मुझमें हैं या नहीं? यदि हैं तो वह झूठ क्या कहता है! और यदि नहीं है तो वह अज्ञानसे ऐसा कहता है, यह सोचकर उसे क्षमा कर देना चाहिये। और भी यदि कोई पीठपीछे गाली देता हो तो विचारना चाहिये कि मूर्खोंका स्वभाव गाली बकनेका होता ही है। वह तो मुझे पीठपीछे ही गाली देता है, मूर्ख लोग तो मुंहपर भी गाली बकते हैं। अतः वह क्षमाके योग्य हैं। यदि कोई मुंहपर ही अपशब्द कहे तो विचारना चाहिये कि चलो, यह गाली ही बककर रह जाता है, मारता तो नहीं है। मूर्ख लोग तो मार भी बैठते हैं अतः वह क्षम्य है। यदि कोई मारने लगे तो विचारे, यह तो मुझे मारता ही है, जान तो नहीं लेता। मूर्ख लोग तो जान तक लेडालते हैं। अतः क्षम्य है। यदि कोई जान लेने लगे तो विचारे, यह मेरी जान ही तो लेता है, धर्म तो भ्रष्ट नहीं करता। फिर यह सब मेरे ही पूर्व किये हुए कर्मोंका फल है, दूसरा मनुष्य तो केवल इसमें निमित्त मात्र है अतः इसको सहना ही चाहिये। किन्तु यदि कोई अपनी कमजोरी के कारण क्षमाका भाव धारण करता है और हृदयमें बदला लेनेकी भावना रखता है तो वह क्षमा नहीं है। इस प्रकार मुनियोंके उत्तम क्षमा धर्मका व्याख्यान समाप्त हुआ ॥ ३९४ ॥ आगे उत्तम मार्दव धर्मको कहते हैं। **अर्थ**–उत्कृष्ट ज्ञानी और उत्कृष्ट तपस्वी होते हुए भी जो मद नहीं करता वह मार्दव रूपी रत्न का धारी है॥ **भावार्थ**–जो मुनि सकल शास्त्रोंका ज्ञाता होकर भी वह मद नहीं करता कि मैं सकल शास्त्रोंका ज्ञाता हूं,

१ ब हवे।

अनादरं करोति, निर्मदं मदरहितमात्मानं करोतीत्यर्थः । कीदृक्षो मुनिः । उत्तमज्ञानप्रधानः, उत्तमं श्रेष्ठं पूर्वापरविरुद्धरहितं ज्ञानं जैनश्रुतं भेदविज्ञानं प्रधानं यस्य स तथोक्तः । जिनकथितसकलशास्त्रज्ञः सन् आत्मानं हीलति अनादरति ज्ञानमदं करोति । अहं विद्वान् सकलशास्त्रज्ञः, कविरहम्, अहं वादी, गमकोऽहम्, चतुरोऽहम्, मत्सकाशात् कोऽपि विद्वान् शास्त्रज्ञो न कवीश्वरादिको न च इत्यादिकं गर्वं मदं न विदधाति । मत्सकाशात् अनेकज्ञानिनो भवन्ति, श्रुतज्ञानिभ्यः सकाशात् अवधिज्ञानिनां ज्ञानं बहुतरम्, ततो मनःपर्ययज्ञानिनां ज्ञानमधिकम्, ततः केवलज्ञानिनां ज्ञानं सर्वोत्कृष्टम्, अहं केनमात्रः अल्पज्ञः इत्यादिकं निरहंकारत्वं विदधाति । पुनः कथंभूतः । उत्तमतपश्चरणकरणशीलः, उत्तमानि तानि च तपश्चरणानि ख्यातिपूजालाभरहितान्यनशनावमोदर्यादिद्वादशविधतपश्चरणानि तेषां करणे कर्तव्ये शीलं स्वभावो यस्य स तथोक्तः । अथवा उत्तमतपांसि अनशनादीनि द्वादश, उत्तमचरणानि चारित्राणि पञ्चमहाव्रतादीनि त्रयोदशधा, सामायिकादीनि वा, तेषां करणे शीलं स्वभावो यस्य स उत्तमतपश्चरणशीलः सन्, आत्मनः हेलनां करोति, तपश्चरणादिगर्वं न करोति, अहं तपस्वी अहं चारित्रवान् साधुः इत्यादिमदं न करोति । तथाहि उत्तमजातिकुलरूपविज्ञानैश्वर्यश्रुतलाभवीर्यस्यापि सतः विद्यमानस्य मुनेः तत्कृतमदावेशाभावात् परप्रयुक्तपरिभवनिमित्ताभिमानाभावो मार्दवं माननिर्हरणमवगन्तव्यम् । मार्दवोपेतं शिष्यं गुरवोऽनुगृह्णन्ति, साधवोऽपि साधु मन्यन्ते, ततश्च सम्यग्ज्ञानादीनां पात्रीभवति । अतः स्वर्गापवर्गफलप्राप्तिः । मानमलिनमनसि व्रतशीलानि नावतिष्ठन्ते । साधवश्चैनं परित्यजन्ति, तन्मूलाः सर्वा विपद इति ॥ ३९५ ॥ अथ मायास्वभावमाह-

जो चिंतेइ ण वंकं ण[1] कुणदि वंकं ण जंपदे[2] वंकं ।
ण य गोवदि णिय-दोसं अज्जव-धम्मो हवे तस्स ॥ ३९६ ॥

[छाया-यः चिन्तयति न वक्रं न करोति वक्रं न जल्पति वक्रम् । न च गोपायति निजदोषम् आर्जवधर्मः भवेत् तस्य ॥] तस्य मुनीश्वरस्य आर्जवधर्मो भवेत् । तस्य कस्य । यो मुनिः वक्रं न चिन्तयति, वक्रं कुटिलं कुटिलपरिणामं

कवि हूं, वादी हूं, गमक हूं, चतुर हूं, मेरे समान कोई भी विद्वान शास्त्रज्ञ अथवा कवि नहीं है, प्रत्युत यह विचारता है कि मुझसे बड़े अनेक ज्ञानी हैं क्यों कि श्रुतज्ञानियोंसे अवधि ज्ञानी बड़े होते हैं, उनसे मनःपर्ययज्ञानी बड़े होते हैं और उनसे बड़े सर्वोत्कृष्ट केवलज्ञानी होते हैं। मै तो अल्पज्ञ हूं। वह मुनि मार्दवधर्मका धारी है । तथा जो मुनि अनशनआदि बारह प्रकारके तपोंको और तेरह प्रकारके चारित्रको पालता हुआ भी अपने तपश्चरणका गर्व नहीं करता वह मुनि मार्दव धर्मका धारी है । सारांश यह है कि उत्तम जाति, उत्तम कुल, उत्तम रूप, उत्तम ज्ञान, उत्कृष्ट ऐश्वर्य और शक्तिसे युक्त होते हुए भी मद न करना उत्तम मार्दव है । क्योंकि मानके दूर होनेका नाम मार्दव है । जो शिष्य विनयी होता है उसपर गुरुकी कृपा रहती है । साधु जन भी उसकी प्रशंसा करते हैं । अतः वह सम्यग्ज्ञानका पात्र होता है । और सम्यग्ज्ञानका पात्र होनेसे उसे स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति होती है । इसके विपरीत मानसे मलिन चित्तमें व्रत शील वगैरह नहीं ठहर सकते । साधु जन घमंडी पुरुषसे दूर रहते है । अतः अहंकार सब विपत्तियोंका मूल है ॥ ३९५ ॥ आगे आर्जव धर्मको कहते है । **अर्थ**-जो मुनि कुटिल विचार नहीं करता, कुटिल कार्य नहीं करता और कुटिल बात नहीं बोलता, तथा अपना दोष नहीं छिपाता, उसके आर्जव धर्म होता है ॥ **भावार्थ**-जिसके मनमें मायाचार नहीं है, जिसके कर्ममें मायाचार नहीं है और जिसकी बातोंमें मायाचार नहीं है, अर्थात् जो मनसे विचारता है, वही वचनसे कहता है और जो वचनसे कहता है वही कायसे करता है वह आर्जव धर्मका

१ छ स ग कुणदि ण । २ छ म स ग जंपए ।

मनसा वक्रं कुटिलत्वं नाचरति न विदधाति, सरलत्वं मनसा चिन्तयतीत्यर्थः । वक्रं न करोति, मायारूपं कुटिलत्वं छलं छद्म कायेन न विदधाति । तथा वक्रं कुटिलवचनं वचनेन जिह्वया न जल्पति न वक्ति । 'मनोवचनकायकर्मणाम् अकौटिल्यमार्जवमभिधीयते' इति वचनात् । तथा निजदोषं स्वयंकृतापराधम् अतिचारादिदोषकृतं नैव गोपायति न चाच्छादयति । स्वकृतदोषं गर्हानिन्दादिकं करोति प्रायश्चित्तं विदधाति च । योगस्य हि कायवाङ्मनोलक्षणस्य अवक्रता आर्जवमित्युच्यते । ऋजुहृदयमधिवसन्ति गुणा मायाभावं नाश्रयन्ति । मायाविनो न विश्वसिति लोकः । मायातिर्यग्योनिश्चेति गर्हिता च गतिर्भवतीति ॥ ३९६ ॥ शौचत्वमाह–

सम-संतोस-जलेणं जो धोवदि तिव्व[1]-लोह-मल-पुंजं ।
भोयण-गिद्धि-विहीणो तस्स सउच्चं हवे[2] विमलं ॥ ३९७ ॥

[छाया–समसंतोषजलेन यः धावति तीव्रलोभमलपुञ्जम् । भोजनगृद्धिविहीनः तस्य शौचं भवेत विमलम् ॥] तस्य मुनेः सुचित्तम् उत्तममानग्गं शौचत्वं पवित्रं वा विमलं लोभादिमलरहितं शौचपरिणतचित्तमित्यर्थः भवति । तस्य कस्य । यः मुनिः तृष्णालोभमलपुञ्जं धोवदि प्रक्षालयति । तृष्णा परपदार्थाभिलाषः, लोभः परवस्तुग्रहणाकांक्षा, तृष्णा च लोभश्च तृष्णालोभौ तावेव मलकिल्बिषं तस्य पुञ्जः समूहः तं तृष्णालोभमलपुञ्जं, परपदार्थाभिलाषपरवस्तुग्रहणकांक्षारूपमलराशिं

धारी होता है । क्यों कि मन, वचन और कायकी सरलताका नाम आर्जव है । तथा जो अपने अपराधको नहीं छिपाता, व्रतोंमें जो अतिचार लगते है उनके लिये अपनी निन्दा करता है और प्रायश्चित्तके द्वारा उनकी शुद्धि करता है वह भी आर्जव धर्मका धारी है । वास्तवमें सरलता ही गुणोंकी खान है । जो मायावी होता है उसका कोई विश्वास नहीं करता तथा वह मरकर तिर्यञ्च गतिमें जन्म लेता है ॥ ३९६ ॥ आगे शौच धर्मको कहते है । **अर्थ–**जो समभाव और सन्तोष रूपी जलसे तृष्णा और लोभ रूपी मलके समूहको धोता है तथा भोजनकी गृद्धि नहीं करता उसके निर्मल शौच धर्म होता है ॥ **भावार्थ–**तृण, रत्न, सोना, शत्रु, मित्र आदि इष्ट अनिष्ट वस्तुओंमें राग और द्वेष न होनेको साम्यभाव कहते है और संतोष तो प्रसिद्ध ही है । पदार्थोंकी अभिलाषा रूप तृष्णा और प्राप्त पदार्थोंकी लिप्सा रूप लोभ ये सब मानसिक मल है गन्दगी है । इस गन्दगीको जो समता और सन्तोष रूपी जलसे धोडालता है अर्थात् समताभाव और सन्तोषको अपनाकर तृष्णा और लोभको अपने अन्दरसे निकाल फेंकता है, वह शौच धर्मका पालक है। तथा मुनि कंचन और कामिनी का त्याग तो पहले ही कर देता है, शरीरकी स्थितिके लिये केवल भोजन ग्रहण करता है । अतः भोजनकी तीव्र लालसा नहीं होना भी शौच धर्मका लक्षण है । असलमें लोभ कषायके त्यागका नाम शौच है । लोभके चार प्रकार हैं–जीवनका लोभ, नीरोगताका लोभ, इन्द्रियका लोभ, और उपभोगका लोभ। इनमेंसे भी प्रत्येकके दो भेद हैं–अपने जीवनका लोभ, अपने पुत्रादिकके जीवनका लोभ, अपनी नीरोगताका लोभ, अपने पुत्रादिकके नीरोग रहनेका लोभ, अपनी इन्द्रियों का लोभ, पराई इन्द्रियोंका लोभ, अपने उपभोगका लोभ और परके उपभोगका लोभ। इनके त्याग का नाम शौच धर्म है। शौच धर्मसे युक्त मनुष्यका इसी लोकमें सन्मान होता है, उसमें दानादि अनेक गुण पाये जाते हैं इसके विपरीत लोभी मनुष्यके हृदयमें कोई भी सद्गुण नहीं ठहरता,

---

१ ग तिठ (ह ?) [=तृष्णा]। २ छ म स ग तस्स सुचित्त हवे।

धावयति प्रक्षालयति । केन । समसंतोषजलेन, समः तृणरत्नकाञ्चनशत्रुमित्रेष्टानिष्टवस्तुसाम्यं समता संतोषः शुभाशुभेषु सर्वत्र माध्यस्थं समश्च संतोषश्च समसंतोषौ तावेव जलमुदकं तेन धोवति शुद्धं निर्मलं विदधाति । स मुनिः कीदृक्षः । भोजनगृद्धिरहितः भोजनम् आहारस्य उपलक्षणात् कनकयुवतिगजाश्ववस्त्रादीनां ग्रहणं तस्य अतिगृद्धिः अत्याकाङ्क्षा वाञ्छा तया विहीनः । शौचं लोभविनिर्मुक्तमित्युक्तत्वात् । तथाहि प्रकर्षप्राप्तलोभनिवृत्तिः शौचमित्युच्यते । शुच्याचारं नरमिहापि सन्मानयन्ति, सर्वे दानादयश्च गुणास्तमधितिष्ठन्ति, लोभभावनाक्रान्ते हृदये नावकाशं लभन्ते गुणाः । स च लोभः जीवितारोग्येन्द्रियोपभोगविषयभेदाच्चतुर्विधः । स्वपरविषयत्वात् स प्रत्येकं द्विधा भिद्यते । स्वजीवितलोभः १ परजीवितलोभः २ स्वारोग्यलोभः ३ परारोग्यलोभः ४ स्वेन्द्रियलोभः ५ परेन्द्रियलोभः ६ स्वोपभोगलोभः ७ परोपभोगलोभश्चेति ८ । अतस्तन्निवृत्तिलक्षणं शौचं चतुर्विधमिति ॥ ३९७ ॥ अथ सत्यधर्ममाह–

जिण-वयणमेव भासदि तं पालेदुं असक्कमाणो वि ।
ववहारेण वि अलियं ण वददि[1] जो सच्चवाई सो ॥ ३९८ ॥

[छाया–जिनवचनमेव भाषते तत् पालयितुम् अशक्यमानः अपि। व्यवहारेण अपि अलीकं न वदति यः सत्यवादी सः ॥] स मुनिः सत्यवादी सत्यं वदत्येवंशीलः सत्यवादी सत्यधर्मपरिणतो भवेत् । स कः । यः जिनवचनमेव भाषते जिनस्य वचनं द्वादशाङ्गरूपं जैनसिद्धान्तशास्त्रं वक्ति ब्रूते । एवकारेणेन न सांख्यसौगतभट्टवैशेषिकचार्वाकादिपरिकल्पितं नैव वक्ति । तत् जिनवचनं पालयितुं रक्षितुं ज्ञातुं वा, ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्था इति पालधातुः ज्ञानार्थेऽपि वर्तते, अशक्यमानोऽपि अशक्तोऽपि असमर्थोऽपि अपिशब्दात् न केवलं शक्तोऽपि, अपि न वक्ति न वदति न भाषते । किं तत् । अलीकं मृषावचनम् असत्यं न वक्ति। केन। व्यवहारेण दत्तिप्रतिग्रहभोजनादिव्यापारेण, अथवा पूजाप्रभावनाद्यर्थम् अलीकवचनं न वदति । अपिशब्दात् न केवलम् अव्यापारेण । तथाहि सत्सु प्रशस्तेपु दिगम्बरेषु महामुनिषु तदुपासकेषु च श्रेष्ठेषु लोकेषु साधुवचनं समीचीनवचनं यत् तत्सत्यमित्युच्यते । सन्तः प्रव्रज्यां प्राप्ताः तद्भक्ताः वा ये वर्तन्ते तेषु यद्वचनं साधु तत्सत्यम् । तथा

अतः लोभका त्यागरूप शौचधर्म पालना चाहिये ॥ ३९७ ॥ अब सत्यधर्म को कहते हैं । **अर्थ**– जैन शास्त्रोंमें कहे हुए आचार को पालनेमें असमर्थ होते हुए भी जो जिन वचनका ही कथन करता है, उससे विपरीत कथन नहीं करता, तथा जो व्यवहारमें भी झूंठ नहीं बोलता, वह सत्यवादी है ॥ **भावार्थ**–जैन सिद्धान्तमें आचार आदिका जैसा स्वरूप कहा है, वैसा ही कहना, ऐसा नहीं कि जो अपनेसे न पाला जाये, लोक निन्दाके भयसे उसका अन्यथा कथन करे, तथा लोक व्यवहारमें भी सदा ठीक ठीक वरतना सत्य धर्म है । सत्यवचनके दस भेद हैं–नाम सत्य, रूप सत्य, स्थापना सत्य, प्रतीत्य सत्य, संवृति सत्य, संयोजना सत्य, जनपद सत्य, देश सत्य, भाव सत्य और समय सत्य । सचेतन अथवा अचेतन वस्तुमें नामके अनुरूप गुणोंके न होनेपर भी लोक व्यवहार के लिये जो इच्छानुसार नामकी प्रवृत्ति की जाती है उसे नाम सत्य कहते हैं जैसे कि मनुष्य अपने बच्चों का इन्द्र आदि नाम रख लेते हैं । मूल वस्तुके न होते हुए भी वैसा रूप होनेसे जो व्यवहार किया जाता है उसे रूप सत्य कहते हैं जैसे पुरुषके चित्रमें पुरुष के चैतन्य आदि धर्मों के न होने पर भी पुरुषकी तरह उसका रूप होनेसे चित्रको पुरुष कहते है । मूल वस्तुके न होते हुए भी प्रयोजनवश जो किसी वस्तुमें किसीकी स्थापना की जाती है उसे स्थापना सत्य कहते हैं । जैसे पाषाणकी मूर्तिमें चन्द्रप्रभकी स्थापना की जाती है । एक दूसरेकी अपेक्षासे जो वचन कहा जाता है वह प्रतीत्य सत्य है । जैसे अमुक मनुष्य लम्बा है । जो वचन लोकमें प्रचलित

---

१ ब जो ण वददि ।

च ज्ञानचारित्रादिशिक्षणे प्रचुरमपि अमितमपि वचनं वक्तव्यम् । सत्यसद्भावो दशविधः नाम १ रूप २ स्थापना ३ प्रातीत्य ४ संविति ५ संयोजना ६ जनपद ७ देश ८ भाव ९ समय १० सत्यभेदेन । तत्र सचेतनेतरद्रव्यस्य असत्यर्थे यद्व्यवहारार्थं संज्ञाकरणं तन्नामसत्यम्, इन्द्र इत्यादि १ । यदर्थासंनिधानेऽपि रूपमात्रेणोच्यते तद्रूपसत्यम्, यथा चित्रपुरुषादिषु असत्यपि चैतन्योपयोगादावर्थे पुरुष इत्यादि २ । असत्यप्यर्थे यत्कार्यार्थं स्थापितं द्यूताक्षसारिनिक्षेपादिषु तत्स्थापनासत्यम्, चन्द्रप्रभप्रतिमा इत्यादि ३ । सादनादीनौपशमिकादीन् भावान् प्रतीत्य यद्वचनं तत्प्रतीत्यसत्यं, पुरुषस्ताल इत्यादि ४ । यल्लोकसंवृत्त्यागतं वचस्तत्संवित्तिसत्यम्, यथा पृथिव्याद्यनेककारणत्वेऽपि सति पङ्के जातं पङ्कजमित्यादि ५ । धूपचूर्णवासनानुलेपनप्रकर्षादिषु पद्ममकरहंसचक्रसर्वतोभद्रक्रौञ्चव्यूहादिषु अचेतनेतरद्रव्याणां यथाभागविधानं संनिवेशाविर्भावकं यद्वचस्तत्संयोजनासत्यम् ६ । द्वात्रिंशज्जनपदेषु आर्यानार्यभेदेषु धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रापकं यद्वचस्तज्जनपदसत्यम्, राजा राणक इत्यादि ७ । ग्रामनगरराजगणपापण्डिजातिकुलादिधर्माणामुपदेशकं यद्वचस्तद्देशसत्यम्, ग्रामो वृत्त्यावृत इत्यादि ८ । छद्मस्थज्ञानस्य द्रव्ययाथात्म्यादर्शनेऽपि संयतस्य संयतासंयतस्य वा स्वगुणपरिपालनार्थं प्रासुकमिदमप्रासुकमित्यादि यद्वचस्तद्भावसत्यम् ९ । प्रतिनियतषड्द्रव्यपर्यायाणामागमगम्यानां याथात्म्याविष्करणं यद्वचनं तत्समयसत्यम् । समयोत्तरवृध्या बालो युवा पल्योपम इत्यादि १० । सत्यवाचि प्रतिष्ठिताः सर्वगुणसंपदः, अनृताभिभाषिणं नरं बन्धवोऽप्यवमन्यन्ते, मित्राणि च विरक्तिभावमुपयान्ति, विषाम्युदकादीन्यप्येनं न सहन्ते, जिह्वाछेदनसर्वस्वहरणादिव्यसनभागपि भवति इति ॥ ३९८ ॥ संयमधर्ममाचष्टे–

जो जीव-रक्खण-परो गमणागमणादि[1]-सव्व-कज्जेसु[2] ।
तण-छेदं[3] पि ण इच्छदि संजम-धम्मो[4] हवे तस्स ॥ ३९९ ॥

[छाया–यः जीवरक्षणपरः गमनागमनादिसर्वकार्येषु । तृणच्छेदम् अपि न इच्छति संयमधर्मः भवेत् तस्य ॥] तस्य मुनेः संयमभावः संयमनं वशीकरणं स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रियमनसां षट्पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायिकानां

व्यवहारके आश्रयसे कहा जाता है वह संवृति सत्य है । जैसे पृथिवी आदि अनेक कारणोंसे उत्पन्न होनेपर भी कमलको पंकज (कीचड़से पैदा होनेवाला) कहा जाता है । चूर्ण वगैरहसे जो माण्डनां वगैरह की स्थापना की जाती है उसमें जो यह कहा जाता है की यह अमुक द्वीप है, यह अमुक जिनालय है, इसे संयोजना सत्य कहते हैं । जिस देशकी जो भाषा हो वैसा ही कहना जनपद सत्य है । ग्राम नगर आदिका कथन करनेवाले वचनको देश सत्य कहते हैं । जैसे जिसके चारों ओर बाड़ हो वह गांव है । छद्मस्थका ज्ञान वस्तुका यथार्थ दर्शन करनेमें असमर्थ होता है फिर भी श्रावक अथवा मुनि अपना धर्म पालनेके लिये जो प्रासुक और अप्रासुकका व्यवहार करते हैं वह भाव सत्य है । जो वस्तु आगमका विषय है उसे आगमके अनुसार ही कहना समय सत्य है, जैसे पल्य और सागर वगैरहके प्रमाणका कथन करना । इन सत्य वचनोंको बोलनेवाले मनुष्यमें ही गुणोंका वास रहता है । किन्तु जो मनुष्य झूठ बोलता है, बन्धु बान्धव और मित्रगण भी उसका विश्वास नहीं करते । इसी लोकमें उसकी जीभ कटवादी जाती थी, राजा उसका सर्वस्व छीन लेता था । अतः सत्य वचन ही बोलना चाहिये ॥ ३९८ ॥ आगे संयमधर्मको कहते हैं । **अर्थ**–जीवकी रक्षामें तत्पर जो मुनि गमन आगमन आदि सब कार्योंमें तृणका भी छेद नहीं करना चाहता, उस मुनिके संयमधर्म होता है ॥ **भावार्थ**–स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मनको वशमें करना तथा पृथिवीकायिक जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, और त्रसकायिक जीवोंकी रक्षा करनेका नाम संयम है । जो

१ ब गमणाइ । २ ल म स ग कम्मेसु । ३ ब तिणछेयं । ४ ल (म स ?) ग संयमभाऊ (ओ) ब संजम्म ।

रक्षणं च तस्य भावः परिणामः भवेत्। तस्य कस्य। यः साधुः गमनागमनादिसर्वकर्मसु गमनम् अटनं परिभ्रमणम् आगमनम् आगतिः गमनागमने ते द्वे एवादिर्येषां तानि गमनागमनादीनि तानि सर्वकर्माणि च समस्तकार्याणि च तेषु गमनागमनपरिभ्रमणोपवेशनशयनादाननिक्षेपणभोजनमलमूत्रनिक्षेपणादिषु कार्येषु जीवरक्षणपर प्राणिरक्षापरायणः दयापरिणतः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायिककृमिकीटभूलतादियूकामत्कुणकीटककुन्थ्वादिदंशमशकपतङ्गमक्षिकादिगोमहिषाश्वमनुष्यदेवादित्रसजीवानां रक्षणपरः मुनिः तृणच्छेदं शुष्कद्रव्यतृणकाष्ठपाषाणादिच्छेदम् अपिशब्दात् चालननिक्षेपणोच्चालनं स्थापनादिकं च न इच्छति। तथाहि धर्मोपबृंहणार्थं पञ्चसमितिषु वर्तमानस्य मुनेः तत्प्रतिपालनार्थं प्राणव्यपरोपणं परिहरन् षडिन्द्रियविषयपरिहारणं संयम उच्यते। स संयमो द्विविधः, उपेक्षासंज्ञकः अपहृतसंज्ञकश्च। तत्रोपेक्षासंयमः देशकालविधानज्ञस्य, परेषामनुपरोधेन व्युत्सृष्टकायस्य त्रिगुप्तिगुप्तस्य मुनेः रागद्वेषयोरनभिषङ्गः इत्युपेक्षासंयमः। अपहृतसंयमस्य मुनेः समितयः कार्यास्ता उच्यन्ते। ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः इति। तत्र ईर्यासमितिः नामकर्मोदयापादितविशेषैर्द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियभेदेन चतुर्द्विर्द्विर्द्विश्चतुर्विकल्पचतुर्दशजीवस्थानादिविधानवेदिनो मुनेः धर्मार्थं पर्यटतः गच्छतः सूर्योदये चक्षुषो विषयग्रहणसामर्थ्यम् उपजायते। मनुष्यहस्त्यश्वशकटगोकुलादिचरणपातोपहतावश्यायप्राये प्रासुकमार्गे अनन्यमनसः शनैर्न्यस्तपादस्य संकुचितावयवस्य उत्सृष्टपार्श्वदृष्टेर्युगमात्रपूर्वनिरीक्षणावहितलोचनस्य स्थित्वा दिशोऽनवलोकयतः पृथिव्याद्यारम्भाभावात ईर्यासमितिरित्याख्यायते १। हितमितासंदिग्धाभिधानं भाषासमितिः। मोक्षपदप्रापणप्रधानफलं हितम्, तत द्विविधं स्वहितं परहितं चेति। मितमनर्थकबहुप्रलपनरहितं स्फुटार्थं व्यक्ताक्षरं वा असंदिग्धं, तस्याः प्रपञ्चो मिथ्याभिधा-

मुनि आना, जाना, उठना, बैठना, सोना, रखना, उठाना, भोजन करना, मलमूत्र त्यागना आदि कार्योंमें जीवरक्षाका ध्यान रखता है, इन कार्योंको करते हुए पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, कीट, पतंग, जूं, डांस, मच्छर, मक्खी, गाय, भैंस, घोड़ा, मनुष्य आदि किसी भी जीवका अपने निमित्तसे कष्ट नहीं पहुंचने देता वह मुनि संयमधर्मका पालक होता है। संयमके दो भेद हैं–उपेक्षा संयम और अपहृत संयम। तीन गुप्तियोंका पालक मुनि कायोत्सर्गमें स्थित होकर जो राग द्वेषका त्याग करता है उसके उपेक्षा संयम होता है। उपेक्षाका मतलब उदासीनता अथवा वीतरागता है। अपहृत संयमके तीन भेद हैं–उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। अपने उठने बैठनेके स्थानमें यदि किसी जीव जन्तुको बाधा पहुंचती हो तो वहांसे स्वयं हट जाना उत्कृष्ट अपहृत संयम है, कोमल मयूर पिच्छसे उस जीवको हटादे तो मध्यम अपहृत संयम है और लाठी तिनके वगैरहसे उस जीवको हटाये तो जघन्य अपहृत संयम है। अपहृत संयमी मुनिको पांच समितियोंका पालन करना चाहिये। अतः समितियोंका स्वरूप कहते हैं। समितियां पांच हैं–ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदाननिक्षेपण समिति और उत्सर्ग समिति। मुनिको जगह जगह घूमना पड़ता है, अतः सूर्यका उदय हो जानेपर जब आंखें ठीक तरहसे सब वस्तुओंको देख सकें, मनुष्य हाथी, घोड़ा गाड़ी, गोकुल आदिके आवागमनसे प्रासुक हुए मार्गपर मनको एकाग्र करके चार हाथ आगेकी जमीनको देखकर इधर उधर नहीं ताकते हुए धीरे धीरे चलना ईर्या समिति है। हित मित और असंदिग्ध बोलना भाषा समिति है। जिसका फल मोक्षकी प्राप्ति हो उसे हित कहते हैं। व्यर्थ बकवाद नहीं करनेको मित कहते हैं। जिसका अर्थ स्पष्ट हो, अथवा अक्षरोंका उच्चारण स्पष्ट हो उसे असंदिग्ध कहते हैं। मिथ्या, निन्दा परक, अप्रिय, भेद डाल देनेवाले, सार हीन, संशय और भ्रममें डाल देनेवाले, कषायसे भरे हुए, परिहासको लिये हुए, अयुक्त, असभ्य, निष्ठुर, धर्मविरोधी, देश काल के विरुद्ध और अतिप्रशंसापरक वचन मुनिको नहीं बोलना चाहिये। जीवदया-

नासूयाप्रियसंभेदाल्पसारशङ्कितसंभ्रान्तकषायपरिहासायुक्तासभ्यशपननिष्ठुरधर्मविरोधिदेशकालविरोध्यतिसंस्तवादिवाग्दोषविर-हिताभिधानम् २ । अनगारस्य मोक्षैकप्रयोजनस्य प्राणिदयातत्परस्य कायस्थित्यर्थं प्राणयात्रानिमित्तं तपोबृंहणार्थं च चर्या-निमित्तं पर्यटतः शीलगुणसंयमादिकं संरक्षतः संसारशरीरभोगनिर्वेदत्रयं भावयतो दृष्टवस्तुयाथात्म्यस्वरूपं चिन्तयतो देश-कालसामर्थ्यादिविशिष्टम् अगर्हितम् आहारं नवकोटिपरिशुद्धमेषणासमितिः । षड्जीवनिकायस्य उपद्रव उपद्रवणम्, अङ्गच्छे-दनादिव्यापारो विद्रावणं, संतापजननं परितापनं, प्राणिप्राणव्यपरोपणम् आरम्भः, एवं उपद्रवणविद्रावणपरितापनारम्भ-क्रियया निष्पन्नमन्नं स्वेन कृतं परेण कारितं अनुमतं च आधाकर्म, तत्सेविनो अनशनादितपांसि अभ्रावकाशादियोगा वीरा-सनादियोगविशेषाश्च भिन्नभाजनभरितामृतवत् प्रक्षरन्ति ततस्तदभक्ष्यमिव परिहरतो भिक्षोः परकृतप्रशस्तप्रासुकाहारग्रहणेऽपि षट्चत्वारिंशद्दोषा भवन्ति । तद्यथा । षोडशविध उद्गमदोषः १६, षोडशविध उत्पादनदोषः १६, दशविध एषणादोषः १०, संयोजनाप्रमाणाङ्गारधूमदोषाश्चत्वारः ४, एतैर्दोषैः परिवर्जितमाहारग्रहणमेषणासमितिरिति । नैःसंगिकीं चर्यामातिष्ठमानस्य पात्रग्रहणे सति तत्संरक्षणादिकृतो दोषः प्रसज्यते कपालमन्यद्वा भाजनमादाय पर्यटतो भिक्षोर्दैन्यम् आसज्यते । गृहिजना-नीतमपि भाजनं न सर्वत्र सुलभं, तत्प्रक्षालनादिविधौ च दुःपरिहारः पापलेपः । स्वभाजनेन देशान्तरं नीत्वा भोजने च आशानुबन्धः स्यात् । स्वपूर्वोपशिष्टभाजनाधिकगुणासंभवाच्च येन केनचित् भुञ्जानस्य दैन्यं स्यात् । ततो निस्संगस्य निःप-रिग्रहस्य भिक्षोः स्वकरपुटभाजनाच्च नान्यद्विशिष्टमस्ति, तस्मात् स्वायत्तेन पाणिपुटेन निराबाधे देशे निरालम्बचतुरङ्गुल-

में तत्पर मुनि शरीरको बनाये रखने के लिये, और तपकी वृद्धिके लिये देश काल और सामर्थ्यके अनुसार जो नव कोटिसे शुद्ध निर्दोष आहार ग्रहण करता है उसे एषणा समिति कहते हैं। दूसरेके द्वारा दिये गये प्रासुक आहारको ही श्रावकके घर जाकर मुनि ग्रहण करता है। उसमें भी ४६ दोष होते हैं, जिनमें १६ उद्गम दोष, १६ उत्पादन दोष, १० एषणा दोष और चार संयोजन, प्रमाणा-तिरेक अंगार और धूम दोष होते हैं। इन छियालीस दोषोंको टालकर अपने हस्तपुटमें आहार ग्रहण करना एषणा समिति है। मुनि पात्रमें भोजन नहीं करते। उनकी सब चर्या स्वाभाविक होती है। वे यदि अपने पास भोजनके लिये बरतन रखें तो उसकी रक्षाकी चिन्ता करनी पड़े और बरतन लेकर भोजनके लिये जानेसे दीनता प्रकट होती है। तथा यदि बरतनमें भोजन मांगकर कहीं लेजाकर खायें तो तृष्णा बढ़ती है। गृहस्थोंके घरपर बरतन मिल सकता है, किन्तु उसको मांजने धोनेका आरम्भ करना पड़ता है। इसके सिवाय यदि किसी गृहस्थने टूटा फूटा बरतन खानेके लिये दिया तो उसमें भोजन करनेसे दीनता प्रकट होती है। अतः निष्परिग्रही साधुके लिये अपने हस्तपुटसे बढ़िया दूसरा पात्र नहीं है। इस लिये शान्त मकानमें बिना किसी सहारेके खड़े होकर अपने स्वाधीन पाणिपात्रमें देख भाल कर भोजन करनेवाले मुनिको उक्त दोष नहीं लगते। यह एषणा समिति है। ज्ञान और संयमके साधन पुस्तक कमंडलु वगैरहको देखकर तथा पीछीसे साफ करके रखना तथा उठाना आदान निक्षेपण समिति है। स्थावर तथा त्रस जीवोंकी विराधना न हो इस प्रकारसे मल मूत्रादि करना उत्सर्ग समिति है। इन समितियोंका पालन करते हुए एकेन्द्रिय आदि प्राणियोंकी रक्षा होनेसे प्राणिसंयम होता है तथा इन्द्रियोंके विषयोंमें राग द्वेष न करनेसे इन्द्रियसंयम होता है। कहा भी है–समितियोंका पालन करनेसे पापबन्ध नहीं होता और असावधानता पूर्वक प्रवृत्ति करनेसे पापबन्ध होता है। और भी कहा है–जीव मरे या जिये, जो अयताचारी है उसे हिंसाका पाप अवश्य लगता है। और जो सावधानता पूर्वक देख भाल कर प्रवृत्ति करता है उसे हिंसा हो जाने पर भी हिंसाका पाप नहीं लगता। और भी कहा है–'मुनिको यत्नपूर्वक चलना चाहिये, यत्नपूर्वक बैठना चाहिये, यत्नपूर्वक

न्तरसमपादाभ्यां स्थित्वा परीक्ष्य भुञ्जानस्य निभृतस्य तद्गतदोषाभावः इत्येषणासमितिः ३ । धर्माविरोधिनां परानुपरोधिनां द्रव्याणां ज्ञानादिसाधनानां पुस्तकादीनां ग्रहणे विसर्जने च निरीक्ष्य मयूरपिच्छेन प्रमृज्य प्रवर्तनमादाननिक्षेपणसमितिः ४ । स्थावराणां जङ्गमाना च जीवानामविरोधेन अङ्गमलमूत्रादिनिर्हरणं शरीरस्य च स्थापनम् उत्सर्गसमितिः ५ । एवमीर्यासमित्यादिषु वर्तमानस्य मुनेः तत्प्रतिपालनार्थम् एकेन्द्रियादिप्राणिपीडापरिहारः प्राणिसंयमः, इन्द्रियादिष्वर्थेषु रागपरित्यागः इन्द्रियसंयमः। स चापहृतसंयमस्त्रिविधः, उत्कृष्टो मध्यमो जघन्यश्चेति। तत्र प्रासुकवसतिभोजनादिमात्रबाह्यसाधनस्य स्वाधीनज्ञानादिकस्य मुनेः जन्तूपनिपाते आत्मानं ततोऽपहृत्य दूरीकृत्य जीवान् पालयतः उत्कृष्टसयमो भवति १। मृदुना मयूरपिच्छेन प्रमृज्य जन्तून् परिहरतो मुनेः मध्यमः संयमः २। उपकरणान्तरेण प्रमृज्य जीवान् परिहरतो जघन्यः संयमः ३। तथा चोक्तं यत्नपरस्य समितियुक्तस्य हिंसादिपापबन्धो न भवति । अयत्नपरस्य पापबन्धो भवति । "मरदु व जीवदु जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा। पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स जदं चरे जदं ॥ चिट्ठे जदं आसे जदं सये । जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण वज्झइ ।।" तस्यापहृतसंयमस्य प्रतिपालनार्थं शुद्ध्यष्टकोपदेशः । तद्यथा अष्टौ शुद्धयः । भावशुद्धिः १, कायशुद्धिः २, विनयशुद्धिः ३ ईर्यापथशुद्धिः ४, भिक्षाशुद्धिः ५, प्रतिष्ठापनाशुद्धिः ६, शयनासनशुद्धिः ७, वाक्यशुद्धिः ८ चेति । तत्र भावशुद्धिः कर्मक्षयोपशमजनिता मोक्षमार्गरुच्याहितप्रसादा रागाद्युपप्लवरहिता, तस्यां सत्याम्, आचारः प्रकाशते परिशुद्धभित्तिगतचित्रकर्मवत् १ । कायशुद्धिः निरावरणाभरणा निरस्तसंस्कारा यथाजातमलधारिणी निराकृताङ्गविकारा सर्वत्र प्रयत्नवृत्तिः प्रशममूर्तिमिव प्रदर्शयन्ती, तस्यां सत्यां न स्वतोऽन्यस्य भयमुपजायते, नाप्यन्यतस्तस्य २ । विनयशुद्धिः अर्हदादिपरमगुरुषु यथा अर्हत्पूजाप्रवणा ज्ञानादिषु यथाविधिभक्तियुक्ता गुरोः सर्वत्रानु-

---

सोना चाहिये, यत्नपूर्वक भोजन करना चाहिये और यत्नपूर्वक बोलना चाहिये, ऐसा करनेसे पाप नहीं लगता' ।। पहले जो अपहृत संयम बतलाया है उसके पालनेके लिये आठ शुद्धियां बतलाई हैं । वे आठ शुद्धियां इस प्रकार हैं–भावशुद्धि, कायशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, प्रतिष्ठापनशुद्धि, शयनासनशुद्धि और वाक्यशुद्धि । इनका स्वरूप–कर्मोंके क्षयोपशमसे रागादि विकारोंसे रहित परिणामोंमें जो निर्मलता होती है वह भावशुद्धि है । जैसे स्वच्छ दीवारपर की गई चित्रकारी शोभित होती है वैसे ही भावशुद्धिके होनेपर आचार शोभित होता है । जैसे तुरन्तके जन्मे हुए बालकके शरीरपर न कोई वस्त्र होता है, न कोई आभूषण होता है, न उसके बाल वगैरह ही संवारे हुए होते है, और न उसके अंगमें किसी तरहका कोई विकार ही उत्पन्न होता है, वैसे ही शरीर पर किसी वस्त्राभूषणका न होना, बाल वगैरहका इत्र तेल वगैरहसे संस्कारित न होना और न शरीरमें काम विकारका ही होना कायशुद्धि है । ऐसी प्रशान्त मूर्तिको देखकर न तो उससे किसीको भय लगता है और न किसीसे उसे भय रहता है । अर्हन्त आदि परम गुरुओंमें, उनकी पूजा वगैरहमें विधिपूर्वक भक्ति होना, सदा गुरुके अनुकूल आचरण करना, प्रश्न स्वाध्याय कथा वार्ता वगैरहमें समय विचारनेमें कुशल होना, देश काल और भावको समझनेमें चतुर होना तथा आचार्यकी अनुमतिके अनुसार चलना विनयशुद्धि है । विनय ही सब संपदाओंका मूल है, वही पुरुषका भूषण है और वही संसाररूपी समुद्रको पार करनेके लिये नौका है । अनेक प्रकारके जीवोंके उत्पत्तिस्थानोंका ज्ञान होनेसे जन्तुओंको किसी प्रकारकी पीड़ा न देते हुए, सूर्यके प्रकाशसे प्रकाशित भूमिको अपनी आंखोंसे देखकर गमन करना, न अति शीघ्र चलना, न अति विलम्बपूर्वक चलना, न ठुमक ठुमक कर चलना, तथा चलते हुए इधर उधर नहीं देखना, इस प्रकारके गमन करनेको ईर्यापथ शुद्धि कहते हैं । जैसे न्याय मार्गसे चलनेपर ऐश्वर्य स्थायी रहता है वैसे ही ईर्यापथ शुद्धिमे संयमकी प्रतिष्ठा है । भिक्षाके लिये जानेसे

कूलवृत्तिः प्रश्नस्वाध्यायवाचनाकथाविज्ञापनादिषु प्रतिपत्तिकुशला देशकालभावावबोधनिपुणा आचार्यानुमतचारिणी, तन्मूलाः सर्वसंपदः, सैव भूषा पुरुषस्य, सैव नौः संसारसमुद्रोत्तरणे ३ । ईर्यापथशुद्धिः नानाविधजीवस्थानानां योनीनाम् आश्रयाणामवबोधात् जनितप्रयत्नपरिहृतजन्तुपीडा ज्ञानादित्यस्वेन्द्रियप्रकाशनिरीक्षितदेशगामिनी द्रुतविलम्बितसंभ्रान्तविस्मितलीलाविकारदिगवलोकनादिदोषविरहितगमना, तस्यां सत्यां संयमः प्रतिष्ठितो भवति विभव इव सुनीतौ ४ । भिक्षाशुद्धिः परीक्षितोभयप्रचारा प्रमृष्टपूर्वापरस्वाङ्गदेशविधाना आचारसूत्रोक्तकालदेशप्रकृतिप्रतिपत्तिकुशला लाभालाभमानापमानसमानमनोवृत्तिः गीतनृत्यवाद्योपजीविप्रसूतिकामृतकपण्याङ्गनापापकर्मदीनानाथदानशालायजनविवाहादिमङ्गलगेहपरिवर्जनपरा चन्द्रगतिरिव हीनाधिकगृहा विशिष्टोपस्थाना लोकगर्हितकुलपरिवर्जनोपलक्षिता दीनवृत्तिविगमा प्रासुकाहारगवेषणसावधाना आगमविहितनिरवद्याशनपरिप्राप्तप्राणयात्राफला तत्प्रतिबद्धा हि चरणसंपद् गुणसंपदिव साधुजनसेवानिबन्धना, सा भिक्षा लाभालाभयोः सरसविरसयोश्च समसंतोषवद्भिः भिक्षेति भाष्यते ५ । भिक्षाशुद्धिपरस्य मुनेरशनं पञ्चविधं भवति, गोचाराक्षम्रक्षणोदराग्निप्रशमनभ्रमराहारश्वभ्रपूरणनामभेदेन । यथा सलीलसालंकारवरयुवतिभिरुपनीयमाने घासे गौर्न तदङ्गतत्सौन्दर्यनिरीक्षणपरस्तृणमेवात्ति यथा वा तृणलवं नानादेशस्थं यथालाभमभ्यवहरति न योजनासंपदमपेक्षते तथा भिक्षुरपि भिक्षापरिवेषकजनमृदुललिततनुरूपवेषाभिलाषविलोकननिरुत्सुकः शुष्कद्रवाहारयोजनाविशेषं वानवेक्षमाणो यथागतमश्नातीति गौरिव चारो गोचार इति कथ्यते । तथा गवेषणेति च । यथा शकटी रत्नभारपूर्णा येन केनचित्स्नेहेन अक्षलेपं कृत्वा अभिलषितदेशान्तरं वणिग् नयति तथा मुनिरपि गुणरत्नभरितां तनुशकटीम् अनवद्यभिक्षायुरक्षम्रक्षणेनाभिप्रेतसमाधिपत्तनं

पहले अपने शरीरकी प्रतिलेखना करके, आचारांगमें कहे हुए काल, देश, स्वभावका विचार करे, तथा भोजनके मिलने न मिलनेमें, मान और अपमानमें समान भाव रक्खे और आगे लिखे घरोंमें भोजनके लिये न जावे । गा बजा कर तथा नाच कर आजीविका करनेवाले, जिस घरमें प्रसूति हुई हो या कोई मर गया हो, वेश्याके घर, जहां पापकर्म होता हो, दीन और अनाथोंके घर, दानशालामें, यज्ञशालामें, जहां विवाह आदि मांगलिक कृत्य हो रहे हों, इन घरोंमें भोजनके लिये न जाये, जो कुल लोकमें बदनाम हों वहां भी भोजनके लिये न जाये, धनवान और निर्धनका भेद न करे, दीनता प्रकट न करे, प्रासुक आहारकी खोजमें सावधान रहे, शास्त्रोक्त निर्दोष आहारके द्वारा जीवन निर्वाह करने पर ही दृष्टि हो । इसका नाम भिक्षा शुद्धि है । जैसे गुणसम्पदा साधु जनोंकी सेवा पर निर्भर करती है वैसे ही चारित्ररूपी सम्पदा भिक्षाशुद्धिपर निर्भर है । भोजनके मिलने और न मिलनेपर अथवा सरस या नीरस भोजन मिलनेपर भिक्षुको समान संतोष रहता है, इसीसे इसे भिक्षा कहते हैं । इस भिक्षाके पांच नाम हैं । गोचार, अक्षम्रक्षण, उदराग्नि प्रशमन, भ्रमराहार और गर्तपूरण । जैसे वस्त्राभूषणसे सुसज्जित सुन्दर स्त्रीके द्वारा घास डालनेपर गौ उस स्त्रीकी सुन्दरताकी ओर न देखकर घासको ही खाती है, वैसे ही भिक्षु भी भिक्षा देनेवाले स्त्रीपुरुषोंके सुन्दर रूपकी ओर न देखकर जो रूखा, सूखा अथवा सरस आहार मिलता है उसे ही खाता है, इसीसे इसे गोचार या गोचरी कहते हैं । जैसे व्यापारी मालसे भरी हुई गाड़ीको जिस किसीभी तेलसे औंघ कर अपने इच्छित स्थानको ले जाता है वैसे ही मुनि भी गुणरूपी रत्नोंसे भरी हुई इस शरीररूपी गाड़ीको निर्दोष भिक्षारूपी तेलसे औंघकर समाधिरूपी नगर तक ले जाता है । इस लिये इसे अक्षम्रक्षण कहते हैं । जैसे गृहस्थ अपने भण्डारमें लगी हुई आगको गदले अथवा निर्मल पानीसे बुझाता है । वैसे ही मुनि भी उदराग्नि (भूखकी ज्वालाको) सरस अथवा नीरस कैसा भी आहार मिल जाता है उसीसे शान्त करता है इससे इसे

---

१ आदर्शे तु 'मंगलमेव परि'' इति पाठः ।

प्रापयतीति अक्षम्रक्षणमिति च नाम प्रसिद्धम् २ । यथा भाण्डागारे समुत्थितं वैश्वानरं अशुचिना शुचिना वा पानीयेन प्रशमयति गृही तथा यथालब्धेन यतिरप्युदराग्निं सरसेन विरसेन वाहारेण प्रशमयतीत्युदराग्निप्रशमनमिति च निरुच्यते ३ । दातृजनबाधया विना कुशलो मुनिर्भ्रमरवदाहरतीति भ्रमराहार इत्यपि परिभाष्यते ४ । येन केनचित् कृतचारेण श्वभ्रपूरणवदुदरगर्तमनगारः पूरयति स्वादुना निःस्वादुना वाहारेणोदरगर्तपूरणमिति श्वभ्रपूरणं च निगद्यते ५ । प्रतिष्ठापनशुद्धिपरः संयतो नखरोमसिंघाणकश्लेष्मनिष्ठीवनशुक्रमलमूत्रत्यजने देहपरित्यागे च ज्ञातप्रदेशकालो जन्तुपीडां बाधां विना प्रयतते ६ । संयतेन शयनासनशुद्धिपरेण स्त्रीदुष्टजीवनपुंसकचोरमद्यपायिकल्पपालद्यूतकारपक्षिवधकनीचलोकादि-पापजनावासा वर्ज्याः, शृङ्गारविकारभूषणोज्ज्वलवेषवेश्याक्रीडाभिरामगीतनृत्यवादित्राकुलप्रदेशा विकृताङ्गगुह्यदर्शनकाष्ठमया-लेख्यहास्योपभोगमहोत्सववाहनदमनायुधव्यायामभूमयश्च रागकारणानीन्द्रियगोचरविषया मदमानशोककोपसंक्लेश-स्थानादयश्च परिहर्तव्याः, अकृत्रिमा गिरिगुहातरुकोटरादयः कृत्रिमाश्च शून्यागारादयो मुक्तमोचितावासाः अनात्मोद्देश-निष्पन्ना निरारम्भाः सेव्याः । तत्र संयतस्य त्रिविधो निवासः स्थानमासनं शयनं चेति । पादौ चतुरङ्गुलान्तरे प्रस्थाप्य अधस्तिर्यगूर्ध्वान्यतममुखो भूत्वा यत्रात्मभावो यथावत्स्वभावः यथात्मबलवीर्यसदृशः कर्मक्षयप्रयोजनः असंक्लिष्टमति-स्तिष्ठेत्, अथ न शक्नुयात् निष्प्रतिज्ञातः पर्यङ्कादिभिरासनैरासीत यद्यपरिमितकालयोग. खिन्नो वा एकपार्श्वबाहुप्रलम्बन-संवृत्ताङ्गादिभिरल्पकालं श्रमपरिहारार्थं शयीत ७ । वाक्यशुद्धिः पृथिवीकायिकाद्यारम्भप्रेरणरहिता युद्धकामकर्कशसंभिन्ना-लापपैशून्यपरुषनिष्ठुरादिपरपीडाकरप्रयोगनिरुत्सुका स्त्रीभक्तराष्ट्रावनिपालाश्रितकथाविमुखा व्रतशीलदेशनादिप्रदानफला स्वपरहितमितमधुरमनोहरा परमवैराग्यहेतुभूता परिहृतपरात्मनिन्दाप्रशंसा संयतस्य योग्या तदधिष्ठानाः सर्वसंपद इति ८ ।

'उदराग्नि प्रशमन' भी कहते है । जैसे भौंरा फूलको हानि न पहुंचाकर उससे मधु ग्रहण करता है वैसे ही मुनि भी दाता जनोंको कुछभी कष्ट न पहुंचाकर आहार ग्रहण करते हैं । इस लिये इसे भ्रमराहार या भ्रामरी वृत्ति भी कहते हैं । जैसे गड्ढेको जिस किसीभी तरह भरा जाता है वैसेही मुनि अपने पेटके गड्ढेको स्वादिष्ट अथवा विना स्वादवाले भोजनसे जैसे तैसे भर लेता है । इससे इसे श्वभ्रपूरण भी कहते हैं । इस प्रकार भिक्षा शुद्धि जानना । प्रतिष्ठापन शुद्धिमें तत्पर मुनि देश कालको जानकर नख, रोम, नाकका मल, थूक, मल, मूत्र आदिका त्याग देश कालको जानकर इस प्रकार करता है, जिससे किसी प्राणीको बाधा न हो । यह प्रतिष्ठापन शुद्धि है । शयनासन शुद्धिमें तत्पर मुनिको ऐसे स्थानोंमें शयन नहीं करना चाहिये और न रहना चाहिये जहां स्त्री, दुष्टजीव, नपुंसक, चोर, शराबी, जुआरी हिंसक आदि पापी जन रहते हों, वेश्याएं गातीं नाचतीं हों, अश्लील चित्र अंकित हों, हंसी मजाख होता हो या विवाह आदिका आयोजन हो । इस प्रकार जहां रागके कारण हों, वहां साधुको नहीं रहना चाहिये । पहाड़ोंकी अकृत्रिम गुफाओं और वृक्षोंके खोखलोंमें तथा कृत्रिम शून्य मकानोंमें अथवा दूसरोंके द्वारा छोडे हुए मकानोंमें, जो अपने उद्देश्यसे न बनाये गये हों, उनमें मुनिको निवास करना उचित है । मुनिके निवासके तीन प्रकार हैं—खडे रहना, बैठना और सोना । दोनों पैरोंके बीचमें चार अंगुलका अन्तर रख कर, मुखको अवनत, उन्नत अथवा तिर्यग् करके अपने बल और वीर्यके अनुसार मुनिको खडे होकर ध्यान करना चाहिये । यदि खड़ा रहना शक्य न हो तो पर्यङ्क आदि आसन लगा कर बैठे । यदि थकान मालूम हो तो उसे दूर करनेके लिये शरीरको सीधा करके एक करवटसे शयन करे । यह शयनासनशुद्धि है । पृथिवी कायिक आदि जीवोंकी जिसमें विराधना होती हो, ऐसे आरम्भोंकी प्रेरणासे रहित वचन मुनिको बोलना चाहिये, जिससे दूसरेको पीड़ा पहुंचे ऐसे कटोर वचन नहीं बोलना चाहिये । स्त्री, भोजन, देश और राजाकी कथा नहीं करनी चाहिये । व्रत

संयमभेदाः साक्षान्मोक्षप्राप्तिकारणानि । सामायिकं १ छेदोपस्थापना २ परिहारविशुद्धिः ३ सूक्ष्मसांपरायः ४ यथाख्यातचारित्रमिति ५ । तथा च पञ्चमहाव्रतधारणपञ्चसमितिपरिपालनपञ्चविंशतिकषायनिग्रहमायामिथ्यानिदानदण्डत्रयत्यागपञ्चेन्द्रियजयः संयमः । "वदसमिदिकसायाणं दंडाण तहिंदियाण पंचण्हं। धारणपालणणिग्गहचागजयो संजमो भणिओ॥" "असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं । वदसमिदिगुत्तिजुत्तं ववहारणयादु जिणभणियं ॥" एतेषां विस्तारव्याख्या गोम्मटसारभगवत्याराधनाचारित्रसाराचारसारादिग्रन्थेषु ज्ञातव्या ॥ ३९९ ॥ अथ तपोधर्ममाचष्टे–

इह-पर-लोय-सुहाणं णिरवेक्खो जो करेदि सम-भावो ।
विविहं काय-किलेसं[1] तव-धम्मो णिम्मलो तस्स ॥ ४०० ॥

[छाया–इहपरलोकसुखानां निरपेक्षः यः करोति समभावः । विविधं कायक्लेशं तपोधर्मः निर्मलः तस्य ॥] तस्य मुनेः तपोधनस्य तपोधर्मस्तपश्चरणाख्यो धर्मो भवेत् । कथंभूतस्तपोधर्मः । निर्मलः मलातीतः दोषरहितः द्वादशविधतपश्चरणातिचाररहितः । तस्य कस्य । यो मुनिः तपोधनः कायक्लेशं विविधं करोति अनेकप्रकारम् अनेकभेदभिन्नं शरीरदमनं शरीरस्पर्शनादीन्द्रियमनसां दमनं संयमनं वशीकरणं विदधाति । 'अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः' प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्' इति द्वादशविधं तपश्चरणं करोतीत्यर्थः । कायक्लेशं क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकादिपरीषहसहनं शीतोष्णवर्षाकालेषु चतुःपथगिरिशिखरापगातटवृक्षमूलेषु योगधरणं च करोति । यः कीदृक्षः सन् तपोधनः । इहपरलोकसुखानां निरपेक्षः, इहलोकसुखानां स्वर्गमर्त्यपातालस्थितानामिन्द्रनरेन्द्रधरणेन्द्रादीनां सौख्यानां वाञ्छारहितश्च । 'निःशल्यो व्रती' इति वचनात् मायामिथ्यानिदानशल्यत्रयरहित इत्यर्थः । पुनः कीदृक्षः तपोधनः । समभावः सर्वत्र सुखदुःखशत्रुमित्रलाभालाभेष्टानिष्टतृणकाञ्चनादिषु समपरिणामः सदृशपरिणाम इत्यर्थः । तथा हि उपार्जितकर्मक्षयार्थं मार्गाविरोधेन तपस्विना तप्यते इति तपः, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपरत्नत्रयप्रकटीकरणार्थम् इच्छानिरोधो वा तपः ॥ ४०० ॥ अथ त्यागधर्ममाचष्टे–

[2]जो चयदि मिट्ठ-भोज्जं उवयरणं राय-दोस-संजणयं ।
[3]वसदिं ममत्त-हेदुं चाय-गुणो सो हवे तस्स[4] ॥ ४०१ ॥

शील आदिका उपदेश करनेवाले, हित मित और मधुर वचन ही बोलना चाहिये । दूसरोंकी निन्दा और अपनी प्रशंसा नहीं करना चाहिये । यह वाक्यशुद्धि है । इस प्रकार ये आठ शुद्धियां संयमीके लिये आवश्यक हैं । गोम्मटसारमें, पांच व्रतोंका धारण, पांच समितियोंका पालन, कषायोंका निग्रह, मन वचन कायकी प्रवृत्तिका त्याग और पांचों इन्द्रियोंके जीतनेको संयम कहा है । इनका विस्तृत व्याख्यान चरणानुयोगके ग्रन्थोंसे जानना चाहिये ॥३९९॥ आगे तपधर्मको कहते हैं। **अर्थ**–जो समभावी इस लोक और परलोकके सुखकी अपेक्षा न करके अनेक प्रकारका कायक्लेश करता है उसके निर्मल तपधर्म होता है ॥ **भावार्थ**–भूख, प्यास, शीत, उष्ण, डांस मच्छर वगैरहकी परीषहको सहना, तथा शीतऋतुमें खुले हुए स्थानपर, ग्रीष्मऋतुमें पर्वतके शिखरपर और वर्षाऋतुमें वृक्षके नीचे योग धारण करनेको कायक्लेश कहते हैं । और कायक्लेश करनेका नामही तप है । किन्तु उसी मुनिका तप निर्मल कहा जाता है जो सुख दुःखमें, शत्रु मित्रमें, लाभ अलाभमें, इष्ट अनिष्टमें और तृण कंचनमें समभाव रखता है, तथा इस लोक और परलोकके सुखोंकी जिसे चाह नहीं है । क्योंकि जो मायाचार, मिथ्यात्व और निदान (आगामी सुखोंकी चाह) से रहित होकर व्रतोंका पालन करता है वही व्रती कहलाता है । कर्मोंका क्षय करनेके उद्देश्यसे जैन मार्गके अनुकूल जो तपा जाता है वही तप तप है । इच्छाको रोकनेका नाम भी तप है ॥ ४०० ॥ अब त्याग धर्मको कहते हैं । **अर्थ**–जो मिष्ट भोजनको, राग

१ ल ग कलेसं । २ स-पुस्तके एषा गाथा नास्ति । ३ म विसयविसमत्त । ४ म सुधो (द्दो ?) ।

[छाया-यः त्यजति मिष्टभोज्यम् उपकरणं रागदोषसंजनकम् । वसति ममत्वहेतुं त्यागगुणः स भवेत् तस्य ॥] तस्य मुनेः जगत्प्रसिद्धः त्यागगुणः दानाख्यो गुणः त्यागधर्मो वा भवेत् स्यात । कस्य । यः मुनिः त्यजति परिहरति । किं किम् । मृष्टभोज्यं रसादिकं वृष्यरसं कामजनकं कन्दर्पोत्पादकं सरसाहारं त्यजति, तथा रागद्वेषजनकम् उपकरणं त्यजति, रागद्वेषोत्पादकं परिग्रहं त्यजति, यत् रागद्वेषोत्पादकक्षेत्रभूमिप्रदेशवसतिकादिधनधान्यद्विपदचतुष्पदादिकं त्यजति । चारित्रसारे, उपधित्यागः पुरुपहितो यतो यतः परिग्रहात अपेतः ततस्ततः संयतो भवति । ततोऽस्य खेदो व्यपगतो भवति । परिग्रह-परित्याग इहपरलोकपरमसुखकारणं भवति । निरवद्यमनःप्रणिधानं पुण्यनिधानं भवति । परिग्रहो बलवती सर्वदोषप्रसवयोनिः । परिग्रहसंग्रह एव दुःखभयादिकं जनयतीति रागद्वेषजनकमुपकरणं मनोज्ञरागकारिकनकरजतादिनिष्पादितकमण्डलुपट्टसूत्र-जडितपिच्छिकापुस्तकजपमालिकाचक्कलपीठादिकं त्यजति । मुनिवासमुपाश्रयस्थानं ममत्वकारणं मोहोत्पादकं त्यजति । तथा तत्त्वार्थसूत्रे 'संयमिना योग्यं ज्ञानसंयमशौचोपकरणादिदानं त्याग उच्यते' ॥ ४०१ ॥ आकिंचन्यधर्मं वितनोति-

ति-विहेण जो विवज्जदि चेयणमियरं च सव्वहा संगं ।
लोय-ववहार[1]-विरदो णिग्गंथत्तं हवे तस्स ॥ ४०२ ॥

[छाया-त्रिविधेन यः विवर्जयति चेतनमितरं च सर्वथा सगम् । लोकव्यवहारविरतः निर्ग्रन्थत्वं भवेत् तस्य ॥] *तस्य मुनेः निर्ग्रन्थत्वं परिग्रहराहित्यम् आकिंचन्यं नाम धर्मो भवेत । तस्य कस्य । यो मुनिः विवर्जयति त्यजति । कम् ।* संगं परिग्रहं चेतनं शिष्यछात्रार्यिकाक्षुल्लिकापुत्रकलत्रमित्रस्वजनबान्धवादिलक्षणं सचेतनं त्यजति, इतरच्च अचेतनं क्षेत्र-वास्तुधनसुवर्णरत्नरूप्यताम्रवस्त्रभाजनशय्याशनादिकं वर्जयति । कथम् । सर्वथा सर्वप्रकारेण मनोवचनकाययोगेन त्रिविधेन प्रत्येकं कृतकारितानुमोदेन प्रकारेण संगं त्यजति । मनसा कृतकारितानुमोदनेन परिग्रहं त्यजति, वचनेन कृतकारितानुमोदेन संगं त्यजति, कायेन कृतकारितानुमोदेन संगं परिहरति इत्यर्थः । कीदृक् सन् मुनिः । लोकव्यवहारविरतः लोकानां

द्वेषको उत्पन्न करनेवाले उपकरणको, तथा ममत्व भावके उत्पन्न होनेमें निमित्त वसतिको छोड़ देता है उस मुनिके त्याग धर्म होता है ॥ **भावार्थ**-संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त व्यक्ति ही मुनिपदका अधिकारी होता है, अतः इनका त्याग तो वह मुनिव्रत धारण करते समय ही कर देता है । यहां तो मुनिको जिन वस्तुओंसे काम पड़ता है उनके त्यागका ही निर्देश किया है । मुनिको जीनेके लिये भोजन करना पड़ता है, किन्तु वह कामोत्पादक सरस आहार ग्रहण नहीं करता, धर्मसाधनमें सहा-यक पीछी कमण्डलु आदि भी ऐसे नहीं रखता, जिनसे मनमें राग उत्पन्न हो, तथा ऐसी जगह नहीं बसता जिससे ममत्व पैदा हो । इसीका नाम त्याग है । तत्त्वार्थसूत्रकी टीकामें संयमी मुनिके योग्य ज्ञान, संयम और शौचके उपकरण पुस्तक, पीछी और कमण्डलु देनेको त्याग कहा है ॥ ४०१ ॥ आगे आकिंचन्य धर्मको कहते है । **अर्थ**-जो लोकव्यवहारसे विरक्त मुनि चेतन और अचेतन परिग्रहको मन वचन कायसे सर्वथा छोड़ देता है उसके निर्ग्रन्थपना अथवा आकिंचन्य धर्म होता है ॥ **भावार्थ**-मुनि दान, सन्मान, पूजा, प्रतिष्ठा, विवाह आदि लौकिक कर्मोंसे विरक्त होते ही हैं, अतः पुत्र, स्त्री, मित्र, बन्धुबान्धव आदि सचेतन परिग्रह तथा जमीन जायदाद, सोना चांदी, मणि मुक्ता आदि अचेतन परिग्रहको तो पहले ही छोड़ देते हैं । किन्तु मुनि अवस्थामें भी शिष्य संघ आदि सचेतन परिग्रहसे और पीछी कमंडलु आदि अचेतन परिग्रहसे भी ममत्व नही करते । इसीका नाम आकिंचन्य है । मेरा कुछ भी नहीं है, इस प्रकारके भावको आकिंचन्य कहते हैं । अर्थात् 'यह मेरा है' इस प्रकारके संस्कारको दूर करनेके लिये अपने शरीर वगैरहमें भी ममत्व न रखना आकिंचन्य धर्म है ।

१ म स विवहार, ग चे (वे?) वहार ।

व्यवहारः मानसन्मानदानपूजालाभादिलक्षणः तस्मात् विरतः विरक्तः निवृत्तः, अथवा संघयात्राप्रतिष्ठाप्रतिमाप्रासादोद्धरणादिपुण्यकरणादिरहितः । तथा तत्त्वार्थसूत्रे एवमप्युक्तं च । 'नास्ति अस्य किंचन किमपि अकिंचनो निःपरिग्रहः तस्य भावः कर्म वा आकिंचन्यं निःपरिग्रहत्वं निजशरीरादिषु संस्कारपरिहाराय ममेदमित्यभिसंधिनिषेधनमित्यर्थः । तदाकिंचन्यं चतुःप्रकारं भवति । स्वस्य परस्य च जीवितलोभपरिहरणं १, स्वस्य परस्य च आरोग्यलोभपरिहरणं २, स्वस्य परस्य च इन्द्रियलोभपरिहरणं ३, स्वस्य परस्य चोपभोगलोभत्यजनं चेति ४ ।' शरीरादिषु निर्ममत्वात् परमनिर्वृतिमवाप्नोति । यथा यथा शरीरं पोषयति तथा तथा लाम्पट्यं तज्जनयति, तपस्यनादरो भवति, शरीरादिषु कृताभिष्वङ्गस्य मुनेः संसारे सर्वकालमभिष्वङ्ग एव ॥ ४०२ ॥ अथ ब्रह्मचर्यधर्ममाख्याति-

जो परिहरेदि संगं महिलाणं णेव[1] पस्सदे रूवं ।
काम-कहादि-णिरीहो[2] णव-विह-बंभं[3] हवे तस्स ॥ ४०३ ॥

[छाया-यः परिहरति संगं महिलानां नैव पश्यति रूपम् । कामकथादिनिरीहः नवविधब्रह्म भवेत् तस्य ॥] तस्य मुनेः नवधा ब्रह्मचर्यं भवेत, नवप्रकारैः कृतकारितानुमतगुणितमनोवचनकायैः कृत्वा स्त्रीसंगं वर्जयतीति ब्रह्मचर्यं स्यात् । ब्रह्मणि स्वस्वरूपे शुद्धबुद्धैकरूपे शुद्धचिद्रूपे परमानन्दे परमात्मनि चरति गच्छति तिष्ठत्यनुभवतीति परमानन्दैकामृतरसं स्वादयति भुनक्तीति ब्रह्मचर्यं भवति । तस्य कस्य । यो मुनिः महिलानां संगं परिहरति, स्त्रीणां युवतीनां देवीनां मानुषीणां तिरश्चीनां च संगं संगतिं गोष्ठीं त्यजति वनितासंगासक्तशय्यासनादिकं परिहरतीति, तथा महिलानां स्त्रीणां रूपं जघनस्तनवदननयनादिमनोहराङ्गादिलक्षणं रूपं नैव पश्यति नैवावलोकते । कथंभूतो मुनिः । कामकथादिनिवृत्तः कामोत्पा-

शरीर वगैरहसे भी निर्ममत्व होनेसे मोक्षपदकी प्राप्ति होती है । किन्तु जो मुनि शरीरका पोषण करते हैं, उनका तपस्यामें आदर भाव नहीं रहता । अधिक क्या, शरीर आदिसे ममता रखनेवाला मुनि सदा मोहकी कीचड़में ही फंसा रहता है ॥ ४०२ ॥ आगे ब्रह्मचर्य धर्मका वर्णन करते हैं । **अर्थ**—जो मुनि स्त्रियोंके संगसे बचता है, उनके रूपको नहीं देखता, कामकी कथा आदि नहीं करता, उसके नवधा ब्रह्मचर्य होता है ॥ **भावार्थ**—ब्रह्म अर्थात् शुद्ध बुद्ध आनन्दमय परमात्मामें लीन होनेको ब्रह्मचर्य कहते हैं । अर्थात् परमानन्दमय आत्माके रसका आस्वादन करना ही ब्रह्मचर्य है । आत्माको भूलकर जिन परवस्तुओंमें यह जीव लीन होता है उनमें स्त्री प्रधान है । अतः स्त्रीमात्रका, चाहे वह देवांगना हो या मानुषी हो अथवा पशुयोनि हो, संसर्ग जो छोड़ता है, उनके बीचमें उठता बैठता नहीं है, उनके जघन, स्तन, मुख, नयन आदि मनोहर अंगोंको देखता नहीं है तथा उनकी कथा नहीं करता उसीके मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनाके भेदसे नौ प्रकार का ब्रह्मचर्य होता है । जिन शासनमें शीलके अठारह हजार भेद कहे हैं जो इस प्रकार हैं—स्त्री दो प्रकारकी होती है अचेतन और चेतन । अचेतन स्त्रीके तीन प्रकार हैं—लकड़ीकी, पत्थरकी और रंग वगैरहसे बनाई गई । इन तीन भेदोंको मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना इन छै से गुणा करने पर १८ भेद होते हैं । उनको पांच इन्द्रियोंसे गुणा करने पर १८ × ५ = ९० भेद होते हैं । इनको द्रव्य और भावसे गुणा करने पर ९० × २ = १८० एकसौ अस्सी भेद होते हैं । उनको क्रोध, मान, माया और लोभसे गुणा करने पर १८० × ४ = ७२० भेद होते हैं । चेतन स्त्रीके भी तीन प्रकार हैं-देवांगना, मानुषी और तिर्यञ्चनी । इनको कृत कारित अनुमोदनासे गुणा करनेपर ३ × ३ =

१ ग णव । २ ल (स?) ग णियत्तो, म णिअत्तो । ३ ल म स ग णवहा बंभं ।

दकस्त्रीकथास्मरणविरक्त इति । ब्रह्मचर्यमनुपालयन्तं हिंसादयो दोषा न स्पृशन्ति, गुणसंपदः श्रयन्ति च ॥ तथा अष्टादशसहस्रशीलगुणाः के इत्युच्यन्ते । 'जोए ३ करणे ३ सण्णा ४ इंदिय ५ भोम्मादि १० समणधम्मो य १०। अण्णोण्णेहि अभत्था अट्ठारहसीलसहस्साइं ॥' अशुभमनोवचनकाययोगाः शुभेन मनसा गुण्यन्ते इति त्रीणि शीलानि ३, अशुभमनोवचनकाययोगाः शुभेन वचनेन गुण्यन्ते इति षट् शीलानि ६, अशुभमनोवचनकाययोगाः शुभेन काययोगेन गुण्यन्ते इति नवशीलानि ९, तानि चतसृभिराहारादिसंज्ञाभिर्गुणितानि षट्त्रिंशच्छीलानि च ३६, तानि पञ्चभिः स्पर्शनादीन्द्रियैर्गुणितानि १८०, तानि पृथिवी १ जल २ अग्नि ३ वायु ४ प्रत्येक ५ साधारणवनस्पति ६ द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियजीवरक्षणैः दशभिर्गुणितानि १८००, तानि उत्तमक्षमादिदशधर्मैर्गुणितानि १८००० भवन्ति॥ अथवा काष्ठपाषाणलेपकृताः स्त्रियः ३, मनोवचनकायकृतकारितानुमतगुणिता अष्टादश १८, स्पर्शनादिपञ्चेन्द्रियैर्गुणिताः नवतिः ९०, द्रव्यभावाभ्यां गुणिताः अशीत्यग्रशतं १८०, क्रोधादिकषायैश्चतुर्भिर्गुणिताः विंशत्यधिकसप्तशतानि ७२०, इत्यचेतनस्त्रीकृतभेदाः । सचेतनस्त्रीकृतभेदास्ते के । देवी १ मानुषी २ तिरश्ची ३ च तिस्रः स्त्रियः कृतकारितानुमतगुणिता नव ९, एते मनोवचनकायगुणिताः सप्तविंशतिः २७, एते स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दैः पञ्चभिर्गुणिताः पञ्चत्रिंशदधिकशतं १३५, द्रव्यभावाभ्यां द्वाभ्यां गुणिताः २७०, एते आहारादिभिः चतसृभिः संज्ञाभिर्गुणिता १०८०, एते अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनक्रोधमानमायालोभैः षोडशैर्गुणिताः अशीत्यधिकद्विशताग्रसप्तदशसहस्रभेदाः १७२८० इति सचेतनस्त्रीकृतभेदाः । एकत्रीकृताः सर्वे १८००० भवन्ति ॥ ४०३ ॥ स्त्रीणां कटाक्षबाणैर्न विद्धः स शूरः कथ्यते–

जो णवि जादि[१] वियारं तरुणियण-कडक्ख[२]-बाण-विद्धो वि ।
सो चेव सूर-सूरो रण-सूरो णो हवे सूरो ॥ ४०४ ॥

[छाया-यः नैव याति विकारं तरुणीजनकटाक्षबाणविद्धः अपि । स एव शूरशूरः रणशूरः न भवेत् शूरः ॥] स एव च शूरशूरः शूराणां विक्रमाक्रान्तपुरुषाणां मध्ये शूरः सुभटः पराक्रमी अजेयमल्लो भवेत् । रणशूरः संग्रामशौण्डः

९ भेद होते हैं । इन्हें मन वचन काय से गुणा करने पर ९ × ३ = २७ भेद होते हैं । उन्हें पांच इन्द्रियोंसे गुणा करने पर २७ × ५ = १३५ भेद होते हैं । इन्हें द्रव्य और भावसे गुणा करनेपर १३५ × २ = २७० भेद होते हैं । इनको आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार संज्ञाओंसे गुणा करने पर १०८० एक हजार अस्सी भेद होते हैं । इनको अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन, क्रोध, मान, माया, लोभ इन सोलह कषायोंसे गुणा करनेपर १०८० × १६ १७२८० सत्तरह हजार दो सौ अस्सी भेद होते हैं । इनमें अचेतन स्त्रीके सात सौ वीस भेद जोड़ देने से अट्ठारह हजार भेद होते हैं । ये सब विकार के भेद हैं । इन विकारों को त्यागनेसे शीलके अट्ठारह हजार भेद होते हैं । इन भेदोंको दूसरे प्रकार से भी गिनाया है । मन वचन और काय योगको शुभ मन, शुभ वचन और शुभ कायसे गुणा करनेपर ९ भेद होते हैं । उन्हें चार संज्ञाओं से गुणा करनेपर ९ × ४ = ३६ छत्तीस भेद होते हैं । उन्हें पांच इन्द्रियोंसे गुणा करनेपर ३६×५ =१८० भेद होते हैं । उन्हें पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, प्रत्येक वनस्पति, साधारण वनस्पति, दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीवोंकी रक्षा रूप दससे गुणा करनेपर १८०० भेद होते हैं । और उन्हें उत्तम क्षमा आदि दस धर्मोंसे गुणा करनेपर अठारह हजार भेद होते हैं ॥ ४०३ ॥ शूरकी व्याख्या इस प्रकार है । **अर्थ**–जो तरुणी स्त्रीके कटाक्ष रूपी बाणोंसे छेदा जाने पर भी विकारको प्राप्त नहीं होता वही शूर सच्चा शूर है, जो संग्राममें शूर है वह शूर नहीं है ॥

१ ब वि जाइ, ग वि जाति । २ ब तरुणिकडक्खेण बाण०

शूरः सुभटो न भवेत्, संग्रामाङ्गणे अनेकसुभटजयकारी शूरो न स्यात् । तर्हि कोऽसौ शूरः । यो मुनिर्भव्यो वा तरुणी-कटाक्षबाणविद्धोऽपि तरुणीजनानां यौवनोन्मत्तस्त्रीजनानां सलीलहावभावविभ्रमरागचेष्टाविचेष्टितयुवतिजनसमूहानां नयनानि लोचनानि तेषां कटाक्षा अपाङ्गदर्शनानि केकरापाताः त एव बाणाः शराः तैर्विद्धः ताडितः सन् विकारं विक्रियां मनःक्षोभं चञ्चलत्वं न याति न प्राप्नोति स एव शूरशूरः अजेयमल्लो भवेत् । उक्तं च "शम्भुस्वयंभुहरयो हरिणेक्षणानां येनाक्रियन्त सततं गृहकुम्भदासाः । वाचामगोचरचरित्रपवित्रिताय तस्मै नमो बलवते मकरध्वजाय ॥ मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः । किंतु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः ॥ तावन्महत्त्वं पाण्डित्यं कुलीनत्वं विवेकिता । यावज्ज्वलति नाङ्गेषु हतः पञ्चेषुपावकः ॥ विकलयति कलाकुशलं हसति शुचिं पण्डितं विडम्बयति । अधरयति धीरपुरुषं क्षणेन मकरध्वजो वीरः ॥ दिवा पश्यति नो घूकः काको नक्तं न पश्यति । अपूर्वः कोऽपि कामान्धो दिवानक्तं न पश्यति ॥" तथा विचार्यताम् । "दुर्गन्धे चर्मगर्ते व्रणमुखशिखरे मूत्ररेतःप्रवाहे, मांसासृक्कर्दमार्द्रे कृमिकुलकलिते दुर्गमे दुर्निरीक्ष्ये । विष्ठाद्वारोपकण्ठे गुदविवरगलद्वायुधूमार्तधूपे, कामान्धः कामिनीनां कटितटनिकटे गर्दभत्युत्थमोहात ॥" ४०४ ॥ अथ दशप्रकारं धर्ममुपसंहरति–

एसो दह-प्पयारो धम्मो दह-लक्खणो हवे णियमा ।
अण्णो ण हवदि धम्मो हिंसा सुहुमा वि जत्थत्थि ॥ ४०५ ॥

[छाया–एष दशप्रकारः धर्मः दशलक्षणः भवेत् नियमात् । अन्यः न भवति धर्मः हिंसा सूक्ष्मा अपि यत्रास्ति ॥] एष प्रत्यक्षीभूतो जिनोक्तो धर्मः दशप्रकारः । उत्तमक्षमा १ उत्तममार्दवः २ उत्तमार्जवः ३ उत्तमसत्यम् ४ उत्तमशौचम् ५ उत्तमसंयमः ६ उत्तमतपः ७ उत्तमत्यागः ८ उत्तमाकिंचन्यम् ९ उत्तमब्रह्मचर्यम् १० इति दशविधधर्मः । संसारदुःखादुद्धृत्य मोक्षसुखे धरतीति धर्मः भवेत् । दशभेद इति कथम् । दशलक्षणत्वात्, दशधर्माणां पृथक्पृथक् लक्षणानि सन्तीति हेतोः । नियमात् निश्चयतः दशलक्षणो धर्मो भवेत् । पुनः अन्यो न धर्मः सांख्यबौद्धनैयायिकजैमिनीयचार्वाकजैनाभासादिप्रणीतवेदस्मृतिपुराणादिकथितधर्मो वृषो न भवति न स्यात् । कुतः यत्र धर्मे सूक्ष्मा हिंसा सूक्ष्मो जीववधो न चेतनाचेतनप्राणिवधो न । अपिशब्दात् स्थूलहिंसाजीवघातनं न नास्ति गोमेधाश्वमेधगजमेधनरमेधादिकं नास्ति स धर्मः ॥ ४०५ ॥ अथ हिंसारम्भं गाथात्रयेण वारयति–

भावार्थ–और भी कहा है–'पृथ्वीपर मदोन्मत्त हाथीका गण्डस्थल विदारण करनेवाले वीर पाये जाते हैं । कुछ उग्र सिंहको मारनेमें भी कुशल हैं । किन्तु मै बलवानों के सामने जोर देकर कहता हूं कि कामदेवका मद चूर्ण करनेवाले मनुष्य बहुत कम पाये जाते हैं' ॥ वास्तवमें काम बड़ा ही बलवान है । इसीसे किसी कविने कहा है–'जिसने ब्रह्मा, विष्णु और महादेव को भी कामिनियोंका दास बना दिया तथा जिसकी करामातका वर्णन वचनोंसे नहीं किया जाता उसे कामदेवको हमारा नमस्कार है ॥ और भी कहा है–'तभी तक पाण्डित्य, कुलीनता और विवेक रहता है जबतक शरीरमें कामाग्नि प्रज्वलित नहीं होती' ॥ 'यह वीर कामदेव क्षणभरमें कलाकारको भी विकल कर डालता है, पवित्रताका दम्भ भरनेवालेको हंसीका पात्र बना देता है पण्डितकी विडम्बना कर देता है और धीर पुरुषको भी अधीर कर देता है ।' 'उल्लूको दिनमें नहीं दिखाई देता, कौवोको रात्रिमें नहीं दिखाई देता । किन्तु कामसे अन्धा हुआ मनुष्य को न दिनमें दिखाई देता है और न रात्रिमें दिखाई देता है ।' अतः ब्रह्मचर्य दुर्धर है ॥ ४०४ ॥ अब दसधर्मोंके कथनका उपसंहार करते हैं । **अर्थ**–यह दस प्रकारका धर्म ही नियमसे दशलक्षण रूप धर्म है । इनके सिवाय, जिसमें सूक्ष्म भी हिंसा होती है वह धर्म नहीं है ॥ **भावार्थ**–जो संसारके दुःखोंसे उद्धार करके जीवको मोक्षके सुखमें धरता है

१ आदर्शे तु 'येन कृताः सततं ते गृह०'। २ ब हवइ। ३ ब सुहमा।

हिंसारंभो ण सुहो देव-णिमित्तं गुरूण कज्जेसु ।
हिंसा पावं ति मदो दया-पहाणो जदो धम्मो ॥ ४०६ ॥

[छाया-हिंसारम्भः न शुभः देवनिमित्तं गुरूणा कार्येषु । हिंसा पापं इति मतं दयाप्रधानः यतः धर्मः ॥] हिंसारम्भः हिंसायाः प्रारम्भः न शुभः न पुण्यं नापि श्रेष्ठः समीचीनो न भवति। किमर्थं हिंसारम्भः। देवनिमित्तं हरिहरहिरण्यगर्भचण्डिकाकालिकामहन्मायाक्षेत्रपालयक्षभूतपिशाचादिदेवार्थं तथा गुरूणां कार्येषु कर्तव्येषु संशयिभिर्यदुक्तं देवगुरुधर्मकार्येषु हिंसा न दोषाय । तथा चोक्तं तत्सूत्रे । 'देवगुरुधम्मकज्जे चूरिज्जइ चक्कवट्टिसेण्णं पि । जइ तं कुणइ ण साहू अणंतसंसारिओ होइ ॥ संघस्स कारणेणं चूरिज्जइ चक्कवट्टिसेण्णं पि । जइ ण चूरइ मुणि सो अणंत संसारिओ होइ ॥' तथा 'तुरगगणधरत्वं गर्भसंचाररामा[1] स वसनपरिमुक्तो नायको तीर्थदेवः । पलमशनविधातुर्मन्दिरे भिक्षुचर्या समयगहनदातुर्मारणे नास्ति पापम् ॥' 'सेयंबरो वा दियंबरो वा अहवा बुद्धो य अण्णो वा । समभावभावियप्पा लहइ मोक्खं ण संदेहो ॥' बौद्धादीनां हिंसकानां मुक्तिः कथिता । तथा मधुमद्यामिषाहारादिकं कल्पे स्थापितम् । 'दुद्धं १ दहियं २ णवणीयं ३ साप्पिं ४ तिलं ५ गुडं ६ मज्जं ७ मंसं ८ महुवं ९ इमाओ णवरसविगईओ अभिक्खणं २ आहारित्तये नो से कप्पइ बुद्धगिलाणस्स से वि य जा से वियणं परिपूरये नो चेव णं अपरिपूरये [?]' । अत एते संशयिनः आचार्या नरकं गच्छन्तीत्याह । पंचवण्णं कोडीणं पंचावण्णाइं सतसहस्साइ पंचसया बायाला आयरिया णरयं वज्जंति ५५५५००५४२ । एतत्सर्वं तन्मतोक्तम् । इत्येतत्सूत्रेण देवार्थं गुरुकार्येषु हिंसारम्भो निराकृतः, यतः हिंसा पापं इति जीववधसंकल्पं पापमिति धर्मः यतिधर्मः दयाप्रधानो मतः कथितः षट्जीवनिकायरक्षापरः यतिधर्मः प्रतिपादितोऽस्ति । तथा प्रकारान्तरेण अस्याः गाथाया व्याख्यान-

वही धर्म है । वह धर्म उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य इन दश लक्षण रूप है । धर्मके येही दस लक्षण है जहां थोड़ीसी भी हिंसा है वहां धर्म नहीं है ॥ ४०५ ॥ आगे तीन गाथाओंसे हिंसाका निषेध करते हैं । **अर्थ**–चूंकि हिंसाको पाप कहा है और धर्मको दयाप्रधान कहा है, अतः देवके निमित्तसे अथवा गुरुके कार्यके निमित्तसे भी हिंसा करना अच्छा नहीं है ॥ **भावार्थ**–जैनधर्मके सिवाय प्रायः सभी अन्य धर्मोंमें हिंसामें धर्म माना गया है । एक समय भारतमें यज्ञोंका बड़ा जोर था और उसमें हाथी घोड़े और बैलोंको ही नहीं मनुष्य तक होमा जाता था । वे यज्ञ गजमेध, अश्वमेध, गोमेध और नरमेधके नामसे ख्यात थे । जैनधर्मके प्रभावसे वे यज्ञ तो समाप्त होगये । किन्तु देवी देवताओंके सामने बकरों भैंसों, मुर्गों वगैरहका बलिदान आज भी होता है । यह सब अधर्म है, किसी की जान ले लेनेसे धर्म नहीं होता । किन्हीं सूत्रग्रन्थोंमें ऐसा लिखा है कि देव गुरु और धर्मके लिये चक्रवर्तीकी सेनाको भी मार डालना चाहिये । जो साधु ऐसा नहीं करता वह अनन्त काल तक संसारमें भ्रमण करता है । कहीं मांसाहारका भी विधान किया है । ग्रन्थकारने उक्त गाथाके द्वारा इन सब प्रकारकी हिंसाओंका निषेध किया है । उनका कहना है कि धर्मके नाम पर की जानेवाली हिंसा भी शुभ नहीं है । अथवा इस गाथाका दूसरा व्याख्यान इस तरह भी है कि देवपूजा, चैत्यालय, संघ और यात्रा वगैरह के लिये मुनियोंका आरम्भ करना ठीक नहीं है । तथा गुरुओंके लिये वसतिका बनवाना, भोजन बनाना, सचित्त जल फल धान्य वगैरहका प्रासुक करना आदि आरम्भ भी मुनियोंके लिये उचित नहीं है, क्यों कि ये सब आरम्भ हिंसाके कारण हैं । वसु-

---

१ 'गर्भसंसार' इत्यपि पाठः पुस्तकान्तरे ।

माह । देवनिमित्तं देवानामिज्याचैत्यचैत्यालयसंघयात्राद्यर्थं यतिभिः हिंसारम्भः क्रियमाणः शुभो न भवति । तथा गुरूणां कार्येषु वसतिकानिष्पादनपाकादिविधानसचित्तजलफलधान्यादिप्रासुककरणादिषु च हिंसारम्भः सावद्यारम्भः पापारम्भः क्रियमाणः शुभो न भवति । वसुनन्दिना यत्याचारे प्रोक्तं च । "सावज्जकरणजोग्गं सव्वं तिविहेण तियरणविसुद्धं । वज्जंति वज्जभीरू जावज्जीवा य णिग्गंथा ॥" निर्ग्रन्थाः अवद्यभीरवः पापभीरवः सावद्यकरणं योगं सर्वमपि त्रिविधेन त्रिप्रकारेण कृतकारितानुमतरूपेण त्रिकरणविशुद्धं यथा भवति मनोवचनकायक्रियाशुद्धं यथा भवति तथा वर्जयन्ति परिहरन्ति यावज्जीवं मरणपर्यन्तम् । तथा "तणरुक्खहरिदछेदणतयपत्तपवालकंदमूलाइं । फलपुप्फबीयघादं ण करंति मुणी ण कारेंति ॥" तृणच्छेदं वृक्षच्छेदं हरितच्छेदनं छिन्नच्छेदनं च न कुर्वन्ति न कारयन्ति मुनयः । तथा त्वक्पत्रप्रवालकन्दमूलानि न छिन्दन्ति न छेदयन्ति । तथा फलपुष्पबीजघातं न कुर्वन्ति न कारयन्ति मुनयः । तथा "पुढवीय समारंभं जलपवणग्गीतसाणमारंभं । ण करंति ण कारेन्ति य कीरंतं णाणुमोदंति[1] ॥" पृथिव्याः समारम्भं खननोत्कीरणचूर्णनादिकं न कुर्वन्ति न कारयन्ति नानुमन्यन्ते धीरा बुद्धिमन्तो मुनयः । तथा जलपवनाग्नित्रसानां सेचनोत्कर्षणवीजनज्वालनमर्दनत्रासनादिकं न कुर्वन्ति न कारयन्ति नानुमन्यन्त इति ॥ ४०६ ॥ यतः ।

देव-गुरूण णिमित्तं [2]हिंसा-सहिदो वि होदि[3] जदि धम्मो ।
हिंसा-रहिदो[4] धम्मो इदि जिण-वयणं हवे अलियं ॥ ४०७ ॥

[छाया–देवगुर्वोः निमित्तं हिंसासहितः अपि भवति यदि धर्मः । हिंसारहितः धर्मः इति जिनवचनं भवेत् अलीकम् ॥] अथ हिंसारम्भः हिंसायाः जीववधस्य आरम्भः निष्पादनं स्थावरजङ्गमजीवघातनं हिंसाप्रारम्भः धर्मो वृषो भवति । किमर्थम् । देवगुर्वोर्निमित्तं देवकार्याय गुरुकार्याय च । हिंसारम्भो धर्मः इति यदि चेत् तर्हि । इति जिनवचनं अलीकं असत्यं मिथ्या भवेत् । इति किम् । हिंसारहितो धर्मः जीवदयाधर्मः । उक्तं च । 'धर्मस्य मूलं दया' इति । तथा 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो ।' इति ॥ ४०७ ॥

इदि एसो जिण-धम्मो अलद्ध-पुव्वो अणाइ[5]-काले वि ।
मिच्छत्त-संजुदाणं जीवाणं लद्धि-हीणाणं ॥ ४०८ ॥

नन्दि आचार्यने यति–आचार बतलाते हुए लिखा है–निर्ग्रन्थ मुनि पापके भयसे अपने मन वचन और कामको शुद्धकरके जीवन पर्यन्तके लिये सावद्य योगका त्याग कर देते हैं ॥ तथा मुनि हरित तृण, वृक्ष, छाल, पत्र, कोंपल, कन्दमूल, फल, पुष्प और बीज वगैरहका छेदन भेदन न स्वयं करते हैं और न दूसरोंसे कराते हैं ॥ तथा मुनि पृथिवीको खोदना, जलको सींचना, अग्निको जलाना, वायुको उत्पन्न करना और त्रसोंका घात न स्वयं करते हैं, न दूसरोंसे कराते हैं और यदि कोई करता हो उसकी अनुमोदना भी नहीं करते ॥ ४०६ ॥ क्यों कि । **अर्थ**–यदि देव और गुरुके निमित्तसे हिंसाका आरम्भ करना भी धर्म हो तो जिन भगवानका यह कहना कि 'धर्म हिंसासे रहित है' असत्य हो जायेगा ॥ **भावार्थ**–गृहस्थी विना आरम्भ किये नहीं चल सकती और ऐसा कोई आरम्भ नहीं है जिसमें हिंसा न होती हो । अतः गृहस्थके लिये आरम्भी हिंसाका त्याग करना शक्य नहीं है । किन्तु मुनि गृहवासी नहीं होते अतः वे आरम्भी हिंसाका भी त्याग कर देते हैं । वे केवल अपने लिये ही आरम्भ नहीं करते, बल्कि देव और गुरुके निमित्तसे भी न कोई आरम्भ स्वयं करते हैं, न दूसरोंसे कराते हैं और न ऐसे आरम्भकी अनुमोदना ही करते हैं ॥ ४०७ ॥ **अर्थ**–इस प्रकार यह जिन-

---

१ आदर्शे तु 'णाणुमोदए धीरा' इति पाठः । २ ल ग हिंसारभो वि जो हवे धम्मो । ३ म स (?) होदि जदि, ब होइ जइ । ४ ल म स ग हिंसारहिओ (उ?) । ५ ब अणाय, म अणीइ ।

[छाया-इति एष जिनधर्मः अलब्धपूर्वः अनादिकाले अपि । मिथ्यात्वसंयुतानां जीवानां लब्धिहीनानाम् ॥] इत्युक्तप्रकारेण एष प्रत्यक्षीभृतो जिनधर्मः सर्वज्ञोक्तधर्मः मिथ्यात्वसंयुक्तानां जीवानाम् 'अनादिकालीनमिथ्यात्वसंयुक्तानां जीवानाम् अनादिकालेऽपि अनन्तानन्तातीनकालेऽपि अपिशब्दात अभव्यदूरानुत्तरभव्यापेक्षया वर्तमानकालानन्तानन्तभविष्यत्काले, अलब्धपूर्वः पूर्वं न लब्धः न प्राप्तः जिनधर्मो न प्राप्तः । कीदृक्षाणाम् । लब्धिहीनानां क्षयोपशमलब्धिरहितानाम् ॥ ४०८ ॥ अथ दशप्रकारधर्मस्य माहात्म्यमभिष्टौति-

एदे दह-प्पयारा पावं-कम्मस्स[1] णासया भणिया ।
पुण्णस्स य संजणया पर पुण्णत्थं ण कायव्वा ॥ ४०९ ॥

[छाया-एते दश प्रकाराः पापकर्मणः नाशकाः भणिताः । पुण्यस्य च संजनकाः परं पुण्यार्थं न कर्तव्याः ॥] एते पूर्वोक्ता दशप्रकारा उत्तमक्षमादिदशभेदभिन्नाः पापकर्मण नाशकाः । 'अतोऽन्यत्पापम् ।' असद्वेद्याशुभायुर्नामगोत्रज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायस्य अशुभप्रकृतेः व्यशीतिसंख्यायाः ८२ नाशकाः विनाशकाः स्फेटकाः क्षयकर्तारः उपशमकाः क्षयोपशमका भणिताः कथिताः । च पुनः कथंभूताः । पुण्यस्य जनकाः पुण्यकर्मणः सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्रस्य पुण्यप्रकृतेः प्रशस्तशुभप्रकृतेः द्विचत्वारिंशत्संख्यायाः संजनकाः उत्पादकाः कथिताः । परं केवलं ते पूर्वोक्ताः दशविधोत्तमक्षमादिधर्माः पुण्यार्थं शुभप्रकृतिबन्धनार्थं न कर्तव्याः न कार्याः, पुण्यं संसारकारणमिति हेतोः ॥ ४०९ ॥ अथ पुण्यकर्मवाञ्छां गाथाचतुष्केण निषेधयति-

पुण्णं पि जो समिच्छदि संसारो तेण ईहिदो होदि ।
पुण्णं सुगई-हेदुं[2][3] पुण्ण-खएँणेव[4] णिव्वाणं ॥ ४१० ॥

[छाया-पुण्यम् अपि यः समिच्छति संसारः तेन ईहितः भवति । पुण्यं सुगतिहेतुः पुण्यक्षयेण एव निर्वाणम् ॥] यः पुमान् समिच्छति वाञ्छति । किं तत् । पुण्यं शुभकर्म प्रशस्तप्रकृतिं । तेन पुंसा संसारः चतुर्गतिलक्षणो भवः ईहितो भवति

धर्म कालादि लब्धिसे हीन मिथ्यादृष्टि जीवोंको अनादि काल बीत जानेपर भी प्राप्त नहीं हुआ ॥४०८॥ **अर्थ**–ये धर्मके दशभेद पापकर्मका नाश करनेवाले और पुण्यकर्मका बन्ध करनेवाले कहे हैं । किन्तु इन्हें पुण्यके लिये नहीं करना चाहिये ॥ **भावार्थ**–सातावेदनीय एक, शुभ आयु तीन–तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु, देवायु, शुभ गोत्र एक तथा नामकर्मकी शुभ प्रकृतियां ३७, ये ४२ तो पुण्यकर्म हैं और चारों घातिकर्मोंकी ४७ प्रकृतियां, एक असातावेदनीय, एक नरकायु, एक नीच गोत्र तथा नामकर्मकी ३४ अशुभ प्रकृतियां ये चौरासी पुण्य प्रकृतियां हैं । दशलक्षण धर्मको पापका नाश करनेवाला और पुण्यका संचय करानेवाला कहा है । किन्तु पुण्यसंचयकी भावनासे इन दश धर्मोंका पालन नहीं करना चाहिये; क्योंकि पुण्य भी कर्मबन्ध ही है । अतः वह भी संसारका कारण है ॥ ४०९ ॥ आगे चार गाथाओंसे पुण्यकर्मकी इच्छा का निषेध करते हैं । **अर्थ**–जो पुण्यको भी चाहता है वह संसारको चाहता है; क्यों कि पुण्य सुगतिका कारण है । पुण्यका क्षय होनेसे ही मोक्ष होता है ॥ **भावार्थ**–समस्त कर्मोंसे छूट जानेका नाम ही मोक्ष है । चूंकि पुण्य भी कर्म ही है । अतः जो पुण्यको चाहता है वह संसारमें ही रहना चाहता है । आशय यह है कि जो सम्यग्दृष्टि जीव हैं उनका देव शास्त्र और गुरुकी भक्ति रूप पुण्यकर्म भी परम्परासे मोक्षका कारण होता है । किन्तु सम्यक्त्वसे हीन जीवोंका पुण्य भी शुभकारी नहीं है । क्यों कि निदान पूर्वक बांधे गये पुण्यसे मिथ्यादृष्टि जीव दूसरे

१ सर्वत्र पावकम्मस्स [पावं-कम्मस्स] । २ म सुगइ ग गइहे । ३ ल म स ग हेउ (उं) । ४ ल म स ग खयेणे° ।

वाञ्छितोऽस्ति । यतः पुण्यं प्रशस्तं कर्म सद्गतिहेतुकम् उत्तममनुष्यदेवादिगतिकारणम् । पुण्यक्षयेणैव शुभप्रकृतिविनाशनेन एवं निश्चयेन निर्वाणं मोक्षः स्यात् । उक्तं च । 'सकलकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' इति । ननु पुण्यवाञ्छया कथं संसारः समीहितो भवति । तत्कथम् तदुत्तरमाह । सम्यक्त्वसहितानां पुण्यं देवशास्त्रगुरुभक्तिलक्षणं पापं च भद्रं परंपरया मोक्षकारणं स्यात् । सम्यक्त्वरहितानां पुण्यमपि भद्रं न भवति । कुतः । तेन निदानबन्धपुण्येन भवान्तरे स्वर्गादिसुखं लब्ध्वा पश्चान्नरकादिकं गच्छन्तीति भावार्थः । तथा चोक्तं । "वरं नरकवासोऽपि सम्यक्त्वेन हि संयुतः । न तु सम्यक्त्वहीनस्य निवासो दिवि राजते ॥" तथा च । 'जे णियदंसणअहिमुहा सोक्खु अणंतु लहंति । ते विणु पुण्ण करंता वि दुक्खु अणंतु सहंति ॥' ये केचन निजदर्शनाभिमुखाः निश्चयसम्यक्त्वाभिमुखास्ते पुरुषाः सौख्यमनन्तं लभन्ते । अपरे केचन तेन सम्यक्त्वेन विना पुण्यं दानपूजादिकं कुर्वाणाः दुःखमनन्तमनुभवन्ति इति । तथा । "पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइमोहो । मइमोहेण य पावं तं पुण्णं अम्ह मा होउ ॥" पुण्येन दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानसहितेन विभवो विभूतिर्भवति । विभवेन मदोऽहंकारो गर्वो भवति । विज्ञानाद्यष्टविधमदेन मतिभ्रंशो विवेकमूढत्वम्, मोहेन मतिमूढत्वेन पापं भवति । तस्मादित्थंभूतं पुण्यम् अस्माकं माभूदिति । किमिति पुण्यम् । "देवहं सत्थहं मुणिवरहं भत्तिए पुण्णु हवेइ । कम्मक्खउ पुणु होइ णवि अज्जउ संति भणेइ ॥" तथा देवसेनेनोक्तम् । "अइ कुणउ तवं पालेउ संजमं पढउ सयलसत्थाइं । जाम ण झावइ अप्पा ताम ण मोक्खं जिणो भणई ॥" तथा योगेन्द्रदेवेन । "पावें णारउ तिरिउ जिउ पुण्णें अमरु वियाणु । मिस्सें माणुसगइ लहइ दोहि वि खए णिव्वाणु ॥" पापेन नारको जीवो भवति तथा तिर्यग्जीवो भवति पुण्येन अमरो देवो भवति इति जानीहि, मिश्रेण पुण्यपापद्वयेन मनुष्यगतिं लभते, द्वयोरपि पुण्यपापयोः कर्मणोः क्षयेन मोक्षं लभत इति ॥ ४१० ॥

जो अहिलसेदि पुण्णं सकसाओ विसय-सोक्ख[1]-तण्हाए ।
दूरे तस्स विसोही विसोहि-मूलाणि पुण्णाणि ॥ ४११ ॥

[छाया-यः अभिलषति पुण्यं सकषायः विषयसौख्यतृष्णया । दूरे तस्य विशुद्धिः विशुद्धिमूलानि पुण्यानि ॥] यः पुमान् दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धपरिणामसहितः रत्नत्रयरहितः पुण्यं प्रशस्तं कर्म सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्र-

भवमें स्वर्ग आदिका सुख भोगकर पीछे नरक आदि कुगतिमें चला जाता है । कहा भी है-'सम्यक्त्व के साथ नरकमें रहना भी अच्छा है किन्तु सम्यक्त्वके बिना स्वर्गमें रहना भी अच्छा नहीं है ॥' और भी कहा है-'जो जीव आत्मदर्शनरूप निश्चय सम्यक्त्वके अभिमुख हैं वे अनन्त सुखको प्राप्त करते हैं । किन्तु जो सम्यक्त्वके बिना पुण्य करते हैं वे अनन्त दुःख भोगते हैं' ॥ पुण्यकी बुराई बतलाते हुए कहा है-'पुण्यसे विभूति मिलती है । विभूतिके मिलनेसे अहंकार पैदा होता है । अहंकारके होनेसे हिताहितका विवेक जाता रहता है । विवेकके नष्ट हो जानेसे मनुष्य पापमें लिप्त हो जाता है, अतः ऐसा पुण्य हमें नहीं चाहिये ॥' आचार्य देवसेनने भी कहा है-'कितना ही तप करो, संयमको पालो और शास्त्र पढ़ो, किन्तु जब तक आत्माको नहीं जानोगे तब तक मोक्ष नहीं होगा ।' योगीन्द्र देवने भी कहा है-'पापसे जीव नारकी और तिर्यञ्च होता है, पुण्यसे देव होता है तथा पुण्य और पापके मेलसे मनुष्य होता है । और पुण्य और पापके क्षयसे मोक्ष प्राप्त करता है' ॥ ४१० ॥ **अर्थ-**जो कषाय सहित होकर विषयसुखकी तृष्णासे पुण्यकी अभिलाषा करता है, उससे विशुद्धि दूर है और पुण्यकर्मका मूल विशुद्धि है ॥ **भावार्थ-**जो मनुष्य देखे हुए, सुने हुए अथवा भोगे हुए पाचों इन्द्रियोंके विषयोंकी तृष्णासे पीड़ित होकर इस लिये पुण्य कर्म करना चाहता है कि उससे मुझे स्वर्ग मिलेगा और वहां मैं देवांगनाओंके साथ भोग विलास करूंगा, उस मनुष्यके तीव्र कषाय है

[1] ब सुक्ख ।

रूपं स्वर्गादिसुखजनकम् अभिलषति वाञ्छति ईहते। कया। विषयसौख्यतृष्णया पञ्चेन्द्रियाणां सप्तविंशतिविषयसुखवाञ्छया पुण्यं वाञ्छति। स कीदृग्विधः सन्। सकषायः कषायैः सह वर्तते इति सकषायः क्रोधमानमायालोभरागद्वेषादिपरिणामसहितः। तस्य पुंसः विशुद्धिः विशुद्धिता निर्मलता चित्तविशुद्धिता कर्मणामुपशान्ततादिर्वा अतिशयेन दूरतरा भवति। भवतु नाम विशुद्धेः दूरत्वं, का नो हानिः इति न वाच्यम्। यतः पुण्यानि शुभकर्माणि देवशास्त्रगुरुभक्तिकानि दानपूजाव्रतशीलयुक्तानि विशुद्धिमूलानि विशुद्धिकारणानि, विशुद्धेरभावात्तेषामभावः॥ ४११॥

पुण्णासाएँ[1] ण पुण्णं जदो[2] णिरीहस्स पुण्ण-संपत्ती।
इय जाणिऊण जइणो[3] पुण्णे वि म[4] आयरं कुणह[5]॥ ४१२॥

[छाया-पुण्याशया न पुण्यं यतः निरीहस्य पुण्यसंप्राप्तिः। इति ज्ञात्वा यतयः पुण्ये अपि मा आदरं कुरुत॥] भो यतयः भो साधवः मुनयः पुण्येऽपि, न केवलं पापे, आदरं प्रशस्तकर्मोपार्जने उद्यमं मा कुरुध्वं यूयं मा कुरुत। किं कृत्वा। इति पूर्वोक्तं पुण्यफलं ज्ञात्वा मत्वा। इति किम्। निरीहस्य इह परलोकसौख्यवाञ्छारहितस्य दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानरहितस्य लोभाकांक्षारहितस्य पुंसः पुण्यसंपत्तिः प्रशस्तकर्मणां प्राप्तिर्भवति, सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्रकर्मणां बन्धः स्यात्। यतः पुण्याशया पुण्यवाञ्छया शुभकर्मणामीहया पुण्यं न भवति, निदानादीनां वाञ्छाऽशुभकर्मोत्पादनत्वात्॥ ४१२॥

पुण्णं बंधदि जीवो[6] मंद-कसाएहि परिणदो संतो।
तम्हा मंद-कसाया हेऊँ[7] पुण्णस्स ण हि वंछा॥ ४१३॥

[छाया-पुण्यं बध्नाति जीवः मन्दकषायैः परिणतः सन्। तस्मात् मन्दकषायाः हेतवः पुण्यस्य न हि वाञ्छा॥] जीवः आत्मा यतः कारणात् बध्नाति बन्धनं विदधाति। किं तत्। पुण्यं शुभं कर्म प्रशस्तप्रकृतिसमूहं 'सद्वेद्यशुभायुर्नाम-

अतः चित्तकी विशुद्धि उससे सैकड़ों कोस दूर है। शायद कोई कहे कि यदि उससे विशुद्धि दूर है तो रही आओ, हानि क्या है? इसका उत्तर यह है कि देव शास्त्र और गुरुकी भक्ति, दान, पूजा, व्रत, शील आदि शुभ कर्मका मूल कारण चित्तकी विशुद्धि है। चित्तकी विशुद्धि हुए विना पुण्यकर्मका संचय नहीं होता॥ ४११॥ **अर्थ**–तथा पुण्यकी इच्छा करनेसे पुण्यबन्ध नहीं होता, बल्कि निरीह (इच्छा रहित) व्यक्ति को ही पुण्यकी प्राप्ति होती है। अतः ऐसा जानकर हे यतीश्वरों, पुण्यमें भी आदर भाव मत रक्खो॥ ४१२॥ **अर्थ**–मन्दकषायरूप परिणत हुआ जीव ही पुण्यका बन्ध करता है। अतः पुण्यबन्ध का कारण मन्द कषाय है, इच्छा नहीं॥ **भावार्थ**–इच्छा मोहकी पर्याय है अतः वह तीव्र कषाय रूप ही है। फिर इच्छा करनेसे ही कोई वस्तु नहीं मिल जाती। लोकमें भी यह बात प्रसिद्ध है कि इच्छा करनेसे कुछ नहीं मिलता और बिना इच्छाके बहुत कुछ मिल जाता है। अतः इच्छा तो पुण्यकी छोड़ मोक्षकी भी निषिद्ध ही है। यहां यह शङ्का हो सकती है कि पुराणोंमें पुण्यका ही व्याख्यान किया है और पुण्य करनेकी प्रेरणा भी की है। पुण्य कर्मसे ही मनुष्यपर्याय, अच्छा कुल, अच्छी जाति, सत्संगति आदि मोक्षके साधन मिलते हैं। तब ऐसे पुण्यकी इच्छा करना बुरा क्यों है? इसका समाधान यह है कि भोगोंकी लालसासे पुण्यकी इच्छा करना बुरा है। जो भोगोंकी तृष्णासे पुण्य करता है, प्रथम तो उसके सातिशय पुण्यबन्ध ही नहीं होता। दूसरे, थोड़ा बहुत पुण्य बन्ध करके उसके फल स्वरूप जब उसे भोगोंकी प्राप्ति होती है तो वह अति अनुरागपूर्वक

१ ब पुण्णासए (?)। २ म होहि। ३ ब मुणिणो। ४ म ण। ५ ब कुणइ। ६ ग जीउं (ओ?)। ७ म हेउं।

गोत्राणीति पुण्यम्' बध्नाति। कीदृक्षः सन् जीवः। मन्दकषायैः परिणतः अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनक्रोधमानमायालोभादिकषायैः सह परिणामं गतः। तस्मात्कारणात् पुण्यस्य शुभकर्मणां हेतुः प्रशस्तप्रकृतीनां कारणं मन्दकषाया एव, लतादार्वनन्तैकभागाद्यनुभागपरिणताः तुच्छकषायाः अप्रत्याख्यानादयः पुण्यस्य हेतवः कारणानि भवन्ति इत्यर्थः। हि यस्मात् वाञ्छा पुण्यस्य समीहा पुण्यकारणं न। उक्तं च। 'इत्युक्तत्वाद्धितान्वेषी कांक्षां क्वापि न योजयेत्' इति ॥ ४१३ ॥ अथ सम्यक्त्वस्य निःशङ्कितगुणं गाथाद्वयेन विवृणोति –

किं जीव-दया धम्मो जण्णे[1] हिंसा वि होदि किं धम्मो।
इच्चेवमादि-संका तदकरणं जाण णिस्संका ॥ ४१४ ॥

[छाया-किं जीवदया धर्मः यज्ञे हिंसा अपि भवति किं धर्मः। इत्येवमादिशङ्काः तदकरणं जानीहि निःशङ्का ॥] इत्युक्तवक्ष्यमाणलक्षणेन एवमादिका एवंप्रकारा शङ्का संदेहः संशयः। इति किम्। किं जीवदया धर्मः, किमित्याक्षेपे, जीवानां स्थावरजङ्गमप्राणिनां दया रक्षणमनुकम्पा धर्मः वृषो भवति। अपि पुनः यज्ञे अश्वगजाजनरमेधगोमेधादिकयज्ञे क्रतौ हिंसा जीववधो धर्मः किम्। न केवलम् अहिंसा धर्मः यज्ञे, अश्वगजगोछागनरवधादिः किं धर्मो भवति यज्ञे। प्रोक्तं च। "ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणो नराः। यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितां गतिम् ॥ गोसवे सुरभिं हन्यात् राजसूये तु भूभुजम्। अश्वमेधे हयं हन्यात् पौण्डरीके च दन्तिनम् ॥ यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा। यज्ञो हि भूत्यै सर्वेषां तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥" तथा यजुर्वेदऋचयः। 'सोमाय हंसानालभते वायवे बलाका इन्द्राग्निभ्यां कुञ्चान् मित्राय मद्गून् वरुणाय नक्रान् ॥ वसुभ्य ऋष्यानालभते रुद्रेभ्यो रुरूनादित्येभ्यो न्यङ्कून् वरुणाय चक्रवाकानश्विभ्यां मयूरान् मित्रावरुणाभ्यां कपोतान् ॥ वसन्ताय कपिञ्जलानालभते ग्रीष्माय जलविंकान् वर्षाभ्यस्तित्तिरीञ्छरदे वर्तिका हेमन्ताय ककराञ्छिशिराय विककरान् ॥ इति षड्ऋतुयजनम्। समुद्राय शिशुमारानालभते पर्जन्याय मण्डूकानद्भ्यो मत्स्यान् मित्राय कुलीपयान् वरुणाय चक्रवाकान् ॥ अर्मेभ्यो हस्तिपं जवायाश्वपं पुष्ट्यै गोपालं वीर्यायाविपालं तेजसेऽजपालमिरायै कीनाशं

भोगोंका सेवन करता है और उससे वह पुनः नरक आदिमें चला जाता है। किन्तु जो मोक्ष प्राप्तिके भावनासे शुभ कर्मोंको करता है वह मन्दकषायी होनेसे सातिशय पुण्यबन्ध तो करता ही है, परम्परासे मोक्षभी प्राप्त करलेता है। अतः विषय सुखकी चाहसे पुण्य कर्म करना निषिद्ध है ॥ ४१३ ॥ आगे सम्यक्त्वके आठ अङ्गोंमें से निःशङ्कित अंगका वर्णन दो गाथाओंसे करते हैं। **अर्थ**–क्या जीवदया धर्म है अथवा यज्ञमें होनेवाली हिंसामें धर्म है, इत्यादि संदेहको शंका कहते हैं। और उसका न करना निःशङ्का है ॥ **भावार्थ**–पीछे धर्मका स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि जहां सूक्ष्म भी हिंसा है वहां धर्म नहीं है। अतः अहिंसा धर्म है और हिंसा अधर्म है, इस श्रद्धानका नाम ही सम्यक्त्व है, और उस सम्यक्त्वके आठ अंग हैं। उनमेंसे प्रथम अंग निःशंकित है। निःशंकितका मतलब है, शंका-संदेहका न होना। एक समय भारतमें याज्ञिक धर्मका बहुत जोर था। अश्वमेध, गजमेध, अजमेध, नरमेध, गोमेध, आदि यज्ञ हुआ करते थे। याज्ञिक धर्मके ग्रन्थोंमें लिखा है–'औषधियां, पशु, वृक्ष, तिर्यञ्च, पक्षी और मनुष्य यज्ञके लिये मरकर उच्च गतिको प्राप्त करते हैं ॥ गोसव यज्ञमें सुरभि गौको मारना चाहिये, राजसूय यज्ञमें राजाको मारना चाहिये, अश्वमेध यज्ञमें घोड़ेको मारना चाहिये, और पुण्डरीक यज्ञमें हाथीको मारना चाहिये ॥ ब्रह्माने स्वयं यज्ञके लिये ही पशुओंको बनाया है। यज्ञ सबके कल्याणके लिये है। अतः यज्ञमें कीजानेवाली हिंसा हिंसा नहीं है ॥' यजु-

[1] ब ग जणे।

कीलालाय सुराकारं भद्राय गृहपं श्रेयसे वित्तधमाध्यक्ष्यायानुक्षत्तारम् । अथैतानष्टौ विरूपानलभतेऽतिदीर्घं चातिहस्वं चातिस्थूलं चातिकृशं चातिशुक्लं चातिकृष्णं चातिशुल्वं चातिलोमशं च । अशूद्रा अब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः । मागधः पुंश्चली कितवः क्लीबोऽशूद्रा अब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः ॥ ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत इन्द्राय क्षत्रियं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रं तमसे तस्करं आत्मने क्लीबं कामाय पुंश्चलम् अतिक्रुष्टाय मागधम् । गीताय सूतम् आदित्याय स्त्रियं गर्भिणीम् ।" सौत्रामणौ य एवंविधां सुरां पिबति ना तेन सुरा पीना भवति । सुराश्च तिस्र एव श्रुतौ संमताः, पैष्टी गौडी माधवी चेति । गोसवे ब्राह्मणो गोमवेनेष्ट्वा संवत्सरान्ते मातरमप्यभिलषति । उपेहि मातरमुपेहि स्वसारम् इत्यादि । यज्ञेषु जीववधो धर्मो भवति किमिति क्षेपे इत्येवंप्रकारा या शङ्का तस्या अकरणं निःशङ्का निश्शङ्कितगुणं निस्सन्देहं जानीहि । आदिशब्दात् किं दिगम्बराणां मूलोत्तरगुणप्रतिपालने धर्मः, किं वा तापसानां पञ्चाग्निधूम्रपानसाधने कन्दमूलपत्रादिभक्षणे धर्मः । तथा जैनाभासानां श्वेतांशुकादीनां सर्वत्र भिक्षाचरणे केवलिनां भुक्तिकरणे गृहिणां स्त्रीणामन्यलिङ्गिनां च मुक्तिगमनमित्यत्र किं वा धर्मः, किं वा जिन एव देवः, किं वा ईश्वरब्रह्मविष्णुकपिलसौगतादयो देवाः, किं जिनोक्तसप्ततत्त्वषड्द्रव्यपञ्चास्तिकायनवपदार्थानां श्रद्धाने धर्मः, किं वा अन्यमतजैनाभासशैवसांख्यसौगतादिकथिततत्त्वानां श्रद्धाने धर्मः, किं जैनशास्त्रोक्तः धर्मः, किं वा परमतशास्त्रोक्तः धर्मः इत्यादिशङ्कायाः अकरणं निःसन्देहः । सूक्ष्मं जिनोक्तं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते । जिनदेवजिनधर्मजिनशास्त्रतत्त्वादिषु श्रद्धा रुचिः विश्वासः प्रतीतिः । रागद्वेषक्षुधादिदोषकदम्बकम् अज्ञानम् असत्यवचनकारणं च वीतरागसर्वज्ञानां नास्ति, ततः कारणात् तत्प्रणीते हेयोपादेयतत्त्वे मोक्षमार्गे धर्मे गुरौ शास्त्रे च भव्यैः शङ्का संशयः संदेहो न कर्तव्य इति निःशङ्कितगुणः ॥ ४१४ ॥

वेदकी ऋचाओंमें लिखा है । सोम देवताके लिये हंसोंका, वायुके लिये बगुलोंका, इन्द्र और अग्निके लिये सारसोंका, सूर्य देवताके लिये जलकारोंका, वरुण देवताके लिये नक्रोंका वध करना चाहिये । छै ऋतुओंमेंसे वसन्तऋतुके लिये कपिञ्जल पक्षियोंका, ग्रीष्मऋतुके लिये चिरौटा पक्षियोंका, वर्षाऋतुके लिये तीतरोंका, शरदृऋतुके लिये वत्तकोंका, हेमन्तऋतुके लिये ककर पक्षियोंका, और शिशिरऋतुके लिये विककर पक्षियोंका वध करना चाहिये । समुद्रके लिये मच्छोंको, मेघके लिये मेंडकोंको, जलोंके लिये मछलियोंको, सूर्यके लिये कुलीपय नामक पशुओंको, वरुणके लिये चकवोंका वध करना चाहिये । तथा लिखा है—सूत्रामणि यज्ञमें जो इस प्रकारकी मदिरा पीता है वह मदिरा पीकर भी मदिरा नहीं पीता । श्रुतिमें तीन प्रकारकी मदिरा ही पीने योग्य कही है—पैष्टी गौडी और माधवी । इत्यादि सुनकर 'क्या जीववधमें धर्म है' इस प्रकारकी शङ्काका भी न होना अर्थात् जीववधको अधर्म ही मानना निःशंकित गुण है । इसी तरह क्या जैनधर्ममें कहे हुए मूलगुण और उत्तर गुणोंका पालन करनेमें धर्म है अथवा तापसोंके पंचाग्नि तप तपने और कन्द मूल फल खानेमें धर्म है ? क्या जिनेन्द्रदेव ही सच्चे देव हैं अथवा ईश्वर, ब्रह्मा विष्णु, कपिल, बुद्ध वगैरह सच्चे देव हैं ? क्या जैन धर्ममें कहे हुए सात तत्त्व, छै द्रव्य, और पांच अस्तिकाय और नौ पदार्थोंके श्रद्धानमें धर्म है, अथवा सांख्य सौगत आदि मतोंमें कहे हुए तत्त्वोंके श्रद्धानमें धर्म है ? इत्यादि सन्देहका न होना निःशंकित गुण है । सारांश यह है कि जिनभगवानके द्वारा प्रतिपादित तत्त्व बहुत गहन है, युक्तियोंसे उसका खण्डन नहीं किया जा सकता । ऐसा जानकर और मानकर जिनदेव, जिनशास्त्र, जिनधर्म और जैन तत्त्वोंमें श्रद्धा, रुचि और प्रतीति होनी चाहिये । क्योंकि मनुष्य राग द्वेष अथवा अज्ञानसे असत्य बोलता है । वीतराग और सर्वज्ञमें ये दोष नहीं होते । अतः उनके द्वारा कहे हुए तत्त्वोंमें और मोक्षके मार्गमें सन्देह नहीं करना चाहिये । निःसन्देह होकर प्रवृत्ति करनेमें ही कल्याण है ॥४१४॥

दय-भावो वि य धम्मो हिंसा-भावो[1] ण भण्णदे धम्मो ।
इदि संदेहाभावो[2] णिस्संका णिम्मला होदि ॥ ४१५ ॥

[छाया-दयाभावः अपि च धर्मः हिंसाभावः न भण्यते धर्मः । इति सन्देहाभावः निःशङ्का निर्मला भवति ॥] इति पूर्वोक्तप्रकारेण संदेहाभावः संशयस्य अभावः राहित्यमेव निर्मला निर्दोषा निःशङ्का निःशङ्कितगुणो भवति । इति किम् । दयाभावः स्थावरजङ्गमजीवरक्षणपरिणाम एव धर्मः । अपि च एवकारार्थो हिंसाभावः यज्ञोक्तजीववधपरिणामः धर्मः श्रेयो न भण्यते न कथ्यते ॥ ४१५ ॥ अथ निष्कांक्षितगुणं व्याचष्टे-

जो सग्ग-सुह-णिमित्तं धम्मं णायरदि दूसह-तवेहिं ।
मोक्खं[3] समीहमाणो णिक्खंखा जायदे तस्स ॥ ४१६ ॥

[छाया-यः स्वर्गसुखनिमित्तं धर्मं न आचरति दुःसहतपोभिः । मोक्षं समीहमानः निःकाङ्क्षा जायते तस्य ॥] तस्य भव्यजीवस्य निष्कांक्षागुणो निष्कांक्षितगुणो जायते । तस्य कस्य । यः जीवः धर्मं श्रावकधर्ममेकादशसम्यक्त्वादिप्रतिमालक्षणं यतिधर्मम् उत्तमक्षमादिदशप्रकारव्रतसमितिगुप्तिमूलोत्तरगुणरूपं धर्मं च नाचरति न करोति न विदधाति न प्रतिपालयति । किमर्थम् । स्वर्गसुखनिमित्तं देवलोकसुखाय इन्द्राहमिन्द्रधरणेन्द्रनरेन्द्रचक्रवर्त्यादिसुखप्राप्त्यर्थं वा । कथंभूतः सन् जीवः । मोक्षं समीहमानः सिद्धसुखं वाञ्छन् सन् कर्मणां मोचनं स्वात्मोपलब्धिं वाञ्छन् । कैः कृत्वा । दुःसहतपोभिः दुःसाध्यानशनादितपःपरीषहोपसर्गादिकैः । तथाहि इहलोकपरलोकाशारूपभोगाकांक्षानिदानत्यागेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणव्यक्तिरूपमोक्षार्थं दानपूजातपश्चरणाद्यनुष्ठानकरणं निःकांक्षागुणो भण्यते । तथा निश्चयेन निश्चयरत्नत्रयभावनोत्पन्नपरमार्थिकस्वात्मोत्थसुखामृतरसेन चित्तसंतोषः स एव निःकांक्षागुण इति ॥ ४१६ ॥ अथ निर्विचिकित्सागुणं चिकित्सते-

दह-विह-धम्म-जुदाणं सहाव-दुग्गंध-असुइ-देहेसु ।
जं णिंदणं ण कीरदि[4] णिव्विदिगिंछा गुणो सो हु[5] ॥ ४१७ ॥

अर्थ-'दया भाव ही धर्म है, हिंसा भावको धर्म नहीं कहते' इस प्रकार निश्चय करके सन्देहका न होना ही निर्मल निःशंकित गुण है ॥ **भावार्थ**-पूर्वोक्त प्रकारसे धर्मके स्वरूपके विषयमें सन्देहका न होना ही निःशंकित गुण है ॥ ४१५ ॥ आगे निःकांक्षित गुणको कहते हैं । **अर्थ**-दुर्धर तपके द्वारा मोक्षकी इच्छा करता हुआ जो प्राणी स्वर्गसुखके लिये धर्मका आचरण नहीं करता, उसके निःकांक्षित गुण होता है ॥ **भावार्थ**-इस लोक और परलोकमें भोगोंकी इच्छाको त्यागकर जो केवल ज्ञान आदि अनन्त गुणोंकी अभिव्यक्तिरूप मोक्षके लिये दान, पूजा, तपश्चरण आदि करता है उसके निःकांक्षा गुण कहा है । तथा निश्चयनयसे रत्नत्रयकी भावनासे उत्पन्न हुए सच्चे आत्मिक सुखरूपी अमृतसे चित्तका संतप्त होना ही निःकांक्षित गुण है ॥ ४१६ ॥ आगे निर्विचिकित्सा गुणको कहते हैं । **अर्थ**-दस प्रकारके धर्मोंसे युक्त मुनियोंके स्वभावसे ही दुर्गन्धित और अपवित्र शरीरकी जो निन्दा नहीं करता, उसके निर्विचिकित्सा गुण होता है ॥ **भावार्थ**-रत्नत्रयके आराधक भव्य जीवोंके दुर्गन्धित और घृणित शरीरको देखकर धर्मबुद्धि अथवा दया भावसे घृणा न करना निर्विचिकित्सा गुण है । अथवा, 'जैन धर्ममें और सब तो ठीक है, किन्तु साधुगणोंका नंगा रहना और स्नान आदि न करना ठीक नहीं है' इस प्रकारके कुत्सित विचारोंको विवेकके द्वारा रोकना निर्विचिकित्सा गुण है । इस

१ ल म (स) ग भावे । २ ग संदेहोऽभावो । ३ ल म स ग मुक्खं । ४ ल म स ग कीरइ । ५ ब गुणो तस्स (?)

[छाया-दशविधधर्मयुतानां स्वभावदुर्गन्धाशुचिदेहेषु । यत् निन्दनं न क्रियते निर्विचिकित्सागुणः स खलु ॥] हु इति स्फुटं, निश्चयतो वा, स निर्विचिकित्सागुणो भवति जुगुप्सारहितगुणः स्यात्। स कः । यत् न क्रियते न विधीयते । किं तत्। निन्दनं दोषोत्पादनं घृणाम्। केषु। स्वभावदुर्गन्धाशुचिदेहेषु दुर्गन्धाः पूतिगन्धाः अशुचयः अपवित्राः देहाः शरीराणि स्वभावेन सहजेन दुर्गन्धाश्च ते अशुचयश्च ते देहाः शरीराणि स्वभावेन सहजेन दुर्गन्धाश्च ते अशुचयश्च ते देहाः स्वभावदुर्गन्धाशुचिदेहाः तेषु स्वभावदुर्गन्धादिदेहेषु । केषाम् । दशविधधर्मयुक्तानां दशलाक्षणिकधर्मसहितानाम् उत्तमक्षमादिधर्मिष्ठानां महामुनीनां सहजेन दुर्गन्धापवित्रशरीरेषु निन्दनं घृणा न क्रियते । तथाहि भेदाभेदरत्नत्रयाराधकभव्यजीवानां दुर्गन्धबीभत्सादिकशरीरं दृष्ट्वा धर्मबुद्ध्या कारुण्यभावेन वा यथायोग्यं विचिकित्सापरिहरणं द्रव्यनिर्विचिकित्सागुणो भण्यते । यत्पुनर्जिनसमये सर्वं समीचीनं परं किंतु वस्त्रप्रावरणं जलस्नानादिकं च न कुर्वन्ति तदेव दूषणमित्यादिकुत्सितभावस्य विशिष्टविवेकबलेन परिहरणं सा भावनिर्विचिकित्सा भण्यते । इति निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारनिर्विचिकित्सागुणस्य बलेन समस्तद्वेषादिविकल्पत्यागेन निर्मलात्मानुभूतिलक्षणे निजशुद्धात्मनि व्यवस्थानं निर्विचिकित्सागुण इति ॥ ४१७ ॥ अथामूढदृष्टिं गुणं दर्शयति–

भय-लज्जा-लाहादो[1] हिंसारंभो ण मण्णदे धम्मो ।
जो जिण-वयणे लीणो अमूढ-दिट्ठी हवे सो दु[2] ॥ ४१८ ॥

[छाया-भयलज्जालाभात् हिंसारम्भः न मन्यते धर्मः । यः जिनवचने लीनः अमूढदृष्टिः भवेत् स तु ॥] हु इति निश्चयेन, स जगत्प्रसिद्धः अमूढसम्यग्दृष्टिः अमौढ्यगुणपरिणतो भवेत् । स कः । यः हिंसारम्भः यज्ञयागादौ पुण्यनिमित्तं हिंसायाः जीववधस्य आरम्भः प्रारम्भः विधानं धर्मो वृषो न मन्यते, हिंसाधर्मं न श्रद्दधाति तद्रुचिप्रतीतिविश्वासं न विदधाति । कुतः । भयलज्जालाभात्, भयात् राजामात्याधिकारिजनयक्षयक्षिणीभूतपिशाचादिग्रहपीडाडाकिनीशाकिन्यादिभयात् इहपरलोकादिसप्तभयाद्वा, लज्जातः पितृमातृभ्रातृबान्धवमित्रादित्रपातः, लाभात् यज्ञादौ दीयमानसुवर्णादिदानप्राप्तेः हिंसाधर्मं यो न मानयति स अमूढदृष्टिः सम्यग्दृष्टिः स्यात् । तथाहि वीतरागसर्वज्ञकथितागमबहिर्भूतैः कुदृष्टिभिर्यत्प्रणीतं धातुवादखन्यवादमणिमन्त्रयन्त्रतन्त्रादिवादक्षुद्रविद्याव्यन्तरविकुर्वणादिकर्म अज्ञानिजनचित्तचमत्कारोत्पादकं दृष्ट्वा श्रुत्वा च मूढभावेन योऽसौ धर्मबुद्ध्या तत्र रुचिं भक्तिं प्रतीतिं न करोति एवं व्यवहारेणामूढदृष्टिरुच्यते । निश्चयेन पुनः तस्यैव व्यवहारमूढदृष्टिगुणस्य प्रसादेन अन्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वनिश्चये जाते सति समस्तमिथ्यात्वरागादिषु शुभाशुभसंकल्पविकल्पेषु आत्मबुद्धिमुपादेयबुद्धिं हितबुद्धिं ममत्वभावं त्यक्त्वा त्रिगुप्तिरूपेण विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावे निजात्मनि निश्चलावस्थानं तदेवामूढदृष्टित्वमिति । संकल्पविकल्पलक्षणं कथ्यते । पुत्रकलत्रमित्रधनधान्यादौ बहिर्द्रव्ये ममेदमिति संकल्पनं संकल्पः, अभ्यन्तरे सुख्यहं दुःख्यहम् इति हर्षविषादकरणं विकल्प इति । अथवा वस्तुवृत्त्या संकल्पः इति कोऽर्थः, विकल्प इति तस्यैव पर्यायः ॥ ४१८ ॥ अथोपगूहनगुणं गृणाति–

व्यावहारिक निर्विचिकित्सा गुणके द्वारा द्वेष आदि समस्त विकल्पोंको त्यागकर निर्मल स्वानुभूतिरूप शुद्धात्मामें अपनेको स्थिर करना निश्चय निर्विचिकित्सा गुण है ॥ ४१७ ॥ आगे अमूढ दृष्टि गुणको कहते हैं । **अर्थ**–भय, लज्जा अथवा लालचके वशीभूत होकर जो हिंसा मूलक आरम्भको धर्म नहीं मानता, उस जिनवचनमें लीन पुरुषके अमूढ़ दृष्टि अंग होता है ॥ **भावार्थ**–जो सम्यग्दृष्टि पुरुष मिथ्यादृष्टियोंके द्वारा रचित और अज्ञानी मनुष्योंके चित्तमें चमत्कारको उत्पन्न करनेवाले मणि मंत्र तंत्र आदिको देखकर या सुनकर उनमें धर्मबुद्धिसे रुचि नहीं रखता वह व्यवहारसे अमूढ़ दृष्टि अंगका पालक कहा जाता है । और उसी व्यवहार अमूढ़ दृष्टि अंगके प्रसादसे अन्तस्तत्त्व और बाह्य तत्त्वोंका निश्चय होनेपर समस्त मिथ्यात्व राग वगैरहमें और शुभ तथा अशुभ संकल्प विकल्पोंमें ममत्वको त्यागकर विशुद्ध ज्ञान और विशुद्ध दर्शन स्वभाववाले अपने आत्मामें स्थिर होना निश्चय अमूढ़ दृष्टि अंग है

१ ब भयलज्जगारवेहि य (?) । २ म स ग (ल?) हु ।

जो पर-दोसं गोवदि णिय-सुकयं[1] जो ण पयडदे लोए।
भवियव्व[2]-भावण-रओ उवगूहण-कारओ सो हु ॥ ४१९ ॥

[छाया–यः परदोषं गोपयति निजसुकृतं यः न प्रकटयति लोके। भवितव्यभावनारतः उपगूहनकारकः स खलु ॥] हु इति व्यक्तम्। स सम्यग्दृष्टिरूपगूहनकारकः उपगूहनं परेषामन्येषां दोषाच्छादनं तस्य कारकः कर्ता। स कः। यो भव्यः गोपयति आच्छादयति झम्पयति। कम्। परदोषं परेषामन्येषां सम्यग्दृष्टिश्रावकयतीनां सम्यक्त्वातिचारव्रतभङ्गादिजनितापराधः तं लोके जगति गोपयति तथा लोके न प्रकाशते प्रकटयति न। किं तत्। निजसुकृतं स्वयंकृतदानपूजातपश्चरणादिकं शास्त्राध्ययनाध्यापनादिकं च। कीदृक्षः सन्। यो भव्यः भवितव्यभावनारतः, यद्भाव्यं तद्भवत्येवमिति भावनायां रतः तत्परः निश्चयः। तथाहि भेदाभेदरत्नत्रयभावनारूपो मोक्षमार्गः स्वभावेन शुद्ध एव तावत्। तत्राज्ञानिजननिमित्तेन तथैवाभक्तजननिमित्तेन च धर्मस्य पैशून्यं दूषणम् अपवादो दुःप्रभावना यदा भवति तदागमाविरोधेन यथाशक्त्यर्थेन धर्मोपदेशेन वा यद्धर्मार्थं दोषस्य झम्पनं निवारणं क्रियते तद्व्यावहारनयेनोपगूहनं भण्यते। निश्चयेन पुनः तस्यैव सहकारित्वेन निजनिरञ्जननिर्दोषपरमात्मनः प्रच्छादकाः ये मिथ्यात्वरागादिदोषास्तेषा तस्मिन्नेव परमात्मनि सम्यक् श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपं यद्ध्यानं तेन प्रच्छादनं विनाशनं गोपनं झम्पनं तदेवोपगूहनमिति ॥ ४१९ ॥ अथ स्थितिकरणं दृढयति–

धम्मादो चलमाणं जो अण्णं संठवेदि धम्मम्मि।
अप्पाणं पि सुदिढयदि ठिदि-करणं[3] होदि तस्सेव ॥ ४२० ॥

[छाया–धर्मतः चलन्तं यः अन्यं संस्थापयति धर्मे। आत्मानमपि सुदृढयति स्थितिकरणं भवति तस्य एव ॥] तस्यैव भव्यजीवस्यैव स्थितिकरणं भवति। सम्यक्त्वव्रतज्ञानधर्मात् प्रच्युतवतः जीवस्य पुनः तत्र सम्यक्त्वादिषु स्थित्या दृढीकरणं स्थिरीकरणम्। तस्य कस्य। यः पुमान् धर्मात् चलमानं सम्यक्त्वात् व्रताद्वा चलनेन पतनोन्मुखम् अन्यं परपुरुषं सम्यग्दृष्टिं व्रतधारिणं वा धर्मे सम्यक्त्वव्रतलक्षणे स्थापयति स्थिरीकरोति निश्चलीकरोति, अपि पुनः स द्रढयति सुष्ठु अतिशयेन दृढीकरोति। कम्। आत्मानं स्वदेहिनम्। क। धर्मे भेदाभेदरत्नत्रये स्वात्मानं द्रढयतीत्यर्थः। तथाहि भेदा-

॥ ४१८ ॥ आगे उपगूहन गुणको कहते हैं। **अर्थ**–जो सम्यग्दृष्टि दूसरोंके दोषोंको तो ढांकता है और अपने सुकृतको लोकमें प्रकाशित नहीं करता। तथा ऐसे भावना रखता है कि जो भवितव्य है वही होता है, उसे उपगूहन गुणका धारी कहते हैं ॥ **भावार्थ**–किसी सम्यग्दृष्टि, श्रावक अथवा मुनिके द्वारा सम्यक्त्वमें कोई अतिचार लगाया गया हो, या व्रतका भंग किया गया हो जो सम्यग्दृष्टि उसे लोकमें प्रकाशित नहीं करता। आशय यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग स्वभावसे ही शुद्ध है। किन्तु जब अज्ञानी अथवा अश्रद्धालु मनुष्योंके निमित्तसे धर्मका अपवाद होनेके कारण उस मार्गकी बदनामी होती हो तो आगमके अनुसार धर्मोपदेशके द्वारा यथाशक्ति जो उस बदनामीका निवारण किया जाता है उसे व्यवहारसे उपगूहन अंग कहते हैं। तथा अपने निरंजन निर्दोष परमात्माको ढांकनेवाले जो मिथ्यात्व राग आदि दोष हैं, उन दोषोंको दूर करनेका उपाय करना निश्चयसे उपगूहन अंग कहा है ॥ ४१९ ॥ आगे स्थितिकरण गुणको कहते हैं। **अर्थ**–जो धर्मसे चलायमान अन्य जीवको धर्ममें स्थिर करता है तथा अपनेको भी धर्ममें दृढ करता है उसीके स्थितिकरण गुण होता है ॥ **भावार्थ**–मुनि, आर्यिका और श्रावक श्राविकाके भेदसे चार प्रकारके संघमेंसे जब कोई व्यक्ति दर्शन मोहनीय अथवा चारित्र मोहनीयके उदयसे सम्यग्दर्शन या सम्यक् चारित्रको छोड़ना चाहता हो तो यथाशक्ति आगमानुकूल धर्मका उपदेश देकर

१ ल म स ग सुकयं णो पयासदे। २ म भविअव्व। ३ ब ठिदियरणं।

भेदरत्नत्रयाधारस्य चातुर्वर्णसंघस्य मध्ये यदा कोऽपि दर्शनचारित्रमोहोदयेन दर्शनं ज्ञानं चारित्रं वा परित्यक्तुं वाञ्छति तदागमाविरोधेन यथाशक्त्या धर्मश्रवणेन वाऽर्थेन वा सामर्थ्येन वा केनाप्युपायेन यद्धर्मे स्थिरत्वं क्रियते तद्व्यवहारेण स्थिरीकरणमिति। निश्चयेन पुनस्तेनैव व्यवहारस्थिरीकरणगुणेन धर्मदृढत्वे जाते सति दर्शनचारित्रमोहोदयजनितसमस्त-मिथ्यात्वरागादिविकल्पजालत्यागेन निजपरमात्मस्वभावेनोत्पन्नपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादेन तल्लयतन्मयपरमसम-रसीभावेन चित्तस्थिरीकरणमिति ॥ ४२० ॥ अथ वात्सल्यगुणमुल्लिखति—

जो धम्मिएसु भत्तो अणुचरणं कुणदि परम-सद्धाए।
पिय-वयणं जंपंतो वच्छल्लं तस्स भव्वस्स ॥ ४२१ ॥

[छाया-यः धार्मिकेषु भक्तः अनुचरणं करोति परमश्रद्धया। प्रियवचनं जल्पन् वात्सल्यं तस्य भव्यस्य ॥] तस्य भव्यस्य प्राणिनः वात्सल्यं वात्सल्याख्यगुणो भवेत्। स कः। यो भव्यः धार्मिकेषु सम्यग्दृष्टिषु श्रावकेषु ऋषिमुनि-यत्यनगारेषु च भक्तः भक्तियुक्तः धर्मानुरागः। पुनः करोति यो भव्यः विदधाति। किम्। अनुचरणं साधर्मिकेषु भोजनसार्धे-गमनोद्भीभवनादिपरिचर्या करोति। कया। परमश्रद्धया उत्कृष्टभावेन उत्कर्षेण रुचिरूपेण। किंभूतः सन्। साधर्मिकजनेषु प्रियवचनं मृष्टवचनम् अहं तव किं करोमि इत्यादिकलक्षणं जल्पन् कथयन्। तथाहि बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयाधारे चतु-र्विधसंघे वत्से धेनुवत् पञ्चेन्द्रियविषयनिमित्तं पुत्रकलत्रसुवर्णादिस्नेहवत् वा यदकृत्रिमस्नेहकारणं तद्व्यवहारेण वात्सल्यं भण्यते। निश्चयवात्सल्यं पुनस्तस्यैव व्यवहारवात्सल्यगुणस्य सहकारित्वेन धर्मे दृढत्वे जाते सति मिथ्यात्वरागादिसमस्त-शुभाशुभबहिर्भावेषु प्रीतिं त्यक्त्वा रागादिविकल्पोपाधिरहितपरमस्वास्थ्यसंवित्तिसंजातसदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादे प्रीतिकरणं निश्चयवात्सल्यमिति ॥ ४२१ ॥ अथ प्रभावनागुणं गाथाद्वयेनाह—

जो दस-भेयं धम्मं[1] भव्व-जणाणं पयासदे विमलं।
अप्पाणं पि पयासदि णाणेण पहावणा तस्स ॥ ४२२ ॥

[छाया-यः दशभेदं धर्मं भव्यजनानां प्रकाशयति विमलम्। आत्मानम् अपि प्रकाशयति ज्ञानेन प्रभावना तस्य ॥] तस्य भव्यवरपुण्डरीकस्य प्रभावना प्रभावनाख्यगुणो भवति। तस्य कस्य। यः भव्यः भव्यजनानां भेदाभेदरत्नत्रयेण भवितुं स्वात्मोपलब्धिं प्राप्तुं योग्या भव्यास्ते च ते जनाः भव्यजनास्तेषां भव्यजनानां भव्यलोकानां भेदाभेदरत्नत्रये ज्ञापकानामग्रे दशभेदं धर्मम् उत्तमक्षमादिदशप्रकारं धर्मं प्रकाशयति प्रकटयति कथयति उपदेशयति। अपि पुनः ज्ञानेन भेदज्ञानेन कृत्वा निर्मलम् आत्मानं प्रकाशयति कर्ममलकलङ्करहितं शुद्धस्वरूपं परमात्मानं स्वस्वरूपं स्वयं स्वात्मानं प्रकटीकरोति। तथा भव्यलोकानामग्रे आत्मनः स्वरूपं प्रकाशयति इत्यर्थः ॥ ४२२ ॥

या धनकी सहायता देकर या शक्तिका प्रयोग करके अथवा किसी भी अन्य उपायसे जो उसे धर्ममें स्थिर किया जाता है उसे व्यवहारसे स्थितिकरण गुण कहते हैं। और मिथ्यात्व, राग वगैरह समस्त विकल्प जालको त्यागकर अपने आत्म स्वभावमें स्थिर होना निश्चयसे स्थितिकरण गुण है ॥ ४२० ॥ अब वात्सल्य गुणको कहते हैं। **अर्थ**—जो सम्यग्दृष्टी जीव प्रियवचन बोलता हुआ अत्यन्त श्रद्धासे धार्मिकजनोंमें भक्ति रखता है तथा उनके अनुसार आचरण करता है उस भव्य जीवके वात्सल्य गुण कहा है ॥ **भावार्थ**—जैसे गाय अपने बच्चेसे स्वाभाविक प्रेम करती है वैसे ही रत्नत्रयके धारी चतु-र्विध संघसें स्वाभाविक स्नेहका होना व्यवहारसे वात्सल्य गुण है। और व्यवहार वात्सल्य गुणके द्वारा धर्ममें दृढ़ता होनेपर मिथ्यात्व राग वगैरह समस्त अशुभ भावोंसे प्रीति छोड़कर परमानन्द स्वरूप अपने आत्मासे प्रीति करना निश्चयसे वात्सल्य गुण है ॥ ४२१ ॥ आगे दो गाथाओंसे प्रभावना गुणको कहते हैं। **अर्थ**—जो सम्यग्दृष्टी अपने ज्ञानके द्वारा भव्यजीवोंके लिये दश प्रकारके धर्मको

१ ब दसविह च धम्मं।

जिण-सासण-माहप्पं बहु-विह-जुत्तीहि जो पयासेदि ।
तह तिव्वेण तवेण य पहावणा णिम्मला तस्स ॥ ४२३ ॥

[छाया–जिनशासनमाहात्म्यं बहुविधयुक्तिभिः यः प्रकाशयति । तथा तीव्रेण तपसा च प्रभावना निर्मला तस्य ॥] तस्य भव्यजनस्य प्रभावना प्रकर्षेण जिनशासनमाहात्म्यस्य भावना उत्साहेन प्रकटनं प्रभावनागुणो भवेत् । तस्य कस्य । यः भव्यः प्रकाशयति प्रकटयति । किम् । जिनशासनमाहात्म्यं जिनशासनस्य जिनधर्मस्य महिमानं प्रकटयति । कैः कृत्वा । बहुविधयुक्तिभिः अनेकप्रकारत्रैविद्यविद्याकुशलत्वेन छन्दोऽलंकारव्याकरणसाहित्यतर्कागमाध्यात्मशास्त्रैश्च प्रकाशनैः समुद्द्योतनैः यात्राप्रतिष्ठाप्रासादोद्धरणजिनपूजानिर्मापणगीतनृत्यवादित्रकरणप्रमुखप्रकारैः च प्रकाशयति । तथा तीव्रेण तपसा च तीव्रेण दुःसाध्येन तपसा अनशनावमोदर्यादिकायक्लेशादिद्वादशविधतपश्चरणेन जिनशासनमुद्द्योतयतीत्यर्थः । तद्यथा । श्रावकेण दानपूजादिना तपोधनेन च तपःश्रुतादिना जैनशासनप्रभावना कर्तव्येति व्यवहारेण प्रभावनागुणो ज्ञातव्यः । निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारप्रभावनागुणस्य बलेन मिथ्यात्वविषयकषायप्रभृतिसमस्तविभावपरिणामरूपपरसमयानां प्रभावं हत्वा शुद्धोपयोगलक्षणस्वसंवेदनज्ञानेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजशुद्धात्मनः प्रकाशनमनुभवनमेव निश्चयप्रभावनेति ॥ ४२३ ॥ अथ निःशङ्कितादिगुणानामाधारभूतं पुरुषं निरूपयति—

जो ण कुणदि पर-तत्तिं[1] पुणु पुणु[2] भावेदि[3] सुद्धमप्पाणं ।
इंदिय-सुह-णिरवेक्खो[4] णिस्संकाई गुणा तस्स ॥ ४२४ ॥

[छाया–यः न करोति परतप्तिं पुनः पुनः भावयति शुद्धमात्मानम् । इन्द्रियसुखनिरपेक्षः निःशङ्कादयः गुणाः तस्य ॥] तस्य भव्यवरपुण्डरीकस्य निःशङ्काद्यष्टगुणा भवन्ति । तस्य कस्य । यः पुमान् न करोति न विदधाति । काम् । परतप्तिं परेषां निन्दां परदोषाभाषणं परापवादं न विदधाति न भाषते । तथा पुनः वारंवारं मुहुर्मुहुर्भावयति ध्यायति चिन्तयति

प्रकाशित करता है, तथा अपने आत्माको भी (दस प्रकारके धर्मसे) प्रकाशित करता है उसके प्रभावना गुण होता है ॥ ४२२ ॥ **अर्थ**–जो सम्यग्दृष्टी अनेक प्रकारकी युक्तियोंके द्वारा तथा महान् दुर्द्धर तपके द्वारा जिन शासनका माहात्म्य प्रकाशित करता है उसके निर्मल प्रभावनागुण होता है ॥ **भावार्थ**–अनेक प्रकारकी युक्तियोंके द्वारा मिथ्यावादियोंका निराकरण करके अथवा अनेक प्रकारके शास्त्रोंकी रचना करके या जिनपूजा, प्रतिष्ठा, यात्रा वगैरहका, आयोजन करके अथवा घोर तपश्चरण करके लोकमें जैन धर्मका महत्त्व प्रकट करना व्यवहारसे प्रभावनागुण है । और उसी व्यवहार प्रभावनागुणके बलसे मिथ्यात्व, विषयकषाय वगैरह समस्त विभाव परिणामोंके प्रभावको हटाकर शुद्धोपयोग रूप स्वसंवेदनके द्वारा विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वरूप अपनी आत्माका अनुभवन करना निश्चय प्रभावनागुण है ॥ ४२३ ॥ आगे बतलाते हैं कि निःशंकित आदि गुण किसके होते हैं । **अर्थ**–जो पुरुष पराई निन्दा नहीं करता और वारंवार शुद्ध आत्माको भाता है तथा इन्द्रिय सुखकी इच्छा नहीं करता उसके निःशङ्कित आदि गुण होते हैं ॥ **भावार्थ**–यहां तीन विशेषण देकर यह बतलाया है कि जिसमें ये तीनों बातें होतीं हैं उसीमें निःशंकित आदि गुण पाये जाते हैं । इसका खुलासा इस प्रकार है–जो पुरुष दूसरोंकी निन्दा करता है उसके निर्विचिकित्सा, उपगूहन, स्थितिकरण और वात्सल्य नामके गुण नहीं हो सकते, क्यों कि बुरे अभिप्रायसे किसीके दोषोंको प्रकट करनेका नाम निन्दा है । अतः जो निन्दक है वह उक्त गुणोंका पालक कैसे हो सकता है ? तथा जो अपनी शुद्ध

१ ब तत्ती । २ म स पुण पुण (?) । ३ ब भावेइ । ४ म णिरविक्खो ।

अनुभवति । कम् । शुद्धम् आत्मानं द्रव्यभावनोकर्ममलरहितं शुद्धं शुद्धचिद्रूपं भावयति । कीदृक्षः सन् । इन्द्रियसुखनिरपेक्षः इन्द्रियाणां स्पर्शनादीनां सुखतः शर्मणः निर्गता अपेक्षा वाञ्छा यस्य स तथोक्तः पञ्चेन्द्रियविषयवाञ्छारहितः ॥ ४२४ ॥ क्व क्व निःशङ्कितत्वमित्युक्ते चाह—

णिस्संका-पहुडि-गुणा जह धम्मे तह य देव-गुरु-तच्चे[1] ।
जाणेहि जिण-मयादो सम्मत्त-विसोहँया[2] एदे ॥ ४२५ ॥

[छाया—निःशङ्काप्रभृतिगुणाः यथा धर्मे तथा च देवगुरुतत्त्वे। जानीहि जिनमतात् सम्यक्त्वविशोधकाः एते ॥] यथा येनैव प्रकारेण धर्मे उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्यलक्षणे धर्मे दशप्रकारे व्यवहारनिश्चयरत्नत्रये धर्मे वा निःशङ्काप्रभृतिगुणा इति। निःशङ्कित १ निःकांक्षित २ निर्विचिकित्सा ३ मूढदृष्टि ४ सोपगूहन ५ स्थितिकरण ६ वात्सल्य ७ प्रभावनागुणाः भवन्ति । तथा तेनैव प्रकारेण देवगुरुतत्त्वेषु तान् गुणान् जानीहि । देवे अष्टादशदोषरहितवीतरागसर्वज्ञदेवेऽष्टौ निःशङ्कितादिगुणान् त्वं भो भव्य जानीहि । तथा गुरौ निर्ग्रन्थाचार्ये चतुर्विंशतिपरिग्रहपरित्यक्तदिगम्बरगुरौ तान् निःशङ्किताद्यष्टौ गुणान् जानीहि । तथा तत्त्वेषु जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षेषु सप्तसु पुण्यपापद्वयसहितनवपदार्थेषु जीवाजीवधर्माधर्मकालाकाशेषु षट्सु द्रव्येषु पञ्चास्तिकायेषु व्रततपःसंयमसम्यक्त्वादिषु च निःशङ्किताद्यष्टगुणान् जानीहि । किं बहुना जिनोक्तसर्वपदार्थेषु शङ्कादयो न कर्तव्याः । जिनोक्तैकाक्षरार्थपदश्लोकादिषु शङ्कादिकं करोति तदा मिथ्यादृष्टिः स्यात् । कुतः । जिनमतात् जिनवचनात् सर्वज्ञवीतरागोपदेशात् जिनशासनमाश्रित्य । यतः एते निःशङ्कितादयो गुणाः सम्यक्त्वविशुद्धिकराः सम्यग्दर्शनस्य विशुद्धिकरा निर्मलकराः । अत्राञ्जनचोरादिकथा ज्ञातव्याः ॥ ४२५ ॥ युग्मम् ॥ अथ धर्मस्य ज्ञातृत्वकर्तृत्वदुर्लभत्वं व्यनक्ति—

आत्माको भाता है उसीके निःशंकित, अमूढ दृष्टि, प्रभावना नामके गुण हो सकते हैं; क्यों कि जिसको आत्माके स्वरूपमें सन्देह है और जिसकी दृष्टि मूढ है वह अपनी व आत्माकी वारम्बार भावना नहीं कर सकता । तथा जिसके इन्द्रियसुखकी चाह नहीं है उसीके निःकांक्षित गुण होता है, अतः जिसके इन्द्रिय सुखकी चाह है उसके निःकांक्षित गुण नहीं होता । इस तरह उक्त तीन विशेषणोंवालेके ही आठों गुण होते हैं ॥ ४२४ ॥ आगे बतलाते हैं कि निःशंकित आदि गुण कहां कहां होने चाहिये। **अर्थ**—ये निःशंकित आदि आठ गुण जैसे धर्मके विषयमें कहे वैसे ही देव गुरु और तत्त्वके विषयमें भी जैन आगमसे जानने चाहियें । ये आठों गुण सम्यग्दर्शनको विशुद्ध करते हैं ॥ **भावार्थ**—ऊपर उत्तम क्षमा आदि दस धर्मोंके विषयमें निःशंकित आदि गुणोंको बतलाया है । आचार्य कहते हैं कि उसीप्रकार अठारह दोष रहित वीतराग सर्वज्ञ देवके विषयमें, चौबीस प्रकारकी परिग्रहसे रहित दिगम्बर गुरुओंके विषयमें, तथा जिन भगवानके द्वारा कहे हुए जीव अजीव आस्रव बन्ध संवर निर्जरा मोक्ष इन सात तत्त्वोंमें और इन्हींमें पुण्य पापको मिलानेसे हुए नौ पदार्थोंमें व जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छै द्रव्योंमें भी निःशंकित आदि गुणोंका होना जरूरी है । अर्थात् सम्यग्दृष्टीको देव गुरु और तत्त्वके विषयमें शंका नहीं करनी चाहिये, उनकी यथार्थश्रद्धाके बदलेमें इन्द्रिय सुखकी कांक्षा (चाह) नहीं करनी चाहिये, उनके विषयमें ग्लानिका भाव नहीं रखना चाहिये, उनके विषयमें अपनी दृष्टि मूढताको लिये हुए नहीं होनी चाहिये, उनके दोषोंको दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये, उनके विषयमें अपना मन विचलित होता हो तो उसे स्थिर करना चाहिये, उनमें सदा वात्सल्य भाव रखना चाहिये, और उनके महत्त्वको प्रकट करते रहना चाहिये। इन गुणोंको धारण करने से सम्यग्-

---

१ ग तह देव । २ ब विसोहिया ।

धम्मं ण मुणदि जीवो[1] अहवा जाणेइ कह व कट्ठेण ।
काउं तो वि ण सक्कदि मोह-पिसाएण भोलविदो ॥ ४२६ ॥

[छाया–धर्मं न जानाति जीवः अथवा जानाति कथमपि कष्टेन । कर्तुं ततः अपि न शक्नोति मोहपिशाचेन भ्रामितः ॥] जीव आत्मा धर्मं श्रावकयतिभेदभिन्नं धर्मं जिनोक्तं न जानाति तत्स्वरूपं न वेत्ति । अथवा कथमपि केनापि प्रकारेण महता कष्टेन दुःखेन धर्मं जानाति चेत् तो वि तर्हि तथापि कर्तुं धर्मम् आचरितुं न शक्नोति । कीदृक् सन् जीवः । मोहपिशाचेन भ्रामितः, मोह एव पिशाचः राक्षसः प्रतारकत्वात् तेन भ्रामितः प्रतारितः छलितः मोहनीयकर्मपिशाचेन गृहीतः विकलीकृतः प्रथिल इत्यर्थः ॥ ४२६ ॥ अथ सोपहासं दृष्टान्तेन धर्मकर्तृत्वेन धर्मदुर्लभत्वं विवृणोति–

जह जीवो कुणइ रइं[2] पुत्त-कलत्तेसु काम-भोगेसु[3] ।
तह जइ जिणिंद[4]-धम्मे तो लीलाए सुहं लहदि ॥ ४२७ ॥

[छाया–यथा जीवः करोति रतिं पुत्रकलत्रेषु कामभोगेषु । तथा यदि जिनेन्द्रधर्मे तत् लीलया सुखं लभते ॥] यथा येनैव प्रकारेण उदाहरणोपन्यासे वा जीवः जन्तुः संसारी पुत्रकलत्रेषु रतिं करोति, तनुजकामिनीजनकजननीभ्रातृबन्धुमित्रभृत्यादिषु रागं प्रीतिं स्नेहं विदधाति । यथा जीवः कामभोगेषु कन्दर्पसुखेषु भोगेषु पञ्चेन्द्रियाणां विषयेषु धनधान्यमन्दिरवस्त्राभरणादिषु च रतिं करोति तथा तेनैव पुत्रकलत्रकामभोगप्रकारेण यदि जिनेन्द्रधर्मे जिनवीतरागसर्वज्ञोक्तधर्मे रतिं रागं प्रीतिं स्नेहं करोति चेत् तर्हि लीलया क्रीडया हेलामात्रेण सुखेन सुखं स्वर्गमोक्षोद्भवं सौख्यं लभते प्राप्नोति । तथा चोक्तं च । "जा दव्वे होइ मई अहवा तरुणीसु रूववंतीसु । सा जइ जिणवरधम्मे करयलमज्झट्ठिया सिद्धी ॥" इति ॥ ४२७ ॥ अथ लक्ष्म्याः वाञ्छादरः सुलभ इत्यावेदयति–

दर्शन निर्मल होता है । इन गुणोंके धारक अञ्जनचोर वगैरहकी कथा जैनशास्त्रोंमें वर्णित है वहांसे जानलेनी चाहिये ॥ ४२५ ॥ आगे कहते हैं कि धर्मको जानना और जानकर भी उसका आचरण करना दुर्लभ है । **अर्थ–**प्रथम तो जीव धर्मको जानता ही नहीं है, यदि किसी प्रकार कष्ट उठाकर उसे जानता भी है, तो मोहरूपी पिशाचके चक्करमें पड़कर उसका पालन नहीं कर सकता ॥ **भावार्थ–**अनादिकालसे संसारमें भटकते हुए जीवको सच्चे धर्मका ज्ञान होना बहुत ही कठिन है, क्यों कि एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रियकी पर्यायमें तो हित-अहितको समझनेकी शक्ति ही नहीं होती । सैनी पञ्चेन्द्रिय पर्यायमें भी यदि नारकी या पशु हुआ तो नरकगति और पशुगतिके दुःखोंसे सदा आकुल रहता है । और यदि कदाचित् मनुष्य या देव हुआ तो प्रथम तो भोग विलासमें ही अपना जीवन बितादेता है । यदि काललब्धिके आजानेसे धर्मको जान भी लेता है तो स्त्री-पुत्रके मोहमें पड़कर धर्मका आचरण नहीं करता ॥ ४२६ ॥ आगे दृष्टान्तके द्वारा मोही जीवका उपहास करते हुए धर्मका माहात्म्य बतलाते हैं । **अर्थ–**जैसे यह जीव स्त्री पुत्र वगैरहसे तथा कामभोगसे प्रेम करता है वैसे यदि जिनेन्द्र भगवानके द्वारा कहे हुए धर्मसे प्रीति करे तो लीलामात्रसे ही सुखको प्राप्त कर सकता है ॥ **भावार्थ–**आचार्य कहते हैं कि स्त्री, पुत्र, माता, पिता, भाई, बन्धु, मित्र आदि कुटुंबी जनोंसे तथा धन, धान्य, मकान, वस्त्र, अलंकार आदि परिग्रहसे व कामभोगसे यह जीव जितना प्रेम करता है वैसा प्रेम यदि वीतराग सर्वज्ञके द्वारा कहे हुए धर्मसे करे तो उसे

१ म जीओ । २ ब (?) म स रई । ३ ब भोएसु । ४ प जिणंद ।

लच्छिं[1] वंछेइ णरो णेव सुधम्मेसु आयरं[2] कुणइ ।
बीएण विणा कत्थ वि किं दीसदि[3] सस्स-णिप्पत्ती ॥ ४२८ ॥

[छाया-लक्ष्मीं वाञ्छति नरः नैव सुधर्मेषु आदरं करोति । बीजेन विना कुत्र अपि किं दृश्यते सस्यनिष्पत्तिः ॥] नरः पुमान् जनो वा लक्ष्मीं वाञ्छति अश्वगजरथपदातिधनधान्यसुवर्णरत्नादिसंपदाम् इन्द्रधरणेन्द्रचक्रवर्त्यादिवैभवं वा ईहते आकांक्षति अभिलषति । सुधर्मेषु पूर्वापरविरोधरहितजिनकथितवृषेषु यतिश्रावकभेदभिन्नधर्मेषु नरः जनः आदरम् उद्यमम् अनुष्ठानं नैव कुरुते विदधाति नैव । धर्मं विना तां लक्ष्मीं कथं लभते इत्यत्रोदाहरणेन दृष्टान्तेन युनक्ति । कत्थ वि कुत्रापि धान्यनिष्पत्तिक्षेत्रकेदारभूम्यादौ बीजेन विना व्रीहिगोधूमचणकमुद्गयवादिधान्यवपनं विना सस्यनिष्पत्तिः धान्योत्पत्तिः व्रीह्यादिसमुद्भवः किं दृश्यते अवलोक्यते किम्, अपि तु न, तथा धर्मं विना संपदा न दृश्यते । तथा च । "तं पुण्णह अहिणाणु जं गहिलाण वि रिद्धडी । तं पावह परिणामु जं गुणवंतह भिक्खडी" ॥ ४२८ ॥ अथ धर्मस्थो जीवः किं किं करोतीति गाथाद्वयेनाह-

जो धम्मत्थो जीवो सो रिउ-वग्गे वि कुणइ खम-भावं ।
ता पर-दव्वं वज्जइ जणणि-समं गणइ पर-दारं[4] ॥ ४२९ ॥

[छाया-यः धर्मस्थः जीवः स रिपुवर्गे अपि करोति क्षमाभावम् । तावत् परद्रव्यं वर्जयति जननीसमं गणयति परदारान् ॥] स जीवः करोति । कम् । क्षमाभावं क्षान्तिपरिणामं क्रोधादिकषायाणामुपशान्तिम् । क्व । रिपुवर्गे शत्रुसमूहे यः क्षमाभावं करोति, अपिशब्दात् मित्रस्वजनादिवर्गे । स कः । यः धर्मस्थः धर्मे पूर्वोक्तदशलाक्षणिके वृषे तिष्ठतीति धर्मस्थः, यावत् जिनधर्मे स्थितः जीवः ता तावत्कालं परद्रव्यं वर्जयति परेषां रत्नसुवर्णमणिमाणिक्यधनधान्यवस्त्रादिकं वस्तु परिहरति । तथा परदारान् परेषां युवतीः जननीसमाः मातृतुल्याः स्वसृसमानाः सदृशाः गणयति मनुते जानाति ॥ ४२९ ॥

अनायासही स्वर्ग और मोक्षका सुख प्राप्त हो सकता है । कहा भी है-धनसम्पत्तिमें तथा रूपवती तरुणियोंमें तेरी जैसी रुचि है वैसी रुचि यदि जिनवर भगवानके कहे हुए धर्ममें हो तो मुक्ति तेरी हथेली पर रक्खी हुई है ॥ ४२७ ॥ आगे कहते हैं कि लक्ष्मीको चाहना सुलभ है किन्तु धर्मके विना उसकी प्राप्ति सुलभ नही है । **अर्थ**-यह जीव लक्ष्मीको तो चाहता है किन्तु सुधर्मसे प्रीति नहीं करता । क्या कहीं विना बीजकेभी धान्यकी उत्पत्ति देखी गई है ? ॥ **भावार्थ**-घोडा, हाथी, रथ, धन, धान्य, सुवर्ण, वगैरह सम्पदाकी तथा इन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्ती वगैरहके वैभवकी तो यह जीव इच्छा करता है, किन्तु सच्चे धर्मको पालन करना नहीं चाहता । ऐसी स्थितिमें धर्मके विना उस लक्ष्मीको वह कैसे प्राप्त कर सकता है ? क्या कहीं विना बीजके गेहूं, चना, मूंग, उड़द वगैरह पैदा होता देखा गया है ? अतः जैसे विना बीजके धान्य पैदा नहीं होता वैसेही विना धर्म किये लक्ष्मीकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ ४२८ ॥ आगे धर्मात्मा जीव क्या २ करता है यह दो गाथाओंसे बतलाते हैं । **अर्थ**-जो जीव धर्मका आचरण करता है, वह शत्रुओंपर भी क्षमा भाव रखता है, पराये द्रव्यको ग्रहण नहीं करता, और पराई स्त्रीको माताके समान मानता है ॥ **भावार्थ**-धर्मात्मा जीव अपने मित्र वगैरह स्वजनोंकी तो बातही क्या, अपने शत्रुओंपर भी क्रोध नहीं करता । तथा पराये रत्न, सुवर्ण, मणि, मुक्ता और धन धान्य वस्त्र वगैरहको पानेका प्रयत्न नहीं करता । और दूसरोंकी स्त्रियोंपर कभी कुदृष्टि नहीं डालता, उन्हें अपनी माता और बहिनके तुल्य समझता है ॥ ४२९ ॥

---

१ ब लच्छी । २ ग आइर । ३ ब दीसइ । ४ ब (?) म परयारं ।

ता सव्वत्थ वि कित्ती ता सव्वत्थ वि हवेइ वीसासो।
ता सव्वं पिय भासइ ता सुद्धं माणसं कुणइ॥ ४३०॥

[छाया–तावत् सर्वत्र अपि कीर्तिः तावत् सर्वत्र अपि भवति विश्वासः। तावत् सर्वं प्रियं भाषते तावत् शुद्धं मानसं करोति॥] यावत्कालं जिनधर्मः यस्य जीवस्य भवति तावत्कालं सर्वत्रापि अधोमध्योर्ध्वलोके तस्य जीवस्य कीर्तिः यशः महिमा ख्यातिः स्यात्। अपि पुनः ता तावत्कालं तस्य धर्मवतः पुंसः सर्वस्यापि समस्तत्रैलोक्यजनस्य, अपिशब्दात् स्वकीयस्य, विश्वासः विश्रम्भः प्रतीतिः स्यात्। ता तावत् सर्वं प्रियं हितकारकं भाषते। सर्वलोकः तं धर्मवन्तं प्रति प्रिय-हितमितमधुरकर्णप्रियवचनं भाषते। स धर्मवान् जीवः सर्वान् प्रति हितमितमधुरादिवाक्यं वक्तीत्यर्थः। ता तावत्कालं तस्य धर्मवतः मानसं चित्तं शुद्धं निर्मलं करोति परेषां मानसं सधर्मः सन् शुद्धं करोतीत्यर्थः॥ ४३०॥ अथ धर्ममाहात्म्यं गाथाचतुष्केनाह—

उत्तम-धम्मेण जुदो होदि तिरिक्खो वि उत्तमो देवो।
चंडालो वि सुरिंदो उत्तम-धम्मेण संभवदि॥ ४३१॥

[छाया–उत्तमधर्मेण युतः भवति तिर्यक् अपि उत्तमः देवः। चण्डालः अपि सुरेन्द्रः उत्तमधर्मेण संभवति॥] तिर्यग्जीवः गोगजाश्वसिंहव्याघ्रशृगालकुर्कुरकुर्कुटदर्दुरादिप्राणी। कथंभूतः। उत्तमधर्मेण युक्तः सन्, सम्यक्त्वव्रतादिपञ्च-नमस्कारदानपूजादिभावनादिलक्षणधर्मेण सहितः तिर्यक् उत्तमदेवो भवति सौधर्मस्वर्गाद्यच्युतस्वर्गनिवासी देवो जायते। सम्यक्त्वं विना व्रतादिना युक्तः तिर्यग्जीवः भवनवासी देवो व्यन्तरदेवो वा ज्योतिष्कदेवो वा जायते। अपिशब्दात् उत्तम-धर्मेण युक्तः मनुष्यः उत्तमदेवो भवति। श्रावकधर्मेण सहितः गृहस्थः सौधर्माद्यच्युतान्तकल्पवासी देवः इन्द्रप्रतीन्द्रसामा-निकादिको जायते। यतिधर्मेण युतः सौधर्मादिसर्वार्थसिद्धिपर्यन्तनिवासी उत्तमदेवो जायते, सकलकर्मक्षयं कृत्वा सिद्धोऽपि जायते। तथा उत्तमधर्मेण जिनोक्तधर्मेण सम्यक्त्वाणुव्रतादिलक्षणेन कृत्वा चाण्डालो मातङ्गः उत्तमदेवः सुरेन्द्रः प्रतीन्द्रसामानिको वा संभवति जायते। के के नराः। तिर्यञ्चश्च क्व कोत्कृष्टेन जायन्ते चेत्, त्रैलोक्यसारे प्रोक्तं च

अर्थ–धर्मात्मा पुरुषकी सब जगह कीर्ति होती है, सब लोग उसका विश्वास करते हैं, वह सबके प्रति प्रिय वचन बोलता है, और अपने तथा दूसरोंके मनको शुद्ध करता है॥ **भावार्थ**–धर्मात्मा जीवका सब लोकोंमें यश फैल जाता है कि अमुक मनुष्य बड़ा सन्तोषी और सच्चा है, वह किसीकी वस्तुको नहीं हड़पता। इससे सब लोग उसका विश्वास करने लगते हैं। वह सबसे हितकारी मीठे वचन बोलता है, और सब लोग भी उससे मीठे वचन बोलते हैं। वह अपना मन साफ़ रखता है किसीका बुरा नहीं सोचता। इससे सब लोगभी उसके प्रति अपना मन साफ़ रखते हैं। कभी उसका बुरा नहीं चाहते। अतः धर्मात्मा जीव धर्मका पालन करनेसे केवल अपना ही भला नहीं करता किन्तु दूसरोंका भी भला करता है॥ ४३०॥ आगे चार गाथाओंसे धर्मका माहात्म्य बतलाते हैं। **अर्थ**–उत्तम धर्मसे युक्त तिर्यञ्च भी उत्तम देव होता है। तथा उत्तम धर्मसे युक्त चाण्डाल भी सुरेन्द्र होजाता है॥ **भावार्थ**–सम्यक्त्व व्रत, पंच नमस्कार मंत्र, दान, पूजा आदि उत्तम धर्मका पालन करनेसे गाय, बैल, हाथी, घोड़ा, सिंह, व्याघ्र, शृगाल, कुत्ता, मुर्गा, मेंढक आदि प्राणि भी मरकर उत्तम देवपद पाते हैं। अर्थात् यदि वे सम्यग्दृष्टि होते हैं तो मरकर सौधर्म स्वर्गसे लेकर सोलहवें अच्युत स्वर्गतक जन्म लेते हैं। और यदि सम्यग्दर्शनके विना व्रतादिका पालन करते है तो मरकर भवनवासी, व्यन्तर अथवा ज्योतिष्क जातिके

---

१ ल म ग सव्वस्स। २ ल ग हवइ। ३ ल म स ग कुणई। ४ ब संभवइ।

"णरतिरिय देसअयदा उक्कस्सेणच्चुदो त्ति णिग्गंथा। णर अयददेसमिच्छा गेवेज्जंतो त्ति गच्छंति॥ सव्वट्ठो त्ति सुदिट्ठी महव्वई भोगभूमिजा सम्मा। सोहम्मदुगं मिच्छा भवणतियं तावसा य वरं॥ चरया य परिव्वाजा बम्होत्तरच्चुपदो त्ति आजीवा। अणुदिसअणुत्तरादो चुदा ण केसवपदं जंति॥" त्ति। तथा चोक्तं च। "प्रापद्दैवं तव नुतिपदैर्जीवकेनोपदिष्टैः, पापाचारी मरणसमये सारमेयोऽपि सौख्यम्। कः संदेहो यदुपलभते वासवश्रीप्रभुत्वं, जल्पन् जाप्यैर्मणिभिरमलैस्त्वन्नमस्कारचक्रम्॥" "अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत्। भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे॥" तथा। "धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो धर्मं बुधाश्चिन्वते, धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं धर्माय तस्मै नमः। धर्मान्नास्ति परः सुहृद् भवभृतां धर्मस्य मूलं दया, धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिनं हे धर्म मां पालय॥" "सुकुलजन्मविभूतिरनेकधा प्रियसमागमसौख्यपरंपरा। नृपकुले गुरुता विमलं यशो भवति धर्मतरोः फलमीदृशम्॥" इति॥ ४३१॥

देव होते हैं। गाथामें आये हुए 'वि' शब्दसे इतना अर्थ और लेना चाहिये कि उत्तम धर्मसे युक्त मनुष्य मरकर उत्तम देव होता है। अर्थात् श्रावकधर्मका पालन करनेवाला मनुष्य मरकर सौधर्म स्वर्गसे लेकर अच्युत स्वर्ग पर्यन्त इन्द्र, प्रतीन्द्र, सामानिक आदि जातिका कल्पवासी देव होता है। तथा मुनिधर्मका पालक मनुष्य मरकर सौधर्मस्वर्गसे लेकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त जन्म लेता है। अथवा सकल कर्मोंको नष्ट करके सिद्धपदको प्राप्त करता है। तथा सम्यक्त्व व्रत आदि उत्तम धर्मका पालक चाण्डाल भी मरकर उत्तम देव होजाता है। कौन २ मनुष्य और तिर्यञ्च मरकर उत्कृष्टसे कह २ उत्पन्न होते हैं, इसका वर्णन त्रिलोकसारमें इस प्रकार किया है–देशव्रती और असंयतसम्यग्दृष्टी मनुष्य और तिर्यञ्च मरकर अधिकसे अधिक सोलहवें स्वर्ग तक जन्म लेते हैं। द्रव्यलिंगी, किन्तु भावसे असंयत सम्यग्दृष्टी अथवा देशव्रती अथवा मिथ्यादृष्टी मनुष्य ग्रैवेयक तक जन्म लेते हैं॥ सम्यग्दृष्टी महाव्रती मरकर सर्वार्थसिद्धि तक जन्म लेते हैं। सम्यग्दृष्टी भोगभूमिया जीव मरकर सौधर्मयुगलमें जन्म लेते हैं और मिथ्यादृष्टि भोगभूमिया जीव मरकर भवनत्रिकमें जन्म लेते हैं। तथा उत्कृष्ट तापसी भी मरकर भवनत्रिकमें जन्म लेते हैं॥ नंगे तपस्वी और परिव्राजक ब्रह्मोत्तर स्वर्ग तक जन्म लेते हैं। आजीवक सम्प्रदायवाले अच्युत स्वर्ग तक जन्म लेते हैं। अनुदिश और अनुत्तरोंसे च्युत हुए जीव नारायण प्रतिनारायण नहीं होते॥" वादिराजसूरिने एकीभावस्तोत्रमें नमस्कार मंत्रका माहात्म्य बतलाते हुए कहा है–'हे जिनवर, मरते समय जीवन्धरके द्वारा सुनाये गये आपके नमस्कार महामंत्रके प्रभावसे पापी कुत्ता भी मरकर देव गतिके सुखको प्राप्त हुआ। तब निर्मल मणियोंके द्वारा नमस्कार मंत्रका जप करने वाला मनुष्य यदि इन्द्रकी सम्पदाको प्राप्त करे तो इसमें क्या सन्देह है।' स्वामी समन्त भद्रने जिनपूजाका माहात्म्य बतलाते हुए श्री रत्नकरंडश्रावकाचारमें कहा है–'राजगृही नगरीमें आनन्दसे मत्त होकर भगवान महावीरकी पूजाके लिये एक फूल लेकर जाते हुए मेंढकने महात्माओंको भी बतला दिया कि अर्हन्त भगवानके चरणोंकी पूजाका क्या माहात्म्य है॥" धर्मका माहात्म्य बतलाते हुए किसी कविने कहा है–"धर्म सब सुखोंकी खान है और हित करने वाला है। (इसीसे) बुद्धिमान लोग धर्मका संचय करते हैं। धर्मसे ही मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है। उस धर्मको नमस्कार हो। संसारी प्राणियोंका धर्मसे बढ़कर कोई मित्र नहीं। धर्म का मूल दया है। अतः मैं प्रतिदिन अपना चित्त धर्ममें लगाता हूं। हे धर्म मेरी रक्षा कर॥" और भी कहा है–अच्छे कुलमें जन्म, अनेक प्रकारकी विभूति, प्रिय जनोंका समागम, लगातार सुखकी प्राप्ति, राजघरानेमें आदर सन्मान और निर्मल यश,

अग्गी वि य होदि हिमं होदि भुयंगो वि उत्तमं रयणं ।
जीवस्स सुधम्मादो देवा वि य किंकरा होंति[1] ॥ ४३२ ॥

[छाया–अग्निः अपि च भवति हिमं भवति भुजङ्गः अपि उत्तमं रत्नम् । जीवस्य सुधर्मात् देवाः अपि च किङ्करा भवन्ति ॥] जीवस्यात्मनः सुधर्मात् श्रीजिनसर्वज्ञवीतरागोक्तयतिश्रावकधर्मात्, अपि च विशेषे, अग्निः वैश्वानरः हिमं शीतलो भवति । भुजङ्गोऽपि उत्तमं रत्नम् अनर्घ्यो मणिर्भवति । महाविषधरकृष्णसर्पः रत्नमाला पुष्पमाला च भवति । तथा च पुनः देवाः भवनव्यन्तरज्योतिष्ककल्पवासिनः सुराः किंकराः सेवका भृत्या भवन्ति । अपिशब्दात् मानवाः किंकरा भवन्ति । उक्तं च । "धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो । देवा वि तस्स पणमंति जस्स धम्मे सया मणो ॥" इति ॥ ४३२ ॥

तिक्खं खग्गं माला दुज्जय-रिउणो सुहंकरा सुयणा[2] ।
हालाहलं पि अमियं महावया संपया होदि ॥ ४३३ ॥

[छाया–तीक्ष्णः खड्गः माला दुर्जयरिपवः सुखंकराः सुजनाः । हालाहलम् अपि अमृतं महापदा संपदा भवति ॥] धर्मस्य माहात्म्येन धर्मवतः पुंसः इति सर्वत्र संबन्धनीयम् । तीक्ष्णः शितः खड्गः असिः माला पुष्पस्रग्भवति । तथा दुर्जयरिपवः दुःसाध्यशत्रवः सुखंकराः सुखसाधकाः सुजनाः सज्जना उत्तमपुरुषाः स्वपरहितकारकाः स्वकीयजना वा जायन्ते । तथा हालाहलं तात्कालिकमरणकारिविषं कालकूटविषम् अमृतं सुधा जायते । तथा महापदा महत्कष्टं संपदा संपत्तिर्भवति ॥ ४३३ ॥

अलिय-वयणं पि सच्चं उज्जम-रहिए[3] वि लच्छि-संपत्ती ।
धम्म-पहावेण णरो अणओ वि सुहंकरो होदि ॥ ४३४ ॥

[छाया–अलीकवचनम् अपि सत्यम् उद्यमरहिते अपि लक्ष्मीसंप्राप्तिः । धर्मप्रभावेण नरः अनयः अपि सुखंकरः भवति ॥] तथापि निश्चितं धर्मप्रभावेण श्रीजिनधर्ममाहात्म्यात् धर्मवतः पुंसः अलीकवचनं कार्यात् कारणाद्वा रागद्वेषाद्वा

ये सब धर्मरूपी वृक्षके सुफल हैं ॥ ४३१ ॥ **अर्थ**–उत्तम धर्मके प्रभावसे अग्नि शीतल हो जाती है, महा विषधर सर्प रत्नोंकी माला होजाता है, और देव भी दास हो जाते हैं ॥ ४३२ ॥ **अर्थ**–उत्तम धर्मके प्रभावसे तीक्ष्ण तलवार माला हो जाती है, दुर्जय शत्रु सुख देने वाले आत्मीय जन बन जाते हैं, तत्काल मरण करने वाला हालाहल विष भी अमृत हो जाता है, तथा बड़ी भारी आपत्ति भी संपदा हो जाती है ॥ ४३३ ॥ **अर्थ**–धर्मके प्रभावसे जीवके झूंठ वचन भी सच्चे हो जाते हैं, उद्यम न करनेवाले मनुष्यको भी लक्ष्मीकी प्राप्ति हो जाती है, और अन्याय भी सुखकारी हो जाता है ॥ **भावार्थ**–आशय यह है कि यदि जीवने पूर्वभवमें धर्मका पालन किया है तो उसके प्रभावसे उसकी झूंठी बात भी सच्ची हो जाती है, विना परिश्रम किये भी सम्पत्ति मिल जाती है और अन्याय करते हुए भी वह सुखी रहता है । किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि अन्याय करने का फल उसे नहीं मिलता या झूंठ बोलना और अन्याय करना अच्छा है बल्कि धर्मके प्रभावसे अन्याय भी न्यायरूप हो जाता है । धर्मका प्रभाव बतलाते हुए किसी कविने भी कहा है–'जो लोग धर्मका आचरण करते हैं, उनपर सिंह, सर्प, जल, अग्नि आदि के द्वारा आई हुई विपत्तियां नष्ट हो जाती हैं, सम्पत्तियां प्राप्त

१ म होदि । २ ब ग क सुहंकरो सुयणो । ३ स रहिये ।

केनापि असत्यवचनं छुत्थम् अलीकम् आलं दत्तं सत्यं जायते, दिव्यादिकेन शपथेन सत्यो नरो जायते। उद्यमरहितेऽपि पुंसि धर्मप्रभावात् लक्ष्मीः संपत्तिः संपदा नानाविधा भवति। धर्मप्रभावेण वृषमाहात्म्येन नरः अनयोऽपि न्यायरहितः अन्यायी अन्यो वा शुभंकरः सुखंकरो वा हितकारको भवतीत्यर्थः। "व्याघ्रव्यालजलानलादिविपदस्तेषां व्रजन्ति क्षयं, कल्याणानि समुल्लसन्ति विबुधाः सांनिध्यमध्यासते। कीर्तिः स्फूर्तिमियर्ति यात्युपचयं धर्मः प्रणश्यत्यघम्, स्वर्निर्वाणसुखानि संविदधते ये शीलमाबिभ्रते॥" "तोयत्यग्निरपि स्रजत्यहिरपि व्याघ्रोऽपि सारङ्गति, व्यालोऽप्यश्वति पर्वतोऽप्युपलति क्ष्वेडोऽपि पीयूषति। विघ्नोऽप्युत्सवति प्रियत्यरिरपि क्रीडातडागत्यपां, नाथोऽपि स्वगृहत्यटव्यपि नृणां धर्मप्रभावाद् ध्रुवम्॥" इति॥ ४३४॥ अथ धर्मरहितस्य निन्दां गाथात्रयेण दर्शयति-

देवो वि धम्म-चत्तो मिच्छत्त-वसेण तरु-वरो होदि।
चक्की वि धम्म-रहिओ णिवडइ[1] णरए ण[2] संदेहो॥ ४३५॥

[छाया-देवः अपि धर्मत्यक्तः मिथ्यात्ववशेन तरुवरः भवति। चक्री अपि धर्मरहितः निपतति नरके न सन्देहः॥] देवोऽपि भवनव्यन्तरज्योतिष्ककल्पनिवासी सुरोऽमरः। अपिशब्दात् मनुष्यतिर्यग्जीवः। किंभूतः। धर्मत्यक्तः जिनोक्तः धर्मरहितः सन् तरुवरो भवति चन्दनागरुकर्पूरकुङ्कुमसहकारद्राक्षादिरूपवृक्षवनस्पतिकायिको उपलक्षणात् पृथ्वीकायिक-अप्कायिकः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्जीवः हीनमनुष्यो वा भवति जायते उत्पद्यते। केन कृत्वा। मिथ्यात्ववशेन अतत्त्वश्रद्धान-वशेन कुदेवकुधर्मकुगुरुकुशास्त्राराधनेन। मिथ्यादृष्टिर्देवः क जायते चेत्, तदुक्तं च। "देवीणं देवाणं संपजदि कम्म-सण्णितिरियणरे। पत्तेयपुढविआऊबादरपज्जत्तगे गमणं॥" इति। तथा चक्र्यपि चक्रवर्त्यपि षट्खण्डाधिपतिः चक्रवर्ती त्रिखण्डाधिपतिरर्धचक्री वासुदेवः प्रतिवासुदेवः। अपिशब्दात् मुकुटबद्धमाण्डलिकादिकः नरः धर्मत्यक्तः, मिथ्यात्ववशेन कृत्वा नरके घर्मावंशामेघाञ्जनारिष्टामघवीमाघवीषु जायते सुभौमब्रह्मदत्तादिवत् धर्मत्यक्तः, पापं मिथ्यात्वं च संपदे संपन्निमित्तं न भवति संपदर्थं लक्ष्म्यर्थं न स्यात्॥ ४३५॥

होती हैं, विद्वान् लोग उनके निकट आकर बैठते हैं, सर्वत्र उनका यश फैलता है, धर्मका संचय होता है, पापका नाश होता है और स्वर्ग तथा मोक्षका सुख प्राप्त होता है॥' और भी कहा है-'धर्मके प्रभावसे अग्नि भी जलरूप हो जाती है, सर्प भी माला रूप हो जाता है, व्याघ्र भी हिरनके समान हो जाता है, दुष्ट हाथी भी घोड़ेके तुल्य हो जाता है, पहाड़ भी पत्थरके टुकड़ेके तुल्य हो जाता है, विषभी अमृतके तुल्य हो जाता है, विघ्न भी उत्सवके रूपमें बदल जाता है, शत्रु भी मित्र हो जाता है, समुद्र भी तालावके तुल्य हो जाता है, और जंगल भी अपने घरके तुल्य बन जाता है, यह निश्चित है॥४३४॥ आगे तीन गाथाओंसे धर्मरहित जीवकी निन्दा करते हैं। **अर्थ**-धर्मरहित देव भी मिथ्यात्वके वशमें होकर वनस्पतिकायमें जन्म लेता है। और धर्मरहित चक्रवर्ती भी मरकर नरकमें जाता है, क्योंकि पापसे सम्पत्तिकी प्राप्ति नहीं होती॥ **भावार्थ**-कुदेव, कुधर्म, कुगुरु और झूंठे शास्त्रोंकी आराधना करनेसे मनुष्य और तिर्यञ्च की तो बात ही क्या, कल्पवासी देव भी मरकर एकेन्द्रिय हो जाता है। आगममें कहा है कि कर्मके वशसे देव और देवियां मरकर कर्मभूमिया तिर्यञ्च और मनुष्य होते हैं, तथा बादर पर्याप्तक पृथिवीकाय, बादर पर्याप्तक जलकाय और प्रत्येक वनस्पतिमें जन्म लेते हैं। तथा छैखण्डोंका स्वामी चक्रवर्ती और तीन खण्डके स्वामी नारायण और प्रतिनारायण भी मरकर सुभौम और चक्रवर्ती ब्रह्म दत्तकी तरह मिथ्यात्वके प्रभावसे नरकमें चले जाते हैं। अतः पापसे

---

१ ब णिवडय। २ ल स ग ण संपदे होदि।

धम्म-विहूणो[1] जीवो कुणइ असक्कं पि साहसं जइ[2] वि ।
तो[3] ण वि पावदि[4] इट्ठं सुट्ठु अणिट्ठं परं लहदि[5] ॥ ४३६ ॥

[छाया-धर्मविहीनः जीवः करोति अशक्यम् अपि साहसं यदि अपि । तत् न अपि प्राप्नोति इष्टं सुष्ठु अनिष्टं परं लभते ॥] धर्मविहीनः जिनोक्तधर्मरहितो जीवः प्राणी यद्यपि असाध्यमपि साहसं करोति नौगमनपर्वतारोहणद्वीपद्वीपान्तरगमनसंग्रामप्रवेशनासिमषिकृषिवाणिज्यव्यापारप्रमुखं साहसमुद्यमं करोति । तथा असाध्यं कार्यं केनापि साधयितुमशक्यं कार्यं करोति यद्यपि यर्हि एतत् असाध्यमपि साहसं विदधाति, तो तर्हि नैव प्राप्नोति सुष्ठु अतिशयेन इष्टसुखं पुत्रकलत्रमित्रभ्रातृधनधान्यादिवाञ्छितं वस्तु, परं केवलम् अनिष्टं शत्रुसर्पदुर्जनदारिद्र्यरोगादिकं दुःखं प्राप्नोति ॥ ४३६ ॥

इय पच्चक्खं पेच्छह[6] धम्माहम्माण[7] विविह-माहप्पं ।
धम्मं आयरह सया पावं दूरेण परिहरह ॥ ४३७ ॥[8]

[छाया-इति प्रत्यक्षं पश्यत धर्माधर्मयोः विविधमाहात्म्यम् । धर्मम् आचरत सदा पापं दूरेण परिहरत ॥] सदा निरन्तरम् आदरस्व भो भव्यवरपुण्डरीक कुरुष्व त्वम् । कम् । धर्मं जिनोक्तवृषम् । दूरेण दूरतः अत्यर्थं पापं वृजिनं दुरितं यूयं परिहरत मिथ्यात्वासंयमाव्रतादिकं किल्बिषं भो भव्या यूयं सर्वथा त्यजतेत्यर्थः । किं कृत्वा । इति पूर्वोक्तप्रकारेण धर्माधर्मयोर्विविधमाहात्म्यं प्रत्यक्षं दृष्ट्वा, धर्मस्य अनेकप्रकारप्रभावमहिमास्वर्गमोक्षादिसुखप्राप्तिं प्रत्यक्षं साक्षात् दृष्ट्वा, अधर्मस्य पापस्य विविधमाहात्म्यं नरकतिर्यग्दारिद्रदुःखप्राप्तिं दृष्ट्वा पापं मुञ्च धर्ममादरस्व इति ॥ ४३७ ॥ इति स्वामिकार्त्तिकेयकृतानुप्रेक्षायां त्रैविद्यविद्याकुशलषड्भाषाकविचक्रवर्तिभट्टारकश्रीशुभचन्द्रविरचितटीकायां यतिधर्मानुप्रेक्षाया वर्णनाधिकारः द्वादशः समाप्तः ॥ अथ धर्मानुप्रेक्षायाश्चूलिकां व्याचक्षाणो द्वादशविधतपोविधानव्याख्यानं कार्त्तिकेयस्वामी वितनोति-

बारस-भेओ भणिओ णिज्जर-हेऊ[9] तवो[10] समासेण ।
तस्स पयारा एदे भणिज्जमाणा मुणेयव्वा ॥ ४३८ ॥

[छाया-द्वादशभेदं भणितं निर्जराहेतुः तपः समासेन । तस्य प्रकाराः एते भण्यमानाः ज्ञातव्याः ॥] समासेन संक्षेपेण तपः तप्यते संतप्यते कर्मक्षयार्थं ख्यातिपूजालाभादिकमन्तरेण मुनीश्वरेण शरीरेन्द्रियाणीति । तपः कतिधा ।

सम्पत्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ ४३५ ॥ **अर्थ**-धर्म रहित जीव यदि अतुल साहस भी करे तो भी इष्ट वस्तुको प्राप्त नहीं कर सकता, बल्कि उलटा अनिष्टको ही प्राप्त करता है ॥ **भावार्थ**-पापी जीव ऐसा साहस भी करे जो किसी के लिये करना शक्य न हो, अर्थात् नौकासे समुद्र पार करे, दुर्लंघ्य पर्वतको लांघ जाये, द्वीपसे द्वीपान्तरको गमन करे, भयानक युद्धोंमें भाग ले, फिर भी उसे मन चाही वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती, उल्टे शत्रु, सर्प, दुर्जन, गरीबी रोग वगैरह अनिष्ट वस्तुओंकी ही प्राप्ति होती है ॥ ४३६ ॥ **अर्थ**-अतः हे प्राणियों, इस प्रकार धर्म और अधर्मका अनेक प्रकार माहात्म्य प्रत्यक्ष देखकर सदा धर्मका आचरण करो और पापसे दूरही रहो ॥ **भावार्थ**-धर्मका फल स्वर्ग और मोक्ष सुखकी प्राप्ति है, तथा अधर्मका फल नरकगति और तिर्यञ्च गतिके दुःखोंकी प्राप्ति है । अतः पापको छोड़ो और धर्मका पालन करो ॥ ४३७ ॥ इस प्रकार स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षाकी टीकामें धर्मानुप्रेक्षा नामक बारहवां अधिकार समाप्त हुआ ॥ आगे धर्मानुप्रेक्षाकी चूलिकाको कहते हुए कार्त्तिकेय स्वामी

---

१ ब विहीणो । २ ब जय । ३ ब तो विणु पावइ इट्ठं । ४ स पावइ । ५ छ म स ग लहइ (ई?) । ६ छ ग स पिच्छिय, म पिच्छिह (?) । ७ स धम्माधम्माण । ८ धम्माणुवेक्खा ॥ बारसभेओ इत्यादि । ९ ब ग हेउं (ऊ?), १० ब तओ ।

द्वादशभेदं भणितं वक्ष्यमाणम् अनशनादिद्वादशप्रकारं कथितं जिनैरिति शेषः । द्वादशं तत्तपः निर्जराहेतुकं निर्जरया एकादश-भेदभिन्नया कर्मक्षपणकारणम्, तस्य तपसः प्रकारा भेदाः एते अनशनादयः भण्यमानाः कथ्यमानाः मन्तव्या ज्ञातव्याः । भेदाभेदरत्नत्रयाविर्भावार्थमिच्छानिरोधस्तपः, वा यदा परद्रव्याभिलाषां परिहरति तदा तपः वा, द्रव्यकर्मभावकर्मक्षयार्थं मार्गाविरोधेन साधुना, तप्यते इति तपः, वा शरीरेन्द्रियसंतापनार्थं शोषणार्थं साधुना तप्यते संतप्यते इति तपः, वा कर्मेन्धनं तप्यते दह्यते भस्मीक्रियते इति तपः । तथा निश्चयतपोविधानमुक्तं च । "परद्रव्येषु सर्वेषु यदिच्छा तन्निवर्तनम् । तपः परममाम्नातं तन्निश्चयनयस्थितैः ॥" ४३८ ॥ अथ तत्रानशननामतपोविधानं गाथाचतुष्केन व्याकरोति-

उवसमणो अक्खाणं उववासो वण्णिदो[1] समासेण[2] ।
तम्हा भुंजंता वि य जिदिंदिया होंति उववासा ॥ ४३९ ॥

[छाया-उपशमनम् अक्षाणाम् उपवासः वर्णितः समासेन । तस्मात् भुञ्जमानाः अपि च जितेन्द्रियाः भवन्ति उपवासाः ॥] मुनीन्द्रैः प्रत्यक्षज्ञानभेदिभिः अवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानिभिः तीर्थंकरगणधरदेवादिभिः वर्णितः व्याख्यातः । कः । उपवासः, उप-समीपे आत्मनः परमब्रह्मणः शुद्धबुद्धैकस्वरूपस्य वसतीत्युपवासः । अथवा स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दलक्षणेषु पञ्चसु विषयेषु परिहृतौत्सुक्यानि पञ्चापि इन्द्रियाणि उपेत्य आगत्य तस्मिन् उपवासे वसन्तीत्युपवासः । अशनादिचतुर्विधाहारस्य परित्यागो वा उपवासः । किमर्थमुपवासः कथितः । अक्षाणामुपशमने स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रियाणां तद्विषयाणां रागद्वेषयोश्च उपशमने उपशमनिमित्तं शान्त्यर्थं निमित्तात् कर्मणि सप्तमी वाच्या । तस्मादिन्द्रियोपशमकारणात् भुञ्जमानाः भोजनं कुर्वाणाः चतुर्विधाहारं जिमन्तः गृह्णन्तः, अपिशब्दात् अभुञ्जमानाः जितेन्द्रियाः जितानि इन्द्रियाणि यैस्ते जितेन्द्रियाः निर्जितपञ्चेन्द्रियमदाः इन्द्रियवशीकर्तारः उपवासाः उपवासिनो नराः सदा प्रोषधव्रतिनो भवन्ति । ये जितेन्द्रियास्ते सदोपवासिनो नरा भवन्तीत्यर्थः ॥ ४३९ ॥

बारह प्रकारके तपका व्याख्यान करते हैं । **अर्थ**—कर्मोंकी निर्जराका कारण तप संक्षेपसे बारह प्रकारका कहा है । उसके भेद आगे कहेंगे । उन्हें जानना चाहियें ॥ **भावार्थ**—ख्याति, लाभ, पूजा वगैरहकी भावनाको त्यागकर मुनीश्वरोंके द्वारा कर्मोंके क्षयके लिये जो तपा जाता है उसे तप कहते हैं । अथवा रत्नत्रयकी प्राप्तिके लिये इच्छाको रोकनेका नाम तप है । अथवा परद्रव्यकी अभिलाषाको दूर करनेका नाम तप है । अथवा शरीर और इन्द्रियोंका दमन करनेके लिये साधुके द्वारा जो तपा जाता है वह तप है । अथवा जिसके द्वारा कर्म रूपी इंधनको जलाकर भस्म किया जाता है वह तप है । कहा भी है-'समस्त परद्रव्योंकी इच्छाको रोकनाही निश्चयसे उत्कृष्ट तप कहा है ॥' संक्षेपसे उस तपके बारह भेद कहे हैं । अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छै प्रकारका बाह्य तप है । और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान, ये छै प्रकारका अभ्यन्तर तप है । इनका स्वरूप आगे कहेंगे ॥ ४३८ ॥ प्रथमही चार गाथाओंसे अनशन नामक तपका वर्णन करते हैं । **अर्थ**—तीर्थङ्कर, गणधर देव आदि मुनीन्द्रोंने इन्द्रियोंके उपशमनको (विषयोंमें न जाने देने को) उपवास कहा है । इस लिये जितेन्द्रिय पुरुष आहार करते हुए भी उपवासी है ॥ **भावार्थ**—शुद्ध बुद्ध स्वरूप आत्माके उप अर्थात् समीपमें वसनेका नाम उपवास है । और आत्माके समीपमें वसनेके लिये पांचों इन्द्रियोंका दमन करना आवश्यक है, तथा इन्द्रियोंके दमनके लिये चारों प्रकारके आहारका त्याग करना आवश्यक है, क्यों कि जो भोजनके लोलुपी होते हैं उनकी इन्द्रियां उनके वशमें नहीं होती, बल्कि वे स्वयं इन्द्रियोंके दास

---

१ ब वण्णिओ । २ छ म स ग मुणिदेहि ।

जो मण-इंदिय-विजई इह-भव-पर-लोय-सोक्खं-णिरवेक्खो।
अप्पाणे विय णिवसइ सज्झाय-परायणो होदि ॥ ४४० ॥

[छाया-यः मनइन्द्रियविजयी इहभवपरलोकसौख्यनिरपेक्षः। आत्मनि एव निवसति स्वाध्यायपरायणः भवति ॥] **स भव्यजनः** स्वाध्यायपरायणो भवति। स्वाध्याये वाचनाप्रच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशलक्षणे पञ्चप्रकारे परायणः तत्परः सावधानः एकत्वं गतः। स कः। यो भव्यजनः आत्मन्येव शुद्धबुद्धचिदानन्दैकरूपशुद्धचिद्रूपाभेदरत्नत्रयरूपपरमानन्दे परमात्मनि स्वात्मनि निवसति निवासं करोति तिष्ठति ध्यानेन एकत्वं गच्छति, स्वस्वरूपसुखामृतम् अनुभवति **स भव्यः** स्वाध्यायपरायणः। कीदृग्विधो भव्यः। मनइन्द्रियविजयी मनः मानसं चित्तम्, इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि तेषां **विजयी** जेता वशीकारकः इन्द्रियमनोव्यापारविरहितः। पुनः कथंभूतः। यो भव्यः इहभवपरलोकसौख्यनिरपेक्षः, इहभवभुज्यमानायुष्यजन्म परलोक अग्रे प्राप्यमानस्वर्गादिभवः द्वन्द्वः तयोः सौख्यानि, शरीरपोषणमृष्टाहारग्रहणयुवतिसेवनमानपूजालाभादीनि विमानाप्सरोदेवसेवादीनि च तेषु निरपेक्षः निःस्पृहः वाञ्छारहितः। दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानयशःख्यातिपूजामहत्त्वलाभादिरहित इत्यर्थः ॥ ४४० ॥

कम्माण णिज्जरट्ठं आहारं परिहरेइ लीलाए।
एग-दिणादि[3]-पमाणं तस्स तवं अणसणं होदि ॥ ४४१ ॥[4]

[छाया-कर्मणां निर्जरार्थम् आहारं परिहरति लीलया। एकदिनादिप्रमाणं तस्य तपः अनशनं भवति ॥] **तस्य** भव्यस्य पुंसः अनशनं तपो भवति। न विधीयते अशनं भोजनं चतुर्विधाहारं यस्मिन्निति तदनशनम्, अशनपानखाद्यलेह्यादिपरिहरणम् अनशनाख्यं तपः स्यात्। तस्य कस्य। यो भव्यः लीलया अक्लेशेन स्वशक्त्या आहारं चतुर्विधं भोज्यम्

होते हैं। और जो इन्द्रियोंके दास होते हैं वे अपनी शुद्ध बुद्ध आत्मासे कोसों दूर वसते हैं। अतः स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द इन पांचों विषयोंकी ओर अपनी अपनी उत्सुकता छोड़कर पांचों इन्द्रियोंका शान्त रहना ही वास्तवमें सच्चा उपवास है और इन्द्रियोंको शान्त करनेके लिये चारों प्रकारके आहारका त्याग करना व्यवहारसे उपवास है। अतः जिन्होंने अपनी इन्द्रियोंको जीतकर वशमें कर लिया है वे मनुष्य भोजन करते हुए भी उपवासी हैं। सारांश यह है कि जितेन्द्रिय मनुष्य सदा उपवासी होते हैं, अतः इन्द्रियोंको जीतनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ ४३९ ॥ **अर्थ**-जो मन और इन्द्रियोंको जीतता है, इस भव और परभवके विषयसुखकी अपेक्षा नहीं करता, अपने आत्मस्वरूपमें ही निवास करता है और स्वाध्यायमें तत्पर रहता है ॥ **भावार्थ**-सच्चा उपवास करने वाला वही है जो मन और इन्द्रियोंको अपने वशमें रखता है, इस लोक और परलोकके भोगोंकी इच्छा नहीं रखता अर्थात् इस लोकमें ख्याति लाभ और मन प्रतिष्ठाकी भावनासे तथा आगामी जन्ममें स्वर्ग लोककी देवांगनाओंको भोगनेकी अभिलाषासे उपवास नहीं करता, तथा जो शुद्ध चिदानन्द स्वरूप परमात्मामें अथवा स्वात्मामें रमता है और अच्छे अच्छे शास्त्रोंके अध्ययनमें तत्पर रहता है ॥ ४४० ॥ **अर्थ**-उक्त प्रकारका जो पुरुष कर्मोंकी निर्जराके लिये एक दिन वगैरहका परिमाण करके लीला मात्रसे आहारका त्याग करता है उसके अनशन नामक तप होता है ॥ **भावार्थ**-ऊपरकी गाथामें जो विशेषताएं बतलाई हैं विशेषताओंसे युक्त जो महापुरुष कर्मोंका एक देशसे क्षय करनेके लिये एक दिन, दो दिन आदिका नियम लेकर विना किसी कष्टके

१ ब सुक्ख। २ ब वि णिवेसइ। ३ ब एकदिणाइ। ४ ब अणसणं ॥ उपवासं इत्यादि।

एकदिनादिप्रमाणम् एकद्वित्रिचतुःपञ्चषट्सप्ताष्टनवदशादिदिवसपक्षमासऋत्वयनवर्षपर्यन्तं परिहरति चतुर्विधाहारं त्यजति । किमर्थम् । कर्मणां निर्जरार्थं ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाणाम् अष्टकर्मप्रकृतीनां निर्जरार्थं गलनार्थं क्षयार्थम्, एकदेशकर्मक्षयनिमित्तम् । तथाहि वसुनन्दियत्याचारे "इत्तिरियं जावजीवं दुविहं पुण अणसणं मुणेदव्वं । इत्तिरियं साकंखं णिरावकंखं हवे बिदियं ॥" अनशनं पुनरित्तिरिय-यावज्जीवभेदाभ्यां द्विविधं ज्ञातव्यम्, इत्तिरियं साकांक्षं कालादिभिः सापेक्षम्, एतावन्तं कालमहमनशनादिकमनुतिष्ठामीति, निराकांक्षं भवेत् द्वितीयं यावज्जीवम् आमरणान्तादपि न सेवनम् । साकांक्षानशनस्य स्वरूपमाह "छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहि मासद्धमासखमणाणि । कणगेगावलिआदीतवोविहाणाणि णाहारे ॥" अहोरात्रमध्ये द्वे भक्तवेले तत्रैकस्यां भक्तवेलायां भोजनमेकस्यां परित्यागः एकभक्तः । चतसृणां भक्तवेलानां परित्यागश्चतुर्थ एकोपवासः । षण्णां भक्तवेलानां त्यागः षष्ठो द्विदिनपरित्यागः । द्वौ उपवासौ । अष्टानां परित्यागः अष्टमः त्रयः उपवासाः । दशमः चत्वारः उपवासाः, द्वादशः पञ्चोपवासाः । आवलीशब्दः प्रत्येकम्, कनकावलीमुरजमध्यविमानपङ्क्तिसिंहविक्रीडितादीनि । अनाहारः अनशनं षष्ठाष्टमदशमद्वादशैर्मासार्धमासादिभिश्च यानि क्षमणानि कनकैकावल्यादीनि च यानि तपोविधानानि, तानि सर्वाण्यनाहारः यावत् उत्कृष्टेन षण्मासास्तत्सर्वं साकांक्षमनशनमिति । तथा चारित्रसारे । दृष्टफलं मन्त्रसाधनाद्यनुद्दिश्य क्रियमाणमुपवसनम् अनशनमित्युच्यते । तत् किमर्थम् । प्राणीन्द्रियसंयमरागद्वेषाद्युच्छेदबहुकर्मनिर्जरणशुभध्यानादिप्राप्त्यर्थम् । सकृद्भोजनचतुर्थषष्ठाष्टमदशमद्वादशपक्षमासऋतुअयनसंवत्सरेषु अशनपानखाद्यस्वाद्यलक्षणचतुर्विधाहारनिवृत्तिः ॥ ४४१ ॥

उववासं कुव्वाणो आरंभं जो करेदि मोहादो ।
तस्स किलेसो अपरं कम्माणं णेव णिज्जरणं ॥ ४४२ ॥

छाया-[उपवासं कुर्वाणः आरम्भं यः करोति मोहतः । तस्य क्लेशः अपरं कर्मणां नैव निर्जरणम् ॥] तस्य प्रोषधव्रतिनः पुंसः क्लेशः क्षुधातृषादिबाधया कायक्लेशः श्रमः निरर्थः निष्फलः । अपरम् अन्यच्च तस्य कर्मणां निर्जरणं

प्रसन्नता पूर्वक अशन, पान, खाद्य और लेह्यके भेदसे चारों प्रकारके भोजनको छोड़ देता है वही अनशन तपका धारक है । वसुनन्दि यत्याचारमें कहा है-अनशन दो प्रकारका होता है, एक साकांक्ष और एक निराकांक्ष । 'इतने काल तक मैं अनशन करूंगा' इस प्रकार कालकी अपेक्षा रखकर जो अनशन किया जाता है उसे साकांक्ष अनशन कहते हैं, और जीवन पर्यन्तके लिये जो अनशन किया जाता है उसे निराकांक्ष अनशन कहते हैं । साकांक्ष अनशनका स्वरूप इस प्रकार कहा है-एक दिनमें भोजनकी दो वेला होती है । उसमेंसे एक वेला भोजन करे और एक वेला भोजनका त्याग करे । इसे एकभक्त कहते है । चार वेला भोजनका त्याग करनेको चतुर्थ कहते हैं, यह एक उपवास हैं । छ वेला भोजनका त्याग करनेको षष्ठ कहते हैं । यह दो उपवास हैं । इसी प्रकार आठ वेला भोजनका त्याग करनेको अष्टम कहते हैं, यह तीन उपवास हैं । दस वेला भोजनका त्याग करनेको दशम कहते हैं । दशम अर्थात् चार उपवास । बारह वेला भोजनका त्याग करनेको द्वादश कहते हैं । द्वादश नाम पांच उपवासका है । इसी तरह एक मास और अर्धमास आदि तक भोजनको त्यागना तथा कनकावली एकावली आदि तप करना साकांक्ष अनशन है । साकांक्ष अनशन उत्कृष्टसे छै महीना तक किया जाता है । चारित्रसारमें भी लिखा है-मंत्र साधन आदि लौकिक फलकी भावनाको त्यागकर प्राणिसंयम, इन्द्रियसंयम, राग द्वेषका विनाश, कर्मोंकी निर्जरा और शुभध्यान आदिकी सिद्धिके लिये एक बार भोजन करना, या चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम, दशम, द्वादश, पक्ष, मास, ऋतु, अयन और संवत्सरमें चारों प्रकारके आहारका त्याग करना अनशन है ॥ ४४१ ॥ **अर्थ**-जो उपवास करते हुए मोहवश

निर्जरा नैव जायते । ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मणां निर्जरा गलनं न भवतीत्यर्थः । तस्य कस्य । यः जन्तुः पुमान् उपवासम् उपवस्त्वं क्षपणां कुर्वाणः सन् विदधाति करोति । कम् । आरम्भम् असिमषिकृषिवाणिज्यव्यापारखण्डनीपेषणीचुल्हीजल-कुम्भगालनप्रमार्जनवस्त्रक्षालनगृहलिम्पनादिप्रारम्भं कुर्वन् उपवासादिकः कायक्लेशः । कुतः । मोहात् मोहनीयकर्मोदयात् ममत्वात् अज्ञानत्वात् । उक्तं च । "कषायविषयाहारत्यागो यत्र विधीयते । उपवासः स विज्ञेयः शेषं लङ्घनकं विदुः ॥" "मोहात् द्रविणं भवनं मे मे युवतिः सुताश्च मे मे मे । इति मे मे मे कुर्वन् पशुरिव बद्धोऽस्ति संसारे ॥" इति ॥ ४४२ ॥ अथावमोदर्यतपोविधानं गाथाद्वयेन प्ररूपयति–

आहार-गिद्धि-रहिओ चरिया[1]-मग्गेण पासुगं[2] जोग्गं[3] ।
अप्पयरं जो भुंजइ अवमोदरियं[4] तवं तस्स ॥ ४४३ ॥

[छाया–आहारगृद्धिरहितः चर्यामार्गेण प्रासुकं योग्यम् । अल्पतरं यः भुङ्क्ते अवमौदर्यं तपः तस्य ॥] तस्य मुनेः भिक्षोः अवमोदर्यम् अवमोदर्याख्यं द्वितीयतपोविधानं भवेत् । तस्य कस्य । यो भिक्षुः अल्पतरमाहारं स्तोकतरं तुच्छम् आत्मीयप्रकृत्योदनस्याहारस्य चतुर्भागेनार्धेन ग्रासेन वा ऊनाहारं भोजनं भुङ्क्ते अत्यश्नाति । कीदृक्षमाहारं भुङ्क्ते । प्रासुकं मनोवचनकायेन कृतकारितानुमोदितादिदोषरहितम् उद्गमोत्पादैषणेङ्गालदोषरहितं वा । पुनः कीदृक्षम् आहारम् । योग्यं यतीनां ग्रहणोचितम् । "णहरोमजंतुअट्ठीकणकुंडयरुहिरमंसचम्माणि । कंदफलमूलबीया छिण्ण मला चउदसा होंति ॥" इति चतुर्दशमलरहितं भोजनं योग्यमुचितम् । केन कृत्वाहारं भुङ्क्ते । चर्यामार्गेण यत्युक्ताहारप्रवृत्त्या यत्या-चारोक्तस्थितिभोजनैकभक्तचतुरङ्गुलपादाग्रान्तरालमौनस्थद्वात्रिंशदन्तरायरहितादिप्रवर्तनेन आहारं भुंक्ते । कथंभूतो भिक्षुः । आहारगृद्धिरहितः आहारस्य भोजनस्य गृद्धपक्षिवत् गृद्धिः अत्यासक्त्या मृष्टरसाद्याकांक्षा तया रहितः । तद्यथा भगवत्या-राधनायाम् । "बत्तीसं किर कवला आहारो कुक्खिपूरणो होइ । पुरिसस्स महिलिआए अट्ठावीसं हवे कवला ॥" पुरुषस्य कुक्षिपूरणो भवत्याहारः द्वात्रिंशत्कवलमात्रः, सहस्रतण्डुलैः कृत्वा एककवलमात्रः, तादृग्द्वात्रिंशत्कवलमात्रं ३२ नरस्य स्वाभाविकाहारो भवतीत्यर्थः । महिलायाः स्त्रियाः कुक्षिपूरणो भवत्याहारः अष्टाविंशतिकवलमात्रः । ततः तस्मादा-हारात् "एकुत्तरसेढीए जाव य कवलो वि होदि परिहीणो । अवमोदरियतवो सो अद्धकवलमेगसित्थं च ॥" एक कवलोत्तरश्रेण्या परिहीनः द्वात्रिंशत्कवलेभ्यः ३२ एकैककवलेनोनं ३१ द्वाभ्यां ३० त्रिभिः २९ चतुर्भिः २८ पञ्चभिः २७ इत्येवं यावत् एककवलः शेषः २६ । २५ । २४ । २३ । २२ । २१ । २० । १९ । १८ । १७ । १६ । १५ । १४ । १३ । १२ । ११ । १० । ९ । ८ । ७ । ६ । ५ । ४ । ३ । २ । १ ॥ ततः अर्धकवलं तस्य अर्धकवलं

आरम्भको करता है, उसके लिये यह एक और कष्ट तो हुआ किन्तु कर्मोंकी निर्जरा नहीं हुई ॥ **भावार्थ**–जो मनुष्य अथवा स्त्री मोह अथवा अज्ञानके वशीभूत होकर उपवासके दिन असि, मषि, कृषि, सेवा, व्यापार, आदि उद्योगोंको तथा पीसना, कुटना, पानी भरना, चूल्हा जलाना, झाडू देना, कपड़े धोना, घर लीपना आदि आरंभको करता है वह उपवास करके भूख प्यासकी बाधासे केवल अपने कष्टको ही बढ़ाता है । कहा भी है–जिसमें विषय कषाय रूपी आहारका त्याग किया जाता है वही उपवास है, केवल भोजनका त्याग करना तो लंघन है ॥ ४४२ ॥ आगे दो गाथाओंसे अवमोदर्य तपको कहते हैं । **अर्थ**–जो आहारकी तृष्णासे रहित होकर शास्त्रोक्त चर्याके मार्गसे थोड़ासा योग्य प्रासुक आहार ग्रहण करता है उसके अवमोदर्य तप होता है ॥ **भावार्थ**–जो साधु आहारमें अति आसक्ति नहीं रखता और ईर्यासमिति पूर्वक श्रावकके घर जाकर, उसके पड़गाहने पर दिनमें एक बार खड़े होकर तथा भोजनके बत्तीस अन्तराय टालकर चौदह प्रकारके मलसे रहित भोजन एक चौथाई अथवा आधा ग्रास कम खाता है उसके अवमोदर्य तप होता है । भगवती आराधनामें कहा है–मनुष्यका

१ ग चरिआ । २ ब पासुकं योग्गं । ३ ल ग जोग्गं । अवमोदरियं तवं होदि तस्स भिक्खु ॥ ४ म अवमोयरियं ।

तदर्धं यावत् एकसिक्थकं सिक्थम् अवशिष्टम् आहारस्याल्पतोपलक्षणमिति अवमोदर्याख्यं तपोविधानं स्यात्। किमर्थमवमोदर्यवृत्तिरनुष्ठीयते इति पृष्टे उत्तरमाह। "धम्मे वासयजोगे णाणादीए उवग्गहं कुणदि। ण य इंदियप्पदोसयरी उवमोदरितवोवुत्ती॥" अवमोदर्यतपोवृत्तिः धर्मे क्षमादिलक्षणे दशप्रकारे आवश्यकक्रियासु समतादिषु षट्सु योगेषु वृक्षमूलादिषु ज्ञानादिके पठनपाठनादिके स्वाध्याये चारित्रे च उपग्रहं करोति न चेन्द्रियप्रद्वेषकारी। न चावमोदर्यवृत्त्या इन्द्रियाणि प्रद्वेषं गच्छन्ति किंतु वशे तिष्ठन्तीति। बह्वाशी यतिः धर्मं नानुतिष्ठति, आवश्यकक्रियाश्च न संपूर्णाः पालयति, त्रिकालयोगं च न क्षेमेण मानयति, स्वाध्यायध्यानादिकं च न कर्तुं शक्नोति, तस्य इन्द्रियाणि च स्वेच्छाकारीणि न भवन्ति(?)। निद्राजयः वातपित्तश्लेष्मादिशान्तिश्च न भवति ॥ ४४३ ॥

जो पुणु कित्ति-णिमित्तं [1]मायाए मिट्ठ-भिक्ख-लाहट्ठं ।
अप्पं भुंजदि भोज्जं तस्स तवं णिप्फलं बिदियं ॥ ४४४ ॥

[छाया–यः पुनः कीर्तिनिमित्तं मायया मिष्टं भिक्षालाभार्थम्। अल्पं भुङ्क्ते भोज्यं तस्य तपः निष्फलं द्वितीयम् ॥] तस्य भिक्षोः द्वितीयं तपोविधानम् अवमोदर्याख्यं निष्फलं फलरहितं निरर्थकं वृथा भवेत्। तस्य कस्य। यो भिक्षुः भोजनमाहारम्, अल्पतरं स्तोकतरम् एकसिक्थमारभ्य एकत्रिंशत्कवलपर्यन्तं भुङ्क्ते वल्भते अत्ति अश्नाति। स्तोकतरं भोजनं करोति। किमर्थम्। कीर्तिनिमित्तम्। अनेन तपसा मम यशो महिमा ख्यातिः कीर्तिः प्रशंसा पूजालाभादिकं जायते इति यशोनिमित्तम्। पुनः अनु च किमर्थम् अल्पं भोज्यं भुंक्ते। मायया पाषण्डेन लोकप्रतारणार्थम्। पुनः अनु च किमर्थं स्तोकं भोजनं भुङ्क्ते। मृष्टभिक्षालाभार्थं मृष्टान्नमोदकपक्वान्नशर्करादिप्राप्तिनिमित्तम्। तस्य तपो वृथेति ॥ ४४४ ॥ अथ वृत्तिपरिसंख्यानं तपोविधानं प्ररूपयति–

[2]एगादि-गिह-पमाणं किच्चा[3] संकप्प-कप्पियं विरसं ।
भोज्जं पसु व्व भुंजदि वित्ति-पमाणं तवो[4] तस्स ॥ ४४५ ॥

[छाया–एकादिगृहप्रमाणं कृत्वा संकल्पकल्पितं विरसम्। भोज्यं पशुवत् भुङ्क्ते वृत्तिप्रमाणं तपः तस्य ॥] तस्य भिक्षोः वृत्तिप्रमाणं वृत्तिपरिसंख्याख्यं तपोविधानं भवति। वृत्तेः प्रमाणं परिसंख्या वृत्तिपरिसंख्या। स्वकीयतपोविशेषेण

स्वाभाविक आहार बत्तीस ग्रास होता है और स्त्रीका स्वाभाविक आहार अट्ठाईस ग्रास होता है। अर्थात् एक हजार चावलका एक ग्रास होता है। और बत्तीस ग्रासमें मनुष्यका तथा अट्ठाईस ग्रासमें स्त्रीका पेट भर जाता है। उनमेंसे एक एक ग्रास घटाते घटाते एक ग्रास तक ग्रहण करना और उसमेंसे भी आधा ग्रास, चौथाई ग्रास या एक चावल ग्रहण करना अवमोदर्य तप है। अवमोदर्य तपके करनेसे इन्द्रियां शान्त रहती हैं, त्रिकाल योग शान्तिपूर्वक होता है, आवश्यक क्रियाओंमें हानि नहीं होती, स्वाध्याय ध्यान वगैरहमें आलस्य नहीं सताता, वात, पित्त और कफ शान्त रहते हैं, तथा निद्रापर विजय प्राप्त होती है ॥ ४४३ ॥ **अर्थ**–जो मुनि कीर्तिके लिये तथा मिष्ट भोजनकी प्राप्तिके लिये मायाचारसे अल्प भोजन करता है उसका अवमोदर्य तप निष्फल है ॥ **भावार्थ**–थोड़ा भोजन करनेसे लोग मेरी प्रशंसा करेंगे, पूजा करेंगे, मुझे लड्डू आदि अनेक प्रकारके मिष्टान्न खिलायेंगे, ऐसा विचार कर लोगोंको ठगनेके लिये जो मुनि अल्प भोजन करता है उसका अल्प भोजन करना निरर्थक है, वह अवमोदर्य नामका तप नहीं है ॥ ४४४ ॥ आगे वृत्तिपरिसंख्यान तपको कहते हैं। **अर्थ**–जो मुनि आहारके लिये जानेसे पहले अपने मनमें ऐसा संकल्प कर लेता है कि आज एक घर या दो घर तक

---

१ ब मायाये मिट्ठभक्खलाहट्ठं, ल ग मिट्ठिभिक्खलाहिट्ठं, म लाहिट्ठं, स मिट्ठिभिक्ख। २ ब एयादि, स एमादि। ३ ल ग किंवा। ४ ब तओ।

रसरुधिरमांसशोषणद्वारेणेन्द्रियसंयमं परिपालयतो भिक्षार्थिनो मुनेः एकगृहसप्तगृहैकमार्गार्धदायकभाजनभोजनादिविषयः संकल्पो वृत्तिः परिसंख्यानम्, आशानिवृत्त्यर्थं वा, गृहदायकभोजनकालादीनां परिसंख्यानपूर्वकोऽवग्रहो नियमः वृत्तिः। आहारादौ प्रवर्तनं तस्याः प्रमाणं संख्या मर्यादा, अस्मिन् मार्गे अस्मिन् गृहे अनेन दीयमानं भोज्यं भोक्ष्यामि इत्यादिसंकल्पेन मर्यादा। तस्य कस्य। यः मुनिः भुङ्क्ते अत्ति अश्नाति। किं तत्। भोज्यं आहारम्। कीदृशम्। एकादिगृहप्रमाणम्। एकस्मिन् गृहे द्वयोर्गृहयोः त्रिषु गृहेषु वा इत्यादिप्रमाणं परिसंख्यां मर्यादां विधाय अहम् आहारं भोक्ष्यामि, तदाहं भुंक्ष्ये भोजनं करिष्यामीति। अन्यथा न इत्यादिप्रमाणं यत्र भोज्ये किंवा अथवा संकल्पकल्पितं मनसा संकल्पितं विरसं विगतरसं रसरहितं नीरसम्। किंवत्। पशुवत् यथा हावभावविभ्रमशृङ्गारमण्डितनवयौवनिककामिनी गोः धेनोः तृणखलकर्पासादिकं ददाति। सा गौः अधोमुखेन तृणादिकमत्ति। न तु कामिन्यादिकावलोकनेन प्रयोजनम्। तथा भिक्षुर्भिक्षावलोकनमधोमुखेन करोति, न तु कामिन्यादिकावलोकनेन प्रयोजनं न तु परावरलोकनं गोवत् गोचर्यामार्गेण वा सुस्वादुनिःस्वादुभिक्षां नावलोकते॥ तद्यथा। यत्याचारे। "गोयरपमाण दायगभाजणणाणाविधाण जं गहणं। तह एसणस्स गहणं विविधस्स य वुत्तिपरिसंखा॥" गोचरस्य प्रमाणं गोचरप्रमाणं गृहप्रमाणं एतेषु एकद्वित्रिकादिषु गृहेषु प्रविशामि नान्येषु बहुषु। अस्य गृहस्य परिकरतयावस्थितां भूमिं प्रविशामि न गृहमित्यभिग्रहः। पाटकस्य संख्यां पाटकस्य गृहस्य संख्यां च करोति। दायको दातारः स्त्रियैव तत्रापि बालया युवत्या स्थविरया निरलंकारया ब्राह्मण्या राजपुत्र्या, तथा एवंविधेन पुरुषेण इत्येवमादि-अवग्रहः। भाजनानि एवंभूतेन भाजनेनैवानीतं गृह्णामि सौवर्णेन कांस्यभाजनेन राजतेन मृण्मयेनेत्यादि अभिग्रहः। यन्नानाविधानं नानाकारणं तस्य ग्रहणं स्वीकरणम्। मार्गे गृहाङ्गणे च स्थितोऽहं कोऽपि मां प्रतिगृह्णाति तदाहं तिष्ठामीति। तथा अनशनस्य विविधस्य नानाप्रकारस्य यद्ग्रहणम् अवग्रहोपादानम्। अद्य यवान्नं प्रासुकं भोक्ष्ये नान्यत्। अथवाद्य मण्डकान्

जाऊंगा अथवा नीरस आहार मिलेगा तो आहार ग्रहण करूंगा और वैसा आहार मिलनेपर पशुकी तरह उसे चर लेता है, उस मुनिके वृत्तिपरिसंख्यान तप होता है॥ **भावार्थ–**तपस्वी मुनि धर्म पालनके लिये शरीरकी रक्षा करना आवश्यक समझते हैं, अतः वे शरीरको बनाये रखनेके लिये दिनमें एक बार श्रावकोंके घरकी तरफ जाते हैं और विधिपूर्वक भोजन मिलता है, तो उसे ग्रहण कर लेते हैं। सारांश यह है कि वे भोजनके लिये नहीं जीते किन्तु जीनेके लिये भोजन करते हैं। अतः वे भोजनके लिये जानेसे पहले अपने मनमें अनेक प्रकारके संकल्प कर लेते हैं। जैसे, आज मैं भोजनके लिये एक घर या दो घर ही जाऊंगा, या एक मार्ग तक ही जाऊंगा दूसरा मार्ग नहीं पकडूंगा, या अमुक प्रकारका दाता अथवा अमुक प्रकारका भोजन मिलेगा तो भोजन करूंगा अन्यथा बिना भोजन किये ही लौट आऊंगा। इस प्रकारकी वृत्तिके परिसंख्यान अर्थात् मर्यादाको वृत्तिपरिसंख्यान तप कहते हैं। यह तप भोजनकी आशासे मनको हटानेके लिये किया जाता है। इस तपके धारी मुनि अपने किये हुए संकल्पके अनुसार भोजनके मिलनेपर उसे पशुकी तरह चर जाते हैं। अर्थात् जैसे गौको यदि हावभावसे युक्त, शृङ्गार किये हुए कोई सुन्दर तरुणी घास चारा देती है तो गौ नीचा मुख किये हुए उस चारेको चर जाती है, तरुणीके सौन्दर्यकी ओर नहीं निहारती। वैसे ही साधु भी नीचा मुख किये हुए अपने हस्तपुटमें दिये हुए आहारको खाता है, देनेवालेके सौन्दर्यकी ओर अथवा भोजनके स्वादकी ओर ध्यान नहीं देता। यत्याचारमें कहा भी है–'घरोंका प्रमाण करना कि मैं भोजनके लिये एक या दो या तीन आदि घर जाऊंगा, इससे अधिक घरोंमें नहीं जाऊंगा। भोजन देनेवाले दाताका प्रमाण करना कि भोजन देनेवाला पुरुष अथवा स्त्री अमुक प्रकारकी होगी तो भोजन करूंगा अन्यथा नहीं करूंगा। भोजनका प्रमाण करना कि अमुक प्रकारके पात्रमें लाये हुए भोजनको ही ग्रहण करूंगा।

भोक्ष्ये, ओदनं वा ग्रहीष्यामि, शाकान्नमिदं मिलिष्यति तदा भोक्ष्ये नान्यत्, चणकवल्लमुद्गमाषमसूरिकादीनि अन्नानि भक्षयामीति नान्यत्, यदेवमाद्यवग्रहं तत्सर्वं वृत्तिपरिसंख्यानमिति। तथा। "पत्तस्य दायगस्स य अवग्गहो बहुविहो समत्तीए। इच्चेवमादिविधिणा णादव्वा वुत्तिपरिसंखा॥" इति ॥ ४४५ ॥ अथ रसपरित्यागं तपोविधानमाह–

संसार-दुक्ख-तट्ठो विस-सम-विसयं[1] विचिंतमाणो[2] जो।
णीरस-भोज्जं भुंजइ रस-चाओ तस्स सुविसुद्धो ॥ ४४६ ॥

[छाया–संसारदुःखत्रस्तः विषसमविषयं विचिन्तयन् यः। नीरसभोज्यं भुङ्क्ते रसत्यागः तस्य सुविशुद्धः ॥] तस्य भिक्षोः रसत्यागः स्वशरीरेन्द्रियरागादिवृद्धिकरदुग्धदधिघृतगुडतैलादिरसानां त्यागः त्यजनं रसपरित्यागः, स्वाभिलषितस्निग्धमधुराम्लकटुकादिरसपरिहारो वा रसत्यागः। घृतादिरसानां क्रमेण युगपद्वा त्यजनं चतुर्थं रसपरित्यागाख्यं तपो भवेत्। कथंभूतो रसत्यागः। सुविशुद्धः मिश्रादिदोषरहितः। तस्य कस्य। यः भिक्षुः भुङ्क्ते अत्ति अश्नाति जेमति। किं तत्। नीरसं भोज्यं रसरहितं भोजनमाहारं दुग्धदधिघृततैलेक्षुरसलवणरहितं भोज्यम्। घृतपूरलड्डुकखाद्यादिरहितं रससंसृष्टसूपापूपशाकपाकपक्वान्नवटकमण्डकादिरहितं तिक्तकटुकषायाम्लमधुररसरहितं च भोजनं भुङ्क्ते। उक्तं च मूलाचारे। "खीरदधिसप्पितेलं गुडलवणाणं च जं परिच्चयणं। तित्तकडुकसायंबिलमधुररसाणं च जं चयणं॥" इति। कीदृग्विधो भिक्षुः सन्। संसारदुःखत्रस्तः चतुर्गतिलक्षणसंसारदुःखात् त्रासं संत्रासं भयं गच्छन् पञ्चसंसारदुःखेभ्यः भीरुः कातरः कम्पितदेहो वा। अपि पुनः किंभूतः साधुः। विषसमविषयं विचिन्तयन् हालाहलतालकूटविषसदृशपञ्चेन्द्रियाणां सप्तविंशतिविषयान् चिन्तयन् स्मरन्। रसपरित्यागिना तपस्विना तर्हि कीदृशं भोजनं भोक्तव्यम्। "अरसं च अण्णवेलाकदं च सुद्धोदणं च लुक्खं च। आयबिलमायामोदणं च विगडोदणं चेव॥" अरसं स्वादरहितम्, अन्यवेलाकृतं वेलान्तरकृतं शीतलान्नम् शुद्धोदनं केनचित् अमिश्रम्, रूक्षं स्निग्धतारहितम् आचाम्लमसंस्कृतगौवीरमिश्रम्, आचाम्लोदनं अप्रचुरजलं सिक्थाढ्यं केचिद्वदन्ति। अवस्रावणसहितं इत्यन्ये। विगडोदनम् अतीव तीव्रपक्वम् उष्णोदकसन्मिश्रान्नम् इत्यपरे। तत् किमर्थं रसत्यागः। दान्तेन्द्रियत्वं तेजोहानिः संयमः अतिचारादिदोषनिवृत्तिरित्येवमाद्यर्थम् ॥ ४४६ ॥ अथ विविक्तशय्यासनं तपश्चरणं गाथात्रयेण प्राह–

तथा भोज्यका प्रमाण करना कि आज प्रासुक यवान्न मिलेगा तो भोजन करूंगा, अन्यथा नहीं करूंगा, या प्रासुक मांड, या शाक या भात मिलेगा तो भोजन करूंगा, अन्यथा नहीं करूंगा। इस प्रकारके संकल्प करनेको वृत्तिपरिसंख्यान कहते हैं।' संकल्पके अनुसार भोजनका योग मिलना दैवाधीन है। अतः यह बड़ा कठिन तप है ॥ ४४५ ॥ आगे रसपरित्याग तपको कहते हैं। **अर्थ–**संसारके दुःखोंसे संतप्त जो मुनि इन्द्रियोंके विषयोंको विषके समान मानकर नीरस भोजन करता है उसके निर्मल रस परित्याग तप होता है ॥ **भावार्थ–**शरीर और इन्द्रियोंमें रागादिको बढ़ाने वाले घी, दूध, दही, गुड़, तैल आदि रसोंके त्यागको रस परित्याग कहते हैं। अथवा अपनेको अच्छे लगनेवाले स्निग्ध, मधुर, खट्टा, कडुआ आदि रसोंके त्यागको रसपरित्याग कहते हैं। इन रसोंका त्याग क्रमसे अथवा एक साथ किया जाता है। मूलाचारमें कहा है–'दूध, दही, घी, तेल, गुड़, और नमकका छोड़ना अथवा तीता, कडुआ, कसैला खट्टा, और मीठा रसका छोड़ना रसपरित्याग है ॥' रसपरित्यागसे इन्द्रियोंका दमन होता है, क्यों कि सभी रस मादक और उत्तेजक होते हैं। इसीसे साधुको कैसा भोजन करना चाहिये यह बतलाते हुए लिखा है–जो नीरस हो, तुरंतका बनाया हुआ गर्मागर्म न हो अर्थात् शीतल होगया हो, दालभात या दालरोटी इस तरह मिला हुआ न हो, अकेला भात हो, अकेली रोटी हो, अकेली दाल या अकेला शाक हो, रूखा हो, आचाम्ल (माड़िया) हो या आचाम्ल ओदन (गर्म पानीमें मिले हुए खूब पके चावल) हो इस तरहका भोजन साधुके लिये करने योग्य है ॥४४६॥

---

१ स विसप। २ ब विसयं पि चिंतमाणो।

जो राय-दोस-हेदू[1] आसण-सिज्जादियं परिच्चयइ ।
अप्पा णिव्विसय सया तस्स तवो पंचमो परमो ॥ ४४७ ॥

[छाया-यः रागद्वेषहेतुः आसनशय्यादिकं परित्यजति । आत्मा निर्विषय. सदा तस्य तपः पञ्चमं परमम् ॥] तस्य निर्ग्रन्थस्य पञ्चमं विविक्तशय्यासनाख्यं तपश्चरणं स्यात् । कीदृक्षं पञ्चमं तपः । परमं परमकाष्ठां प्राप्तं परमोत्कृष्टम् । तस्य कस्य । यः साधुः आसनशय्यादिकं सदा परित्यजति । आसनं सिंहासनपट्टपीठचक्कलादिकम्, शय्या शयनं मञ्चकपल्यङ्ककाष्ठफलादिकम् । आदिशब्दात् तृणपाषाणशिलादिशयनस्थानम् । कीदृक्षम् आसनशय्यादिकं रागद्वेषहेतुकं रागः रतिः प्रेम स्नेहः, द्वेषः अरतिः अप्रेम इति रागद्वेषयोः कारणं शयनासनादिकं त्यजति, रागद्वेषकारणं वसत्यादिकमुत्पादादिदोषसहितं परिहरति । कीदृशो मुनिः । निर्विषयः आत्मविषयेभ्यः पञ्चेन्द्रियार्थेभ्यः अतिक्रान्तः रहितः । आत्मा स्वयं वा ॥ ४४७ ॥

पूयादिसु[2] णिरवेक्खो संसार-सरीर-भोग[3]-णिव्विण्णो ।
अब्भंतर-तव-कुसलो[4] उवसम-सीलो महासंतो[5] ॥ ४४८ ॥
जो णिवसेदि[6] मसाणे वण-गहणे[7] णिज्जणे महाभीमे ।
अण्णत्थ वि एयंते[8] तस्स वि एदं तवं होदि ॥ ४४९ ॥[9]

[छाया-पूजादिषु निरपेक्षः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः । आभ्यन्तरतपःकुशलः उपशमशीलः महाशान्तः ॥ यः निवसति श्मशाने वनगहने निर्जने महाभीमे । अन्यत्र अपि एकान्ते तस्य अपि एतत् तपः भवति ॥] युग्मम् । तस्यानगारिणः इदं विविक्तशयनासनाख्यं तपो भवति । तस्य कस्य । यः भिक्षुः पूजादिषु निरपेक्षः पूजाख्यातियशोमहिमालाभादिषु निःस्पृहः दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानरहितः । पुनः कथंभूतः । संसारशरीरभोगनिर्विण्णः, संसारः नरनारकादिचतुर्गतिलक्षणः, शरीरं देहः भोगः युवत्यादिसमुद्भवः इन्द्रियविषयोद्भवः द्वन्द्वः तेभ्यः निर्विण्णः विरक्तः

आगे तीन गाथाओंसे विविक्तशय्यासन नामक तपको कहते हैं । **अर्थ**–जो मुनि राग और द्वेषको उत्पन्न करने वाले आसन शय्या वगैरहका परित्याग करता है, अपने आत्मस्वरूपमें रमता है और इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त रहता है उसके विविक्त शय्यासन नामका पांचवा उत्कृष्ट तप होता है ॥ **भावार्थ**–आसन अर्थात् बैठनेका स्थान और शय्या अर्थात् सोनेका स्थान तथा 'आदि' शब्दसे मल मूत्र करनेका स्थान ऐसा होना चाहिये जहां राग द्वेष उत्पन्न न हो और वीतरागताकी वृद्धि हो । अतः मुनिको विविक्त अर्थात् ऐसे एकान्त स्थानमें बैठना और सोना चाहिये ॥ ४४७ ॥ **अर्थ**–अपनी पूजा महिमाको नहीं चाहने वाला, संसार शरीर और भोगोंसे उदासीन, प्रायश्चित्त आदि अभ्यन्तर तपमें कुशल, शान्त परिणामी, क्षमाशील महा पराक्रमी जो मुनि स्मशानभूमिमें, गहन वनमें, निर्जन महाभयानक स्थानमें अथवा किसी अन्य एकान्त स्थानमें निवास करता है, उसके विविक्त शय्यासन तप होता है ॥ **भावार्थ**–भगवती आराधनामें विविक्त शय्यासन तपका निरूपण करते हुए लिखा है -"जिस वसतिकामें मनको प्रिय अथवा अप्रिय लगने वाले शब्द रस रूप गन्ध और स्पर्शके निमित्तसे अशुभ परिणाम नहीं होते तथा जहां स्वाध्याय और ध्यानमें बाधा नहीं आती वह वसतिका (निवास स्थान) एकान्त कही जाती है ।" "जिसके द्वार बन्द हों अथवा खुले हों, जिसकी भूमि सम हो अथवा विषम हो,

---

१ ब हेऊ । २ ल स ग पूजादिसु, म पुजा० । ३ ब भोय । ४ ब स ग कुशलो । ५ स महासत्तो । ६ ब णिवसेइ । ७ ल म ग गहिणे । ८ ब एयंतं, ल म स (?) ग एअंते । ९ ब युगल ।

वैराग्यं प्राप्तः। नरकादिगतिपु दुःखच्छेदनशूलारोपणकुम्भीपाकपचनक्षुधातृषावेदनोद्वेष्टानिष्टवियोगसंयोगमानसिकादिजं दुःखं वर्तते। शरीरं विनाशि सप्तधातुमयमिति। भोगः रोगगृहं विनाशकारीति चिन्तयन् वैराग्यवान्। पुनः कथंभूतः। अभ्यन्तरतपःकुशलः अभ्यन्तरेपु तपस्सु तपश्चरणेषु प्रायश्चित्तादिषु कुशलः निपुणः निष्णातः दक्षः चतुरः विवेकी। पुनः कीदृक्षः। उपशमशीलः क्रोधमानमायालोभरागद्वेषादीनामुपशमस्वभावः अनुदयस्वरूपः। पुनः कीदृक्। महाशान्तः महान् पूज्यः स चासौ शान्तः क्षमादिपरिणतः, यः एवंभूतः क्षपकः स श्मशाने निवसति पितृवने तिष्ठति। क्व क्व वसति संतिष्ठते। वनगहने महावने गहनारण्ये अन्यत्रापि उद्वसगृहगिरिगुफाकन्दरकोटरादिके। कथंभूते। विविक्ते ध्यानाध्ययनविघ्नकरस्त्रीपशुपाण्डकादिवर्जिते। पुनः कथंभूते स्थाने। महाभीमे महारौद्रे अतिभयानके एवंभूते वासे वसति यः तस्य विविक्तशयनासनतपोविधानं स्यात्। तथा श्रीभगवत्याराधनायां विविक्तशयनासननिरूपणा कथ्यते। "जहिं ण विसोत्तिय अत्थि दु सद्दरसरूवगंधफासेहिं। सज्झायज्झाणवाघादो वा वसधी विवित्ता सा॥" यस्यां वसतौ न विद्यते अशुभपरिणामः। कैः कृत्वा। शब्दरसरूपगन्धस्पर्शैः करणभूतैः मनोज्ञैः अमनोज्ञैर्वा सा विविक्ता वसतिः। स्वाध्यायध्यानयोर्व्याघातो वा नास्ति सा विविक्ता भवति। "वियडाए अवियडाए समविसमाए बहिं च अंतो वा। इत्थिणउंसयपसुवज्जिदाए सीदाए उसिणाए॥" विघटायाम् उद्घाटितद्वारायाम् अविघटितायाम् अनुद्घाटितद्वारायां वा समभूमिसमन्वितायां वा बहिर्भागे अभ्यन्तरे वा स्त्रीभिर्नपुंसकैः पशुभिश्च वर्जितायां वसतौ शीतायाम् उष्णायाम्।

जो बाह्य भागमें हो अथवा अभ्यन्तर भागमें हो, जहां स्त्री नपुंसक और पशु न हों, जो ठंडी हो, अथवा गर्म हो वह वसतिका एकान्त वसतिका है।" जो वसतिका उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषोंसे रहित है वह एकान्त वसतिका मुनिके योग्य है। उद्गम आदि दोष इस प्रकार हैं–वृक्ष काटना, काटकर लाना, ईंटे पकाना, जमीन खोदना, पत्थर वालु वगैरहसे गड्ढा भरना, जमीन कूटना, कीचड करना, खम्भे खड़े करना, अग्निसे लोहेको तपाकर पीटना, आरासे लकड़ी चीरना, विसोलेसे छीलना, कुल्हाड़ीसे काटना, इत्यादि कार्योंसे छै कायके जीवोंको बाधा देकर जो वसतिका स्वयं बनाई हो अथवा दूसरोंसे बनवाई हो वह वसतिका अधःकर्मके दोषसे युक्त होती है। जितने दीन, अनाथ, कृपण अथवा साधु आयेंगे, अथवा निर्ग्रन्थ मुनि आयेंगे अथवा अन्य तापसी आयेंगे उन सबके लिये यह वसतिका होगी, इस उद्देश्यसे बनाई गई वसतिका उद्देशिक दोषसे युक्त होती है। अपने लिये घर बनवाते समय 'यह कोठरी साधुओं के लिये होगी' ऐसा मन में विचारकर बनवाई गई वसतिका अब्भोब्भव दोषसे युक्त होती है। अपने घरके लिये लायेगये बहुत काष्ठादिमें श्रमणोंके लिये लाये हुए काष्ठादि मिलाकर बनवाई गई वसतिका पूतिक दोषसे युक्त होती है। अन्य साधु अथवा गृहस्थोंके लिये घर बनवाना आरम्भ करने पर पीछे साधुओंके उद्देश्यसे ही काष्ठ आदिका मिश्रण करके बनवाई गई वसतिका मिश्र दोषसे दूषित होती है। अपने लिये बनवाये हुए घर को पीछे संयतोंके लिये दे देनेसे वह घर स्थापित दोषसे दूषित होता है। मुनि इतने दिनोंमें आयेंगे जिस दिन वे आयेंगे उस दिन सब घरको लीप पोतकर स्वच्छ करेंगे ऐसा मनमें संकल्प करके जिस दिन मुनिका आगमन हो उसी दिन वसतिकाको साफ करना पाहुडिग दोष है। मुनिके आगमनसे पहले संस्कारित वसतिका प्रादुष्कृत दोषसे दूषित होती है। जिस घरमें बहुत अंधेरा हो मुनियोंके लिये प्रकाश लानेके निमित्तसे उसकी दीवारमें छेद करना, लकड़ीका पटिया हटाना उसमें दीपक जलाना, यह पादुकार दोष है। खरीदे हुए घरके दो भेद हैं–द्रव्यक्रीत और भावक्रीत। गाय बैल वगैरह सचित्त पदार्थ देकर अथवा गुड़ खांड वगैरह अचित्त पदार्थ देकर खरीदा हुआ मकान द्रव्य-

"उग्गमउप्पादणएसणाविसुद्धाए अक्किरियाए दु । वसदि असंसत्ताए णिप्पहुडियाए सेज्जाए ॥" उद्गमोत्पादनैषणादोषरहितायां वसत्याम् । तत्रोद्गमदोषो निरूप्यते । वृक्षच्छेदनतदानयनम् इष्टिकापाकः भूमिखननं पाषाणसिकतादिभिः पूरणं धरायाः कुट्टनं कर्दमकरणं कीलानां करणमग्निना लोहतापनं कृत्वा प्रताड्य क्रकचैः काष्ठपाटनं परशुभिः छेदनमित्येवमादिव्यापारेण षण्णां जीवनिकायानां बाधां कृत्वा स्वेन वा उत्पादिता अन्येन वा वसतिः आधाकर्मशब्देनोच्यते । १ । यावन्तो दीनानाथकृपणा आगच्छन्ति लिङ्गिनो वा तेषामियमित्युद्दिश्य कृता पाषण्डिनामेवेति वा निर्ग्रन्थानामेवेति सा उद्देसिग-वसतिर्भण्यते । २ । अपवरकं संयतानां भवत्विति विकृतं अज्झोवज्झं । ३ । आत्मनो गृहार्थमानीतैः काष्ठादिभिः सह बहुभिः श्रमणार्थमानीयाल्पेन मिश्रिता यत्र गृहे तत्पूतिकमिति । ४ । पाषण्डिनां गृहस्थानां वा क्रियमाणे गृहे पश्चात् संयतान् उद्दिश्य काष्ठादिमिश्रेण निष्पादितं वेश्म मिश्रम् । ५ । स्वार्थमेव कृतं संयतार्थमिति स्थापितं ठविदं इत्युच्यते । ६ । संयतः स च यावद्भिर्दिनैरागमिष्यति तत्प्रवेशदिने गृहसंस्कारं सकलं करिष्यामः इति चेतसि कृत्वा यत्संस्कारितं वेश्म तत् पाहुडिगं, तदागमानुरोधेन गृहसंस्कारकालापह्रासं कृत्वा वा संस्कारिता वसतिः । ७ । यद्गृहमन्धकारबहुलं तत्र बहुलप्रकाशसंपादनाय यतीनां छिद्रीकृतकुड्यम् अपाकृतफलकं सुविन्यस्तप्रदीपकं वा तत्प्रादुष्कारशब्देन भण्यते । ८ । द्रव्यक्रीतं भावक्रीतमिति द्विविधं क्रीतं वेश्म सचित्तं गोबलीवर्दादिकं दत्त्वा संयतार्थं क्रीतम् अचित्तं वा घृतगुडखण्डादिकं दत्त्वा क्रीतं द्रव्यक्रीतं, विद्यामन्त्रादिदानेन वा क्रीतं भावक्रीतम् । ९ । अल्पमृणं कृत्वा वृद्धिसहितमवृद्धिकं वा गृहीतं संयतेभ्यः पामिच्छं । १० । मदीये वेश्मनि तिष्ठतु भवान् युष्मदीयं तावद्गृहं यतिभ्यः प्रयच्छेति गृहीतं परियट्टं । ११ । कुड्याद्यर्थं कुटीरककटादिकं स्वार्थे

क्रीत है । विद्या मंत्र वगैरह देकर खरीदा हुआ मकान भावक्रीत है । विना व्याजपर अथवा व्याजपर थोड़ासा कर्जा करके मुनियोंके लिये खरीदा हुआ मकान पामिच्छ दोषसे दूषित होता है । आप मेरे घरमें रहें और अपना घर मुनियोंके लिये देदें इस प्रकार से लिया हुआ मकान परिवर्त दोषसे दूषित होता है । अपने घरकी दीवारके लिये जो स्तम्भ आदि तैयार किये हों वह संयतोंके लिये लाना अभ्याहृत नामक दोष है । इस दोषके दो भेद हैं–आचरित और अनाचरित । जो सामग्री दूर देशसे अथवा अन्य ग्रामसे लाई गई हो उसको अनाचरित कहते हैं और जो ऐसी नहीं हो उसे आचरित कहते हैं । ईंट, मिट्टी, बाड़ा, किवाड़ अथवा पत्थरसे ढका हुआ घर खोलकर मुनियोंके लिये देना उद्भिन्न दोष है । नसैनी वगैरहसे चढ़कर 'आप यहां आईये, यह वसतिका आपके लिये है' ऐसा कहकर संयतोंको दूसरी अथवा तीसरी मंजिल रहनेके लिये देना मालारोह नामका दोष है । राजा मंत्री वगैरहका भय दिखाकर दूसरेका मकान वगैरह मुनियोंके लिये दिलाना अछेद्य नामका दोष है । अनिसृष्ट दोषके दो भेद हैं–जिसे देनेका अधिकार नहीं है ऐसे गृहस्वामीके द्वारा जो वसतिका दी जाती है वह अनिसृष्ट दोषसे दूषित है । और जो वसतिका बालक और पराधीन स्वामीके द्वारा दीजाती है वह भी उक्त दोषसे दूषित है । यह उद्गम दोषोंका निरूपण किया । अब उत्पादन दोषोंका कथन करते हैं । धायके काम पांच हैं । कोई धाय बालकको स्नान कराती है, कोई उसको आभूषण पहनाती है, कोई उसका मन खेलसे प्रसन्न करती है, कोई उसको भोजन कराती है, और कोई उसको सुलाती है । इन पांच धात्री कर्मोंमेंसे किसी कामका गृहस्थको उपदेश देकर उससे वसतिका प्राप्त करना धात्रीदोष है । अन्य ग्राम, अन्य नगर, देश, देशान्तरके समाचार कह कर प्राप्त की गई वसतिका दूतकर्म दोषसे दूषित है । अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न, भौम, स्वप्न और अन्तरिक्ष ये आठ महानिमित्त हैं । इन आठ महानिमित्तोंके द्वारा शुभाशुभ फल बतलाकर प्राप्त की गई वसतिका निमित्त दोषसे दूषित है । अपनी जाति, कुल, ऐश्वर्य, वगैरहका माहात्म्य बत-

निष्पन्नमेव यत् संयतार्थमानीतं तद् अब्भाहिडं इति । तद्विविधम् । दूरदेशाद्ग्रामान्तराद्वा आनीतम् अनाचरितम्, इतरदाचरितम् । १२ । इष्टिकादिभिः मृत्पिण्डेन वृत्या कवाटेनोपलेन वा स्थगितम् अपनीय दीयते यत्तदुद्भिन्नम् । १३ । [निश्रेण्यादिभिरारुह्य इत आगच्छत युष्माकमियं वसतिरिति या दीयते द्वितीया तृतीया वा भूमिः सा मालारोहमित्युच्यते । १४] राजामात्यादिभिर्भयमुपदर्श्य परकीयं यद्दीयते तत् अच्छेज्जं इति । १५ । अनिसृष्टं द्वेधा गृहस्वामिना अनियुक्तेन या दीयते यदस्वामिनापि बालेन परवशवर्तिना दीयते द्विविधमनिसृष्टमिति । १६ । उत्पादनदोषो निरूप्यते । पञ्चविधानां धात्रीकर्मणाम् अन्यतमेनोत्पादिता वसतिः, कश्चिद्दारकं स्नपयति भूषयति क्रीडयति आशयति स्वापयति वा वसत्यर्थमेवमुत्पादितवसतिर्धात्रीदोषदुष्टा । १ । ग्रामान्तरात नगरान्तराच्च देशात अन्यदेशतो वा संबन्धिनां वार्ताम् अभिधायोत्पादिता दूतकर्मोत्पादिता । २ । अङ्गं १ स्वरो २ व्यञ्जनं ३ लक्षणं ४ छिन्नं ५ भौमं ६ स्वप्नः ७ अन्तरिक्षमिति एवंभूतनिमित्तोपदेशेन लब्धा वसतिर्निमित्तदोषदुष्टा । ३ । आत्मनो जातिं कुलमैश्वर्यं वाऽभिधाय स्वमाहात्म्यप्रकटनेनोत्पादिता वसतिराजीवशब्देनोच्यते । ४ । भगवन् सर्वेषामाहारदानात् वा वसतिदानाच्च पुण्यं किमु महदुपजायते इति पृष्टे न भवतीत्युक्ते [गृहिजनः प्रतिकूलवचनरुष्टो वसतिं न प्रयच्छेदिति एवमिति] तदनुकूलमुक्त्वा या उत्पादिता सा [वणिवग-शब्देनोच्यते] । ५ । अष्टविधया चिकित्सया लब्धा चिकित्सोत्पादिता । ६ । क्रोध [-मानमायालोभ-] उत्पादिताः च । ७-१० । गच्छतामागच्छतां च यतीनां भवदीयमेव गृहमाश्रयः [इतीयं वार्ता दूरादेवास्माभि. श्रुतेति पूर्वं स्तुत्वा या लब्धा सा पूर्वसंस्तवदुष्टा । गमनोत्तरकालं च गच्छन्प्रशंसां करोति पुनरपि वसतिं लप्स्ये इति यत्प्रशंसति [मन्त्रेण, चूर्णेन, योगेन, मूलकर्मणा । सा पश्चात्संस्तव-] दोषदुष्टा । १३ । विद्यया मन्त्रादिना गृहिणं वशे स्थापयित्वा लब्धा वसतिः अभिहितदोषा । १२-१६ । एषणादोषान् एवं जानीहि । किम् इयं योग्या वसतिर्नेति शङ्किता । १ । तदानीमेव सिक्ता लिप्ता वा म्रक्षितदोषः । २ । सचित्तपृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिबीजानां त्रसानाम् उपरि स्थापितं पीठफलकादिकम्, अत्र मया शय्या कर्तव्या या दीयते वसतिः सा निक्षिप्ता । ३ । सचित्तमृत्तिकापिधानमपाकृष्य या दीयते सा पिहिता । ४ । काष्ठादिकाकर्षणं कुर्वता पुरो यायिना उपदर्शिता वसतिः साहरणा । ५ । मृतजातसूतकयुक्तगृहिजनेन व्याधितेन ग्रथिलेन दीयमाना वसतिर्दायक-

—

लाकर प्राप्त की गई वसतिका आजीवक दोषसे दूषित है। 'भगवन्, सबको आहार दान देनेसे और वसतिकाके दानसे क्या महान् पुण्यकी प्राप्ति नहीं होती?' ऐसा श्रावकका प्रश्न सुनकर श्रावकके अनुकूल उत्तर देकर वसतिका प्राप्त करना वनीपक दोष है। आठ प्रकारकी चिकित्सा करके वसतिका प्राप्त करना चिकित्सा दोष है। क्रोध आदिसे प्राप्त की गई वसतिका क्रोधाद्युत्पादित दोषसे दूषित है। 'आने जानेवाले मुनियोंको आपका ही घर आश्रय है' ऐसी स्तुति करके प्राप्त की गई वसतिका पूर्वस्तुति नामक दोषसे दुष्ट है। वसतिका छोड़ते समय 'आगे भी कभी स्थान मिल सके' इस हेतुसे गृहस्थकी स्तुति करना पश्चात् स्तुति नामक दोष है। विद्या मंत्र वगैरहके प्रयोगसे गृहस्थको वशमें करके वसतिका प्राप्त करना विद्यादि दोष है। भिन्न जातिकी कन्याके साथ सम्बन्ध मिलाकर वसतिका प्राप्त करना अथवा विरक्तोंको अनुरक्त करके उनसे वसतिका प्राप्त करना मूलकर्म दोष है। इस प्रकार ये सोलह उत्पादन दोष हैं। आगे दस एषणा दोष कहते हैं। यह वसतिका योग्य है अथवा नहीं ऐसी शंका जिसमें हो वह वसतिका शंकित दोषसे दुष्ट है। उसी समय लीपी पोती गई या धोई गई वसतिका म्रक्षित दोषसे दूषित है। सचित्त पृथिवी, जल, अग्नि, वनस्पति वगैरह अथवा त्रस जीवोंके ऊपर आसन वगैरह रखकर 'यहां आप विश्राम करें' ऐसा कह कर दी गई वसतिका निक्षिप्त दोषसे दूषित है। सचित मिट्टी वगैरहके आच्छादनको हटाकर दी गई वसतिका पिहित दोषसे दूषित है। लकड़ी वगैरहको घसीट कर ले जाते हुए पुरुषके द्वारा बतलाई गई वसतिका साधारण दोषसे दुष्ट है। मरणके अशौच या जन्मके अशौचसे युक्त गृहस्थके द्वारा अथवा रोगी

दुष्टा । ६ । स्थावरैस्त्रसैः पिपीलिकामत्कुणादिभिः सहितोन्मिश्रा । ७ । अधिकवितस्तिमात्राया भूमेरधिकाया ग्रहणं प्रमाणातिरेकदोषः । ८ । शीतवातातपाद्युपद्रवसहिता वसतिरियं निन्दां कुर्वतो वसनं धूमदोषः । ९ । निर्वाता विशाला नात्युष्णा शोभनेयमिति तत्रानुराग इङ्गालदोषः । एवमेतैरुद्गमादिदोषैरनुपहता वसतिः शुद्धा, तस्याः दुःप्रमार्जनादिसंस्कार-रहितायाः जीवसंभवरहितायाः शय्यारहिताया वसत्याः अन्तर्बहिर्वा वसति यतिः विविक्तशय्यासनरतः । अथ का विविक्ता वसतिरित्यत्राह । "सुण्णघरगिरिगुहारुक्खमूलआगंतुगारदेवकुले । अकदप्पब्भारारामघरादीणि य विवित्ताइं ॥" शून्यं गृहं गिरेर्गुहा वृक्षमूलं आगन्तुकानां वेश्म देवकुलं शिक्षागृहं केनचिदकृतम् अकृतप्राग्भारं कथ्यते । आरामगृहं क्रीडार्थमायातानामावासाय कृतम् एता विविक्ता वसतयः । अत्र वसतेर्दोषाभावमाचष्टे ॥ "कलहो बोलो झंझा वामोहो संकरो ममत्तं च । झाणज्झयणविघादो णत्थि विवित्ताए वसधीए ॥" कलहो ममेदं च वसतिस्तवेदमिति कलहो न केनचित् अन्यजनरहितत्वात्, बोलो शब्दबहुलता, झंझा संक्लेशः, व्यामोहो वैचित्त्यम्, सकरम् अयोग्यैरसंयतैः सह मिश्रणम्, ममत्वं ममेदं नास्ति, ध्यानस्य अध्ययनस्य च व्याघातः । इति विविक्तशयनासनतपोविधानम् ॥ ४४९ ॥ अथ कायक्लेशतपोविधानं प्रतनोति–

दुस्सह-उवसग्ग-जई आतावण-सीय-वाय-खिण्णो वि ।
जो णवि खेदं गच्छदि काय-किलेसो तवो[1] तस्स ॥ ४५० ॥

[छाया–दुस्सहोपसर्गजयी आतापनशीतवातखिन्नः अपि । यः नैव खेदं गच्छति कायक्लेशं तपः तस्य ॥] तस्य निर्ग्रन्थमुनेः कायक्लेशः कायस्य शरीरस्य उपलक्षणात् इन्द्रियादेश्च क्लेशः क्लेशनं दमनं कदर्थनं तपो भवति । तस्य कस्य । यो मुनिः खेदं श्रमं चित्तक्लेशं मानसे खेदखिन्नत्वं नापि गच्छति नैव प्राप्नोति । कीदृग्विधो मुनिः । आतापनशीत-

गृहस्थके द्वारा दी गई वसतिका दायक दोषसे दूषित है। स्थावर जीवों और त्रस जीवोंसे युक्त वसतिका उन्मिश्र दोपसे दूषित है। मुनियोंको जितने वितस्ति प्रमाण जमीन ग्रहण करनी चाहिये उससे अधिक जमीन ग्रहण करना प्रमाणातिरेक दोष है। इस वसतिकामें हवा ठंड या गर्मी वगैरहका उपद्रव है ऐसी बुराई करते हुए वसतिकामें रहना धूम दोष है। यह वसतिका विशाल है, इसमें वायुका उपद्रव नहीं है, यह बहुत अच्छी है, ऐसा मानकर उसके ऊपर राग भाव रखना इंगाल दोष है। इस प्रकार इन उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषोंसे रहित वसतिका मुनियोंके योग्य है। ऐसी वसतिकामें रहनेवाला मुनि विविक्त शय्यासन तपका धारी है ॥ ४४८–४९ ॥ आगे कायक्लेश तपको कहते हैं। **अर्थ–**दुःसह उपसर्गको जीतनेवाला जो मुनि आतापन, शीत वात वगैरहसे पीड़ित होनेपर भी खेदको प्राप्त नहीं होता, उस मुनिके कायक्लेश नामका तप होता है ॥ **भावार्थ–**तपस्वी मुनि ग्रीष्म ऋतुमें दुःसह सूर्यकी किरणोंसे तपे हुए शिलातलोंपर आतापन योग धारण करते हैं। तथा शीत ऋतुमें अर्थात् पौष और माघके महीनेमें नदी समुद्र आदिके किनारे पर अथवा वनके बीचमें किसी खुले हुए स्थानपर योग धारण करते हैं। और वर्षाऋतुमें वृक्षके नीचे योग धारण करते हैं, जहां वर्षा रुक जानेपर भी पत्तोंसे पानी टपकता रहता है और झंझा वायु बहती रहती है। इस तरह गर्मी सर्दी और वर्षा का असह्य कष्ट सहनेपर भी उनका चित्त कभी खिन्न नहीं होता। इसके सिवाय वे देव मनुष्य तिर्यञ्च और अचेतनके द्वारा किये हुए दुःसह उपसर्गोंको और भूख प्यासकी परीषहको भी सहते हैं, उन मुनिके कायक्लेश नामका तप होता है। चारित्रसार आदि ग्रन्थोंमें भी कहा है–वृक्ष के मूलमें ध्यान लगाना, निरभ्र आकाशके नीचे आतापन योग धारण करना, वीरासन, कुक्कुटासन, पर्यङ्कासन आदि अनेक प्रकारके आसन लगाना, अपने शरीरको संकुचित करके शयन करना, ऊपरको मुख

१ ल ग तउ (ओ?)।

वातखिन्नोऽपि आतापनं दुःसहसूर्यकिरणसंतप्तपर्वतशिलातलेषु वैशाखज्येष्ठमासादिषु आतापनम् आतापयोगधारणम् । उक्तं च । 'दिनकरकिरणनिकरसंतप्तशिलानिचयेषु निःस्पृहाः' इत्यादिषु ज्ञेयम् । शीतकाले पौषे माघे च नद्यादिसमुद्रादिकूले वनमध्यस्थचतुष्पथे च हिमभवं शीतम् । तथा अविरतबहलतुहिनकणवारिभिरंघ्रिपपत्रशातनैरित्यादिकं ज्ञेयम् । वर्षाकाले वनमध्यस्थितवृक्षादिमूले झंझावातादिसहनं शिखिगलकज्जलालिमलिनैरित्यादिकं मन्तव्यम् । आतपनं च शीतं च वातश्च आतापनशीतवाताः तैः खिन्नः खेदं प्राप्तः जर्जरीकृतः । अपिशब्दात् अखिन्नः । पुनः कीदृक्षः । दुःसहोपसर्गजयी दुःसहाः दुःखेन महता कष्टेन सह्यन्ते इति दुःसहाः ते च ते उपसर्गाः देवमनुष्यतिर्यगचेतनकृताः, उपलक्षणात् क्षुत्पिपासादयः परीषहाः गृह्यन्ते, तान् दुःसहोपसर्गान् परीषहांश्च जयतीत्येवंशीलः दुःसहोपसर्गजयी । तथा चारित्रसारादौ । वृक्षमूलाभ्रावकाशातापनयोगवीरासनकुक्कुटासनपर्यङ्कासनसंकुञ्चितगात्रशयनउत्तानशयनमकरमुखहस्तिशुण्डमृतकशयनैः एकपार्श्वदण्डधनुःशय्याभिः शरीरपरिखेदः कायक्लेशः । तथा प्रमृष्टस्तम्भादिकमुपाश्रित्य स्थानमूर्ध्वीभवनं स्थापितस्थान निश्चयमवस्थानं कायोत्सर्गः । समौ पादौ कृत्वा स्थानम्, एकेन पादेनावस्थानम्, बाहू प्रसार्यावस्थानम् इत्यादिकैः कायोत्सर्गैः शरीरक्लेशनम् । रात्रौ अशयनम् अस्नानं दन्तानामशोधनम् इत्यादिकायक्लेशनम् । किमर्थं कायक्लेशः । वर्षाशीतातपविसंस्थुलासनविषमशय्यादिषु शुभध्यानपरिचर्यार्थं दुःखोपसहनार्थं विषयसुखभङ्गार्थं शासनप्रभावनाद्यर्थं स्वकायक्लेशानुष्ठानं क्रियते इति एतद्बाह्यं तपः षड्विधं बाह्यजनानां मिथ्यादृष्टीनाम् अपि प्रकटं प्रत्याख्यातम् ॥ ४५० ॥ अथ आभ्यन्तरं षड्विधं तपोविधानं व्याख्यायते । तत्र प्रायश्चित्तं तपो गाथापञ्चकेनाह–

दोसं ण करेदि सयं अण्णं पि ण कारएदि जो तिविहं ।
कुव्वाणं पि ण इच्छदि[1] तस्स विसोही परा[2] होदि ॥ ४५१ ॥

[छाया-दोषं न करोति स्वयम् अन्यम् अपि न कारयति यः त्रिविधम् । कुर्वाणम् अपि न इच्छति तस्य विशुद्धिः परा भवति ॥] तस्य मुनेः तपस्विनः परा विशुद्धिः परा उत्कृष्टा विशुद्धिः निर्मलता प्रायश्चित्तं भवति । तद्यथा । प्रकृष्टो

करके सीधा सोना, मगरके मुखकी तरह या हाथीकी सूंडकी तरह अथवा मुर्देकी तरह या दण्डकी तरह निश्चल शयन करना, एक करवटसे सीधा सोना या धनुषकी तरह शयन करना, इत्यादि प्रकारोंसे शरीरको कष्ट देना कायक्लेश तप है । तथा स्तम्भ वगैरह का आश्रय लेकर खड़े रहना, जहाँ रहे है वहाँ निश्चल खड़े रहना, दोनों पैरोंको समान करके कायोत्सर्ग पूर्वक खड़े रहना, एक पैरसे खड़े रहना या दोनो पैरों या बाहूको फैलाकर खड़े रहना इत्यादि प्रकारके कायोत्सर्गोसे शरीरको कष्ट देना, रात्रिमें शयन न करके ध्यान लगाना, स्नान न करना, दातौन न करना, इन सबको कायक्लेश कहते हैं । वर्षामें, शीतमें, घाममें, पथरीले स्थानमें, ऊंचे नीचे प्रदेशमें भी शुभ ध्यान करनेके लिये, दुःख सहन करनेकी क्षमताके अभ्यासके लिये, विषयसुखसे मनको रोकनेके लिये तथा जिनशासनकी प्रभावना आदिके लिये इस कायक्लेश तपको किया जाता है । इन छै तपोंको बाह्य तप इस लिये कहते है कि बाह्य मिथ्यादृष्टि भी इन तपोंको करते हुए देखे जाते हैं, अथवा अन्य लोगोंको इनका प्रत्यक्ष हो जाता है ॥ ४५० ॥ आगे छै प्रकारके अभ्यन्तर तपका वर्णन करते हुए प्रथम ही पांच गाथाओंसे प्रायश्चित्त तपको कहते है । **अर्थ**–जो तपस्वी मुनि मन वचन कायसे स्वयं दोष नहीं करता, अन्यसे भी दोष नहीं कराता तथा कोई दोष करता हो तो उसे अच्छा नहीं मानता, उस मुनिके उत्कृष्ट विशुद्धि होती है ॥ **भावार्थ**–यहां विशुद्धिसे आशय प्रायश्चित्तसे है । 'प्रायः' का अर्थ है प्रकृष्ट चारित्र । अतः प्रकृष्ट चारित्र जिसके हो उसे भी 'प्रायः' कहते हैं । इस लिये 'प्रायः' माने

१ ब इच्छइ । २ ल म ग परो ।

अयः शुभावहो विधिर्यस्य साधुलोकस्य स प्रायः प्रकृष्टचारित्रः प्रायस्य साधुलोकस्य चित्तं यस्मिन् कर्मणि तत्प्रायश्चित्तम् आत्मशुद्धिकरम् । अथवा प्रगतः प्रणष्टः अयः प्राय अपराधः तस्य चित्तशुद्धिः प्रायश्चित्तमपराधं प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत् तस्य शुद्धिकरं प्रायश्चित्तम् । तथा च प्रायश्चित्तमपराधं प्राप्तः सन् येन तपसा पूर्वकृतात् पापात् विशुध्यते पूर्वव्रतैः संपूर्णो भवतीति प्रायश्चित्तं स्यात् । तस्य कस्य । यः तपस्वी स्वयमात्मना दोषम् अपराधं महाव्रतादिन्यूनताकरणलक्षणं न करोति न विदधाति । अपि पुनः अन्यं परं पुरुषं दोषं व्रतातिचारं न कारयति । दोषं कुर्वाणम् अव्रतातिचारमाचरन्तं न प्रेरयतीत्यर्थः । अपि पुनः अन्यं दोषं कुर्वाणं व्रतातिचारमाचरन्तं न इच्छति न अनुमनुते । मनोवचनकायेन कृतकारितानुमतप्रकारेण व्रतातिचारादिकं दोषमपराधं स्वयं न करोति न कारयति नानुमोदयति ३ । परं प्रेरयित्वा मनसादिकेन न करोति न कारयति नानुमोदयति ३ । अन्यं कुर्वन्तं दृष्ट्वा मनसादिकेन न करोति न कारयति नानुमोदयति ३ । दशप्रकारं प्रायश्चित्तं यत्याचारोक्तमाह । "आलोयणपडिकमणं उभय विवेगो तहा विउस्सग्गो । तव छेदो मूलं पि य परिहारो चेव सद्दहणा ॥" एकान्तनिषण्णाय प्रसन्नचेतसे विज्ञातदोषदेशकालाय सूरये गुरवे तादृशेन शिष्येण विनयसहितं यथा भवत्येवमवञ्चनशीलेन शिशुवत्सरलबुद्धिना आत्मप्रमादप्रकाशनं निवेदनम् आलोचनम् । १ । रात्रिभोजनपरित्यागव्रतसहितपञ्चमहाव्रतोच्चारणं संभावनं दिवसप्रतिक्रमणं पाक्षिकं वा । अथवा निजदोषमुच्चार्योच्चार्य मिथ्या मे दुष्कृतमस्तु इति प्रकटीकृतप्रतिक्रियं प्रतिक्रमणम् । ३ । शुद्धस्याप्यशुद्धत्वेन यत्र संदेहविपर्ययौ भवतः, अशुद्धस्यापि शुद्धत्वेन वा यत्र निश्चयो भवति, तत्र तदुभयम् आलोचनप्रतिक्रमणद्वयं भवति । ३ । यद्वस्तु नियमितं भवति तद्वस्तु चेन्निजभाजने पतति मुखमध्ये वा समायाति यस्मिन् वस्तुनि गृहीते वा कषायादिकम् उत्पद्यते तस्य सर्वस्य वस्तुनः त्यागः क्रियते, तद्विवेकनामप्रायश्चित्तम् ।४। नियतकायस्य वाचो मनसश्च त्यागो व्युत्सर्गः कायोत्सर्गः ।५। उपवासादिपूर्वोक्तं षड्विधं बाह्यं तपः तपोनामप्रायश्चित्तम् । ६ । दिवसपक्षमासादिविभागेन दीक्षाहापनं छेदो नाम प्रायश्चित्तम् । ७ । पुनरद्यप्रभृति व्रतारोपणं मूलप्रायश्चित्तम् । ८ ।

साधु लोग, उनका चित्त जिस काममें हो उसे प्रायश्चित्त कहते हैं । अतः जो आत्माकी विशुद्धि करता है वह प्रायश्चित्त है । अथवा 'प्रायः' माने अपराध, उसकी चित्त अर्थात् शुद्धिको प्रायश्चित्त कहते हैं । सारांश यह है कि जिस तपके द्वारा पहले किये हुए पापकी विशुद्धि होती है अर्थात् पहलेके व्रतोंमें पूर्णता आती है उसे प्रायश्चित्त कहते हैं । इस प्रकार जो मुनि मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे दोष नहीं करता उसके प्रायश्चित्त तप होता है । मुनियोंके आचारमें प्रायश्चित्तके दस भेद कहे हैं, जो इस प्रकार हैं–आलोचन, प्रतिक्रमण, उभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान । एकान्त स्थानमें बैठे हुए, प्रसन्न चित्त, और देश कालको जाननेवाले आचार्यके सामने विनयपूर्वक जाकर, बच्चेकी तरह सरल चित्तसे शिष्यके द्वारा अपना अपराध निवेदन करना आलोचन नामक प्रायश्चित्त है । अपने दोषको यह कह कर 'मेरा यह दोष मिथ्या हो' उस दोषके प्रति अपनी प्रतिक्रियाको प्रकट करना प्रतिक्रमण नामका प्रायश्चित्त है । शुद्ध वस्तुमें भी शुद्धताका सन्देह होनेपर या शुद्धको अशुद्ध अथवा अशुद्धको शुद्ध समझ लेने पर आलोचन और प्रतिक्रमण दोनों किये जाते हैं । इसे उभय प्रायश्चित्त कहते हैं । जो वस्तु त्यागी हुई हो वह वस्तु यदि अपने भोजनमें आजाये अथवा मुखमें चली जाये, तथा जिस वस्तुके ग्रहण करनेपर कषाय वगैरह उत्पन्न होती हो, उन सब वस्तुओंका त्याग किया जाता है । इसे विवेक नामका प्रायश्चित्त कहते हैं । कायोत्सर्ग करनेको व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त कहते हैं । पहले कहे हुए अनशन आदि छै बाह्य तपोंके करनेको तप प्रायश्चित्त कहते है । दिन, पक्ष और मास आदिका विभाग करके मुनिकी दीक्षा छेद देनेको छेद प्रायश्चित्त कहते हैं । पुनः दीक्षा देनेको

दिवसपक्षमामादिविभागेन दूरतः परिवर्जनं परिहारः। अथवा परिहारः द्विप्रकारः। गणप्रतिबद्धो, यत्र प्रश्रवणादिकं कुर्वन्ति मुनयः तत्र तिष्ठति पिच्छिकामग्रतः कृत्वा यतीनां वन्दनां करोति तस्य यतयः प्रतिवन्दनां न कुर्वन्ति। एवं या गणे क्रिया गणप्रतिबद्धः परिहारः। यत्र देशे धर्मो न ज्ञायते[1] तत्र गत्वा मौनेन तपश्चरणानुष्ठानकरणमगणप्रतिबद्धः परिहारः। ९। तथा श्रद्धानं तत्त्वरुचौ परिणामः क्रोधादिपरित्यागो वा श्रद्धानम्। १०। तत्त्वार्थसूत्रे नवमोपस्थापना-प्रायश्चित्तं कथितमस्ति। महाव्रतानां मूलच्छेदनं विधाय पुनरपि दीक्षाप्रापणम् उपस्थापना। एतद्दशप्रकारं प्रायश्चित्तं दोषानुरूपं दातव्यमिति ॥ ४५१ ॥

अह कह[2] वि पमादेण य दोसो जदि एदि तं पि पयडेदि ।
णिद्दोस-साहु-मूले दस-दोस-विवज्जिदो[3] होदुं[4] ॥ ४५२ ॥

[छाया-अथ कथमपि प्रमादेन च दोषः यदि एति तम् अपि प्रकटयति। निर्दोषसाधुमूले दशदोषविवर्जितः भवितुम् ॥] अथ अथवा यदि चेत् कथमपि प्रमादेन पञ्चदशप्रमादप्रकारेण "विकहा तह य कसाया इंदियणिद्दा तहेव पणओ य। चदु चदु पणमेगेगं होंति पमादा हु पण्णरसा ॥" इति। विकथाः ४, कषायाः ४, इन्द्रियाणि ५, निद्रा १, प्रणयः स्नेहः १ इति पञ्चदशप्रकारप्रमादाचरणेन दोषः अपराधः व्रतातिचारादिकः एति आगच्छति प्राप्नोति तमपि दोषं व्रतातिचारादिकं प्रकट-यति प्रकटीकरोति। क्व। निर्दोषसाधुमूले निर्दोषा यथोक्ताचारचारिणः साधवः सूरिपाठकमुनयः निर्दोषाश्च ते साधवश्च निर्दोषसाधवः तेषां साधूनां सूरिप्रमुखाणां मूले पादमूले तदग्रे इत्यर्थः। किं कर्तुम्। होदु भवितु दशदोषवर्जितः भूत्वा, दोषाः आकम्पितादयः दश ते च दोषाश्च दशदोषाः तैर्वर्जितो भूत्वा। उक्तं च भगवत्याराधनायाम्। दशदोषरहित-मालोचनं कर्तव्यम्। "आकंपिय १ अणुमाणिय २ जं दिट्ठं ३ बादरं ४ च सुहुमं च ५। छण्णं ६ सद्दाउलयं ७ बहुजण

मूल प्रायश्चित्त कहते हैं। कुछ दिन, कुछ पक्ष या कुछ मासके लिये मुनिको संघसे पृथक् कर देनेको परिहार प्रायश्चित्त कहते हैं। अथवा परिहारके दो भेद हैं–गणप्रतिबद्ध और अगण प्रतिबद्ध। पीछी आगे करके मुनियोंकी वन्दना करनेपर मुनिगण उसे प्रतिवन्दना नहीं करते। यह गणप्रतिबद्धपरिहार प्रायश्चित्त है। जहां आचार्य आज्ञा दें वहां जाकर मौनपूर्वक तपश्चरण करना अगणप्रतिबद्धपरिहार प्रायश्चित्त है। तत्त्वोंमें रुचि होना अथवा क्रोध आदिका छोड़ना श्रद्धान प्रायश्चित्त है। तत्त्वार्थसूत्रके नौवें अध्यायमें श्रद्धानके स्थानमें उपस्थापना भेद गिनाया है। और उसका लक्षण मूल प्रायश्चित्तके समान है। अर्थात् महाव्रतोंका मूलसे उच्छेद करके फिरसे दीक्षा देना उपस्थापना प्रायश्चित्त है। यह दस प्रकार का प्रायश्चित्त (तत्त्वार्थसूत्रमें प्रायश्चित्तके नौ ही प्रकार बतलाये है) दोषके अनुसार देना चाहिये ॥ ४५१ ॥ **अर्थ**–अथवा किसी प्रकार प्रमादके वशीभूत होकर अपने चारित्रमें यदि दोष आया हो तो निर्दोष आचार्य, उपाध्याय अथवा साधुओंके आगे दस दोषोंसे रहित होकर अपने दोषको प्रकट करे ॥ **भावार्थ**–पांच इन्द्रियां, चार विकथा (स्त्रीकथा, भोजनकथा, देशकथा, राजकथा), चार कषाय, एक निद्रा और एक स्नेह ये पन्द्रह प्रमाद हैं। इन प्रमादों के कारण साधुके आचारमें यदि दोष लगता है तो साधु अपने से बड़े साधुओंके सामने अपने दोषकी आलोचना करता है। भगवती आराधनामें भी कहा है कि आलोचना दस दोषोंसे रहित होनी चाहिये। आलोचनाके दस दोष इस प्रकार कहे हैं–आकम्पित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, प्रच्छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवी। आचार्यको उपकरण आदि देकर उनकी अपने ऊपर करुणा उत्पन्न करके आलोचना करना अर्थात् उपकरण

१ आदर्शे तु 'धर्मोऽनुज्ञायते'। २ ब कहव। ३ ब दसदोसविवज्जिउ। ४ ब होदि (?)।

८ अव्वत्त ९ तस्सेवी १० ॥" आकम्पितमुपकरणादिदानेन गुरोरनुकम्पामुत्पाद्य आलोचयति । १ । अनुमानितं वचनेनानुमान्यं वा आलोचयति । २ । यद्दृष्टं यल्लोकैर्दृष्टं तदेवालोचयति । ३ । बादरं च स्थूलदोषमेवालोचयति । ४ । सूक्ष्मम् अल्पमेव दोषमालोचयति । ५ । छन्नं केनचित्पुरुषेण निजदोषः प्रकाशितः भगवन् यादृशो दोषोऽनेन प्रकाशितस्तादृशो दोषो ममापि वर्तते इति प्रच्छन्नमालोचयति । ६ । शब्दाकुलं यथा भवत्येवं यथा गुरुरपि न शृणोति तादृशे कोलाहलमध्ये आलोचयति । ७ । बहुजनं बहून् गुरुजनान् प्रत्यालोचयति । ८ । अव्यक्तम् अव्यक्तस्य अप्रबुद्धस्य गुरोरग्रे आलोचयति । ९ । तस्सेवी यो गुरुस्तं दोषं सेवते तदग्रे आलोचयति । १० । ईदृग्विधमालोचनं यदि पुरुष आलोचयति तदा एको गुरुः एकः आलोचकः पुमान् स्त्री चेदालोचयति तदा चन्द्रसूर्यादिप्रकाशे एको गुरुः द्वे स्त्रियौ अथवा द्वौ गुरू एका स्त्रीति । प्रायश्चित्तमकुर्वतः पुंसः महदपि तपोऽभिप्रेतफलप्रदं न भवति ॥ अथ प्रायश्चित्तकरणे आचार्यमपृष्ट्वा आतापनादिकरणे आलोचना भवति, पुस्तकपिच्छादिपरोपकरणग्रहणे आलोचना, परोक्षे प्रमादतः आचार्यादिवचनाकरणे आलोचना, आचार्यमपृष्ट्वाचार्यप्रयोजनेन गत्वा आगमनेन आलोचना, परसंघमपृष्ट्वा स्वसंघागमने आलोचना, देशकालनियमेन अवश्यकर्तव्यस्य व्रतविशेषस्य धर्मकथाप्रसंगेन विस्मरणे सति पुनः करणे आलोचना स्यात । षड्इन्द्रियेषु वचनादिदुःपरिणामे

भेंट करनेसे प्रसन्न होकर आचार्य मुझे थोड़ा प्रायश्चित्त देंगे ऐसा सोचकर आलोचना करना आकम्पित दोष है। गुरु थोड़ासा प्रायश्चित्त देकर मेरे ऊपर अनुग्रह करेंगे ऐसा अनुमान करके फिर आलोचना करना अनुमानित नामका दोष है। जो अपराध दूसरोंने देख लिया हो उसे तो कहे और जिस अपराधको करते हुए किसीने न देखा हो उसे न कहे, यह दृष्ट दोष है। स्थूल दोष तो कहे किन्तु सूक्ष्म दोषको न कहे, यह बादर दोष है। सूक्ष्म दोष ही कहे और स्थूल दोषको न कहे यह सूक्ष्म नामका दोष है। किसी साधुको अपना दोष कहते सुनकर आचार्यसे यह कहना कि 'भगवन् जैसा दोष इसने कहा है वैसाही दोष मेरा भी है' और अपने दोषको मुखसे न कहना प्रच्छन्न दोष है। कोई दूसरा न सुने इस अभिप्रायसे जब बहुत कोलाहल होरहा हो तब दोष को प्रकट करना शब्दाकुलित दोष है। अपने गुरुके सामने आलोचना करके पुनः अन्य गुरुके पास इस अभिप्रायसे आलोचना करना कि इस अपराधका प्रायश्चित्त ठीक है या नहीं, बहुजन नामा दोष है। जिस मुनिको आगमका ज्ञान नहीं है और जिसका चारित्र भी श्रेष्ठ नहीं है ऐसे मुनिके सामने आलोचना करना अव्यक्त नामका दोष है। जो गुरु स्वयं दोषी है उसके सामने अपने दोषोंकी आलोचना करना तत्सेवी नामक दोष है। इस प्रकार इन दोषोंसे रहित आलोचना करनेवाला यदि पुरुष हो तो एक गुरु और एक अलोचना करनेवाला पुरुष ये दो होना जरूरी हैं। और यदि आलोचना करनेवाली स्त्री हो तो चन्द्र सूर्य वगैरहके प्रकाशमें एक गुरु और दो स्त्रियां अथवा दो गुरु और एक स्त्री होना जरूरी है। जो साधु अपने दोषोंका प्रायश्चित्त नहीं करता उसकी बड़ी भारी तपस्या भी इष्ट फल दायक नहीं होती। यहां कुछ दोषोंका प्रायश्चित्त बतलाते हैं–पुस्तक पीछी आदि पराये उपकरणोंको लेलेने पर आलोचना प्रायश्चित्त होता है। प्रमादवश आचार्य वचनोंका पालन न करनेपर आलोचना प्रायश्चित्त होता है। आचार्यसे विना पूछे आचार्यके कामसे जाकर लौट आनेपर आलोचना प्रायश्चित्त होता है। पर संघसे विना पूछे अपने संघमें चले आनेपर आलोचना प्रायश्चित्त होता है। देश और कालके नियमसे अवश्य करने योग्य किसी विशेष व्रतको, धर्मकथामें लग जानेसे भूल जानेपर यदि बादको कर लिया हो तो आलोचना प्रायश्चित्त होता है। षट्कायके जीवोंके प्रति यदि कठोर वचन निकल गया हो तो प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त होता है।

१ लम किमु बहुवं वा, (स बहुवं य), ग थोवि किमु बहुव वा।

प्रतिक्रमणम्, पैशून्यकलहादिकरणे प्रतिक्रमणम्, वैयावृत्त्यस्वाध्यायातिप्रमादे प्रतिक्रमणम्, आचार्यादिषु हस्तपादादिसंघट्टने प्रतिक्रमणम्, व्रतसमितिगुप्तिषु स्वल्पातिचारे प्रतिक्रमणम्, गोचरगतस्य मुनेः लिङ्गोत्थाने प्रतिक्रमणम्, परसंक्लेशकरणादौ च प्रतिक्रमणम्। दिवसरात्र्यन्ते भोजनगमनादौ आलोचनाप्रतिक्रमणद्वयम्, लोचनखच्छेदस्वप्नमैथुनाचरणरात्रिभोजनेषु उभयम्, पक्षमासचतुर्मासंसंवत्सरादिदोषादौ च उभयम्। मौनादिना विना लोचनविधाने व्युत्सर्गः, हरिततृणोपरि गमने व्युत्सर्गः, कर्दमोपरि गमने व्युत्सर्गः, उदरकृमिनिर्गमने व्युत्सर्गः, हिमदंशमशकादिवातादिरोमाञ्चे व्युत्सर्गः, आर्द्रभूम्युपरि गमने व्युत्सर्गः, जानुमात्रजलप्रवेशे व्युत्सर्गः, परनिमित्तवस्तुनः स्वोपयोगविधाने व्युत्सर्गः, नावादिनदीतरणे व्युत्सर्गः, पुस्तकपतने व्युत्सर्गः, प्रतिमापतने व्युत्सर्गः, पञ्चस्थावरविघातादृष्टदेशतनुमलविसर्गादिषु व्युत्सर्गः, पक्षादिप्रतिक्रमण-क्रियान्तरव्याख्यानप्रवृत्त्यादिषु व्युत्सर्गः, उच्चारप्रस्रवणादिषु व्युत्सर्गः। एवमुपवासच्छेदमूलपरिहारादिकरणं ग्रन्थतो ज्ञेयम् ॥ ४५२ ॥

जं किं पि तेण दिण्णं तं सव्वं सो करेदि सद्धाए।
णो पुणु हियए संकदि किं थोवं किं पि बहुयं वा[1] ॥ ४५३ ॥

[छाया-यत् किमपि तेन दत्तं तत् सर्वं स करोति श्रद्धया। नो पुनः हृदये शङ्कते किं स्तोकं किमपि बहुकं वा ॥] यत् किमपि प्रायश्चित्तम् आलोचनाप्रतिक्रमणादिदशभेदभिन्नं तेन श्रीगुरुणा दत्तं वितारितम् अर्पितं तत्सर्वं प्रायश्चित्तम् आलोचनादशभेदभिन्नं स साधुः तपस्वी मुमुक्षुः करोति विदधाति, सर्वं प्रायश्चित्तं श्रद्धया रुचिरूपेण अन्तःकरणभावनया करोति। पुनः हृदये स्वमनसि न शङ्कते शङ्कां संदेहं न करोति। मम प्रायश्चित्तं श्रीगुरुणा स्तोकं स्वल्पं दत्तं, वा अथवा, किं बहुतरं प्रचुरं दत्तम् इति नाशङ्कते ॥ ४५३ ॥

पुणरवि काउं णेच्छदि[1] तं दोसं जइ वि जाइ सयं-खंडं।
एवं णिच्छय-सहिदो पायच्छित्तं तवो होदि[2] ॥ ४५४ ॥

[छाया-पुनः अपि कर्तुं न इच्छति तं दोषं यद्यपि याति शतखण्डम्। एवं निश्चयसहितः प्रायश्चित्तं तपः भवति।] एवं पूर्वोक्तप्रकारेण प्रायश्चित्तं प्रायश्चित्ताख्यमाभ्यन्तरं तपो भवति। एवं कथम्। यः निश्चयसहितः जिनधर्मे जिनवचने च

किसीकी चुगली करनेपर या किसीसे कलह करने पर प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त होता है। वैयावृत्य स्वाध्याय वगैरहमें आलस्य करनेपर प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त होता है। आचार्य वगैरहसे हाथ पैरके टकरा जानेपर प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त होता है। व्रत समिति गुप्ति वगैरहमें स्वल्प अतिचार लगनेपर, गोचरीके लिये जाते समय लिंगमें विकार आजानेपर और दूसरोंको संक्लेश पैदा करनेपर प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त होता है। दिन या रात्रिके अन्तमें गमनागमन करनेपर, स्वप्नमें मैथुन सेवन या रात्रि-भोजन करनेपर और पाक्षिक मासिक चातुर्मासिक तथा वार्षिक दोष वगैरहमें उभय (आलोचना और प्रतिक्रमण) प्रायश्चित्त होता है। विना मौन पूर्वक आलोचन करनेपर, हरे तृणोंके ऊपर चलने पर, कीचड़मेंसे जानेपर, पेटमेंसे कीड़े निकलने पर, शीत मच्छर वायु वगैरहके कारण रोमांच हो आनेपर, घुटनेतक जलमें प्रवेश करनेपर, दूसरेके लिये आई हुई वस्तुका अपने लिये उपयोग करनेपर, नौका आदिके द्वारा नदी पार करनेपर, प्रतिक्रमण करते समय व्याख्यान आदि प्रवृत्तियोंमें लग जानेपर या मल मूत्र करनेपर व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त होता है। इसी प्रकार उपवास, छेद, मूल, परिहार आदि प्रायश्चित्तोंकी विधि अन्य ग्रन्थोंसे जाननी चाहिये ॥ ४५२ ॥ **अर्थ**–दोषकी आलोचना करनेके पश्चात् आचार्यने जो प्रायश्चित्त दिया हो उस सबको श्रद्धा पूर्वक करना चाहिये। और हृदय

१ ब णेच्छदि (?), लमस णिच्छदि, ग णच्छदि। २ ग सइ। ३ ब होंति।

निश्चयः प्रतीतः विश्वासः तेन सहितः युक्तः मुनिः श्रावको वा पुनरपि एकवारं दोषनिराकरणे कृते पुनः तं दोषं कर्तुं न इच्छति, न अपराधं व्रतातिचारादिकं विधातुं न वाञ्छति ईहते नैव। यद्यपि स्वयं शतखण्डं याति परीषहैः उपसर्गैः व्याधिभिः शरीरं शतधा खण्डतां याति तथापि तं दोषं कर्तुं न इच्छति ॥ ४५४ ॥

जो चिंतइ अप्पाणं णाण-सरूवं पुणो पुणो णाणी ।
विकहा-विरत्त-चित्तो[1] पायच्छित्तं वरं[2] तस्स ॥ ४५५ ॥

[छाया-यः चिन्तयति आत्मानं ज्ञानस्वरूपं पुनः पुनः ज्ञानी। विकथाविरक्तचित्तः प्रायश्चित्तं वरं तस्य ॥] तस्य मुनेः श्रावकस्य वा प्रायश्चित्तं वरं श्रेष्ठं तपो भवति। तस्य कस्य। यः ज्ञानी भेदाभेदरत्नत्रयविज्ञानी भेदविज्ञानसंपन्नः चिन्तयति ध्यायति। कम्। कर्मतापन्नं पुनःपुनः वारंवारं मुहुर्मुहुः आत्मानं स्वपरमात्मानं शुद्धचिद्रूपम्। कीदृक्षम्। ज्ञानस्वरूपं शुद्धबोधमयं केवलज्ञानदर्शनमयम्। कीदृक् सन्। विकथादिविरक्तमनाः विरूपकथाकथनं विकथा, स्त्रीभोजनराजचोरादिकथाक्रोधमानमायालोभस्पर्शनादीन्द्रियनिद्रास्नेहाः तेभ्यः विरक्तं निवृत्तं मनः चित्तं यस्य स तथोक्तः। पञ्चदशबाह्याभ्यन्तरप्रमादरहितः सार्धसप्तत्रिंशत्सहस्रप्रमादविरतो वा आत्मनः परा उत्कृष्टा विशोधनाय यथा स्यादित्येवमर्थः। स्वसाक्षिका परसाक्षिका च विशुद्धिरुत्कृष्टेति मन्यते। प्रायः इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत्, चित्तशुद्धिकरं कर्म प्रायश्चित्तमिति। प्रायश्चित्तफलं भावप्रसादनम् अनवस्थाया अभावः शल्यपरिहरणं धर्मदार्ढ्यादिकं च वेदितव्यम् ॥ ४५५ ॥ अथ विनयतपो गाथात्रयेण विवृणोति-

विणओ[3] पंच-पयारो दंसण-णाणे तहा चरित्ते य ।
बारस-भेयम्मि तवे उवयारो[4] बहु-विहो णेओ ॥ ४५६ ॥

[छाया-विनयः पञ्चप्रकारः दर्शन-ज्ञाने तथा चारित्रे च। द्वादशभेदे तपसि उपचारः बहुविधः ज्ञेयः ॥] विनयः कषायेन्द्रियाणां विनयनं स्ववशीकरणं विनयः, अथवा रत्नत्रयस्य तद्वतां रत्नत्रयवतां मुनीनां च नीचैर्वृत्तिर्विनयः। स पञ्चप्रकारः पञ्चभेदभिन्नः। क्व क्व। दर्शने सम्यग्दर्शने सम्यक्त्वे तत्त्वार्थश्रद्धाने शङ्काकांक्षाविचिकित्सानां वर्जनं परिहारः उपगूहनस्थिरीकरणवात्सल्यप्रभावनाः भक्त्यादयो गुणाः पञ्चपरमेष्ठिभक्त्यानुरागस्तेषामेव पूजा तेषामेव गुणानुवर्तनम्। तद्यथा। "उवगूहादिअ पुव्वुत्ता तह भत्तिआदिआयगुणा। संकादिवज्जणं पि य दंसणविणओ समासेण ॥" इति दर्शने

में ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि आचार्यने मुझे जो प्रायश्चित्त दिया है वह थोड़ा है या बहुत है ॥ भले ही शरीरके खण्ड खण्ड होजायें फिर भी लगे हुए दोषका प्रायश्चित्त लेनेके पश्चात् जो उस दोषको नहीं करना चाहता उस दृढ़ निश्चयवाले साधुके प्रायश्चित्त नामक तप होता है ॥ **भावार्थ**-जो साधु यह निश्चय कर लेता है कि परीषह, उपसर्ग, व्याधि वगैरहके द्वारा यदि मेरे शरीरके खण्ड खण्ड भी होजायें तो भी मैं किये हुए दोषको पुनः नहीं करूंगा उसी साधुका प्रायश्चित्त तप सफल है। और जो प्रायश्चित्त लेने के पश्चात् पुनः उसी दोषको कर बैठता है उसका प्रायश्चित्त निष्फल है ॥ ४५३-४ ॥ **अर्थ**-जो ज्ञानी मुनि ज्ञान स्वरूप आत्माका वारंवार चिन्तन करता है और विकथा आदि प्रमादोंसे जिसका मन विरक्त रहता है, उसीके उत्कृष्ट प्रायश्चित्त होता है ॥ **भावार्थ**-पन्द्रह अथवा साढ़े सैंतीस हजार प्रमादोंसे रहित होकर जो मुनि अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्माका ही सदा चिन्तन करता है उसीके वास्तविक प्रायश्चित्त तप होता है; क्यों कि ऐसा करनेसे सब दोषोंसे छुटकारा हो जाता है ॥ ४५५ ॥ आगे तीन गाथाओंसे विनय तपको कहते हैं । **अर्थ**-विनयके पांच भेद हैं। दर्शनकी विनय, ज्ञानकी विनय, चारित्रकी विनय, बारह प्रकारके तपकी विनय, और उपचार विनय। उपचार विनयके बहुतसे प्रकार हैं ॥

[1] ल स ग विकहादिविरत्तमणो (म माणो?)। [2] म तवो। [3] ल म स ग विणयो। [4] म उअयारो।

विनयः । १ । ज्ञाने जिनोक्तसिद्धान्ते द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वाणां कालशुद्ध्या पठनं व्याख्यानं परिवर्तनम् । हस्तपादौ प्रक्षाल्य पर्यायावस्थितस्याध्ययनम् । अवग्रहविशेषेण पठनम् । बहुमानं यत्पठति यस्मात् शृणोति तयोः पूजा गुणस्तवनम् । अनिह्नवः यत्पठति यस्मात्पाठयति तयोः कीर्तनम् । व्यञ्जनशुद्धम् अर्थशुद्धं व्यञ्जनार्थशुद्धम् इति । ज्ञाने अष्टप्रकारो विनयः । यः शिक्षते विद्योपादानं करोति, ज्ञानाभ्यासं करोति, ज्ञानं परस्मै उपदिशति । य एवं करोति स ज्ञानविनीतो भवति इति ज्ञाने विनयः । २ । तथा तेनैव प्रकारेण चारित्रे व्रतसमितिगुप्तिलक्षणे त्रयोदशप्रकारे सामायिकादिपञ्चप्रकारे वा तदाचरणं तल्लक्षणोपायेन यत्नः चारित्रे विनयः । तथा इन्द्रियकषायाणां प्रसरनिवारणम् इन्द्रियकषायव्यापारनिरोधनम् इति चारित्रविनयः । ३ । च पुनः द्वादशभेदे तपसि अनशनावमौदर्यादिद्वादशप्रकारे तपसि अनुष्ठानम् उत्साहः उद्योगः । तथा आतापनाद्युत्तरगुणेषु उद्यमः उत्साहः । समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानकायोत्सर्गाणाम् आवश्यकानामपरिहाराणि । तथा यस्यावश्यकस्य यावन्तः पठिताः कायोत्सर्गाः तावन्त एव कर्तव्याः न तेषां हानिर्वृद्धिर्वा कार्या । द्वादशविधतपोऽनुष्ठाने भक्तिरनुरागः तपस्विनां भक्तिः इति तपसि विनयः । ४ । उपचारो विनयः, उपचर्यते उपचारेण क्रियते साक्षादिति उपचारो विनयः । बहुधा बहुप्रकारः । कायिकविनयः साधूनां दूरदर्शनात् आसनाद् उत्थानम्, सिद्धश्रुतगुरुभक्तिपूर्वकं कायोत्सर्गादिकरणम्' नमनं शिरसा प्रणामः, अञ्जलिपुटेन नमनम्, सन्मुखगमनम्, पृष्ठिगमनम्, देवगुरुभ्यः पुरतः नीचं स्थानम्, वामपार्श्वे स्थानम्, गुरोर्वामपार्श्वे पृष्ठतो वा गमनम्, इत्यादिकौपचारिककायविनयः । वाचिकविनयः । तद्यथा । पूज्यवचनं बहुवचनोच्चारणं यूयं भट्टारकाः पूज्याः इत्येवमादिकम् । हितस्य पथ्यस्य भाषणम् इहलोकपरलोकधर्मकारणं वचनम् । मितस्य परिमितस्य भाषणं वाल्पाक्षरबह्वर्थम् । मधुरं मनोहरवचनं श्रुतिसुखदम् । सूत्रानुवीचिवचनम् आगमदृष्ट्या भाषणं यथा पापं न भवति । निष्ठुरकर्कशकटुकादिकं वर्जयित्वा भाषणम् । क्रोधमानमायालोभरागद्वेषादिविरहितं वचनम् । वकारमकारादिरहितं वचनम् । बन्धनत्रासनताडनादिरहितं वचनम् । असिमसिकृष्यादिक्रियारहितं वचनम् । परमुखविधायकं वचनं धर्मोपदेशनम् । इत्यादिवाचिकविनयः यथायोग्यं कर्तव्यो भवति । मानसिकविनयः । यथा । हिंसादिपापकारिपरिणामस्य परित्यागः । आर्तरौद्रपरिणामस्य परित्यागः । सम्यक्त्वविराधनापरिणामरहितः । मिथ्यात्वपरिणामपरित्यागः । धर्मे सम्यक्त्वे ज्ञाने चारित्रे तद्वत्सु च शुभपरिणामः कर्तव्यः । कायादिको विनयः प्रत्यक्षः, दीक्षागुरौ श्रुतगुरौ तपोऽधिके साधुषु सूरिपाठकेषु आर्यिकासु गृहस्थश्रावकलोकेषु च विद्यमानेषु यथायोग्यं विनयः कर्तव्यः । एतेषु परोक्षभूतेषु गुर्वादिषु कायादिको विनयः कर्तव्यः । गुरूणामाज्ञादेशतदुपदेशवचनप्रतिपालनतदुपदिष्टेषु जीवादिपदार्थेषु श्रद्धानं कर्तव्यं परोक्षविनयः । विनयस्य फलम्, विनये सति ज्ञानलाभो भवति, आचारविशुद्धिश्च संजायते । विनयहीनस्य शिक्षा श्रुताध्ययनं सर्वं निष्फलम् । विनयवान् सर्वकल्याणानि स्वर्गमोक्षसुखानि लभते । जन्मादिकपञ्चकल्याणकं चतुर्विधाराधनादिकं च लभते । तदुक्तं च । 'विणओ मोक्खद्दारं विणयादो संजमो तवो णाणं । विणएणाराहिज्जदि आयरिओ सव्वसंघो य ॥' विनयो मोक्षस्य द्वारं प्रवेशकः, विनयात् संयमः, विनयात् तपः, विनयात् ज्ञानं, विनयेन आराध्यते आचार्यः सर्वसंघ' श्चापि । तथा च । 'कित्ती मेत्ती माणस्स भंजणं गुरुजणे य बहुमाणं । तित्थयराणं आणा गुणाणुमोदो य विणयगुणा ॥'- विनयस्य कर्ता कीर्तिं यशः सर्वव्यापि प्रतापं लभते, तथा मैत्रीं सर्वैः सह मित्रभावं लभते, तथात्मनो मानं गर्वं निरस्यति, गुरुजनेभ्यो बहुमानं लभते, तीर्थकराणामाज्ञां पालयति, गुणानुरागं च करोति । इत्यादिविनयतपोविधानगुणाः ॥ ४५६ ॥

दंसण-णाण-चरित्ते सुविसुद्धो जो हवेइ परिणामो ।
बारस-भेदे[1] वि तवे[2] सो च्चिय[3] विणओ हवे तेसिं ॥ ४५७ ॥

भावार्थ—कषाय और इन्द्रियोंको अपने वशमें करना विनय है। अथवा रत्नत्रय और रत्नत्रयके धारी मुनियोंके विषयमें विनम्र रहना विनय है। उसके पांच भेद हैं ॥ ४५६ ॥ **अर्थ**—दर्शन, ज्ञान और चारित्रके विषयमें तथा बारह प्रकारके तपके विषयमें जो विशुद्ध परिणाम होता है वही उनकी विनय है ॥ **भावार्थ**—तत्त्वार्थके श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनके विषयमें शंका, कांक्षा, विचिकित्सा आदि दोषोंको छोड़ना और उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना, आदि गुणोंका होना

१ ब भेउ, म भेए। २ ब तवो (?)। ३ ब चिय।

[छाया- दर्शनज्ञानचारित्रे सुविशुद्धः यः भवति परिणामः । द्वादशभेदे अपि तपसि स एव विनयः भवेत् तेषाम् ॥] तेसिं तेषां दर्शनज्ञानचारित्रतपसां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपसां स एव विनयो भवेत् । स कः । यः सुविशुद्धः अतिशयेन निर्मलः तद्ग्राहकपरिणामो वा परिणामः परिणतिः भावो भवति । केषु । दर्शनज्ञानचारित्रेषु भेदाभेदरत्नत्रयरूपसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु, दर्शने तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणे निश्चयव्यवहारसम्यक्त्वे निःशङ्कितादिदोषरहिते स्वस्वरूपशुद्धबुद्धैकात्मनि श्रद्धानरुचिलक्षणं वा दर्शनविनयः १ । ज्ञाने द्वादशाङ्गलक्षणे व्यञ्जनोर्जितादिना पठनं पाठनं वा चिदानन्दैकस्वस्वरूपपरिज्ञाने वा ज्ञानविनयः २ । चारित्रे त्रयोदशप्रकारे सर्वातिचाररहितत्वेन पञ्चपञ्चभावनायुक्तत्वेन वा प्रवृत्तिः स्वस्वरूपानुभवनं वा चारित्रविनयः ३ । अपि पुनः द्वादशभेदे तपसि अनशनादिद्वादशभेदभिन्नतपोविधानेषु अखेदेन प्रवृत्तिः, तदाचरणे उत्साहः, आहारेन्द्रियकषायाणां रागद्वेषयोश्च परित्यागः इत्यादितपोविनयः ॥ ४५७ ॥

रयण-त्तय-जुत्ताणं अणुकूलं जो चरेदि[1] भत्तीए ।
भिच्चो जह[2] रायाणं उवयारो सो हवे विणओ ॥ ४५८ ॥

[छाया- रत्नत्रययुक्तानाम् अनुकूलं यः चरति भक्त्या । भृत्यः यथा राज्ञाम् उपचारः स भवेत् विनयः ॥] यो भव्यः रत्नत्रययुक्तानां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रवताम् आचार्योपाध्यायसाधूनां दीक्षाशिक्षाश्रुतदानगुरूणां च भक्त्या धर्मानुरागेण परमार्थबुद्ध्या अनुकूलम् अभ्युत्थानमभिगमनं करयोटनं वन्दनानुगमनं पृष्ठगमनम् इत्यादिकम् आचरति, आनुकूल्येन

तथा पंच परमेष्ठीमें भक्ति होना, उन्हींके गुणोंका अनुसरण करना, ये सब दर्शनविनय है । कहा भी है-'उपगूहन आदि तथा भक्ति आदि आत्मगुणोंका होना और शंका आदि दोषोंको छोड़ना संक्षेपसे दर्शनविनय है ॥' काल शुद्धिका विचार करके जिन भगवानके द्वारा कहे हुए बारह अंग और चौदह पूर्वरूप सिद्धान्तका पढ़ना, व्याख्यान करना, पाठ करना, हाथ पैर धोकर पर्यङ्कासनसे बैठकर उसका मनन करना ज्ञान विनय है । ज्ञान विनयके आठ प्रकार हैं-योग्यकालमें स्वाध्याय करना, श्रुतभक्ति करना, स्वाध्याय कालतक विशेष नियम धारण करना, आदरपूर्वक अध्ययन करना, गुरूके नामको न छिपाना, दोषरहित पढ़ना, शुद्ध अर्थ करना, शुद्ध अर्थ और शुद्ध शब्द पढ़ना, ये क्रमशः काल विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, व्यंजन, अर्थ और तदुभय नामक आठ प्रकार हैं । इसी प्रकार व्रत, समिति और गुप्तिरूप तेरह प्रकारके चारित्रका अथवा सामायिक आदिके भेदसे पांच प्रकारके चारित्रका पालन करना, इन्द्रिय और कषायोंके व्यापारको रोकना अथवा अपने स्वरूपका अनुभवन करना चारित्रविनय है । अनशन, अवमोदर्य आदि बारह प्रकार के तपका उत्साह पूर्वक पालन करना, तथा आतापन आदि उत्तरगुणोंमें उत्साहका होना, समता, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छै आवश्यकोंमें कभी भी हानि नहीं करना, (जिस आवश्यकके जितने कायोत्सर्ग बतलाये हैं उतने ही करने चाहियें उनमें घटाबढ़ी नहीं करनी चाहिये) इस प्रकार बारह प्रकारके तपके अनुष्ठानमें तथा तपस्वियोंमें भक्तिका होना तपकी विनय है ॥ ४५७ ॥ **अर्थ**-जैसे सेवक राजाके अनुकूल प्रवृत्ति करता है वैसे ही रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके धारक मुनियोंके अनुकूल भक्तिपूर्वक प्रवृत्ति करना उपचार विनय है ॥ **भावार्थ**-औपचारिक विनयको उपचार विनय कहते हैं । पहले कहा है कि उपचार विनयके अनेक प्रकार हैं । अपने दीक्षागुरु, विद्यागुरु, तपस्वी साधुको दूरसे देखते ही खड़े होजाना, हाथ जोड़कर या सिर नवाकर नमस्कार करना, उनके सामने जाना, या पीछे पीछे

१ ब चरेइ । २ ग जिह ।

सन्मुखत्वेन परमभक्तत्वेन प्रवर्तते । यथा सेवकः राज्ञां सेवां करोति तथा रत्नत्रयधारिणां शिष्यः यो भव्यः अनुकूलत्वेन प्रवर्तते स प्रसिद्धः । उपचारो विनयः, औपचारिकोऽयं विनयो भवति । इति विनयतपोविधानं षष्ठम् ॥ ४५८ ॥ अथ वैयावृत्त्यं तपो गाथाद्वयेन विभावयति—

जो उवयरदि जदीणं उवसग्ग-जराइ-खीण-कायाणं ।
पूयादिसु[1] णिरवेक्खं वेज्जावच्चं[2] तवो तस्स ॥ ४५९ ॥

[छाया-यः उपचरति यतीनाम् उपसर्गजरादिक्षीणकायानाम् । पूजादिषु निरपेक्षं वैयावृत्त्यं तपः तस्य ॥] तस्य साधोः वैयावृत्त्यं तपः । व्यावृत्तिः परदुःखादिहरणे प्रवृत्तिः व्यावृत्तेर्भावः वैयावृत्त्यम् । अथवा कायपीडादुःपरिणामविनाशार्थं कायचेष्टया द्रव्यान्तरेणोपदेशेन च व्यावृत्तस्य यत्कर्म तद्वैयावृत्त्यं नाम तपोविधानं भवेत् । तस्य कस्य । यो महान् भव्यः यतीनाम् आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानां दशविधानां पुरुषाणां दशविधं वैयावृत्त्यं भवति । पञ्चधाचारं स्वयमाचरन्ति शिष्यादीनामाचारयन्तीत्याचार्याः १ । मोक्षार्थमुपेत्याधीयते शास्त्रं तस्मादित्युपाध्यायः श्रुतगुरुः २ । महोपवासकायक्लेशादितपोऽनुष्ठानं विद्यते यस्य स तपस्वी ३ । शास्त्राभ्यासशीलः शैक्षः ४ । रोगादिपीडितशरीरो ग्लानः ५ । वृद्धमुनिसमूहो गणः ६ । दीक्षकाचार्यशिष्यसंघातः कुलं वा स्त्रीपुरुषसंतानः कुलम् ७ । ऋषिमुनियत्यनगारलक्षणश्चातुर्वर्ण्यश्रवणसमूहः संघः, ऋष्यार्यिकाश्रावकश्राविकासमूहो वा संघः ८ । चिरदीक्षितः साधुः ९ ।

जाना, देव और गुरुके सन्मुख नीचे स्थानपर बैठना, या उनके बाईं ओर खड़े होना, ये सब कायिक उपचार विनय है । आर्यिका और श्रावकोंके भी आने पर उनकी यथायोग्य विनय करना चाहिये । गुरुजनोंके परोक्षमें भी उनके उपदेशोंका ध्यान रखना, उनके विषयमें शुभ भाव रखना मानसिक उपचार विनय है । गुरु जनोंके प्रति पूज्य वचन बोलना–आप हमारे पूज्य हैं, श्रेष्ठ हैं इत्यादि, हित मित मधुर वचन बोलना, निष्ठुर कर्कश कटुक वचन न बोलना आदि वाचिक उपचार विनय है । इस प्रकार विनय तपके पांच भेद हैं । इस विनय तपका पालन करनेसे ज्ञानलाभ होता है और अतिचारकी विशुद्धि होती है । जिसमें विनय नहीं है उसका पठन पाठन सब व्यर्थ है । विनयी पुरुष स्वर्ग और मोक्षके सुखको प्राप्त करता है, तीर्थङ्करपद प्राप्त करके पांच कल्याणकोंका पात्र होता है, और चारों आराधनाओंको भजता है । कहा भी है 'विनय मोक्ष का द्वार है, विनयसे संयम, तप और ज्ञानकी आराधना सरल होती है विनयसे आचार्य और समस्त संघ भी वशमें हो जाता है ।' और भी कहा है–'विनयी पुरुषका यश सर्वत्र फैलता है, सबके साथ उसकी मित्रता रहती है, वह अपने गर्वसे दूर रहता है, गुरुजन भी उसका सन्मान करते हैं, वह तीर्थङ्करोंकी आज्ञाका पालन करता है, और गुणानुरागी होता है ।' इस प्रकार विनयमें बहुतसे गुण हैं । अतः विनय तपका पालन करना चाहिये ॥ ४५८ ॥ आगे दो गाथाओंसे वैयावृत्य तपको कहते हैं । **अर्थ**–जो मुनि उपसर्गसे पीड़ित हो और बुढ़ापे आदिके कारण जिनकी काय क्षीण होगई हो, जो अपनी पूजा प्रतिष्ठाकी अपेक्षा न करके उन मुनियोंका उपकार करता है उसके वैयावृत्य तप होता है ॥ **भावार्थ**–अपनी शारीरिक चेष्टासे अथवा किसी अन्य वस्तुसे अथवा उपदेशसे दूसरोंके दुःख दूर करनेकी प्रवृत्तिका नाम वैयावृत्य है । यह वैयावृत्य आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इन दस प्रकारके मुनियोंकी की जाती है । इससे वैयावृत्यके दस भेद हो जाते हैं । जो पांच प्रकारके आचारका स्वयं पालन करते हैं और शिष्योंसे

---

१ ल म स ग पूजादिसु । २ ब (?) ल म ग विज्जावच्चं ।

वक्तृत्वादिगुणविराजितो लोकाभिसंमतो विद्वान् मुनिर्मनोज्ञः, तादृशोऽसंयतसम्यग्दृष्टिर्वा मनोज्ञः १० । एतेषां दशविधानां यतीनाम् उपचरति उपकुर्वते उपकारं व्याधौ सति प्रासुकौषधभक्तपानादिपथ्यवसतिकासंस्तरणादिभिः उपकारं करोति, धर्मोपकरणैः पुस्तकैः सिद्धान्तदानैः उपकारं करोति, तथा परीषहविनाशनैः उपकारं विदधाति, मिथ्यात्वादिसंभवे सम्यक्त्वे प्रतिष्ठापनम्, बाह्यद्रव्यासंभवे कायेन श्लेष्माद्यन्तर्मलापनयनं तदनुकूलनानुष्ठानं करोति । कथम् । पूजादिषु निरपेक्षा पूजाख्यातिलाभमहत्त्वादिषु अपेक्षा वाञ्छारहितं यथा भवति तथा । कीदृग्विधानां यतीनाम् । उपसर्गजरादिक्षीणकायानां देवमनुष्यतिर्यग्जलाग्निवातपाषाणादिसंभवोपसर्गप्राप्तानां जरया प्रस्तानां वृद्धानां क्षीणशरीराणां रोगैः कृत्वा क्षीणशरीराणां यतीनाम् उपकारं वैयावृत्त्यं करोति । तस्य वैयावृत्त्याख्यं तपो भवतीति । तथा चोक्तं । 'करचरणपुट्ठिसिरसाण मद्दणब्भंगसेवकिरियाहिं । उव्वत्तणपरियत्तणपसारणाकुंचणाईहिं ॥ पडिजग्गणेहिं तणुजोयभत्तपाणेहिं भेसजेहिं तहा । उच्चारादीण विकिंचणेहिं तणुधोवणेहिं च ॥ संथारसोहणेहि य वेयावच्चं सया पयत्तेण । कायव्वं सत्तीए णिव्विदिगिच्छेग भावेण ॥ देहतवणियमसंजमसीलसमाही य अभयदाणं च । गदिमदिबलं च दिण्णं वेयावच्चं करंतेण ॥' इति । किंबहुना, वैयावृत्त्यकारी जीवः यशःकीर्तिजिनाज्ञारूपसंपदास्वर्गमोक्षसुखं प्राप्नोति ॥ ४५९ ॥

जो वावरइ सरूवे सम-दम-भावम्मि सुद्ध[१]-उवजुत्तो ।
लोय-ववहार-विरदो[२] वेयावच्चं[३] परं तस्स ॥ ४६० ॥

पालन कराते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं । जिनके समीप जाकर मोक्षके लिये शास्त्राध्ययन किया जाता है उन्हें उपाध्याय अर्थात् विद्यागुरु कहते हैं । जो बड़े बड़े उपवास करता हो, कायक्लेश आदि तपोंको करता हो उसे तपस्वी कहते हैं । जो शास्त्रोंका अभ्यास करता हो वह शैक्ष्य है । जिसका शरीर रोगसे पीड़ित हो वह ग्लान है । वृद्ध मुनियोंके समूहको गण कहते हैं । दीक्षाचार्यकी शिष्य-परम्पराको कुल कहते हैं । ऋषि यति मुनि और अनगारके भेदसे चार प्रकारके श्रमणोंके समूहको संघ कहते हैं । अथवा मुनि आर्यिका श्रावक श्राविकाके समूहको संघ कहते हैं । जिसको दीक्षा लिये चिरकाल होगया हो उसे साधु कहते हैं । जो विद्वान मुनि वक्तृत्व आदि गुणोंसे सुशोभित हो और लोकमें जिसका सन्मान हो उसे मनोज्ञ कहते हैं । उक्त गुणोंसे युक्त असंयत सम्यग्दृष्टि भी मनोज्ञ कहा जाता है । इन दस प्रकारके मुनियोंको व्याधि होने पर प्रासुक औषधि, पथ्य, वसतिका और संथरा वगैरहके द्वारा उनकी व्याधिको दूर करना, धर्मके उपकरण पुस्तक आदि देना, परीषहका दूर करना, उनके मिथ्यात्वकी ओर अभिमुख होनेपर उन्हें सम्यक्त्वमें स्थिर करना, उनके श्लेष्माआदि मलोंको फेंकना, तथा उनके अनुकूल चलना, ये सब वैयावृत्य है । यह वैयावृत्य ख्याति लाभ आदिकी भावनासे नहीं करना चाहिये । कहा भी है-हाथ, पैर, पीठ और सिर का दबाना, तेल मलना, अंग सेकना, उठाना, बैठाना, अंग फैलाना, सिकोड़ना, करवट दिलाना, आदि कार्योंके द्वारा, शरीरके योग्य अन्न पान तथा औषधियोंके द्वारा, मल मूत्र आदि दूर करनेके द्वारा, शरीरका धोना, संथरा आदि बिछाना आदि कार्योंके द्वारा ग्लानिरहित भावसे शक्तिके अनुसार वैयावृत्य करना चाहिये । वैयावृत्य करनेवाला देह, तप, नियम, संयम, शक्तिका समाधान, अभयदान, तथा गति, मति और बल देता है ॥ ४५९ ॥ **अर्थ**-विशुद्ध उपयोगसे युक्त हुआ जो मुनि शम दम भाव रूप अपने आत्मस्वरूपमें प्रवृत्ति करता है और लोकव्यवहारसे विरक्त रहता है, उसके उत्कृष्ट वैयावृत्य तप होता है ॥ **भावार्थ**-रागद्वेषसे रहित साम्य-भावको शम कहते हैं,

१ ल म स ग सुद्धि । २ म विवहार । ३ ब विरओ । ४ म विज्जावच्चं (?), स वेज्जावच्चं ।

[छाया- यः व्यापृणोति स्वरूपे शमदमभावे शुद्ध-उपयुक्तः । लोकव्यवहारविरतः वैयावृत्त्यं परं तस्य ॥] तस्य भव्यजीवस्य परम् उत्कृष्टं वैयावृत्त्यं तपो भवेत् । तस्य कस्य । यो भव्यः स्वरूपे व्यापृणोति शुद्धबुद्धचिदानन्दरूपशुद्धचिद्रूपे अभेदरत्नत्रयस्वरूपपरमात्मनि व्यापारं करोति प्रवर्तते आत्मनात्मनि तिष्ठति, आत्मानमनुभवतीत्यर्थः । कथंभूतो भव्यः सन् । शुद्धिउपयुक्तः शुद्धिः निर्मलता तया उपयुक्तः सहितः शुद्ध्यष्टकेनाविष्टो वा । क्व । शमदमभावे शमः उपशमः क्रोधाद्युपशान्तिः दमः पञ्चेन्द्रियनिग्रहः तयोर्भावः परिणामः, तस्मिन् शमदमभावे निर्मलतासहितः । अथवा कथंभूते स्वरूपे । शान्तदान्तपरिणामे निर्विकल्पसाम्यसमाधिपरिणामे । पुनः कीदृक्षः सन् । लोकव्यवहारविरतः लोकानां जनानां व्यवहारः अशनपानेन्द्रियविषयप्रवृत्तिनिवृत्तिरूपः व्यापारः तस्मात् विरतः विरक्तः, दानपूजाख्यातिलाभादिविरहितो वा ॥ ४६० ॥ अथ स्वाध्यायतपोविधानं गाथाषट्केनाह—

पर-तत्ती[1]-णिरवेक्खो दुट्ठ-वियप्पाण णासण-समत्थो ।
तच्च-विणिच्छय-हेदू सज्झाओ झाण-सिद्धियरो ॥ ४६१ ॥

[छाया- परतप्तिनिरपेक्षः दुष्टविकल्पानां नाशनसमर्थः । तत्त्वविनिश्चयहेतुः स्वाध्यायः ध्यानसिद्धिकरः ॥] स्वाध्यायः सुष्ठु पूर्वापराविरोधेन अध्ययनं पठनं पाठनम् आध्यायः सुष्ठु आध्यायः स्वाध्यायः, सुष्ठु शोभनः आध्यायः स्वाध्यायो वा । स्वस्मै स्वात्मने हितः अध्यायः स्वाध्यायो वा सम्यग्युक्तोऽनुष्ठेयः इति स्वाध्यायो वा । स कथंभूतः स्वाध्यायः । परतातिनिरपेक्षः, परनिन्दानिरपेक्षः परेषामपवादवचनरहितः । स्वाध्याये प्रवृत्तः सन् मुनिः तद्गतचित्तवचनत्वात् परेषां निन्दां न विदधाति निन्दावचनं न वक्ति । पुनः कथंभूतः । दुष्टविकल्पानां रागद्वेषार्तध्यानरौद्रध्यानादिविकल्पानां परिणामानां नाशनसमर्थः विनाशने शक्तियुक्तः । अथवा बहिर्द्रव्यविषये पुत्रकलत्रादिचेतनाचेतनरूपे ममेदमिति स्वरूपः संकल्पः, अहं सुखी अहं दुःखीत्यादिचिन्तागतो हर्षविषादादिपरिणामो विकल्प इति दुष्टसंकल्पविकल्पानां संकल्पविकल्परूपमनःपरिणामानां दुष्टानां स्फेटने समर्थः । स्वाध्यायं कुर्वन् सन् तद्गतमानसत्वात् अन्यत्र मनोव्यापारं न करोतीत्यर्थः । भूयोऽपि कथंभूतः स्वाध्यायः । तत्त्वविनिश्चयहेतुः तत्त्वानां जीवादिपदार्थानां विनिश्चयः निर्णयः निर्धारः निःसंदेहः तस्य हेतुः कारणम्, जीवादिपदार्थानां संशयसंदेहस्फेटनहेतुरित्यर्थः । पुनरपि कथंभूतः । ध्यानसिद्धिकरः धर्म्यध्यानशुक्लध्यानयोः सिद्धिं प्राप्तिं निष्पत्तिं करोतीति ध्यानसिद्धिकरः, अतः एतद्ध्यानयोः सिद्धिर्भवतीत्यर्थः ॥ ४६१ ॥

और पांचों इन्द्रियोंके निग्रहको दम कहते हैं। जो शुद्धोपयोगी मुनि शम दम रूप अपनेआत्मस्वरूप में लीन रहता है, उसके खान पान और सेवा शुश्रूषामें प्रवृत्तिरूप लोकव्यवहार अर्थात् ऊपर कहा हुआ बाह्य वैयावृत्य कैसे हो सकता है? उसके तो निश्चय वैयावृत्य ही होता है। अतः बाह्य व्यवहारसे निवृत्त होकर निर्विकल्प समाधिमें लीन होना ही उत्कृष्ट वैयावृत्य है ॥ ४६० ॥ आगे छै गाथाओंसे स्वाध्याय तपको कहते हैं। **अर्थ**—स्वाध्यायतप परनिन्दासे निरपेक्ष होता है, दुष्ट विकल्पोंको नष्ट करनेमें समर्थ होता है। तथा तत्त्वके निश्चय करनेमें कारण है और ध्यानकी सिद्धि करनेवाला है ॥ **भावार्थ**—सुष्ठु रीतिसे पूर्वापर विरोधरहित अध्ययन करनेको स्वाध्याय कहते हैं। अथवा 'स्व' अर्थात् आत्माके हितके लिये अध्ययन करनेको स्वाध्याय कहते हैं। स्वाध्याय परनिन्दासे निरपेक्ष होता है; क्यों कि स्वाध्यायमें लगे हुए मुनिका मन और वचन स्वाध्यायमें लगा होता है इस लिये वह किसी की निन्दा नहीं करता। तथा स्वाध्याय करनेसे राग द्वेष और आर्त रौद्र ध्यान रूप दुष्ट विकल्प नष्ट हो जाते हैं। अथवा पुत्र स्त्री धन धान्य आदि चेतन अचेतन बाह्य वस्तुओंमें 'यह मेरे हैं' इस प्रकारके परिणामोंको संकल्प कहते हैं, और 'मै सुखी हूं' 'मैं दुःखी हूं', इस प्रकार चित्तमें होने वाले हर्ष विषादरूप परिणामोंको विकल्प कहते हैं। स्वाध्याय करनेसे वे दुष्ट संकल्प विकल्प नष्ट हो जाते हैं, क्यों कि स्वाध्याय करनेवालेका मन स्वाध्यायमें ही लगा रहता है। इस लिये उसका मन इधर उधर नहीं जाता।

१ ग परतित्ती।

पूयादिसु[1] णिरवेक्खो जिण-सत्थं जो पढेइ भत्तीए ।
कम्म-मल-सोहणट्ठं सुय-लाहो[2] सुहयरो तस्स ॥ ४६२ ॥

[छाया-पूजादिषु निरपेक्षः जिनशास्त्रं यः पठति भक्त्या । कर्ममलशोधनार्थं श्रुतलाभः सुखकरः तस्य ॥] तस्य साधोः श्रुतस्य सिद्धान्तस्य जिनागमस्य लाभः प्राप्तिर्भवति । किंभूतः श्रुतलाभः । सुखकरः स्वर्गमुक्त्यादिशर्मनिष्पादकः । तस्य कस्य । यः साधुः पठति पाठयति स्वयमध्येति शिष्यान् अध्यापयति । किं तत् । जिनशास्त्रं जिनप्रणीतसिद्धान्तम् । कया । भक्त्या धर्मानुरागेण परमार्थबुद्ध्या वा । किमर्थम् । कर्ममलशोधार्थम्, कर्माणि ज्ञानावरणादीनि तान्येव मलाः कर्दमास्तेषां विशोधनार्थं विशोधननिमित्तं स्फेटनार्थम् । यः कीदृक्षः । पूजादिषु निरपेक्षः पूजालाभख्यातिप्रशंसनाद्रव्यादिप्राप्तिषु वाञ्छारहितः निरीहः ॥ ४६२ ॥

जो जिण-सत्थं सेवदि पंडिय-माणी फलं समीहंतो ।
साहम्मिय-पडिकूलो सत्थं पि विसं हवे तस्स ॥ ४६३ ॥

[छाया-यः जिनशास्त्रं सेवते पण्डितमानी फलं समीहन् । साधर्मिकप्रतिकूलः शास्त्रम् अपि विषं भवेत् तस्य ॥] तस्य मुनेः शास्त्रं श्रुतज्ञानम् अपि शब्दात् व्रतसंयमधर्मादिकं विषं हालाहलं कालकूटसदृशं शास्त्रं भवेत् जायते, संसारदुःखप्राप्तिहेतुत्वात् । तस्य कस्य । यः पुमान् जिनशास्त्रं सेवते जिनोक्तप्रवचनं प्रथमानुयोगप्रमुखश्रुतज्ञानं भजते स्वयं पठति अन्यान् पाठयति । कीदृक् सन् । पण्डितमानी पण्डितोऽहं विद्वान् इत्यात्मानं मन्यते पण्डितमानी विद्यया गर्विष्ठः इत्यर्थः । उक्तं च । 'ज्ञानं मददर्पहरं माद्यति यस्तेन तस्य को वैद्यः । अमृतं यद्विषजातं तस्य चिकित्सा कथं क्रियते ॥' इति । पुनः कीदृक् सन् । फलं समीहमानः फलं ख्यातियशःकीर्तिप्रशंसापूजापादमर्दनादिकधनलाभादिकभोजनभेषजादिकं वाञ्छन् वाञ्छां कुर्वन् । भूयोऽपि कीदृग्विधः । साधर्मिकप्रतिकूलः साधर्मिकेषु जनेषु सम्यग्दृष्टिश्रावकयतिषु पराङ्मुखः द्वेषकारीत्यर्थः ॥ ४६३ ॥

जो जुद्ध-काम-सत्थं रायादोसेहिं[3] परिणदो पढइ ।
लोयावंचण-हेदुं सज्झाओ णिप्फलो तस्स ॥ ४६४ ॥

तथा स्वाध्याय करनेसे तत्त्वोंके विषयमें होनेवाला सन्देह नष्ट हो जाता है और धर्म तथा शुक्ल ध्यानकी सिद्धि होती है ॥ ४६१ ॥ **अर्थ**–जो मुनि अपनी पूजा प्रतिष्ठाकी अपेक्षा न करके, कर्म मलको शोधन करनेके लिये जिनशास्त्रोंको भक्तिपूर्वक पढ़ना है, उसका श्रुतलाभ सुखकारी होता है । **भावार्थ**–आदर, सत्कार, प्रशंसा और धनप्राप्तिकी वांञ्छा न करके ज्ञानावरणआदि कर्म रूपी मलको दूर करनेके लिये जो जैन शास्त्रोंको पढ़ना पढ़ाता है, उसे स्वर्ग और मोक्षका सुख प्राप्त होता है ॥ ४६२ ॥ **अर्थ**–जो पण्डिताभिमानी लौकिक फलकी इच्छा रखकर जिन शास्त्रोंकी सेवा करता है और साधर्मी जनोंके प्रतिकूल रहता है उसका शास्त्रज्ञानभी विषरूप है ॥ **भावार्थ**–जो विद्याके मदसे गर्विष्ठ होकर अपनेको पण्डित मानता है और प्रशंसा, पूजा, धन, भोजन, औषधि वगैरहके लाभकी भावनासे जैन शास्त्रोंको पढ़ता तथा पढ़ाता है और सम्यग्दृष्टि, श्रावक तथा मुनियोंका विरोधी रहता है उसका शास्त्रज्ञान भी विषके तुल्य है; क्यों कि वह संसारके दुःखोंका ही कारण है । कहा भी है–'ज्ञान घमण्डको दूर करता है । किन्तु जो ज्ञानको ही पाकर मद करता है उसको इलाज कौन कर सकता है । यदि अमृत ही विष हो जाये तो उसकी चिकित्सा कैसे की जा सकती है ॥ ४६३ ॥ **अर्थ**–जो पुरुष रागद्वेषसे प्रेरित होकर लोगोंको ठगनेके लिये युद्धशास्त्र और कामशास्त्रको पढ़ता है

१ ल पूजादिसु (ग °शु) । २ ब सज्झाओ (?), म सुअलाहो । ३ ल म स ग राय°, ब राया (?), [रायद्दोसेहि] ।

[छाया—यः युद्धकामशास्त्रं रागद्वेषाभ्यां परिणतः पठति । लोकवञ्चनहेतुं स्वाध्यायः निष्फलः तस्य ॥] तस्य पुंसः स्वाध्यायः शास्त्राध्ययनं निःफलं विद्धि वृथा फलदानपरिणतरहितः कार्यकारी न भवति । तस्य कस्य । यः पुमान् युद्धकामशास्त्रं पठति पाठयति चिन्तयति च । युद्धशास्त्रं खड्गकुन्तशक्तिगदाचक्रधनुर्बाणादिविद्यादिशस्त्रसंग्राममल्लयुद्धादिकशिक्षागजाश्वपरीक्षानरनारीलक्षणसामुद्रिकज्योतिष्कवैद्यकमन्त्रतन्त्रौषधियन्त्रादिशास्त्रं कामशास्त्रं वा रसायनकुक्कोशस्त्रीसेवादिषु श्रुतं कामक्रीडासनशास्त्रं अध्येति परान् अध्यापयति अभ्यासयति। कीदृक् सन्। रागद्वेषाभ्यां परिणतः क्रोधमानमायालोभहास्यादिस्त्रीवेदादिरागद्वेषैः परिणतिं प्राप्तः, एकत्वं गतः। किमर्थम्। लोकवञ्चनार्थं जनानां प्रतारणनिमित्तम् ॥४६४॥

जो अप्पाणं जाणदि असुइ-सरीरादु तच्चदो भिण्णं ।
जाणग-रूव-सरूवं सो सत्थं जाणदे सव्वं ॥ ४६५ ॥

[छाया— यः आत्मानं जानाति अशुचि शरीरात् तत्त्वतः भिन्नम् । ज्ञायकरूपस्वरूपं स शास्त्रं जानाति सर्वम् ॥] स मुनिः जानाति वेत्ति । किं तत् । शास्त्रं जिनोक्तसिद्धान्तं परमागमम् । कियन्मात्रम् । सर्वं द्वादशाङ्गरूपम् । स कः । यो योगी मुमुक्षुः आत्मानं जानाति निर्विकल्पसमाधिना स्वस्वरूपं शुद्धबुद्धचिदानन्दमयपरमात्मानं जानाति वेत्ति अनुभवति । तत्त्वतः परमार्थतः निश्चयतः । कथम् । भिन्नं जानाति । कुतः । अशुचिशरीरात् सप्तधातुमलमूत्रात्मकदेहात् भिन्नं पृथग्भूतं स्वात्मानं जानाति । कीदृशमात्मानम् । ज्ञायकस्वरूपं ज्ञायकरूपः वेदकस्वभावः स्वरूपः आत्मा यस्य स तथोक्तस्तं केवलज्ञानदर्शनमयमात्मानमित्यर्थः । कथम् आत्मानं जानन् सर्वशास्त्रं जानातीति । तदुक्तं च । "जो हि सुदेण भिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं। तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा॥ जो सुदणाणं सव्वं जाणदि सुदकेवली तमाहु जिणा । सुदणाणमाद सव्वं जम्हा सुदकेवली तम्हा ॥" इति ॥ ४६५ ॥

जो णवि जाणदि अप्पं णाण-सरूवं सरीरदो भिण्णं ।
सो णवि जाणदि सत्थं आगम-पाढं[1] कुणंतो वि ॥ ४६६ ॥

उसका स्वाध्याय निष्फल है ॥ **भावार्थ**–क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्रीवेद आदि राग द्वेषके वशीभूत होकर दुनियाके लोगोंको कुमार्गमें ले जानेके लिये युद्धमें प्रयुक्त होनेवाले अस्त्र शस्त्रोंकी विद्याका अभ्यास करना, स्त्रीपुरुषके संभोगसे सम्बन्ध रखने वाले कोकशास्त्र, रतिशास्त्र, भोगासनशास्त्र, कामक्रीड़ा आदि कामशास्त्रोंको पढ़ना पढ़ाना व्यर्थ है । अर्थात् जो शास्त्र मनुष्योंमें हिंसा और कामकी भावनाको जागृत करते हैं उनका पठन पाठन व्यर्थ है । ऐसे ग्रन्थोंकी स्वाध्यायसे आत्महित नहीं हो सकता । इसी तरह लोगोंको ठगाकर धन उपार्जन करनेकी दृष्टिसे सामुद्रिकशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र और वैद्यकशास्त्रको भी पढ़ना व्यर्थ है । सारांश यह है कि जिससे अपना और दूसरोंका हित किया जा सके वही स्वाध्याय स्वाध्याय है ॥ ४६४ ॥ **अर्थ**–जो अपनी आत्माको इस अपवित्र शरीरसे निश्चयसे भिन्न तथा ज्ञायकस्वरूप जानता है वह सब शास्त्रोंको जानता है ॥ **भावार्थ**–स्वाध्यायका यथार्थ प्रयोजन तो अपने शरीरमें वसनेवाली आत्माको जानलेना ही है । अतः जो यह जानता है कि सात धातु और मलमूत्रसे भरे इस शरीरसे मेरी आत्मा वास्तवमें भिन्न है, तथा मैं शुद्ध बुद्ध चिदानन्द स्वरूप परमात्मा हूं। केवल ज्ञान केवल दर्शन मेरा स्वरूप है, वह सब शास्त्रोंको जानता है । कहा भी है–'जो श्रुतज्ञानके द्वारा इस केवल शुद्ध आत्माको जानता है उसे लोकको जानने देखने वाले केवली भगवान् उसे श्रुतकेवली कहते हैं ॥ जो समस्त श्रुतज्ञानको जानता है, उसे जिन भगवानने श्रुतकेवली कहा है । क्यों कि पूरा ज्ञान आत्मा अतः वह श्रुतकेवली है ॥ ४६५ ॥ **अर्थ**–जो ज्ञानस्वरूप आत्माको शरीरसे भिन्न नहीं जानता, वह आगमका पठन पाठन करते हुए भी शास्त्र

१ ग पाठं (?)।

[छाया-यः नैव जानाति आत्मानं ज्ञानस्वरूपं शरीरतः भिन्नम्। स नैव जानाति शास्त्रम् आगमपाठं कुर्वन् अपि॥] स मुनिः शास्त्रं जिनोक्तश्रुतज्ञानं नैव जानाति नैव वेत्ति। कीदृक् सन्। आगमपाठं प्रवचनपठनं जिनोक्तश्रुतज्ञानपठनं पाठनं च कुर्वन्नपि। अपिशब्दात् अकुर्वाणः। स कः। यो योगी नापि जानाति नापि वेत्ति। कम्। आत्मानं स्वचिदानन्दं शुद्धचिद्रूपम्। कीदृक्षम्। ज्ञानस्वरूपं शुद्धबोधस्वभावं केवलज्ञानदर्शनमयम्। पुनः कीदृशम्। शरीरात् भिन्नं पृथक्त्वं परमात्मानं न जानाति यः स किमपि शास्त्रं न जानातीत्यर्थः। तथाहि पञ्चप्रकारः स्वाध्यायः। 'वाचनाप्रच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः।' यो गुरुः पापक्रियाविरतः अध्यापनक्रियाफलं नापेक्षते स गुरुः शास्त्रं पाठयति। शास्त्रस्यार्थं वाच्यं कथयति ग्रन्थार्थद्वयं च व्याख्याति। एवं त्रिविधमपि शास्त्रप्रदानं पात्राय शिष्याय ददाति उपदिशति सा वाचना कथ्यते १। प्रच्छना प्रश्नः अनुयोगः, शास्त्रार्थं जानन्नपि पृच्छति। किमर्थम्। संदेहविनाशाय। निश्चितोऽप्यर्थः किमर्थं पृच्छयते। ग्रन्थार्थप्रबलनानिमित्तम्। सा प्रच्छना निजोन्नतिपरप्रतारणोपहासादिनिमित्तं यदि भवति तदा संवरार्थिका न भवति २। परिज्ञातार्थस्य एकाग्रेण मनसा यत्पुनः पुनरभ्यसनमनुशीलनं सानुप्रेक्षा, अनित्यादिभावनाचिन्तनानुप्रेक्षा ३। अष्टस्थानोच्चारविशेषेण यत् शुद्धं घोषणं पुनः पुनः परिवर्तनं स आम्नायः ४। दृष्टादृष्टप्रयोजनमनपेक्ष्य उन्मार्गविच्छेदनाय संदेहच्छेदनार्थम् अपूर्वार्थप्रकाशनादिकृते केवलमात्मश्रेयोऽर्थं महापुराणादिधर्मकथाद्यनुकथनं स्तुतिदेववन्दनादिकं च धर्मोपदेशः ५। अस्य स्वाध्यायस्य किं फलम्। प्रज्ञातिशयो भवति, प्रशस्ताध्यवसायश्च संजायते, परमोत्कृष्टसंवेगः संपद्यते। प्रवचनस्थितिर्जागर्ति, तपोवृद्धिर्बोभोति, अतीचारविशोधनं वर्वर्ति, संशयोच्छेदो जाघटीति, मिथ्यावादिभयाद्यभावो भवति ॥ ४६६ ॥ अथ व्युत्सर्गतपोविधानं गाथात्रयेणाह—

जल-मल[1]-लित्त-गत्तो दुस्सह-वाहीसु णिप्पडीयारो।
मुह-धोवणादि-विरओ भोयण-सेज्जादि-णिरवेक्खो ॥ ४६७ ॥
ससरूव-चिंतण-रओ[2] दुज्जण-सुयणाण जो हु मज्झत्थो।
देहे वि णिम्ममत्तो काओसग्गो तओ तस्स ॥ ४६८ ॥

को नहीं जानता ॥ **भावार्थ**—शास्त्रके पठन पाठनका सार तो आत्मस्वरूपको जानना है। जो शास्त्र पढ़कर भी जिसने अपने आत्मस्वरूपको नहीं जाना उसने शास्त्रको नहीं जाना। अतः आत्मस्वरूपको जानकर उसीमें स्थिर होना निश्चयसे स्वाध्याय है। और स्वाध्यायके पांच भेद हैं—वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश। पापके कामोंसे विरत होकर जो पढ़ानेसे किसी लौकिक फलकी इच्छा नहीं रखता, ऐसा गुरु जो शास्त्रके अर्थको बतलाता है उसे वाचना कहते हैं। जाने हुए ग्रन्थके अर्थको सुनिश्चित करनेके लिये जो दूसरोंसे उसका अर्थ पूछा जाये उसे पृच्छना कहते हैं। यदि अपना बड़प्पन बतलाने और दूसरोंका उपहास करनेके लिये किसीसे कुछ पूछा जाये तो वह ठीक नहीं है। जाने हुए अर्थको एकाग्र मनसे पुनः पुनः अभ्यास करनेको अनुप्रेक्षा कहते हैं। शुद्धता पूर्वक पाठ करनेको आम्नाय कहते हैं। किसी दृष्ट अथवा अदृष्ट प्रयोजनकी अपेक्षा न करके उन्मार्गको नष्ट करनेके लिये, सन्देहको दूर करनेके लिये, अपूर्व अर्थको प्रकट करनेके लिये तथा आत्मकल्याणके लिये जो धर्मका व्याख्यान किया जाता है उसे धर्मोपदेश कहते हैं। स्वाध्याय करनेसे ज्ञानकी वृद्धि होती है, शुभ परिणाम होते हैं, संसारसे वैराग्य होता है, धर्मकी स्थिति होती है, अतिचारोंकी शुद्धि होती हैं, संशयका विनाश होता है, और मिथ्यावादियोंका भय नहीं रहता ॥ ४६६ ॥ आगे तीन गाथाओंसे व्युत्सर्ग तपको कहते है। **अर्थ**—जिस मुनिका शरीर जल्ल और मलसे लिप्त हो, जो दुस्सह रोगके

१ ल ग जल्लमल्ल। २ ग ससरूवं चिंतणओ।

[छाया-जल्लमललिप्तगात्रः दुःसहव्याधिषु निःप्रतीकारः । मुखधोवनादिविरतः भोजनशय्यादिनिरपेक्षः ॥ स्वस्वरूपचिन्तनरतः दुर्जनसज्जनानां यः खलु मध्यस्थः । देहे अपि निर्ममत्वः कायोत्सर्गः तपः तस्य ॥] तस्य तपस्विनः मुमुक्षोः कायोत्सर्गः व्युत्सर्गः व्युत्सर्गाभिधानं तपः तपोविधानम् । कायं शरीरम् उत्सृजति ममत्वादिपरिणामेन त्यजतीति कायोत्सर्गः तपो भवेत्, व्युत्सर्गाभिधानं तपोविधानं स्यात् । हु इति स्फुटम् । यो मुमुक्षुः देहेऽपि शरीरेऽपि, अपिशब्दात् क्षेत्रवास्तुधनधान्यद्विपदचतुष्पदशयनासनकुप्यभाण्डेषु दशविधेषु बाह्यपरिग्रहेषु निर्ममत्वः ममतारहितः । दशप्रकारो बाह्यपरिग्रहः, तस्य त्यागो बाह्यो व्युत्सर्गः, देहस्य परित्यागश्च । आभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्गः । तथा 'मिच्छत्त वेदरागा तहेव हस्सादिया य छद्दोसा । चत्तारि तह कसाया चोद्दस अब्भंतरा गंथा ॥' इति चतुर्दशाभ्यन्तरपरिग्रहाणां व्युत्सर्गः परित्यागः इति अभ्यन्तरव्युत्सर्गः । बाह्याभ्यन्तरोपध्योः इति व्युत्सर्गो द्विप्रकारः । पुनः कथंभूतः । दुर्जनस्वजनानां मध्यस्थः, दुर्जनाः धर्मपराङ्मुखाः मिथ्यादृष्टयः उपसर्गकारिणो वैरिणो वा, स्वजनाः सम्यग्दृष्ट्यादयः भाक्तिकजना वा, द्वन्द्वः तेषां तेषु मध्यस्थः रागद्वेषरहितः उदासीनपरिणामः समताभावः । पुनरपि कीदृक्षः । स्वस्वरूपचिन्तनरतः, स्वस्यात्मनः स्वरूपं केवलज्ञानदर्शनचिदानन्दादिमयं तस्य चिन्तने ध्याने रतः तत्परः । पुनः कीदृक्षः । जल्लमललिप्तगात्रः, सर्वाङ्गमलो जल्लः मुखनासिकादिभवो मलः ताभ्यां जल्लमलाभ्यां लिप्तं गात्रं यस्य स तथोक्तः । पुनः कीदृक्षः । दुस्सहव्याधिषु निःप्रतीकारः, दुर्निवाररोगेषु विद्यमानेषु अतिदुःखपीडावेदनाकारिकुष्ठंदरभगंदरजलोदरकुष्ठक्षयज्वरादिरोगसंभवेषु सत्सु औषधोपचारभोजनाच्छादनादिप्रतिकाररहितः । पुनः कीदृक्षः । मुखधोवनादिविरतः, मुखधोवनं वदनप्रक्षालनम् आदिशब्दात् शरीरप्रक्षालनं रागेण हस्तपादप्रक्षालनं दन्तधावनं नखकेशादिसंस्कारकरणं च, तेभ्यः विरतः विरक्तः । पुनरपि कीदृक्षः । भोजनशय्यादिनिरपेक्षः, भोजनम् अशनपानखाद्यस्वाद्यलेह्यादिकम्, शय्या शयनस्थानम्, पल्यङ्कमञ्चकादिकम्, आदिशब्दात् आसननिवासपुस्तककमण्डलुपिच्छिकादयो गृह्यन्ते तेषु तेषां वा निर्गता अपेक्षा वाञ्छा ईहा यस्य स निरपेक्षः निःस्पृहः निरीहः ॥ ४६७-६८ ॥

हो जाने पर भी उसका इलाज नहीं करता हो, मुख धोना आदि शरीरके संस्कारसे उदासीन हो, और भोजन शय्या आदिकी अपेक्षा नहीं करता हो, तथा अपने स्वरूपके चिन्तनमें ही लीन रहता हो, दुर्जन और सज्जनमें मध्यस्थ हो, और शरीरसे भी ममत्व न करता हो, उस मुनिके व्युत्सर्ग अर्थात कायोत्सर्ग नामका तप होता है ॥ **भावार्थ**-काय अर्थात् शरीरके उत्सर्ग अर्थात् ममत्व त्यागको कायोत्सर्ग कहते हैं । शरीरमें पसीना आने पर उसके निमित्तसे जो धूल वगैरह शरीरसे चिपक जाती है उसे जल्ल कहते हैं, और मुंह नाक वगैरहके मलको मल कहते हैं । कायोत्सर्ग तपका धारी मुनि अपने शरीरकी परवाह नहीं करता, इस लिये उसका शरीर मैला कुचैला रहता है, वह रागके वशीभूत होकर मुंह हाथ पैर वगैरह भी नहीं धोता और न केशोंका संस्कार करता है। अत्यन्त कष्ट देनेवाले भगन्दर, जलोदर, कुष्ट, क्षय आदि भयानक रोगोंके होजाने पर भी उनके उपचारकी इच्छा भी नहीं करता । खान पान और शयन आसनसे भी निरपेक्ष रहता है । न मित्रोंसे राग करता है और न अपने शत्रुओंसे द्वेष करता है, अर्थात् शत्रु और मित्रको समान मानता है । तथा आत्मस्वरूपके चिन्तनमें ही लगा रहता है । तत्त्वार्थसूत्रमें इस व्युत्सर्ग तपके दो भेद बतलाये हैं-एक बाह्य परिग्रह का त्याग और एक अभ्यन्तर परिग्रहका त्याग । खेत, मकान, धन, धान्य, सोना, चांदी, दासी, दास, वस्त्र और बरतन, इन दस प्रकारके बाह्य परिग्रहका त्याग तो साधु पहले ही कर चुकता है । अतः आहार वगैरहका त्याग बाह्योपाधि त्याग है और मिथ्यात्व, तीन वेद, हास्य आदि छै नोकषाय और चार कषाय, इन चौदह अभ्यन्तर परिग्रहके त्यागको तथा कायसे ममत्वके त्यागको अभ्यन्तर परिग्रह त्याग कहते हैं । इस प्रकार बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहको त्यागना व्युत्सर्ग तप है

जो देह-धारण[1]-परो उवयरणादी-विसेस-संसत्तो ।
बाहिर-ववहार-रओ काओसग्गो कुदो तस्स ॥ ४६९ ॥

[छाया- यः देहधारणपरः उपकरणादिविशेषसंसक्तः । बाह्यव्यवहाररतः कायोत्सर्गः कुतः तस्य ॥] तस्य तपस्विनः कायोत्सर्गाख्यं तपोविधानं कुतः कस्माद्भवति, न कुतोऽपि भवति । तस्य कस्य । यः पुमान् देहपालनपरः, देहस्य शरीरस्य पालनं स्नानभोजनादिना रक्षणं पोषणं तत्र परः । पुनरपि कीदृक्षः । उपकरणादिविशेषसंसक्तः, उपकरणानि पिच्छिकाकमण्डलुपुस्तकानि, आदिशब्दात् आसनचक्कलोच्छीर्षफलककर्तरिकाछुरिकावालनखग्राहकादयो गृह्यन्ते । तेषां विशेषः चित्तचमत्कारकारणसमर्थः, तत्र संसक्तः । पुनरपि कीदृक्षः । बाह्यव्यवहाररतः । जिनकृतसमहोत्सवपूजायात्राप्रतिष्ठादानमानादिलक्षणः, तत्र रतः आसक्तः । तथाहि विविधानां बाह्याभ्यन्तराणां बन्धनहेतूनां दोषाणाम् उत्तमस्त्यागो व्युत्सर्गः । आत्मना अनुपात्तस्य एकत्वमनापन्नस्य आहारादेः त्यागो बाह्योपधिव्युत्सर्गः । क्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वहास्यरत्यरतिशोकभयादिदोषनिवृत्तिराभ्यन्तरोपाधिव्युत्सर्गः कायत्यागश्चाभ्यन्तरोपाधिव्युत्सर्गः । स च द्विविधः, यावज्जीवं नियतकालश्चेति । तत्र यावज्जीवं त्रिधा । भक्तप्रत्याख्यानं जघन्येनान्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टेन द्वादशवर्षाणि, अत्रान्तरो मध्यमः उभयोपकारसापेक्षं भक्तप्रत्याख्यानमरणम् १ । परप्रतीकारनिरपेक्षमात्मोपकारं सापेक्षम् इङ्गिनीमरणम् २ । उभयोपकारनिरपेक्षं प्रायोपगमनमरणम् ३ । नियतकालो द्विविधः, नित्यकालः नैमित्तिकश्च । नित्य आवश्यकादयः, नैमित्तिकः पार्वणीक्रियाः निषद्याक्रियादयश्च । क्रियाकरणे वन्दनायाः द्वात्रिंशद्दोषाः, अनादरस्तब्धप्रविष्टपरिपीडित-

---

॥ ४६७–४६८ ॥ **अर्थ**–जो मुनि देहके पोषणमें ही लगा रहता है और पीछी, कमण्डलु आदि उपकरणोंमें विशेष रूपसे आसक्त रहता है, तथा पूजा, प्रतिष्ठा, विधान, अभिषेक, ज्ञान, सन्मान आदि बाह्य व्यवहारोंमें ही रत रहता है, उसके कायोत्सर्ग तप कैसे हो सकता है ॥ **भावार्थ**–जैसा ऊपर कहा है कायसे ममत्वके त्यागका नाम ही व्युत्सर्ग तप है, इसीसे उसे कायोत्सर्ग या काय त्याग तप भी कहा है। ऐसी स्थितिमें जो मुनि शरीरके पोषणमें ही लगा रहता है, तरह तरहके स्वादिष्ट और पौष्टिक व्यंजनोंका भक्षण करता है, तेल मर्दन कराता है, यज्ञ विधान कराकर अपने पैर पुजवाता है, अपने नामकी संस्थाओंके लिये धनसंचय करता फिरता है, उस मुनिके व्युत्सर्ग तप नहीं हो सकता। कायत्यागके दो भेद कहे हैं–एक जीवन पर्यन्त के लिये और एक कुछ कालके लिये। यावज्जीवनके लिये किये गये कायत्यागके तीन भेद हैं–भक्त प्रत्याख्यान मरण, इंगिनीमरण, और प्रायोपगमन मरण। जीवनपर्यन्तके लिये भोजनका परित्याग करना भक्तप्रत्याख्यान है। यह भक्तप्रत्याख्यान अधिकसे अधिक बारह वर्षके लिये होता है क्यों कि मुनिका औदारिक शरीर बारह वर्ष तक विना भोजनके ठहर सकता है। जिस समाधिमरणमें अपना काम दूसरेसे न कराकर स्वयं किया जाता है उसे इंगिनी मरण कहते हैं। और जिस समाधिमरणमें अपनी सेवा न स्वयं की जाये और दूसरोंसे न कराई जाये उसे प्रायोपगमन मरण कहते हैं। नियत कालके लिये किये जानेवाले कायत्यागके दो भेद हैं–नित्य और नैमित्तिक। प्रतिदिन आवश्यक आदिके समय कुछ देरके लिये जो कायसे ममत्वका त्याग किया जाता है वह नित्य है। और पर्वके अवसरोंपर की जानेवाली क्रियाओंके समय जो कायत्याग किया जाता है वह नैमित्तिक है। छै आवश्यक क्रियाओंमें से वन्दना और कायोत्सर्गके बत्तीस बत्तीस दोष बतलाये हैं। दोनों हाथोंको लटकाकर और दोनों चरणोंके बीचमें चार अंगुलका अन्तर रखकर

---

१ **लमसग** पालण।

दोलायितादयः ३२। क्रियाकरणे कायोत्सर्गस्य द्वात्रिंशद्दोषाः। व्युत्सृष्टबाहुयुगले चतुरङ्गुलान्तरितसमपादे सर्वाङ्गचलनरहिते कायोत्सर्गेऽपि दोषाः स्युः। आर्षे चोक्तम्। 'वितस्त्यन्तरपादाग्रं तदर्धशान्तरपार्ष्णिकम्। समसृज्वायतस्थानमास्थाय रचितस्थितिः॥' इत्युक्तकायोत्सर्गः। घोटकपादं लतावक्रं स्तम्भावष्टम्भं कुड्याश्रितं मालिकोद्वहनं शबरीगुह्यगूहनं शृंखलितं लम्बितम् उत्तरितं स्तनदृष्टिः काकावलोकनं खलीनितं युगकन्धरं कपित्थमुष्टिः शीर्षप्रकम्पनं मूकसंज्ञा अङ्गुलिचालनं भ्रूक्षेपम् उन्मत्तं पिशाचम् अष्टदिगवलोकनं ग्रीवोन्नमनं निष्ठीवनम् अङ्गस्पर्शनमिति चारित्रसारादौ मन्तव्याः। किमर्थं व्युत्सर्गः। निःसंगत्वं निर्भयत्वं जीवताशानिरासः दोषोच्छेदो मोक्षमार्गभावनापरत्वमित्याद्यर्थम् ॥ ४६९ ॥ अथ ध्यानमभिधत्ते—

अंतो-मुहुत्त-मेत्तं लीणं वत्थुम्मि[1] माणसं णाणं।
झाणं भण्णदि समए असुहं च सुहं च[2] तं दुविहं ॥ ४७० ॥

[छाया-अन्तर्मुहूर्तमात्रं लीनं वस्तुनि मानसं ज्ञानम्। ध्यानं भण्यते समये अशुभं च शुभं च तत् द्विविधम् ॥] समये सिद्धान्ते जिनागमे भण्यते कथ्यते। किं तत्। ध्यानं ध्यायते चिन्त्यते इति ध्यानम्। तत् कियत्कालम्। अन्तर्मुहूर्तमात्रं मुहूर्तस्य घटिकाद्वयस्य मध्ये अन्तर्मुहूर्तमात्रम्, अन्तर्मुहूर्तकालं ध्यानं तिष्ठतीत्यर्थः। एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तकालं ध्यानं तिष्ठतीत्यर्थः। उक्तं चोमास्वामिना। 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्'। अन्तर्मुहूर्तकालं मर्यादीकृत्य ध्यानं भवति। अन्तर्मुहूर्तात् परतः एकाग्रचिन्तानिरोधलक्षणध्यानं न भवतीत्यर्थः। किं तत् ध्यानम्, वस्तुनि लीनं वस्तुनि पदार्थे जीवादिपदार्थे द्रव्ये पर्याये वा लीनं लयं प्राप्तम् एकत्वं गतम् एकाग्रताप्राप्तम्। मानसज्ञानमेव मनसि भवं मानसोत्पन्नज्ञानं ध्यानमेव। तत् ध्यानं द्विविधं द्विप्रकारम्, प्रशस्ताप्रशस्तभेदात् द्वैधम्, पापास्रवहेतुत्वादशुभम् अप्रशस्तमार्तरौद्रध्यानद्वयम्, शुभं कर्ममलकलङ्कनिर्दहनसमर्थं धर्मशुक्लद्वयं प्रशस्तम् ॥ ४७० ॥ अथ ते द्वे ध्याने विभजति—

निश्चल खड़े रहनेका नाम कायोत्सर्ग है। उसके बत्तीस दोष इस प्रकार हैं–घोड़ेकी तरह एक पैरको उठाकर या नमाकर खड़े होना, लताकी तरह अंगोंको हिलाना, स्तम्भके सहारेसे खड़े होना, दीवारके सहारेसे खड़े होना, मालायुक्त पीठके ऊपर खड़े होना, भीलनीकी तरह जंघाओंसे जघन भागको दबाकर खड़े होना, दोनों चरणोंके बीचमें बहुत अन्तराल रखकर खड़ा होना, नाभिसे ऊपरके भागको नमाकर अथवा सीना तानकर खड़े होना, अपने स्तनों पर दृष्टि रखना, कौवेकी तरह एक ओरको ताकना, लगामसे पीड़ित घोड़ेकी तरह दातोंका कटकटाना, जुएसे पीड़ित बैलकी तरह गर्दनको फैलाना, कैथकी तरह मुट्ठियोंको कारके कायोत्सर्ग करना, सिर हिलाना, गूंगेकी तरह मुंह बनाना, अंगुलियोंपर गिनना, भ्रुकुटी चलाना, शराबीकी तरह उंगना, पिशाचकी तरह लगना, आठों दिशाओंकी ओर ताकना, गर्दनको झुकाना, प्रणाम करना, थूकना या खकारना और अंगोंका स्पर्श करना, कायोत्सर्ग करते समय ये बत्तीस दोष नहीं लगाने चाहिये ॥ ४६९ ॥ आगे ध्यानका वर्णन करते हैं। **अर्थ**–किसी वस्तुमें अन्तर्मुहूर्तके लिये मानस ज्ञानके लीन होनेको आगममें ध्यान कहा है। वह दो प्रकारका होता है–एक शुभ ध्यान और एक अशुभ ध्यान ॥ **भावार्थ**–मानसिक ज्ञानका किसी एक द्रव्यमें अथवा पर्यायमें स्थिर होजाना ही ध्यान है। सो ज्ञानका उपयोग एक वस्तुमें अन्तर्मुहूर्त तक ही एकाग्र रहता है। तत्त्वार्थसूत्रमें भी कहा है–'एक वस्तुमें चिन्ताके निरोधको ध्यान कहते हैं, वह अन्तर्मुहूर्त तक होता है'। अतः ध्यान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। क्यों कि इससे अधिक काल तक एक ही ध्येयमें मनको एकाग्र रख सकना सम्भव

१ लसग वत्थुम्हि। २ म असुहं सुहं च।

असुहं अट्ट-रउद्दं धम्मं सुक्कं च सुहयरं होदि ।
अट्टं तिव्व-कसायं तिव्व-तम-कसायदो रुद्दं ॥ ४७१ ॥

[छाया–अशुभम् आर्तरौद्रं धर्म्यं शुक्लं च शुभकरं भवति । आर्तं तीव्रकषायात् तीव्रतमकषायतः रौद्रम् ॥] अशुभमार्तरौद्रं भवति । दुःखम् अर्दनं कष्टम् अर्तिर्वा कृतमुच्यते, कृते दुःखे भवमार्तम् । रुद्रः क्रूराशयः कृष्णलेश्यापरिणामः प्राणी । रुद्रस्य कर्म रौद्रं रुद्रे वा भवं रौद्रम् । अशुभम् अप्रशस्तम् । आद्यमार्तध्यानं प्रथमम् १ । द्वितीयं रौद्रध्यानमशुभमप्रशस्तपापप्रकृतिनिबन्धनं नरकगतिप्रदं कृष्णलेश्योद्भवमिति रौद्रध्यानमशुभं द्वितीयम् २ । धर्म्यं धर्मध्यानं शुभं प्रशस्तं पुण्यप्रकृतिबन्धनं स्वर्गादिसुखदायकं पारंपर्येण मोक्षहेतुकमिति शुभं प्रशस्तं धर्मध्यानम् । धर्मो वस्तुस्वरूपं धर्मादनपेतं धर्म्यं ध्यानं तृतीयम् ३ । च पुनः शुक्लं शुक्लध्यानं मलरहितजीवपरिणामोद्भवं शुचिगुणयोगाच्छुक्लं शुक्ललेश्योद्भवं वा शुभतरम् अतिशयेन श्रेष्ठम् अतिशयेन प्रशस्तं मोक्षदायकमिति चतुर्थं शुक्लध्यानमिति शुभतरम् ४ । अथ द्व्यर्धगाथया ध्यानानां तीव्रतरादिकषायभेदान् निगदति । अट्टं आर्तम् अर्तौ पीडादिचिन्तने भवमार्तं ध्यानम् तीव्रकषायं तीव्राः दार्वादिसविशेषाः अनन्तानुबन्ध्यादिकषायाः क्रोधमानमायालोभादयो यस्मिन् आर्तध्याने तत् तथोक्तम् आर्तध्यानं तीव्रकषायं तीव्रकषायोदयजम् १ । रौद्रं रौद्राख्यं ध्यानं हिंसानन्दादिरूपम् । कुतः । तीव्रतमकषायतः तीव्रतमा अस्थिशिलाशक्तिविशिष्टाः अनन्तानुबन्ध्यादिक्रोधमानमायालोभादिकषायाः तेभ्यः जातं तीव्रतमकषायोत्पन्नं रौद्रध्यानं स्यात् ॥ ४७१ ॥

मंद-कसायं धम्मं मंद-तम-कसायदो हवे सुक्कं ।
अकसाए वि सुयड्ढे[1] केवल-णाणे वि तं होदि ॥ ४७२ ॥

[छाया–मन्दकषायं धर्म्यं मन्दतमकषायतः भवेत् शुक्लम् । अकषाये अपि श्रुताढ्ये केवलज्ञाने अपि तत् भवति ॥] धर्म्यं धर्मे स्वस्वरूपे भवं धर्म्यं ध्यानम् । कीदृक्षम् । मन्दकषायं मन्दाः दार्वनन्तैकभागलताशक्तिविशेषाः अप्रत्याख्यान-

नहीं है । ध्यान अच्छा भी होता है और बुरा भी होता है । जिस ध्यानसे पाप कर्मका आस्रव होता हो वह अशुभ है और जिससे कर्मोंकी निर्जरा हो वह शुभ है ॥ ४७० ॥ आगे इन दोनों ध्यानोंके भेद कहते हैं । **अर्थ**–आर्तध्यान और रौद्रध्यान ये दो तो अशुभ ध्यान हैं । और धर्म ध्यान तथा शुक्लध्यान ये दोनों शुभ और शुभतर हैं । इनमेंसे आदिका आर्तध्यान तो तीव्र कषायसे होता है और रौद्रध्यान अति तीव्र कषायसे होता है ॥ **भावार्थ**–अर्ति कहते हैं पीड़ा या दुःखको । दुःखसे होनेवाले ध्यानको आर्तध्यान कहते हैं । यह आर्तध्यान तीव्र कषायसे उत्पन्न होता है । कृष्ण लेश्यावाले क्रूर प्राणीको रुद्र कहते हैं, और रुद्रके कर्मको अथवा रुद्रमें होनेवाले ध्यानको रौद्र कहते है । यह रौद्रध्यान आर्तध्यानसे भी खराब है, चूंकि यह अत्यन्त तीव्र कषायसे होता है । इसीसे ये दोनों अशुभ ध्यान हैं । धर्मसे युक्त ध्यानको धर्मध्यान कहते हैं । यह धर्मध्यान शुभ है, क्योंकि इससे पुण्यकर्मोंका बन्ध होता है, अतः यह स्वर्ग आदिके सुखोंको देनेवाला है तथा परम्परासे मोक्षका भी कारण है । जीवके निर्मल परिणामोंसे अथवा शुक्ल लेश्यासे ही होनेवाले ध्यानको शुक्ल ध्यान कहते हैं । यह ध्यान सफेद रंगकी तरह स्वच्छ होता है, इस लिये 'शुचि' गुणसे युक्त होनेके कारण इसे शुक्ल ध्यान कहते हैं । यह ध्यान धर्मध्यानसे भी श्रेष्ठ है क्योंकि मोक्षकी प्राप्ति इसी ध्यानसे होती है ॥४७१॥ **अर्थ**–धर्मध्यान मन्द कषायसे होता है, और शुक्लध्यान अत्यन्त मन्द कषायसे होता है । तथा यह ध्यान कषाय रहित श्रुत ज्ञानीके और केवल ज्ञानीके भी होता है ॥ **भावार्थ**–धर्मध्यान अप्रत्याख्याना-

१ म सुयट्ठे ।

प्रत्याख्यानसंज्वलनकषायाः क्रोधमानमायालोभादयः तारतम्यभावेन यस्मिन् धर्मध्याने तत् मन्दकषायम् । धर्मध्यानं मन्दकषायोदयेनोत्पन्नं शुभलेश्यात्रयबलेन जातं स्यात् । शुक्लं शुक्लध्यानं स्यात् । कुतः । मन्दतमकषायतः मन्दतमाः लतादिशक्तिविशिष्टाः संज्वलनादयः कषायाः क्रोधादयः तेभ्यः जातं शुभतरशुक्ललेश्याबलेनोत्पन्नम् । अपिशब्दात् न केवलं तत्र मन्दतमकषाये अकषाये ईषद्धास्यादिकषाये अपूर्वकरणादौ निष्कषाये उपशान्तकषाये क्षीणकषाये च । कीदृशे । श्रुताढ्ये पूर्वाङ्गधारिणि पृथक्त्ववितर्कवीचाराख्यम् एकत्ववितर्कावीचाराख्यं च भवति । तत् शुक्लं होदि भवति न केवलं तत्र केवलज्ञाने त्रयोदशगुणस्थाने चतुर्दशगुणस्थाने च केवलिनि सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृत्तिलक्षणे द्वे शुक्ले ध्याने भवतः । तथाहि 'शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः' । आद्ये द्वे शुक्लध्याने पृथक्त्ववितर्कवीचारैकत्ववितर्कावीचारसंज्ञे पूर्वविदः सकलश्रुतज्ञानिनः द्वादशाङ्गश्रुतवेदिनः नवदशचतुर्दशपूर्वधरस्य वा साधुवर्गस्य भवतः, श्रुतकेवलिनः संजायेते इत्यर्थः । चकाराद्धर्मध्यानमपि भवति 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न संदेहादलक्षणम्' इति वचनात् । श्रेण्यारोहणात् पूर्वं धर्मध्यानं भवति । श्रेण्योरुपशमक्षायिकयोस्तु द्वे शुक्लध्याने भवतः । तेन सकलश्रुतधरस्यापूर्वकरणात् पूर्वं धर्म्यं ध्यानं योजितम् । अपूर्वकरणेऽनिवृत्तिकरणे सूक्ष्मसाम्पराये उपशान्तकषाये चेति गुणस्थानचतुष्टये पृथक्त्ववितर्कवीचारं नाम प्रथमं शुक्लध्यानं भवति । क्षीणकषायगुणस्थाने तु एकत्ववितर्कावीचारं भवति । 'परे केवलिनः' परे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तिनाम्नी द्वे शुक्लध्याने केवलिनः प्रक्षीणसमस्तज्ञानावृतेः सयोगकेवलिनोऽयोगकेवलिनश्चानुक्रमेण ज्ञातव्यम् । कोऽसौ अनुक्रमः । सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातितृतीयशुक्लध्यानं सयोगस्य केवलिनो भवति । व्युपरतक्रियानिवर्ति चतुर्थं शुक्लध्यानम् अयोगस्य

वरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषायके उदयमें होता है । इसलिये अविरत सम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होता है । क्यों कि इन गुणस्थानोंमें कषायकी मन्दता रहती है । किन्तु मुख्यरूपसे धर्मध्यान सातवें अप्रमत्त संयत गुणस्थानमें ही होता है; क्यों कि सातवें गुणस्थानमें अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय का तो उदय ही नहीं होता और संज्वलन कषायका भी मन्द उदय होता है । तथा शुक्लध्यान उससे भी मन्द कषायका उदय होते हुए होता है । अर्थात् जब कि धर्मध्यान तीन शुभ लेश्याओंमेंसे किसी एक शुभ लेश्याके सद्भावमें होता है तब शुक्लध्यान केवल एक शुक्ल लेश्यावालेके ही होता है । अतः शुक्लध्यान आठवें अपूर्वकरण आदि गुणस्थानोंमें होता है, क्यों कि आठवें नौवें और दसवें गुणस्थानमें संज्वलन कषायका उत्तरोत्तर मन्द उदय रहता है, तथा सातवें गुणस्थानकी अपेक्षा मन्दतम उदय रहता है । किन्तु शुक्लध्यान कषायके केवल मन्दतम उदयमें ही नहीं होता, बल्कि कषायके उदयसे रहित उपशान्त कषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थानमें और क्षीण कषाय नामक बारहवें गुणस्थानमें भी होता है । तथा तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती केवली भगवानके भी होता है । आशय यह है कि शुक्लध्यानके चार भेद हैं–पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्ववितर्क अवीचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति । इनमेंसे आदिके दो शुक्ल ध्यान बारह अंग और चौदह पूर्वरूप सकल श्रुतके ज्ञाता श्रुतकेवली मुनिके होते हैं । इन मुनिके धर्मध्यान भी होता है । किन्तु एक साथ एक व्यक्तिके दो ध्यान नहीं हो सकते, अतः श्रेणि चढ़नेसे पहले धर्म ध्यान होता है, और उपशम अथवा क्षपक श्रेणिमें दो शुक्ल ध्यान होते हैं । अतः सकल श्रुत धारीके अपूर्वकरण नामक आठवें गुण स्थानसे पहले धर्मध्यान होता है, और आठवें अपूर्वकरण गुणस्थानमें, नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें, दसवें सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थानमें, ग्यारहवें उपशान्त कषाय गुणस्थानमें पृथक्त्व वितर्कवीचार नामक पहला शुक्लध्यान होता है । क्षीण कषाय नामक बारहवें गुणस्थानमें एकत्व वितर्क अवीचार नामक दूसरा शुक्ल ध्यान होता है । सयोग

केवलिनः स्यात् । धर्मध्यानं अप्रमत्तसंयतस्य साक्षाद्भवति । अविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसंयतानां तु गौणवृत्त्या धर्म ध्यानं वेदितव्यमिति । 'परे मोक्षहेतू' परे धर्मशुक्ले द्वे ध्याने मोक्षहेतू मोक्षस्य परमनिर्वाणस्य हेतू कारणे भवतः । तत्र धर्म्यं ध्यानं पारंपर्येण मोक्षस्य कारणम्, शुक्लध्यानं तु साक्षात्तद्भवे मोक्षकारणमुपशमश्रेण्यपेक्षया तु तृतीये भवे मोक्षदायकम् । आर्तरौद्रे द्वे ध्याने संसारहेतुकारणे भवतः इति ॥ ४७२ ॥ अथ गाथाद्वयेन चतुर्विधमार्तध्यानं विवृणोति—

दुक्खयर-विसय-जोए केम इमं चयदि[1] इदि विचिंततो ।
चेट्ठदि[2] जो विक्खित्तो अट्ट-ज्झाणं[3] हवे तस्स ॥ ४७३ ॥
मणहर-विसय-विओगे[4] कह तं पावेमि इदि वियप्पो जो ।
संतावेण पयट्टो सो च्चिय अट्टं हवे झाणं ॥ ४७४ ॥

[छाया–दुःखकरविषययोगे कथम् इमं त्यजति इति विचिन्तयन् । चेष्टते यः विक्षिप्तः आर्तध्यानं भवेत् तस्य ॥ मनोहरविषयवियोगे कथं तत् प्राप्नोमि इति विकल्पः यः । संतापेन प्रवृत्तः तत् एव आर्तं भवेत् ध्यानम् ॥] तस्य जीवस्य आर्तध्यानं भवेत् । तस्य कस्य । यो जीवः इति चिन्तयेत् ध्यायेत् तिष्ठति आस्ते । इति किम् । दुःखकरविषययोगे दुःखकराः आत्मनः प्रदेशेषु दुःखोत्पादका विषयाः चेतनाचेतनाः । चेतनविषयाः कुत्सितरूपदुर्गन्धशरीरदौर्भाग्यदुष्ट-कलत्रदुष्टपुत्रमित्रभृत्यशत्रुसर्पादिकाः । अचेतनविषयाः परप्रयुक्तशस्त्रविषकण्टकादयः । तेषाम् अनिष्टानां संयोगे मेलापके सति इममनिष्टपदार्थं केन [केम] कथं केन प्रकारेण त्यजामि मुञ्चामि, इत्यपरध्यानरहितत्वेन पुनःपुनश्चिन्तनं प्रवर्तनम् ।

केवलीके सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक तीसरा शुक्लध्यान होता है और अयोग केवलीके व्युपरतक्रिया निवृत्ति नामक चौथा शुक्लध्यान होता है ॥ शुक्लध्यान मोक्षका साक्षात् कारण है । किन्तु उपशम श्रेणि अपेक्षामें तीसरे भवमें मोक्ष होता है; क्यों कि उपशम श्रेणिमें जिस जीवका मरण हो जाता है वह देवगति प्राप्त करके और पुनः मनुष्य होकर शुक्ल ध्यानके बलसे मोक्ष प्राप्त करता है ॥ ४७२ ॥ आगे आर्त ध्यानका वर्णन करते हैं । **अर्थ**–दुःखकारी विषयका संयोग होनेपर 'यह कैसे दूर हो' इस प्रकार विचारता हुआ जो विक्षिप्त चित्त हो चेष्टा करता है, उसके आर्तध्यान होता है । तथा मनोहर विषयका वियोग होनेपर 'कैसे इसे प्राप्त करूं' इस प्रकार विचारता हुआ जो दुःखसे प्रवृत्ति करता है यह भी आर्तध्यान है ॥ **भावार्थ**–पहले कहा है कि किसी प्रकारकी पीड़ासे दुःखी होकर जो संक्लेश परिणामोंसे चिन्तन किया जाता है वह आर्तध्यान है । यहां उसके दो प्रकार बतलाये हैं । दुःख देनेवाले स्त्री, पुत्र, मित्र, नौकर, शत्रु, दुर्भाग्य आदि अनिष्ट पदार्थोंका संयोग मिल जानेपर 'प्राप्त अनिष्ट पदार्थसे किस प्रकार मेरा पीछा छूटे' इस प्रकार अन्य सब बातोंका ध्यान छोड़कर वारंवार उसीकी चिन्तामें मग्न रहना अनिष्ट संयोग नामका आर्तध्यान है । तथा अपनेको प्रिय लगनेवाले पुत्र, मित्र, स्त्री, भाई, धन, धान्य, सोना, रत्न, हाथी, घोड़ा, वस्त्र आदि इष्ट वस्तुओंका वियोग हो जानेपर 'इस वियुक्त हुए पदार्थको कैसे प्राप्त करूं' इस प्रकार उसके संयोगके लिये वारंवार स्मरण करना इष्ट वियोग नामका दूसरा आर्तध्यान हैं । अन्य ग्रन्थों में आर्तध्यानके चार प्रकार बतलाये हैं । इस लिये संस्कृत टीकाकारने अपनी टीकामें भी चारों आर्तध्यानोंका वर्णन किया है । उन्होंने उक्त गाथा नं. ४७४ के उत्तरार्ध 'संतावेण पयत्ते'को अलग करके तीसरे आर्तध्यानका वर्णन किया है, और उसमें

१ [चयमि] । २ ब चिट्ठदि । ३ म अट्टं झाणं । ४ लसग वियोगे ।

कथम् एतस्य मत्सकाशात् विनाशो भविष्यति यास्यतीति चिन्ताप्रबन्धः । कीदृक्षः सन् । विक्षिप्तः अनिष्टसंयोगेन विक्षेपं व्याकुलतां प्राप्तः आकुलव्याकुलमना इति अनिष्टसंयोगाभिधानम् आर्तध्यानम् १ । सो च्चिय तदेवार्तध्यानं भवेत् । तत् किम् । यः इत्यमुना प्रकारेण विकल्पः मनसो वस्तुविषये परिचिन्तनं विकल्पः भेदो वा । इति किम् । मनोहरविषय-वियोगे सति, मनोहराः विषयाः इष्टपुत्रमित्रकलत्रभ्रातृधनधान्यसुवर्णरत्नगजतुरङ्गवस्त्रादयः तेषां वियोगे विप्रयोगे तं वियुक्तं पदार्थं कथं प्रापयामि लभे तत्संयोगाय वारंवारं स्मरणं विकल्पश्चिन्ताप्रबन्ध इष्टवियोगाख्यं द्वितीयमार्तध्यानम् २ । संतापेन पीडाचिन्तनेन वातपित्तश्लेष्मोद्भवकुठंदरभगंदरशिरोर्तिजठरपीडावेदनानां संतापेन पीडितेन प्रवृत्तः विकल्पः चिन्ताप्रबन्धः, कथं वेदनाया विनाशो भविष्यतीति पुनःपुनश्चिन्तनम् अङ्गविक्षेपाक्रन्दकरणादिपीडाचिन्तनं तृतीयमार्त-ध्यानम् ३ । चकारात् निदानं दृष्टश्रुतानुभवेहपरलोकभोगाकांक्षाभिलाषः निदानं चतुर्थमार्तध्यानं स्यात् ४ । तथा हि ज्ञानार्णवे तत्त्वार्थादौ च "अनिष्टयोगजन्माद्यं तथेष्टार्थात्ययात्परम् । रुक्प्रकोपात्तृतीयं स्यान्निदानात्तुर्यमङ्गिनाम् ॥" अनिष्टयोगम्, तद्यथा । "ज्वलनवनविषास्त्रव्यालशार्दूलदैत्यैः स्थलजलबिलसत्त्वैर्दुर्जनारातिभूपैः । स्वजनधनशरीरध्वंसि-भिस्तैरनिष्टैर्भवति यदिह योगादाद्यमार्तं तदेतत् ॥" "राजैश्वर्यकलत्रबान्धवसुहृत्सौभाग्यभोगात्यये, चित्तप्रीतिकरप्रसन्न-विषयप्रध्वंसभावेऽथवा । संत्रासभ्रमशोकमोहविवशैर्यत्खिद्यतेऽहर्निशं, तत्स्यादिष्टवियोगजं तनुमतां ध्यानं कलङ्कास्पदम् ॥" "कासश्वासभगन्दरोदरजराकुष्ठातिसारज्वरैः, पित्तश्लेष्ममरुत्प्रकोपजनितै रोगैः शरीरान्तकैः । स्याच्छश्वत्प्रबलैः प्रतिक्षणभ-वैर्यद्व्याकुलत्वं नृणां, तद्रोगार्तमनिन्दितैः प्रकटितं दुर्वारदुःखाकरम् ॥" "भोगा भोगीन्द्रसेव्यास्त्रिभुवनजयिनी रूपसाम्राज्य-लक्ष्मी, राज्यं क्षीणारिचक्रं विजितसुरवधूलास्यलीलायुवत्यः । अन्यच्चेदं विभूतं कथमिह भवतीत्यादिचिन्तासुभाजां, यत्तद्भोगार्तमुक्तं परमगणधरैर्जन्मसंतानसूत्रम् ॥" "पुण्यानुष्ठानजातैरभिलषति पदं यज्जिनेन्द्रामराणां, यद्वा तैरेव वाञ्छत्य-हितकुलकुजच्छेदमत्यन्तकोपात् । पूजासत्कारलाभप्रभृतिकमथवा जायते यद्विकल्पैः, स्यादार्तं तन्निदानप्रभवमिह नृणां दुःख-

---

आये 'च' शब्दसे चौथे आर्तध्यानको ले लिया है। ज्ञानार्णव आदिमें इन चारों आर्तध्यानोंका विस्तारसे वर्णन किया है जो इस प्रकार है—अनिष्ट संयोग, इष्ट वियोग, रोगका प्रकोप और निदानके निमित्तसे आर्तध्यान चार प्रकारका होता है। अपने धन आप्त और शरीरको हानि पहुंचनेवाले अग्नि, विष, अस्त्र, सर्प, सिंह, दैत्य, दुर्जन, शत्रु, राजा आदि अनिष्ट वस्तुओंके संयोगसे जो आर्तध्यान होता है वह अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान है। चित्तको प्यारे लगनेवाले राज्य, ऐश्वर्य, स्त्री, बन्धु, मित्र, सौभाग्य और भोगोंका वियोग हो जानेपर शोक और मोहके वशीभूत होकर जो रात दिन खेद किया जाता है वह इष्ट वियोगज आर्तध्यान है। शरीरके लिये यमराजके समान और पित्त, कफ और वायुके प्रकोपसे उत्पन्न हुए खांसी, श्वास, भगंदर, जलोदर, कुष्ठ, अतीसार, ज्वर, आदि भयानक रोगोंसे मनुष्योंका प्रतिक्षण व्याकुल रहना रोगज आर्तध्यान है। यह दुर्वार दुःखकी खान है। भोगी जनोंके द्वारा सेवनेयोग्य भोग, तीनों लोकोंको जीतनेवाली रूपसम्पदा, शत्रुओंसे रहित निष्कंटक राज्य, देवांगनाओंके विलासको जीतनेवाली युवतियां, अन्य भी जो संसारकी विभूति है वह मुझे कैसे मिले, इस प्रकारकी चिन्ता करनेवालोंके भोगज आर्तध्यान होता है। गणधर देवने इस आर्तध्यानको जन्म परम्पराका कारण कहा है। पुण्यकर्मको करके उससे देव देवेन्द्र आदि पदकी इच्छा करना, अथवा पूजा, सत्कार, धनलाभ आदिकी कामना करना अथवा अत्यन्त क्रोधित होकर अपना अहित करनेवालोंके कुलके विनाशकी इच्छा करना निदान नामका आर्तध्यान है। वह आर्तध्यान मनुष्योंके लिये दुःखोंका घर है। इस आर्तध्यानका फल अनन्त दुःखोंसे भरी हुई तिर्यञ्चगतिकी प्राप्ति ही है। यह आर्त ध्यान कृष्णनील आदि अशुभ लेश्याके प्रतापसे होता है। और पापरूपी दावानलके लिये ईंधनके समान है। मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यक् मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि इन चार

दावोग्रधाम ॥" "अनन्तदुःखसंकीर्णमस्य तिर्यग्गतिः फलम् । क्षायोपशमिको भावः कालश्चान्तर्मुहूर्तकः ॥" "शङ्काशोकभय-प्रमादकलहश्चिन्ताभ्रमोद्भ्रान्तयः, उन्मादो विषयोत्सुकत्वमसकृन्निद्राङ्गजाड्यश्रमाः । मूर्च्छादीनि शरीरिणामविरतं लिङ्गानि बाह्यान्यलमार्ताधिष्ठितचेतसां श्रुतधरैर्व्यावर्णितानि स्फुटम् ॥" "कृष्णनीलाद्यसल्लेश्याबलेन प्रविजृम्भते । इदं दुरितदावार्चिः प्रसूतेरिन्धनोपमम् ॥" "अपथ्यमपि पर्यन्ते रम्यमप्यग्रिमक्षणे । विद्ध्यसद्ध्यानमेतद्धि षड्गुणस्थानभूमिकम् ॥" "संयता-संयतेष्वेतच्चतुर्भेदं प्रजायते । प्रमत्तसंयतानां तु निदानरहितं त्रिधा ॥" तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानां तु मिथ्यादृष्टि-सासादनमिश्रासंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानचतुष्टयवर्तिनामविरतानां तच्चतुर्विधमार्तध्यानं स्यात् । देशविरतानां श्रावकाणां पञ्चमगुणस्थानवर्तिनां निदानं न स्यात्, सशल्यानां व्रतित्वाघटनात् । अथवा स्वल्पनिदानशल्येनाणुव्रतित्वाविरोधात् । देशव्रतानां चतुर्विधमप्यार्तध्यानं संगच्छत एव । प्रमत्तसंयतानां मुनीनां षष्ठगुणस्थानवर्तिनां निदानं विना त्रिविधमार्तध्यानं स्यात् । तच्चार्तत्रयं प्रमादस्योदयाधिक्यात् कदाचित्संभवति । द्रव्यसंग्रहटीकायाम् "अनिष्टवियोगेष्टसंयोगव्याधिप्रतीकार-भोगनिदानेषु वाञ्छारूपं चतुर्विधमार्तध्यानम्, मिथ्यादृष्ट्यादितारतम्यभावेन षड्गुणस्थानवर्तिजीवसंभवम् । यद्यपि मिथ्यादृष्टीनां तिर्यग्गतिकारणं भवति, तथापि बद्धायुष्कं विहाय सम्यग्दृष्टीनां न भवति । कस्मादिति चेत्, स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति विशिष्टभावनाबलेन तत्कारणभूतसंक्लेशाभावादिति ।" चारित्रसारे 'चतुर्विधमार्तध्यानं प्रमादाधिष्ठानं प्रागप्रमत्तात् षड्गुणस्थानभूमिकम्' इति । तथार्षे । 'प्राप्यप्राप्योर्मनोज्ञेतरार्थयोः स्मृतियोजने । निदानवेदनापायविषये वानुचिन्तने ॥' 'इत्युक्तमार्तमार्तात्मचिन्त्यं ध्यानं चतुर्विधम् । प्रमादाधिष्ठितं चतुःषड्गुणस्थानसंश्रितम् ॥' इति ॥ ४७३-४ ॥ अथ चतुर्विधरौद्रध्यानं गाथाद्वयेन निगदति—

हिंसाणंदेण जुदो असच्च-वयणेण परिणदो जो हु[1] ।
तत्थेव अथिर-चित्तो रुद्दं झाणं हवे तस्स ॥ ४७५ ॥

[छाया-हिंसानन्देन युतः असत्यवचनेन परिणतः यः खलु । तत्र एव अस्थिरचित्तः रौद्रं ध्यानं भवेत् तस्य ॥] तस्य रौद्रप्राणिनः रौद्रं ध्यानं भवेत् । तस्य कस्य । यस्तु हिंसानन्देन युक्तः, हिंसायां जीववधादौ जीवानां बन्धनतर्जनताडन-पीडनपरदारातिक्रमणादिलक्षणायां परपीडायां संरम्भसमारम्भारम्भलक्षणायाम् आनन्दः हर्षः तेन युक्तः सहितः । परपीडायाम् अत्यर्थं संकल्पाध्यवसानं तीव्रकषायानुरञ्जनम् इदं हिंसानन्दाख्यं रौद्रध्यानम् । तद्यथा । "हते निःपीडिते

गुणस्थानवर्ती असंयती जीवोंके चारों प्रकारका आर्तध्यान होता है । तथा पंचम गुणस्थानवर्ती देश-विरत श्रावकोंके भी चारों प्रकारका आर्तध्यान होता है । किन्तु छठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्तसंयत मुनियोंके निदानके सिवाय शेष तीनों आर्तध्यान प्रमादका उदय होनेसे कदाचित् हो सकते हैं । परन्तु इतनी विशेषता है कि मिथ्यादृष्टियोंका आर्तध्यान तिर्यञ्चगतिका कारण होता है, फिर भी जिसने आगामी भवकी आयु पहले बांधली है ऐसे सम्यग्दृष्टी जीवोंको छोड़कर शेष सम्यग्दृष्टियोंके होनेवाला आर्तध्यान तिर्यञ्चगतिका कारण नहीं होता; क्यों कि 'अपनी शुद्ध आत्माही उपादेय है' इस विशिष्ट भावनाके बलसे सम्यग्दृष्टि जीवके ऐसे संक्लिष्ट भाव नहीं होते जो तिर्यञ्चगतिके कारण होते हैं ॥४७३-४७४॥ आगे दो गाथाओंके द्वारा चार प्रकारके रौद्रध्यानको कहते हैं । **अर्थ**—जो मनुष्य हिंसामें आनन्द मानता है और असत्य बोलनेमें आनन्द मानता है तथा उसीमें जिसका चित्त विक्षिप्त रहता है, उसके रौद्र ध्यान होता है ॥ **भावार्थ**—जीवोंको बांधने, मारने, पीटने और पीड़ा देनेमें ही जिसे आनन्द आता है अर्थात् जो तीव्र कषायसे आविष्ट होकर दूसरोंको पीड़ा देनेका ही सदा विचार करता रहता है उसके हिंसानन्द नामक रौद्रध्यान होता है । कहा भी है—'स्वयं अथवा दूसरेके द्वारा जन्तुओंको पीड़ा पहुं-चनेपर या उनका विनाश होनेपर जो हर्ष होता है उसे हिंसा रौद्रध्यान कहते हैं । हिंसाके काममें

---

१ ल म स ग दु (?) ।

ध्वस्ते जन्तुजाते कदर्थिते । स्वेन चान्येन यो हर्षस्तद्धिंसारौद्रमुच्यते ॥" "हिंसाकर्मणि कौशलं निपुणता पापोपदेशे भृशं, दाक्ष्यं नास्तिकशासने प्रतिदिनं प्राणातिपाते रतिः । संवासः सह निर्दयैरविरतं नैसर्गिकी क्रूरता, यत्स्याद्देहभृतां तदत्र गदितं रौद्रं प्रशान्ताशयैः ॥" "केनोपायेन घातो भवति तनुमतां कः प्रवीणोऽत्र हन्ता, हन्तुं कस्यानुरागः कतिभिरिह दिनैर्हन्यते जन्तुजातम् । हत्वा पूजां करिष्ये द्विजगुरुमरुतां पुष्टिशान्त्यर्थमित्थं, यत्स्याद्धिंसाभिनन्दो जगति तनुभृतां तद्धि रौद्रं प्रणीतम् ॥" "गगनजलधरित्रीचारिणां देहभाजां, दलनदहनबन्धच्छेदघातेषु यत्नम् । दतिनखकरनेत्रोत्पाटने कौतुकं यत्, तदिह गदितमुच्चैश्चेतसां रौद्रमेतम् ॥" जन्तुपीडने दृष्टे श्रुते स्मृते यो हर्षः हिंसानन्दः परेषां वधादिचिन्तने हिंसानन्दः, इति हिंसानन्दः प्रथमः १ । असत्यवचने परिणतः मृषावादकथने परिणतः अनृतानन्दाख्यं रौद्रध्यानम् । तथाहि । "विधाय वञ्चकं शास्त्रं मार्गमुद्दिश्य निर्दयम् । प्रपात्य व्यसने लोकं भोक्ष्येऽहं वाञ्छितं सुखम् ॥" "असत्यचातुर्यबलेन लोकाद्वित्तं ग्रहीष्यामि बहुप्रकारम् । तथाश्वमातङ्गपुराकराणि कन्यादिरत्नानि च बन्धुराणि ॥" "असत्यसामर्थ्यवशादरातीन् नृपेण वान्येन च घातयामि । अदोषिणा दोषचयं विधाय चिन्तेति रौद्राय मता मुनीन्द्रैः ॥" "अनेकासत्यसंकल्पैर्यः प्रमोदः प्रजायते । मृषानन्दात्मकं रौद्रं तत्प्रणीतं पुरातनैः ॥" कीदृक्षः सन् । तत्रैव स्थिरचित्तः अनृतानन्दे विक्षिप्तचित्तः । इति मृषानन्दं द्वितीयं रौद्रध्यानम् २ ॥ ४७५ ॥

पर-विसय-हरण-सीलो सगीय-विसए सुरक्खणे दक्खो ।
तग्गय-चिंताविट्ठो[1] णिरंतरं तं पि रुद्दं[2] पि ॥ ४७६ ॥

[छाया-परविषयहरणशीलः स्वकीयविषये सुरक्षणे दक्षः । तद्गतचिन्ताविष्टः निरन्तरं तदपि रौद्रम् अपि ॥] अपि पुनः तदपि निरन्तरं रौद्रध्यानं भवेत् । तत् किम् । परविषयहरणशीलः, परेषां विषयाः रत्नसुवर्णरूप्यादिधनधान्य-

कुशल होना, पापका उपदेश देनेमें चतुर होना, नास्तिक धर्ममें पण्डित होना, हिंसासे प्रेम होना निर्दय पुरुषोंके साथ रहना और स्वभावसे ही क्रूर होना, इन सबको वीतरागी महापुरुषोंने रौद्र कहा है । 'प्राणियोंका घात किस उपायसे होता है? मारनेमें कौन चतुर है? किसे जीवघातसे प्रेम है? कितने दिनोंमें सब प्राणियोंको मारा जा सकता है? मैं प्राणियोंको मारकर पुष्टि और शान्तिके लिये ब्राह्मण, गुरु और देवताओंकी पूजा करूंगा । इस प्रकार प्राणियोंकी हिंसामें जो आनन्द मनाया जाता है उसे रौद्रध्यान कहा है ।' आकाश, जल और थलमें विचरण करनेवाले प्राणियोंके मारने जलाने बांधने, काटने वगैरह का प्रयत्न करना, तथा दांत, नख वगैरहके उखाड़नेमें कौतुक होना यह भी रौद्र ध्यान ही है ॥' सारांश यह है कि जन्तुको पीड़ित किया जाता हुआ देखकर, सुनकर या स्मरण करके जो आनन्द मानता है वह हिंसानन्दि रौद्रध्यानी है। तथा-'ठगविद्याके शास्त्रोंको रचकर और दयाशून्य मार्गको चलाकर तथा लोगोंको व्यसनी बनाकर मैं इच्छित सुख भोगूंगा, असत्य बोलनेमें चतुरताके बलसे मैं लोगोंसे बहुतसा धन, मनोहारिणी कन्याएँ वगैरह ठगूंगा, मैं असत्यके बलसे राजा अथवा दूसरे पुरुषोंके द्वारा अपने शत्रुओंका घात कराऊंगा, और निर्दोष व्यक्तियोंको दोषी साबित करूंगा, इस प्रकारकी चिन्ताको मुनीन्द्रोंने रौद्रध्यान कहा है ॥' इस प्रकार अनेक असत्य संकल्पोंके करनेसे जो आनन्द होता है उसे पूर्व पुरुषोंने मृषानन्दि रौद्र ध्यान कहा है ॥ ४७५ ॥ **अर्थ**-जो पुरुष दूसरोंकी विषयसामग्रीको हरनेका स्वभाववाला है, और अपनी विषयसामग्रीकी रक्षा करनेमें चतुर है, तथा निरन्तर ही जिसका चित्त इन दोनों कामोंमें लगा रहता है वह भी रौद्र ध्यानी है ॥ **भावार्थ**-दूसरोंके रत्न, सोना, चांदी, धन, धान्य, स्त्री, वस्त्राभरण वगैरहको चुरानेमें ही

[1] **लमसग** चित्ता° । [2] **स** तं वि रुद्दं ।

कलत्रवस्त्राभरणादयः तेषां हरणे चौर्यकर्मणि ग्रहणे अदत्तादाने शीलं स्वभावो यस्य स तथोक्तः । इति स्तेयानन्दः । तद्यथा "यच्चौर्याय शरीरिणामहरहश्चिन्ता समुत्पद्यते, कृत्वा चौर्यमपि प्रमोदमतुलं कुर्वन्ति यत्संततम् । चौर्येणापहृते परैः परधने यज्जायते संभ्रमस्तच्चौर्यप्रभवं वदन्ति निपुणा रौद्रं मुनिन्दास्पदम् ॥" "द्विपदचतुष्पदसारं धनधान्यवराङ्गनासमाकीर्णम् । वस्तु परकीयमपि मे स्वाधीनं चौर्यसामर्थ्यात् ॥" "इत्थं चुराया विविधप्रकारः शरीरिभिर्यः क्रियतेऽभिलाषः । अपारदुःखार्णवहेतुभूतं रौद्रं तृतीयं तदिह प्रणीतम् ॥" इति तृतीयं चौर्यानन्दध्यानम् ३ । स्वकीयविषयसुरक्षणे दक्षा स्वकीययुवतीद्विपदचतुष्पदस्वाद्यखाद्याशनपानसुस्वरश्रवणसुगन्धगन्धग्रहणधनधान्यगृहवस्त्राभरणादीनां रक्षणे रक्षायां यत्नकरणे दक्षः चतुरः निपुणः । इदं विषयानन्दाख्यं रौद्रध्यानम् । तद्यथा । "बह्वारम्भपरिग्रहेषु नियतं रक्षार्थमभ्युद्यते, यत्संकल्पपरम्परां वितनुते प्राणीह रौद्राशयः । यच्चालम्ब्य महत्त्वमुन्नतमना राजेत्यहं मन्यते, तत्तुर्यं प्रवदन्ति निर्मलधियो रौद्रं भवाशंसिनाम् ॥" इति विषयाभिलाषे आनन्दं हर्षः विषयानन्दश्चतुर्थं ध्यानम् ४ । कीदृक्षः । तद्गतचित्ताविष्टः तेषु हिंसानृतस्तेयविषयेषु गतं चित्तं मनः तेनाविष्टः युक्तः । तद्यथा । हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोर्भवति । पञ्चगुणस्थानस्वामिकमित्यर्थः । मिथ्यात्वादिपञ्चमगुणस्थानपर्यन्तानां जीवानां रौद्रध्यानं स्यात् । ननु अविरतस्य रौद्रध्यानं जाघटीत्येव देशविरतस्य कथं संगच्छते । साधूक्तं भवता यत् एकदेशेन विरतस्य कदाचित्प्राणातिपाताद्यभिप्रायात् । धनादिसंरक्षणत्वाच्च कथं न घटते, परमयं तु विशेषो देशसंयतस्य रौद्रमुत्पद्यते एव परं नरकादिगतिकारणं तन्न भवति, सम्यक्त्वरत्नमण्डितत्वात् । तथा ज्ञानार्णवे । "कृष्णलेश्याबलोपेतं श्वभ्रपातफलाङ्कितम् । रौद्रमेतद्धि जीवानां स्यात् पञ्चगुणभूमिकम् ॥" "क्रूरतादण्डपारुष्यं वञ्चकत्वं कठोरता । निर्दयत्वं च लिङ्गानि रौद्रस्योक्तानि सूरिभिः ॥"

जिसे आनन्द आता है वह चौर्यानन्दि रौद्रध्यानी है । कहा भी है—प्राणियोंको जो रातदिन दूसरोंका धन चुरानेकी चिन्ता सताती रहती है, तथा चोरी करके जो अत्यन्त हर्ष मनाया जाता है, तथा चोरीके द्वारा पराया धन चुराये जानेपर आनन्द होता है, इन्हें चतुर पुरुष चोरीसे होनेवाला रौद्रध्यान कहते हैं, यह रौद्रध्यान अत्यन्त निन्दनीय है ॥ दास, दासी, चौपाये, धन, धान्य, सुन्दर स्त्री वगैरह जितनी भी पराई श्रेष्ठ वस्तुएँ हैं, चोरीके बलसे वे सब मेरी हैं । इस प्रकार मनुष्य अनेक प्रकारकी चोरियोंकी जो चाह करते हैं वह तीसरा रौद्र ध्यान है, जो अपार दुःखोंके समुद्रमें डुबानेवाला है ॥ अपने स्त्री, दास, दासी, चौपाये, धन, धान्य, मकान, वस्त्र, आभरण वगैरह विषय सामग्रीकी रक्षामें ही रात दिन लगे रहना विषयानन्दि रौद्रध्यान है । कहा भी है—इस लोकमें रौद्र आशयवाला प्राणी बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहकी रक्षाके लिये तत्पर होता हुआ जो संकल्प विकल्प करता है तथा जिसका आलम्बन पाकर मनस्वी अपनेको राजा मानते हैं । निर्मलज्ञानके धारी गणधर देव उसे चौथा रौद्रध्यान कहते हैं ॥ तत्त्वार्थसूत्रमें भी कहा है कि हिंसा, झूठ, चोरी और विषयसामग्रीकी रक्षामें आनन्द माननेसे रौद्रध्यान होता है । वह रौद्रध्यान मिथ्यादृष्टिसे लेकर, देशविरत नामक पञ्चमगुणस्थान पर्यन्त जीवोंके होता है । यहां यह शंका हो सकती है कि जो व्रती नहीं हैं, अविरत हैं उनके भले ही रौद्रध्यान हो, किन्तु देशविरतोंके रौद्रध्यान कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि हिंसा आदि पापोंका एक देशसे त्याग करनेवाले देशविरत श्रावकके भी कभी कभी अपने धन वगैरह की रक्षा करनेके निमित्तसे हिंसा वगैरहके भाव हो सकते हैं। अतः रौद्रध्यान हो सकता है, किन्तु वह सम्यग्दर्शन रूपी रत्नसे शोभित है इस लिये उसका रौद्रध्यान नरक गतिका कारण नहीं होता है । चारित्रसारमें भी कहा है—यह चार प्रकारका रौद्रध्यान कृष्ण, नील और कापोत लेश्यावालेके होता है, और मिथ्यादृष्टिसे लेकर पंचमगुणस्थानवर्ती जीवोंके होता है । किन्तु मिथ्यादृष्टियोंका

"विस्फुलिङ्गनिभे नेत्रे भ्रूवक्रा भीषणाकृतिः । कम्पः स्वेदादिलिङ्गानि रौद्रे बाह्यानि देहिनाम् ॥" "क्षायोपशमिको भावः कालश्चान्तर्मुहूर्तकम् । दुष्टाशयवशादेतदप्रशस्तावलम्बनम् ॥" तथा चारित्रसारे । 'इदं रौद्रध्यानचतुष्टयम्, कृष्णनीलकापोतलेश्याबलाधानं प्रमादाधिष्ठानम् । प्राक् प्रमत्तात् पञ्चगुणस्थानभूमिकमन्तर्मुहूर्तकालम् अतःपरं दुर्धरत्वात् क्षायोपशमिकभावं परोक्षज्ञानत्वात् औदयिकभावं वा भावलेश्याकषायप्रधानत्वात् नरकगतिफलम्' इति । तथा च तच्चतुर्विधं रौद्रध्यानं तारतम्येन मिथ्यादृष्ट्यादिपञ्चगुणस्थानवर्तिजीवसंभवम् । तच्च मिथ्यादृष्टीनां नरकगतिकारणमपि बद्धायुष्कं विहाय सम्यग्दृष्टीनां तत्कारणं न भवति । कुतः । सद्दृष्टीनां विशिष्टभेदज्ञानबलेन तत्कारणभूततीव्रसंक्लेशाभावादिति ॥ ४७६ ॥ अथार्तरौद्रध्यानपरिहारेण धर्मध्याने प्रवृत्तिं दर्शयति—

बिण्णि वि असुहे झाणे पाव-णिहाणे य दुक्ख-संताणे ।
तम्हा[1] दूरे वज्जह धम्मे पुण[2] आयरं कुणह ॥ ४७७ ॥

[छाया– द्वे अपि अशुभे ध्याने पापनिधाने च दुःखसंताने । तस्मात् दूरे वर्जत धर्मे पुनः आदरं कुरुत ॥] वर्जस्व भो भव्या, यूयं त्यजत दूरे अत्यर्थं दूरं भृशं परिहरत । के । द्वे अपि अशुभे ध्याने, आर्तरौद्राख्ये ध्याने द्विके त्यजत । किं कृत्वा । ज्ञात्वा विदित्वा । कथंभूते द्वे । पापनिधाने दुरितस्य स्थाने, च पुनः, दुःखसंताने नरकतिर्यग्गतिदुःखोत्पादके पुनः आदरं सत्कारं कुरुष्व भो भव्य, विधेहि । क्व । धर्मे धर्मस्थाने आदरं त्वं कुरुष्व ॥ ४७७ ॥ को धर्मः इत्युक्ते, धर्मशब्दमभिधत्ते–

धम्मो वत्थु-सहावो खमादि-भावो य[3] दस-विहो धम्मो ।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं[4] धम्मो ॥ ४७८ ॥

[छाया–धर्मः वस्तुस्वभावः क्षमादिभावः च दशविधः धर्मः । रत्नत्रयं च धर्मः जीवानां रक्षणं धर्मः ॥] वस्तूनां स्वभावः जीवादीनां पदार्थानां स्वरूपो धर्मः कथ्यते । निजशुद्धबुद्धैकस्वभावात्मभावनालक्षणो वा धर्मः । च पुनः,

रौद्रध्यान नरकगतिका कारण है, किन्तु बद्धायुष्कोंको छोड़कर शेष सम्यग्दृष्टियोंके होनेवाला रौद्रध्यान नरक गतिका कारण नहीं है, क्योंकि भेदज्ञानके बलसे सम्यग्दृष्टियोंके नरकगतिका कारण तीव्र संक्लेश नहीं होता। ज्ञानार्णव नामक ग्रन्थमें कहा है–'क्रूरता, मन वचन कायकी निष्ठुरता, ठगपना, निर्दयता ये सब रौद्रके चिह्न हैं ॥ नेत्रोंका अंगारके तुल्य होना, भ्रकुटिका टेढ़ा रहना, भीषण आकृति होना, क्रोधसे शरीरका कांपना और पसेव निकल आना, ये सब रौद्रके बाह्य चिह्न होते हैं ॥ ४७६ ॥ आगे आर्त और रौद्रध्यानको छोड़कर धर्मध्यान करनेकी प्रेरणा करते हैं । **अर्थ–** हे भव्य जीवों, पापके निधान और दुःखकी सन्तान इन दोनों अशुभ ध्यानोंको दूरसे ही छोड़ो और धर्मध्यानका आदर करो ॥ **भावार्थ–**आचार्य कहते हैं कि आर्त और रौद्र ये दोनों अशुभ ध्यान पापके भण्डार हैं और नरकगति व तिर्यञ्च गतिमें ले जानेवाले होनेसे दुःखोंके कारण हैं । अतः इन्हें छोड़कर धर्मध्यानका आचरण करो ॥ ४७७ ॥ आगे धर्मका स्वरूप कहते हैं । **अर्थ–**वस्तुके स्वभावको धर्म कहते हैं । दस प्रकारके क्षमा आदि भावोंको धर्म कहते हैं । रत्नत्रयको धर्म कहते हैं और जीवोंकी रक्षा करनेको धर्म कहते हैं ॥ **भावार्थ–**यहां आचार्यने धर्मके विविध स्वरूपोंको बतलाया है । जीव आदि पदार्थोंके स्वरूपका नाम धर्म है । जैसे जीव शुद्ध बुद्ध चैतन्य स्वरूप है । यही चैतन्य उसका धर्म है । अग्निका स्वरूप उष्णता है । यही उसका धर्म है । तथा उत्तम

१ **ल म स ग** णच्चा । २ **ब** पुण् । ३ **म** अ । ४ **म** रक्खणे ।

क्षमादिभावः दशविधो धर्मः । उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्यपरिणामः परिणतिः दशप्रकारो धर्मः कथ्यते । च पुनः, रत्नत्रयं भेदसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकं रत्नानां त्रितयं धर्मो भण्यते । च पुनः, जीवानां रक्षणो धर्मः, पञ्चस्थावराणां सूक्ष्मबादराणां त्रसानां द्वीन्द्रियादीनां प्राणिनां रक्षणं कृपाकरणं धर्मो भण्यते । 'अहिंसालक्षणो धर्मः' इति वचनात् ॥ ४७८ ॥ अथ कस्य धर्मध्यानं इत्युक्ते प्ररूपयति–

धम्मे एयग्ग-मणो जो[1] णवि वेदेदि पंचहा-विसयं ।
वेरग्ग-मओ णाणी धम्मज्झाणं[2] हवे तस्स ॥ ४७९ ॥

[छाया– धर्मे एकाग्रमनाः यः नैव वेदयति पञ्चधाविषयम् । वैराग्यमयः ज्ञानी धर्मध्यानं भवेत् तस्य ॥] तस्य योगिनः ध्यातुर्भव्यस्य धर्माख्यं ध्यानं भवेत । तस्य कस्य । यो भव्यः धर्मे एकाग्रमनाः धर्मे निजशुद्धबुद्धैकस्वभावात्मभावनालक्षणे पूर्वोक्तोत्तमक्षमादिदशविधे निश्चयव्यवहाररत्नत्रयरूपे वा । एकाग्रमना एकाग्रचित्तः आर्तरौद्रध्यानं परित्यज्य तद्धर्मध्यानगतचित्तः। निश्चलत्वं धर्मे इत्यर्थः । कथंभूतः । स ध्याता इन्द्रियविषयं न वेदयति, पञ्चेन्द्रियाणां समुद्भवविषयम् अर्थं नानुभवति स्पर्शनादिपञ्चेन्द्रियाणां स्पर्शादिसप्तविंशतिविषयान् नानुभवति न सेवते न भजते इत्यर्थः । पुनः कीदृक्षः, वैराग्यमयः संसारशरीरभोगेषु विरक्तिर्विरमणं वैराग्यं तत्प्रचुरं यस्य स वैराग्यमयः । प्राचुर्ये मयट्प्रत्ययः । पुनः कीदृक्षः । ज्ञानी भेदज्ञानवान् ॥ ४७९ ॥ अथ धर्मध्यानस्योत्तमत्वं गाथात्रयेणाह–

सुविसुद्ध-राय-दोसो बाहिर-संकप्प-वज्जिओ धीरो ।
एयग्ग-मणो संतो जं चिंतइ तं पि सुह-झाणं ॥ ४८० ॥

[छाया–सुविशुद्धरागद्वेषः बाह्यसंकल्पवर्जितः धीरः । एकाग्रमनाः सन् यत् चिन्तयति तदपि शुभध्यानम् ॥] तदपि शुभध्यानं धर्मध्यानं भवेत् । तत् किम् । यत् चिन्तयति । कः । सन् सत्पुरुषः भव्यवरपुण्डरीकः । कीदृक् सन् । सुविशुद्धरागद्वेषः, सुष्ठु अतिशयेन विशुद्धौ शोधनं प्राप्तौ नाशितौ रागद्वेषौ येन स तथोक्तः । क्रोधमानमायालोभरागद्वेषादि-

क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य रूप आत्मपरिणामको भी धर्म कहते हैं । इसीको शास्त्रोंमें धर्मके दस भेद कहा है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप तीन रत्नोंको भी धर्म कहते हैं । तथा सब प्रकारके प्राणियोंकी रक्षा करनेको भी धर्म कहते हैं । क्यों कि ऐसा कहा है कि धर्मका लक्षण अहिंसा है ॥ ४७८ ॥ आगे धर्मध्यान किसके होता है यह बतलाते हैं । **अर्थ–**जो ज्ञानी पुरुष धर्ममें एकाग्र मन रहता है, और इन्द्रियोंके विषयोंका अनुभव नहीं करता, उनसे सदा विरक्त रहता है, उसीके धर्मध्यान होता है ॥ **भावार्थ–**उपर धर्मके जो जो स्वरूप बतलाये हैं, जो उन्हींमें एकाग्र चित्त रहता है, अर्थात् अपने शुद्ध बुद्ध चैतन्य स्वरूपमें ही सदा लीन रहता है अथवा उत्तम क्षमा आदि दस धर्मों और रत्नत्रय रूप धर्मका सदा मन वचन कायसे आचरण करता है, मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे किसी भी जीव को कष्ट न पहुंचे इसका ध्यान रखता है, स्पर्शन आदि इन्द्रियोंके विषयोंका कभी सेवन नहीं करता, संसार, शरीर और भोगोंसे उदासीन रहता है, उसी ज्ञानीके धर्मध्यान होता है ॥ ४७९ ॥ आगे तीन गाथाओंसे धर्मध्यानकी उत्तमता बतलाते हैं । **अर्थ–**राग द्वेषसे रहित जो धीर पुरुष बाह्य संकल्प विकल्पोंको छोड़कर एकाग्रमन होता हुआ जो विचार करता है वह भी शुभ ध्यान है ॥ **भावार्थ–** शुभ ध्यानके लिये कुछ बातोंका होना आवश्यक है । प्रथम तो राग और द्वेषको दूर करना चाहिये ।

१ ल म स ग जो ण वेदेदि इंदियं विसयं । २ म स ग धम्मं झा (ज्झा) णं ।

रहित इत्यर्थः । पुनः कीदृक् । बाह्यसंकल्पवर्जितः, बाह्यानां शरीरादीनां संकल्पः मनसा चिन्ततं तेन वर्जितः रहितः । क्षेत्रवास्तुधनधान्यद्विपदचतुष्पदादिषु पुत्रकलत्रादिषु ममेदं चिन्तनम् अहं सुखी इत्यादिचिन्तनारहितो वा । पुनः कीदृक् । धीरः धियम् आत्मधारणां बुद्धिं राति गृह्णातीति धीरः, उपसर्गपरीषहसहनसमर्थो वा । पुनः कथंभूतः । एकाग्रमनाः एकाग्रः धर्मध्याने चित्तः निश्चलः । एवंविधो ध्याता योगी शुभध्यानम् आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयं धर्मध्यानं चिन्तयतीत्यर्थः ॥ ४८० ॥

स-सरूव-समुब्भासो णट्ठ-ममत्तो जिदिंदिओ संतो ।
अप्पाणं चिंतंतो सुह-झाण-रओ[1] हवे साहू ॥ ४८१ ॥

[छाया-स्वस्वरूपसमुद्भासः नष्टममत्वः जितेन्द्रियः सन् । आत्मानं चिन्तयन् शुभध्यानरतः भवेत् साधुः ॥] साधुः साधयति स्वीकरोति स्वात्मानं स्वात्मोपलब्धिलक्षणं मोक्षमिति साधुः योगीश्वरः । कथंभूतः । शुभध्यानरतः धर्मध्यानतत्परो भवेत् । कीदृक्षः पुनः । स्वस्वरूपसमुद्भासः स्वस्यात्मनः स्वरूपं केवलज्ञानदर्शनानन्तसुखादिस्वभावः तस्य समुद्भासः प्राकट्यं प्रकटीकरणं यस्य स तथोक्तः । आत्मनः ज्ञानादिप्रकटकरणोद्यम इत्यर्थः । साधुः पुनरपि कीदृक्षः । नष्टममत्वः नष्टं गतं विनष्टं ममत्वं ममेदमिति ममता यस्य स तथोक्तः निरीहः निःस्पृह इत्यर्थः । पुनः कीदृक् । जितेन्द्रियः जितानि वशीकृतानि इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि येन स जितेन्द्रियः इन्द्रियवशीकर्ता । वशी पुनः कीदृक्षः । आत्मानं चिन्तयन् शुद्धचिदानन्दं ध्यायन् सन् एवंभूतः साधुः स्वात्मानं ध्यायतीत्यर्थः ॥ ४८१ ॥

वज्जिय-सयल-वियप्पो अप्प-सरूवे मणं णिरुंधंतो[2] ।
जं चिंतदि साणंदं तं धम्मं उत्तमं झाणं[3] ॥ ४८२ ॥

[छाया-वर्जितसकलविकल्पः आत्मस्वरूपे मनः निरुन्धन् । यत् चिन्तयति सानन्दं तत् धर्म्यम् उत्तमं ध्यानम् ॥] तत् उत्तमम् उत्कृष्टं श्रेष्ठं वरं धर्म्यं ध्यानं भवति । तत किम् । यत् सानन्दम् आनन्दनिर्भरम् अनन्तसुखस्वरूपं परमात्मानं चिन्तयति ध्यायति । किं कृत्वा । आत्मस्वरूपे स्वशुद्धबुद्धैकचिदानन्दे मनः चित्तं संकल्पविकल्परूपं मानसं निरुध्यारोपयित्वा इत्यर्थः । कीदृक्षः सन् । वर्जितसकलविकल्पः, वर्जिताः दूरीकृताः सकलाः समस्ताः विकल्पाः अन्तरङ्गममत्वपरिणामाः

दूसरे, स्त्री पुत्र धनधान्य सम्पदा मेरी है । मैं इन्हें पाकर बहुत सुखी हूं इस प्रकार बाह्य वस्तुओंमें मनको नहीं जाना चाहिये और तीसरे उपसर्ग परीषह वगैरहको सहनेमें समर्थ होना चाहिये । उक्त बातोंसे सहित मनुष्य जो भी एकाग्र मनसे विचार करता है वही धर्मध्यान है ॥ ४८० ॥ **अर्थ**—जिसको अपने स्वरूपका भान होगया है, जिसका ममत्व नष्ट होगया है और जिसने अपनी इन्द्रियोंको जीत लिया है, ऐसा जो साधु आत्माका चिन्तन करता है वह साधु शुभ ध्यानमें लीन होता है ॥ ४८१ ॥ **अर्थ**—सकल विकल्पोंको छोड़कर और आत्मस्वरूपमें मनको रोककर आनन्दसहित जो चिन्तन होता है वही उत्तम धर्मध्यान है ॥ **भावार्थ**—संकल्प विकल्पोंको छोड़कर अनन्त सुखस्वरूप आत्माका आनन्दपूर्वक ध्यान करना ही श्रेष्ठ धर्मध्यान है । इस धर्मध्यानके चार भेद कहे हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय । ये चारों प्रकारका धर्मध्यान असंयत सम्यग्दृष्टी, देशविरत, प्रमत्त संयत और अप्रमत्त संयत गुणस्थानवर्ती जीवोंके होता है । यद्यपि मुख्यरूपसे यह पुण्यबन्धका कारण है, फिर भी परम्परासे मुक्तिका कारण है । इन चारों धर्मध्यानोंका स्वरूप इस प्रकार है—अपनी बुद्धि मन्द होने और किसी विशिष्ट गुरुका अभाव होनेपर जिन भगवानके द्वारा कहे गये नौ पदार्थ और उत्पाद व्यय ध्रौव्य तथा गुण पर्यायसे युक्त छै द्रव्योंकी सूक्ष्म चर्चाका

१ **ब** सज्झाणरओ । २ **ल म स ग** णिरुंभित्ता । ३ **ब** धम्मज्झाणं ॥ जत्थ इत्यादि ।

येन स तथोक्तः । तथा हि आर्तरौद्रपरित्यागलक्षणमाज्ञापायविपाकसंस्थानविचयसंज्ञाचतुर्भेदभिन्नं तारतम्यवृद्धिक्रमेणासंयतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयताभिधानचतुर्गुणस्थानवर्तिजीवसंभवं मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धकारणमपि परंपरया मुक्तिकारणं चेति । तद्यथा । स्वयं मन्दबुद्धित्वेऽपि विशिष्टोपाध्यायाभावेऽपि शुद्धजीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षपुण्यपापद्वयसहितनवपदार्थानां सप्ततत्त्वानां जीवादिद्रव्याणां षण्णां द्रव्यपर्यायगुणयुक्तानाम् उत्पादव्ययध्रौव्यसहितानां सूक्ष्मत्वे सति 'सूक्ष्मं जिनोदितं वाक्यं हेतुभिर्नैव हन्यते । आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथा वादिनो जिनाः ॥' इति श्लोककथितक्रमेण पदार्थानां निश्चयकरणमाज्ञाविचयधर्मध्यानं भण्यते १। तथैव भेदाभेदरत्नत्रयभावनाबलेनास्माकं परेषां वा कर्मणामपायो विनाशो भविष्यतीति चिन्तनमपायविचयध्यानं ज्ञातव्यम् २ । शुद्धनिश्चयेन शुभाशुभकर्मविपाकरहितोऽप्ययं जीवः पश्चादनादिकर्मबन्धवशेन पापस्योदयेन नारकादिदुःखविपाकफलमनुभवति । पुण्योदयेन देवादिसुखविपाकफलमनुभवति । इति विचारणं विपाकविचयं विज्ञेयम् ३ । पूर्वोक्तलोकानुप्रेक्षाचिन्तनं संस्थानविचयमिति ४ । चतुर्विधधर्मध्यानं भवति । तथा दशविधं धर्मध्यानं भवति । "अपायोपायजीवाज्ञाविपाका जीवहेतवः । विरागभवसंस्थानान्येतेभ्यो विचयं भवेत ॥ सद्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्ता ध्यायन्ति शुभलेश्यया । धर्मं विशुद्धिरूपं यद्रागद्वेषादिशान्तये ॥" स्वसंवेद्यमाध्यात्मिकं धर्मध्यानं दशप्रकारम् । एतद्दशविधमपि दृष्टश्रुतानुभूतेहपरलोकभोगाकांक्षादोषवर्जनपरस्परस्य मन्दतरकषायानुरञ्जितस्य भव्यवरपुण्डरीकस्य भवति । एकान्तनिरञ्जनस्थाने बद्धपल्यङ्कासनस्य स्वाङ्के वामहस्ततलस्योपरि दक्षिणहस्ततलस्थापितस्य नासिकाग्रस्थापितलोचनस्य पुंसः शुभध्यानं स्यात् । अपायविचयं नाम अनादिसंसारे यथेष्टचारिणो जीवस्य मनोवाक्कायप्रवृत्तिविशेषोपार्जितपापानां परिवर्जनं तत्कथं नाम मे स्यादिति । अथवा मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेभ्यः स्वजीवस्य अन्येषां वा कथम् अपायः विनाशः स्यादिति संकल्पः चिन्ताप्रबन्धः प्रथमं धर्म्यम् । १। उपायविचयं प्रशस्तमनोवाक्कायप्रवृत्तिविशेषोऽवश्यः कथं मे स्यादिति संकल्पोऽध्यवसानं वा, दर्शनमोहोदयाच्चिन्तादिकरणवशाज्जीवाः सम्यग्दर्शनादिभ्यः पराङ्मुखा इति चिन्तनम् उपायविचयं द्वितीयं धर्म्यम् । २ । जीवविचयं जीव उपयोगलक्षणो द्रव्यार्थादनाद्यनन्तो असंख्येयप्रदेशः स्वकृतशुभाशुभकर्मफलोपभोगी गुणवान् आत्मोपात्तदेहमात्रः प्रदेशसंहरणविसर्पणधर्मा सूक्ष्मः अव्याघातः ऊर्ध्वगतिस्वभाव

'जिन भगवानके द्वारा कहा हुआ तत्त्व बहुत सूक्ष्म है, युक्तियोंसे उसका खण्डन नहीं किया जा सकता। उसे जिन भगवानकी आज्ञा समझकर ग्रहण करना चाहिये, क्यों कि जिन भगवान मिथ्यावादी नहीं होते।' इस उक्तिके अनुसार श्रद्धान करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है । रत्नत्रयकी भावनाके बलसे हमारे तथा दूसरोंके कर्मोंका विनाश होता है ऐसा विचारना अपायविचय धर्मध्यान है। अनादिकालसे यह जीव शुभाशुभ कर्मबन्धमेंसे पापकर्मका उदय होनेपर नरकादि गतिके दुःखोंको भोगता है और पुण्यकर्मका उदय होनेपर देवादि गतिके सुखोंको भोगता है, ऐसा विचार करना विपाक विचय धर्मध्यान है । पहले लोकानुप्रेक्षामें कहे गये लोकके स्वरूपका विचार करना संस्थानविचय धर्मध्यान है। इस प्रकार धर्मध्यानके चार भेद हैं । सम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती जीव राग द्वेषकी शान्तिके लिये शुभ भावोंसे इन धर्मध्यानोंको ध्याते हैं । इस लोक और परलोक सम्बन्धी भोगोंकी चाह को सदोष जानकर मन्दकषायी भव्य जीव निर्जन एकान्त स्थानमें पल्यंकासन लगावे और अपनी गोदमें बाईं हथेलीके ऊपर दाहिनी हथेलीको रखकर तथा दोनों नेत्रोंको नासिकाके अग्रभागमें स्थापित करके शुभध्यान करे। धर्मध्यानके दस भेद भी कहे हैं जो इस प्रकार हैं। इस अनादि संसारमें स्वच्छन्द विचरण करनेवाले जीवके मन वचन और कायकी प्रवृत्तिविशेषसे संचित पापोंकी शुद्धि कैसे हो ऐसा विचारना अपायविचय धर्मध्यान है । अथवा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रमें फंसे हुए जीवोंका कैसे उद्धार हो ऐसा विचार करते रहना अपायविचय धर्मध्यान है । मेरे मन वचन और कायकी शुभ प्रवृत्ति कैसे हो ऐसा विचार करना अथवा दर्शनमोहनीयके उदयके कारण

अनादिकर्मबन्धनबद्धस्तत् क्षयान्मोक्षभागी इत्यादिनामस्थापनाद्रव्यभावनिर्देशादिसदादिप्रमाणनयनिक्षेपविषय इत्यादि जीवस्वभावानुचिन्तनं वा जीवा उपयोगमया अनाद्यनिधना मुक्तेतररूपा जीवस्वरूपचिन्तनं जीवविचयः तृतीयं धर्म्यम् । ३ । अजीवविचयं जीवभावविलक्षणानाम् अचेतनानां पुद्गलधर्माधर्माकाशद्रव्याणाम् अनन्तविकल्पपर्यायस्वभावानुचिन्तनं चतुर्थं धर्म्यम् । ४ । विपाकविचयम् अष्टविधकर्माणि नामस्थापनाद्रव्यभावलक्षणानि मूलोत्तरोत्तरप्रकृतिविकल्पविस्तृतानि गुडखण्डसितामृतमधुरविपाकानि निम्बकाञ्जीरविषहालाहलकटुकविपाकानि चतुर्विधबन्धानि लतादारुअस्थिशैलस्वभावानि कासु कासु गतियोनिषु अवस्थासु च जीवानां विषया भवन्ति उदयं गच्छन्ति विपाकविशेषानुचिन्तनं पञ्चमं धर्म्यम् । ५ । विरागविचयं शरीरमिदमनित्यमपरित्राणं विनश्वरस्वभावमशुचि त्रिदोषाधिष्ठितं सप्तधातुमयं बहुमलमूत्रादिपरिपूर्णम् अनवरतनिष्यन्दितस्रोतोविलम् अतिबीभत्सम् आधेयम् शौचमपि पूतिगन्धि सम्यग्ज्ञानिजनवैराग्यहेतुभूतं नास्त्यत्र किंचित्कमनीयम् इन्द्रियमुख्यानि प्रमुखरसिकानि कियावसानविरसानि किंपाकपाकविपाकानि पराधीनानि अनवस्थानप्रचुर-भङ्गुराणि यावत् यावदेषां रामणीयकं तावत्तावद्भोगिना तृष्णाप्रसंगोऽनवस्थः । यथाग्नेरिन्धनैर्जलनिधेर्नदीसहस्रेण न तृप्तिः तथा कस्याप्येतैः न तृप्तिरुपशान्तिश्च । ऐहिकामुत्रिकविनिपातहेतवः तानि देहिनः सुखानीति मन्यन्ते महादुःखकारणान्य-नात्मनीनत्वादिष्टान्यप्यनिष्टानीति वैराग्यकारणविशेषानुचिन्तनम् । अथवा संसारदेहविषयेषु दुःखहेतुत्वानित्यचिन्तनं विरागचिन्तनं षष्ठं धर्म्यम् । ६ । भवविचयं सचित्ताचित्तमिश्रशीतोष्णमिश्रसंवृतविवृतमिश्रभेदासु योनिषु जरायुजाण्डजपो-

जीव सम्यग्दर्शन वगैरहसे विमुख हो रहे हैं इनका उद्धार कैसे हो इसका विचार करना उपाय विचय धर्मध्यान है । जीवका लक्षण उपयोग है, द्रव्यदृष्टिसे जीव अनादि और अनन्त है, असंख्यात प्रदेशवाला है, अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मोंके फलको भोगता है, अपने शरीरके बराबर है, आत्मप्रदेशोंके संकोच और विस्तार धर्मवाला है, सूक्ष्म है, व्याघात रहित है, ऊपरको गमन करनेका स्वभाववाला है, अनादि कालसे कर्मबन्धनसे बंधा हुआ है, उसके क्षय होनेपर मुक्त हो जाता है, इस प्रकार जीवके मुक्त और संसारी स्वरूपका विचार करना जीवविचय नामक तीसरा धर्मध्यान है । जीवसे विलक्षण पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश इन अचेतन द्रव्योंकी अनन्त पर्यायोंके स्वरूपका चिन्तन करना अजीवविचय नामक चौथा धर्मध्यान है । आठों कर्मोंकी बहुतसी उत्तर प्रकृतियां हैं, उनमेंसे शुभ प्रकृतियोंका विपाक गुड़ खांड शक्कर और अमृतकी तरह मधुर होता है तथा अशुभ प्रकृतियोंका विपाक लता, दारु, अस्थि और शैलकी तरह कठोर होता है, कर्मबन्धके चार प्रकार हैं, किस किस गति और किस किस योनिमें जीवोंके किन २ प्रकृतियों का बन्ध, उदय वगैरह होता है, इस प्रकार कर्मोंके विपाकका विचार करना विपाकविचय नामक पांचवा धर्म ध्यान है । यह शरीर अनित्य है, अरक्षित है, नष्ट होनेवाला है, अशुचि है, वात पित्त और कफके आधार है सात धातुओंसे बना है, मलमूत्र वगैरहसे भरा हुआ है, इसके छिद्रोंसे सदा मल बहा करता है, अत्यन्त बीभत्स है, पवित्र वस्तुएं भी इसके संसर्गसे दूषित होजाती हैं, सम्यग्ज्ञानी पुरुषोंके वैराग्यका कारण है, इसमें कुछ भी सुन्दर नहीं है, इसमें जो इन्द्रियां हैं वे भी किंपाक फलके समान उत्तरकालमें दुःखदायी हैं, पराधीन हैं, ज्यों ज्यों भोगी पुरुष इनसे भोग भोगता है त्यों त्यों इसकी भोगतृष्णा बढ़ती जाती है । जैसे इन्धनसे अग्निकी और नदियोंसे समुद्रकी तृप्ति नहीं होती है वैसे ही इन इन्द्रियोंसे भी किसीकी तृप्ति नहीं होती । ये इन्द्रियां इसलोक और परलोकमें पतनकी कारण हैं, प्राणी इन्हें सुखका कारण मानता है, किन्तु वास्तवमें ये महादुःखकी कारण हैं, क्योंकि ये आत्माकी हितकारक नहीं हैं, इसप्रकार वैराग्यके कारणोंका चिन्तन करना विरागचिन्तन नामका छठा धर्मध्यान हैं ।

तोपपादसंमूर्च्छनजन्मतो जीवस्य भवाद्भवान्तरसंक्रमणे इषुगतिपाणिमुक्तालाङ्गलिकागोमूत्रिकाः चेति । तत्र इषुगतिरविग्रहा एकसामयिकी ऋज्वी संसारिणां सिद्धानां च जीवानां भवति । पाणिमुक्ता एकविग्रहा द्विसामयिकी संसारिणां भवति । लाङ्गलिका द्विविग्रहा त्रैसामयिकी भवति । गोमूत्रिका त्रिविग्रहा चतुःसामयिकी भवति । एवमनादिसंसारे भ्रमतो जीवस्य गुणविशेषानुपलब्धितस्तस्य भवसंक्रमणं निरर्थकमित्येवमादिभवसंक्रमणदोषानुचिन्तनं वा चतुर्गतिभवभ्रमणयोनिचिन्तनं भवविचयं सप्तमं धर्म्यम् । ७ । यथावस्थितमीमांसा संस्थानविचयं तत् द्वादशविधम् । अनित्यत्वम् १ अशरणत्वम् २ संसारः ३ एकत्वम् ४ अन्यत्वम् ५ अशुचित्वम् ६ आस्रवः ७ संवरः ८ निर्जरा ९ लोकः १० बोधिदुर्लभः ११ धर्मस्वाख्यातः १२ इत्यनुप्रेक्षाचिन्तनं संस्थानविचयम् अष्टमं धर्म्यध्यानम् । ८ । आज्ञाविचयम् अतीन्द्रियज्ञानविषयं ज्ञातुं चतुर्षु ज्ञानेषु बुद्धिशक्त्यभावात् परलोकबन्धमोक्षलोकालोकसदसद्विवेदनीयधर्माधर्मकालद्रव्यादिपदार्थेषु सर्वज्ञप्रामाण्यात् तत्प्रणीतागमकथितमवितथं न सम्यग्दर्शनस्वभावत्वात् निश्चयचिन्तनं सर्वज्ञागमं प्रमाणीकृत्य अत्यन्तपरोक्षार्थावधारणं वा आज्ञाविचयं नवमं धर्म्यध्यानम् ९ । हेतुविचयम् आगमविप्रतिपत्तौ नैगमादिनयविशेषगुणप्रधानभावोपनयदुर्धर्षस्याद्वादशक्तिप्रतिक्रियावलम्बिनः तर्कानुसारिरुचेः पुरुषस्य स्वसमयगुणपरसमयदोषविशेषपरिच्छेदेन यत्र गुणप्रकर्षः तत्राभिनिवेशः श्रेयानिति स्याद्वादतीर्थंकरप्रवचने पूर्वापराविरोधहेतुपरिग्रहणसामर्थ्येन समवस्थानगुणानुचिन्तनं हेतुविचयं दशमं धर्म्यध्यानम् १० । सर्वमेतत् धर्मध्यानं पीतपद्मशुक्ललेश्याबलाधानम् अविरतादिसरागगुणस्थानभूमिकं द्रव्यभावात्मकसप्तप्रकृतिक्षयकारणम् । आ अप्रमत्तात् अन्तर्मुहूर्तकालपरिवर्तनं परोक्षज्ञानत्वात् क्षायोपशमिकभावं स्वर्गापवर्गगतिफलसंवर्तनीयं शेषैकविंशतिभावलक्षणमोहनीयोपशमक्षयनिमित्तम् । तत्पुनः धर्मध्यानमाभ्यन्तरं बाह्यं च । सहजशुद्धपरमचैतन्यशालिनि निर्भरानन्दमालिनि भगवति निजात्मन्युपादेयबुद्धिं कृत्वा पश्चादनन्तज्ञानोऽहमनन्तसुखोऽहमित्यादिभावनारूपमाभ्यन्तर-

---

सचित्त, अचित्त, सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण, शीतोष्ण, संवृत, विवृत, संवृतविवृत ये नौ योनियां हैं । इन योनियोंमें गर्भ उपपाद और सम्मूर्छन जन्मके द्वारा जीव जन्म लेता है । जब यह जीव एक भवसे दूसरे भवमें जाता है तो इसकी गति चार प्रकारकी होती है–इषुगति, पाणिमुक्ता गति, लांगलिका गति और गोमूत्रिका गति । इषुगति बाणकी तरह सीधी होती है, इसमें एक समय लगता है। यह संसारी जीवोंके भी होती है और सिद्ध जीवोंके भी होती है । शेष तीनों गतियां संसारी जीवोंके ही होती हैं । पाणिमुक्ता गति एक मोडेवाली होती है, इसमें दो समय लगते हैं । लांगलिका गति दो मोडेवाली होती है, इसमें तीन समय लगते हैं । गोमूत्रिका गति तीन मोडेवाली होती है, इसमें चार समय लगते हैं । इस प्रकार अनादिकालसे संसारमें भटकते हुए जीवके गुणोंमें कुछभी विशेषता नहीं आती, इसलिये उसका यह भटकना निरर्थक ही है, इत्यादि रूपसे भवभ्रमणके दोषोंका विचार करना भवविचय नामका सातवां धर्मध्यान है । अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओंका विचार करना संस्थानविचय धर्मध्यान है । सर्वज्ञके द्वारा उपदिष्ट आगमको प्रमाण मानकर अत्यन्त परोक्ष पदार्थोंमें आस्था रखना आज्ञाविचय धर्मध्यान है । आगमके विषयमें विवाद होनेपर नैगम आदि नयोंकी गौणता और प्रधानताके प्रयोगमें कुशल तथा स्याद्वादकी शक्तिसे युक्त तर्कशील मनुष्य अपने आगमके गुणोंको और अन्य आगमोंके दोषोंको जानकर 'जहां गुणोंका आधिक्य हो उसीमें मनको लगाना श्रेष्ठ है' इस अभिप्रायको दृष्टिमें रखकर जो तीर्थङ्करके द्वारा उपदिष्ट प्रवचनमें युक्तियोंके द्वारा पूर्वापर अविरोध देखकर उसकी पुष्टिके लिये युक्तियोंका चिन्तन करता है, वह हेतुविचय धर्मध्यान है। इस प्रकार धर्मध्यानके दस भेद हैं। धर्मध्यानके दो भेद भी हैं–एक आभ्यन्तर और एक बाह्य । सहज शुद्ध चैतन्यसे सुशोभित और

धर्मध्यानमुच्यते १। पञ्चपरमेष्ठिभक्त्यादि तदनुकूलश्रुतानुष्ठानं बहिरङ्गधर्मध्यानं भवति २। तथा पदस्थपिण्डस्थरूपस्थ-रूपातीतं चतुर्विधं ध्यानमाभ्यन्तरं धर्म्यं कथ्यते। "पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम्। रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरञ्जनम् ॥" इति धर्मध्यानं विचित्रं ज्ञातव्यम् ॥ "पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते। तत्पदस्थं मतं ध्यानं विचित्रनयपारगैः ॥" तद्यथा। "पणतीससोलछप्पण चदुदुगमेगं च जवह झाएह। परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूव-एसेण ॥" 'णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।' एतानि पञ्चत्रिंशदक्षराणि सर्वपदानि भण्यन्ते ३५। 'अरहंतसिद्धआयरियउवज्झायसाहू।' वा 'अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः।' एतानि षोडशाक्षराणि नामपदानि भण्यन्ते १६। 'अरहंतसिद्ध' एतानि षडक्षराणि अर्हत्सिद्धयोर्नामपदे द्वे भण्येते ६। पण, 'असिआउसा' एतानि पञ्चाक्षराण्यादिपदानि भण्यन्ते ५। चदु, 'अरहंत' इदमक्षरचतुष्टयमर्हतो नामपदम्। दुग, 'सिद्ध' 'अर्हं' वा इत्यक्षरद्वयस्य सिद्धस्य अर्हतो वा नामादिपदम् २। 'अ' इत्येकाक्षरमर्हत आदिपदम् अथवा 'ओं' इत्येकाक्षरं पञ्चपरमेष्ठिनामादिपदम्। तत्कथमिति चेत्। "अरहंता असरीरा आयरिया तह उवज्झया मुणिणो। पढमक्खरणिप्पण्णो ओंकारो पंचपरमेट्ठी ॥" 'सवर्णे सह दीर्घः, उ ओ, मोनुस्वारः' इत्यादिना निष्पद्यते। एतेषां पदानां सर्वमन्त्रवादपदेषु मध्ये सारभूतानामिहलोकपरलोकेष्टफलप्रदानाम् अर्थं ज्ञात्वा पश्चादनन्तज्ञानादिगुण-स्मरणरूपेण वचनोच्चारणेन च जापं कुरुत। तथैव शुभोपयोगरूपत्रिगुप्तावस्थायां मौनेन ध्यायत। पुनरपि कथंभूतानां पञ्चपरमेष्ठिवाचकानाम्। अनन्तज्ञानादिगुणयुक्तोऽर्हद्वाच्योऽभिधेयः इत्यादिरूपेणार्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधुवाचकानाम्। अन्यदपि द्वादशसहस्रप्रमितपञ्चनमस्कारग्रन्थकथितक्रमेण लघुसिद्धचक्रं बृहत्सिद्धचक्रमित्यादिदेवार्चनविधानम्। तथाहि। यो

आनन्दसे भरपूर अपनी आत्मामें उपादेयबुद्धि करके पुनः 'मैं अनन्त ज्ञानवाला हूं' 'मैं अनन्त सुखस्वरूप हूं' इत्यादि भावना करना आभ्यन्तर धर्मध्यान है। और पंच परमेष्ठीमें भक्ति रखना उनके अनुकूल प्रवृत्ति करना बहिरंग धर्मध्यान है। धर्मध्यानके चार भेद और भी हैं। पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। ये चारों धर्मध्यान आभ्यन्तर हैं। पवित्र पदोंका आलम्बन लेकर जो ध्यान किया जाता है उसे पदस्थध्यान कहते हैं। द्रव्यसंग्रहमें कहा है–"परमेष्ठीके वाचक पैंतीस, सोलह, छै, पांच, चार, दो और एक अक्षरके मंत्रोंको जपो और ध्याओ। तथा गुरुके उपदेशसे अन्य मंत्रोंको भी जपो और ध्याओ"। 'णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।' यह पैंतीस अक्षरोंका मंत्र है। 'अरहंतसिद्ध आयरिय उवज्झाय साहू' अथवा 'अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः' यह मंत्र सोलह अक्षरोंका है। 'अरहंत सिद्ध' यह छै अक्षरोंका मंत्र है। 'अ सि आ उ सा' यह पांच अक्षरका मंत्र है। 'अरहंत' यह चार अक्षरोंका मंत्र है। 'सिद्ध' अथवा 'अर्हं' ये दो अक्षरोंके मंत्र हैं। 'अ' यह एक अक्षरका मंत्र अर्हन्तका वाचक है। अथवा 'ओं' यह एक अक्षरका मंत्र पंचपरमेष्ठीका वाचक है। कहाभी है–'अरहंत, असरीर (सिद्ध) आचार्य, उपाध्याय और मुनि (साधु) इन पांचों परमेष्ठियोंके प्रथम अक्षरोंको लेकर मिलानेसे (अ+अ+आ+उ+म्) पंचपरमेष्ठीका वाचक 'ओं' पद बनता है।' ये मंत्र सब मंत्रोंमें सारभूत हैं तथा इस लोक और परलोकमें इष्ट फलको देनेवाले हैं। इनका अर्थ जानकर अनन्त ज्ञान आदि गुणोंका स्मरण करते हुए और मंत्रका उच्चारण करते हुए जप करना चाहिये। तथा शुभोपयोग पूर्वक मन, वचन और कायको स्थिर करके मौनपूर्वक इनका ध्यान करना चाहिये। इन मंत्रोंके सिवाय बारह हजार प्रमाण पंचनमस्कार ग्रन्थमें कही हुई विधिसे लघुसिद्धचक्र बृहसिद्ध-चक्र आदि विधानभी करना चाहिये। इस सिद्धचक्रके ध्यानकी विधि इस प्रकार है–नाभिमण्डलमें

भव्यः नाभिमण्डले षोडशदलयुक्तकमले दलं दलं प्रति षोडशस्वरश्रेणिं भ्रमन्तीं चिन्तयेत् । अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः । तथा हृदये चतुर्विंशतिपत्रसंयुक्तकमले पञ्चविंशतिककारादिमकारान्तान् व्यञ्जनान् स्मरेत् । क ख ग घ ङ । च छ ज झ ञ । ट ठ ड ढ ण । त थ द ध न । प फ ब भ म । ततः वदनकमलेऽष्टदलसहिते शेषयकारादिहकारान्तान् वर्णान् प्रदक्षिणं चिन्तयेत् । "इमां प्रसिद्धसिद्धान्तप्रसिद्धां वर्णमातृकाम् । ध्यायेद्यः स श्रुताम्भोधेः पारं गच्छेच्च तत्फलात् ॥" "अथ मन्त्रपदाधीशं सर्वतत्त्वैकनायकम् । आदिमध्यान्तभेदेन स्वरव्यञ्जनसंभवम् ॥ ऊर्ध्वाधो रेफसंरुद्धं सकलं बिन्दुलाञ्छितम् । अनाहतयुतं तत्त्वं मन्त्रराजं प्रचक्षते ॥" र्हं । "देवासुरनतं मिथ्यादुर्बोधध्वान्तभास्करम् । शुभ्रमूर्धस्थचन्द्रांशुकलापव्याप्तदिग्मुखम् ॥" "हेमाब्जकर्णिकासीनं निर्मलं दिक्षु खाङ्गणे । संचरन्तं च चन्द्राभं जिनेन्द्रतुल्यमूर्जितम् ॥" "ब्रह्मा कैश्चिद्धरिः कैश्चिद्बुद्धः कैश्चिन्महेश्वरः । शिवः सार्वस्तथैशानो वर्णोऽयं कीर्तितो महान् ॥" "मन्त्रमूर्तिं किलादाय देवदेवो जिनः स्वयम् । सर्वज्ञः सर्वगः शान्तः साक्षादेष व्यवस्थितः ॥" "ज्ञानबीजं जगद्वन्द्यं जन्ममृत्युजरापहम् । अकारादिहकारान्तं रेफबिन्दुकलाङ्कितम् ॥" "भुक्तिमुक्त्यादिदातारं स्रवन्तममृताम्बुभिः । मन्त्रराजमिदं ध्यायेत् धीमान् विश्वसुखावहम् ॥" "नासाग्रे निश्चलं वापि भ्रूलतान्ते महोज्ज्वलम् । तालुरन्ध्रेण वा यातं विशन्तं वा मुखाम्बुजे ॥" "सकृदुच्चारितो येन मन्त्रोऽयं वा स्थिरीकृतः । हृदि तेनापवर्गाय पाथेयं स्वीकृतं परम् ॥" इमं महामन्त्रराजं यो ध्यायति स कर्मक्षयं कृत्वा मोक्षसुखं प्राप्नोति । अर्हं । तथा हकारमात्रं सूक्ष्मचन्द्ररेखासदृशं शान्तिकारणं यो भव्यः चिन्तयति स स्वर्गेषु देवो महर्द्धिको भवेत् । यो भव्य ओंकारं पञ्चपरमेष्ठिप्रथमाक्षरोत्पन्नं देदीप्यमानं चन्द्रकलाबिन्दुना सितवर्णं धर्मार्थकाममोक्षदं हृदयकमलकर्णिकामध्यस्थं चिन्तामणिसमानं चिन्तयति स भव्यः सर्वसौख्यं लभते । ओं, इमं मन्त्रराजं शत्रुस्तम्भने सुवर्णाभं, विद्वेषे कृष्णाभं, वशीकरणे रक्तवर्णं, पापनाशने शुभ्रं, सर्वकार्यसिद्धिकरं चिन्तयेत् ॥ तथा,

---

सोलह पत्रवाले कमलके प्रत्येक दलपर अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः इन सोलह स्वरोंका क्रमसे चिन्तन करो। फिर हृदयमें चौवीस पत्तोंसे युक्त कमलके ऊपर क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, इन ककारसे लेकर मकार तक पच्चीस व्यंजनोंका चिन्तन करो। फिर आठ दल सहित मुखकमलपर बाकीके यकार से लेकर हकार पर्यन्त वर्णोंको दाहिनी ओर से चिन्तन करो। सिद्धान्तमें प्रसिद्ध इस वर्ण मातृकाका जो ध्यान करता है वह संसारसमुद्रसे पार हो जाता है ॥ समस्त मंत्रपदोंका स्वामी सब तत्त्वोंका नायक, आदि मध्य और अन्तके भेदसे स्वर तथा व्यंजनोंसे उत्पन्न, ऊपर और नीचे रेफसे युक्त, बिन्दुसे चिह्नित हकार (र्हं) बीजाक्षर है। अनाहत सहित इस बीजाक्षरको मंत्रराज कहते हैं। देव और असुर इसे नमस्कार करते हैं, भयंकर अज्ञानरूपी अन्धकारको दूर करनेके लिये वह सूर्य के समान है। अपने मस्तकपर स्थित चन्द्रमा (‿) की किरणों से यह दिशाओंको व्याप्त करता है। सुवर्णकमलके मध्यमें कर्णिकापर विराजमान, निर्मल चन्द्रमाकी तरह प्रकाशमान, और आकाशमें गमन करते हुए तथा दिशाओंमें व्याप्त होते हुए जिनेन्द्र देवके तुल्य यह मंत्रराज है। कोई इसे ब्रह्मा कहता है, कोई इसे हरि कहता है, कोई इसे बुद्ध कहता है, कोई महेश्वर कहता है, कोई शिव, कोई सार्व और कोई ईशान कहता है। यह मंत्रराज ऐसा है मानो सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, शान्तमूर्ति देवाधिदेव जिनेन्द्र स्वयं ही इस मंत्ररूपसे विराजमान हैं ॥ यह ज्ञानका बीज है, जगतसे वन्दनीय है, जन्म मृत्यु और जराको हरनेवाला है, मुक्तिका दाता है, संसारके सुखोंको लाता है, रेफ और बिन्दुसे युक्त अर्हं इस मंत्रका ध्यान करो। नासिकाके अग्र भागमें स्थिर, भौंहोंके मध्यमें स्फुरायमाण, तालुके छिद्रसे जाते हुए और मुखरूपी कमलमें प्रवेश करते हुए इस मंत्रराजका ध्यान करना चाहिये। जिसने एक बार भी इस मंत्रराजको उच्चारण करके अपने हृदयमें स्थिर करलिया, उसने मोक्षके लिये उत्तम कलेवा ग्रहण करलिया। आशय यह है कि जो इस महा-

"पञ्चगुरुनमस्कारलक्षणं मन्त्रमूर्जितम् । चिन्तयेच्च जगज्जन्तुपवित्रीकरणक्षमम् ॥" "स्फुरद्विमलचन्द्राभे दलाष्टकविभूषिते । कञ्जे तत्कर्णिकासीनं मन्त्रं सप्ताक्षरं स्मरेत् ॥" "दिग्दलेषु ततोऽन्येषु विदिक्पत्रेष्वनुक्रमात् । सिद्धादिकं चतुष्कं च दृष्टि-बोधादिकं तथा ॥" ओं णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं । अपराजितमन्त्रोऽयं दर्शनज्ञानचारित्रतपांसि । "श्रियमात्यन्तिकीं प्राप्ता योगिनो ये च केचन । अमुमेव महामन्त्रं ते समाराध्य केवलम् ॥" "अनेनैव विशुद्ध्यन्ति जन्तवः पापपङ्किताः । अनेनैव विमुच्यन्ते भवक्लेशान्मनीषिणः ॥" "एत-व्यसनपाताले भ्रमत्संसारसागरे । अनेनैव जगत्सर्वमुद्धृत्य विधृतं शिवे ॥" "कृत्वा पापसहस्राणि हत्वा जन्तुशतानि च । अमुं मन्त्रं समाराध्य तिर्यञ्चोऽपि दिवं गताः ॥" तथा यो भव्यः मस्तके भालस्थले मुखे कण्ठे हृदये नाभौ च प्रत्येकमष्ट-दलकमलं तन्मध्ये कर्णिकां विधाय प्रत्येकं पञ्चनमस्कारान् पञ्चत्रिंशद्वर्णोपेतान् कमलं प्रति नवसंख्योपेतान् जपेत् चिन्तयति । अवरोहणारोहणेन द्वादशकमलेषु एकीकृताः नमस्काराः अष्टोत्तरशतप्रमा भवन्ति । तत्फलमाह । "शतमष्टोत्तरं चास्य त्रिशुद्ध्या चिन्तयन्मुनिः । भुञ्जानोऽपि चतुर्थस्य प्राप्नोत्यविकलं फलम् ॥" "मस्तके वदने कण्ठे हृदये नाभिमण्डले । ध्याये-च्चन्द्रकलाकारे योगी प्रत्येकमम्बुजम् ॥" "स्मर मन्त्रपदोद्भूतां महाविद्यां जगन्नुताम् । गुरुपञ्चकनामोत्थषोडशाक्षरराजिताम् ॥" "अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः ।" षोडशाक्षरविद्या । "अस्याः शतद्वयं ध्यानी जपन्नेकाग्रमानसः । अनिच्छन्न-प्यवाप्नोति चतुर्थतपसः फलम् ॥" "विद्यां षड्वर्णसंभूतामजय्यां पुण्यशालिनीम् । जपन् चतुर्थमभ्येति फलं ध्यानी शतत्रयम् ॥" 'अरहंतसिद्ध' अथवा 'अरहंतसाहु' ॥ "चतुर्वर्णमयं मन्त्रं चतुर्वर्गफलप्रदम् । चतुःशतीं जपन् योगी चतुर्थस्य फलं लभेत् ॥"

मंत्रका ध्यान करता है वह कर्मोंका क्षय करके मोक्षसुखको पाता है । जो भव्य 'अर्हं' इस मंत्रको अथवा सूक्ष्म चन्द्ररेखाके समान हकार मात्रका चिन्तन करता है वह स्वर्गोंमें महर्द्धिक देव होता है । जो भव्य पंचपरमेष्ठीके प्रथम अक्षरोंसे उत्पन्न ॐ का चिन्तन अपने हृदयकमलमें करता है वह सब सुखों को पाता है ॥ इस मंत्रराज ॐ को शत्रुका स्तम्भन करनेके लिये सुवर्णके समान पीला चिन्तन करे । द्वेषके प्रयोगमें कज्जलकी तरह काला चिन्तन करे, वशीकरणके प्रयोगमें लालवर्णका चिन्तन करे, और पापकर्मका नाश करनेके लिये चन्द्रमाके समान श्वेतवर्णका चिन्तन करे ॥ तथा पंच परमेष्ठियोंको नमस्कार करने रूप महामंत्रका चिन्तन करे । यह नमस्कार मंत्र जगतके जीवोंको पवित्र करनेमें समर्थ है ॥ स्फुरायमान निर्मल चन्द्रमाके समान और आठ पत्रोंसे भूषित कमलकी कर्णिका पर सात अक्षरके मंत्र 'णमो अरिहंताणं'का चिन्तन करे । और उस कर्णिकाके आठ पत्रों-मेंसे ४ दिशाओंके ४ पत्रोंपर क्रमसे 'णमो सिद्धाणं' 'णमो आइरियाणं' 'णमो उवज्झायाणं' 'णमो लोए सबसाहूणं' इन चार मंत्रपदोंका स्मरण करे । और विदिशाओंके ४ पत्रोंपर क्रमसे 'सम्यग्दर्शनाय नमः' 'सम्यग्ज्ञानाय नमः' 'सम्यक् चारित्राय नमः' 'सम्यक् तपसे नमः', इन चार पदोंका चिन्तन करें ॥ इस लोकमें जितने भी योगियोंने मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त किया उन सबने एकमात्र इस नमस्कार महामंत्रकी आराधना करके ही प्राप्त किया ॥ पापी जीव इसी महामंत्रसे विशुद्ध होते हैं । और इसी महामंत्रके प्रभावसे बुद्धिमान् लोग संसारके क्लेशोंसे छूटते हैं । दुःखरूप पातालोंसे भरे हुए संसाररूपी समुद्रमें भटकते हुए इस जगतका उद्धार करके इसी मंत्रने मोक्षमें रखा है ॥ हजारों पापोंको करके और सैकड़ों जीवोंको मारकर तिर्यञ्चभी इस महामंत्रकी आराधना करके स्वर्गको प्राप्त हुए ॥ मस्तक, भालस्थान, मुख, कण्ठ, हृदय और नाभिमेंसे प्रत्येकमें आठ पत्तोंका कमल और उसके बीचमें कर्णिकाकी रचना करके प्रत्येक कमलपर पैंतीस अक्षरके पंच नमस्कार मंत्रको नौ वार जपना चाहिये । इस प्रकार ऊपरसे नीचे और नीचेसे ऊपर बारह कमलोंपर जपनेसे १०८ वार जाप हो जाती है । जो मुनि मन वचन और कायको शुद्ध करके इस मंत्रको १०८ वार ध्याता है वह मुनि आहार करता हुआभी एक उपवासके पूर्ण फलको प्राप्त होता है ॥ पंच नमस्कार मंत्रके पांच पदोंसे

अरहंत ॥ "वर्णद्वयं श्रुतस्कन्धे सारभूतं शिवप्रदम्। ध्यायेज्जन्मोद्भवाशेषक्लेशनिर्मूलनक्षमम् ॥' 'सिद्ध' 'अर्हं'वा ॥ "अवर्णस्य सहस्रार्धं जपन्नानन्दसंभृतः। प्राप्नोत्येकोपवासस्य निर्जरां निर्जिताशयः ॥" 'अः'। तथा "आदिमं चार्हतो नाम्नोऽकारं पञ्चशत-प्रमान्। वारान् जपेत् त्रिशुद्ध्या यः स चतुर्थफलं श्रयेत् ॥" अ ॥ "पञ्चवर्णमयीं विद्यां पञ्चतत्त्वोपलक्षिताम्। मुनिवीरैः श्रुतस्कन्धाद्बीजबुद्ध्या समुद्धृताम् ॥ 'ओं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ साय नमः।' "अस्यां निरन्तराभ्यासाद्वशीकृत-निजाशयः। प्रोच्छिनत्त्याशु निःशङ्को निगूढं जन्मबन्धनम् ॥" "मङ्गलशरणोत्तमपदनिकुरम्बं यस्तु संयमी स्मरति। अवि-कलमेकाग्रधिया स चापवर्गश्रियं श्रयति ॥" चत्तारि मंगलं, अरहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहु मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगोत्तमा, अरहंत लोगोत्तमा, सिद्ध लोगोत्तमा, साहु लोगोत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगोत्तमो। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि, अरहंत सरणं पव्वज्जामि, सिद्ध सरणं पव्वज्जामि, साहु सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि ॥ "सिद्धेः सौधं समारोढुमियं सोपानमालिका। त्रयोदशाक्षरोत्पन्ना विद्या विश्वातिशायिनी ॥" 'ओं, अरहंत सिद्ध योगि केवली स्वाहा'। यो भव्यः इमम् ऋषिमण्डलमन्त्रराजं सप्तविंशति-वर्णोपेतम् 'ओं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रें ह्रै ह्रौं ह्रः असिआउसासम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेभ्यो नमः।" इति ध्यायति जपति सहस्राष्टकम्। ८०००। स वाञ्छितार्थम् इहपरलोकसुखसर्वाभीष्टं प्राप्नोति। तथा ओं ह्रीं श्रीं अर्हं नमः। नमः सिद्धाणं। ओं नमो अर्हते केवलिने परमयोगिने अनन्तविशुद्धपरिणामविस्फुरदुरुशुक्लध्यानाग्निनिर्दग्धकर्मबीजाय

उत्पन्न सोलह अक्षरोंके मंत्रका भी जप करना चाहिये। वह मंत्र है–'अर्हत् सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः'। जो ध्यानी मनको एकाग्र करके दो सौ वार इस मंत्रका जप करता है वह नहीं चाहते हुएभी एक उपवासके फलको प्राप्त करता है॥ 'अरहंत सिद्ध' अथवा 'अरहंत साहु' इन छै अक्षरोंके मंत्रको तीन सौ वार जप करनेवाला मनुष्य एक उपवासके फलको प्राप्त होता है॥ 'अरहंत' इन चार अक्षरोंके मंत्रको चार सौ वार जप करनेवाला मनुष्य एक उपवासके फलको प्राप्त होता है॥ 'सिद्ध' अथवा 'अर्हं' यह दो अक्षरोंका मंत्र द्वादशांगका सारभूत है, मोक्षको देनेवाला है और संसारसे उत्पन्न हुए समस्त क्लेशोंको नष्ट करनेमें समर्थ है। इसका ध्यान करना चाहिये॥ जो मुनि 'अ' इस वर्णका पांच सौ वार जप करता है वह एक उपवासके फलको प्राप्त करता है॥ जो मन वचन कायको शुद्ध करके पांच सौ वार 'अर्हत्' के आदिअक्षर 'अ' मंत्रका जाप करता है वह एक उपवासके फलको प्राप्त करता है॥ पांच तत्त्वोंसे युक्त तथा पांच अक्षरमय 'ओं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ साय नमः' इस मंत्रको मुनीश्वरोंने द्वादशांग वाणीमेंसे सारभूत समझकर निकाला है। इसके निरन्तर अभ्याससे अति कठिन संसाररूपी बन्धन शीघ्र कट जाता है॥ जो मुनि 'चत्तारि मंगलं, अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा, अरहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि, अरहंतसरणं पव्वज्जामि, सिद्धसरणं पव्वज्जामि, साहूसरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।' एकाग्र मनसे इन पदोंका स्मरण करता है वह महालक्ष्मीको प्राप्त करता है॥ 'ॐ अर्हत् सिद्ध सयोग केवली स्वाहा' यह तेरह अक्षरोंका मंत्र मोक्ष महलपर चढ़नेके लिये सीढ़ियोंकी पंक्ति है॥ 'ओं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रें ह्रैं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ साय सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेभ्यो नमः' इस सत्ताईस अक्षरोंके ऋषिमण्डल मंत्रको जो भव्य आठ हजार वार जपता है वह इस लोक और परलोकमें समस्त वाञ्छित सुखको पाता है॥ तथा

प्राप्तानन्तचतुष्टयाय सौम्याय शान्ताय मङ्गलवरदाय अष्टादशदोषरहिताय स्वाहा । तथा । "स्मरेन्दुमण्डलाकारं पुण्डरीकं मुखोदरे । दलाष्टकसमासीनं वर्णाष्टकविराजितम् ॥ ओं णमो अरहंताणमिति वर्णानपि क्रमात् । एकशः प्रतिपत्रं तु तस्मिन्नेव निवेशयेत् ॥ स्वर्णगौरीं स्वरोद्भूतां केसरालीं ततः स्मरेत् । कर्णिकां च सुधास्यन्दबिन्दुव्रजविभूषिताम् ॥ (अकारादि) प्रोद्यत्संपूर्णचन्द्राभं चन्द्रबिम्बाच्छनैः शनैः । समागच्छत्सुधाबीजं मायावर्णं तु चिन्तयेत् ॥ विस्फुरन्तमतिस्फीतं प्रभामण्डलमध्यगम् । संचरन्तं मुखाम्भोजे तिष्ठन्तं कर्णिकोपरि ॥ ह्रीं ॥ भ्रमन्तं प्रतिपत्रेषु चरन्तं वियति क्षणे । छेदयन्तं मनोध्वान्तं स्रवन्तममृताम्बुभिः ॥ व्रजन्तं तालुरन्ध्रेण स्फुरन्तं भ्रूलतान्तरे । ज्योतिर्मयमिवाचिन्त्यप्रभावं चिन्तयेन्मुनिः ॥" 'ओं णमो अरहंताणं' इमे अष्टौ वर्णाः । ह्रीं । इमं महामन्त्रं स्मरन् योगी विषनाशसर्वशास्त्रपारगो भवति । निरन्तराभ्यासात् षड्भिर्मासैर्मुखमध्यात् धूमवर्तिं पश्यति । ततः संवत्सरेण मुखान्महाज्वालां निःसरन्तीं पश्यति । तत् सर्वज्ञमुखम् । ततः सर्वज्ञं प्रत्यक्षं पश्यति । यः 'क्ष्वीं' इति ध्यायति ललाटे स सकलकल्याणं प्राप्नोति । तथा । ओं ह्रीं । ह्रीं ओं ओं ह्रीं हं-सः ॥ ओं अर्हं ॥ श्रीं ॥ ह्रीं ओं सः ॥ स्त्रीं हं ओं ह्रीं ॥ ह्रीं ओं ओ ह्रीं ॥ उं । छ । स्त्री । विद्या च । ओं जोगे मग्गे तच्चे भूए भव्वे भविस्से अक्खे पक्खे जिणपारिस्से स्वाहा । ओं ह्रीं अर्हं णमो अरहंताणं ह्रीं नमः ॥ छ ॥ श्रीमद्-

---

'ओं ह्रीं श्रीं अर्हं नमः; णमो सिद्धाणं, और 'ओं नमो अर्हते केवलिने परमयोगिने अनन्तविशुद्ध-परिणामविस्फुरदुरुशुक्लध्यानाग्निनिर्दग्धकर्मबीजाय प्राप्तानन्तचतुष्टयाय सौम्याय शान्ताय मंगलवरदाय अष्टादशदोषरहिताय स्वाहा' इन मंत्रोंका ध्यान करना चाहिये । मुखमें चन्द्रमण्डलके आकारका आठ अक्षरोंसे शोभायमान, आठ पत्रोंका एक कमल चिन्तन करना चाहिये ॥ 'ओं णमो अरहंताणं' इन आठ अक्षरोंको क्रमसे इस कमलके आठ पत्रोंपर स्थापन करना चाहिये ॥ इसके पश्चात् अमृतके झरनोंके बिन्दुओंसे शोभित कर्णिकाका चिन्तवन करे और इसमें स्वरोंसे उत्पन्न हुई तथा सुवर्णके समान पीतवर्ण वाली केशरकी पंक्तिका ध्यान करना चाहिये ॥ फिर उदयको प्राप्त हुए पूर्ण चन्द्रमाकी कान्तिके समान और चन्द्रबिम्बसे धीरे धीरे आनेवाले अमृतके बीज रूप मायावर्ण 'ह्रीं' का चिन्तन करना चाहिये ॥ स्फुरायमान होते हुए, अत्यन्त उज्ज्वल प्रभामण्डलके मध्यमें स्थित, कभी पूर्वोक्त मुखकमलमें संचरण करते हुए, कभी उसकी कर्णिकाके ऊपर स्थित, कभी उस कमलके आठों पत्रोंपर घूमते हुए, क्षणभरमें आकाशमें विचरते हुए, मनके अज्ञानान्धकारको दूर करते हुए, अमृत-मयी जलसे टपकते हुए, तालुके छिद्रसे गमन करते हुए तथा भौंकी लताओंमें स्फुरायमान होते हुए और ज्योतिर्मयके समान अचिंत्य प्रभाववाले मायावर्ण 'ह्रीं' का चिन्तन करना चाहिये ॥ इस महामंत्रका ध्यान करनेसे योगी समस्त शास्त्रोंमें पारंगत हो जाता है । छै मासतक निरन्तर अभ्यास करनेसे मुखके अन्दरसे धूम निकलते हुए देखता है । फिर एक वर्ष तक अभ्यास करनेसे मुखसे निकलती हुई महाज्वाला देखता है । फिर सर्वज्ञका मुख देखता है । उसके बाद सर्वज्ञको प्रत्यक्ष देखता है । इस प्रकार, मुखकमलमें आठ दलके कमलके ऊपर 'ओं णमो अरिहंताणं' इन आठ अक्षरोंको स्थापन करके ध्यान करनेके फलका वर्णन किया । अब अन्य विद्याओंका वर्णन करते हैं । जो ललाट देशमें 'क्ष्वीं' इस विद्याका ध्यान करता है वह सब कल्याणोंका प्राप्त करता है । ह्रीं ओं ओं ह्रीं हं सः ओं जोग्गे मग्गे तच्चे भूदे भव्वे भविस्से अक्खे पक्खे जिणपारिस्से स्वाहा' 'ओं ह्रीं अर्हं नमो णमो अरहंताणं ह्रीं नमः,' 'श्रीमद् वृषभादिवर्द्धमानान्तेभ्यो नमः,' इस मंत्रोंका भी ध्यान करना

वृषभादिवर्धमानान्तेभ्यो नमः ॥ ओं अर्हन्मुखकमलवासिनि पापात्मक्षयंकरि श्रुतज्ञानज्वालासहस्रप्रज्वालिते सरस्वति मत्पापं हन हन दह दह क्षां क्षीं क्षूं क्षौं क्षः क्षीरधवले अमृतसंभवे वं वं हूं हूं स्वाहा । इयं पापभक्षिणी विद्या । सिद्धचक्रम् । असिआउसा । अवर्णं नाभिकमले, सि मस्तककमले, सा मुखकमले, आ कण्ठकमले, उ हृदये । नमः सर्वसिद्धेभ्यः । ओंकार-ह्रींकार-अकार-अर्हम् इत्यादिकं क स्मरणीयम् । "नेत्रद्वन्द्वे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे, वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रूयुगान्ते । ध्यानस्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यत्र देहे, तेष्वेकस्मिन् विगतविषयं चित्तमालम्बनीयम् ॥" इति । इति पदस्थध्यानं समाप्तम् ॥ अथ पिण्डस्थध्यानमुच्यते । पिण्डस्थध्याने पञ्च धारणा भवन्ति । ताः काः । पार्थिवी १, आग्नेयी २, मारुती ३, वारुणी ४, तात्त्विकी ५ चेति । निरञ्जनस्थाने योगी चिन्तयति । किम् । क्षीरसमुद्रं रज्जुप्रमाणमध्यलोकसमानं शब्दरहितमुपशमितकल्लोलं कर्पूरहारतुषारदुग्धवदुज्ज्वलं स्मरति । तस्य मध्ये जम्बूद्वीपप्रमाणं सहस्रदलकमलं सुवर्णं देदीप्यमानं तदुत्पन्नपद्मरागमणिसदृशकेसरालीविराजितं मनोभ्रमररञ्जकं स्मरति । तत्र जम्बूद्वीपप्रमाणसहस्रदलकमले हेमनिभे कनकाचलमयीं दिव्यकर्णिकां चिन्तयेत् । ततः तत्कर्णिकाया मध्ये शरत्कालचन्द्रसदृशमुन्नतं सिंहासनं चिन्तयति । ततः तस्य सिंहासनोपरि आत्मानं सुखासीनं शान्तदान्तरागद्वेषादिरहितं ध्यायेत् पार्थिवी । १ । ततोऽसौ ध्यानी निजनाभिमण्डले मनोज्ञकमनीयषोडशोन्नतपत्रकं कमलं, तस्य कमलस्य पत्रं पत्रं प्रति स्वरम्, एवं षोडशस्वरान् स्मरेत् । तत्कर्णिकाया मध्ये महामन्त्रं विस्फुरन्तम् ऊर्ध्वरेफं कलाबिन्दुसहितं चन्द्रकोटिकान्त्या व्याप्तदिग्मुखं 'अर्हं' इति चिन्तयेत् । ततस्तस्यार्हमित्यक्षरस्य रेफात् निर्गच्छन्तीं धूमशिखां स्मरेत् । ततस्तत्पश्चात् स्फुलिङ्गपंक्तीः अग्निकणान् चिन्तयेत् । ततः ज्वालावलीम् अग्निज्वालाश्रेणीं चिन्तयेत् । ततः तेन ज्वालाकलापेन वर्धमानेन हृदयस्थितं कमलं दहति । तत्कमलमष्टकर्मनिर्माणमष्टपत्राढ्यम् अधोमुखं महामन्त्रोत्पन्नवैश्वानरो दहति । ततः शरीरस्य बहिः त्रिकोणम् अग्निमण्डलम् । "वह्निबीजसमाक्रान्तं पर्यन्ते स्वस्तिकाङ्कितम् । ऊर्ध्वं वायुपुरोद्भूतं निर्धूमं कनकप्रभम् ॥" "अन्तर्दहति मन्त्रार्चिर्बहिर्वह्निपुरं पुरम् । धगद्धगिति विस्फूर्जज्ज्वालाप्रचयभासुरम् ॥ भस्मभावमसौ नीत्वा शरीरं तच्च पङ्कजम् । दाह्याभावात् स्वयं शान्ति

चाहिये 'ओं अर्हन्मुखकमलवासिनि पापात्मक्षयंकरि श्रुतज्ञानज्वालासहस्रप्रज्वलिते सरस्वति मत्पापं हन हन दह दह क्षां क्षीं क्षूं क्षौं क्षः क्षीरवरधवले अमृतसंभवे वं वं हूं हूं स्वाहा ।' ये पापभक्षिणी विद्याके अक्षर हैं । सिद्धचक्रमंत्रका भी ध्यान करना चाहिये । अ सि आ उ सा इन पांच अक्षरोंमें से 'अकार' को नाभिकमलमें, 'सि' अक्षरको मस्तक कमलपर, 'आ' अक्षरको कंठस्थ कमलमें, 'उ' अक्षरको हृदय कमलपर और 'सा' अक्षरको मुखस्थ कमलपर चिन्तवन करना चाहिये । 'नमः सर्वसिद्धेभ्यः' यह भी एक मंत्रपद है । इस शरीरमें निर्मल ज्ञानियोंने मुख, नाभि, शिर, हृदय, तालु भृकुटियोंका मध्य इनको ध्यान करनेके स्थान कहा है । उनमेंसे किसी एकमे चित्तको स्थिर करना चाहिये । इस प्रकार पदस्थ ध्यानका वर्णन समाप्त हुआ । अब पिण्डस्थ ध्यानको कहते हैं । पिण्डस्थ ध्यानमें पांच धारणाएँ होती हैं । पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी और तात्त्विकी । इनमेंसे पहले पार्थिवी धारणाको कहते हैं । प्रथम ही योगी किसी निर्जन स्थानमें एकराजु प्रमाण मध्य लोकके समान निःशब्द निस्तरंग और कपूर अथवा बरफ़ या दूधके समान सफ़ेद क्षीरसमुद्रका ध्यान करे । उसमें जम्बूद्वीपके बराबर सुवर्णमय हजार पत्तों वाले कमलका चिन्तन करे । वह कमल पद्मरागमणिके सदृश केसरोंके पंक्तिसे शोभित हो और मनरूपी भौंरेको अनुरक्त करने वाला हो । फिर उस जम्बूद्वीप जितने विस्तार वाले सहस्र दल कमलमें सुमेरुमय दिव्य कर्णिकाका चिन्तन करे । फिर उस कर्णिकामें शरद् कालके चन्द्रमाके समान श्वेतवर्णका एक ऊंचा सिंहासन चिन्तन करें । उस सिंहासनपर अपनेको सुखसे बैठा हुआ शान्त, जितेन्द्रिय और रागद्वेषसे रहित चिन्तवन करे । यह पार्थिवी धारणाका स्वरूप है । इसके पश्चात् वह ध्यानी पुरुष अपने नाभिमण्डलमें सोलह ऊंचे पत्तोंवाले एक मनोहर कमलका

याति वह्निः शनैः शनैः ॥" इति आग्नेयी धारणा । २ । "अथापूर्य दिशाकाशं संचरन्तं महाबलम् । महावेगं स्मरेत् ध्यानी समीरणं निरन्तरम् ॥ तद्रजः शीघ्रमुद्धूय तेन प्रबलवायुना । ततः स्थिरीकृताभ्यासः पवनं शान्तिमानयेत् ॥" इति मारुती । ३ । "वारुण्यां जलदव्रातं स वर्षन्तं नभस्तलात् । स्थूलधाराव्रजैर्विद्युद्गर्जनैः सह चिन्तयेत् ॥ ततोऽर्धेन्दुसमं कान्तं पुरं वरुणलाञ्छितम् । स्मरेत्सुधापयःपूरैः प्लावयन्तं नभोगणम् ॥ तेन ध्यानोत्थनीरेण दिव्येन प्रबलेन सः । प्रक्षालयेच्च निःशेषं तद्भस्म कायसंभवम् ॥ इति वारुणी । ४ । ततः योगी स्वात्मानं सर्वज्ञसदृशं सप्तधातुविनिर्मुक्तं चन्द्रकोटिकान्तिसमं सिंहासनारूढं दिव्यातिशयसंयुतं कल्याणमहिमोपेतं देववृन्दैरर्चितं कर्ममलकलङ्करहितं स्वस्वरूपं चिन्तयेत् । "तेओ पुरुसायारो झायव्वो णियसरीरगब्भत्थो । सियकिरणविप्फुरंतो अप्पा परमप्पयसरूवो ॥ णियणाहिकमलमज्झे परिट्ठियं विप्फुरंतरवितेयं । झाएह अरुहरूवं झाणं तं मुणह पिंडत्थं ॥ झायह णियकरमज्झे भालयले हिययकंठदेसम्हि । जिणरूवं रवितेयं पिंडत्थं मुणह झाणम्हि ॥" "मस्तके वदने कण्ठे हृदये नाभिमण्डले । ध्यायेचन्द्रकलाकारे योगी प्रत्येकमम्बुजम् ॥" सिद्धसादृश्यं गतसिक्थमूषिकागर्भसमानं स्वात्मानं ध्यानी ध्यायेत् सिद्धसुखादिकं लभेत् । इति पिण्डस्थध्यानं समाप्तम् ॥ अथ रूपस्थध्यानमुच्यते । ध्यानी समवसरणस्थं जिनेन्द्रचन्द्रं चिन्तयेत् । "मानस्तम्भाः सरांसि प्रविमलजलसत्खातिका पुष्पवाटी, प्राकारो नाट्यशालाद्वितयमुपवनं वेदिकान्तर्ध्वजाद्याः ।

ध्यान करे । फिर उस कमलके सोलह पत्रोंपर 'अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः' इन सोलह अक्षरोंका ध्यान करे । और उस कमलकी कर्णिकापर 'अर्हँ' (र्हँ) इस महामंत्रका चिन्तन करे । इसके पश्चात् उस महामंत्रके रेफ़से निकलती हुई धूमकी शिखाका चिन्तवन करे। उसके पश्चात् उसमेंसे निकलते हुए स्फुलिंगोंकी पंक्तिका चिन्तवन करे । फिर उसमेंसे निकलती हुई ज्वालाकी लपटोंका चिन्तन करे । फिर क्रमसे बढ़ते हुए उस ज्वालाके समूहसे अपने हृदयमें स्थित कमलको जलता हुआ चिन्तन करे । वह हृदयमें स्थित कमल आठ पत्रोंका हो उसका मुख नीचेकी ओर हो और उन आठ पत्रोंपर आठ कर्म स्थित हों । उस कमलको नाभिमें स्थित कमलकी कर्णिकापर विराजमान 'र्हँ' से उठती हुई प्रबल अग्नि निरन्तर जला रही है ऐसा चिन्तन करे । उस कमलके दग्ध होनेके पश्चात् शरीरके बाहर त्रिकोण अग्निका चिन्तन करे । वह अग्नि बीजाक्षर 'र' से व्याप्त हो और अन्तमे स्वस्तिकसे चिह्नित हो । इस प्रकार वह धगधग करती हुई लपटोंके समूहसे देदीप्यमान अग्निमंडल नाभिमें स्थित कमल और शरीरको जलाकर राख कर देता है। फिर कुछ जलानेको न होनेसे वह अग्निमण्डल धीरे धीरे स्वयं शान्त होजाता है । यह दूसरी आग्नेय धारणाका स्वरूप कहते है । आगे मारुती धारणाका स्वरूप कहते हैं । ध्यानी पुरुष आकाशमें विचरण करते हुए महावेगवाले बलवान वायुमण्डलका चिन्तन करे । फिर यह चिन्तन करे कि उस शरीर वगैरहकी भस्मको उस वायुमण्डलने उड़ा दिया फिर उस वायुको स्थिर रूप चिन्तवन करके शान्त कर दे । यह मारुती धारणाका स्वरूप है । आगे वारुणी धारणाका वर्णन करते हैं । फिर वह ध्यानी पुरुष आकाशसे गर्जन तर्जनके साथ बरसते हुए मेघोंका चिन्तन करे । फिर अर्ध चन्द्रमाके आकार मनोहर और जलके प्रवाहसे आकाश रूपी आगनको बहाते हुए वरुण मण्डलका चिन्तवन करे । उस दिव्य ध्यानसे उत्पन्न हुए जलसे शरीरके जलनेसे उत्पन्न हुई राखको धोता है ऐसा चिन्तन करे । यह वारुणी धारणा है । अब तत्त्ववती धारणाको कहते हैं । उसके बाद ध्यानी पुरुष अपनेको सर्वज्ञके समान, सप्तधातुरहित, पूर्णचन्द्रमाके समान प्रभावाला, सिंहासनपर विराजमान, दिव्य अतिशयोंसे युक्त, कल्याणकोंकी महिमा सहित, देवोंसे पूजित, और कर्मरूपी

शालः कल्पद्रुमाणां सुपरिवृतिवनं स्तूपहर्म्यावली च, प्राकारः स्फाटिकोऽन्तर्नृसुरमुनिसभापीठिकाग्रे स्वयंभूः ॥' आदिदेवस्य द्वादशयोजनप्रमाणम्, अजितस्य सार्धैकादशयोजनप्रमाणम्, शम्भवस्यैकादशयोजनमानमित्यादिक्रमेण हीयमानं महावीरस्य योजनप्रमाणं समवसरणम्। तथा विदेहक्षेत्रस्थितश्रीसीमंधरयुग्मंधरादीनां समवसरणं द्वादशयोजनप्रमाणम्। तत्र समवसरणस्य मध्ये तृतीयसिंहासनोपरि चतुरङ्गुलान्तरितं स्वयंभुवमर्हन्तं चिन्तयेत्। तद्यथा। "आर्हन्त्यमहिमोपेतं सर्वज्ञं परमेश्वरम्। ध्यायेद्देवेन्द्रचन्द्रार्कसभान्तस्थं स्वयंभुवम् ॥ सर्वातिशयसंपूर्णं दिव्यलक्षणलक्षितम्। अनन्तमहिमाधारं सयोगिपरमेश्वरम् ॥ सप्तधातुविनिर्मुक्तं मोक्षलक्ष्मीकटाक्षितम्। सर्वभूतहितं देवं शीलशैलेन्द्रशेखरम् ॥" तथा। 'भामण्डलादियुक्तस्य शुद्ध-स्फाटिकभासिनः। चिन्तनं जिनरूपस्य रूपस्थं ध्येयमुच्यते ॥' चतुस्त्रिंशदतिशयोपेतमष्टमहाप्रातिहार्यविराजितमनन्त-ज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयमण्डितं द्वादशगणोपेतं जिनरूपं चिन्तयेद्ध्यानी। तथा च। 'घणघाइकम्ममहणो अइसयवरपाडिहेर-संजुत्तो। झाएह धवलवण्णो अरहंतो समवसरणत्थो ॥ रूवं झाणं दुविहं सगयं तह परगयं च जं भणियं। सगयं

कलंकसे रहित चिन्तवन करे। फिर अपने शरीरमें स्थित आत्माको आठ कर्मोंसे रहित, अत्यन्त निर्मल पुरुषाकार चिन्तवन करे। इस प्रकार यह पिण्डस्थ ध्यानका वर्णन हुआ। अब रूपस्थ ध्यानको कहते हैं। ध्यानी पुरुषको समवसरणमें स्थित जिनेन्द्र भगवानका चिन्तन करना चाहिये। समवसरणकी रचना इस प्रकार होती है–सबसे प्रथम चारों दिशाओंमें चार मानस्तम्भ होते हैं, मानस्तम्भोंके चारों ओर सरोवर होते हैं, फिर निर्मल जलसे भरी हुई खाई होती है, फिर पुष्पवाटिका होती है, उसके आगे पहला कोट होता है, उसके आगे दोनों ओर दो दो नाट्यशालाएँ होती हैं, उसके आगे दूसरा उपवन होता है, उसके आगे वेदिका होती है, फिर ध्वजाओंकी पंक्तियां होती हैं, फिर दूसरा कोट होता है, उसके आगे वेदिकासहित कल्पवृक्षोंका उपवन होता है, उसके बाद स्तूप और मकानोंकी पंक्ति होती है, फिर स्फटिकमणिका तीसरा कोट होता है, उसके भीतर मनुष्य, देव और मुनियोंकी बारह सभाएँ हैं। फिर पीठिका है, और पीठिकाके अग्रभागपर स्वयंभु भगवान विराजमान होते हैं। ऋषभ देवके समवसरणका प्रमाण बारह योजन था। अजितनाथके समवसरणका प्रमाण साढ़े ग्यारह योजन था। संभवनाथके समवसरणका प्रमाण ग्यारह योजन था। इस प्रकार क्रमसे घटते घटते महावीर भगवानके समवसरणका प्रमाण एक योजन था। तथा विदेह क्षेत्रमें स्थित श्री सीमंधर जुगमंधर आदि तीर्थङ्करोंके समवसरणका प्रमाण बारह योजन है। ऐसे समवसरणके मध्यमें तीसरे सिंहासनके ऊपर चार अंगुलके अन्तरालसे विराजमान अर्हन्तका चिन्तन करे। लिखा भी है–'अर्हन्तपदकी महिमासे युक्त, समस्त अतिशयोंसे सम्पूर्ण, दिव्य लक्षणोंसे शोभित, अनन्त महिमाके आधार, सयोगकेवली, परमेश्वर, सप्तधातुओंसे रहित, मोक्षरूपी लक्ष्मीके कटाक्षके लक्ष्य, सब प्राणियोंके हित, शीलरूपी पर्वतके शिखर, और देव, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य वगैरहकी सभाके मध्यमें स्थित स्वयंभू अर्हन्त भगवानका चिन्तन करना चाहिये। इस तरह चौंतीस अतिशयोंसे युक्त, आठ महाप्रतिहार्योंसे शोभित और अनन्त ज्ञान आदि अनन्त चतुष्टयसे मण्डित तथा बारह सभाओंके बीचमें स्थित जिनरूपका ध्यान करना रूपस्थ ध्यान है।' और भी कहा है–'घातियाकर्मोंसे रहित, अतिशय और प्रातिहार्योंसे युक्त, समवसरणमें स्थित धवलवर्ण अरहंतका ध्यान करना चाहिये। रूपस्थ ध्यान दो प्रकारका होता है–एक स्वगत और एक परगत। आत्माका ध्यान करना स्वगत है और अर्हन्तका ध्यान करना परगत है। इस प्रकार

णियअप्पाणं परगयं च जाण परमेट्ठी ॥' इति रूपस्थं तृतीयं ध्यानं समाप्तम् । अथ रूपातीतं ध्यानं कथ्यते । 'अथ रूपे स्थिरीभूतचित्तः प्रक्षीणविभ्रमः । अमूर्तमजमव्यक्तं ध्यातुं प्रक्रमते ततः ॥ चिदानन्दमयं शुद्धममूर्तं परमाक्षरम् । स्मरेद्यत्रात्मनात्मानं तद्रूपातीतमिष्यते ॥ विचार्येति गुणान् स्वस्य सिद्धानामपि व्यक्तितः । निराकृत्य गुणैर्भेदं स्वपरात्मशिवात्मनाम् ॥ तद्गुणग्रामसंपूर्णं तत्स्वभावैकभावितम् । कृत्वात्मानं ततो ध्यानी योजयेत्परमात्मनि ॥ यः प्रमाणनयैर्नूनं स्वतत्त्वमवबुध्यते । बुध्यते परमात्मानं स योगी वीतविभ्रमः ॥ व्योमाकारमनाकारं निष्पन्नं शान्तमच्युतम् । चरमाङ्गात्कियन्न्यूनं स्वप्रदेशैर्घनैः स्थितम् ॥ लोकाग्रशिखरासीनं शिवीभूतमनामयम् । पुरुषाकारमापन्नमप्यमूर्तं च चिन्तयेत ॥ विनिर्गतमधूच्छिष्टप्रतिमे मूषिकोदरे । यादृग्गगनसंस्थानं तदाकारं स्मरेद्विभुम् ॥ सर्वावयवसंपूर्णं सर्वलक्षणलक्षितम् । विशुद्धादर्शसंक्रान्तप्रतिबिम्बसमप्रभम् ॥ इत्यसौ सतताभ्यासवशात्संजातनिश्चयः । अपि स्वप्राद्यवस्थासु तमेवाध्यक्षमीक्षते ॥ सोऽहं सकलवित्सार्वः सिद्धः साध्यो भवच्युतः । [परमात्मा परंज्योतिर्विश्वदर्शी निरञ्जनः ॥ तदासौ निश्चलोऽमूर्तो निष्कलङ्को जगद्गुरुः ।] चिन्मात्रः प्रस्फुरत्युच्चैर्ध्यातृध्यानविवर्जितः ॥ पृथग्भावमतिक्रम्य तथैक्यं परमात्मनि । प्राप्नोति स मुनिः साक्षाद्यथान्यत्वं न विद्यते ॥' उक्तं च । 'निःकल. परामात्माहं लोकालोकावभासक. । विश्वव्यापी स्वभावस्थो विकारपरिवर्जितः ॥' तथा चोक्तं । 'ण य

तीसरा रूपस्थ ध्यान समाप्त हुआ । आगे रूपातीत ध्यानको कहते हैं—रूपस्थ ध्यानमें जिसका चित्त स्थिर होगया है और जिसका विभ्रम नष्ट होगया है ऐसा ध्यानी अमूर्त, अजन्मा और इन्द्रियोंके अगोचर परमात्माके ध्यानका आरम्भ करता है ॥ जिस ध्यानमें ध्यानी पुरुष चिदानन्दमय, शुद्ध, अमूर्त, परमाक्षररूप आत्माका आत्माके द्वारा ध्यान करता है उसे रूपातीत ध्यान कहते हैं ॥ इस ध्यानमे पहले अपने गुणोंका विचार करे । फिर सिद्धोंके भी गुणोंका विचार करे । फिर अपनी आत्मा, दूसरी आत्माएं तथा मुक्तात्माओंके बीचमें गुणकृत भेदको दूर करे इसके पश्चात् परमात्माके स्वभावके साथ एकरूपसे भावित अपने आत्माको परमात्माके गुणोंसे पूर्ण करके परमात्मामें मिलादे । जो ध्यानी प्रमाण और नयोंके द्वारा अपने आत्मतत्त्वको जानता है वह योगी विना किसी सन्देहके परमात्माको जानता है ॥ आकाशके आकार किन्तु पौद्गलिक आहारसे रहित, पूर्ण, शान्त, अपने स्वरूपसे कभी च्युत न होनेवाले, अन्तके शरीरसे कुछ कम, अपने घनीभूत प्रदेशोंसे स्थिर, लोकके अग्रभागमें विराजमान, कल्याणरूप, रोगरहित, और पुरुषाकार होकर भी अमूर्त सिद्ध परमेष्ठीका चिन्तन करे ॥ जिसमेंसे मोम निकल गया है ऐसी मूषिकाके उदरमें जैसा आकाशका आकार रहता है तदाकार सिद्ध परमात्माका ध्यान करे ॥ समस्त अवयवोंसे पूर्ण और समस्त लक्षणोंसे लक्षित, तथा निर्मल दर्पणमें पड़ते हुए प्रतिविम्बके समान प्रभावाले परमात्माका चिन्तन करे ॥ इस प्रकार निरन्तर अभ्यासके वशसे जिसे निश्चय होगया है ऐसा ध्यानी पुरुष स्वप्नादि अवस्थामें भी उसी परमात्माको प्रत्यक्ष देखता है ॥ इस प्रकार जब अभ्याससे परमात्माका प्रत्यक्ष होने लगे तो इस प्रकार चिन्तन करे—वह परमात्मा मै ही हूं, मै ही सर्वज्ञ हूं, सर्वव्यापक हूं, सिद्ध हूं, मै साध्य हूं, और संसारसे रहित हूं । ऐसा चिन्तन करनेसे ध्याता और ध्यानके भेदसे रहित चिन्मात्र स्फुरायमान होता है ॥ उस समय ध्यानी मुनि पृथक्पनेको दूर करके परमात्मासे ऐसे ऐक्यको प्राप्त होता है कि जिससे उसे भेदका भान नहीं होता ॥ कहाभी है—'मैं लोक और अलोकको जानने देखनेवाला, विश्वव्यापी, स्वभावमें स्थिर और विकारोंसे रहित विकल परमात्मा हूं ।' और भी कहा है—जिसमें न तो शरीरमें स्थित आत्माका विचार करे, न शरीरका विचार करे और न स्वगत या परगत

चिंतइ देहत्थं देहं च ण चिंतए किं पि। ण सगयपरगयरूवं तं गयरूवं णिरालंबं ॥ जत्थ ण झाणं झेयं झायारो णेय चिंतणं किंपि। ण य धारणावियप्पो तं झाणं सुट्ठु भाणिज्ज ॥' 'धर्मध्यानस्य विज्ञेया स्थितिरान्तर्मुहूर्तिका। क्षायोपशमिको भावो लेश्या शुक्लैव शाश्वती ॥' इति रूपातीतं चतुर्थं ध्यानम्। धर्मध्यानवर्णनं समाप्तम् ॥ ४८२ ॥ अथ शुक्लध्यानं गाथापञ्चकेन विशदयति।

जत्थ गुणा सुविसुद्धा उवसम-खमणं[1] च जत्थ कम्माणं।
लेसा वि जत्थ सुक्का तं सुक्कं भण्णदे झाणं ॥ ४८३ ॥

[छाया-यत्र गुणाः सुविशुद्धाः उपशमक्षपणं च यत्र कर्मणाम्। लेश्या अपि यत्र शुक्ला तत् शुक्लं भण्यते ध्यानम् ॥] तत् प्रसिद्धं शुक्लं शुक्लाख्यं ध्यानं भण्यते कथ्यते जिनैरिति शेषः। तत् किम्। यत्र गुणाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रादयो गुणाः सकलमूलोत्तरगुणा वा। कथंभूतास्ते गुणाः। सुविशुद्धाः शङ्कादिमलरहिताः। च पुनः, यत्र ध्याने कर्मणां मिथ्यात्वादि-प्रकृतीनाम् उपशमः करणत्रयविधानेन उपशमनम्। वज्रवृषभनाराचवज्रनाराचनाराचसंहननाविष्टो मुनिः अपूर्वोपशम-कानिवृत्त्युपशमकसूक्ष्मसांपरायोपशमकोपशान्तकषायपर्यन्तगुणस्थानचतुष्टये उपशमश्रेणिचटितः उपशमसम्यग्दृष्टिरष्टाविंशति-मोहनीयकर्मप्रकृतीनाम् उपशमं विदधाति, पृथक्त्ववितर्कवीचारशुक्लध्यानबलेन उपशमं करोति। क्षायिकसम्यग्दृष्टिस्तु एकविंशतिप्रकृतीनामुपशमं विदधाति। तद्ध्यानबलेनेत्यर्थः। अथवा क्षपणं कर्मणां निःशेषनाशनं च। वज्रवृषभनाराच-संहननस्थः क्षपकः अपूर्वकरणक्षपकानिवृत्तिकरणक्षपकसूक्ष्मसांपरायक्षपकाभिधानगुणस्थानत्रये क्षपकश्रेण्यारूढः प्रथमशुक्ल-ध्यानबलेन ज्ञानावरणादीनां प्रकृतीनां क्षयं विदधाति इत्यर्थः। अपि पुनः, यत्र शुक्लध्याने लेश्यापि शुक्ला, अपिशब्दात् न केवलं ध्यानं शुक्लं शुक्ला शुक्ललेश्या, शुक्ललेश्यासहितं शुक्लं ध्यानं चतुर्थं स्यादित्यर्थः। तथा चोक्तं ज्ञानार्णवे। 'आदि-संहननोपेतः सर्वज्ञः पुण्यचेष्टितः। चतुर्विधमपि ध्यानं स शुक्लं ध्यातुमर्हति ॥' 'शुचिगुणयोगाच्छुक्लं कषायरजसः

रूपका विचार करे, उसे रूपातीत ध्यान कहते हैं ॥ जिसमें ध्यान धारणा ध्याता ध्येय, और का कुछ भी विकल्प नहीं है वही ध्यान श्रेष्ठ ध्यान है ॥ इस प्रकार चौथे रूपातीत ध्यानका वर्णन जानना चाहिये। धर्मध्यानका काल अन्तर्मुहूर्त है, उसमें क्षायोपशमिक भाव और शुक्ल लेश्या ही होती है ॥ इस तरह धर्म ध्यानका वर्णन समाप्त हुआ ॥ ४८२ ॥ आगे पांच गाथाओंसे शुक्ल ध्यानको कहते हैं ॥ **अर्थ**—जहां गुण अतिविशुद्ध होते हैं, जहां कर्मोंका उपशम और क्षय होता है, तथा जहां लेश्या भी शुक्ल होती है, उस ध्यानको शुक्ल ध्यान कहते हैं ॥ **भावार्थ**—जिस ध्यानसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि गुण निर्मल होजाते हैं, जिसमें वज्रवृषभ नाराच संहनन, वज्र-नाराच-संहनन और नाराच-संहननका धारी उपशमसम्यग्दृष्टी मुनि उपशम श्रेणिपर चढकर पृथक्त्व वितर्क वीचार नामक शुक्लध्यानके बलसे मोहनीयकर्मकी अठाईस प्रकृतियोंका उपशम करता है और क्षायिक सम्यग्दृष्टी मोहनीयकी शेषबचीं इक्कीस प्रकृतियोंका उपशम करता है, तथा जिसमें वज्र-वृषभनाराच संहननका धारी मुनि क्षपक श्रेणिपर चढकर ज्ञानावरण आदि कर्मोंका क्षय करता है, और जिसमें लेश्या भी शुक्ल ही होती है वह ध्यान शुक्लध्यान है। ज्ञानार्णवमें भी कहा है-'जिसके पहला वज्रवृषभ नाराच संहनन है, जो ग्यारह अंग और चौदह पूर्वका जाननेवाला है, और जिसका चारित्र भी शुद्ध है वही मुनि चारों प्रकारके शुक्ल ध्यानोंको धारण करनेके योग्य है ॥ कषायरूपी रजके क्षय अथवा उपशमसे जो आत्मामें शुचिपना आता है उस शुचिगुणके सम्बन्धसे

---

१ मग खवणं।

क्षयादुपशमाद्वा । वैडूर्यमणिशिखा इव सुनिर्मलं निष्प्रकम्पं च ॥ कषायमलविश्लेषात्प्रशमाद्वा प्रसूयते । यतः पुंसामतस्तज्ज्ञैः शुक्लमुक्तं निरुक्तिकम् ॥' इति ॥ ४८३ ॥

पडिसमयं सुज्झंतो अणंत-गुणिदाएँ उभय-सुद्धीए ।
पढमं सुक्कं झायदि आरूढो उहय-सेढीसु ॥ ४८४ ॥

[छाया- प्रतिसमयं शुध्यन् अनन्तगुणितया उभयशुद्ध्या । प्रथमं शुक्लं ध्यायति आरूढः उभयश्रेणीषु ॥] ध्यायति स्मरति चिन्तयति । किं तत् । प्रथमं शुक्लं पृथक्त्ववितर्कवीचाराख्यं शुक्लध्यानं ध्यायति । कः । आरूढः मुनिः आरोहणं प्राप्तः चटितः । क्व । उभयश्रेणिषु अपूर्वकरणगुणस्थानादिषु उपशमश्रेण्यां च । कथंभूतः । उपशमको वा क्षपको वा मुनिः प्रतिसमयं शुध्यन् समयं समयं प्रति शुद्धिं निर्मलतां गच्छन् प्रतिसमयम् अनन्तगुणविशुद्ध्या वर्तमान इत्यर्थः । कया उभयशुद्ध्या अन्तर्बहिर्निर्मलतया । अथवा उपशमक्षपकश्रेण्योः अपूर्वकरणपरिणामानां शुद्ध्या अनन्तगुणविशुद्ध्या । कीदृक्षया तया । अनन्तगुणितया पूर्वपरिणामात् उत्तरपरिणामः अनन्तगुणविशुद्ध्या निर्मलतया वर्धमानः पूर्वपरिणामान् उत्तरपरिणामा षड्गुणवर्धमानाः अत एव अनन्तगुणिता तया वर्धमानः । तथा हि उपशमविधानं तावत्कथ्यते । वज्रवृषभनाराचवज्रनाराचनाराचसंहननेषु मध्ये अन्यतमसंहननस्थो भव्यवरपुण्डरीकः चतुर्थपञ्चमषष्ठमसप्तमेषु गुणस्थानेषु

ही इसका नाम शुक्ल पड़ा है ॥ ४८३ ॥ **अर्थ**–उपशम और क्षपक, इन दोनों श्रेणियोंपर आरूढ़ हुआ और प्रतिसमय दोनों प्रकारकी अनन्तगुणी विशुद्धिसे विशुद्ध होता हुआ मुनि पृथक्त्व वितर्क वीचार नामक प्रथम शुक्लध्यानको ध्याता है ॥ **भावार्थ**–सातवें गुणस्थान तक तो धर्मध्यान होता है । उसके पश्चात् दो श्रेणियां प्रारम्भ होती हैं, एक उपशम श्रेणि और एक क्षपकश्रेणि । उपशम श्रेणिमें मोहनीयकर्मका उपशम किया जाता है, उपशमका विधान इस प्रकार कहा है–वज्रवृषभ नाराच, वज्रनाराच और नाराच संहननमेंसे किसी एक संहननका धारी भव्य जीव चौथे, पांचवे, छठे और सातवें गुणस्थानमेंसे किसी एक गुणस्थानमें धर्मध्यानके बलसे अन्तरकरणके द्वारा अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व मोहनीय इन सात प्रकृतियोंका उपशम करके उपशमसम्यग्दृष्टि होता है, अथवा इन्हीं सात प्रकृतियोंका क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है । उसके पश्चात् सातवें गुणस्थानसे उपशम श्रेणि पर आरूढ़ होनेके अभिमुख होता है । तब अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणमेंसे अधःप्रवृत्त करणको करता है । उसको सातिशय अप्रमत्त कहते हैं । वह अप्रमत्त मुनि अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थानमें उपशमश्रेणि पर चढकर पृथक्त्व वितर्क वीचार नामक प्रथम शुक्ल ध्यानके बलसे प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिको करता हुआ प्रतिसमय कर्मोंकी गुणश्रेणि निर्जरा करता हैं । वहां अन्तर्मुहूर्त काल तक ठहरकर उसके बाद अनिवृत्तिकरण नामक नौवे गुणस्थानमें आता है । और पृथक्त्व वितर्क वीचार शुक्लध्यानके बलसे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, संज्वलन क्रोध मान माया लोभ और हास्य आदि नोकषायों, चारित्रमोहनीयकर्मकी इन इक्कीस प्रकृतियोंका उपशम करता हुआ सूक्ष्म साम्पराय नामक दसवें गुणस्थानमें आता है । वहां सूक्ष्मकृष्टिरूप हुए लोभ कषायका वेदन करता हुआ अन्तिम समयमें संज्वलन लोभका उपशम करता है । उसके पश्चात् उपशान्त कषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थानमें पृथक्त्व वितर्क वीचार शुक्लध्यानके बलसे समस्त मोहनीयकर्मका

१ ब गुणिदाय, स ग गुणदाए ।

मध्ये अन्यतमगुणस्थाने अनन्तानुबन्धिचतुष्कस्य मिथ्यात्वप्रकृतित्रयस्य च करणविधानेन धर्मध्यानबलेन च उपशमं कृत्वा उपशमसम्यग्दृष्टिर्भवति, सप्तानामेतासां प्रकृतीनां क्षयं कृत्वा क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भवति वा। ततः अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती उपशमश्रेण्यारोहणं प्रत्यभिमुखो भवति तदा करणत्रयमध्येऽधःप्रवृत्तकरणं करोति। स एव सातिशयः अप्रमत्त उच्यते। स अप्रमत्तमुनिः अपूर्वकरणगुणस्थाने उपशमश्रेणिमारूढः पृथक्त्ववितर्कवीचारशुक्लध्यानबलेन प्रतिसमयानन्तगुणविशुध्या वर्तमानः प्रतिसमयसंख्यातगुणश्रेण्या प्रदेशनिर्जरां करोति। तत्र अन्तर्मुहूर्तकालं स्थित्वा ततः अनिवृत्तगुणस्थानोपशमश्रेण्यारूढ उपशमको मुनिः पृथक्त्ववितर्कवीचारशुक्लध्यानबलेन, अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनक्रोधमानमायालोभहास्यादिनवनोकषायाः इत्येकविंशतिचारित्रमोहनीयप्रकृतीः उपशमयन् अन्तर्मुहूर्तकालस्थितिं कुर्वन्, ततः सूक्ष्मसांपरायगुणस्थानोपशमश्रेण्यारूढः सूक्ष्मकृष्टिगतलोभानुरागोदयमनुभवत् सूक्ष्मकिट्टिकास्वरूपं लोभं वेदयत् प्रथमशुक्लध्यानबलेन सूक्ष्मसांपरायोपशमकः स्वचरमसमये लोभसंज्वलनं सूक्ष्मकिट्टिकास्वरूपं निःशेषमुपशमयति। ततः उपशान्तकषायगुणस्थानोपशमश्रेण्यारूढः पृथक्त्ववितर्कवीचारशुक्लध्यानपरिणतः सन् एकविंशतिचारित्रमोहनीयप्रकृती निरवशेषं उपशमय्य यथाख्यातचारित्रधारी स्यात्। शेषकर्मणामुपशमाभावात् मोहनीयस्योपशमः कथितः। अथ क्षपणविधिं वक्ष्ये। अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वसम्यक्त्वाख्याः सप्त प्रकृतीः एताः। असंयतसम्यग्दृष्टिः संयतासंयतः प्रमत्तसंयतः अप्रमत्तसंयतो वा चतुर्षु मध्ये एक एव वज्रर्षभनाराचसंहननयुक्तः त्रीन् करणान् कृत्वा अनिवृत्तिकरणचरमसमये अनुक्रमेण चतुर्णां कषायाणां क्षपयति। कुतः। धर्मध्यानबलात्। पश्चात्पुनरपि त्रीन् करणान् कृत्वाधःप्रवृत्तिकरणापूर्वकरणौ द्वौ अतिक्रम्यानिवृत्तिकरणकालसंख्येयभागान् गत्वा मिथ्यात्वं धर्मध्यानबलेन क्षपयति। ततो अन्तर्मुहूर्तं गत्वा सम्यग्मिथ्यात्वं क्षपयति। तद्बलेन ततो अन्तर्मुहूर्तं गत्वा सम्यक्त्वं क्षपयति। क्षायिकसम्यग्दृष्टिः साधुः सातिशयाप्रमत्तसंयतो भूत्वा उत्कृष्टधर्मध्यानबलेन परिणतः सन् अपूर्वकरणगुणस्थानक्षपकश्रेण्यारूढः स्यात्। स अपूर्वकरणक्षपकः पृथक्त्ववितर्कवीचारशुक्लध्यानबलेन समयं समयं प्रति अनन्तगुणविशुद्ध्या वर्धमानः सन् प्रतिसमयं असंख्येयगुणस्वरूपेण प्रदेशनिर्जरां करोति। ततः अनिवृत्तिकरणगुणस्थानक्षपकश्रेण्यारूढः क्षपकः अनिवृत्तिकरणस्य अन्तर्मुहूर्तस्य नव भागाः क्रियन्ते। तत्र अनिवृत्तिकरणस्य प्रथमभागे निद्रानिद्रा १ प्रचलाप्रचला १ स्त्यानगृद्धी १ नरकगति १ तिर्यग्गति १ एकेन्द्रियजाति १ द्वीन्द्रियजाति १ त्रीन्द्रियजाति १ चतुरिन्द्रियजाति

उपशम करके यथाख्यात चारित्रका धारी होता है। शेष कर्मोंका उपशम नहीं होता इस लिये केवल मोहनीय कर्मके ही उपशमका कथन किया है। आगे कर्मोंके क्षपणकी विधिको कहते हैं–असंयत सम्यग्दृष्टि अथवा संयतासंयत अथवा प्रमत्तसंयत अथवा अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती जीव अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया और लोभका क्षपण करके पुनः तीन करण करता है। उन तीन करणोंमेंसे अधःकरण और अपूर्वकरणको बिताकर अनिवृत्तिकरणके कालका संख्यात भाग बीतने पर धर्मध्यानके बलसे मिथ्यात्वका क्षय करता है। फिर अन्तर्मुहूर्तके बाद सम्यक् मिथ्यात्वका क्षय करता है फिर अन्तर्मुहूर्तके बाद सम्यक्त्व प्रकृतिका क्षय करता है। इस तरह वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर सातिशय अप्रमत्त संयत होता हुआ क्षपक श्रेणिपर चढ़ता है। और अपूर्वकरण गुणस्थानमें पहुँचकर पृथक्त्व वितर्क वीचार नामक शुक्लध्यानके बलसे प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिको करता हुआ प्रतिसमय गुणश्रेणि निर्जराको करता है। उसके बाद अनिवृत्तिकरणगुणस्थानमें जाता है। अनिवृत्तिकरणका काल अन्तर्मुहूर्त है उसके नौ भाग किये जाते हैं। प्रथम भागमें शुक्लध्यानके बलसे निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, नरकगति, तिर्यञ्चगति, एकेन्द्रिय जाति, दोइन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, आतप, उद्द्योत, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, इन सोलह कर्मप्रकृतियोंका क्षय करता है। दूसरे भागमें अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, इन आठ प्रकृतियोंका क्षय करता है। तीसरे भागमें नपुंसक-

१ नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी १ तिर्यग्गत्यानुपूर्वी १ आतपोद्योतस्थावर १ सूक्ष्म १ साधारण १ नामिकानां षोडशानां कर्मप्रकृतीनां पृथक्त्ववितर्कवीचारशुक्लध्यानबलेन प्रक्षयं नयति। द्वितीयभागे अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानकषायाष्टकं ८ प्रथमशुक्लध्यानपरिणतः क्षयं नयति। तृतीयभागे तद्बलेन नपुंसकवेदं क्षपयति १। चतुर्थे भागे तद्बलेन स्त्रीवेदं क्षपयति १। पञ्चमे भागे तद्बलेन नोकषायषट्कं क्षपयति ६। षष्ठे भागे तद्बलेन पुंवेदं क्षपयति १। सप्तमे भागे तद्बलेन संज्वलनक्रोधं क्षपयति १। अष्टमे भागे तद्बलेन संज्वलनमायां क्षपयति १। एवं षट्त्रिंशत्प्रकृतीः ३६ अनिवृत्तिकरणक्षपकश्रेण्यारूढः क्षपकः पृथक्त्ववितर्कवीचारशुक्लध्यानबलेन क्षपयतीत्यर्थः। ततः सूक्ष्मसांपरायगुणस्थानक्षपकश्रेण्यारूढः क्षपको भूत्वा सोऽपि सूक्ष्मसांपरायात्मनः चरमसमये किट्टिकागतं सर्वलोभसंज्वलनं प्रथमं शुक्लध्यानबलेन क्षपयति १। ततो अनन्तरं क्षीणकषायः क्षपको भवति। सोऽपि क्षीणकषायक्षपकश्रेण्यारूढः अन्तर्मुहूर्तं गमयित्वा आत्मनो द्विचरमसमये एकत्ववितर्कावीचारद्वितीयशुक्लध्यानबलेन निद्राप्रचलासंज्ञके द्वे प्रकृती क्षपयति २। ततो अनन्तरं चरमसमये एकत्ववितर्कवीचारशुक्लध्यानपरिणतः क्षपकः पञ्चज्ञानावरणचतुर्दर्शनावरणपञ्चान्तरायाख्याश्चतुर्दशप्रकृतीः १४ क्षपयति। क्षीणकषायक्षपकः द्वितीयशुक्लध्यानपरिणतः सन् षोडशप्रकृतीः क्षपयतीत्यर्थः। षष्टिकर्मप्रकृतिषु क्षीणेषु सयोगिजिनो भवति॥ ४८४॥

णीसेस-मोह-विलए[1] खीण-कसाए[2] य अंतिमे काले।
स-सरूवम्मि[3] णिलीणो सुक्कं झाएदि[4] एयत्तं॥ ४८५॥

[छाया-निःशेषमोहविलये क्षीणकषाये च अन्तिमे काले। स्वस्वरूपे निलीनः शुक्लं ध्यायति एकत्वम्॥] निःशेषमोहविलये सति निःशेषस्य समग्रस्य मिथ्यात्वत्रयानन्तानुबन्ध्यादिषोडशकषायहास्यादिनवनोकषायस्य अष्टाविंशतिभेदभिन्नस्य मोहनीयकर्मणः विलये नष्टे क्षीणे सति, क्षीणकषायः क्षीणाः क्षयं नीताः कषायाः सर्वे यस्य येन वा स क्षीणकषायः क्षीणकषायगुणस्थानवर्ती संयतः परमार्थतो निर्ग्रन्थः स्फटिकभाजनगतप्रसन्नतोयसमविशुद्धान्तरङ्गः अन्तिमकाले स्वकीयान्त-

वेदका क्षय करता है। चौथे भागमें स्त्रीवेदका क्षय करता है। पांचवे भागमें छै नोकषायोंका क्षय करता है। छठे भागमें पुरुषवेदका क्षय करता है। सातवें भागमें संज्वलन क्रोधका क्षय करता है। आठवें भागमें संज्वलन मानका क्षय करता है। नौवें भागमें संज्वलन मायाका क्षपण करता है। इस तरह क्षपक अनिवृत्तिकरणगुणस्थानमें पृथक्त्व वितर्क वीचार शुक्लध्यानके बलसे छत्तीस कर्म प्रकृतियोंका क्षय करता है। उसके बाद क्षपक सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें जाकर प्रथम शुक्लध्यानके बलसे उसके अन्तिम समयमें समस्त लोभ संज्वलनका क्षय कर देता है। उसके बाद क्षपक क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती होता है। वहां अन्तर्मुहूर्त काल विताकर क्षीणकषाय गुणस्थानके उपान्त्य समयमें एकत्ववितर्क नामक दूसरे शुक्लध्यानके बलसे निद्रा और प्रचलाका क्षय करता है। और अन्तिम समयमें पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पांच अन्तराय इस प्रकार चौदह प्रकृतियोंका क्षय करता है। इस तरह दूसरे शुक्लध्यानसे सोलह कर्मप्रकृतियोंका क्षय करता है। ७+३६+१+१६=६० प्रकृतियोंका क्षय होने पर वह सयोग केवली जिन हो जाता है॥ ४८४॥ **अर्थ**–समस्त मोहनीय कर्मका नाश होनेपर क्षीणकषाय गुणस्थानके अन्तिमकालमें अपने स्वरूपमें लीन हुआ आत्मा एकत्व वितर्क नामक दूसरे शुक्लध्यानको ध्याता है॥ **भावार्थ**–मोहनीय कर्मकी मिथ्यात्व आदि तीन, अनन्तानुबन्धी आदि सोलह कषाय और हास्य आदि नौ नोकषायों, इन अठाईस प्रकृतियोंका नाश हो जाने पर

१ **ल म स ग** णिस्सेस विलये। २ **ल ग म** कसाओ (उ?), **स** कसाई। ३ **स** सरूवम्हि। ४ **ल ग** झायेहि।

मुहूर्तकालस्य अन्तिमे द्विचरमसमये एकत्वं ध्यायति, एकत्वं वितर्कवीचाराख्यं द्वितीयं शुक्लं ध्यायति चिन्तयति स्मरति तद्ध्यानबलेन असंख्यातगुणश्रेणिकर्मनिर्जरां करोति। द्वितीयशुक्लध्यानबलेन उपान्तसमये निद्राप्रचलाद्वयं क्षपयति। चरमसमये ज्ञानावरणीयपञ्चकं ५ चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणं चतुष्कं ४ दानलाभभोगोपभोगवीर्यान्तरायपञ्चकं ५ एवं चतुर्दश-प्रकृतीः क्षपयति। ज्ञानदर्शनावरणीयान्तरायरूपघातित्रयं द्वितीयशुक्लध्यानेन क्षपयतीत्यर्थः। कथंभूतः क्षीणकषायः। निर्ग्रन्थराट् स्वस्वरूपे विलीनः स्वस्य आत्मनः स्वरूपे शुद्धबुद्धचिदानन्दशुद्धचिद्रूपे विलीनः लयं गतः, एकत्वं प्राप्त इत्यर्थः। तथा हि द्रव्यसंग्रहटीकायाम्, निजशुद्धात्मद्रव्ये वा निर्विकारात्मसुखसंवित्तिपर्याये वा निरुपाधिस्वसंवेदनगुणे वा यत्रैकस्मिन् प्रवृत्तं तत्रैव वितर्कसंज्ञेन स्वसंवित्तिलक्षणभावश्रुतबलेन स्थिरीभूय वीचारं द्रव्यगुणपर्यायपरावर्तनं करोति यत् तदेकत्व-वितर्कावीचारसंज्ञं क्षीणकषायगुणस्थानसंभवं द्वितीयशुक्लध्यानं भण्यते। तेनैव केवलज्ञानोत्पत्तिरिति। तथा च ज्ञानार्णवे। 'अपृथक्त्वमवीचारं सवितर्कं च योगिनः। एकत्वमेकयोगस्य जायतेऽत्यन्तनिर्मलम्॥ द्रव्यं चैकं गुणं चैकं पर्यायं चैकमश्रमः। चिन्तयत्येकयोगेन यत्रैकत्वं तदुच्यते॥' तथा। 'एकं द्रव्यमथाणुं वा पर्यायं चिन्तयेद्यतिः। योगैकेन यदक्षीणं तदेकत्वमुदीरितम्॥ अस्मिंस्तु निश्चलध्यानहुताशे प्रविजृम्भिते। विलीयन्ते क्षणादेव घातिकर्माणि योगिनः॥' इति। इति द्वितीयशुक्लध्यानम्॥ ४८५॥

केवल-णाण-सहावो सुहुमे जोगम्हि[1] संठिओ काए।
जं झायदि सजोगि-जिणो तं तिदियं[2] सुहुम-किरियं च॥ ४८६॥

[छाया-केवलज्ञानस्वभावः सूक्ष्मे योगे संस्थितः काये। यत् ध्यायति सयोगिजिनः तत् तृतीयं सूक्ष्मक्रियं च॥] सयोगिजिनः सयोगिकेवलिभट्टारकः अष्टमहाप्रातिहार्यचतुस्त्रिंशदतिशयसमवसरणादिविभूतिमण्डितः परमौदारिकदेहस्तीर्थंकर-देवः, स्वयोग्यगन्धकुट्यादिविभूतिविराजमान इतरकेवली वा उत्कृष्टेन देशोनपूर्वकोटिकालं विहरति सयोगिभट्टारकः। स यदा

मुनि क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती होता है। कषायोंके क्षीण होजानेसे वही सच्चा निर्ग्रन्थ होता है। उसका अन्तरंग स्फटिकमणिके पात्रमें रखे हुए स्वच्छ जलके समान विशुद्ध होता है। क्षीणकषाय गुणस्थानका काल अन्तर्मुहूर्त है। उसके उपान्त्य समयमें मुनि एकत्व वितर्क नामक दूसरे शुक्ल-ध्यानको ध्याता है। उस ध्यानके बलसे उसके प्रतिसमय असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा होती है। उसीके बलसे ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय नामक तीन घातिकर्मोंका विनाश होता है। द्रव्यसंग्रहकी टीका में एकत्व वितर्क शुक्लध्यानका वर्णन करते हुए लिखा है- 'अपने शुद्ध आत्मद्रव्यमें अथवा निर्विकार आत्मसुखानुभूतिरूप पर्यायमें अथवा उपाधिरहित स्वसंवे-दन गुणमें प्रवृत्त हुआ और स्वसंवेदनलक्षणरूप भावश्रुतके बलसे, जिसका नाम वितर्क है, स्थिर हुआ जो ध्यान वीचारसे रहित होता है उसे एकत्व वितर्क अवीचार कहते हैं। इसी ध्यानसे केवल-ज्ञानकी उत्पत्ति होती है'। ज्ञानार्णव में भी कहा है-'किसी एक योगवाले मुनिके पृथक्त्व रहित, वीचार रहित किन्तु वितर्क सहित अत्यन्त निर्मल एकत्व वितर्क नामक शुक्लध्यान होता है॥ जिस ध्यानमें योगी विना किसी खेदके एक योगसे एक द्रव्यको अथवा एक अणुको अथवा एक पर्यायको चिन्तन करता है उसको एकत्व वितर्क शुक्लध्यान कहते हैं॥ इस अत्यन्त निर्मल एकत्व वितर्क शुक्लध्यान रूपी अग्निके प्रकट होने पर ध्यानीके घातियाकर्म क्षणमात्रमें विलीन हो जाते हैं॥' इस प्रकार दूसरे शुक्लध्यानका वर्णन समाप्त हुआ॥ ४८५॥ **अर्थ**-केवलज्ञानी सयोगिजिन सूक्ष्म काययोगमें स्थित होकर जो ध्यान करते हैं वह सूक्ष्मक्रिय नामक तीसरा शुक्ल ध्यान है॥ **भावार्थ**-आठ महाप्रातिहार्य

१ ब सुहमे योगम्मि। २ म स तदियं (?)।

अन्तर्मुहूर्तशेषायुष्कः तदा तत् प्रसिद्धं तृतीय सूक्ष्मक्रियाप्रतिपात्यभिधानं शुक्लध्यानं ध्यायति स्मरति । तत् किम् । यत् केवलज्ञानस्वभावः केवलज्ञानं केवलबोधः तदेव स्वभावः स्वरूपं यस्य स तथोक्तः । केवलज्ञानस्वरूपं वा, प्राकृते लिङ्गभेदो नास्तीति । च पुनः । कथंभूतः सूक्ष्मे योगे काये संस्थितः सूक्ष्मकाययोगे सम्यक्प्रकारेण स्थितिं प्राप्तः । औदारिकशरीरयोगे कीदृक्षे । सूक्ष्मे । पूर्वस्पर्धकापूर्वस्पर्धकबादरकृष्टिकरणानन्तरं सूक्ष्मकृष्टिकर्तव्यतां प्राप्ते बादरकाययोगे स्थित्वा क्रमेण बादरमनोवचनोच्छ्वासं निःश्वासं बादरकाययोगं च निरुध्य ततः सूक्ष्मकाययोगे स्थित्वा क्रमेण सूक्ष्ममनोवचनोच्छ्वासनिःश्वासं निरुध्य सूक्ष्मकाययोगः स्यात् । स एव सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानं भवतीत्यर्थः । तथा ज्ञानार्णवे चोक्तम् । 'मोहेन सह दुर्धर्षे हते घातिचतुष्टये । देवस्य व्यक्तिरूपेण शेषमास्ते चतुष्टयम् ॥ सर्वज्ञः क्षीणकर्मासौ केवलज्ञानभास्करः । अन्तर्मुहूर्तशेषायुस्तृतीयं ध्यानमर्हति ॥' 'शेषे षण्मासायुषि संवृत्ता ये जिनाः प्रकर्षेण । ते यान्ति समुद्घातं शेषा भाज्याः समुद्घाते ॥' 'यदायुरधिकानि स्युः कर्माणि परमेष्ठिनः । समुद्घातविधिं साक्षात् प्रागेवारभते तदा ॥' 'अनन्तवीर्यः प्रथितप्रभावो दण्डं कपाटं प्रतरं विधाय । स लोकमेनं समयैश्चतुर्भिः निःशेषमापूरयति क्रमेण ॥ तदा स सर्वगः सार्वः सर्वज्ञः

चौतीस अतिशय और समवसरण आदि विभूतिसे शोभित तथा परमऔदारिक शरीरमें स्थित तीर्थङ्कर देव अथवा अपने योग्य गन्धकुटी आदि विभूतिसे शोभित सामान्य केवली अधिकसे अधिक कुछ कम एक पूर्व कोटि काल तक विहार करते हैं । जब उनकी आयु अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाती है तब वे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक तीसरे शुक्ल ध्यानको ध्याते हैं । इसके लिये पहले वह बादर काययोगमें स्थित होकर बादर वचन योग और बादर मनोयोगको सूक्ष्म करते हैं । फिर वचनयोग और मनोयोगमें स्थित होकर बादर काययोगको सूक्ष्म करते हैं । उसके पश्चात् सूक्ष्मकाय योगमें स्थित होकर वचन योग और मनोयोगका निरोध कर देते हैं । तब वह सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान को ध्याते हैं ॥ ज्ञानार्णवमें लिखा है–मोहनीयकर्मके साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन चार दुर्धर्ष घातिया कर्मोंका नाश होजाने पर केवली भगवानके चार अघातिकर्म शेष रहते हैं ॥ कर्मरहित और केवलज्ञान रूपी सूर्यसे पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाले उस सर्वज्ञकी आयु जब अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाती है तब वह तीसरे शुक्लध्यानके योग्य होते हैं ॥ जो अधिकसे अधिक छै महीनेकी आयु शेष रहने पर केवली होते हैं वे अवश्य ही समुद्घात करते हैं । और जो छै महीने से अधिक आयु रहते हुए केवली होते हैं उनका कोई नियम नहीं है वे समुद्घात करें और न भी करें। अतः जब अरहंत परमेष्ठीके आयुकर्मकी स्थितिसे शेष कर्मोंकी स्थिति अधिक होती है तब वे प्रथम समुद्घातकी विधि आरम्भ करते हैं ॥ अनन्तवीर्यके धारी वे केवली भगवान् क्रमसे तीन समयोंमें दण्ड, कपाट और प्रतरको करके चौथे समयमें लोकपूरण करते हैं । अर्थात् मूल शरीरको न छोड़कर आत्माके प्रदेशोंके बाहर निकलनेको समुद्घात कहते हैं । सो केवलीसमुद्घातमें आत्माके प्रदेश प्रथम समयमें दण्डाकार लम्बे, दूसरे समयमें कपाटाकार चौड़े और तीसरे समयमें प्रतररूप तिकोने होते हैं और चौथे समयमें समस्त लोकमें भर जाते हैं ॥ तब सर्वगत, सार्व, सर्वज्ञ, सर्वतोमुख, विश्वव्यापी, विभु, भर्ता, विश्वमूर्ति और महेश्वर इन सार्थक नामोंका धारी केवली लोकपूरण करके ध्यानके बलसे तत्क्षण ही कर्मोंको भोगमें लाकर वेदनीय, नाम और गोत्र कर्मकी स्थिति आयुकर्मके समान कर लेता है ॥ इसके बाद वह उसी क्रमसे चार समयोंमें लोकपूरणसे लौटता है। अर्थात् लोकपूरणसे प्रतर, कपाट और दण्डरूप होकर चौथे समय आत्मप्रदेश शरीरके प्रमाण हो जाते हैं ॥

सर्वतोमुखः । विश्वव्यापी विभुर्भर्ता विश्वमूर्तिर्महेश्वरः ॥ लोकपूरणमासाद्य करोति ध्यानवीर्यतः । आयुःसमानि कर्माणि भुक्तिमानीय तत्क्षणे ॥ ततः क्रमेण तेनैव स पश्चाद्विनिवर्तते । लोकपूरणतः श्रीमांश्चतुर्भिः समयैः पुनः ॥ काययोगे स्थितिं कृत्वा बादरेऽचिन्त्यचेष्टितः । सूक्ष्मीकरोति वाक्चित्तयोगयुग्मं स बादरम् ॥ काययोगं ततस्त्यक्त्वा स्थितिमासाद्य तद्द्वये । स सूक्ष्मीकुरुते पश्चात्काययोगं च बादरम् ॥ काययोगे ततः सूक्ष्मे पुनः कृत्वा स्थितिं क्षणात् । योगद्वयं निगृह्णाति सद्यो वाक्चित्तसंज्ञकम् ॥ सूक्ष्मक्रियं ततो ध्यानं स साक्षाद्ध्यातुमर्हति । सूक्ष्मैककाययोगस्थस्तृतीयं यद्धि पठ्यते ॥' इति ॥ ४८६ ॥ अथ चतुर्थशुक्लध्यानं निरूपयति—

जोग-विणासं किच्चा कम्म-चउक्कस्स खवण-करणट्ठं ।
जं झायदि 'अजोगि-जिणो णिक्किरियं तं चउत्थं' च ॥ ४८७ ॥[3]

[छाया-योगविनाशं कृत्वा कर्मचतुष्कस्य क्षपणकरणार्थम् । यत् ध्यायति अयोगिजिनः निष्क्रियं च तत् चतुर्थं च ॥] तत् चतुर्थं निष्क्रियं व्युपरतक्रियानिवृत्त्याख्यं शुक्लध्यानं समुच्छिन्नक्रियाध्यानमपराभिधानं भवेत् । तत् किम् । यत् ध्यायति स्मरति । कः । अयोगिजिनः योगातिक्रान्तः चतुर्दशगुणस्थानवर्ती अयोगिकेवलिभट्टारकः पञ्चलघ्वक्षरस्थितिकः । किं कृत्वा ध्यायति । योगविनाशं कृत्वा योगानाम् औदारिककाययोगादिसमस्तयोगानां विनाशः ध्वंसः तं विधाय विनष्टकर्मास्रव इत्यर्थः । किमर्थम् । कर्मचतुष्टयस्य कर्मणां वेदनीयनामगोत्रायुषां चतुष्टयस्य क्षपणकरणार्थं क्षयकरणनिमित्तम् । चतुर्थशुक्लध्यानस्यायोगी स्वामी । यद्यत्र मानसो व्यापारो नास्ति तथाप्युपचारक्रियया ध्यानमित्युपचर्यते । पूर्ववृत्तिमपेक्ष्य घृतघटवत्, यथा घटः पूर्वं घृतेन भृतः पश्चात् रिक्तः कृतः घृतघट आनीयतामित्युच्यते तथा पूर्वं मानसव्यापारत्वात् पुंवेदवद्वेति । तथा ज्ञानार्णवे । 'अयोगी त्यक्तयोगत्वात् केवलोऽत्यन्तनिर्वृतः । साधितात्मस्वभावश्च परमेष्ठी परं प्रभुः ॥' 'द्वासप्ततिर्विलीयन्ते कर्मप्रकृतयो द्रुतम् । उपान्त्ये देवदेवस्य मुक्तिश्रीप्रतिबन्धकाः ॥' 'तस्मिन्नेव क्षणे साक्षादाविर्भवति निर्मलम् । समुच्छिन्नक्रियं ध्यानमयोगिपरमेष्ठिनः ॥ विलयं वीतरागस्य पुनर्यान्ति त्रयोदश । चरमे समये सद्यः पर्यन्ते

जिनकी चेष्टा अचिन्त्य है ऐसे वे केवली भगवान् तब बादर काययोगमें स्थित होकर बादर वचनयोग और बादर मनोयोग को सूक्ष्म करते हैं ॥ पुनः काययोग को छोड़कर वचनयोग और मनोयोगमें स्थित होकर बादर काययोगको सूक्ष्म करते हैं ॥ उसके बाद सूक्ष्म काययोगमें स्थित होकर तत्क्षण ही वचनयोग और मनोयोगका निग्रह करते हैं ॥ उसके बाद सूक्ष्म काययोगमें स्थित हुए केवली भगवान् सूक्ष्मक्रिय नामक तीसरे शुक्लध्यानको ध्यानेके योग्य होते हैं ॥ इस प्रकार तीसरे शुक्ल ध्यानका वर्णन समाप्त हुआ ॥ ४८६ ॥ आगे चौथे शुक्लध्यानका निरूपण करते हैं । **अर्थ**—योगका अभाव करके अयोगकेवली भगवान चार अघातिकर्मोंको नष्ट करनेके लिये जो ध्यान करते हैं वह चौथा व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामका शुक्ल ध्यान है ॥ **भावार्थ**—चौदहवें गुणस्थानमें समस्त योगोंका अभाव हो जाता है । इसीसे उसे अयोगकेवली कहते हैं । अयोगकेवली गुणस्थानमें चौथा शुक्ल ध्यान होता है । यद्यपि ध्यानका लक्षण मानसिक व्यापारकी चंचलताको रोकना है और केवलीके मानसिक व्यापार नहीं होता । तथापि ध्यानका कार्य 'कर्मो की निर्जरा' के होनेसे उपचारसे ध्यान माना जाता है । चौथे शुक्लध्यानका वर्णन करते हुए ज्ञानार्णवमें भी कहा है-'योगका अभाव हो जानेसे चौदहवे गुणस्थानवर्ती अयोगी कहलाते हैं, वे परमेष्ठी और उत्कृष्ट प्रभु होते हैं । उन देवाधिदेवके चौदहवें गुणस्थानके उपान्त्य समयमें मोक्षलक्ष्मीकी प्राप्तिमें रुकावट डालनेवाली बहात्तर कर्म प्रकृतियां तुरन्त ही नष्ट हो जाती हैं ॥

१ ग अयोगि, म अजोइ । २ ब तं निक्किरियं च उत्थं । ३ ब शुक्लाझाणं ॥ एसो इत्यादि ।

या व्यवस्थिताः ॥' 'लघुपञ्चाक्षरोच्चारकालं स्थित्वा ततः परम् । स्वस्वभावाद्व्रजत्यूर्ध्वं शुद्धात्मा वीतबन्धनः ॥' इति । *तथा कर्मप्रकृतिग्रन्थे । स एव सयोगिकेवली यद्यन्तर्मुहूर्तावशेषायुष्यस्थितिः ततोऽधिकशेषाघातिकर्मत्रयस्थितिस्तदाष्टभिः समयैर्दण्डकपाटप्रतरलोकपूरणप्रसरणसंहारस्य समुद्घातं कृत्वान्तर्मुहूर्तावशेषितायुष्यस्थितिसमानशेषाघातिकर्मस्थितिः सन् सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिनामतृतीयशुक्लध्यानबलेन कायवाङ्मनोयोगनिरोधं कृत्वा* अयोगिकेवली भवति । यदि पूर्वमेव समस्थितिं कृत्वाऽघातिचतुष्टयस्तदा समुद्घातक्रियया विना तृतीयशुक्लध्यानेन योगनिरोधं कृत्वा अयोगिकेवली चतुर्दशगुणस्थानवर्ती भवति । पुनः स एवायोगिकेवली व्युपरतक्रियानिवृत्तिनामचतुर्थशुक्लध्यानेन पञ्चलघ्वक्षरोच्चारणमात्रस्वगुणस्थानकालद्विचरमसमये देहादिद्वासप्ततिप्रकृतीः क्षपयति । पुनः चरमसमये एकतरवेदनीयादित्रयोदशकर्मप्रकृतीः क्षपयति । तद्विशेषमाह । अयोगिकेवली आत्मकालद्विचरमे अन्यतरवेदनीयं १ देवगतिः २ औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीरपञ्चकं ५ तत् बन्धनपञ्चकं १२ तत्संघातपञ्चकं १७ संस्थानषट्कं २३ औदारिकवैक्रियिकाहारकशरीराङ्गोपाङ्गत्रयं २६ संहननषट्कं ३२ प्रशस्ताप्रशस्तवर्णपञ्चकं ३७ सुरभिदुरभिगन्धद्वयं ३९ प्रशस्ताप्रशस्तरसपञ्चकं ४४ स्पर्शाष्टकं ५२ देवगत्यानुपूर्व्यम् ५३ अगुरुलघुत्वम् ५४ उपघातः ५५ परघातः ५६ उच्छ्वासः ५७ प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिद्वयं ५९ पर्याप्तिः ६० प्रत्येकशरीरं ६१ स्थिरत्वमस्थिरत्वं ६३ शुभत्वमशुभत्वं ६५ दुर्भगत्वं ६६ सुस्वरत्वं ६७ दुःस्वरत्वम् ६८ अनादेयत्वम् ६९ अयशःकीर्तिः ७० निर्माणं ७१ नीचगोत्रमिति ७२ द्वासप्ततिप्रकृतीः व्युपरतक्रियानिवृत्तिनामचतुर्थशुक्लध्यानेन क्षपयति ॥ अयोगिकेवलिचरमसमये अन्यतरवेदनीयं १ मनुष्यायुः २ मनुष्यगतिः ३ पञ्चेन्द्रियजातिः ४ मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं ५ त्रसत्वं ६ बादरत्वं ७ पर्याप्तकत्वं ८ सुभगत्वम् ९ आदेयत्वं १० यशःकीर्तिः ११ तीर्थकरत्वम् १२ उच्चैर्गोत्रं चेति १३ त्रयोदश प्रकृतीः चतुर्थशुक्लध्यानेन क्षपयति । पुनरपि तद्ध्यानशुक्लचतुष्टयं स्पष्टीकरोति । त्र्येकयोगकाययोगायोगानां पृथक्त्ववितर्कं त्रियोगस्य भवति । मनोवचनकायानामवष्टम्भेनात्मप्रदेशपरिस्पन्दम् आत्मप्रदेशचलनमीदृग्विधं पृथक्त्ववितर्कमाद्यं शुक्लध्यानं भवतीत्यर्थः १ । एकत्ववितर्कशुक्लध्यानं त्रिषु योगेषु मध्ये मनोवचनकायानां मध्ये अन्यतमैकावलम्बेनात्मप्रदेशपरिस्पन्दनम् आत्मप्रदेशचलनं द्वितीयमेकत्ववितर्कं शुक्लध्यानं भवति २ । सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिकाययोगावलम्बनेनात्मप्रदेशचलनं

उसी समय उनके समुच्छिन्नक्रिया नामक निर्मल ध्यान प्रकट होता है ॥ अन्तिम समयमें शेषवर्ती तेरह कर्मप्रकृतियां भी नष्ट हो जाती हैं ॥ इस तरह पांच ह्रस्व अक्षरोंके उच्चारण करनेमें जितना समय लगता है उतने समय तक चौदहवें गुणस्थानमें रहकर वह शुद्धात्मा मुक्त हो जाता है ॥ कर्मप्रकृति नामक ग्रन्थमें भी लिखा है–'यदि सयोगकेवलीके आयु कर्मकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त और शेष तीन अघातिकर्मोंकी स्थिति उससे अधिक रहती तो वे आठ समयमें केवली समुद्घातके द्वारा दण्ड कपाट प्रतर और लोकपूरण रूपसे आत्मप्रदेशोंका फैलाव तथा प्रतर, कपाट दण्ड और शरीरप्रवेश रूपसे आत्मप्रदेशोंका संकोच करके शेषकर्मोंकी स्थिति आयुकर्मके बराबर करते है । उसके पश्चात् तीसरे शुक्ल ध्यानके बलसे काययोग, वचनयोग और मनोयोगका निरोध करके अयोगकेवली हो जाते हैं । और यदि सयोगकेवलीके चारों अघातिया-कर्मोंकी स्थिति पहलेसे ही समान होती है तो समुद्घातके विना ही तीसरे शुक्लध्यानके द्वारा योगका निरोध करके चौदहवे गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली हो जाते हैं । उसके बाद वह अयोगकेवली व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक चौथे शुक्लध्यानके बलसे अयोगकेवली गुणस्थानके द्विचरम समयमें बहात्तर कर्मप्रकृतियोंका क्षय करता है । फिर अन्तिम समयमें वेदनीय आदि तेरह कर्मप्रकृतियोंका क्षय करता है ॥ इसका खुलासा इस प्रकार है–'अयोगकेवलीके द्विचरम समयमें कोई एक वेदनीय, देवगति, औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस और कार्मण शरीर, पांच बंधन, पांच संघात, छै संस्थान, तीन अंगोपांग, छै संहनन, पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस, आठ स्पर्श, देवगत्यानुपूर्व्य,

भवति ३ । व्युपरतक्रियानिवृत्तिशुक्लध्यानमेकमपि योगमवलम्ब्यात्मप्रदेशचलनं भवति ४ । वितर्कः श्रुतं विशेषणं विशिष्टं वा तर्कणं सम्यगूहनं वितर्कः श्रुतं श्रुतज्ञानम् । वितर्क इति कोऽर्थः । श्रुतज्ञानमित्यर्थः । प्रथमं शुक्लध्यानं द्वितीयं च शुक्लध्यानं श्रुतज्ञानबलेन ध्यायते इत्यर्थः । 'वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः ।' अर्थश्च व्यञ्जनं च योगसंक्रान्तिः अर्थश्च व्यञ्जनं च योगश्च अर्थव्यञ्जनयोगास्तेषां संक्रान्तिः परिवर्तनं वीचारो भवतीति । अर्थो ध्येयो ध्यानीयो ध्यातव्यः पदार्थः द्रव्यं पर्यायो वा १ । व्यञ्जनं वचनं शब्द इति २ । योगः कायवाग्मनःकर्म ३ । संक्रान्तिः परिवर्तनम् । तेनायमर्थः, द्रव्यं ध्यायति द्रव्यं त्यक्त्वा पर्यायं ध्यायति, पर्यायं च परिहृत्य पुनः द्रव्यं ध्यायति इत्येवं पुनः पुनः संक्रमणमर्थसंक्रान्तिरुच्यते १ । तथा श्रुतज्ञान-शब्दमवलम्ब्य अन्यं श्रुतज्ञानशब्दमवलम्बते, तमपि परिहृत्यापरं श्रुतज्ञानवचनमाश्रयति । एवं पुनः पुनः श्रुतज्ञानाश्रयमाणश्च व्यञ्जनसंक्रान्तिं लभते २ । तथा काययोगं मुक्त्वा वाग्योगं मनोयोगं वा आश्रयति तमपि विमुच्य काययोगमागच्छति । एवं पुनः पुनः कुर्वन् योगसंक्रान्तिं प्राप्नोति ३ । अर्थव्यञ्जनयोगानां संक्रान्तिः परिवर्तनं वीचारः कथ्यते । तथाहि भव्यवरपुण्डरीकः उत्तमसंहननाविष्टः मुमुक्षुः द्रव्यपरमाणुं द्रव्यस्य सूक्ष्मत्वं भावपरमाणुं पर्यायस्य सूक्ष्मत्वं वा ध्यायन् समा-रोपितश्रुतज्ञानसामर्थ्यः सन् अर्थव्यञ्जने कायवचसी द्वे च पृथक्त्वेन संक्रामता मनसा असमर्थबालकोद्यमवत् अतीक्ष्णेनापि कुठारादिना चिराद्वृक्षं छिन्दन् इव मोहप्रकृतीरुपशमयन् क्षपयन् वा मुनिः पृथक्त्ववितर्कवीचारध्यानं भजते । स एव पृथक्त्ववितर्कवीचारध्यानभाग् मुनिः समूलतूलं मोहनीयं कर्म निर्दिधक्षन् मोहकारणभूतसूक्ष्मलोभेन सह निर्दग्धुमिच्छन् भस्मसात् कर्तुकामः अनन्तगुणविशुद्धिकं योगविशेषं समाश्रित्य प्रचुरतराणां ज्ञानावरणसहकारिभूतानां प्रकृतीनां बन्धनिरोधस्थितिह्रासौ च कुर्वन् सन् श्रुतज्ञानोपयोगः सन् परिहृतार्थव्यञ्जनसंक्रान्तिः सन् अप्रचलितचेताः क्षीण-कषायगुणस्थाने स्थितः सन् वैडूर्यमणिरिव निःकलङ्कः निरुपलेपः सन् पुनरधस्तादनिवर्तमानः एकत्ववितर्कावीचारं ध्यानं ध्यात्वा निर्दग्धघातिकर्मेन्धनो भगवांस्तीर्थकरदेवः सामान्यानगारकेवली वा गणधरकेवली वा प्रकर्षेण देशोनां पूर्वकोटीं भूमण्डले विहरति स भगवान् यदा अन्तर्मुहूर्तशेषायुर्भवति अन्तर्मुहूर्तस्थितिवेद्यनामगोत्रश्च भवति तदा सर्वं वाग्योगं

अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति, अपर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, सुस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, निर्माण, नीचगोत्र, ये बहात्तर प्रकृतियां व्युपरतक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यानके बलसे क्षय होती हैं। और अन्तिम समयमें कोई एक वेदनीय, मनुष्यायु, मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रिय जाति, मनुष्यगत्यानूपूर्व्य, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशः-कीर्ति, तीर्थङ्कर, उच्चगोत्र ये तेरह प्रकृतियां क्षय होती हैं।' रविचन्द्रकृत आराधनासारमें कहा है– 'कर्मरूपी अटवीको जलानेवाला शुक्लध्यान कषायोंके उपशम अथवा क्षयसे उत्पन्न होता है और प्रकाशकी तरह स्वच्छ स्फटिक मणिकी ज्योतिकी तरह निश्चल होता है। उसके पृथक्त्ववितर्कवीचार आदि चार भेद हैं॥ चौदह पूर्वरूपी श्रुतज्ञानसम्पत्तिका आश्रय लेकर प्रथम शुक्लध्यान अर्थ, व्यंजन और योगके परिवर्तनके द्वारा होता है॥ तथा चौदह पूर्वरूपी श्रुत ज्ञानका वेत्ता जिसके द्वारा एक वस्तुका आश्रय लेकर परिवर्तन-रहित ध्यान करता है वह दूसरा शुक्ल ध्यान है॥ समस्त पदार्थों और उनकी सब पर्यायोंको जाननेवाले केवली भगवान काययोगको सूक्ष्म करके तीसरे शुक्ल ध्यानको करते हैं॥ और शीलके स्वामी अयोगकेवली भगवान् चौथे शुक्ल ध्यानको करते हैं॥ आर्तध्यान आदिके छै गुणस्थानोंमें होता है। रौद्रध्यान आदिके पांच गुणस्थानोंमें होता है और धर्मध्यान असंयत सम्यग्दृष्टिको आदि लेकर चार गुणस्थानोंमें होता है। तथा अपूर्वकरण आदि गुणस्थानोंमें पुण्यपापका अभाव होनेसे विशुद्ध शुक्लध्यान होता है॥ उपशान्त कषायमें पहला शुक्लध्यान होता है, क्षीण कषायमें दूसरा शुक्लध्यान होता है, सयोग केवलीके तीसरा शुक्लध्यान होता है, और अयोग केवलीके चौथा शुक्लध्यान होता है॥ इस प्रकार चारों शुक्लध्यानोंका वर्णन समाप्त हुआ। शंका–कुछ लोग

मनोयोगं बादरकाययोगं च परिहृत्य सूक्ष्मकाययोगे स्थित्वा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानं समाश्रयति। यदा त्वन्तर्मुहूर्तशेषायुः-स्थितिः ततोऽधिकस्थितिवेद्यनामगोत्रकर्मत्रयो भगवान् भवति तदात्मोपयोगातिशयव्यापारविशेषः यथाख्यातचारित्रसहायो महासंवरसहितः शीघ्रतरकर्मपरिपाचनपरः सर्वकर्मरजःसमुद्धायनसमर्थस्वभावः दण्डकपाटप्रतरलोकपूरणानि निजात्म-प्रदेशप्रसरणलक्षणानि चतुर्भिः समयैः समुपहरति, ततः समानविहितस्थित्यायुर्वेद्यनामगोत्रकर्मचतुष्कः पूर्वशरीरप्रमाणो भूत्वा सूक्ष्मकाययोगावलम्बनेन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानं ध्यायति। कथं दण्डकादिसमुद्धात इति चेदुच्यते। "काउस्सग्गेण ठिओ बारस अंगुलपमाणसमवट्टं। वादूणं लोगुदयं दंडसमुग्घादमेगसमयम्हि ॥ अह उवइट्ठो संतो मूलसरीरप्पमाणदो तिगुणं। बाहल्लं कुणइ जिणो दण्डसमुग्घादमेगसमयम्हि ॥ दण्डपमाणं बहलं उदयं च कवाडणाम बिदियम्हि। समये दक्खिणवामे आदपदेससप्पणं कुणइ ॥ पूव्वमुहो होदि जिणो दक्खिणउत्तरगदो कवाडो हु। उत्तरमुहो दु जादो पुव्वावरगदो कवाडो हु ॥ वादतयं वज्जित्ता लोगे आदप्पसप्पणं कुणइ। तदिये समयम्हि जिणो पदरसमुग्घादणामो सो ॥ तत्तो चउत्थसमये वादत्तयसहिदलोगसंपुण्णो। होंति हु आदपदेसो सो चेव लोगपूरणो णाम॥ जस्स ण दु आउसरिसाणि णामगोदाणि वेयणीयं वा। सो कुणदि समुग्घायं णियमेण जिणो ण संदेहो ॥ छम्मासाउगसेसे उप्पण्णं जस्स केवलं णाणं। ते णियमा समुग्घायं सेसेसु हवंति भयणिज्जा ॥ पढमे दंडं कुणइ बिदिये य कवाडयं तहा समये। तिदिये पयरं चेव य चउत्थए लोयपूरणयं ॥ विवरं पंचमसमये जोईसत्थाणयं तदो छट्ठे। सत्तमए य कवाडं संवरइ तदो अट्ठमे दंडं। दंडजुगे ओरालं कवाडजुगले य तस्स मिस्सं तु। पदरे य लोयपूरे कम्मेव य होदि णायव्वो ॥" दण्डकद्वयकाले औदारिकशरीरपर्याप्तिः। कपाटयुगले औदारिक-मिश्रः। प्रतरयोर्लोकपूरणे च कार्मणः। तत्र अनाहार इति। तदनन्तरं व्युपरतक्रियानिवर्तिनामधेयं समुच्छिन्न-क्रियानिवृत्यपरनामकं ध्यानं प्रारभ्यते। समुच्छिन्नः प्राणापानप्रचारः सर्वकायवाग्मनोयोगसर्वप्रदेशपरिस्पन्दक्रियाव्यापारश्च यस्मिन् तत्समुच्छिन्नक्रियानिवर्तिध्यानमुच्यते। तस्मिन् समुच्छिन्नक्रियानिवर्तिनि ध्याने सर्वास्रवबन्धनिरोधं करोति सर्वशेषकर्मचतुष्टयविध्वंसनं विदधाति। स भगवान् अयोगिकेवली तस्मिन् काले ध्यानाग्निनिर्दग्धकर्ममलकलङ्कबन्धनः

यह आपत्ति करते हैं कि आजकल शुक्ल ध्यान नहीं हो सकता; क्यों कि एक तो उत्तम संहननका अभाव है, दूसरे दस या चौदह पूर्वोका ज्ञान नहीं है। इसका समाधान यह है कि इस कालमें शुक्ल ध्यान तो नहीं होता किन्तु धर्मध्यान होता है। आचार्य कुन्दकुन्दने मोक्षप्राभृतमें कहा भी है। 'भरत-क्षेत्रमें पंचमकालमें ज्ञानी पुरुषके धर्मध्यान होता है वह धर्मध्यान आत्मभावनामें तन्मय साधुके होता है। जो ऐसा नहीं मानता वह अज्ञानी है॥ आज भी आत्मा मन वचन कायको शुद्ध करके ध्यान-करनेसे इन्द्रपद और लौकान्तिक देवत्वको प्राप्त करता है तथा वहांसे च्युत होकर मोक्ष जाता है॥' तत्त्वानुशासनमें भी कहा है। 'जिन भगवानने आज कल यहांपर शुक्लध्यानका निषेध किया है। तथा श्रेणीसे पूर्ववर्ती जीवोंके धर्मध्यान कहा है'॥ तत्त्वार्थसूत्रमें सम्यग्दृष्टि, देशसंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत इन चारोंको धर्मध्यानका स्वामी कहा है॥ धर्मध्यानके दो भेद हैं–मुख्य और औपचारिक, अप्रमत्त गुणस्थानमें मुख्य धर्मध्यान होता है और शेष तीन गुणस्थानोंमें औपचारिक धर्मध्यान होता है। और जो कहा जाता है कि अपूर्वकरण गुणस्थानसे नीचेके गुणस्थानोंमें उत्तम संहनन होने पर ही धर्मध्यान होता है सो आदिके तीन उत्तम संहननोंके अभावमें भी अन्तके तीन संहननोंके होते हुए धर्मध्यान होता है। जैसा कि तत्त्वानुशासनमें कहा है–आगममें जो यह कहा है कि वज्र शरीरवालेके ध्यान होता है सो यह कथन उपशम और क्षपकश्रेणिकी अपेक्षासे है। अतः नीचेके गुणस्थानोंमें ध्यानका निषेध नहीं मानना चाहिये॥ और यह जो कहा है कि दश या चौदह पूर्वोका ज्ञान होनेसे ध्यान होता है यह भी उत्सर्ग कथन है। अपवाद कथनकी अपेक्षा पांच समिति और तीन गुप्ति इन आठ प्रवचन माताओंका ज्ञान होनेसे भी ध्यान होता है, और केवल

सन् दूरीकृतकिट्टधातुपाषाणसंजातसार्धषोडशवर्णिकासुवर्णरूपसदृशः परिप्राप्तात्मस्वरूपः एकसमयेन परमनिर्वाणं गच्छति । अत्रान्त्यशुक्लध्यानद्वये यद्यपि चिन्तानिरोधो नास्ति तथापि ध्यानं करोतीत्युपचर्यते । कस्मात् । ध्यानकृत्यस्य योगापहारस्याघातिघातस्योपचारनिमित्तस्य सद्भावात् । यस्मात् साक्षात्कृतसमस्तवस्तुस्वरूपेऽर्हति भगवति न किंचिद्ध्येयं स्मृतिविषयं वर्तते । तत्र यद्ध्यानं तत् असमकर्मणां समकरणनिमित्तम् । तदेवं निर्वाणसुखं तत्सुखं मोहक्षयात् १, दर्शनं दर्शनावरणक्षयात् २ ज्ञानं ज्ञानावरणक्षयात् ३, अनन्तवीर्यम् अन्तरायक्षयात् ४, जन्ममरणक्षयः आयुःक्षयात् ५, अमूर्तत्वं नामक्षयात् ६, नीचोच्चकुलक्षयः गोत्रक्षयात् ७ , इन्द्रियजनितसुखक्षयः वेद्यक्षयात् ८ । इति तत्त्वार्थसूत्रोक्तं निरूपितम् । तथा चारित्रसारे ध्यानविचारः । शुक्लध्यानं द्विविधं पृथक्त्ववितर्कवीचारमेकत्ववितर्कावीचारमिति शुक्लं, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिसमुच्छिन्नक्रियानिवृत्तीनि परमशुक्लमिति । तद्विविधं बाह्यमाध्यात्मिकमिति । गात्रनेत्रपरिस्पन्दविरहितं जम्भजृम्भोद्गारादिवर्जितम् उच्छिन्नप्राणापानचारत्वम् अपराजितत्वं बाह्यं तदनुमेयं परेषाम् आत्मानं स्वसंवेद्यमाध्यात्मिकं तदुच्यते । पृथक्त्वं नानात्वं, वितर्को द्वादशाङ्गश्रुतज्ञानं, वीचारो अर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः, व्यञ्जनमभिधानं, तद्विषयोऽर्थः, मनोवाक्कायलक्षणा योगाः, अन्योन्यतः परिवर्तनं संक्रान्तिः । पृथक्त्वेन वितर्कस्य अर्थव्यञ्जनयोगेषु संक्रान्तिः वीचारो यस्मिन्नस्तीति तत्पृथक्त्ववितर्कवीचारं प्रथमं शुक्लम् । अनादिसंभूतदीर्घसंसारस्थितिसागरपारं जिगमिषुर्मुमुक्षुः स्वभावविजृम्भितपुरुषाकारसामर्थ्यात् द्रव्यपरमाणुं भावपरमाणुं वा एकमवलम्ब्य संहृताशेषचित्तविक्षेपः महासंवरसंवृतः कर्मप्रकृतीनां स्थित्यनुभागौ ह्रासयन् उपशमयन् क्षपयंश्च परमबहुकर्मनिर्जरस्त्रिषु योगेषु अन्यतमस्मिन्वर्तमानः एकस्य द्रव्यस्य गुणं वा पर्यायं वा कर्म बहुनयगहननिलीनं पृथग्बलेनान्तर्मुहूर्तकालं ध्यायति, ततः परमार्थान्तरं संक्रामति । अथवा अस्यैवार्थस्य गुणं वा पर्यायं वा संक्रामति पूर्वयोगात् योगान्तरं व्यञ्जनात व्यञ्जनान्तरं संक्रामतीति अर्थादर्थान्तरं गुणाद्गुणान्तरं पर्यायपर्यायान्तरेषु योगत्रयसंक्रमणेन तस्यैव ध्यानस्य द्वाचत्वारिंशद्भङ्गा भवन्ति । तद्यथा । षण्णा जीवादिपदार्थानां क्रमेण ज्ञानावरणगतिस्थितिवर्तनावगाहनादयो गुणास्तेषां विकल्पाः पर्यायाः । अर्थादन्योऽर्थः अर्थान्तरं गुणादन्यो

ज्ञान भी होता है। यदि ऐसा अपवादकथन नहीं है तो 'अपने रचे हुए दो तीन पदों को घोखते हुए शिवभूति केवली होगया' भगवती आराधनाका यह कथन कैसे घटित हो सकता है? शायद कोई कहें कि पांच समिति और तीन गुप्ति रूप तो द्रव्य श्रुतका ज्ञान होता है किन्तु भावश्रुतका सम्पूर्ण ज्ञान होता है। किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्यों कि यदि पांच समिति और तीन गुप्तिके प्रतिपादक द्रव्यश्रुतको जानता है तो 'मा रूसह मा दूसह' इस एक पदको क्या नहीं जानता? अतः आठ प्रवचनमाताप्रमाणही भावश्रुत है द्रव्यश्रुत कुछ भी नहीं है। यह व्याख्यान हमारा कल्पित नहीं है किन्तु चारित्रसार आदि ग्रन्थोमें भी ऐसाही कथन है। यथा–'अन्तर्मुहूर्तके पश्चात्ही जिन्हें केवलज्ञान उत्पन्न होजाता है ऐसे क्षीणकषाय गुणस्थानवर्तियोंको निर्ग्रन्थ कहते हैं। उनको उत्कृष्टसे चौदह पूर्वरूपी श्रुतका ज्ञान होता है और जघन्यसे पांच समिति और तीन गुप्तिमात्रका ज्ञान होता है। कुछ लोग यह शंका करते हैं कि मोक्षके लिये ध्यान किया जाता है किन्तु आजकल मोक्ष नहीं होता, अतः ध्यान करना निष्फल है। किन्तु ऐसी आशंका ठीक नहीं है क्यों कि आजकल भी परम्परासे मोक्ष हो सकता है। जिसका खुलासा यह है–शुद्धात्माकी भावनाके बलसे संसारकी स्थितिको कम करके जीव स्वर्गमें जाते हैं। और वहांसे आकर रत्नत्रयकी भावनाको प्राप्त करके मुक्त हो जाते हैं। भरत चक्रवर्ती, सगर चक्रवर्ती, रामचन्द्र, पाण्डव वगैरह जो भी मुक्त हुए वे भी पूर्वभवमें भेद और अभेदरूप रत्नत्रयकी भावनासे संसारकी स्थितिको कम करकेही पीछेसे मुक्त हुए। अतः सबको उसी भवसे मोक्ष होता है ऐसा नियम नहीं है॥ इस तरह उक्त प्रकारसे थोडेसे श्रुतज्ञानसे भी ध्यान होता है॥ ध्यानके दो भेद भी हैं–सविकल्पक और निर्विकल्पक। धर्मध्यान सविकल्पक होता है

गुणः गुणान्तरं पर्यायादन्यः पर्यायः पर्यायान्तरम् एवमर्थादर्थान्तरगुणगुणान्तरपर्यायपर्यायान्तरेषु षट्सु योगत्रयसंक्रमणाद् अष्टादश भङ्गा भवन्ति १८ । अर्थाद्गुणगुणान्तरपर्यायपर्यायान्तरेषु चतुर्षु योगत्रयसंक्रमणेन द्वादश भङ्गा भवन्ति १२ । एवमर्थान्तरस्यापि द्वादश भङ्गा भवन्ति १२ । सर्वे पिण्डिता द्वाचत्वारिंशद्भङ्गा भवन्ति ४२ । एवंविधप्रथमशुक्लध्यानमुपशान्तकषायेऽस्ति क्षीणकषायस्यादौ अस्ति । तत् शुक्लतरलेश्याबलाधानम् अन्तर्मुहूर्तकालपरिवर्तनं क्षायोपशमिकभावम् उपात्तार्थव्यञ्जनयोगसंक्रमणं चतुर्दशदशनवपूर्वधरयतिवृषभनिषेव्यमुपशान्तक्षीणकषायविषयभेदात् स्वर्गापवर्गगतिफलदायकमिति । उत्कृष्टेन कियद्वारम् उपशमश्रेणीमारोहतीति प्रश्ने प्राह । 'चत्तारि वारसमुवसमसेढिं समारुहदि खविदकम्मंसो । बत्तीसं वाराइं संजममुवलहिय णिव्वादि ॥' उपशमश्रेणिमुत्कृष्टेन चतुर्वारानेवारोहति क्षपितकर्मांशो जीवः । उपरि नियमेन क्षपकश्रेणिमेवारोहति । संयममुत्कृष्टेन द्वात्रिंशद्वारान् प्राप्य ततो नियमेन निर्वात्येव निर्वाणं प्राप्नोत्येव ॥ द्वितीयशुक्लध्यानमुच्यते । एकस्य भावः एकत्वं, वितर्को द्वादशाङ्गः, [अवीचारोऽसंक्रान्तिः । एकत्वेन वितर्कस्य श्रुतस्यार्थव्यञ्जनयोगानामवीचारोऽसंक्रान्तिर्यस्मिन् ध्याने तदेकत्ववितर्कावीचारं ध्यानम् ।] एकयोगेन अर्थगुणपर्यायेष्वन्यतममन्यस्मिन्नवस्थानं पूर्ववित्पूर्वधरयतिवृषभनिषेव्यं द्रव्यभावात्मकज्ञानदर्शनावरणान्तरायघातिकर्मत्रयवेदनीयप्रभृत्यघातिकर्मसु केषांचिद्भावकर्मविनाशनसमर्थमुत्तमतपोऽतिशयरूपं पूर्वोक्तक्षीणकषायावशिष्टकालभूमिकम्, असंख्यातगुणश्रेणिकर्मनिर्जरं भवति । एवंविधद्वितीयशुक्लध्यानेन घातित्रयविनाशानन्तरं केवलज्ञानदर्शनादिसंयुक्तो भगवान् तीर्थंकर इतरो वा उत्कृष्टेन देशोनपूर्वकोटिकालं विहरति सयोगिभट्टारकः । स यदा अन्तर्मुहूर्तशेषायुष्कः समस्थितिवेद्यनामगोत्रश्च भवति, तदा बादरकाययोगे स्थित्वा क्रमेण बादरमनोवचनोच्छ्वासनिःश्वासं बादरकायं च निरुध्य ततः सूक्ष्मकाययोगे स्थित्वा क्रमेण सूक्ष्ममनोवचनोच्छ्वासनिःश्वासं निरुध्य सूक्ष्मकाययोगः स्यात् । स एव सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानं तृतीयमिति । यदा पुनरन्तर्मुहूर्तशेषायुष्कः तदधिकस्थितिकर्मांशः सयोगिजिनः समयैकखण्डके चतुःसमये दण्डकपाटप्रतरलोकपूर्णाभिस्वात्मप्रदेशविसर्पणे जाते तावद्भिरेव समयैरुपसंहृतप्रदेशविसर्पणः आयुष्यसमीकृताघातित्रयस्थितिः निर्वर्तितसमुद्धातक्रियः पूर्वशरीरपरिमाणो भूत्वा

और शुक्लध्यान निर्विकल्पक होता है। आर्त और रौद्रध्यानको छोड़कर अपनी आत्मामें मनको लय करके आत्मसुख स्वरूप परमध्यानका चिन्तन करना चाहिये। परमध्यानही वीतराग परमानन्द सुखस्वरूप है, परमध्यान ही निश्चय मोक्षमार्गस्वरूप है। परमध्यानही शुद्धात्मस्वरूप है, परम ध्यानही परमात्म स्वरूप है, एक देश शुद्ध निश्चय नयसे अपनी शुद्ध आत्माके ज्ञानसे उत्पन्न हुए सुखरूपी अमृतके सरोवरमें राग आदि मलसे रहित होनेके कारण परमध्यान ही परमहंसस्वरूप है, परमध्यानही परमविष्णु स्वरूप है, परमध्यानही परम शिवस्वरूप है, परम ध्यानही परम बुद्ध स्वरूप है, परमध्यान ही परम जिनस्वरूप है, परम ध्यानही स्वात्मोपलब्धिलक्षण रूप सिद्धस्वरूप है, परम ध्यान ही निरंजन स्वरूप है, परम ध्यानही निर्मल स्वरूप है, परम ध्यानही स्वसंवेदन ज्ञान है, परमध्यान ही शुद्ध आत्मदर्शन है, परम ध्यान ही परमात्मदर्शनरूप है, परम ध्यानही ध्येयभूत शुद्ध पारिणामिक भाव स्वरूप है, परम ध्यान ही शुद्ध चारित्र है, परम ध्यान ही अत्यन्त पवित्र है, परम ध्यान ही परमतत्त्व है, परम ध्यान ही शुद्ध आत्मद्रव्य है, क्यों कि वह शुद्ध आत्मद्रव्यकी उपलब्धिका कारण है, परमध्यान ही उत्कृष्ट ज्योति है, परमध्यान ही शुद्ध आत्मानुभूति है, परमध्यान ही आत्मप्रतीति है, परमध्यान ही आत्मसंवित्ति है, परमध्यान ही स्वरूपकी उपलब्धिमें कारण होनेसे स्वरूपोपलब्धि है, परम ध्यान ही नित्योपलब्धि है, परमध्यान ही उत्कृष्ट समाधि है, परमध्यान ही परमानन्द है, परमध्यान ही नित्य आनन्दस्वरूप है, परमध्यान ही सहजानन्द है, परमध्यान ही सदा आनन्दस्वरूप है, परमध्यान ही शुद्ध आत्मपदार्थके अध्ययनरूप है, परमध्यान ही परम स्वाध्याय है, परमध्यान ही निश्चय मोक्षका उपाय है, परमध्यान ही एकाग्रचिन्ता-निरोध (एक विषयमें मनको लगाना) है,

अन्तर्मुहूर्तेन पूर्ववत् क्रमेण योगनिरोधं कृत्वा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानं निष्ठापयन् तत्समये समुच्छिन्नक्रियानिवृत्तिध्यानं प्रारब्धुमर्हति । तत्पुनः अत्यन्तपरमशुक्लं समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारसर्वकायवाङ्मनोयोगप्रदेशपरिस्पन्दनक्रियाव्यापारतया समुच्छिन्नक्रियानिवृत्तीत्युच्यते । तद्बलेन द्यशीतिप्रकृतीः क्षपयित्वा मोक्षं गच्छतीत्यर्थः ॥ तथा द्रव्यसंग्रहोक्तं च । तद्यथा । पृथक्त्ववितर्कवीचारं तावत्कथ्यते द्रव्यगुणपर्यायाणां भिन्नत्वं पृथक्त्वं भण्यते स्वशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं भावश्रुतं तद्वाचकम् अन्तर्जल्पनं वा वितर्को भण्यते । अनीहितवृत्त्यार्थान्तरपरिणमनं वचनाद्वचनान्तरपरिणमनं मनोवचनकाययोगेषु योगायोगान्तरपरिणमनं वीचारो भण्यते । अत्रायमर्थः । यद्यपि ध्याता पुरुषः स्वशुद्धात्मसंवेदनं विहाय बहिश्चिन्तां न करोति, तथापि यावतांशेन स्वरूपे स्थिरत्वं नास्ति तावतांशेनानीहितवृत्त्या विकल्पाः स्फुरन्ति, तेन कारणेन पृथक्त्ववितर्कवीचारं ध्यानं भण्यते । तच्चोपशमश्रेणिविवक्षायामपूर्वोपशमिकानिवृत्त्युपशमिकसूक्ष्मसांपरायोपशमिकोपशान्तकषायपर्यन्तगुणस्थानचतुष्टये भवति । क्षपकश्रेण्यां पुनरपूर्वकरणक्षपकानिवृत्तिकरणक्षपकसूक्ष्मसांपरायक्षपकाभिधानगुणस्थानत्रये चेति प्रथमं शुक्लध्यानं व्याख्यातम् ॥ द्वितीयशुक्लध्यानं पूर्वं कथितमस्ति ॥ सूक्ष्मकायक्रियाव्यापाररूपं च तदप्रतिपाति च सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपातिसंज्ञं तृतीयशुक्लध्यानं, तच्चोपचारेण सयोगिकेवलिजिने भवतीति ॥ विशेषेणोपरता निवृत्ता क्रिया यत्र तद्व्युपरतक्रियं व्युपरतक्रियं च तदनिवृत्ति च अनिवर्तकं च तद्व्युपरतक्रियानिवृत्तिसंज्ञं चतुर्थं शुक्लध्यानम् । तच्चोपचारेण अयोगिकेवलिजिने स्यात् ॥ तथा रविचन्द्रकृताराधनासारे । "आकाशस्फटिकमणिज्योतिर्वा निश्चलं कषायाणाम् । प्रशमक्षयजं शुक्लध्यानं कर्माटवीदहनम् ॥ सपृथक्त्ववितर्कान्वितवीचारप्रभृतिभेदभिन्नं तत् । ध्यानं चातुर्विध्यं प्राप्नोतीत्याहुराचार्याः ॥ अर्थेष्वेकं पूर्वश्रुतजनितज्ञानसंपदाश्रित्य । त्रिविधात्मकसंक्रान्त्या ध्यायत्याद्येन शुक्लेन ॥ वस्त्वेकं पूर्वश्रुतवेदी प्रव्यक्तमाश्रितो येन । ध्यायति संक्रमरहितं शुक्लध्यानं द्वितीयं तत् ॥ कैवल्यबोधनोऽर्थान् सर्वांश्च सपर्यायांस्तृतीयेन । शुक्लेन ध्यायति वै सूक्ष्मीकृतकाययोगः सन् ॥ शैलेशितामुपेतो युगपद्विश्वार्थसंकुलं सद्यः । ध्यायत्यपेतयोगो येन तु शुक्लं चतुर्थं तत् ॥ आद्येष्वार्तध्यानं षट्स्वपि रौद्रं च पञ्चसु गुणेषु । धर्ममसंयतसम्यग्दृष्ट्यादिषु भवति हि चतुर्षु ॥ तत्त्वज्ञानमुदासीनमपूर्वकरणादिषु । शुभाशुभमलाभावाद्विशुद्धं शुक्लमभ्यधुः ॥ उपशमितकषाये प्रथमं क्षीणकषाये द्वितीयशुक्लं तु । भवति तृतीयं योगिनि केवलिनि चतुर्थमुपयोगे ॥ इति चतुर्विधशुक्लध्यानव्याख्यानं समाप्तम् । किमप्याक्षेपं तन्निराकरणं चात्र शिष्यगुरुभ्यां क्रियते । अद्य काले ध्यानं नास्ति, कुतश्चेत्, उत्तमसंहननाभावात् दशचतुर्दशपूर्वगतश्रुतज्ञानाभावाच्च । अत्र परिहारः शुक्लध्यानं नास्ति, धर्मध्यानमस्तीति । तथा चोक्तं मोक्षप्राभृते श्रीकुन्दकुन्दाचार्यैः । "भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ णाणिस्स । तं अप्पसहावठिए ण हु मण्णइ सो दु अण्णाणी ॥ अज्ज वि तियरणसुद्धा अप्पा झाऊण लहहि इंदत्तं । लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुया णिव्वुदिं जंति ॥"

परमध्यान ही परमबोधरूप है, परमध्यान ही शुद्धोपयोग है, परमध्यान ही परमयोग है, परमध्यान ही परम अर्थ है, परमध्यान ही निश्चय पंचाचार (दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्याचार) है, निश्चयध्यान ही समयसार है, परमध्यानही अध्यात्मका सार है, परमध्यान ही निश्चल षडावश्यकस्वरूप है, परमध्यान ही अभेद रत्नत्रयस्वरूप है, परमध्यान ही वीतराग सामायिक है, परमध्यान ही उत्तम शरण और उत्तम मंगल है, परमध्यान ही केवलज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण है, परमध्यान ही समस्तकर्मोंके क्षयमें कारण है, परमध्यान ही निश्चय चार आराधनास्वरूप है, परमध्यान ही परमभावना है, परमध्यान ही शुद्धात्मभावनासे उत्पन्न सुखानुभूति रूप उत्कृष्ट कला है, परमध्यान ही दिव्यकला है, परमध्यान ही परम अद्वैतरूप है, परमध्यान ही परमामृत है, परमध्यान ही धर्मध्यान है, परमध्यान ही शुक्ल ध्यान है, परमध्यान ही रागादि विकल्पोंसे शून्य ध्यान है, परमध्यान ही परम स्वास्थ्य है, परमध्यान ही उत्कृष्ट वीतरागता है, परमध्यान ही उत्कृष्ट साम्यभाव है, परमध्यान ही उत्कृष्ट भेद विज्ञान है, परमध्यान ही शुद्ध चिद्रूप है, परमध्यान ही उत्कृष्ट समत्व रस रूप है। राग द्वेष आदि विकल्पोंसे रहित उत्तम आह्लाद स्वरूप परमात्मस्वरूपका ध्यान करना चाहिये। कहा भी है–'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप ये चारों आत्मामें ही स्थित हैं अतः आत्मा ही मेरा शरण है ॥

तथैव तत्त्वानुशासने। 'अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः। धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्विवर्तिनाम् ॥' 'अप्रमत्तः प्रमत्तश्च सद्दृष्टिर्देशसंयतः। धर्मध्यानस्य चत्वारस्तत्त्वार्थे स्वामिनः स्मृताः॥ मुख्योपचारभेदेन धर्मध्यानमिह द्विधा। अप्रमत्तेषु तन्मुख्यमितरेष्वौपचारिकम् ॥' यथोक्तशुभमसंहननाभावात्तदुत्सर्गवचनम् अपवादव्याख्याने पुनरुपशमक्षपकश्रेण्योः शुक्लध्यानं भवति। यच्चोत्तमसंहननेनैव अपूर्वगुणस्थानादधस्तनेषु गुणस्थानेषु धर्मध्यानं तच्चादिमत्रिकोत्तमसंहननाभावेऽप्यन्तिमत्रिकसंहननेनापि भवति। तदप्युक्तं तत्त्वानुशासने। 'यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः। श्रेण्योर्ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाधस्तान्निषेधकम् ॥' यच्चोक्तं दशचतुर्दशपूर्वगतश्रुतज्ञानेन ध्यानं भवति तदप्युत्सर्गवचनम्। अपवादव्याख्यानेन पुनः पञ्चसमितित्रिगुप्तिप्रतिपादकसारभूतश्रुतेनापि ध्यानं भवति केवलज्ञानं च। यद्येवमपवादव्याख्यानं नास्ति तर्हि 'तुसमासं घोसंतो सिवभूदी केवली जादो।' इत्यादिगन्धर्वाराधनाभणितं व्याख्यानं कथं घटते। अथ मतं पञ्चसमितित्रिगुप्तिप्रतिपादकं द्रव्यश्रुतमिति जानातीदं भावश्रुतं पुनः सर्वमस्ति नैवं वक्तव्यम्। यदि पञ्चसमितित्रिगुप्तिप्रतिपादकं द्रव्यश्रुतं जानाति तर्हि 'मा रूसह मा तूसह' इत्येकपदं किं न जानाति। तत एवं ज्ञायते अष्टप्रवचनमातृकाप्रमाणमेव भावश्रुतं द्रव्यश्रुतं पुनः किमपि नास्ति। इदं तु व्याख्यानमस्माभिर्न कल्पितमेव तच्चारित्रसारादिग्रन्थेष्वपि भणितमास्ते। तथाहि। 'अन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं केवलज्ञानमुत्पादयन्ति ते क्षीणकषायगुणस्थानवर्तिनो निर्ग्रन्थसंज्ञा ऋषयो भण्यन्ते। तेषां चोत्कर्षेण चतुर्दशपूर्वादिश्रुतं भवति जघन्येन पुनः पञ्चसमितित्रिगुप्तिमात्रमेवेति।' अथ मतं मोक्षार्थं ध्यानं क्रियते, न चाद्य काले मोक्षोऽस्ति, ध्यानेन किं प्रयोजनम्। नैवम्, अद्य कालेऽपि परंपरया मोक्षोऽस्ति। कथमिति चेत्। स्वशुद्धात्मभावनाबलेन संसारस्थितिं स्तोकां कृत्वा देवलोकं गच्छन्ति। तस्मादागत्य मनुष्यभवे रत्नत्रयभावनां लब्ध्वा शीघ्रं गच्छन्तीति। येऽपि भरतसगररामपाण्डवादयो मोक्षं गतास्तेऽपि पूर्वं भवे भेदाभेदरत्नत्रयभावनया संसारस्थितिं स्तोकां कृत्वा पश्चान्मोक्षं गताः। ततस्तद्भवे सर्वेषां मोक्षो भावीति नियमो नास्ति। एवमुक्तप्रकारेणाल्पश्रुतेनापि ध्यानं भवतीति ज्ञात्वा किंकर्तव्यमिति। अथ तदेव ध्यानं विकल्पितमविकल्पितं च। अविकल्पितं शुक्लध्यानमिति। विकल्पितं धर्मध्यानम्। तत्कथम्, आर्तरौद्रद्वयं त्यक्त्वा निजात्मनि रतः परिणतः तल्लीयमानस्तच्चित्तस्तन्मयो भूत्वा आत्मसुखस्वरूपं तन्मयत्वं परमध्यानं चिन्तनीयम्। तद्वीतरागपरमानन्दसुखं, तदेव निश्चयमोक्षमार्गस्वरूपं, तदेव शुद्धात्मस्वरूपं, तदेव परमात्मस्वरूपं, तदेवैकदेशव्यक्तिरूपविवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयेन स्वशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतजलसरोवरे रागादिमलरहितत्वेन परमहंसस्वरूपं, तदेव परमब्रह्मस्वरूपं, तदेव परमविष्णुस्वरूपं, तदेव परमशिवस्वरूपं, तदेव परमबुद्धस्वरूपं, तदेव परमजिनस्वरूपं, तदेव स्वात्मोपलब्धिलक्षणसिद्धस्वरूप, तदेव निरंजनस्वरूपं, तदेव निर्मलस्वरूपं, तदेव स्वसंवेदनज्ञानं, तदेव परमतत्त्वज्ञानं, तदेव शुद्धात्मदर्शनं, तदेव परमावस्थारूपपरमात्मदर्शनं, तदेव ध्येयभूतशुद्धपारिणामिकभावस्वरूपं, तदेव ध्यानभावनास्वरूपं, तदेव शुद्धचारित्रं, तदेव परमपवित्रं, तदेव परमधर्मध्यानं, तदेव परमतत्त्वं, तदेव शुद्धात्मद्रव्यं, तदेव परमज्योतिः, सैव शुद्धात्मानुभूतिः, सैवात्मप्रतीतिः, सैवात्मसंवित्तिः, सैव स्वरूपोपलब्धिः, सैव नित्योपलब्धिः, स एव परमसमाधिः, स एव परमानन्दः, स एव नित्यानन्दः, स एव सहजानन्दः, स एव सदानन्दः, स एव शुद्धात्मपदार्थाध्ययनरूपः, स एव परमस्वाध्यायः, स एव निश्चयमोक्षोपायः, स एवैकाग्रचिन्तानिरोधः, स एव परमबोधः, स एव शुद्धोपयोगः, स एव परमयोगः, स एव परमार्थः, स एव निश्चयपञ्चाचारः, स एव

अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु ये पांचों परमेष्ठी भी आत्मामें ही स्थित हैं अतः आत्मा ही मेरा शरण है ॥ निर्ममत्वका आश्रय लेकर मैं ममत्वको छोड़ता हूं। आत्मा ही मेरा सहारा है शेष रागादि भावोंका मै त्याग करता हूं ॥ आत्मा ही मेरे ज्ञानमें निमित्त है आत्मा ही मेरे सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्रमें निमित्त है, आत्मा ही मेरे प्रत्याख्यानमें निमित्त है, और आत्मा ही मेरे संवर और ध्यानमें निमित्त है ॥ ज्ञान और दर्शन लक्षणवाला एक मेरा आत्मा ही नित्य है, बाकीके सभी बाह्य पदार्थ कर्मके उदयसे आकर मिले हैं इसलिये अनित्य हैं। ज्ञानीको विचारना चाहिये कि केवल ज्ञान मेरा स्वभाव है, केवलदर्शन मेरा स्वभाव है, अनन्त सुख मेरा स्वभाव है और अनन्त वीर्य मेरा स्वभाव है ॥ ज्ञानीको विचारना चाहिये कि मैं अपने स्वभावको नहीं छोड़ता

समयसारः, स एवाध्यात्मसारः, तदेव समतादिनिश्चलषडावश्यकस्वरूपं, तदेवाभेदरत्नत्रयस्वरूपं, तदेव वीतरागसामायिकं, तदेव परमशरणोत्तममङ्गलं, तदेव केवलज्ञानोत्पत्तिकारणं, तदेव सकलकर्मक्षयकारणं, सैव निश्चयचतुर्विधाराधना, सैव परमभावना, सैव शुद्धात्मभावनोत्पन्नसुखानुभूतिपरमकला, सैव दिव्यकला, तदेव परमाद्वैतं, तदेव परमामृतं, तदेव परम-धर्मध्यानं, तदेव शुक्लध्यानं, तदेव रागादिविकल्पशून्यध्यानं, तदेव निष्कलध्यानं, तदेव परमस्वास्थ्यं, तदेव परमवीतरागं, तदेव परमसाम्यं, तदेव परमभेदज्ञानं, तदेव शुद्धचिद्रूपं, स एव परमसमरसीभाव इत्यादिसमस्तरागद्वेषादिविकल्परहित-परमाह्लादैकसुखलक्षणध्यानरूपपरमात्मस्वरूपं चिन्तनीयं स्मरणीयम्। तथा चोक्तं। "सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तवो चेव। चउरो चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥ अरुहा सिद्धाइरिया उवज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी। ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥ ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो। आलंबणं च मे आदा अवसेसाइँ वोसरे ॥ आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य। आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥ एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो। सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥ केवलणाणसहावो केवलदंसणसहावसुहमइओ। केवलसत्तिसहावो सोहं इदि चिंतये णाणी ॥ णियभावं णवि मुच्चइ परभावं णेव गिण्हए केइ। जाणदि पस्सदि सव्वं सोहं इदि चिंतए णाणी ॥" इत्यादिसारपदानि गृहीत्वा ध्यानं स्वात्मभावनं कर्तव्यमिति। अथार्तादिचतुर्विधध्यानफलमाह। 'आर्तध्यानविकल्पा नयन्ति तिर्यग्गतिं तु देहभृतः। रौद्रध्यानविभेदा नरकगतिं तीव्रपापरतान् ॥ धर्मध्यानविशेषा देवगतिं प्रापयन्त्यनेकविधाम्। शुक्लध्यानोत्कर्षाः सिद्धगतिं शाश्वतात्मसुखाम् ॥' इति ॥ इत्यनुप्रेक्षाटीकायां ध्यानव्याख्यानं समाप्तम् ॥ ४८७ ॥ अथ तपांस्युपसंहरति—

एसो बारस-भेओ उग्ग-तवो जो चरेदि उवजुत्तो।
सो खवदि[1] कम्म-पुंजं मुत्ति-सुहं अक्खयं लहदि[2] ॥ ४८८ ॥

[छाया-एतत् द्वादशभेदम् उग्रतपः यः चरति उपयुक्तः। स क्षपयति कर्मपुञ्जं मुक्तिसुखम् अक्षयं लभते ॥] यो मुमुक्षुः भव्यवरपुण्डरीकः उग्रतपः उग्रोग्रतपोविधानं चतुर्थषष्ठमअष्टमदशमद्वादशपक्षमासोपवासादिवर्षपर्यन्तं चरति आचरति विदधाति। कथंभूतम्। एतत्पूर्वोक्तकथितं द्वादशभेदम्। 'अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्त-शय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः'। प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गशुक्लध्यानमिति अभ्यन्तरं तपः। इति द्वादशप्रकारम् आचरति। योऽसौ कथंभूतः। उपयुक्तः सन् उपयोगवान् सन् उद्यमपरो वा स साधुः मुमुक्षुः मुक्तिसुखं लभते स्वात्मोपलब्धिसुखं निर्वाणसुखं प्राप्नोति। कीदृक्षम्। अक्षयम् अविनश्वरं शाश्वतम्। किं कृत्वा। कर्मपुञ्जं क्षिप्त्वा ज्ञाना-वरणादिमूलोत्तरोत्तरप्रकृतिसमूहं क्षयं नीत्वा मोक्षसुखं प्राप्नोति ॥ ४८८ ॥ अथ कर्ता स्वकृत्यं व्यनक्ति—

और किसी भी परभावको ग्रहण नहीं करता। मैं सबको केवल जानता और देखता हूं ॥ इस प्रकारके सारभूत वचनोंको ग्रहण करके अपनी आत्माका ध्यान करना चाहिये। शास्त्रकारोंने चारों ध्यानोंका फल इस प्रकार बतलाया है। आर्तध्यानके विकल्पसे प्राणी तिर्यञ्चगतिमें जन्म लेते हैं। रौद्रध्यानके तीव्र पापसे नरकगतिमें जाते है। धर्मध्यानके करनेसे अनेक प्रकारकी देवगतिको प्राप्त करते हैं, और उत्कृष्ट शुक्ल ध्यानसे सिद्धगतिको प्राप्त करते हैं जहां शाश्वत आत्म सुख है ॥ इस प्रकार ध्यानका वर्णन समाप्त हुआ ॥ ४८७ ॥ अब तपके कथन का उपसंहार करते हैं। **अर्थ**—जो मन लगाकर इस बारह प्रकारके उग्र तपको करता है वह समस्त कर्मोंको नष्ट करके उत्तम मुक्तिसुख को पाता है ॥ **भावार्थ**—तपसे नवीन कर्मोंका आना भी रुकता है और पूर्वसंचित कर्मोंका नाश भी होता है। और ये दोनों ही मोक्षके कारण है। अतः जो मुमुक्षु मुनिव्रत धारण करके अनशन, अव-मौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश इन छै बाह्यतपोंको तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान इन छै अभ्यन्तर तपोंको मन लगाकर करता है वह कर्मोंको नष्ट करके मुक्तिको प्राप्त करता है। मुक्तिमें ही बाधारहित अविनाशी आत्मसुख मिलता है ॥ ४८८ ॥

१ क म स खविय, ग खविइ। २ क म स ग लहइ।

जिण-वयण-भावणट्ठं[1] सामि-कुमारेण परम-सद्धाए ।
रइया अणुवेहाओ[2] चंचल-मण-रुंभणट्ठं च ॥ ४८९ ॥

[छाया-जिनवचनभावनार्थं स्वामिकुमारेण परमश्रद्धया । रचिताः अनुप्रेक्षाः चञ्चलमनोरोधनार्थं च ॥] रचिता निष्पादिता गाथारूपेण रचिताः । काः । अनुप्रेक्षाः अनुप्रेक्ष्यते अवलोक्यते पुनः पुनः विचार्यते वस्तुस्वरूपं याभिस्ताः अनुप्रेक्षाः द्वादशभावनाः । केन रचिताः । स्वामिकुमारेण भव्यवरपुण्डरीकश्रीस्वामिकार्त्तिकेयमुनीश्वरेण आजन्मशीलधारिणा अनुप्रेक्षा रचिताः । कया । श्रद्धया रुच्या उत्कृष्टभावनया । किमर्थं रचिताः । जिनवचनभावनार्थं जिनानां वचनानि द्वादशाङ्गरूपाणि तेषां भावनार्थं श्रद्धार्थं षड्द्रव्यसप्ततत्त्वनवपदार्थचिन्तनार्थं परद्रव्यं परतत्त्वं परित्यज्य स्वस्वरूपस्वद्रव्य-स्वतत्त्वचिन्तननिमित्तं वा । च पुनः । किमर्थम् । चपलमनोरुन्धनार्थं चपलचित्तवशीकरणार्थं चपलचित्तं विषयेषु परिभ्रमत् स्वस्वरूपे स्थिरीकरणार्थमित्यर्थः ॥ ४८९ ॥ अथानुप्रेक्षाया माहात्म्यमभिधत्ते—

बारस अणुवेक्खाओ[3] भणिया हु जिणागमाणुसारेण ।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं[4] सोक्खं[5] ॥ ४९० ॥

[छाया-द्वादश अनुप्रेक्षाः भणिताः खलु जिनागमानुसारेण । यः पठति शृणोति भावयति स प्राप्नोति उत्तमं सौख्यम् ।] स भव्यः प्राप्नोति लभते । किं तत् । उत्तमं सुखं लोकातिक्रान्तं मुक्तिसुखं सिद्धसुखम् अनन्तसौख्यमित्यर्थः । स कः । यो भव्योत्तमः । हु इति स्फुटम् । द्वादशानुप्रेक्षा अनित्याशरणसंसारादिद्वादशभावनाः पठति अध्ययनं करोति शृणोति एकाग्रतयाकर्णयति भावयति रुचिं करोति । कथंभूताः । मया श्रीस्वामिकार्तिकेयसाधुना भणिताः प्रतिपादिताः । केन । जिनागमानुसारेण जिनप्रणीतसिद्धान्तानुमार्गेण । इति स्वकृत्यौद्धत्यं परिहृतम् ॥ ४९० ॥ अथान्त्यमङ्गलमाचष्टे—

तिहुवर्ण[6]-पहाण-सामिं[7] कुमार-काले वि तविय-तव-चरणं[8] ।
वसुपुज्ज-सुयं मल्लिं चरम-तियं संथुवे[9] णिच्चं ॥ ४९१ ॥[10]

[छाया-त्रिभुवनप्रधानस्वामिनं कुमारकाले अपि तप्ततपश्चरणम् । वसुपूज्यसुतं मल्लिं चरमत्रिकं संस्तुवे नित्यम् ॥] अहं श्रीस्वामिकार्त्तिकेयसाधुः संस्तुवे सम्यक्प्रकारेण मनोवाक्कायैः स्तौमि नौमि । कदा । नित्यं सदा अनवरतम् । कम् ।

आगे ग्रन्थकार अपना कर्तव्य प्रकट करते हैं । **अर्थ**—जिनागमकी भावनाके लिये और अपने चंचल-मनको रोकनेके लिये स्वामी कुमारने अत्यन्त श्रद्धासे अनुप्रेक्षाओंकी रचना की है ॥ **भावार्थ**—जिनके द्वारा वस्तुस्वरूपका वारंवार विचार किया जाता है उन्हें अनुप्रेक्षा कहते हैं । अनुप्रेक्षा नामक इस ग्रन्थकी रचना स्वामी कार्तिकेय नामक मुनिने की है । वे आजन्म ब्रह्मचारी थे यह बात 'कुमार' शब्दसे सूचित होती है । इन्होंने इस ग्रन्थरचनाके दो उद्देश्य बतलाये हैं । एक तो जिन भगवानके द्वारा प्रतिपादित वस्तुस्वरूपकी भावना और दूसरा अपने चंचल चित्तको रोकना । इससे भी ज्ञात होता है उनकी यह रचना ऐसे समयमें हुई है जब उन्हें अपने चंचल चित्तको रोकनेके लिये एक ऐसे आलम्बनकी आवश्यकता थी, जिससे उनका चित्त एकाग्र हो सके । अतः जिनका मन चंचल है, एकाग्र नहीं रहता उन्हें इस शास्त्रका स्वाध्याय करना चाहिये, इसके करनेसे जिनागमकी श्रद्धाके साथही साथ सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि होगी और मन इधर उधर नहीं भटकेगा ॥ ४८९ ॥ आगे अनुप्रेक्षा का माहात्म्य बतलाते हैं । **अर्थ**—इन बारह अनुप्रेक्षाओंको जिनागमके अनुसार कहा है । जो इन्हें पढ़ता है, सुनता है और वारंवार भाता है वह उत्तम सुख प्राप्त करता है ॥ ४९० ॥ आगे ग्रन्थकार अंतिम मंगलाचरण करते हैं । **अर्थ**—तीनों लोकोंके प्रधान इन्द्र धरणेन्द्र चक्रवर्ती वगैरहके स्वामी जिन

१ ब भावणत्थं । २ ल स ग म अणुपेहाउ (ओ ?) । ३ ल ग अणुवेखाउ । ४ ल म स ग उत्तमं । ५ ब म मुक्खं । ६ ल म ग तिहुयण । ७ ब सामी । ८ ल म स ग तवयरणं । ९ ब संथुए । १० ब सामिकुमारानुप्रेक्षा समाप्तः ।

वसुपूज्यसुतं वसुपूज्यस्य राज्ञः सुतं पुत्रस्तं श्रीवासुपूज्यस्वामितीर्थंकरदेवं द्वादशम् । पुनः कं स्तौमि । मल्लिं श्रीमल्लिनाथ-जिनेश्वरं एकोनविंशतितमम् । पुनरपि कं संस्तुवे । चरमत्रिकम् अन्तिमतीर्थंकरत्रयं नेमिं पार्श्वं वर्धमानं च, श्रीनेमिनाथं तीर्थंकरदेवं द्वाविंशतितमं, श्रीपार्श्वनाथं जिनदेवं त्रयोविंशतितमं, श्रीवीरं महावीरमहतिमहावीरसन्मतिवर्धमानस्वामिनं नामपञ्चकोपेतं चतुर्विंशतितमं तीर्थंकरदेवं इति पञ्च कुमारतीर्थंकरान् संस्तुवे । कीदृक्षं तीर्थंकरपञ्चकम् । कुमारकाले तप्त-तपश्चरणं गृहीतदीक्षादितपोभारम् । उक्तं च । 'वासुपूज्यस्तथा मल्लिर्नेमिः पार्श्वोऽथ सन्मतिः । कुमाराः पञ्च निष्क्रान्ताः पृथिवीपतयः परे ॥' इति । पुनः तीर्थंकरपञ्चकं कीदृक्षम् । त्रिभुवनप्रधानस्वामिनं त्रिभुवने प्रधानाः इन्द्रधरणेन्द्रचक्र-वर्त्यादयः तेषां स्वामी प्रभुः तं त्रिभुवनप्रधानस्वामिनम् इन्द्रधरणेन्द्रचक्रवर्त्यादिभिः सेवितमित्यर्थः ॥ ४९१ ॥

अनुप्रेक्षा इति प्रोक्ता भावना द्वादश स्फुटम् । यश्चिन्तयति सच्चित्ते स भवेन्मुक्तिवल्लभः ॥ १ ॥
श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसंघो वरो बलात्कारगणः प्रसिद्धः । श्रीकुन्दकुन्दो वरसूरिवर्यो विभाति भाभूषणभूषिताङ्गः ॥ २ ॥
तदन्वये श्रीमुनिपद्मनन्दी ततोऽभवच्छ्रीसकलादिकीर्तिः । तत्पट्टधारी भुवनादिकीर्तिः श्रीज्ञानभूषो वरवृत्तभूषः ॥ ३ ॥
तदन्वये श्रीविजयादिकीर्तिस्तत्पट्टधारी शुभचन्द्रदेवः । तेनेयमाकारि विशुद्धटीका श्रीमत्सुमत्यादिसुकीर्तिकीर्तिः ॥ ४ ॥
सूरिश्रीशुभचन्द्रेण वादिपर्वतवज्रिणा । त्रिविद्येनानुप्रेक्षाया वृत्तिर्विरचिता वरा ॥ ५ ॥
श्रीमद्विक्रमभूपतेः परिमिते वर्षे शते षोडशे माघे मासि दशाग्रवह्निसहिते ख्याते दशम्यां तिथौ ।
श्रीमच्छ्रीमहिसारसारनगरे चैत्यालये श्रीपुरोः श्रीमच्छ्रीशुभचन्द्रदेवविहिता टीका सदा नन्दतु ॥ ६ ॥
वर्णिश्रीक्षेमचन्द्रेण विनयेन कृतप्रार्थना । शुभचन्द्रगुरो स्वामिन् कुरु टीकां मनोहराम् ॥ ७ ॥
तेन श्रीशुभचन्द्रेण त्रैविद्येन गणेशिना । कार्त्तिकेयानुप्रेक्षाया वृत्तिर्विरचिता वरा ॥ ८ ॥

तीर्थङ्करोंने कुमार अवस्थामें ही तपश्चरण धारण किया उन वसुपूज्य राजाके पुत्र वासुपुज्य, मल्लिनाथ और नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर इन तीन तीर्थङ्करोंका सदा स्तवन करता हूं ॥ **भावार्थ**–चौवीस तीर्थङ्करोंमेंसे वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर ये पांच तीर्थङ्कर कुमार अवस्थामें ही प्रव्रजित हो गये थे अतः ये पांचों बालब्रह्मचारी थे । ग्रन्थकार स्वामी कार्तिकेय भी बालब्रह्मचारी थे इसीसे बालब्रह्मचारी पांचों तीर्थङ्करोंपर आपकी विशेष भक्ति थी । ऐसा प्रतीत होता है ॥ ४९१ ॥

संस्कृत टीकाकारकी प्रशस्ति

मूलसंघमें नन्दिसंघ उत्पन्न हुआ । उस नन्दिसंघमें प्रसिद्ध बलात्कार गण हुआ । उसमें आचार्य श्रेष्ठ कुन्दकुन्द हुए ॥ उनके वंशमें मुनि पद्मनन्दि हुए । उसके पश्चात् सकल-कीर्तिभट्टारक हुए । उनके पट्टपर भुवनकीर्ति हुए । फिर ज्ञानभूषण हुए ॥ उनके वंशमें विजयकीर्ति हुए । उनके पट्टपर शुभचन्द्रदेव हुए । उन्होंने इस टीकाको रचा । वादीरूपी पर्वतोंके लिये वज्रके समान त्रैविद्य आचार्य शुभचन्द्रने अनुप्रेक्षाकी श्रेष्ठ टीका बनाई ॥ ५ ॥ विक्रम सम्वत् १६१३ में माघ मासकी दसमी तिथिको महिसार या महीसार नगरमें श्रीपुरुदेव या वृषभ-देवके चैत्यालयमें श्रीमान् शुभचन्द्रदेवके द्वारा रची गई टीका सदा आनन्द प्रदान करे ॥ ६ ॥ श्री क्षेमचन्द्रवर्णीने विनयपूर्वक प्रार्थना की कि हे गुरुवर्य स्वामी शुभचन्द्र, आप मनोहर टीका करें ॥ ७ ॥ इस प्रार्थनापर भट्टारक त्रैविद्य शुभचन्द्रने कार्त्तिकेयानुप्रेक्षाकी उत्तम टीका रची ॥ ८ ॥ तथा

तथा साधुसुमत्यादिकीर्तिना कृतप्रार्थना । सार्थीकृता समर्थेन शुभचन्द्रेण सूरिणा ॥ ९ ॥
भट्टारकपदाधीशा मूलसंघे विदांवराः । रमावीरेन्दुचिद्रूपगुरवो हि गणेशिनः ॥ १० ॥
लक्ष्मीचन्द्रगुरुः स्वामी शिष्यस्तस्य सुधीयशाः । वृत्तिर्विस्तारिता तेन श्रीशुभेन्दुप्रसादतः ॥ ११ ॥

इति श्रीस्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षाटीकायां त्रिविद्यविद्याधरषड्भाषा-
कविचक्रवर्तिभट्टारकश्रीशुभचन्द्रविरचितायां धर्मानु-
प्रेक्षाया द्वादशोऽधिकारः ॥ १२ ॥

साधु सुमतिकीर्तिने भी प्रार्थना की और समर्थ आचार्य शुभचन्द्रने उस प्रार्थनाको सार्थक किया ॥ ९ ॥ मूलसंघमें भट्टारकपदके स्वामी, विद्वानोंमें श्रेष्ठ शुभचन्द्र लक्ष्मीचन्द्र और वीरचन्द्रके गुरु हैं ॥ १० ॥ आचार्य शुभचन्द्रके प्रसादसे उनके शिष्य लक्ष्मीचन्द्रने इस टीकाको विस्तृत किया ॥ ११ ॥

इति धर्मानुप्रेक्षा ॥ १२ ॥ इति श्रीकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा टीका समाप्ता ॥

॥ कत्तिगेयाणुप्पेक्खा ॥

तिहुवण-तिलयं देवं वंदित्ता तिहुवणिंद-परिपुज्जं ।
वोच्छं अणुपेहाओ[3] भविय-जणाणंद-जणणीओ ॥ १ ॥
अद्धुवं असरण भणिया संसारामेगमण्णमसुइत्तं ।
आसव-संवर-णामा णिज्जर-लोयाणुपेहाओ ॥ २ ॥
इय जाणिऊण भावह दुलह-धम्माणुभावणा णिच्चं ।
मण-वयण-काय-सुद्धी एदा दस दो य भणिया हु ॥ ३ ॥

[१. अद्धुवाणुवेक्खा]

जं किंचि वि उप्पण्णं तस्स विणासो हवेइ[10] णियमेण ।
परिणाम-सरूवेण वि[11] ण य किंचि[12] वि सासयं अत्थि ॥ ४ ॥
जम्मं मरणेण समं संपज्जइ जोव्वणं[13] जरा-सहियं ।
लच्छी विणास-सहिया इय सव्वं भंगुरं मुणह ॥ ५ ॥
अथिरं परियण-सयणं पुत्त-कलत्तं सुमित्त-लावण्णं ।
गिह-गोहणाइ सव्वं णव-घण-विंदेण सारिच्छं ॥ ६ ॥

१ बमस तिहुअणिंद । २ बम वुच्छं । ३ ब अणुवेक्खाओ । ४ म अद्धुअं । ५ ब °णुवेहाओ । ६ ब भावहु । ७ लमसग एदा उद्देसदो भणिया (मस भणियं) । ८ गाथाके आरंभमें ब अद्धुवाणुवेक्खा । ९ बमसग किंपि । १० ग हवइ । ११ ब य । १२ लमसग किंपि । १३ लमसग जुव्वणं ।

सुरधणु-तडि व्व चवला इंदिय-विसया सुभिच्च-वग्गा य ।
दिट्ठ-पणट्ठा सव्वे तुरय-गया रहवरादी य ॥ ७ ॥
पंथे पहिय-जणाणं जह संजोओ हवेई[1] खण-मित्तं ।
बंधु-जणाणं च तहा संजोओ अद्धुओ होइ[2] ॥ ८ ॥
अइलालिओ वि देहो ण्हाण-सुयंधेहिँ विविह-भक्खेहिं ।
खण-मित्तेण वि[3] विहडइ जल-भरिओ आम-घडओ व्व ॥ ९ ॥
जा सासया ण लच्छी चक्कहराणं पि पुण्णवंताणं ।
सा किं बंधेइ रइं[4] इयर-जणाणं अपुण्णाणं[5] ॥ १० ॥
कत्थ[6] वि ण रमइ लच्छी कुलीण-धीरे वि पंडिए सूरे ।
पुज्जे धम्मिट्ठे वि य सुवत्त[7]-सुयणे महासत्ते[8] ॥ ११ ॥
ता भुंजिज्जउ लच्छी दिज्जउ दाणे दया-पहाणेण ।
जा जल-तरंग-चवला दो-तिण्णि दिणाइ चिट्ठेइं[10] ॥ १२ ॥
जो पुणं[11] लच्छिं[12] संचदि ण य भुंजदि णेयं[13] देदि पत्तेसु ।
सो अप्पाणं वंचदि मणुयत्तं[14] णिप्फलं तस्स ॥ १३ ॥
जो संचिऊण लच्छिं[15] धरणियले संठवेदि अइदूरे ।
सो पुरिसो तं लच्छिं पाहाण-समाणियं कुणदि ॥ १४ ॥
अणवरयं जो संचदि लच्छिं ण य देदि णेयं[16] भुंजेदि ।
अप्पणिया वि य लच्छी पर-लच्छि-समाणिया तस्स ॥ १५ ॥
लच्छी-संसत्त-मणो जो अप्पाणं धरेदि कट्ठेण ।
सो राइ-दाइयाणं कज्जं साहेदि[17] मूढप्पा ॥ १६ ॥
जो वड्ढारदि[18] लच्छिं बहु-विह-बुद्धीहिँ णेय तिप्पेदि[19] ।
सव्वारंभं कुव्वदि रत्ति-दिणं तं पि चिंतेइं[20] ॥ १७ ॥

---

१ ब हवइ । २ ब हवेइ । ३ ब य । ४ लमसग रई । ५ ब विपुण्णाणं । ६ ब कया वि । ७ लमसग सुरूवसु° । ८ ब महासुत्ते । ९ लमसग दाणं । १० ब दिणाण तिट्ठेइ । ११ बल पुणु । १२ ब लच्छीं, लग लच्छि, मस लच्छी । १३ ब णेव । १४ ब मणुयत्तणं । १५ लच्छिं यह पाठ प्रतियोंमें अनिश्चित है । १६ ब णेव । १७ ल साहेहि । १८ लग वड्ढारय, मस वड्ढारइ । १९ ब तप्पेदि, म तेप्पेदि । २० लगम चिंतवदि, स चंतवदि ।

ण य भुंजदि वेलाए[1] चिंतावत्थो ण सुवेदि[2] रयणीए ।
सो दासत्तं कुव्वदि विमोहिदो लच्छि-तरुणीए[3] ॥ १८ ॥[4]
जो वड्ढमाण-लच्छिं अणवरयं देदि[5] धम्म-कज्जेसु ।
सो पंडिएहिँ[6] थुव्वदि तस्स वि सहला हवे[7] लच्छी ॥ १९ ॥
एवं जो जाणित्ता विहलिय-लोयाण धम्म-जुत्ताणं ।
णिरवेक्खो तं देदि[8] हु तस्स हवे जीवियं सहलं ॥ २० ॥
जल-बुब्बुयं[9]-सारिच्छं धण-जोव्वणं[10]-जीवियं पि पेच्छंता[11] ।
मण्णंति तो वि णिच्चं अइ-बलिओ मोह-माहप्पो ॥ २१ ॥
चइऊण महामोहं विसए मुणिऊणं[12] भंगुरे सव्वे ।
णिव्विसयं कुणह मणं जेण सुहं उत्तमं लहह ॥ २२ ॥[13]

[२. असरणाणुवेक्खा]

तत्थ[14] भवे किं सरणं जत्थ सुरिंदाण दीसदे[15] विलओ ।
हरि-हर-बंभादीया कालेण य कवलिया जत्थ ॥ २३ ॥
सीहस्स कमे पडिदं सारंगं जह ण रक्खदे को वि ।
तह मिच्चुणा य गहिदं[16] जीवं पि ण रक्खदे को वि ॥ २४ ॥
जइ देवो वि य रक्खदि[17] मंतो तंतो य खेत्तपालो[18] य ।
मियमाणं पि मणुस्सं तो मणुया अक्खया होंति ॥ २५ ॥
अइ-बलिओ वि रउद्दो मरण-विहीणो ण दीसदे[19] को वि ।
रक्खिज्जंतो वि सया रक्ख-पयारेहिँ विविहेहिं ॥ २६ ॥
एवं पेच्छंतो[20] वि हु गह-भूय-पिसाय[21]-जोइणी-जक्खं ।
सरणं मण्णइ[22] मूढो सुगाढ-मिच्छत्त-भावादो ॥ २७ ॥
आउ-क्खएण मरणं आउं दाउं ण सक्कदे को वि ।
तम्हा देविंदो वि य मरणाउ ण रक्खदे को वि ॥ २८ ॥

---

१ ब वेलाइ चिंता गच्छे ण । २ ब सुयदि, लमग सुअदि । ३ ब तरुणीइ । ४ कुछ प्रतियोंमें यहाँ युग्मम् या युगलम् शब्द मिलता है । ५ लमस देहि । ६ लग पंडियेहिं । ७ ब हवइ । ८ लमसग देहि । ९ बलस वुब्वय, म बुबुय, ग ब्वुब्वुय । १० लमसग जुव्वण । ११ ब पिच्छंता । १२ लमसग मुणिऊण । १३ म अनित्यानुप्रेक्षा ॥ १ ॥ १४ ब गाथाके आरंभमें 'असरणाणुवेक्खा' । १५ लमसग दीसये । १६ लमग गहियं । १७ लमसग रक्खइ । १८ ब खित्त° । १९ लमसग दीसए । २० ब पिच्छंतो । २१ स भूइपिसाइ । २२ ग मन्नइ ।

अप्पाणं पि[1] चवंतं[2] जइ सक्कदि रक्खिदुं[3] सुरिंदो वि ।
तो किं छंडदि[4] सग्गं सव्वुत्तम-भोय-संजुत्तं ॥ २९ ॥
दंसण-णाण-चरित्तं सरणं सेवेहि[5] परम-सद्धाए ।
अण्णं किं पि ण सरणं संसारे संसरंताणं ॥ ३० ॥
अप्पा णं पि य सरणं खमादि-भावेहिँ परिणदो[6] होदि ।
तिव्व-कसायाविट्ठो अप्पाणं हणदि अप्पेण ॥ ३१ ॥[7]

[३. संसाराणुवेक्खा]

एक्कं चयदि सरीरं अण्णं गिण्हेदि णव-णवं जीवो ।
पुणु पुणु[8] अण्णं अण्णं गिण्हदि मुंचेदि[9] बहु-वारं ॥ ३२ ॥
एवं जं संसरणं णाणा-देहेसु होदि[10] जीवस्स ।
सो संसारो भण्णदि मिच्छ-कसाएहिँ जुत्तस्स ॥ ३३ ॥
पाव-उदयेण[11] णरए जायदि जीवो सहेदि बहु-दुक्खं ।
पंच-पयारं विविहं अणोवमं[12] अण्ण-दुक्खेहिँ ॥ ३४ ॥
असुरोदीरिय-दुक्खं सारीरं माणसं तहा विविहं ।
खित्तुब्भवं च तिव्वं अण्णोण्ण[13]-कयं च पंचविहं ॥ ३५ ॥
छिज्जइ तिल-तिल-मित्तं भिंदिज्जइ तिल-तिलंतरं सयलं ।
वज्जग्गीएँ[14] कढिज्जइ णिहप्पए पूय-कुंडम्हि[15] ॥ ३६ ॥
इच्चेवमाइ-दुक्खं जं णरएँ[16] सहदि एय-समयम्हिँ[17] ।
तं सयलं वण्णेदुं ण सक्कदे सहस-जीहो वि ॥ ३७ ॥
सव्वं पि होदि णरए खेत्त[18]-सहावेण दुक्खदं असुहं ।
कुविदा वि सव्व-कालं अण्णोण्णं[19] होंति[20] णेरइया[21] ॥ ३८ ॥
अण्ण-भवे जो सुयणो सो वि य णरएँ[22] हणेइ अइ-कुविदो ।
एवं तिव्व-विवागं बहु-कालं विसहदे दुक्खं ॥ ३९ ॥

---

१ लग च । २ ब चवंतो । ३ ब रक्खियं, ग रक्खिदो । ४ ग छंडिदि । ५ लमसग सेवेहि । ६ लसग परिणदं । ७ म गाथाके अन्त्यमें 'असरणानुप्रेक्षा ॥ २ ॥' ८ स पुण पुण । ९ ब मुंचेदि । १० लमग हवदि । ११ लमग पाउदयेण, स पाओदएण । १२ ब अनोवमं अस° । १३ लमसग अण्णुण्ण । १४ ब वजग्गिइ । १५ ब कुंडंमि, स कुंडम्मि १६ ब निरइ । १७ ब समियंमि, म समयंमि (?) । १८ लमग खित्त° । १९ लमसग अण्णुण्णं । २० [हंति] । २१ ब नेरइया । २२ ब नरइ ।

तत्तो णीसरिदूणं[1] जायदि तिरिएसु[2] बहु-वियप्पेसु ।
तत्थ वि पावदि दुक्खं गब्भे वि य छेयणादीयं ॥ ४० ॥
तिरिएहिँ खज्जमाणो दुट्ठ-मणुस्सेहिँ हम्ममाणो वि ।
सव्वत्थ वि संतट्ठो भयं[3]-दुक्खं विसहदे भीमं ॥ ४१ ॥
अण्णोण्णं[4] खज्जंता तिरिया पावंति दारुणं दुक्खं ।
माया वि जत्थ भक्खदि[5] अण्णो को तत्थ रक्खेदि ॥ ४२ ॥
तिव्व-तिसाए[6] तिसिदो तिव्व-विभुक्खाइ भुक्खिदो संतो ।
तिव्वं पावदि दुक्खं उयर[7]-हुयासेण[8] डज्झंतो ॥ ४३ ॥
एवं बहुप्पयारं दुक्खं विसहेदि तिरिय-जोणीसु ।
तत्तो णीसरिदूणं[9] लद्धि-अपुण्णो[10] णरो होदि ॥ ४४ ॥
अह गब्भे वि य जायदि तत्थ वि णिवडीकयंग-पंचंगो[11] ।
विसहदि तिव्वं दुक्खं णिग्गममाणो[12] वि जोणीदो ॥ ४५ ॥
बालो वि पियर-चत्तो पर-उच्छिट्ठेण[13] वड्ढदे दुहिदो ।
एवं जायण-सीलो गमेदि कालं महादुक्खं ॥ ४६ ॥
पावेण जणो एसो दुक्कम्म-वसेण जायदे सव्वो ।
पुणरवि करेदि पावं ण य पुण्णं को वि अज्जेदि ॥ ४७ ॥
विरलो[14] अज्जदि[15] पुण्णं सम्मादिट्ठी[16] वएहिँ संजुत्तो ।
उवसम-भावे सहिदो णिंदण-गरहाहिँ संजुत्तो[17] ॥ ४८ ॥
पुण्ण-जुदस्स वि दीसदि[18] इट्ठ-विओयं अणिट्ठ-संजोयं ।
भरहो वि साहिमाणो परिज्जिओ लहुय-भाएण ॥ ४९ ॥
सयलट्ठ-विसय-जोओ[19] बहु-पुण्णस्स वि ण सव्वहा[20] होदि ।
तं पुण्णं पि ण कस्स वि सव्वं जेणिच्छिदं[21] लहदि ॥ ५० ॥
कस्स वि णत्थि कलत्तं अहव कलत्तं ण पुत्त-संपत्ती ।
अह तेसिं संपत्ती तह वि सरोओ[22] हवे देहो ॥ ५१ ॥

---

१ लमसग णीसरिऊणं । २ ब तिरिइसु । ३ म भयचक्कं । ४ लमसग अण्णुण्णं । ५ ग भिक्खदि यण्णो । ६ ब तिसाइ । ७ ग उवर । ८ लमसग हुयासेहिं । ९ लमसग णिसरिऊणं । १० ग लद्धियपुण्णो । ११ ब सव्वंगो । १२ ब णिग्गयमाणो । १३ ब उच्छट्ठेण । १४ बम विरला । १५ ब अज्जहि । १६ ब सम्माइट्ठी । १७ ब संयुत्ता । १८ लमसग दीसइ । १९ ब सयलिट्ठविसंजोउ । २० लसग सव्वदो, म सव्वदा । २१ ब जो णिच्छिदं । २२ बस सरोवो ।

अह[1] णीरोओ[2] देहो तो धण-धण्णाण णेय[3] संपत्ती ।
अह धण-धण्णं होदि हु तो मरणं झत्ति ढुकेदि[4] ॥ ५२ ॥
कस्स वि दुट्ठ-कलत्तं[5] कस्स वि दुव्वसण-वसणिओ पुत्तो ।
कस्स वि अरि-सम-बंधू कस्स वि दुहिदा वि दुच्चरिया[6] ॥ ५३ ॥
मरदि सुपुत्तो कस्स वि[7] कस्स वि महिला विणस्सदे[8] इट्ठा ।
कस्स वि अग्गि-पलित्तं गिहं कुडंबं च डज्झेइ ॥ ५४ ॥
एवं मणुय-गदीए णाणा-दुक्खाइँ विसहमाणो वि ।
ण वि धम्मे कुणदि मइं[9] आरंभं णेय परिचयइ ॥ ५५ ॥
सधणो[10] वि होदि णिधणो धण-हीणो तह य ईसरो होदि ।
राया वि होदि भिच्चो भिच्चो वि य होदि णरणाहो ॥ ५६ ॥
सत्तू वि होदि मित्तो मित्तो वि य जायदे तहा सत्तू ।
कम्म-विवाग[11]-वसादो एसो संसार-सब्भावो ॥ ५७ ॥
अह कह वि हवदि देवो तस्स वि[12] जाएदि माणसं दुक्खं ।
दट्ठूण महड्ढीणं[13] देवाणं रिद्धि-संपत्ती ॥ ५८ ॥
इट्ठ-विओगं[14]-दुक्खं होदि महड्ढीणं[15] विसय-तण्हादो ।
विसय-वसादो सुक्खं जेसिं तेसिं कुदो तित्ती ॥ ५९ ॥
सारीरिय-दुक्खादो माणस-दुक्खं हवेइ अइ-पउरं ।
माणस-दुक्ख-जुदस्स हि[16] विसया वि दुहावहा हुंति ॥ ६० ॥
देवाणं पि य सुक्खं मणहर-विसएहिँ कीरदे[17] जदि हि ।
विसय[18]-वसं[19] जं सुक्खं दुक्खस्स वि कारणं तं पि ॥ ६१ ॥
एवं सुट्ठु-असारे संसारे दुक्ख-सायरे घोरे ।
किं कत्थ वि अत्थि सुहं वियारमाणं सुणिच्छयदो ॥ ६२ ॥
दुक्किय-कम्म-वसादो राया वि य असुइ-कीडओ होदि ।
तत्थेव य कुणइ रइं पेक्खह[20] मोहस्स माहप्पं ॥ ६३ ॥

---

१ म अहव णी° । २ ब निरोओ । ३ ब णेव । ४ लमसग ढुकेइ । ५ म कलत्ता । ६ ग दुच्चरिआ । ७ लमसग कस्स वि मरदि सुपुत्तो । ८ ब विणिस्सदे । ९ ब कुणइ रई आ° । १० गाथाके आरंभमें, ब किं च इत्थ संसारे स्वरूपं । ११ बमस विवाय । १२ लमसग य । १३ लमसग महड्ढीणं । १४ ब विउयं, म विओगे । १५ ब मड्ढीण, लमसग महड्ढीण । १६ ब वि । १७ लमगास कीरए । १८ ब विसइ । १९ ग °विसं । २० ब पेक्खहु, लमग पिक्खह ।

पुत्तो वि भाउ जाओ सो चियं[1] भाओ वि देवरो होदि ।
माया होदि सवत्ती जणणो वि य होदि[2] भत्तारो ॥ ६४ ॥
[3]एयम्मि भवे एदे संबंधा होंति एय-जीवस्स ।
अण्ण-भवे किं भण्णइ जीवाणं धम्म-रहिदाणं[4] ॥ ६५ ॥
संसारो पंच-विहो दवे खेत्ते तहेव काले य ।
भव-भमणो[5] य चउत्थो पंचमओ भाव-संसारो ॥ ६६ ॥
बंधदि मुंचदि[6] जीवो पडिसमयं कम्म-पुग्गला विविहा ।
णोकम्म-पुग्गला वि य मिच्छत्त-कसाय-संजुत्तो[7] ॥ ६७ ॥
सो को वि णत्थि देसो लोयायासस्स णिरवसेसस्स ।
जत्थ ण सवो[8] जीवो जादो[9] मरिदो य बहुवारं[10] ॥ ६८ ॥
उवसप्पिणि-अवसप्पिणि-पढम-समयादि-चरम-समयंतं ।
जीवो कमेण जम्मदि मरदि य सवेसु[11] कालेसु[12] ॥ ६९ ॥
णेरइयादि-गदीणं अवर-ट्ठिदिदो[13] वर-ट्ठिदी जावँ[14] ।
सव-ट्ठिदिसु वि जम्मदि जीवो गेवेज्ज-पज्जंतं[15] ॥ ७० ॥
परिणमदि सण्णि-जीवो विविह-कसाएहिँ ठिदि-णिमित्तेहिँ ।
अणुभाग-णिमित्तेहि य वट्टंतो भाव[16]-संसारे[17] ॥ ७१ ॥
एवं अणाइ-काले[18] पंच-पयारे[19] भमेइ संसारे ।
णाणा-दुक्ख-णिहाणे जीवो मिच्छत्त-दोसेण ॥ ७२ ॥

---

१ लमसग विय । २ लमगस होइ । ३ यह गाथा ल प्रतिमें नहीं है । ४ इस गाथाके अनंतर नीचे लिखा हुआ अधिक पाठ मिला जैसा लिखा है । ब "वसंततिलयाधणदेवपउमाइणि इत्थि दिट्ठंता । भाया भतिजय देवरो सि पुत्तो सि पुत्तपुत्तो सि । पित्तव्वउ सि वालय होसि तुमं णत्त छकेणं ॥ ६६ ॥ तुज्झ पिया मम भाया सुसुरो पुत्तो पइ य जणणो य । तह य पियामहु होइ वालयणत्तणत्थ केणं ॥ ६७ ॥ माया य तुज्झ वालय मम जणणी सासुय सवकी य । बहु भाउजया य पियामही य इत्थेव जाया या ॥ ६८ ॥" । म वसंततिलयाधणदेवपउ-माएइणि दिट्ठंता बालाय णिसुणहि वयणं तुहु सरिसइं हुंति अट्ठदह नत्ता ॥ ६६ ॥ पुत्त भत्तीजउ भायउ देवरु पित्ति-यउ पुत्तो जो ॥ ६६ ॥ तुहु पियरो मुहु पियरो पियामहो तहइ [य] हवइ भत्तारो । भायउ तहा वि पुत्तो सुसुरु हवय [इ] वालया मज्झ ॥ ६७ ॥ तुहु जणणी हुइ भज्जा पियामहि तह य मायरी । सवईं हवइ बहु तह सा सुष कहिया अट्ठदह णत्ता ॥ ६८ ॥ ५ ब म भवणो । ६ ब मुच्चदि । ७ इस गाथाके अन्त्यमें, बम दव्वे ॥ ८ ब सव्वे । ९ ब जादो य मदोय (परिवर्तनके पूर्वका पाठ) । १० इस गाथाके अंत्यमें ब खेत्तं, म खेत्ते ॥ ११ ब समइसु सव्वेसु । १२ बम काले । १३ ग अवरिट्ठिदिदो वरिट्ठिदी । १४ ब जाम । १५ म भावे [भवे] । १६ ब प्रतिमें इस गाथाके बीच और बाद नातेके कुछ शब्द लिखे गए हैं । इस वास्ते किसी दुसरेने हासीयेमें यह गाथा लिखी है । गाथाके अंत्यमें 'भवो' शब्द है । १७ लसग संसारो । ब भाव संसारो, म भाव ॥ १८ ब अणायकाले, लमसग अणाइकालं । १९ ब पयारेहिं भमए सं° ।

इय संसारं जाणिय मोहं सव्वायरेण चइऊणं ।
तं झायह स-सरूवं[1] संसरणं जेण णासेइ ॥ ७३ ॥[2]

[४. एगत्ताणुवेक्खा]

इक्को जीवो जायदि एक्को[3] गब्भम्हि[4] गिण्हदे देहं ।
इक्को बाल-जुवाणो इक्को वुड्ढो जरा-गहिओ ॥ ७४ ॥
इक्को[5] रोई सोई इक्को तप्पेइ माणसे दुक्खे ।
इक्को[7] मरदि वराओ णरय[6]-दुहं सहदि इक्को वि ॥ ७५ ॥
इक्को[8] संचदि पुण्णं एक्को भुंजेदि विविह-सुर-सोक्खं ।
इक्को खवेदि कम्मं इक्को वि य पावए[9] मोक्खं ॥ ७६ ॥
सुयणो पिच्छंतो वि हु ण दुक्ख-लेसं पि सक्कदे गहिदुं ।
एवं जाणंतो वि हु तो वि ममत्तं ण छंडेइ[10] ॥ ७७ ॥
जीवस्स णिच्छयादो धम्मो दह-लक्खणो हवे सुयणो[11] ।
सो णेइ देव-लोए सो चिय[12] दुक्ख-क्खयं कुणइ ॥ ७८ ॥
सव्वायरेण जाणह[13] एक्कं[14] जीवं सरीरदो भिण्णं ।
जम्हि दु मुणिदे जीवे[15] होदि[16] असेसं खणे हेयं ॥ ७९ ॥[17]

[५. अण्णत्ताणुवेक्खा]

अण्णं देहं गिण्हदि[18] जणणी अण्णा य होदि कम्मादो ।
अण्णं होदि कलत्तं अण्णो वि य जायदे पुत्तो ॥ ८० ॥
एवं बाहिर-दव्वं जाणदि[19] रूवादु अप्पणो भिण्णं ।
जाणंतो वि हु जीवो तत्थेव हि रच्चदे मूढो ॥ ८१ ॥
जो जाणिऊण देहं जीव-सरूवादु[20] तच्चदो भिण्णं ।
अप्पाणं पि य सेवदि कज्ज-करं तस्स अण्णत्तं ॥ ८२ ॥[21]

[६. असुइत्ताणुवेक्खा]

सयल-कुहियाण पिंडं किमि-कुल-कलियं अउव्व-दुग्गंधं ।
मल-मुत्ताण य गेहं देहं जाणेहि[22] असुइमयं[23] ॥ ८३ ॥

---

१ लमसग ससहावं। २ बम संसारानुप्रेक्षा। ३ लमसग इक्को। ४ ब गब्भम्मि...... देहो। ५ ब एको। ६ ब निरय। ७ ब एको। ८ लमसग इक्को। ९ बम पावइ। १० स छंडेइ। ११ म सुवणो। १२ स विय। १३ ब जाणइ। १४ लमसग इक्कं। १५ बम जीवो। १६ लमसग होइ। १७ ब एकत्ताणुवेक्खा, म एकत्वानुप्रेक्षा। १८ ब गिण्हिदि। १९ ब जाण सरूवादि अ°। २० ब जीवस्स रूवादि। २१ ब अनुत्ताणप्रेया, म अन्यत्वानुप्रेक्षा। २२ लमस जाणेह, ग जाणेइ। २३ म असुइत्तं।

सुट्ठु पवित्तं दवं सरस-सुगंधं मणोहरं जं पि[1] ।
देह-णिहित्तं जायदि घिणावणं सुट्ठु दुग्गंधं ॥ ८४ ॥
मणुयाणं[2] असुइमयं विहिणा देहं विणिम्मियं[3] जाण ।
तेसिं विरमण-कज्जे ते पुण तत्थेव[4] अणुरत्ता ॥ ८५ ॥
एवंविहं पि देहं पिच्छंता वि य कुणंति अणुरायं ।
सेवंति आयरेण य अलद्ध-पुवं[5] ति मण्णंता ॥ ८६ ॥
जो पर-देह-विरत्तो णिय-देहे ण य करेदि अणुरायं ।
अप्प-सरूव[6]-सुरत्तो असुइत्ते[7] भावणा तस्स ॥ ८७ ॥[8]

[७. आसवाणुवेक्खा]

मण-वयण-काय-जोया जीव[9]-पएसाण फंदण-विसेसा ।
मोहोदएण[10] जुत्ता विजुदा वि य आसवा होंति ॥ ८८ ॥
मोह-विवाग-वसादो जे परिणामा हवंति जीवस्स ।
ते आसवा मुणिज्जसु[11] मिच्छत्ताई[12] अणेय-विहा ॥ ८९ ॥
कम्मं पुण्णं पावं हेउं[13] तेसिं च होंति सच्छिदरा ।
मंद-कसाया सच्छा तिव्व-कसाया असच्छा हु ॥ ९० ॥
सवत्थ वि पिय-वयणं दुवयणे दुज्जणे वि खम-करणं ।
सव्वेसिं गुण-गहणं मंद-कसायाण दिट्ठंता ॥ ९१ ॥
अप्प-पंससण-करणं पुज्जेसु वि दोस-गहण-सीलत्तं ।
वेर[14]-धरणं च सुइरं तिव्व-कसायाण लिंगाणि ॥ ९२ ॥
एवं जाणंतो वि हु परिचयणीए[15] वि जो ण परिहरइ ।
तस्सासवाणुवेक्खा[16] सवा वि णिरत्थया होदि ॥ ९३ ॥
एदे मोहय-भावा[17] जो परिवज्जेइ उवसमे लीणो ।
हेयं ति[18] मण्णमाणो आसव-अणुवेहणं[19] तस्स ॥ ९४ ॥[20]

---

१ ब सु (यं) धं । २ लमसग मणुआणं । ३ ब विणिम्मिदं [?] । ४ ब पुणु तित्थेव । ५ लग पुव्व त्ति, म सेव त्ति । ६ लगस अप्पसुरूविसु° । ७ ब असुइत्तो । ८ ब असुइत्ताणुवेक्खा, म असुचित्वानुप्रेक्षा । ९ ब जीवापइसाण । १० ब मोहोदइण । ११ स मुणिज्जहु । १२ बम मिच्छत्ताइ । १३ ग हेउ, [हेऊ] । १४ ल खेरिधरणं, म वेरिध° । १५ ब परच°, ल परिवयणीये, सग °णीये । १६ लमसग °णुपिक्खा । १७ लमसग मोहजभावा । १८ लमसग हेयमिदि म° । १९ लमसग अणुपेहणं । २० ब आश्रवाणुवेक्खा, म आश्रवानुप्रेक्षा ।

[८. संवराणुवेक्खा]

सम्मत्तं देस-वयं महव्वयं तह जओ कसायाणं ।
एदे संवर-णामा जोगाभावो तहा[1] चेव ॥ ९५ ॥
गुत्ती समिदी धम्मो अणुवेक्खा[2] तह[3] य परिसह-जओ वि ।
उक्किट्ठं चारित्तं संवर-हेदूं[4] विसेसेण ॥ ९६ ॥
गुत्ती जोग-णिरोहो समिदी य पमाद[5]-वज्जणं चेव ।
धम्मो दया-पहाणो सुतत्त[6]-चिंता अणुप्पेहा[7] ॥ ९७ ॥
सो वि परीसह-विजओ छुहादि[8]-पीडाण अइ-रउद्दाणं ।
सवणाणं च मुणीणं उवसम-भावेण जं सहणं ॥ ९८ ॥
अप्प-सरूवं वत्थुं चत्तं रायादिएहि दोसेहिं ।
सज्झाणम्मि णिलीणं[9] तं जाणसु उत्तमं चरणं ॥ ९९ ॥
एदे संवर-हेदूं[10] वियारमाणो वि जो ण आयरइ ।
सो भमइ[11] चिरं कालं संसारे दुक्ख-संतत्तो ॥ १०० ॥
जो पुणु[12] विसय[13]-विरत्तो अप्पाणं सव्वदो[14] वि संवरइ ।
मणहर-विसएहिंतो[15] तस्स फुडं संवरो होदि ॥ १०१ ॥[16]

[९. णिज्जराणुवेक्खा]

बारस-विहेण तवसा णियाण-रहियस्स णिज्जरा होदि ।
वेरग्ग-भावणादो णिरहंकारस्स[17] णाणिस्स ॥ १०२ ॥
सव्वेसिं कम्माणं सत्ति[18]-विवाओ[19] हवेइ अणुभाओ ।
तदणंतरं तु सडणं कम्माणं णिज्जरा जाण ॥ १०३ ॥
सा पुण[20] दुविहा णेया सकाल-पत्ता तवेण कयमाणा ।
चादुगदीणं[21] पढमा वय-जुत्ताणं हवे बिदिया ॥ १०४ ॥
उवसम-भाव-तवाणं जह जह वड्ढी[22] हवेइ[23] साहूणं ।
तह तह णिज्जर-वड्ढी[24] विसेसदो धम्म-सुक्कादो ॥ १०५ ॥

१ लमग तह चेय, स तह चेव । २ ब अणुवेहा, सग °विक्खा । ३ लमग तह परीसह, स तह य परीसह । ४ ब हेऊ । ५ मस पमाय-। ६ ब सुतत्थ-, लसग सुतच्च-। ७ ब अणुवेहा । ८ लमग छुहाइ-। ९ ब विलीणं [?]। १० ब हेदूं, लसग हेदुं, म हेदु । ११ ब भमेइ [भमइ य चिरकालं]। १२ ब पुणु । १३ ग विसइ-। १४ लमसग सव्वदा । १५ ब विसयेहिंतो । १६ ब संवराणुवेक्खा । १७ लस °कारिस्स । १८ ब सत्त । १९ ल विवागो । २० ब पुणु । २१ ब चाऊगदीणं, स चाउ° । २२ म वुड्ढी । २३ ब हवइ । २४ द वुड्ढी ।

मिच्छादो सद्दिट्ठी असंख-गुण-कम्म-णिज्जरा होदि ।
तत्तो अणुवय-धारी तत्तो य महव्वई णाणी ॥ १०६ ॥
पढम-कसाय-चउण्हं विजोजओ तह य खवय[1]-सीलो य ।
दंसण-मोह-तियस्स य तत्तो उवसमग[2]-चत्तारि ॥ १०७ ॥
खवगो य खीण-मोहो सजोइ-णाहो[3] तहा[4] अजोईया ।
एदे[5] उवरिं उवरिं असंख-गुण-कम्म-णिज्जरया ॥ १०८ ॥
जो विसहदि दुव्वयणं साहम्मिय[6]-हीलणं च उवसग्गं ।
जिणिऊण कसाय-रिउं तस्स हवे णिज्जरा विउला[7] ॥ १०९ ॥
रिण-मोयणं व[8] मण्णइ जो उवसग्गं परीसहं तिव्वं ।
पाव-फलं मे एदं मया वि जं संचिदं[9] पुव्वं ॥ ११० ॥
जो चिंतइ सरीरं ममत्त-जणयं विणस्सरं असुइं[10] ।
दंसण-णाण-चरित्तं सुह-जणयं णिम्मलं णिच्चं ॥ १११ ॥
अप्पाणं जो णिंदइ गुणवंताणं करेइ[11] बहु-माणं ।
मण-इंदियाण विजई स सरूव-परायणो होउ[12] ॥ ११२ ॥
तस्स य सहलो जम्मो तस्स य[13] पावस्स[14] णिज्जरा होदि ।
तस्स य[15] पुण्णं वड्ढदि तस्स वि[16] सोक्खं परं[17] होदि ॥ ११३ ॥
जो सम-सोक्ख[18]-णिलीणो वारंवारं सरेइ अप्पाणं ।
इंदिय-कसाय-विजई तस्स हवे णिज्जरा परमा ॥ ११४ ॥[19]

[१०. लोगाणुवेक्खा]

सव्वायासमणंतं[20] तस्स य बहु-मज्झ-संठिओ[21] लोओ ।
सो केण वि णेव[22] कओ ण य धरिओ हरि-हरादीहिं ॥ ११५ ॥
अण्णोण्ण-पवेसेण य दव्वाणं अच्छणं हवे[23] लोओ ।
दव्वाणं णिच्चत्तो लोयस्स वि मुणह[24] णिच्चत्तं[25] ॥ ११६ ॥

---

१ स खवइ । २ ब उवसमग्ग । ३ ब सयोगिणाहो, ब सजोयणाणो । ४ ब तह अयोगीय । ५ द एदो । ६ ब साहम्मिही° । ७ ब णिजर विउलं । ८ लमसग मोयणुव्व । ९ ब संचयं । १० ब असुहं । ११ लमसग करेदि । १२ ग होऊ [होइ] । १३ लमसग वि । १४ ग पाकस्स । १५ लमसग वि य । १६ लमसग य । १७ ब परो । १८ लमसग सुक्ख । १९ ब निजराणुवेखा । २० ग सव्वागासंम° । २१ बम संठिउ, लग संठियो, स संद्धिगो । २२ म ण्णेय, सग णेय । २३ लसग भवे । २४ ब मुणहि । २५ ग णिच्चित्तं ।

परिणाम-सहावादो पडिसमयं परिणमंति दव्वाणि[1] ।
तेसिं परिणामादो लोयस्स वि मुणह[2] परिणामं ॥ ११७ ॥
सत्तेक्क[3]-पंच-इक्का मूले मज्झे तहेव बंभंते ।
लोयंते रज्जूओ पुव्वावरदो[4] य वित्थारो ॥ ११८ ॥
दक्खिण-उत्तरदो पुण[5] सत्त वि रज्जू हवंति[6] सव्वत्थ ।
उड्ढं[7] चउदह[8] रज्जू सत्त वि रज्जू घणो लोओ ॥ ११९ ॥
मेरुस्स हिट्ठ-भाए[9] सत्त वि रज्जू हवेइ अह-लोओ[10] ।
उड्ढम्मि उड्ढ-लोओ मेरु-समो मज्झिमो लोओ ॥ १२० ॥
दीसंति जत्थ अत्था जीवादीया स भण्णदे[11] लोओ ।
तस्स सिहरम्मि सिद्धा अंत-विहीणा विरायंते[12] ॥ १२१ ॥
एइंदिएहिँ[13] भरिदो पंच-पयारेहिँ सव्वदो लोओ ।
तस-णाडीए[14] वि तसा ण बाहिरा होंति सव्वत्थ ॥ १२२ ॥
पुण्णा वि अपुण्णा[15] वि य थूला जीवा हवंति साहारा ।
छविह[16]-सुहुमा[17] जीवा लोयायासे वि सव्वत्थ ॥ १२३ ॥
पुढवी[18]-जलग्गि-वाऊ चत्तारि वि होंति[19] बायरा सुहुमा ।
साहारण-पत्तेया वणप्फदी[20] पंचमा दुविहा ॥ १२४ ॥
साहारणा वि दुविहा अणाइ[21]-काला[22] य साइ-काला य ।
ते वि[23] य बादर-सुहमा सेसा पुण[24] बायरा सव्वे ॥ १२५ ॥
साहारणाणि जेसिं आहारुस्सास-काय-आऊणि ।
ते साहारण-जीवा णंताणंत-प्पमाणाणं ॥ १२६ ॥[25]
ण य जेसिं पडिखलणं पुढवी[26]-तोएहिँ अग्गि-वाएहिं ।
ते जाण[27] सुहुम-काया इयरा पुण[28] थूल-काया य ॥ १२७ ॥

---

१ ल तच्चाणि । २ ब मुणहि । ३ लग सत्तेक, म सत्तिक्क, स सतेक । ४ ग पुव्वापरदो । ५ ब पुणु । ६ लसग हवेति । ७ ब उद्दं [?], लमग उड्ढो, स उद्दो । ८ लसग चउदस, म चउद्दस । ९ लग भागे । १० ब हवेइ अहो लोउ [?], लसग हवे अहो लोओ, म हवेइ अह लोउ । ११ ब भण्णइ । १२ लमसग विरायंति । १३ बस °दिएहि । १४ ब नाडिए । १५ बलमसग यपुण्णा । १६ बलसग छविह । १७ ब सुहमा । १८ लग पुढवि । १९ ब हुंति । २० ब वणप्फदि । २१ लग अणाय । २२ लमस कालाइ साइकालाइं । २३ ब ते पुणु बादर, ल ते चिय । २४ ब पुणु । २५ ब युगलं । २६ म पुढई, लग पुढवी । २७ ब जाणि । २८ ब पुणु ।

पत्तेया वि य दुविहा णिगोद-सहिदा[1] तहेव रहिया य ।
दुविहा होंति[2] तसा वि य वि-ति-चउरक्खा तहेव पंचक्खा ॥ १२८ ॥[3]
पंचक्खा वि य तिविहा जल-थल-आयास-गामिणो तिरिया ।
पत्तेयं ते दुविहा मणेण जुत्ता[4] अजुत्ता य ॥ १२९ ॥
ते वि पुणो वि य दुविहा गब्भज-जम्मा तहेव संमुच्छा ।
भोग-भुवा[5] गब्भ-भुवा थलयर-णह[6]-गामिणो सण्णी ॥ १३० ॥
अट्ठ वि गब्भज दुविहा तिविहा [7]संमुच्छिणो वि तेवीसा ।
इदि पणसीदी भेया[8] सव्वेसिं होंति तिरियाणं ॥ १३१ ॥
अज्जव-मिलेच्छ[9]-खंडे भोग-महीसु[10] वि कुभोग-भूमीसु ।
मणुया[11] हवंति दुविहा णिव्वित्ति-अपुण्णगा पुण्णा ॥ १३२ ॥
संमुच्छिया मणुस्सा अज्जव-खंडेसु होंति[12] णियमेण ।
ते पुण [13]लद्धि-अपुण्णा णारय-देवा वि ते दुविहा ॥ १३३ ॥[14]
आहार-[15]सरीरिंदिय-णिस्सासुस्सास-[16]भास-मणसाणं[17] ।
परिणइ[18]-वावारेसु य जाओ छ चेव[19] सत्तीओ ॥ १३४ ॥
तस्सेव कारणाणं पुग्गल-खंधाण जा हु णिप्पत्ती ।
सा पज्जत्ती [20]भण्णदि छब्भेया जिणवरिंदेहिं ॥ १३५ ॥
पज्जत्तिं गिण्हंतो मणु-पज्जत्तिं ण जाव समणोदि[21] ।
ता णिव्वत्ति-अपुण्णो मण-पुण्णो[22] भण्णदे[23] पुण्णो ॥ १३६ ॥
उस्सासट्ठारसमे भागे जो मरदि ण य समाणेदि ।
[24]एक्को वि य पज्जत्ती [25]लद्धि-अपुण्णो हवे सो दु ॥ १३७ ॥
लद्धियपुण्णे पुण्णं पज्जत्ती एयक्ख-वियल-सण्णीणं ।
चदु पण छक्कं कमसो पज्जत्तीए[26] वियाणेह ॥ १३८ ॥
मण-वयण-काय-इंदिय-णिस्सासुस्सास-आउ-उदयाणं[27] ।
जेसिं जोए जम्मदि मरदि[28] विओगम्मि ते वि दह पाणा ॥ १३९ ॥

१ ब सहिया। २ ब हुंति। ३ साहारणाणि इत्यादि गाथा (१२६) ब-पुस्तकेऽत्र 'आहारुउसास्सआ-उकाऊणि' इति पाठान्तरेण पुनरुक्ता दृश्यते। ४ म हुत्ता अहुत्ता य। ५ ब भुया। ६ स नभ। ७ बग समु°। ८ स भेदा। ९ स मिलछे, ग मलेछ। १० ग भोगभूमीसु। ११ मसग मणुआ। १२ ब हुंति। १३ ब लद्ध। १४ ब एव अट्ठाणउदी भेया। १५ मग सरीरेंदिय। १६ स हास। १७ ब मणुसाणं। १८ ब परिणवइ। १९ ब छव्वेव। २० ग भणिदि छभेया। २१ म समाणेदि। २२ बमस मणु-। २३ लग भण्णते। २४ ब एका (?), लमसग एका। २५ मग लद्धियपुणो। २६ ब पज्ज-त्तीअ (?)। २७ लमग आउरुदयाणं, स आउसहियाणं। २८ बग मरिदि।

एयक्खे चदु पाणा बि-ति-चउरिंदिय-असण्णि-सण्णीणं ।
छह सत्त अट्ठ[1] णवयं दह पुण्णाणं कमे पाणा ॥ १४० ॥
दुविहाणमपुण्णाणं इंगि[2]-वि-ति-चउरक्ख-अंतिम-दुगाणं ।
तिय चउ पण छह सत्त य कमेण पाणा मुणेयव्वा ॥ १४१ ॥
वि-ति-चउरक्खा जीवा हवंति णियमेण कम्म-भूमीसु ।
चरिमे दीवे अद्धे चरमं[3]-समुद्दे वि सव्वेसु ॥ १४२ ॥
माणुस-खित्तस्स बहिं चरिमे[4] दीवस्स अद्धयं जाव[5] ।
सव्वत्थे[6] वि तिरिच्छा हिमवद्-तिरिएहिं[7] सारिच्छा ॥ १४३ ॥
लवणोए कालोए अंतिम[8]-जलहिम्मि जलयरा[9] संति ।
सेस-समुद्देसु पुणो ण जलयरा संति णियमेण ॥ १४४ ॥
खरभाय-पंकभाए भावण-देवाण होंति भवणाणि ।
विंतर[10]-देवाण तहा दुण्हं पि य तिरिय-लोयम्मि[11] ॥ १४५ ॥
जोइसियाण विमाणा रज्जू-मित्ते वि तिरिय-लोए वि[12] ।
कप्प-सुरा उड्ढम्मि[13] य अह-लोए होंति[14] णेरइया ॥ १४६ ॥[15]
बादर[16]-पज्जत्ति-जुदा घण-आवलिया असंख-भागा दु ।
किंचूण[17]-लोय-मित्ता तेऊ वाऊ जहा-कमसो ॥ १४७ ॥
पुढवी[18]-तोय-सरीरा पत्तेया वि य पइट्ठिया इयरा ।
होंति[19] असंखा सेढी पुण्णापुण्णा य तह य तसा ॥ १४८ ॥
बादर[20]-लद्धि[21]-अपुण्णा असंख-लोया हवंति पत्तेया ।
तह य अपुण्णा सुहुमा पुण्णा वि य संख-गुण-गणिया ॥ १४९ ॥
सिद्धा संति अणंता सिद्धाहिंतो[22] अणंत-गुण-गुणिया ।
होंति णिगोदा जीवा भागमणंतं अभवा य ॥ १५० ॥
सम्मुच्छिमा[23] हु मणुया सेढियसंखिज्ज[24]-भाग-मित्ता हु ।
गब्भज-मणुया सव्वे संखिज्जा होंति णियमेण ॥ १५१ ॥[25]

---

१ ब सत्तट्ठ । २ ग इग- । ३ ल चरिम- । ४ ग चरमे । ५ ब जाम । ६ लसग सव्वत्थि वि । ७ ब हिमवदितिरियेहि । ८ ब अंतम । ९ लग जलचरा । १० ग विंतर- । ११ लमसग तिरियलोए वि । १२ ब -लोए मि । १३ लग उड्ढम्हि, स उड्ढम्हि । १४ ब हुंति । १५ ब स्थितित्वं ॥ बादर इत्यादि । १६ बग वादर । १७ स्मग किंचूणा । १८ ग पुढवीयतोय । १९ ब हुंति । २० ब वायर । २१ मसग लद्धियपुण्णा । २२ म सिद्धेहिंतो । २३ ब समुच्छिमा, लमस सम्मुच्छिया, ग समुच्छिया, २४ ब सेढिअसं° । २५ ब संखाछ ॥ देवा वि इत्यादि ।

देवा वि णारया वि य लद्धियपुण्णा हु संतरा[1] होंति ।
सम्मुच्छिया[2] वि मणुया सेसा सवे णिरंतरया ॥ १५२ ॥[3]
मणुयादो णेरइया णेरइयादो असंख-गुण-गुणिया[4] ।
सवे हवंति देवा पत्तेय-वणप्फदी[5] तत्तो ॥ १५३ ॥
पंचक्खा चउरक्खा लद्धियपुण्णा[6] तहेव तेयक्खा ।
वेयक्खा वि य कमसो विसेस-सहिदा[7] हु सव-संखाए[8] ॥ १५४ ॥
चउरक्खा पंचक्खा वेयक्खा तह य जाण[9] तेयक्खा ।
एदे पज्जत्ति-जुदा अहिया अहिया कमेणेव ॥ १५५ ॥
परिवज्जिय सुहुमाणं सेस-तिरक्खाणं[10] पुण्ण-देहाणं ।
इक्को भागो होदि हु संखातीदा अपुण्णाणं ॥ १५६ ॥
सुहुमापज्जत्ताणं इक्को[11] भागो हवेदि णियमेण ।
संखिज्जा[12] खलु भागा तेसिं पज्जत्ति-देहाणं ॥ १५७ ॥
संखिज्ज-गुणा देवा अंतिम-पडलादु[13] आणदं[14] जाव[15] ।
तत्तो असंख-गुणिदा सोहम्मं जाव पडिपडलं ॥ १५८ ॥
सत्तम-णारयहिंतो असंख-गुणिदा[16] हवंति णेरइया ।
जाव य पढमं णरयं बहु-दुक्खा होंति[17] हेट्ठिट्ठा[18] ॥ १५९ ॥
कप्प-सुरा भावणया विंतर-देवा तहेव जोइसिया ।
बे[19] हुंति असंख-गुणा संख-गुणा होंति जोइसिया ॥ १६० ॥[20]
पत्तेयाणं आऊ वास-सहस्साणि दह हवे परमं[21] ।
अंतो-मुहुत्तमाऊ[22] साहारण-सव-सुहुमाणं ॥ १६१ ॥
बावीस-सत्त-सहसा पुढवी-तोयाण आउसं होदि ।
अग्गीणं[23] तिण्णि दिणा तिण्णि सहस्साणि वाऊणं ॥ १६२ ॥
बारस-वास वियक्खे[24] एगुणवण्णा दिणाणि तेयक्खे[25] ।
चउरक्खे छम्मासा पंचक्खे तिण्णि पल्लाणि ॥ १६३ ॥[26]

---

१ लमसग सांतरा । २ वग समुच्छिया । ३ ब अंतरं ॥ मणुयादो इत्यादि । ४ स गुणिदा । ५ ग वणप्पदी । ६ ब लद्धिअपुण्णा तहेय । ७ ब विसेसिसहदा, ग विसेसहिदा । ८ स संक्खाय, म सव्वजए । ९ म जाणि । १० लमस तिरिक्खाण । ११ लमसग एगो भागो हवेइ । १२ च संखज्जा । १३ ल पटलादु, स पढलादो, ग पटलादो । १४ लग आरणं, स आणदे । १५ ब जाम । १६ ब गुणिया । १७ सग हवंति । १८ बम हिट्ठिट्ठा । १९ बम ते । २० ब अल्पबहुत्वं । पत्तेयाणं इत्यादि । २१ लग परमा । २२ ब महुत्तमाऊ । २३ ब अगिणं, म अगीणं । २४ ब विअक्खे । २५ ब तेअक्खे । २६ ब उत्कृष्टं सव्व इत्यादि ।

सव्व-जहण्णं आऊ[1] लद्धि-अपुण्णाणं[2] सव्व-जीवाणं ।
मज्झिम-हीण-मुहुत्तं[3] पज्जत्ति-जुदाण णिकिट्ठं[4] ॥ १६४ ॥
देवाणं[5] णारयाणं सायर-संखा हवंति तेत्तीसा[6] ।
उक्किट्ठं च जहण्णं वासाणं दस सहस्साणि ॥ १६५ ॥[7]
अंगुल-असंख-भागो एयक्ख[8]-चउक्ख-देह-परिमाणं ।
जोयण[9]-सहस्स-महियं पउमं उक्कस्सयं जाण ॥ १६६ ॥
बारस-जोयण[10] संखो कोस[11]-तियं गोब्भिया[12] समुद्दिट्ठा ।
भमरो जोयणमेगं[13] सहस्सं[14] संमुच्छिमो[15] मच्छो ॥ १६७ ॥
पंच-सया धणु-छेहा[16] सत्तम-णरए हवंति णारइया[17] ।
तत्तो उस्सेहेण य अद्धद्धा होंति[18] उवरुवरिं ॥ १६८ ॥
असुराणं पणवीसं सेसं णव-भावणा य दह-दंडं ।
विंतर-देवाण तहा जोइसिया[19] सत्त-धणु-देहा ॥ १६९ ॥
दुग-दुग-चदु-चदु-दुग-दुग-कप्प-सुराणं सरीर-परिमाणं ।
सत्तच्छ[20]-पंच-हत्था चउरो अद्धद्ध-हीणा य ॥ १७० ॥
हिट्ठिम-मज्झिम-उवरिम-गेवज्जे[21] तह विमाण-चउदसए ।
अद्ध-जुदा वे[22] हत्था हीणं अद्धद्धयं उवरिं ॥ १७१ ॥
[23]अवसप्पिणीए पढमे काले मणुया ति-कोस-उच्छेहा ।
छट्ठस्स वि अवसाणे हत्थ-पमाणा विवत्था य ॥ १७२ ॥
सव्व-जहण्णो देहो लद्धि[24]-अपुण्णाण सव्व-जीवाणं ।
अंगुल-असंख-भागो अणेय-भेओ हवे सो वि ॥ १७३ ॥
वि-ति-चउ-पंचक्खाणं जहण्ण-देहो हवेइ पुण्णाणं ।
अंगुल-असंख-भागो संख-गुणो सो वि उवरुवरिं[25] ॥ १७४ ॥
अणुद्धरीयं[26] [27]कुंथो मच्छी काणा य सालिसित्थो य ।
पज्जत्ताण तसाणं जहण्ण-देहो विणिद्दिट्ठो ॥ १७५ ॥[28]

---

१ ब आउ, म आउं, ग आयु । २ लमसग -यपुण्णाण । ३ लमग मुहुत्तं । ४ ब निकिट्ठं । ५ ग देवाणं । ६ ग तेत्तीसा । ७ ब आउसं । अंगुल इत्यादि । ८ ल एगक्ख - । ९ ब जोइण । १० ब जोइण । ११ ब कोम । १२ लमसग गुब्भिया । १३ ब जोइणमेकं । १४ लग सहस्सं, म सहस्सा । १५ लमसग समुच्छिदो । १६ ब पंचसधणुच्छेहा (?) । १७ लमग णेरइया । १८ ब हुंति । १९ ग जोयसिया । २० ग सत्तचपंच, [सत्तछहपंच ?] । २१ ब गेवजे, म गेविज्जे । २२ [बे ?]. २३ म उवस° । २४ म लद्धियपुण्णाण (?) । २५ ग उवरुवरि । २६ ब अण्णुधरीयं, लम आणुध,° स आणुद्ध°, ग अणुध° । २७ लग कुंथुमच्छा, मस कुंथं (?) । २८ ब देहप्रमाणं । लोय इत्यादि ।

लोय-पमाणो जीवो देह-पमाणो वि अच्छदे खेत्ते ।
उग्गाहण[1]-सत्तीदो संहरण-विसप्प-धम्मादो ॥ १७६ ॥
सव्व-गओ जदि जीवो सव्वत्थ वि दुक्ख-सुक्ख-संपत्ती ।
जाइज्ज[2] ण सा दिट्ठी णिय-तणु-माणो तदो जीवो ॥ १७७ ॥
जीवो णाण-सहावो जह अग्गी उण्हवो[3] सहावेण ।
अत्थंतर-भूदेण हि णाणेण ण सो हवे णाणी ॥ १७८ ॥
जदि जीवादो भिण्णं सव्व-पयारेण हवदि तं णाणं ।
गुण-गुणि[4]-भावो य तहा दूरेण पणस्सदे[5] दुण्हं ॥ १७९ ॥
जीवस्स वि णाणस्स वि गुणि-गुण[6]-भावेण कीरए भेओ ।
जं जाणदि तं णाणं एवं भेओ कहं होदि ॥ १८० ॥
णाणं भूय-वियारं जो मण्णदि सो वि भूद-गहिदव्वो ।
जीवेण विणा णाणं किं केण वि दीसदे[7] कत्थ ॥ १८१ ॥
सच्चेयण-पच्चक्खं जो जीवं णेव[8] मण्णदे[9] मूढो ।
सो जीवं ण मुणंतो जीवाभावं कहं कुणदि ॥ १८२ ॥
जदि ण य हवेदि जीवो ता को वेदेदि सुक्ख-दुक्खाणि ।
इंदिय-विसया सव्वे को वा जाणदि विसेसेण ॥ १८३ ॥
संकप्प-मओ जीवो सुह-दुक्खमयं हवेइ संकप्पो ।
तं चिय वेददि[10] जीवो देहे मिलिदो वि सव्वत्थ ॥ १८४ ॥
देह-मिलिदो[11] वि जीवो सव्व-कम्माणि[12] कुव्वदे जम्हा ।
तम्हा पवट्टमाणो एयत्तं बुज्झदे[13] दोण्हं[14] ॥ १८५ ॥
देह-मिलिदो वि पिच्छदि देह-मिलिदो वि णिसुण्णदे[15] सद्दं ।
देह-मिलिदो वि भुंजदि देह[16]-मिलिदो वि गच्छेदि[17] ॥ १८६ ॥
राओ हं भिच्चो हं सिट्ठी हं चेव दुब्बलो बलिओ ।
इदि एयत्ताविट्ठो दोण्हं[18] भेयं ण बुज्झेदि ॥ १८७ ॥

---

१ [ओगाहण]. । २ म जोइज्ज (?)। ३ लमस उण्हओ । ४ ब गुणिगुणि । ५ म विणस्सदे । ६ ब गुणिगुणि, लमसग गुणगुणि । ७ लमसग दीसए । ८ लसग णेय, म णय । ९ ग मण्णदि । १० ग वेददे । ११ ब देहि । १२ [सव्वंकम्माणि]। १३ बलमसग वुज्झदे । १४ ब दुण्हं । १५ लमसग णिसुणदे, [देहे मिलिदो वि णिसुणदे]। १६ [देहे]। १७ लमसग गच्छेइ, ब गच्छेदि (?)। १८ ब दुण्हं ।

जीवो हवेइ[1] कत्ता सव्वंकम्माणि कुव्वदे जम्हा ।
कालाइ-लद्धि-जुत्तो संसारं कुणइ[2] मोक्खं च ॥ १८८ ॥
जीवो वि हवइ भुत्ता कम्म-फलं सो वि भुंजदे जम्हा ।
कम्म-विवायं विविहं सो[3] वि य भुंजेदि संसारे ॥ १८९ ॥
जीवो वि हवे[4] पावं अइ-तिव्व-कसाय-परिणदो णिच्चं ।
जीवो[5] वि हवइ पुण्णं उवसम-भावेण संजुत्तो ॥ १९० ॥
रयणत्तय-संजुत्तो जीवो वि हवेइ उत्तमं तित्थं ।
संसारं तरइ जदो रयणत्तय-दिव्व-णावाए[6] ॥ १९१ ॥
जीवा[7] हवंति तिविहा[8] बहिरप्पा तह य अंतरप्पा य ।
परमप्पा वि य दुविहा अरहंता तह य सिद्धा य ॥ १९२ ॥
मिच्छत्त-परिणदप्पा तिव्व-कसाएण सुट्ठु[9] आविट्ठो ।
जीवं देहं एक्कं मण्णंतो होदि बहिरप्पा ॥ १९३ ॥
जे जिण-वयणे कुसला भेयं[10] जाणंति जीव-देहाणं ।
णिज्जिय-दुट्ठट्ठ-मया अंतरप्पा[11] य ते तिविहा ॥ १९४ ॥
पंच-महव्वय-जुत्ता धम्मे सुक्के वि संठिदा[12] णिच्चं ।
णिज्जिय-सयल-पमाया उक्किट्ठा अंतरा होंति ॥ १९५ ॥
सावय-गुणेहिं जुत्ता पमत्त-विरदा य मज्झिमा होंति ।
जिण-वयणे अणुरत्ता उवसम-सीला महासत्ता ॥ १९६ ॥
अविरय[13]-सम्मादिट्ठी[14] होंति जहण्णा जिणिंद[15]-पय-भत्ता ।
अप्पाणं णिंदंता गुण-गहणे सुट्ठु[16] अणुरत्ता ॥ १९७ ॥
ससरीरा अरहंता केवल-णाणेण मुणिय-सयलत्था ।
णाण-सरीरा सिद्धा सव्वुत्तम-सुक्ख[17]-संपत्ता ॥ १९८ ॥
णीसेस[18]-कम्म-णासे अप्प-सहावेण जा समुप्पत्ती ।
कम्मज-भाव-खए वि य सा वि य पत्ती[19] परा होदि ॥ १९९ ॥

---

१ म हवेदि । २ लमस कुणदि, ग कुणद । ३ ब सो चिय । ४ लमसग हवइ । ५ लमसग जीवो हवेइ । ६ ब नावाए । ७ ग जीवो । ८ ब तिवहा । ९ बम सुठ्ठ, ल कसाएट्ठु, स कसाएसु सुद्धु, ग कसाणसुट्ठियाविट्ठो । १० स भेदं (?) । ११ [अंतरअप्पा] । १२ लसग संठिया । १३ स अविरद । १४ ब सम्माइट्ठी । १५ ब जिणिंणद, ग जिणंद । १६ म सुद्धु । १७ लग सौक्ख । १८ लमसग णिस्सेस । १९ म मुत्ती ।

जइ पुणं[1] सुद्ध-सहावा सव्वे जीवा अणाइ-काले वि ।
तो[2] तव-चरण-विहाणं सव्वेसिं णिप्फलं होदि ॥ २०० ॥
ता[3] कह[4] गिण्हदि देहं णाणा-कम्माणि ता कहं कुणदि ।
सुहिदा वि य दुहिदा[5] वि य णाणा-रूवा[6] कहं होंति[7] ॥ २०१ ॥[8]
सव्वे[9] कम्म-णिबद्धा संसरमाणा अणाइ-कालम्हि ।
पच्छा तोडिय बंधं सिद्धा[10] सुद्धा धुवं[11] होंति ॥ २०२ ॥[12]
जो अण्णोण्ण-पवेसो जीव-पएसाण कम्म-खंधाणं ।
सव्व-बंधाण वि लओ[13] सो बंधो होदि जीवस्स ॥ २०३ ॥
उत्तम-गुणाण धामं सव्व-दव्वाणं[14] उत्तमं दव्वं ।
तच्चाण परम-तच्चं जीवं जाणेह[15] णिच्छयदो ॥ २०४ ॥
अंतर-तच्चं जीवो बाहिर-तच्चं हवंति सेसाणि ।
णाण-विहीणं दव्वं हियाहियं[16] णेयं[17] जाणेदि ॥ २०५ ॥[18]
सव्वो लोयायासो पुग्गल-दव्वेहिँ सव्वदो भरिदो[19] ।
सुहुमेहिँ बायरेहि य णाणा-विह-सत्ति-जुत्तेहिं ॥ २०६ ॥
जं इंदिएहिँ गिज्झं रूवं-रसं[20]-गंध-फास-परिणामं ।
तं चिय[21] पुग्गल-दव्वं अणंत-गुणं जीव-रासीदो ॥ २०७ ॥
जीवस्स बहु-पयारं[22] उवयारं कुणदि पुग्गलं दव्वं ।
देहं च इंदियाणि य वाणी उस्सास-णिस्सासं[23] ॥ २०८ ॥
अण्णं पि एवमाई उवयारं कुणदि जाव[24] संसारं[25] ।
मोह-अणाण-मयं[26] पि य परिणामं कुणदि जीवस्स ॥ २०९ ॥
जीवा वि दु जीवाणं उवयारं कुणदि सव्व-पच्चक्खं ।
तत्थ वि पहाण-हेऊ[27] पुण्णं पावं च णियमेणं[28] ॥ २१० ॥

१ ब पुणु । २ ब ते । ३ ब किंच । ता कह इत्यादि. । ४ लमसग किह । ५ ब सुहिदा वि दुहदा । ६ ब रूवं (?) । ७ ब हुंति, मग होति । ८ ब तदो एवं भवतिः । सव्वे इत्यादि । ९ लग पुस्तकयोरेषा गाथा नास्ति संस्कृतव्याख्या तु वर्तते । १० म सुद्धा सिद्धा । ११ ब धुवं (?), म धुआ, स धुवा । १२ ब को बंधो ॥ जो अण्णोण्ण इत्यादि । १३ म वलिउ । १४ [सव्वदव्वाण] । १५ ब जाणेहि (?) । १६ लसग हेयाहेयं । १७ ब णेव । १८ ब जीवणिरूपणं । सव्वो इत्यादि । १९ ब भरिओ । २० लस रुवरस । २१ ब तें विय, मस तं विय । २२ मग बहुप्पयारं । २३ म णीसासं । २४ ब जाम । २५ सग संसारे । २६ ब मोहं नाण (?), म अण्णाण-, स मोहं, ग मोहं अण्णाणमियं पिय, [मोहण्णाण-मयं] । २७ बलग हेउ, म हेउं, स हेऊं । २८ ग नियमेण. ।

का वि अउवा दीसदि पुग्गल-दव्वस्स एरिसी[1] सत्ती।
केवल-णाण-सहावो[2] विणासिदो[3] जाइ जीवस्स ॥ २११ ॥[4]
धम्ममधम्मं दव्वं गमण-ट्ठाणाण कारणं कमसो।
जीवाण पुग्गलाणं बिण्णि वि लोग[5]-प्पमाणाणि ॥ २१२ ॥
सयलाणं दव्वाणं जं दादुं सक्कदे हि अवगासं।
तं आयासं दुविहं[6] लोयालोयाण भेएण[7] ॥ २१३ ॥
सव्वाणं दव्वाणं अवगाहण-सत्ति[8] अत्थि परमत्थं।
जह भसम-पाणियाणं जीव-पएसाण[9] बहुयाणं ॥ २१४ ॥
जदि ण हवदि सा सत्ती सहाव-भूदा हि सव्व-दव्वाणं।
एक्केक्कास[10]-पएसे कह[11] ता सव्वाणि वट्टंति ॥ २१५ ॥
सव्वाणं दव्वाणं परिणामं जो करेदि सो कालो।
एक्केक्कास-पएसे सो वट्टदि एक्को[12] चेव ॥ २१६ ॥
णिय-णिय-परिणामाणं णिय-णिय-दव्वं पि कारणं होदि।
अण्णं बाहिर-दव्वं णिमित्त-मित्तं[13] वियाणेह[14] ॥ २१७ ॥
सव्वाणं दव्वाणं जो उवयारो हवेइ अण्णोण्णं।
सो चिय कारण-भावो हवदि हु सहयारि-भावेण ॥ २१८ ॥
कालाइ-लद्धि-जुत्ता णाणा-सत्तीहि[15] संजुदा अत्था।
परिणममाणा हि सयं[16] ण सक्कदे को वि वारेदुं ॥ २१९ ॥
जीवाण पुग्गलाणं जे सुहुमा बादरा[17] य पज्जाया।
तीदाणागद-भूदा सो ववहारो हवे कालो ॥ २२० ॥
तेसु अतीदा णंता[18] अणंत-गुणिदा य भावि-पज्जाया।
एक्को[19] वि वट्टमाणो एत्तिय-मेत्तो[20] वि सो कालो ॥ २२१ ॥[21]
पुव्व-परिणाम-जुत्तं कारण-भावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तर-परिणाम-जुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा ॥ २२२ ॥

---

१ बस एरसी। २ मस सहाओ, ग सहाउ। ३ ग विणासदो। ४ ब पुद्गलनिरूपणं॥ धम्म इत्यादि। ५ ब लोय-। ६ सग दुविहा। ७ म भेएहिं, ग भेदेण। ८ ब सत्ती, स अवगाहणदाणसत्ति परमत्थं, ग सत्ति परमत्थं। ९ मस पएसाण जाण बहुआणं, ग पयेसाण जाण बहुआणं। १० म एक्केक्कास, ग एकेकास। ११ म किह। १२ मसग एक्किको। १३ म णिमित्त-मत्तं (?)। १४ ब वियाणेहि (?)। १५ ग सतीहिं संयुदा। १६ म सया। १७ ब बायरा। १८ ग अतीदाऽणंता। १९ मग एको। २० बग मित्तो। २१ ब द्रव्यचतुष्कनिरूपणं। पुव्व इत्यादि।

कारण-कज्ज-विसेसा तीसु[1] वि कालेसु हुंति[2] वत्थूणं ।
एक्केक्कम्मि य समए पुव्वुत्तर-भावमासिज्जं[3] ॥ २२३ ॥
संति अणंताणंता तीसु वि कालेसु सव्व-दव्वाणि ।
सव्वं पि अणेयंतं तत्तो भणिदं जिणंदेहिं[4] ॥ २२४ ॥
जं वत्थु अणेयंतं तं चिय कज्जं करेदि[5] णियमेण ।
बहु-धम्म-जुदं अत्थं कज्ज-करं दीसदे[6] लोए ॥ २२५ ॥
एयंतं पुणु[7] दव्वं कज्जं ण करेदि लेस-मेत्तं[8] पि ।
जं पुणु[9] ण करदि कज्जं तं वुच्चदि केरिसं दव्वं ॥ २२६ ॥
परिणामेण विहीणं णिच्चं दव्वं विणस्सदे णेवं[10] ।
णो उप्पज्जेदि सया[11] एवं कज्जं कहं कुणदि ॥ २२७ ॥
पज्जय-मित्तं तच्चं विणस्सरं खणे खणे वि अण्णण्णं ।
अण्णइ[12]-दव्व-विहीणं ण य कज्जं किं पि साहेदि ॥ २२८ ॥
णव[13]-णव-कज्ज-विसेसा तीसु[14] वि कालेसु होंति वत्थूणं ।
एक्केक्कम्मि य समये पुव्वुत्तर-भावमासिज्ज[15] ॥ २२९ ॥
पुव्व-परिणाम-जुत्तं कारण-भावेण वट्टदे दव्वं ।
उत्तर-परिणाम-जुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा ॥ २३० ॥
जीवो अणाइ[16]-णिहणो परिणममाणो हु[17] णव-णवं भावं ।
सामग्गीसु पवट्टदि कज्जाणि समासदे पच्छा ॥ २३१ ॥
स-सरूवत्थो जीवो कज्जं साहेदि वट्टमाणं पि ।
खेत्ते[18] एकम्मिं[19] ठिदो णिय-दव्वे संठिदो चेव ॥ २३२ ॥
स-सरूवत्थो जीवो अण्ण-सरूवम्मिं[20] गच्छदे जदि हि ।
अण्णोण्ण-मेलणादो एक्क[21]-सरूवं हवे सव्वं ॥ २३३ ॥
अहवा बंभ-सरूवं एक्कं सव्वं पि मण्णदे[22] जदि हि ।
चंडाल-बंभणाणं तो ण विसेसो हवे को[23] वि ॥ २३४ ॥

---

१ लमस तिस्सु, ग तस्सु । २ लस होंति (?) । ३ म मासेज्जा । ४ लसग जिणंदेहि । ५ म करेइ (?) । ६ लमसग दीसए । ७ मस पुण । ८ म मित्तं (?) । ९ म पुण । १० लमसग णेय । ११ ब ण उ उपज्जेदि सया, लसग णो उप्पज्जदि सया, म णो उप्पजेदि सया । १२ ग अणई- । १३ ब-पुस्तके गाथेयं नास्ति । १४ ग तीस्सु । १५ म भावमासज्ज । १६ ब अणाय- । १७ ब वि । १८ लमसग खित्ते । १९ बलसग एकम्मि । २० ल सरूवम्हि । २१ बस एक, म इक्क (?) । २२ ब मण्णिदे, स मण्णए । २३ लग कोइ ।

अणु-परिमाणं तच्चं अंस-विहीणं च मण्णदे जदि हि ।
तो संबंध-[1]अभावो तत्तो वि ण कज्ज-संसिद्धी[2] ॥ २३५ ॥
सव्वाणं दव्वाणं दव्व-सरूवेण होदि एयत्तं ।
णिय-णिय-गुण-भेएण हि सव्वाणि वि होंति भिण्णाणि ॥ २३६ ॥
जो अत्थो पडिसमयं उप्पाद-वय-धुवत्त-सब्भावो ।
गुण-पज्जय-परि[3]णामो सो संतो[4] भण्णदे समए ॥ २३७ ॥
पडिसमयं[5] परिणामो पुव्वो णस्सेदि जायदे अण्णो ।
वत्थु-विणासो पढमो उववादो भ[6]ण्णदे बिदिओ ॥ २३८ ॥
[7]णो उप्पज्जदि जीवो दव्व-सरूवेण णेव[8] णस्सेदि ।
तं चेव दव्व-मित्तं णिच्चत्तं जाण[9] जीवस्स ॥ २३९ ॥
अण्णइ-रूवं दव्वं विसेस-रूवो हवेइ पज्जा[10]वो ।
दव्वं पि विसेसेण हि उप्पज्जदि णस्सदे सददं ॥ २४० ॥
सरिसो जो परिणा[11]मो अणाइ-णिहणो हवे गुणो सो हि[12] ।
सो सामण्ण-सरूवो उप्पज्जदि णस्सदे णेय ॥ २४१ ॥
सो वि विणस्सदि जायदि विसेस-रूवेण सव्व-दव्वेसु ।
दव्व-गुण-पज्जयाणं एयत्तं वत्थु[13] परमत्थं ॥ २४२ ॥
जदि दव्वे पज्जाया वि विज्जमा[14]णा तिरोहिदा संति ।
ता उप्पत्ती विहला पडिपिहिदे देवदत्ते व्व[15] ॥ २४३ ॥
सव्वा[16]ण पज्जयाणं अविज्जमाणाण होदि उप्पत्ती ।
कालाई-लद्धीए अणाइ-णिहणम्मि दव्वम्मि ॥ २४४ ॥
दव्वाण पज्जयाणं धम्म-विवक्खा[17]ए कीर[18]ए भेओ[19] ।
वत्थु-सरूवेण पुणो ण हि भेदो सक्कदे काउं ॥ २४५ ॥
जदि वत्थुदो विभेदो[20] पज्जय-दव्वाण मण्ण[21]से मूढ ।
तो णिरवेक्खा सिद्धी [22]दोण्हं पि य पावदे णियमा ॥ २४६ ॥

---

१ लमसग संबंधाभावो । २ लसग संसिद्धि । ३ लग परिणामो संतो भण्णते । ४ म सत्तो । ५ ब-पुस्तके णउ उप्पज्जदि इत्यादि प्रथमं तदनन्तरं पडिसमयं इत्यादि । ६ ब भण्णइ विदिउ । ७ ब ण उ । ८ लमसग णेय । ९ ब जाणि । १० लमसग पज्जाओ (उ) । ११ ब सरिसउऽजो प°, स °सो परिणामो जो । १२ ब वि । १३ म वत्थुं । १४ लग वित्रज्जमाणा । १५ ब देवदत्ते व्व, लमसग देवदत्ति व्व । १६ स सव्वाणं दव्वाणं पजायाणं अविज्जमाणाणं उप्पत्ती । कालाइ ...... दव्वम्हि । १७ बम विवाक्खाय, स ववक्खाए । १८ ब कीरइ । १९ ब भेउ, मस भेओ (?) । २० ब विभेओ । २१ म मणस मूढो, स मणये, ग मांणसे । २२ ब दुण्हं ।

जदि सव्वमेव णाणं णाणा-रूवेहि संठिदं एक्कं ।
तो ण वि किं पि विणेयं[1] णेयेण विणा कहं णाणं ॥ २४७ ॥
घड-पड-जड-दव्वाणि हि णेय-सरूवाणि सुप्पसिद्धाणि ।
णाणं जाणेदि जदो[2] अप्पादो भिण्ण-रूवाणि ॥ २४८ ॥
जं सव्व-लोय-सिद्धं देहं[3] गेहादि-बाहिरं अत्थं ।
जो तं पि णाणं[4] भण्णदि ण मुणदि सो णाण-णामं पि ॥ २४९ ॥[5]
अच्छीहिं[6] पिच्छमाणो जीवाजीवादि[7]-बहु-विहं अत्थं ।
जो भणदि[8] णत्थि किंचि वि सो झुट्ठाणं महा-झुट्टो[9] ॥ २५० ॥
जं सव्वं पि य संतं[10] ता सो वि असंतओ[11] कहं होदि ।
णत्थि त्ति किंचि तत्तो अहवा सुण्णं कहं मुणदि ॥ २५१ ॥
जदि[12][13] सव्वं पि असंतं ता सो वि य संतओ[14] कहं भणदि ।
णत्थि त्ति किं पि[15] तच्चं अहवा सुण्णं कहं मुणदि ॥ २५१*१ ॥
किं बहुणा उत्तेण य जेत्तिय[16]-मेत्ताणि[17] संति णामाणि ।
तेत्तिय-मेत्ता[18] अत्था संति य णियमेण परमत्था ॥ २५२ ॥[19]
णाणा-धम्मेहि जुदं अप्पाणं तह परं पि णिच्छयदो ।
जं जाणेदि सजोगं[20] तं णाणं भण्णदे[21] समए[22] ॥ २५३ ॥
जं सव्वं पि पयासदि दव्व-पज्जाय[23]-संजुदं लोयं ।
तह य अलोयं सव्वं तं णाणं सव्व-पच्चक्खं ॥ २५४ ॥
सव्वं जाणदि जम्हा सव्व-गयं तं पि वुंचदे[24] तम्हा ।
ण य पुण विसरदि णाणं जीवं चइऊण अण्णत्थ ॥ २५५ ॥
णाणं ण जादि[25] णेयं णेयं पि ण जादि णाण-देसम्मि[26] ।
णिय-णिय-देस-ठियाणं ववहारो णाण-णेयाणं ॥ २५६ ॥

---

१ स किंपि ब णेयं, [किंचि वि णेयं]। २ लसग यदो, म जदा। ३ स देहे, म देहग्गेहादि। ४ लस णाणं, ग पिण्णाणं। ५ ब भणइ। ६ ब अच्छाहि, ग अच्छाहिं। ७ ब °जीवाइ। ८ ब भणइ, ग भणवि (?)। ९ ग ज्झुठाणं महुझुठो, स झूठाण महीझूठो, [धुट्ठाणं महाधुट्ठो]। १० ब पुस्तके गाथांशः पत्रान्ते लिखितः। ११ बलमस असंतउं (=उं), ग असंतउ। १२ ब-पुस्तके गाथांशः पत्रान्ते लिखितः। १३ बग यदि। १४ बलस संतउं (=उं) म (?), ग संतउ। १५ ल किंचि, ग कंपि। १६ बलगम जित्तिय, स जेत्तीय। १७ म मित्ताणि। १८ ब मित्ता। १९ ब एमेव तच्चं समत्थं ॥ णाणा इत्यादि। २० ब सयोगं। २१ लमसग भण्णए। २२ ल समय, स समये। २३ लमसग दव्व, ब वव्वं (?) पजाय। २४ म ऊच्चदे। २५ ब जाइ। २६ मसग देसम्हि।

मण-पज्जय-विण्णाणं ओही-णाणं च देस-पच्चक्खं ।
मदि-सुदि[1]-णाणं कमसो विसदे[2]-परोक्खं परोक्खं च ॥ २५७ ॥
इंदियजं मदि-णाणं जोग्गं[3] जाणेदि पुग्गलं दव्वं ।
माणस-णाणं च पुणो सुय-विसयं अक्ख-विसयं च ॥ २५८ ॥
पंचिंदिय[4]-णाणाणं मज्झे एगं च होदि उवजुत्तं ।
मण-णाणे उवजुत्तो इंदिय-णाणं ण जाणेदि[5] ॥ २५९ ॥
एक्के[6] काले एक्कं[7] णाणं जीवस्स होदि उवजुत्तं ।
णाणा-णाणाणि पुणो लद्धि-सहावेण वुच्चंति ॥ २६० ॥
जं वत्थु अणेयंतं एयंतं तं पि होदि सविपेक्खं ।
सुय-णाणेण णएहि[8] य णिरवेक्खं दीसदे णेव ॥ २६१ ॥[9]
सव्वं पि अणेयंतं परोक्ख-रूवेण जं पयासेदि ।
तं सुय-णाणं[10] भण्णदि संसय-पहुदीहि परिचत्तं[11] ॥ २६२ ॥
लोयाणं ववहारं धम्म-विवक्खाइ[12] जो पसाहेदि[13] ।
सुय-णाणस्स[14] वियप्पो सो वि णओ लिंग-संभूदो ॥ २६३ ॥
णाणा-धम्म-जुदं पि[15] य एयं धम्मं पि वुच्चदे अत्थं ।
तस्सेयं[16]-विवक्खादो णत्थि विवक्खा[17] हु[18] सेसाणं ॥ २६४ ॥
सो चिय[19] एक्को धम्मो वाचय-सद्दो वि तस्स धम्मस्स ।
जं[20] जाणदि तं णाणं ते तिण्णि वि णय-विसेसा य ॥ २६५ ॥
ते सावेक्खा[21] सुणया णिरवेक्खा ते वि दुण्णया होंति ।
सयल-ववहार[22]-सिद्धी सु-णयादो होदि णियमेण[23] ॥ २६६ ॥
जं जाणिज्जइ जीवो इंदिय-वावार-काय-चिट्ठाहिं ।
तं अणुमाणं भण्णदि तं पि णयं बहु-विहं जाण ॥ २६७ ॥
सो संगहेण[24] एक्को दु-विहो वि य दव्व-पज्जएहिंतो ।
तेसिं[25] च विसेसादो णइगम[26]-पहुदी हवे णाणं ॥ २६८ ॥

---

१ बम मइसुइ- । २ ब विसय (?) । ३ लमसग जुग्गं । ४ ब पंचिंदिय, लमसग पंचेंदिय । ५ ब जाणा(णे?)दि, लमस जाएदि, ग जाएहि । ६ मग एके । ७ लमसग एगं । ८ लमसग णयेहि य णिरविक्खं दीसए । ९ अत्त ब-पुस्तके 'जो साहेदि विसेसं' इत्यादि गाथा । १० म सुअणाणं, ग सुयनाणं भण्णदि । ११ लसग परिच्चित्तं । १२ ब विवषाइ । १३ ब पयासेहि । १४ मग णाणिस्स । १५ लग धम्मं पि, स धम्म पि । १६ लग तस्सेव, म तस्सेयं । १७ लग विवक्खो । १८ स हि । १९ म वि य । २० लमसग तं । २१ लमसग साविक्खा...णिरविक्खा । २२ ग विवहार । २३ ब णेयमेण । २४ स इक्को (?) । २५ स वि । २६ स णयगम ।

जो साहदि सामण्णं अविणा-भूदं विसेस-रूवेहिं ।
णाणा-जुत्ति-बलादो दव्वत्थो सो णओ होदि ॥ २६९ ॥
जो[1] साहेदि विसेसे[2] बहु-विह-सामण्ण-संजुदे सव्वे ।
साहण-लिंग-वसादो पज्जय-विसओ णओ[3] होदि ॥ २७० ॥
जो साहेदि अदीदं वियप्प-रूवं भविस्समट्ठं च ।
संपडि-कालाविट्ठं सो हु णओ[4] णेगमो[5] णेओ ॥ २७१ ॥
जो संगहेदि सव्वं देसं वा विविह-दव्व-पज्जायं ।
अणुगम-लिंग-विसिट्ठं सो वि णओ[6] संगहो होदि ॥ २७२ ॥
जं[7] संगहेण गहिदं[8] विसेस-रहिदं पि भेददे सददं ।
परमाणू-पज्जंतं ववहार-णओ हवे[9] सो हु ॥ २७३ ॥
जो वट्टमाण-काले अत्थ[10]-पज्जाय-परिणदं अत्थं ।
संतं साहदि सव्वं तं[11] पि णयं उज्जुयं[12] जाण ॥ २७४ ॥
सव्वेसिं वत्थूणं संखा-लिंगादि-बहु-पयारेहिं ।
जो साहदि णाणत्तं सद्द-णयं तं वियाणेहि[13] ॥ २७५ ॥
जो एगेगं अत्थं परिणदि[14]-भेदेण साहदे[15] णाणं ।
मुक्खत्थं वा भासदि अहिरूढं तं णयं[16] जाण ॥ २७६ ॥
जेण सहावेण जदा परिणद[17]-रूवम्मि तम्मयत्तादो ।
तं परिणामं[18] साहदि जो वि णओ सो हु परमत्थो ॥ २७७ ॥
एवं विविह-णएहिं जो वत्थुं ववहरेदि लोयम्मि[19] ।
दंसण-णाण-चरित्तं सो साहदि सग्ग-मोक्खं च ॥ २७८ ॥
विरला णिसुणहि[20] तच्चं विरला जाणंति तच्चदो तच्चं ।
विरला भावहि तच्चं विरलाणं धारणा[21] होदि ॥ २७९ ॥
तच्चं कहिज्जमाणं णिच्चल-भावेण गिण्हदे जो हि ।
तं चिय भावेदि[22] सया सो वि य तच्चं वियाणेई[23] ॥ २८० ॥

१ ब-पुस्तके गाथेयं द्विवारमत्रान्यत्र च लिखिता पाठभेदैः। पाठान्तराणि च एवंविधानि–विसेसं, संजुदे तच्चे, नवो होदि। २ ग विसेसो। ३ ग विसयो णयो। ४ लमसग णयो णेगमो णेयो। ५ ब णइ-गमो (?)। ६ ग णयो। ७ ब जो (?)। ८ ब गहिदो (?)। ९ लमसग भवे सो वि। १० [अत्थंपज्जाय]। ११ लग तं वि णयं रुजणयं। १२ म रुजुणयं, स रिजुणयं (?)। १३ ब विया-णेहि (?)। १४ ग परिणद। १५ लमग भेएण (स भेयेण) साहए। १६ ब आरूढं तं नयं। १७ लग परिणदि। १८ लसग तप्परिणामं, म तं प्परिणामं। १९ लग लोयम्हि। २० लग णिसुणदि। २१ स धारणं। २२ ग तं चे भावेइ। २३ ब वियाणेह (=? दि)।

को ण[1] वसो इत्थि-जणे कस्स[2] ण मयणेण खंडियं माणं ।
को इंदिएहिँ ण जिओ को ण कसाएहि संतत्तो ॥ २८१ ॥
सो ण[3] वसो इत्थि[4]-जणे सो ण जिओ इंदिएहि मोहेण[5] ।
जो ण य गिण्हदि[6] गंथं अब्भंतर-बाहिरं सव्वं ॥ २८२ ॥
एवं लोय-सहावं जो झायदि उवसमेक्क[7]-सब्भावो ।
सो खविय कम्म-पुंजं तिलोय[8]-सिहामणी होदि ॥ २८३ ॥[9]

[११. बोहिदुल्लहाणुवेक्खा]

जीवो अणंत-कालं वसइ णिगोएसु आइ-परिहीणो ।
तत्तो णिस्सरिदूणं पुढवी-कायादिओ[10] होदि ॥ २८४ ॥
तत्थ वि असंख-कालं बायर-सुहुमेसु कुणई[11] परियत्तं ।
चिंतामणि व्व दुलहं तसत्तणं लहदि[12] कट्ठेण ॥ २८५ ॥
वियलिंदिएसु जायदि तत्थ वि अच्छेदि पुव्व-कोडीओ ।
तत्तो णिस्सरिदूणं[13] कहमवि[14] पंचिंदिओ[15] होदि ॥ २८६ ॥
सो वि मणेण विहीणो ण य अप्पाणं परं पि[16] जाणेदि ।
अह मण-सहिदो[17] होदि हु तह वि तिरिक्खो[18] हवे रुद्दो ॥ २८७ ॥
सो तिव्व-असुह-लेसो णरये[19] णिवडेइ[20] दुक्खदे भीमे ।
तत्थ वि दुक्खं भुंजदि सारीरं माणसं पउरं ॥ २८८ ॥
तत्तो णिस्सरिदूणं[21] पुणरवि तिरिएसु जायदे पावो[22] ।
तत्थ वि दुक्खमणंतं विसहदि जीवो अणेयविहं ॥ २८९ ॥
रयणं चउप्पहे पिव[23] मणुयत्तं सुट्ठु दुलहं लहिय[24] ।
मिच्छो हवेइ जीवो तत्थ वि पावं समज्जेदि ॥ २९० ॥

---

१ ब न । २ ग कस्से । ३ ब न । ४ म एत्थ-जणे, स एछि जणे, ग एत्थ जए । ५ ब मोहेहि । ६ ग गिण्णदि गंथं अब्भितर । ७ ब उवसमेक, म उवसमिक्क । ८ लमसग तस्सेव । ९ ब इति लोकानुप्रेक्षा समाप्तः ॥ १० ॥ जीवो इत्यादि । १० लसमग णीसरिऊणं......कायादियो । ११ ल कुणय (कुणिय?) । १२ ब लहइ । १३ ब णिसरि°, लमसग णीसरिऊणं । १४ ब कहमिवि । १५ ब पंचिंदियो, लम पंचेंदिओ, ब पंचंदिओ । १६ स वि । १७ ब सहिदो (?), लमग सहिओ । १८ लमग तिरक्खो । १९ बलमग णरयं, स णरये (?) [णरयम्मि पडेइ] । २० म णिवडेदि । २१ लमसग णीसरिऊणं । २२ ब पावो (?), लसग पावं, म पाउं । २३ ब चउप्पहेवा । २४ ब लहिवि ।

अह [1]लहदि [2]अज्जवत्तं तह ण वि पावेइ उत्तमं गोत्तं ।
उत्तम-कुले वि पत्ते धण-हीणो जायदे जीवो ॥ २९१ ॥
अह धण-[3]सहिदो होदि हु इंदिय-परिपुण्णदा तदो दुलहा ।
अह इंदिय-संपुण्णो तह वि सरोओ हवे देहो ॥ २९२ ॥
अह णीरोओ होदि हु तह वि ण [4]पावेदि जीवियं [5]सुइरं ।
अह चिर-कालं जीवदि तो [6]सीलं णेव [7]पावेदि ॥ २९३ ॥
अह होदि सील-[8]जुत्तो तो[9] वि ण पावेइ साहु-संसग्गं ।
अह तं पि कह वि पावदि सम्मत्तं तह वि अइदुलहं ॥ २९४ ॥
सम्मत्ते वि य लद्धे चारित्तं णेव [10]गिण्हदे [11]जीवो ।
अह कह वि तं पि [10]गिण्हदि तो पालेदुं ण सक्केदि ॥ २९५ ॥
रयणत्तये वि लद्धे तिव्व-कसायं करेदि जइ जीवो ।
तो दुग्गईसु गच्छदि पणट्ठ-रयणत्तओ [12]होउं ॥ २९६ ॥
[13]रयणु व जलहि-पडियं [14]मणुयत्तं तं पि [15]होदि अइदुलहं ।
एवं [16]सुणिच्छइत्ता मिच्छ-कसाए य [17]वज्जेह ॥ २९७ ॥
अहवा देवो होदि हु तत्थ वि पावेदि कह व सम्मत्तं ।
तो तव-चरणं ण लहदि देस-[18]जमं सील-लेसं पि ॥ २९८ ॥
मणुव-[19]गईए वि तओ मणुव-[20]गईए [21]महव्वदं सयलं ।
मणुव-[22]गदीए [23]झाणं मणुव-गदीए वि णिव्वाणं ॥ २९९ ॥
इय [24]दुलहं मणुयत्तं लहिऊणं जे रमंति विसएसु ।
ते [25]लहियं दिव्व-रयणं [26]भूइ-णिमित्तं [27]पजालेंति ॥ ३०० ॥
इय सव्व-दुलह-दुलहं दंसण-णाणं तहा चरित्तं च ।
मुणिऊण य संसारे महायरं कुणह [28]तिण्हं पि ॥ ३०१ ॥[29]

---

१ लमग लहइ, स लहई । २ व अज्जवंत्तं, लमग अज्जवंतं, स अर्ज्जवंतं, [अज्जवत्तं] । ३ लम सहिओ, ग सहिउ । ४ लसग पावेइ । ५ बस सुयरं । ६ बग शीलं । ७ लसग पावेइ । ८ ग शीलयुत्तो । ९ लमसग तह वि । १० ब गिन्हदे, गिन्हादि । ११ ग जीओ । १२ ब होउ (?) । १३ [रयणं व] । १४ ब तो मणुयत्तं पि । १५ ब होइ । १६ ब सुणिच्छयंतो (?) । १७ ब वज्जय (?), सग वज्जह । १८ म देसवयं । १९ ब गयए । २० म गदीए । २१ ब महव्वयं । २२ ब गदीये । २३ ग ज्झाणं । २४ ग दुल्लहं । २५ स लहइ । २६ लग भूय- । २७ स पजालेदि । २८ बग तिन्हं । २९ ब दुल्लहानुबोहि अनुप्रेक्षा ॥ ११ ॥

[१२. धम्माणुवेक्खा]

जो जाणदि पच्चक्खं तियाल-गुण-पज्जएहिँ संजुत्तं ।
लोयालोयं सयलं सो सव्वण्हू[1] हवे देवो ॥ ३०२ ॥
जदि ण हवदि सव्वण्हू ता को जाणदि अदिंदियं[2] अत्थं ।
इंदिय-णाणं ण मुणदि थूलं पि[3] असेस-पज्जायं ॥ ३०३ ॥
तेणुवइट्ठो[4] धम्मो संगासत्ताण तह असंगाणं ।
पढमो बारह-भेओ दह[5]-भेओ भासिओ बिदिओ ॥ ३०४ ॥
सम्मद्दंसण-सुद्धो रहिओ मज्जाइ-थूल-दोसेहिं ।
वय-धारी सामाइउं[6] पव्व-वई पासुयाँहारी[7] ॥ ३०५ ॥
राई-भोयण-विरओ मेहुण-सारंभ-संग-चत्तो य ।
कज्जाणुमोय-विरओ उद्दिट्ठाहार-विरदो य ॥ ३०६ ॥
चदु-गदि[8]-भव्वो सण्णी सुविसुद्धो जग्गमाण-पज्जत्तो[9] ।
संसार-तडे णियडो[10] णाणी पावेइ सम्मत्तं ॥ ३०७ ॥
सत्तण्हं[11] पयडीणं उवसमदो होदि उवसमं सम्मं ।
खयदो य[12] होदि खइयं केवलि-मूले मणूसस्स[13] ॥ ३०८ ॥
अणउदयादो[14] छण्हं सजाइ-रूवेण उदयमाणाणं ।
सम्मत्त-कम्म-उदये[15] खयउवसमियं[16] हवे सम्मं ॥ ३०९ ॥
गिण्हदि मुंचदि[17] जीवो वे सम्मत्ते असंख-वाराओ ।
पढम-कसाय-विणासं देस-वयं कुणदि उक्कस्सं ॥ ३१० ॥
जो तच्चमणेयंतं णियमा सद्दहदि सत्त-भंगेहिं ।
लोयाण पण्ह-वसदो[18] ववहार-पवत्तणट्ठं च ॥ ३११ ॥
जो आयरेण मण्णदि[19] जीवाजीवादि[20] णव-विहं अत्थं ।
सुद[21]-णाणेण णएहि य सो सद्दिट्ठी हवे सुद्धो ॥ ३१२ ॥

---

१ म सव्वण्हु, ग सव्वण्ह । २ ग अदंदियं । ३ स वि । ४ ग तेणवइट्ठो । ५ लमसग दसभेओ । ६ मस वयधारी सामइओ, ग वयधरी मामाईओ (ल सामाईउ) । ७ लसग पासुआहारी, म फासु-आहारी । ८ ब चउगइ, मग चउगदि । ९ ग पज्जंतो । १० वग नियडो । ११ ब सत्तण्णं । १२ ग इ होइ खईयं (व क्खइयं) । १३ लग पणुमस्य, लस मणुसस्म । १४ वम अणु° । १५ व सम्मत्तपयडि-उदये । १६ वग क्खय । १७ व मुच्चदि । १८ सग वसादो । १९ म मुणदि, ग मन्नदि । २० ब °जीवाइ । २१ बम सुअ ।

जो ण य कुव्वदि गव्वं पुत्त-कलत्ताइ-सव्व-अत्थेसु ।
उवसम-भावे भावदि अप्पाणं मुणदि [1]तिणमित्तं ॥ ३१३ ॥
विसयासत्तो वि सया सव्वारंभेसु वट्टमाणो वि ।
मोह-विलासो एसो इदि सव्वं मण्णदे हेयं ॥ ३१४ ॥
उत्तम-गुण-गहण-रओ उत्तम-साहूण विणय-संजुत्तो[2] ।
[3]साहम्मिय-अणुराई सो सद्दिट्ठी हवे परमो ॥ ३१५ ॥
देह-मिलियं पि जीवं णिय-णाण-गुणेण मुणदि जो भिण्णं ।
जीव-मिलियं पि देहं कंचुव[4]-सरिसं वियाणेइ ॥ ३१६ ॥
णिज्जिय-दोसं देवं [5]सव्व-जिवाणं[6] दयावरं[7] धम्मं ।
वज्जिय-गंथं च गुरुं जो मण्णदि सो हु सद्दिट्ठी ॥ ३१७ ॥
दोस-सहियं पि देवं जीव-हिंसाइ[8]-संजुदं धम्मं ।
गंथासत्तं च गुरुं जो [9]मण्णदि सो हु कुद्दिट्ठी ॥ ३१८ ॥
ण य को वि देदि[10] लच्छी ण [11]को वि जीवस्स कुणदि उवयारं ।
उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि ॥ ३१९ ॥
भत्तीऍ पुज्जमाणो विंतर-देवो वि देदि [12]जदि लच्छी ।
तो किं [13]धम्मं [14]कीरदि एवं चिंतेइ सद्दिट्ठी ॥ ३२० ॥
जं जस्स [15]जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि ।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा ॥ ३२१ ॥
तं तस्स [16]तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि [17]कालम्मि ।
को [18]सक्कदि वारेदुं इंदो वा [19]तह जिणिंदो वा ॥ ३२२ ॥
एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्व-पज्जाए ।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठी ॥ ३२३ ॥
जो ण वि[20]जाणदि तच्चं सो जिण-वयणे करेदि [21]सद्दहणं ।
जं [22]जिणवरेहिँ भणियं तं सव्वमहं समिच्छामि ॥ ३२४ ॥

---

१ म तणमित्तं। २ ब सुंजुत्तो। ३ ब साहिम्मिय। ४ लमसग कंचुउ। ५ म सव्वे। ६ बलम (?) सग जीवाण, [जिवाणं]। ७ म दयावहं। ८ लग हिंसादि, [जीवं-हिंसा]। ९ ब मण्णइ। १० ब देइ। ११ सग कोइ, ब णय कोवि। १२ ब देइ जइ। १३ लमसग धम्मं। १४ ब कीरइ। १५ स जम्हि। १६ लग तम्हि। १७ स कालम्हि। १८ लग सक्कइ चालेदुं। १९ लग अह जिणंदो। २० लमसग जाणइ। २१ म जीवाइनवपयत्थे जो ण वियाणेइ करेदि सद्दहणं। २२ ब जिणवरेण।

रयणाण महा-रयणं सव्वं[1]-जोयाण उत्तमं जोयं ।
रिद्धीणं[2] महा-रिद्धी सम्मत्तं सव्व-सिद्धियरं ॥ ३२५ ॥
सम्मत्त-गुण-पहाणो देविंद-णरिंद-वंदिओ होदि ।
चत्त-वओ[3] वि य पावदि सग्ग-सुहं उत्तमं विविहं ॥ ३२६ ॥
सम्माइट्ठी जीवो दुग्गदि[4]-हेदुं ण बंधदे कम्मं ।
जं बहु-भवेसु बद्धं दुक्कम्मं तं पि णासेदि[5] ॥ ३२७ ॥[6]
बहु-तस-समण्णिदं जं मज्जं मंसादि णिंदिदं दव्वं ।
जो ण य सेवदि णियदं सो दंसण-सावओ होदि ॥ ३२८ ॥
जो दिढ-चित्तो कीरदि एवं पि वयं णियाण-परिहीणो ।
वेरग्ग-भाविय-मणो सो वि य दंसण-गुणो होदि ॥ ३२९ ॥[8]
पंचाणुव्वय-धारी गुण-वय-सिक्खा-वएहिं[9] संजुत्तो ।
दिढ-चित्तो सम-जुत्तो णाणी वय-सावओ होदि ॥ ३३० ॥
जो वावरेइ[10] सदओ अप्पाण-समं परं पि मण्णंतो ।
णिंदण-गरहण-जुत्तो परिहरमाणो महारंभे[11] ॥ ३३१ ॥
तस-घादं जो ण करदि मण-वय-काएहि[12] णेव कारयदि ।
कुव्वंतं पि ण इच्छदि पढम-वयं जायदे तस्स ॥ ३३२ ॥
हिंसा-वयणं ण वयदि कक्कस-वयणं पि जो ण भासेदि ।
णिट्ठुर-वयणं पि तहा ण भासदे गुज्झ-वयणं पि ॥ ३३३ ॥
हिद-मिद-वयणं भासदि संतोस-करं तु सव्व-जीवाणं ।
धम्म-पयासण-वयणं अणुव्वदी होदि[13] सो विदिओ ॥ ३३४ ॥
जो बहु-मुल्लं[14] वत्थुं अप्पय[15]-मुल्लेण णेव गिण्हेदि ।
वीसरियं पि ण गिण्हदि लाहे[16] थोवे वि तूसेदि ॥ ३३५ ॥
जो पर-दव्वं ण हरदि माया-लोहेण कोह-माणेण ।
दिढ-चित्तो सुद्ध-मई अणुव्वई[17] सो हवे तिदिओ ॥ ३३६ ॥

---

१ ब सव्वं (?), लसग मव्व, म सव्वे। २ ब रिद्धिण। ३ लमसग वयो। ४ ब दुग्गइ। ५ ग तं पणासेति। ६ ब अविरइसम्माइट्ठी। बहुतस इत्यादि। ७ लमसग दिढचित्तो जो कुव्वदि। ८ ब दंसणप्रतिमा॥ पंचा इत्यादि। ९ स वयेहिं। १० ग वावरइ (वावारइ ?)। ११ ग महारंभो। १२ ग कायेहिं णेय करयदि। १३ म हयदि, ग हविदि, ल हवदि। १४ ब मोल्लं। १५ अप्पय इति पाठः पुस्तकान्तरे दृष्टः, बलमसग अप्पमुल्लेण। १६ सग थूवे। १७ स अणुव्वदी।

असुइ-मयं[1] दुग्गंधं महिला-देहं विरच्चमाणो जो ।
रूवं लावण्णं पि य मण-मोहण-कारणं मुणइ ॥ ३३७ ॥
जो मण्णदि पर-महिलं[2] जणणी-बहिणी-सुआइ-सारिच्छं ।
मण-वयणे काएण[3] वि बंभ-वई सो हवे थूलो[4] ॥ ३३८ ॥
जो लोहं णिहणित्ता[5] संतोस-रसायणेण संतुट्ठो ।
णिहणदि तिण्हा दुट्ठा मण्णंतो[6] विणस्सरं सव्वं ॥ ३३९ ॥
जो परिमाणं[7] कुव्वदि धण-धण्णं[8]-सुवण्ण-खित्तमाईणं ।
उवओगं जाणित्ता अणुवदं[9] पंचमं तस्स ॥ ३४० ॥[10]
जह लोह-णासणट्ठं संग-पमाणं हवेइ जीवस्स ।
सव्व-दिसाणं[11] पमाणं तह लोहं णासए[12] णियमा ॥ ३४१ ॥
जं परिमाणं कीरदि दिसाण सव्वाण सुप्पसिद्धाणं ।
उवओगं जाणित्ता गुणवदं जाण तं पढमं ॥ ३४२ ॥
कज्जं किं पि ण साहदि णिच्चं पावं करेदि जो अत्थो ।
सो खलु हवदि[13] अणत्थो पंच-पयारो वि सो विविहो ॥ ३४३ ॥
पर-दोसाण[14] वि गहणं पर-लच्छीणं समीहणं जं च ।
परइत्थी-अवलोओ[15] पर-कलहालोयणं पढमं ॥ ३४४ ॥
जो उवएसो दिज्जदि किसि-पसु-पालण-वणिज्ज-पमुहेसु ।
पुरिसित्थी[16]-संजोए अणत्थ-दंडो हवे विदिओ ॥ ३४५ ॥
विहलो जो वावारो पुढवी-तोयाण अग्गि[17]-वाऊणं ।
तह वि वणप्फदि-छेदो[18] अणत्थ-दंडो हवे तिदिओ ॥ ३४६ ॥
मज्जार-पहुदि-धरणं आउह[19]-लोहादि-विक्कणं जं च ।
लक्खा[20]-खलादि-गहणं अणत्थ-दंडो हवे तुरिओ ॥ ३४७ ॥
जं सवणं सत्थाणं भंडण-वसियरण-काम-सत्थाणं ।
पर-दोसाणं च तहा अणत्थ-दंडो हवे चरिमो[21] ॥ ३४८ ॥

---

१ ग मुयं । २ ब परिमहिला......सारिच्छा । ३ लमसग कायेण । ४ सग थूओ । ५ ब णिहिणित्ता । ६ ब मुण्णंति विणस्सुरं (?) । ७ ब परमाणं । ८ ग धाण्ण । ९ लमसग अणुव्वयं । १० ब इदि अणुव्वदाणि पंचादि ॥ जह इत्यादि । ११ लमसग दिसिसु । १२ ब णासये । १३ लसग हवे । १४ लम दोसाणं गहणं (स गहण, ग ग्गहणं) । १५ लमसग आलोओ । १६ स पुरसत्थी । १७ लमसग अग्गिपवणाणं । १८ लमसग छेउ (छेओ ?) । १९ लसग आउध- । २० ब लक्ख । २१ ब चरमो ।

एवं पंच-पयारं अणत्थ-दंडं दुहावहं णिच्चं ।
जो परिहरेदि[1] णाणी गुणवदी[2] सो हवे बिदिओ ॥ ३४९ ॥
जाणित्ता संपत्ती भोयण-तंबोल-वत्थमादीणं[3] ।
जं परिमाणं कीरदि भोउवभोयं[4] वयं तस्स ॥ ३५० ॥
जो परिहरेइ संतं तस्स वयं थुव्वदे सुरिंदो वि[5] ।
जो मण-लड्डु[6] व भक्खदि तस्स वयं अप्प-सिद्धियरं[7] ॥ ३५१ ॥[8]
सामाइयस्स करणे खेत्तं[9] कालं च आसणं विलओ[10] ।
मण-वयण-काय-सुद्धी णायवा हुंति सत्तेव ॥ ३५२ ॥
जत्थ ण कलयल-सद्दो[11] बहु-जण-संघट्टणं ण जत्थत्थि ।
जत्थ ण दंसादीया एस पसत्थो हवे देसो ॥ ३५३ ॥
पुव्वण्हे मज्झण्हे अवरण्हे तिहि[12] वि णालिया-छक्को ।
सामाइयस्स कालो सविणय-णिस्सेस-णिद्दिट्ठो ॥ ३५४ ॥
बंधित्ता पज्जंकं अहवा उड्ढेण[13] उब्भओ ठिच्चा ।
काल-पमाणं किच्चा इंदिय-वावार-वज्जिदो[14] होउं ॥ ३५५ ॥
जिण-वयणेयग्ग-मणो[15] संवुड-काओ[16] य अंजलिं किच्चा ।
स-सरूवे संलीणो वंदण-अत्थं विचिंतंतो ॥ ३५६ ॥
किच्चा देस-पमाणं सव्वं-सावज्ज-वज्जिदो[17] होउं ।
जो कुव्वदि सामइयं सो मुणि-सरिसो हवे[18] ताव ॥ ३५७ ॥[19]
ण्हाण-विलेवण-भूसण-इत्थी-संसग्ग-गंध-धूवादी[20] ।
जो परिहरेदि[21] णाणी वेरग्गाभूसणं[22] किच्चा ॥ ३५८ ॥
दोसु वि पव्वेसु सया उववासं एय-भत्त-णिव्वियडी ।
जो कुणदि एवमाई तस्स वयं पोसहं बिदियं ॥ ३५९ ॥

---

१ लमसग परिहरेइ । २ ग गुणव्वई, स गुणव्वदं, ब गुणव्वदं होदि तं विदियं । ३ लसग वत्थमाईणं । ४ ब भोउवभोउं (यं ?) तं तिदिओ (म तदियं) । ५ लमसग सुरिंदेहिं । ६ ल मणुलड्डु, मस मणलड्डुव, ग मणलड्डु । ७ स सिद्धिकरं । ८ ब गुणव्रतनिरूपणं । सामाइयस्स इत्यादि । ९ ब खित्तं । १० म विनउ । ११ लमसग सद्दं । १२ ब तिहि......छक्के (?) । १३ लग उभउ ठिच्चा, म उभउ ठ्विचा, स उढेण ऊभवो । १४ ल होउ । १५ ब वयणे एयग्ग । १६ बग संपुड, [संवुड ?] । १७ ब वज्जिओ होऊ, ग वजिदो होउ । १८ ल हवे सावउ, मस हवे साउ, ग हवे सावउं । १९ ब सिक्खावयं पढमं । ण्हाण इत्यादि । २० लसग गंधधूवदीवादि, म धूवादि । २१ ब परिहरेइ । २२ लम वेरग्ग (ग वेइग्गा, स वेणा) भरणभूसणं किच्चा ।

तिविहे [1]पत्तम्हि सया [2]सद्धाइ-गुणेहि संजुदो णाणी ।
दाणं जो देदि सयं णव-दाण-विहीहि संजुत्तो ॥ ३६० ॥
सिक्खा-वयं च [3]तिदियं तस्स हवे [4]सव्व-सिद्धि-सोक्खयरं ।
दाणं चउविहं पि य [5]सव्वे दाणाण सारयरं ॥ ३६१ ॥
भोयण-[6]दाणं सोक्खं ओसह-[7]दाणेण सत्थ-दाणेणं ।
जीवाण अभय-दाणं सुदुलहं सव्व-[8]दाणेसु ॥ ३६२ ॥
भोयण-दाणे दिण्णे तिण्णि वि [9]दाणाणि होंति दिण्णाणि ।
भुक्ख-तिसाए वाही दिणे[10] दिणे होंति देहीणं ॥ ३६३ ॥
भोयण-बलेण साहू सत्थं सेवेदि[11] रत्ति-दिवसं पि ।
भोयण-दाणे दिण्णे पाणा वि य रक्खिया [12]होंति ॥ ३६४ ॥
इह-पर-लोय-णिरीहो दाणं जो देदि[13] परम-भत्तीए ।
[14]रयणत्तए [15]सुठविदो संघो सयलो हवे तेण ॥ ३६५ ॥
उत्तम-पत्त-विसेसे[16] उत्तम-भत्तीएँ उत्तमं दाणं ।
एय-दिणे वि य दिण्णं[17] इंद-सुहं उत्तमं देदि[18] ॥ ३६६ ॥[19]
पुव्व-पमाण-[20]कदाणं सव्व-दिसीणं पुणो वि संवरणं ।
इंदिय-विसयाण [21]तहा पुणो वि जो कुणदि संवरणं ॥ ३६७ ॥
वासादि-कय-पमाणं [22]दिणे दिणे लोह-काम-[23]समणट्ठं ।
सावज्ज-वज्जणट्ठं तस्स चउत्थं वयं होदि ॥ ३६८ ॥
बारस-[24]वएहिँ जुत्तो [25]सल्लिहणं जो कुणेदि उवसंतो ।
सो सुर-[26]सोक्खं पाविय कमेण [27]सोक्खं परं लहदि ॥ ३६९ ॥
एक्कं पि वयं विमलं सद्दिट्ठी [28]जइ कुणेदि दिढ-चित्तो ।
तो विविह-रिद्धि-जुत्तं इंदत्तं [29]पावए णियमा ॥ ३७० ॥[30]

---

१ ल पत्तन्हि, बम पत्तम्मि । २ ब सद्धाई । ३ लमस तइयं, ग तईयं । ४ ब सव्वसोख[=क्ख] सिद्धियरं । ५ ब सव्वे दाणाणि [सव्वं दाणाण] । ६ ब दाणं [दाणें], लमसग दाणेण । ७ ब दाणेण सत्थदाणाणं, दाणेण ससत्थदाणं च । ८ लमसग दाणाणं । ९ ब दाणाइ (इं?) हुंति दिण्णाइ । १० ब दिणि दिणि हुंति जीवाणं । ११ लमसग सेवदि रत्तिदिवहं (स सेवंदि ?) । १२ ब हुंति । १३ ब देइ । १४ लसग रयणत्तये । १५ ब सुट्ठविदो (?) । १६ म विसेसो । १७ ग दिणे । १८ ब होदि । १९ ब दाणं । पुव्व इत्यादि । २० ब कयाणं । २१ ब तह (?) । २२ ब दिणि दिणि (?) । २३ लमसग समणत्थं । २४ लमग वयेहि । २५ लमग जो सलेहणं (स सलेहण) करेदि, ब सल्लेहणं (?) । २६ ब सुक्खं । २७ ब मोक्खं (?) । २८ ब जो करदि, लग जइ कुणदि, म कुणेदि, स वि जइ कुणदि । २९ लग पावइ । ३० ब वयट्ठाणं ॥ जो इत्यादि ।

जो कुणदि[1] काउसग्गं बारस-आवत्त[2]-संजदो धीरो ।
णमण-दुगं पि कुणंतो[3] चदु-प्पणामो पसण्णप्पा ॥ ३७१ ॥
चिंतंतो ससरूवं जिण-बिंबं अहव अक्खरं परमं ।
झायदि कम्म-विवायं तस्स वयं होदि सामइयं ॥ ३७२ ॥[4]
सत्तमि[5]-तेरसि-दिवसे अवरण्हे जाइऊण[6] जिण-भवणे ।
किच्चा [7]किरिया-कम्मं उववासं चउ-विहं[8] गहियं[9] ॥ ३७३ ॥
गिह-वावारं चत्ता रत्तिं गमिऊण धम्म-चिंताए[10] ।
पच्चूसे उट्ठित्ता किरिया-कम्मं च कादूण[11] ॥ ३७४ ॥
सत्थब्भासेण पुणो दिवसं गमिऊण वंदणं किच्चा ।
रत्तिं णेदूण[12] तहा पच्चूसे वंदणं किच्चा ॥ ३७५ ॥
पुज्जण[13]-विहिं च किच्चा पत्तं गहिऊण णवरि[14] ति-विहं पि ।
भुंजाविऊण[15] पत्तं भुंजंतो पोसहो होदि ॥ ३७६ ॥
एक्कं पि णिरारंभं उववासं जो करेदि उवसंतो ।
बहु-भव-संचिय-कम्मं सो णाणी खवदि[16] लीलाए ॥ ३७७ ॥
उववासं कुव्वंतो आरंभं[17] जो करेदि मोहादो ।
सो णिय-देहं सोसदि ण झाडए[18] कम्म-लेसं पि ॥ ३७८ ॥[19]
सच्चित्तं[20] पत्त-फलं छल्ली मूलं च किसलयं बीयं[21] ।
जो ण य[22] भक्खदि णाणी सचित्त[23]-विरदो हवे सो दु ॥ ३७९ ॥
जो ण य भक्खेदि सयं तस्स ण अण्णस्स जुज्जदे दाउं ।
भुत्तस्स भोजिदस्स हि णत्थि विसेसो जदो[24] को वि ॥ ३८० ॥
जो वज्जेदि सचित्तं दुज्जय-जीहा विणिज्जिया[25] तेण ।
दय-भावो होदि किओ[26] जिण-वयणं पालियं तेण ॥ ३८१ ॥[27]

---

१ लमसग कुणइ । २ मस आउत्त । ३ लमसग करंतो । ४ ब सामार (इ?) यं । सत्तम इत्यादि । ५ ब सत्तम । ६ स जायऊण । ७ लमसग किरिया कम्मं काऊ (उं ?), ब किच्चा किरिया- । ८ [चउविहं], सर्वत्र तु चउव्विहं । ९ बग गहियं । १० ब चिंताइ । ११ ब काऊणं । १२ ब णेऊण । १३ ब पूजण । १४ म तहय । १५ ग भुज्जाविऊण । १६ ब क्खवदि, ग खविद । १७ ग आरंभो । १८ ब झाडइ । १९ ब पोसह । सच्चित्तं इत्यादि । २० ग सचित्तं पत्ति- । २१ लसग बीजं, म बीजं । २२ ब जो य णय । २३ लमसग सचित्तविरओ (उ ?) हवे सो वि । २४ लमसग तदो । २५ स विणिज्जिदा । २६ ब दयभावो वि य अजिउ (?) । २७ ब सचित्तविरदी । जो चउविहं इत्यादि ।

जो चउ-विहं पि भोज्जं रयणीए[1] णेव भुंजदे[2] णाणी ।
ण य भुंजावदि[3] अण्णं णिसि-विरओ सो हवे [4]भोज्जो ॥ ३८२ ॥
जो णिसि-भुत्तिं वज्जदि सो उववासं करेदि छम्मासं ।
संवच्छरस्स मज्झे आरंभं चयदि[5] रयणीए ॥ ३८३ ॥[6]
सव्वेसिं इत्थीणं जो अहिलासं ण कुव्वदे णाणी ।
मण-वाया-कायेण[7] य बंभ-वई सो हवे सदओ ॥ ३८४ ॥
[8]जो कय-कारिय-मोयण[9]-मण-वय-काएण मेहुणं चयदि ।
बंभ-पवज्जारूढो बंभ-वई [10]सो हवे सदओ ॥ ३८४*१ ॥[11]
जो आरंभं ण कुणदि अण्णं कारयदि णेव अणुमण्णे[12] ।
हिंसा-संतट्ठ-मणो चत्तारंभो हवे सो हु[13] ॥ ३८५ ॥[14]
जो [15]परिवज्जइ गंथं अब्भंतर-बाहिरं च साणंदो ।
पावं ति मण्णमाणो णिग्गंथो सो हवे णाणी ॥ ३८६ ॥
बाहिर-गंथ-विहीणा दरिद्द-मणुवा[16] सहावदो होंति[17] ।
अब्भंतर-गंथं पुण ण सक्कदे को वि[18] छंडेदुं ॥ ३८७ ॥[19]
जो अणुमणणं ण कुणदि गिहत्थ-कज्जेसु पाव-मूलेसु[20] ।
भवियव्वं भावंतो अणुमण-विरओ हवे सो दु ॥ ३८८ ॥
जो पुणु[21] चिंतदि कज्जं सुहासुहं राय-दोस-संजुत्तो ।
उवओगेण[22] विहीणं स कुणदि पावं विणा कज्जं ॥ ३८९ ॥[23]
जो णव[24]-कोडि-विसुद्धं[25] भिक्खायरणेण भुंजदे भोज्जं ।
जायण-रहियं जोग्गं[26] उद्दिट्ठाहार-विरदो[27] सो ॥ ३९० ॥
जो सावय-वय-सुद्धो अंते आराहणं परं कुणदि ।
सो अच्चुदम्हि[28] सग्गे इंदो सुर-सेविदो[29] होदि ॥ ३९१ ॥[30]

---

१ लमसग रयणीये । २ व भुंजदि । ३ लमसग भुंजावइ (स ?) । ४ व भुज्जो । ५ लमसग मुयदि । ६ व रायभत्तीए ॥ सव्वेसिं इत्यादि । ७ व मण वयणकाएण (?) ८ एषा गाथा बम-पुस्तकयोरेव । ९ म-पुस्तके 'मोयण' इति पदं नास्ति । १० व सो हओ इति मूलपाठः । ११ व बंभवई ॥ जो इत्यादि । १२ ब अणुमण्णे (ण्णो ?), म अणुमण्णे, लस अणुमण्णो (ग °मणो) १३ लमसग हि । १४ व अणा-रंभा ॥ जो परिवज्जइ इत्यादि । १५ म पडिवज्जइ, स परिवज्जदि । १६ लमग दलिद्दमणुआ (स °मणुवा) । १७ ब हुंति । १८ ब को वि । १९ व निर्ग्रंथः । जो अणु इत्यादि । २० म पावलेसेसु । २१ व पुणु । २२ मग उवउग्गेण । २३ व अणुमयविरओ । जो नव इत्यादि । २४ ब नव । २५ बसग विशुद्धं । २६ म भोग्गं । २७ लमसग विरओ (उ ?) । २८ व अच्चुयम्मि । २९ लमसग सेविओ (उ ?) । ३० व उद्दिट्ठविरदो । एवं सावयधम्मो समायत्तोः ॥ जो रयणत्तय इत्यादि ।

जो रयणत्तय-जुत्तो खमादि-भावेहिँ[1] परिणदो णिच्चं ।
सव्वत्थ वि मज्झत्थो सो साहू भण्णदे धम्मो ॥ ३९२ ॥
सो चेव दह-पयारो खमादि-भावेहिँ सुप्पसिद्धेहिं[2] ।
ते पुणु भणिज्जमाणा मुणियव्वा परम-भत्तीए ॥ ३९३ ॥
कोहेण जो ण तप्पदि सुर-णर-तिरिएहिँ कीरमाणे वि ।
उवसग्गे वि रउद्दे तस्स खमा णिम्मला होदि[3] ॥ ३९४ ॥
उत्तम-णाण-पहाणो उत्तम-तवयरण-करण-सीलो वि ।
अप्पाणं जो हीलदि मद्दव-रयणं भवे[4] तस्स ॥ ३९५ ॥
जो चिंतेइ ण वंकं ण[5] कुणदि वंकं ण जंपदे[6] वंकं ।
ण य गोवदि णिय-दोसं अज्जव-धम्मो हवे तस्स ॥ ३९६ ॥
सम-संतोस-जलेणं जो धोवदि तिव्व[7]-लोह-मल-पुंजं ।
भोयण-गिद्धि-विहीणो तस्स सउच्चं हवे[8] विमलं ॥ ३९७ ॥
जिण-वयणमेव भासदि तं पालेदुं असक्कमाणो वि ।
ववहारेण वि अलियं ण वददि[9] जो सच्च-वाई सो ॥ ३९८ ॥
जो जीव-रक्खण-परो गमणागमणादि[10]-सव्व-कज्जेसुं[11] ।
तण-छेदं[12] पि ण इच्छदि संजम[13]-धम्मो हवे तस्स ॥ ३९९ ॥
इह-पर-लोय-सुहाणं णिरवेक्खो जो करेदि सम-भावो ।
विविहं काय-किलेसं[14] तव-धम्मो णिम्मलो तस्स ॥ ४०० ॥
[15]जो चयदि मिट्ठ-भोज्जं उवयरणं राय-दोस-संजणयं ।
वसदिं[16] ममत्त-हेदुं चाय-गुणो सो हवे तस्स[17] ॥ ४०१ ॥
ति-विहेण जो विवज्जदि चेयणमियरं च सव्वहा संगं ।
लोय-ववहार[18]-विरदो णिग्गंथत्तं हवे तस्स ॥ ४०२ ॥
जो परिहरेदि संगं महिलाणं णेव[19] पस्सदे रूवं ।
काम-कहादि-णिरीहो[20] णव-विह-बंभं[21] हवे तस्स ॥ ४०३ ॥

---

१ ब भावेण। २ लमसग सुक्खसारेहिं। ३ स होहि (ही ?)। ४ ब हवे। ५ लसग कुणदि ण। ६ लमसग जंपए। ७ ग तिठ (ट्ठ ?) [= तृष्णा]। ८ लमसग तस्स सुच्चित्तं हवे। ९ ब जो ण वददि। १० ब °गमणाइ। ११ लमसग कम्मेसु। १२ ब तिणछेयं। १३ ल (मस ?) ग संयमभाव (ओ), ब संजम्म। १४ लग कलेसं। १५ स-पुस्तके एषा गाथा नास्ति। १६ म विसयविसमत्त। १७ म सुधो (द्धो ?)। १८ मस विवहार, ग चे (वे ?) वहार। १९ ग ण च। २० ल (स ?) ग णियत्तो, म णिअत्तो। २१ लमसग णवहा बंभं।

जो ण वि जादि[1] वियारं तरुणियण-[2]कंडक्ख-बाण-विद्धो वि ।
सो चेव सूर-सूरो रण-सूरो णो हवे सूरो ॥ ४०४ ॥
एसो दह-प्पयारो धम्मो दह-लक्खणो हवे णियमा ।
अण्णो ण हवदि[3] धम्मो हिंसा सुहुमा[4] वि जत्थत्थि ॥ ४०५ ॥
हिंसारंभो ण सुहो देव-णिमित्तं गुरूण कज्जेसु ।
हिंसा पावं ति मदो दया-पहाणो जदो धम्मो ॥ ४०६ ॥
देव-गुरूण णिमित्तं [5]हिंसा-सहिदो वि [6]होदि जदि धम्मो ।
हिंसा-रहिदो[7] धम्मो इदि जिण-वयणं हवे अलियं ॥ ४०७ ॥
इदि एसो जिण-धम्मो अलद्ध-पुव्वो [8]अणाइ-काले वि ।
मिच्छत्त-संजुदाणं जीवाणं लद्धि-हीणाणं ॥ ४०८ ॥
एदे दह-प्पयारा [9]पावं-कम्मस्स णासया भणिया ।
पुण्णस्स य संजणया पर पुण्णत्थं ण कायव्वा ॥ ४०९ ॥
पुण्णं पि जो समिच्छदि संसारो तेण ईहिदो होदि ।
पुण्णं [10]सुगई-हेदुं[11] पुण्ण-[12]खएणेव णिव्वाणं ॥ ४१० ॥
जो अहिलसेदि पुण्णं सकसाओ विसय-सोक्ख[13]-तण्हाए ।
दूरे तस्स विसोही विसोहि-मूलाणि पुण्णाणि ॥ ४११ ॥
पुण्णासाएँ[14] ण पुण्णं [15]जदो णिरीहस्स पुण्ण-संपत्ती ।
इय जाणिऊण [16]जइणो पुण्णे वि [17]मँ आयरं कुणहँ[18] ॥ ४१२ ॥
पुण्णं बंधदि [19]जीवो मंद-कसाएहि परिणदो संतो ।
तम्हा मंद-कसाया हेऊँ[20] पुण्णस्स ण हि वंछा ॥ ४१३ ॥
किं जीव-दया धम्मो [21]जण्णे हिंसा वि होदि किं धम्मो ।
इच्चेवमादि-संका तदकरणं जाण णिस्संका ॥ ४१४ ॥
दय-भावो वि य धम्मो हिंसा-भावो[22] ण भण्णदे धम्मो ।
इदि [23]संदेहाभावो णिस्संका णिम्मला होदि ॥ ४१५ ॥

१ ब वि जाइ । ग बि जाति । २ ब तरुणिकडक्खेण बाण । ३ ब हवइ । ४ ब सुहमा । ५ लग हिसारंभो वि जो हवे धम्मो । ६ मस(?) होदि जदि, ब होइ जइ । ७ लमसग हिंसाररहिओ (उ?) । ८ ब अणाय, म अणीइ । ९ सर्वत्र पाव-कम्मस्स, [पावं कम्मस्स] । १० म सुग्गइ, ग गइहे । ११ लमसग हेउ (उं) । १२ लमसग खयेण । १३ ब सुक्ख । १४ ब पुण्णासए (?) । १५ म होदि । १६ ब मुणिणो । १७ म ण । १८ ब कुणइ । १९ ग जीउं (ओ?) । २० म हेउं । २१ बग जणे । २२ लम(स)ग भावे । २३ ग संदेहोऽभावो ।

जो सग्ग-सुह-णिमित्तं धम्मं णायरदि दूसह-तवेहिं ।
मोक्खं[1] समीहमाणो णिक्खंखा जायदे तस्स ॥ ४१६ ॥
दह-विह-धम्म-जुदाणं सहाव-दुग्गंध-असुइ-देहेसु ।
जं णिंदणं ण कीरदि[2] णिव्विदिगिंछा गुणो[3] सो हु ॥ ४१७ ॥
भय-लज्जा-लाहादो[4] हिंसारंभो ण मण्णदे धम्मो ।
जो जिण-वयणे लीणो अमूढ-दिट्ठी हवे सो दु[5] ॥ ४१८ ॥
जो पर-दोसं गोवदि णिय-सुकयं[6] जो ण पयडदे लोए ।
भवियव्व[7]-भावण-रओ उवगूहण-कारओ सो हु ॥ ४१९ ॥
धम्मादो चलमाणं जो अण्णं संठवेदि धम्मम्मि ।
अप्पाणं पि सुदिढयदि ठिदि-करणं[8] होदि तस्सेव ॥ ४२० ॥
जो धम्मिएसु भत्तो अणुचरणं कुणदि परम-सद्धाए ।
पिय-वयणं जंपंतो वच्छल्लं तस्स भव्वस्स ॥ ४२१ ॥
जो दस-भेयं[9] धम्मं भव्व-जणाणं पयासदे विमलं ।
अप्पाणं पि पयासदि णाणेण पहावणा तस्स ॥ ४२२ ॥
जिण-सासण-माहप्पं बहु-विह-जुत्तीहि जो पयासेदि ।
तह तिव्वेण तवेण य पहावणा णिम्मला तस्स ॥ ४२३ ॥
जो ण कुणदि पर-तत्तिं[10] पुणु[11] पुणु भावेदि[12] सुद्धमप्पाणं ।
इंदिय-सुह-णिरवेक्खो[13] णिस्संकाई गुणा तस्स ॥ ४२४ ॥
णिस्संका-पहुडि-गुणा जह धम्मे तह[14] य देव-गुरु-तच्चे ।
जाणेहि जिण-मयादो सम्मत्त-विसोहया[15] एदे ॥ ४२५ ॥
धम्मं ण मुणदि जीवो[16] अहवा जाणेइ कहव कट्ठेण ।
काउं तो वि ण सक्कदि मोह-पिसाएण भोलविदो ॥ ४२६ ॥
जह जीवो कुणइ रइं[17] पुत्त-कलत्तेसु काम-भोगेसु[18] ।
तह जइ जिणिंद-धम्मे तो लीलाए सुहं लहदि ॥ ४२७ ॥

---

१ लमसग मुक्खं । २ लमसग कीरइ । ३ ब गुणो तस्स (?) । ४ ब भयलज्जगारवेहि य (?) । ५ मसग(ल?) हु । ६ लमसग सुकयं णो पयासदे । ७ म भविअव्व । ८ ब ट्ठिदियरणं । ९ ब दस-चिहं च धम्मं । १० ब तत्ती । ११ मस पुण पुण (?) । १२ ब भावेइ । १३ म णिरविक्खो । १४ ग तह देव । १५ ब विसोहिया । १६ म जीओ । १७ ब (?) मस रई । १८ ब भोएसु ।

लच्छिं[1] वंछेइ णरो णेव सुधम्मेसु आयरं[2] कुणइ ।
बीएण विणा कत्थ वि किं दीसदि[3] सस्स-णिप्पत्ती ॥ ४२८ ॥
जो धम्मत्थो जीवो सो रिउ-वग्गे वि कुणइ खम-भावं ।
ता पर-दव्वं वज्जइ जणणि-समं गणइ परदारं[4] ॥ ४२९ ॥
ता सव्वत्थ वि कित्ती ता सव्वत्थ[5] वि हवेइ[6] वीसासो ।
ता सव्वं पिय भासइ ता सुद्धं माणसं कुणई[7] ॥ ४३० ॥
उत्तम-धम्मेण जुदो होदि तिरिक्खो वि उत्तमो देवो ।
चंडालो वि सुरिंदो उत्तम-धम्मेण संभवदि[8] ॥ ४३१ ॥
अग्गी वि य होदि हिमं होदि भुयंगो वि उत्तमं रयणं ।
जीवस्स सुधम्मादो देवा वि य किंकरा होंति[9] ॥ ४३२ ॥
तिक्खं खग्गं माला दुज्जय-रिउणो सुहंकरा सुयणा[10] ।
हालाहलं पि अमियं महावया संपया होदि ॥ ४३३ ॥
अलिय-वयणं पि सच्चं उज्जम-रहिए[11] वि लच्छि-संपत्ती ।
धम्म-पहावेण णरो अणओ वि सुहंकरो होदि ॥ ४३४ ॥
देवो वि धम्म-चत्तो मिच्छत्त-वसेण तरु-वरो होदि ।
चक्की वि धम्म-रहिओ णिवडइ[12] णरए ण संदेहो[13] ॥ ४३५ ॥
धम्म-विहूणो[14] जीवो कुणइ असक्कं पि साहसं जइ[15] वि ।
[16]तो ण वि पावदि[17] इट्ठं सुट्ठु अणिट्ठं परं लहदि[18] ॥ ४३६ ॥
इय पच्चक्खं पेच्छह[19] धम्माहम्माणं[20] विविह-माहप्पं ।
धम्मं आयरह सया पावं दूरेण परिहरह ॥ ४३७ ॥[21]
बारस-भेओ भणिओ णिज्जर-हेऊ[22] तवो[23] समासेण ।
तस्स पयारा एदे भणिज्जमाणा मुणेयव्वा ॥ ४३८ ॥
उवसमणो अक्खाणं उववासो वण्णिदो[24] समासेण[25] ।
तम्हा भुंजंता वि य जिदिंदिया होंति उववासा ॥ ४३९ ॥

---

१ ब लच्छी । २ ग आइरं । ३ ब दीसइ । ४ ब (?) म परयारं । ५ लमग सव्वस्स । ६ लग हवइ । ७ लमसग कुणई । ८ ब संभवइ । ९ म होंदि । १० ब (?) लग सुहंकरो सुयणो । ११ स रहिये । १२ ब णिवडय । १३ लस (?) ग ण संपदे होदि । १४ ब विहीणो । १५ ब जय । १६ ब तो विणु पावइ इट्ठं । १७ स पावइ । १८ लमसग लहइ (ई?) । १९ लगस पिच्छिय, म पिच्छिह (?) । २० स धम्माधम्माण । २१ धम्माणुवेक्खा ॥ बारसभेओ इत्यादि । २२ बग हेउं (ऊ?) । २३ ब तओ । २४ ब वण्णिओ । २५ लमसग मुणिंदेहि ।

जो मण-इंदिय-विजई इहभव-परलोय-सोक्खं[1]-णिरवेक्खो ।
अप्पाणे विय णिवसइ[2] सज्झाय-परायणो होदि ॥ ४४० ॥
कम्माण णिज्जरट्ठं आहारं परिहरेइ लीलाए ।
एग-दिणादि[3]-पमाणं तस्स तवं अणसणं होदि ॥ ४४१ ॥[4]
उववासं कुव्वाणो आरंभं जो करेदि मोहादो ।
तस्स किलेसो अपरं कम्माणं णेव णिज्जरणं ॥ ४४२ ॥
आहार-गिद्धि-रहिओ चरिया[5]-मग्गेण पासुगं जोग्गं[6] ।
अप्पयरं जो भुंजइ अवमोदरियं[7] तवं तस्स ॥ ४४३ ॥
जो पुणु कित्ति-णिमित्तं मायाए[8] मिट्ठ-भिक्ख-लाहट्ठं ।
अप्पं भुंजदि भोज्जं तस्स तवं णिप्फलं बिदियं ॥ ४४४ ॥
एगादि[9]-गिह-पमाणं किच्चा[10] संकप्प-कप्पियं विरसं ।
भोज्जं पसु व भुंजदि वित्ति-पमाणं तवो[11] तस्स ॥ ४४५ ॥
संसार-दुक्ख-तट्ठो विस-सम-विसयं[12] विचिंतमाणो[13] जो ।
णीरस-भोज्जं भुंजइ रस-चाओ तस्स सुविसुद्धो ॥ ४४६ ॥
जो राय-दोस-हेदू[14] आसण-सिज्जादियं परिचयइ ।
अप्पा णिव्विसय सया तस्स तवो पंचमो परमो ॥ ४४७ ॥
पूयादिसु[15] णिरवेक्खो संसार-सरीर-भोग[16]-णिव्विण्णो ।
अब्भंतर-तव-कुसलो[17] उवसम-सीलो महासंतो[18] ॥ ४४८ ॥
जो णिवसेदि[19] मसाणे वण-गहणे[20] णिज्जणे महाभीमे ।
अण्णत्थ वि एयंते[21] तस्स वि एदं तवं होदि ॥ ४४९ ॥[22]
दुस्सह-उवसग्ग-जई आतावण-सीय-वाय-खिण्णो वि ।
जो णवि खेदं गच्छदि काय-किलेसो तवो[23] तस्स ॥ ४५० ॥

---

१ ब सुक्ख । २ ब वि णिवेसइ । ३ ब एकदिणाइ । ४ ब अणसणं ॥ उववासं इत्यादि । ५ ग चरिआ । ६ ब पासुकं योग्गं । लग जोग्गं । अवमोदरियं तवं होदि तस्स भिक्खु ॥ ७ म अवमोयरियं । ८ ब मायाये मिट्ठ भक्षलाहट्ठं, लग मिट्ठिभिक्खलाहिट्ठं, म लाहिट्ठं, स मिट्ठिभिक्ख । ९ ब एयादि स एमादि । १० लग किंवा । ११ ब तओ । १२ स विसए । १३ ब विसयं पि चिंतमाणो । १४ ब हेऊ । १५ लसग पूजादिसु, म पुजा° । १६ ब भोय । १७ बसग कुशलो । १८ स महासत्तो । १९ ब णिवसेइ । २० लमग गहिणे । २१ ब एयंतं, लमस (?) ग एअंते । २२ ब जुगलं । २३ लग तउ (ओ ?) ।

दोसं ण करेदि सयं अण्णं पि ण कारएदि जो तिविहं ।
कुवाणं पि ण इच्छदि[1] तस्स विसोही परा[2] होदि ॥ ४५१ ॥
अह कह[3] वि पमादेण य दोसो जदि एदि तं पि पयडेदि ।
णिद्दोस-साहु-मूले [4]दस-दोस-विवज्जिदो [5]होदुं ॥ ४५२ ॥
जं किं पि तेण दिण्णं तं सव्वं सो करेदि सद्धाए ।
णो पुणु हियए संकदि किं [6]थोवं किं पि बहुयं वा ॥ ४५३ ॥
पुणरवि काउं णेच्छदि[7] तं दोसं जइ वि जाइ [8]सय-खंडं ।
एवं णिच्छय-सहिदो पायच्छित्तं तवो [9]होदि ॥ ४५४ ॥
जो चिंतइ अप्पाणं णाण-सरूवं पुणो पुणो णाणी ।
विकहा-विरत्त-[10]चित्तो पायच्छित्तं [11]वरं तस्स ॥ ४५५ ॥
[12]विणओ पंच-पयारो दंसण-णाणे तहा चरित्ते य ।
बारस-भेयम्मि तवे [13]उवयारो बहु-विहो णेओ ॥ ४५६ ॥
दंसण-णाण-चरित्ते सुविसुद्धो जो हवेइ परिणामो ।
बारस-भेदे[14] वि [15]तवे सो [16]च्चिय विणओ हवे तेसिं ॥ ४५७ ॥
रयणत्तय-जुत्ताणं अणुकूलं जो चरेदि[17] भत्तीए ।
भिच्चो [18]जह रायाणं उवयारो सो हवे विणओ ॥ ४५८ ॥
जो उवयरदि जदीणं उवसग्ग-जराइ-खीण-कायाणं ।
[19]पूयादिसु णिरवेक्खं [20]वेज्जावच्चं तवो तस्स ॥ ४५९ ॥
जो वावरइ सरूवे सम-दम-भावम्मि [21]सुद्ध-उवजुत्तो ।
लोय-[22]ववहार-विरदो[23] [24]वेयावच्चं परं तस्स ॥ ४६० ॥
[25]पर-तत्ती-णिरवेक्खो दुट्ठ-वियप्पाण णासण-समत्थो ।
तच्च-विणिच्छय-हेदू सज्झाओ झाण-सिद्धियरो ॥ ४६१ ॥

---

१ ब इच्छइ । २ लमग परो । ३ ब कहव । ४ ब दहदोसविवजिड । ५ ब होदि (?) । ६ लम किमु बहुवं वा (स बहुवं य), ग थोविं किमु बहुव वा । ७ ब णेच्छदि (?) लमस णिच्छदि, ग णच्छदि । ८ ग सइ । ९ ब होंति । १० लसग विकहादिविरत्तमणो, (म माणो ?) । ११ म तवो । १२ लमसग विणयो । १३ म उअयारो । १४ ब भेउ, म भेए । १५ ब तवो (?) । १६ ब चिय । १७ ब चरेइ । १८ ग जिह । १९ लमसग पूजादिसु । २० ब (?) लमग विज्जावच्चं । २१ लमसग सुद्धि । २२ म विवहार । २३ ब विरओ । २४ म विजावच्चं, (?) स वेज्जावच्चं । २५ ग परतित्ती ।

पूयादिसुं[1] णिरवेक्खो जिण-सत्थं जो पढेइ भत्तीए ।
कम्म-मल-सोहणट्ठं सुय-लाहो[2] सुहयरो तस्स ॥ ४६२ ॥
जो जिण-सत्थं सेवदि पंडिय-माणी फलं समीहंतो ।
साहम्मिय-पडिकूलो सत्थं पि विसं हवे तस्स ॥ ४६३ ॥
जो जुद्ध-काम-सत्थं [3]रायादोसेहिं परिणदो पढइ ।
लोयावंचण-हेदुं सज्झाओ णिप्फलो तस्स ॥ ४६४ ॥
जो अप्पाणं जाणदि असुइ-सरीरादु तच्चदो भिण्णं ।
जाणग-रूव-सरूवं सो सत्थं जाणदे सव्वं ॥ ४६५ ॥
जो णवि जाणदि अप्पं णाण-सरूवं सरीरदो भिण्णं ।
सो णवि जाणदि सत्थं आगम-पाढं[4] कुणंतो वि ॥ ४६६ ॥
जल्ल-मलं[5]-लित्त-गत्तो दुस्सह-वाहीसु णिप्पडीयारो ।
मुह-धोवणादि-विरओ भोयण-सेज्जादि-णिरवेक्खो ॥ ४६७ ॥
ससरूव-चिंतण-रओ[6] दुज्जण-सुयणाण जो हु मज्झत्थो ।
देहे वि णिम्ममत्तो काओसग्गो तवो तस्स ॥ ४६८ ॥
जो देह-धारणं[7]-परो उवयरणादी-विसेस-संसत्तो ।
वाहिर-ववहार-रओ काओसग्गो कुदो तस्स ॥ ४६९ ॥
अंतो-मुहुत्त-मेत्तं लीणं वत्थुम्मि[8] माणसं णाणं ।
झाणं भण्णदि समए असुहं च सुहं चं[9] तं दुविहं ॥ ४७० ॥
असुहं अट्ट-रउद्दं धम्मं सुक्कं च सुहयरं होदि ।
अट्टं तिव्व-कसायं तिव्व-तम-कसायदो रुद्दं ॥ ४७१ ॥
मंद-कसायं धम्मं मंद-तम-कसायदो हवे सुक्कं ।
अकसाए वि [10]सुयड्ढे केवल-णाणे वि तं होदि ॥ ४७२ ॥
दुक्खयर-विसय-जोए केम इमं चयदि[11] इदि विचिंतंतो ।
[12]चेट्ठदि जो विक्खित्तो अट्ट-ज्झाणं[13] हवे तस्स ॥ ४७३ ॥

---

१ ल पूजादिसु (ग °सु)। २ ब सज्झाओ (?), म सुअलाहो । ३ लमसग राया°, ब राय (?), [रायद्दोसेहिं]। ४ ग पाठं (?)। ५ लग जलमल्ल । ६ ग ससरूवं चिंतणओ । ७ लमसग पालण । ८ लसग वत्थुम्हि । ९ म असुहं सुद्धं च । १० म सुयट्ठे । ११ [चयमि] । १२ ब चिट्ठदि । १३ म अट्टं झाणं ।

मणहर-विसय-विओगे[1] कह तं पावेमि इदि वियप्पो जो ।
संतावेण पयट्टो सो चिय अट्टं हवे झाणं ॥ ४७४ ॥
हिंसाणंदेण जुदो असच्च-वयणेण परिणदो जो हु[2] ।
तत्थेव अथिर-चित्तो रुद्दं झाणं हवे तस्स ॥ ४७५ ॥
पर-विसय-हरण-सीलो सगीय-विसए सुरक्खणे दक्खो ।
तग्गय-चिंताविट्ठो[3] णिरंतरं तं पि रुद्दं[4] पि ॥ ४७६ ॥
बिण्णि वि असुहे झाणे पाव-णिहाणे य दुक्ख-संताणे ।
तम्हा[5] दूरे वज्जह धम्मे पुण[6] आयरं कुणह ॥ ४७७ ॥
धम्मो वत्थु-सहावो खमादि-भावो य[7] दस-विहो धम्मो ।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं[8] धम्मो ॥ ४७८ ॥
धम्मे एयग्ग-मणो जो[9] ण वि वेदेदि पंचहा-विसयं ।
वेरग्ग-मओ णाणी धम्मं[10]ज्झाणं हवे तस्स ॥ ४७९ ॥
सुविसुद्ध-राय-दोसो बाहिर-संकप्प-वज्जिओ धीरो ।
एयग्ग-मणो संतो जं चिंतइ तं पि सुह-झाणं ॥ ४८० ॥
स-सरूव-समुब्भासो णट्ठ-ममत्तो जिदिंदिओ संतो ।
अप्पाणं चिंतंतो सुह-झाण-[11]रओ हवे साहू ॥ ४८१ ॥
वज्जिय-सयल-वियप्पो अप्प-सरूवे मणं णिरुंधंतो[12] ।
जं चिंतदि साणंदं तं धम्मं उत्तमं झाणं ॥ ४८२ ॥[13]
जत्थ गुणा सुविसुद्धा उवसम-खमणं[14] च जत्थ कम्माणं ।
लेसा वि जत्थ सुक्का तं सुक्कं भण्णदे झाणं ॥ ४८३ ॥
पडिसमयं सुज्झंतो अणंत-गुणिदाए[15] उभय-सुद्धीए ।
पढमं सुक्कं झायदि आरूढो उहय-सेढीसु ॥ ४८४ ॥
णीसेस-मोह-विलए[16] खीण-कसाए[17] य अंतिमे काले ।
स-सरूवम्मि[18] णिलीणो सुक्कं झाएदि[19] एयत्तं ॥ ४८५ ॥

---

१ लसग वियोगे । २ लमसग दु (?) । ३ लमसग चित्ता । ४ स तं विरुद्दं । ५ लमसग णम्हा । ६ ब पुणु । ७ म अ । ८ म रक्खणे । ९ लमसग जो ण वेदेदि इंदियं विसयं । १० मसग धम्मं झा (ज्झा) णं । ११ ब सज्झाणरओ । १२ लमसग णिरुंभित्ता । १३ ब धम्मज्झाणं ॥ जत्थ इत्यादि । १४ मग खवणं । १५ ब गुणिदाय, सग गुणदाए । १६ लमसग णिस्सेस…विलये । १७ लगम कसाओ (उ?), स कसाई । १८ स सरूवम्हि । १९ लग झायेहि ।

केवल-णाण-सहावो सुहुमे जोगम्हि[1] संठिओ काए।
जं झायदि स-जोगि-जिणो तं तिदियं[2] सुहुम-किरियं च ॥ ४८६ ॥
जोग-विणासं किच्चा कम्म-चउक्कस्स खवण-करणट्ठं।
जं झायदि [3]अजोगि-जिणो [4]णिक्किरियं तं चउत्थं च ॥ ४८७ ॥[5]
एसो बारस-भेओ उग्ग-तवो जो चरेदि उवजुत्तो।
सो खवदि[6] कम्म-पुंजं मुत्ति-सुहं अक्खयं लहदि[7] ॥ ४८८ ॥
जिण-वयण-भावणट्ठं[8] सामि-कुमारेण परम-सद्धाए।
रइया अणुवेहाओ[9] चंचल-मण-रुंभणट्टं च ॥ ४८९ ॥
बारस-अणुवेक्खाओ[10] भणिया हु जिणागमाणुसारेण।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं[11] सोक्खं[12] ॥ ४९० ॥
[13]तिहुवण-पहाण-सामिं[14] कुमार-कालेण तविय-तव-[15]चरणं।
वसुपुज्ज-सुयं मल्लिं चरम-तियं संथुवे[16] णिच्चं ॥ ४९१ ॥[17]

१ ब सुहमे योगम्मि। २ मस तदियं (?)। ३ ग अयोगि, म अजोइ। ४ ब तं निकिरियं चउत्थं। ५ ब शुक्लध्यानं ॥ एसो इत्यादि। ६ लमस खविय, ग खविइ। ७ लमसग लहइ। ८ ब भावणत्थं। ९ लसगम अणुपेहाउ (ओ?)। १० लग अणुवेखाउ। ११ लमसग उत्तमं। १२ बम सुक्खं। १३ लमग तिहुयण। १४ ब सामी। १५ लमसग तवयरणं। १६ ब संथुए। १७ ब स्वामिकुमारानुप्रेक्षा समाप्तः।

गाहाणुक्कमणिया

ण

संस्कृतटीकान्तर्गतपद्यादीनां वर्णानुक्रमसूची यथासंभवं मूलनिर्देशश्च ।

पारिभाषिक-शब्दसूची

नाम-सूची

ग्रन्थ-सूची

शुद्धिपत्रम्

पृ०	प०	अशुद्धम्	शुद्धम्
६	११	विविधभक्षैः	विविधभक्ष्यैः
६	१३	विविधभक्षैः	विविधभक्ष्यैः
७	१२	काः	का
१३	१५	मूढ	मूढो
१४	१०	सवात्तम°	सर्वोत्तम°
१९	२२	संज्ञ्यसंज्ञी°	संज्ञ्यसंज्ञि°
२३	१	२ संसारा°	३ संसारा°
३५	२	अवरद्धिदो	अवरद्धिदिदो
३७	६	निमित्तः	निमित्तैः
३८	७	जन्तुरेक	जन्तुरेकः
३८	१४	प्राप्रति	प्राप्नोति
३९	१५	°कमादे°	°कर्मादे°
४३	२१	मनवचन°	मनोवचन°
४९	८	संवरं संवरं	स वरं संवरं
५९	३	सप्तरज्जमात्रो	सप्तरज्जुमात्रो
५९	५	प्रत्यकं	प्रत्येकं
६१	५	तेरसर स्सेहा	तेरसरज्जुस्सेहा
६७	९	तिर्यञ्चाः	तिर्यञ्चः
७०	३	निवृत्य°	निर्वृत्य°
७०	३	लब्ध	लब्ध्य°
७०	८-१०	निवृत्य°	निर्वृत्य°
७१	१३	निवृत्य°	निर्वृत्य°
७२	७	°मादिकृत्वा	°मादिं कृत्वा
७४	९	लब्ध°	लब्ध्य°
७५	१०	ज	च
७८	९	प्राणायुरूपाः	प्राणायूरूपाः
७८	११	,,	,,
७८	१२	°सायुकर्म°	°सायुःकर्म°
७९	२	°पानायुरूपाः	°पानायूरूपाः
८१	१५	तिर्यक् लोके	तिर्यग् लोके
८३	१४	उस सेभी	उससे भी
१०१	११	देवेभ्य असं°	देवेभ्योऽसं°
१०३	६	°मुहुत्तं	महुत्तं
१०३	१५	तेत्तीसा	तेतीसा
१०५	९	शर्करप्रभायां	शर्कराप्रभायां
११३	१७	जहण्णरेहो	जहण्णदेहो
११७	७	जीवाः	जीवः

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
११७	९	चव	चैव
११९	११	तयोरप्यति°	तयोरव्यति°
१२१	३	योऽयं	यो यं
१२१	४	चार्वाक	चार्वाकं
१२३	२	पञ्चमश्चैति	पञ्चमश्चेति
१२४	७	खित्तिउ सेसु	खित्तिउ हउं सेसु
१२४	८	पडिउ	पंडिउ
१३२	२	पृथक्	पृथक्त्व
१३२	१२	सम्यक्	सम्यग्
१३३	९	रसासृक्	रसासृग्
१३३	१३	°सकलार्था	°सकलार्थाः
१३५	१३	सुखिनः	सुखिताः
१३७	१५	निश्चयत	निश्चयतो
१४२	१३	निवर्तन	निर्वर्तन
१४३	१२	°वैक्रियका°	वैक्रियिका°
१४४	६	निवृत्तं	°निर्वृत्तं
१४६	२	°स्वभाव	°स्वभावो
१४९	१७	कालाणु	कालाणुः
१५०	२	भिन्न°	भिन्न°
१५१	७	°स्योदन	°स्यौदन
१५२	६	°द्रव्यम् अशेषद्रव्यम्	°द्रव्यम्
१५२	८	°स्योदन	°स्यौदन
१५२	१२	शक्यते	शक्नोति
१५४	१४	°वस्तुभावो°	°वस्तु भावो°
१६६	४	किमुष्ट्रो	किमुष्ट्रं
१७५	९	°कारणिणोः	कारणिनोः
१७५	१८	भिन्ना तर्हि	भिन्नास्तर्हि
१७७	१०	असत्यवादीनां	असत्यवादिनां
१८४	१०	भक्षमाणायां	भक्ष्यमाणायां
१८५	४	उपयोगी	उपयोगि
१९१	३	व्यवस्थासंकरादि	व्यवस्था संकरादि
१९१	७	सुनयादो	सुणयादो
१९३	३	सदृग्	सदृक्
१९७	९	सूक्ष्मप्रति°	सूक्ष्मं प्रति°
१९७	१०	तिष्ठतीति	तिष्ठन्तीति
२०२	१७	हता	हताः
२१०	११	तत्कम्	तत्कथम्
२११	१४	काकाक्ष°	काकाक्षि°
२१३	४	यदा	सदा

पृ०	प०	अशुद्धम्	शुद्धम्
२२३	४	कुर्वते	कुरुते
२२४	१५	कञ्चक°	कञ्चुक°
२२६	१४	°दुःखसहिता°	°दुःखहिता°
२२९	११	अपि जानाति	विजानाति
२३१	१०	युक्त्याभाव°	युक्त्यभाव°
२३१	१५	°नुद्योत°	°नोद्योत°
२३३	४	व्यदूरयेत्	विदूरयेत्
२३६	३	पंचुबर°	पंचुंबर°
२४०	७	°चालिनीत्वम् ,	°चालिनी, त्वम्
२४५	१०	°तृषाः	°तृषा
२४९	४	युक्त	उक्त
२४९	१४	स्मृति°	स्मृत्यन्त°
२५१	१०	°लाभात्	°लाभान्
२५२	१९	°शास्त्रानाम	°शास्त्राणाम्
२५६	१३	°संघट्टणं	°संघट्टणं
२५९	२४	°वासिनाम् उपपन्नो	°वासिता उपपन्ना
२५९	२५	सम्यग्दर्शनः पू°	सम्यग्दर्शनपू°
२६२	१३	स्वकं	स्वयं
२६६	२	आहारणेण	आहारसणे
२७०	३	अणुव्रतानाम्	अणुव्रतानां
२७०	८	°मिन्द्रादीन	°मिन्द्रादीनां
२७३	१२	°नमस्कारादा	°नमस्कारादौ
२७५	१६	मध्याह्नका°	मध्याह्निका°
२७७	२	निर्जरायति	निर्जरयति
२७७	१२	पच्चसे	पच्चूसे
२८०	१५	कुर्वते	कुरुते
२८१	२	वाञ्छ.	वाञ्छां
२८१	३	घटिता चेतना	घटिना अचेतना
२८१	३२	ब्रह्मचय	ब्रह्मचर्य
२८२	२	पूतगन्धि	पूतिगन्धि
२८२	१०	अनुमोदनामनः	अनुमोदनामनाः
२८२	१२	व्युपरतमतिः	व्युपारमति
२८३	८	परिच्चित°	परिच्चित्त°
२८५	४	बन्धादिक-	बन्धादिकं
२८५	७	°विनिवृत्ति	°विनिवृत्तिः
२८५	१४	उद्देश्य	उद्दिश्य
२८८	१	३९२	३९१
२८९	१४	स्वगृहधर्मं	स्वगृहं धर्मं
२९५	१३	मलकिल्बिषं	मलः किल्बिषं
२९६	१२	अशक्यमानः	अशक्नुवानो

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
२९८	८	परिहारणं	परिहरणं
३००	१०	जदं चरे जदं ॥ चिट्ठे	। जदं चरे जदं चिट्ठे
३०१	१५	°नाभि प्रेत°	°नाभिप्रेत°
३०२	१४	संवृत्ताङ्गा°	संवृताङ्गा°
३१२	३४	होहि	होदि
३१४	२	वित्तधमाध्यक्ष्या°	वित्तं धर्माध्यक्षाय
३१४	२	विरूपानलभते	विरूपानालभते
३१६	२३	व्यवहारमूढ°	व्यवहारामूढ°
३१७	११	तद्व्यावहार°	तद्व्यवहार°
३१७	१३	द्रढयति	द्रढयति
३१७	३६	ठिदियरणं	ट्ठिदियरणं
३१८	२	चातुर्वर्ण°	चातुर्वर्ण्य°
३२४	३	बम्होत्तरखुपदो	बम्होत्तरपदो
३२६	१३	पृथ्वीकायिक-	पृथ्वीकायिकः
३२७	१५	°दारिद्र°	दारिद्र्य
३२८	११	°ज्ञानमेदिभिः	°ज्ञानवेदिभिः
३२९	३४	उपवासं इत्यादि	उववासं इत्यादि ।
३३०	७	मासक्खमणाणि	मासखमणाणि
३३१	१०	अवमौदर्यं	अवमोदर्यं
३३१	१२	प्रकृत्योदनस्य	प्रकृत्यौदनस्य
३३२	८	न भवति	भवति
३३३	३	ऽवग्रहो	ऽवग्रहो
३३३	११	पमाण दायग	पमाणदायग
३३६	१४	वा बहिर्भागे	वा विषमभूमिसमन्वितायां बहि°
३३७	२	णिप्पहुडियाए	णिप्पाहुडियाए
३४०	९	शुण्डगृतक	शुण्डमृतक°
३४५	३	न अपराधं	अपराधं
३४५	२२	°आयगुणा	°आ य गुणा
३४६	९	°परिहाराणि	°परिहाणिः
३४९	५	°कूलनानु°	°कूलता°
३५१	१२	समीहन्	समीहमानः
३५२	१३	भिन्नं	भिन्नं पृथक्
३६०	१६	°लीलायुवत्यः	°लीला युवत्यः
३६१	१५	चतुः	तत्तु
३६९	२	°जन्मतो	°जन्मनो
३७४	९	तत् सर्वज्ञ°	ततः सर्वज्ञ°
३७५	२	°प्रज्वालिते	प्रज्वलिते
३७६	४	स वर्षन्तं	संवर्षन्तं

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
३७६	१२	लभेत्	लभते
३८०	११	°परिणामान्	°परिणामात्
३८०	१२	षट्गुण°	षड्गुण°
३८१	९	°नुभवत्	°नुभवन्
३८१	९	वेदयत्	वेदयन्
३८१	११	प्रकृती निर°	प्रकृतीर्निर°
३८२	८	सांपरायात्मनः	सांपराय आत्मनः
३८६	१९	°वितर्कशुक्ल°	°वितर्के शुक्लं
३९५	१६	विनयेन कृत प्रा°	विनयेनाकृतप्रा°
३९६	२	°कीर्तिना कृत प्रा°	कीर्तिनाकृतप्रा°
४६४	१३	त्रिलोकहार	त्रिलोकसार

INTRODUCTION

Page	Line	Read
1	11	Pannālāla
38	22	*Cārittapāhuḍa*
66	22	*Bha. Ā.*
72	18	PRĀKRIT
82	38	*Nāndīśvarī*
85	35	PETERSON

By Dr. A. N. UPADHYE

1. *Paṁcasuttaṁ* of an Unknown Ancient Writer: Prākrit Text edited with Introduction, Translation, Notes with copious Extracts from Haribhadra's Commentary, and a Glossary. Second Ed., Revised and Enlarged. Crown pp. 96. Kolhapur 1934.

2. *Pravacanasāra* of Kundakunda. An authoritative work on Jaina ontology, epistemology etc.: Prākrit text, the Sanskrit commentaries of Amṛtacandra and Jayasena, Hindī exposition by Pāṇḍe Hemarāja: Edited with an English Translation and a critical, elaborate Introduction etc. New Edition, Published in the Rāyachandra Jaina Śāstramālā vol. 9, Royal 8vo pp. 16 + 132 + 376 + 64, Bombay 1935. (Second ed., in Press)

3. *Paramātma-prakāśa* of Yogīndudeva. An Apabhraṁśa work on Jaina Mysticism: Apabhraṁśa text with Various Readings, Sanskrit Ṭīkā of Brahmadeva and Hindī exposition of Daulatarāma, also the critical Text of *Yogasāra* with Hindī paraphrase: Edited with a critical Introduction in English. New Ed., Published in the Rāyachandra Jaina Śāstramālā vol. 10, Royal 8vo pp. 12 + 124 + 396, Bombay 1937. (Second ed., in Press)

4. *Varāṅgacarita* of Jaṭāsiṁhanandi. A Sanskrit Purāṇic kāvya of A. D. 7th century: Edited for the first time from two palm-leaf Mss. with Various Readings, a critical Introduction, Notes, etc., Published in the Māṇikachandra D. Jaina Granthamālā No. 40, Crown pp. 16 + 88 + 396, Bombay 1938.

5. *Kaṁsavaho* of Rāma Pāṇivāda. A Prākrit Poem in Classical Style: Text and Chāyā critically edited for the first time with Various Readings, Introduction, Translation, Notes, etc. Published by Hindī Grantha Ratnākara Kāryālaya, Hirabag, Bombay 4, 1940, Crown pp. 50 + 214.

6. *Usāṇiruddhaṁ*: A Prākrit Kāvya (attributed to Rāma Pāṇivāda), Text with Critical Introduction, Variant Readings and Select Glossary, Published in the Journal of the University of Bombay, Vol. X, part 2, September 1941, Royal 8vo pp. 156–194.

7. *Tiloyapaṇṇatti* of Jadivasaha. An Ancient Prākrit Text dealing with Jaina Cosmography, Dogmatics etc.: Authentically edited for the first time (in collaboration with Prof. Hiralal Jain) with Various Readings etc. Part I, Published by Jaina Saṁskṛti Saṁrakṣaka Saṁgha, Sholapur 1943, Double Crown pp. 8 + 38 + 532.

8. *Bṛhat Kathākośa* of Hariseṇa. A Thesaurus of 157 Tales in Sanskrit, connected with the Bhagavatī Ārādhanā of Śivārya: The Sanskrit, Text authentically edited for the first time, with Various Readings, with a Critical Introduction (covering 122 pages), Notes, Index of Proper Names etc. Published in the Singhi Jain Series, No. 17, Bhāratīya Vidyā Bhavana, Bombay 1943, Super Royal pp. 8 + 20 + 128 + 406.

9. *The Dhūrtākhyāna: A Critical Study.* This is a critical essay on the Dhūrtākhyāna (of Haribhadra) which is a unique satire in Indian literature. Included in Āchārya Jinavijayaji's edition, Bhāratīya Vidyā Bhavana, Bombay 1944, Super Royal pp. 1–54.

10. *Candralekhā* of Rudradāsa: A Drama in Prākrit. The Prākrit Text and Sanskrit chāyā authentically edited with a critical Introduction, Notes etc. It is an important Saṭṭaka resembling the Karpūramañjarī in various respects. The Introduction presents a study of Saṭṭaka in the background of Indian theory of dramas and also a critical survey of some half a dozen Saṭṭakas, most of them brought to light for the first time. Printed in graceful types at the Nirnayasagara Press, Bombay, Bhāratīya Vidyā Bhavana, Bombay 1945, Royal 8vo pp. 8 + 66 + 96.

11. *Līlāvatī* of Kutūhala (c. 800 A. D.): Prākrit Text and an anonymous Sanskrit commentary, critically edited for the first time with Introduction, Glossary, Notes etc. It is a stylistic, romantic Kāvya dealing with the love story of king Sātavāhana and Līlāvatī, a princess from Ceylon. Published in the Singhi Jain Series: Royal Octavo pp. 28 + 88 + 384, Bombay 1949.

12. *Tiloyapaṇṇatti* of Jadivasaha: As above No. 7. Part II, with Introduction, Indices etc. Double Crown pp. 116–540, Sholapur 1951.

13. *Aṇaṁdasuṁdarī* of Ghanasyāma: A Drama in Prākrit. The Prākrit Text and the Sanskrit Commentary of Bhaṭṭanātha: Authentically edited for the first time, with Critical Introduction, Notes etc. Demy pp. 102. Published by Motilal Banarasi Dass, Banaras 1955.

14. *Jambūdīva-paṇṇatti-saṁgaho* of Padmanandi: A Prākrit Text dealing with Jaina Cosmography. Authentically edited for the first time (in collaboration with Dr. H. L. Jain) with the Hindī Anuvāda of Pt. Balachanda. The Introduction institutes a careful study of the text and its allied works. There is an essay in Hindi on the Mathematics of the *Tiloyapaṇṇatti* by Prof. L. C. Jain, Jabalpur. Equipped with Various Indices. Published by the J. S. S. Sangha, Sholapur. Double crown pp. about 500, Sholapur 1957.

15. *Jñānapīṭha-pūjāñjali*: A Collection of Stotras etc. in Sanskrit and Prākrit and Pūjas in Hindī etc. Neatly edited with the Hindi Anuvāda of Pt. Phoolchanda Shastri. Crown pp. 32–548. Published by Bhāratīya Jñānapīṭha, Banaras 1957.

16. *Kuvalayamālā* of Uddyotana : A unique Campū in Prākrit critically edited from rare Mss. material for the first time. Part I : Prākrit Text and Various Readings. Singhi Jain Series 45. Super Royal pp. 16–284. Bombay 1959.

17. *Siṁgāramaṁjarī* of Viśveśvara : A Prākrit Drama : Authentically edited for the first time with an Introduction in the Journal of the University of Poona 1960. Royal pp. 33–78. Poona 1960.

18. *Kārttikeyānuprekṣā* of Svāmi Kumāra : Prākrit Text critically edited for the first time along with the Sanskrit commentary of Śubhacandra, an Elaborate Introduction dealing with the various problems about the text, the author, the commentary etc., and Various Appendices. Published in the Rājachandra Jaina Śāstramālā. Double Crown pp. 20+100+480. Bombay 1960.

BOOKS AND PAPERS

By

A. N. UPADHYE

This Bibliography is a record of the work done by Professor A. N. UPADHYE, M. A., D. Litt. during the last twentyfive years. It presents systematically the list of the works (both in Sanskrit and Prākrit), edited by him along with their Table of contents and Select Opinions on them. Then are enumerated his nearly one hundred research papers with a Summary of the contents and the place etc. of their publication. There is also a list of books reviewed by him and of those brought out under his General Editorship. There is a Foreword by Dr. V. S. AGRAWALA, Banaras Hindu University. Demy pp. 12–68. Sole Agents: Hindi Grantha Ratnakara (Private) Ltd., Hirabag, Bombay 4. (Kolhapur 1957).

SELECT OPINIONS

Mm. Dr. P. V. KANE, Bombay: "The booklet presents a marvellous array of the great industry, patience and enthusiasm with which you devoted over twentyfive years to critical editions and scholarly papers."

Prof. Dr. P. K. GODE, Poona: "Your zest for study is exemplary and your sense of literary veracity as evinced in your writings is marvellous."

Dr. C. D. DESHMUKH, New Delhi: "The record is very impressive."

Professor Dr. L. RENOU, Paris: "Here I am able to see at a glance your impressive and tremendous scientific work."

Dr. D. C. SIRCAR, Ootacamund: "...an indication of your remarkable achievement in the field of Indological studies."